कलिकालसर्वज्ञआचार्यदेवश्री हेमचन्द्रसूरिरचितवीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशान्तर्निहितमर्मद्योतक
न्यायविशारद–न्यायाचार्य–महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयविरचित
मुनियशोविजयकृतजयलतावृत्ति–रमणीयाव्याख्यालङ्कृत

स्याद्वादरहस्य

(मध्यम)

(प्रथम खण्ड)

प्रेरक–प्रोत्साहक
वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद सघहितचिन्तक गच्छाधिपति आचार्यदेवेश

श्रीमद्विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराज

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३६, कलिकुण्ड सोसायटी
धोलका
पिन 387 810

प्रतिस्थान
१ प्रकाशक
२ भरतभाई चतुरदास शाह
कालुशी पोल, कालुपुर,
अमदावाद, पिन 380 001

महोपाध्यायजी के उद्गार

आज्ञयाऽऽगमिकार्थाना यौक्तिकानाञ्च युक्तित ।
न स्थाने योजकत्व चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥ अध्यात्मसार (६/३८)

आगममात्रगम्य पदार्थों की जिनाज्ञा के आलम्बन से, एव युक्तिगम्य
पदार्थों की युक्ति के अवलम्बन मे उचित स्थान में सगति–प्ररूपणा करने की कुशलता नहीं है,
तब ज्ञानगर्भित वैराग्य भी नामुमकिन है ॥

सशोधक

तार्किकशिरोमणि मुनिराज (वर्तमान मे पन्यास) श्री जयसुन्दरविजयजी महाराज,
तथा न्यायादिशास्त्रमर्मज्ञ तपोरत मुनिप्रवर श्री पुण्यरत्नविजयजी महाराज

परमपूज्य सिद्धातदिवाकर आचार्य श्रीमद् जयघोषसूरीश्वरजी म सा एव पूज्य पन्यासप्रवर श्री पद्मसेनविजयजी गणिवर की शुभ प्रेरणा से आदिनाथ जैन टेम्पल ट्रस्ट, चीकपेट–बंगलोर जैनसघ की ओर से ज्ञाननिधि से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है– एतदर्थ चिकपेठ–बैंग्लोर जैन सघ एवं उसके ट्रस्टी महोदयों को धन्यवाद है ।

प्रथम आवृत्ति
वि स २०४९

मूल्य रु 150 00

लेसर टाईपसेट :- पार्श्व कोम्प्युटर्स, ३३, जनपथ सोसा , केनाल के पास, ईसनपुर रोड, घोडासर, अहमदाबाद-५० फोन - ३९६२४६

दिव्याशिष



पोरिसिंकरता पुरुषप्रमाणतेपौरुषी एतलेस्योघापणप्रमाणेमार्गते चालतोथ्यावे एतावतार्द्र्यासमितोजाट्‌ दृष्टांतेहेलक्षण

मङ्गल आशीर्वाद

महोपकारी महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज का यह स्याद्वादरहस्य (मध्यम) नाम का ग्रन्थ जैनशासन के अनेकान्त नाम से विश्वप्रतीत सिद्धान्त के रहस्य को अपनी आगवी शैली से अच्छे रूप में उद्घाटन करता है। किन्तु न्यायभाषा से अपरिचित भव्यों के लिये सुगम्य बनाने के लिये मुनिश्री यशोविजयजी ने संस्कृत में टीका लिखीं। इससे वाचकों को स्याद्वादरहस्य का सुन्दर बोध होगा। एवं संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ जिज्ञासुओं को भी इस ग्रन्थ से स्याद्वादरहस्य का सम्यक् प्रकाश हो– इस हेतु से हिन्दी भाषा में भी सुंदर विवरण की रचना की। सरस्वती के प्रियभक्त की यह रोचक टीकाद्वयरचना चिरंजीव हो ऐसी मंगल कामना है।

विजय भुवनभानुसूरि

वैशाख शुक्ल – ६– वि स २०४८, नासिक

विनयादिगुणोपेत मुनिराजश्री यशोविजयजी जोग अनुवन्दना

तमारे न्यायनो, आगमनो, प्रकरणनो, व्याकरणनो अभ्यास सारो थयो छे अने तेना फलरूपे तमे अनेकने भणावो छो ए धणा ज आनन्दनो विषय छे. आनी साथे ते पूर्व महापुरुष महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ना ग्रन्थों ने हालना अने भविष्यना जीवो सारी रीते समजे अने प्रासंगिक विशेष बोध पामे ते हेतुथी पूज्यश्रीना कथनानुसार ग्रन्थलेखन हिन्दी अने संस्कृत भाषामां करवा मांड्युं अने तेने साक्षर मुनिराजश्री जयसुन्दरविजयजी, पुण्यरत्नविजयजी, यशोरत्नविजयजी आदि ए प्रमार्जित पण करी आप्युं. तेथी तेना मुद्रणथी अनेक जिज्ञासु जीवोने सारो लाभ थशे, तमारो प्रयत्न सारो सफल थशे – **विजय जयघोषसूरिजीनी** अनुवन्दना।

फागण वद ७, वि स २०४८ श्रीरामपुर

卐 प्रकाशकीय वक्तव्य 卐

पाठक वर्ग समक्ष जयलता (सस्कृत टीका) एव रमणीया (हिन्दी व्याख्या) से सुशोभित स्याद्वादरहस्य (मध्यम) ग्रन्थरत्न का प्रथम खण्ड प्रस्तुत करते हुए हम आज अपूर्व आनन्द की अनुभूति करते हैं ।

अष्टादशदेशाधिपति कुमारपाल महाराज के प्रतिवोधक कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज शरदपूर्णिमा के चाँद की भाँति जिनशासनस्वरूप विशाल नभस्तल को, अमूल्य शास्त्रसर्जन एव अनुपम शासनप्रभावना आदि से सुशोभित कर गए । अप्रतिम प्रतिभाशाली श्रीकलिकालसर्वज्ञ के दिव्य मस्तिष्क की सृजनशक्ति का अनूठा आविष्कार है भगवद्गीतास्वरूप वीतरागस्तोत्र । २० प्रकाशों में विभक्त इस शास्त्र के अष्टम प्रकाश में यथावस्थितवस्तु–स्वरूप प्रकाशक के रूप में भगवत की स्तवना की गई हे । महोपाध्याय न्यायविशारद यशोविजयजी महाराज ने वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश में निहित अनेकान्तवादरहस्य के द्योतनार्थ नव्यन्यायप्लावित तीन विवरणग्रन्थ की रचना की, जो साम्प्रतकाल में लघुस्याद्वादरहस्य, मध्यमस्याद्वादरहस्य एव वृहत्स्याद्वादरहस्य के नाम से सुप्रसिद्ध हैं । जैनदर्शन एव भारतीय तर्कशास्त्र के अमूल्य रत्ननिधानतुल्य मध्यमपरिमाणवाले स्याद्वादरहस्यनामक विवरणग्रन्थ के कठिन स्थलों को विशेषरूप से सरल एव सुस्पष्ट करने के लिए विद्वान मुनिराज यशोविजयजी म ने जयलतानामक सस्कृतव्याख्या एव रमणीयानामक हिन्दीविवेचना लिखने का सराहनीय प्रयास किया है । ग्रन्थ के विभिन्न स्थलो में जो पारिभाषिक शव्द प्रयुक्त हुए हैं उनका सस्कृत एव हिन्दीभाषा के माध्यम से, हृदयस्पर्शी ढग से अत्यन्त मनोरम स्पष्टीकरण किया गया है, जिसका पता अभ्यासु पाठकवर्ग को दोनो व्याख्याओं का अवलोकन करने से मिल जायेगा । ११ वीं कारिका के अपूर्ण विवरण का अनुसन्धान कर के ११ वीं कारिका के विवरण को पूर्ण करने का एव उसकी सस्कृत–हिन्दी व्याख्या करने का और वाद में १२ वें श्लोक पर लघुस्याद्वादरहस्य की सस्कृत एव हिन्दी व्याख्या करने का मुनिश्री ने सफल प्रयत्न किया है जिसका ज्ञान वाचकवर्ग को इस ग्रन्थ के प्रकाशित होनेवाले तृतीय भाग को देखने से अनायास हो जायेगा ।

प्रस्तुत प्रथम खण्ड में मूल ग्रन्थ के १ से ४ श्लोक का (मध्यम) स्याद्वादरहस्यनामक विवरण एव उसकी जयलता (सस्कृत टीका) तथा रमणीया (हिन्दी व्याख्या) मुद्रित हैं। ऐसे उपयोगी महत्त्वपूर्ण कठिन दार्शनिक ग्रन्थ की सस्कृत एव हिन्दी भाषा के माध्यम से सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए हम मुनिश्री को धन्यवाद देते हैं और आशा रखते हैं कि इस प्रकार के कठिन ग्रन्थो की सस्कृत–हिन्दी व्याख्या करते हुए महोपाध्यायजी महाराज के साहित्य को उपवृहित एव स्पष्ट कर के प्राथमिक अभ्यासुवर्ग के पठनयोग्य वनायें तथा चिरकाल से अध्ययन–अध्यापन क्षेत्र की सीमा से वाहर रह गये उपाध्यायजी महाराज के अन्य अमूल्य ग्रन्थरत्नों को अध्ययन–अध्यापन क्षेत्र में लाने का परम श्रेय और प्रेय प्राप्त करें ।

प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की दोनों व्याख्याओं में त्रुटि रहने न पाये इसलिये न्यायादिशास्त्रमर्मज्ञ विद्वान मुनिराज (वर्तमान में पन्यासप्रवर) श्री जयसुन्दरविजयजी म सा एव तर्कादिपरिकर्मितमति तपस्वी मुनिराज श्री पुण्यरत्नविजयजी म सा ने सशोधन के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है । मुद्रण आदि कार्य में कोई क्षति न रह जाय एतदर्थ व्याख्याकार मुनिश्री ने भी प्रूफरिडिग आदि में काफी उद्यम किया है । फिर भी मुद्रणादि में छद्मस्थतामूलक कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तव उसका परिमार्जन करने के लिये अध्येतावर्ग से हमारी प्रार्थना है ।

ग्रन्थ के कपोज–मुद्रण आदि को सर्वांग सुन्दर वनाने के लिए पार्श्व कोम्प्युटर्सवाले अजयभाई तथा विमलभाई ने निष्ठा से परिश्रम किया है एतदर्थ वे भी अवश्य हमारे धन्यवाद के पात्र हैं ।

प्रान्ते, अधिकारी जिज्ञासु मुमुक्षु पाठकवृन्द इस ग्रन्थरत्न का सम्यग् अध्ययन कर के पारमार्थिक विश्वकल्याणकर तत्त्वों के मनन से मुक्तिमार्ग की ओर प्रगति करे यही एक मङ्गल कामना ।

लि दिव्यदर्शन ट्रस्ट के ट्रस्टी
कुमारपाल वि शाह एव भरतभाई चतुरदास शाह आदि ।

प्राक्कथन

करुणासागर सदेव स्मरणीय पर्युपास्य गुरुजनों की निर्व्याज करुणा एव आत्महितकर अनुशासन के फलस्वरूप जयलता एव रमणीया नामक व्याख्या से अलकृत (मध्यम) स्याद्वादरहस्य प्रकरणरत्न विद्वानों के पुनित पाणिपद्म को सुशोभित कर रहा है– यह अत्यन्त हर्ष का विषय है ।

महामहोपाध्याय न्यायाचार्य न्यायविशारद श्रीयशोविजय गणिवर से विरचित (मध्यम) स्याद्वादरहस्य की जटिल–गूढ–कर्कश नव्यन्यायशैली से अध्येतागण विमनस्क हो कर घबराते हैं किन्तु घबरा कर उसके अध्ययन से वे विरत भी नहीं हो सकते, क्योंकि यह प्रकरणरत्न दर्शनशास्त्रों के मदिर का मङ्गल प्रवेशद्वार हे, जो एकान्तवादनिरसन एव अनेकान्तवादसमर्थन की बुनियाद पर खडा है । स्याद्वादकल्पलता, न्यायखण्डखाद्य, अप्टसहस्रीतात्पर्यविवरण, नयोपदेश आदि जटिल जैनदार्शनिक ग्रन्थों के पदार्थ–वाक्यार्थ–महावाक्यार्थ–ऐदम्पर्यार्थ को समझाने में यह अनुपम ग्रन्थरत्न अत्यत्त उपकारक हे । स्वय महोपाध्यायजी ने भी स्याद्वादकल्पलता, न्यायालोक, ज्ञानार्णव, अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण आदि स्वनिर्मित ग्रन्थों में प्रस्तुत ग्रन्थ का अतिदेश किया है। अतएव इस प्रवेशद्वार पर स्वशिरोनमन करना सभी विद्वज्जनों के लिये अपरिहार्य हे । इस ग्रन्थ के ज्ञान के विना अन्य दार्शनिक ग्रन्थों का ज्ञान अपूर्ण ही समझा जाता है । मुक्तावली, व्याप्तिपञ्चक आदि नव्यन्याय के ग्रन्थों का अभ्यास करने के वाद, जब जेन साधु–साध्वीजी भगवत प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने अध्ययनक्षेत्र में लाने का प्रयत्न करते हैं तब षड्दर्शन के अनेकविध विषयों के आरोह–अवरोह से व्याप्त प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन पाठन में कुछ हिचकिचाहट का अनुभव करते हें, क्योंकि इस प्रकरणरत्न की प्राय प्रत्येक पक्ति जटिल नव्यन्यायपरिभाषा की कठिनता से भरी हुई हे ।

इस विकट परिस्थिति को ध्यान रख कर पूज्यपाद विद्यागुरुदेवश्री जयसुन्दरविजयजी महाराज ने मद्रास नगर में अत्यन्त कृपावन्त हो कर स्नेहपरिप्लुत अतर के आशीर्वाद के साथ मुझे सूचन किया कि– 'जेन नव्यन्यायशास्त्रों के अध्ययन क्षेत्र में उपस्थित इस समस्या का शीघ्रातिशीघ्र समाधान मार्ग यही हो सकता है कि (मध्यम) स्याद्वादरहस्य पर ऐसी व्याख्या सस्कृत एव हिन्दी भाषा में लिखी जाय जो सुविस्तृत हो और उपाध्यायजी महाराज के पदार्थ–तात्पर्यार्थ को अभ्यासुओं की बुद्धि में अच्छी तरह जमा सके । अभ्यासुवर्ग की कठिनाईयों को हटाने के लिए स्पष्ट–सरल–सुवोध विवेचना–व्याख्या की वहुत आवश्यकता है । मुझे विश्वास हे–तुम इस कार्य को पार पाड सकोगे' ।

दीर्घदृष्टा पूज्यपाद विद्यागुरुदेव की उपर्युक्त अनुल्लङ्घनीय एव कल्याणकारी आज्ञा पाकर, परमोपकारी प्रगुरुवर्य आचार्यदेवेश श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज तथा परमोपकारी वात्सल्यमूर्ति सिद्धान्तदिवाकर आचार्यदेव श्रीजयघोषसूरिजी महाराज आदि का शुभाशिष लेकर, पुनानगरस्थित मेरे उपकारी गुरुदेवश्री विश्वकल्याणविजयजी महाराज का पावन आशीर्वाद मँगवा कर, 'श्रीनयविजयविवुधपदसेवकाय नम ' इस मङ्गल मन्त्र का अवलम्वन कर के मेंने (मध्यम) स्याद्वादरहस्य पर सस्कृत–हिन्दी भाषा के माध्यम से लिखने का श्रीगणेश किया । आराध्यपादआचार्य भगवत सिद्धान्तदिवाकर श्रीमद् जयघोषसूरिजी महाराज एव नि स्वार्थहितकारी विद्या–गुरुदेव श्री जयसुन्दरविजयजी महाराज के अनगिनत अमूल्य उपकारों की शृङ्खला को ध्यान में रख कर उनके नाम से गर्भित 'जयलता' ऐसा सस्कृतटीका का नामकरण मेंने पसद किया है । मेरे सयम जीवन की हार्दिक अनुमोदना करनेवाले एव सदा पवित्रता को आत्मसात् करने की प्रेरणा देनेवाले उपकारी ससारी धर्मपिता रमणीकलालभाई के नाम से ग्रथित 'रमणीया' ऐसा हिन्दीटीका का नामकरण में ने निश्चित किया है । विद्यागुरुदेव पूज्यपाद मुनिप्रवर श्री जयसुन्दरविजयजी महाराज ने न केवल प्रस्तुत ग्रन्थ के कठिन स्थलो को समझाने में सहायता की है मगर प्रथम खण्ड अन्तर्गत दोनों व्याख्याओं का सशोधन कर के मेरे उत्साह को वढाने में भी तत्परता दिखाई हे । मरु–भूमिस्थित बहुमुखप्रतिभासम्पन्न अध्यात्मनिष्ठ तपोरत विद्वान्मुनिप्रवरश्री पुण्यरत्नविजयजी महाराज ने भी भाषारहस्य की दोनों व्याख्याओं की भाँति प्रस्तुत ग्रन्थ की दोनों व्याख्याओं का भी नि स्वार्थभाव से सशोधन कर के मेरे सर्जनकार्य के उल्लास में ज्वार लाने का अनुपम उपकार किया है, एतदर्थ मैं उनका भी ऋणी हूँ । विद्वद्वर्य मुनिराजश्री यशोरत्नविजयजी म सा आदि ने भी प्रस्तुत व्याख्याओं के अनेक स्थलों का सशोधन किया है, तदर्थ में उनका भी आभारी हूँ ।

यदि गुरुजनों एव उपर्युक्त वडील महात्माओं की कृपा एव सहायता न मिलती तो साधिक २१००० श्लोकप्रमाण जयलताटीका का सर्जन मेरे लिये नामुमकिन बन जाता । निर्व्याजस्नेह एव अहेतुकी कृपा से मुझे परिपुष्ट करनेवाले गुरुजनों एव वडीलमुनिवर्ग ने अपने आशीर्वाद की नौका मैं वेठा कर सर्जनसमदर से पार उतरने में मुझे जो सौजन्य, मार्गदर्शन, प्रेरणा आदि का दुर्लभ दर्शन कराया है, उसे मैं कैसे विसर सकता हूँ ?

प्रस्तुत प्रथम खण्ड के मूल ग्रन्थ के कर्ता श्रीकलिकालसर्वज्ञ तथा विवरणग्रन्थ के रचयिता महोपाध्यायजी महाराज तथा प्रस्तुत (मध्यम) स्याद्वादरहस्यनामक विवरणग्रन्थ आदि विषय में प्रकाश डालनेवाली पूज्यपाद विद्यागुरुवर श्रीजयसुन्दरविजयजी म सा से रचित प्रस्तावना, जो भारतीयप्राच्यतत्त्वप्रकाशनसमिति (पिडवाडा) प्रकाशित स्याद्वादरहस्य (त्रिक) में मुद्रित थी, ही उनकी समतिपूर्वक वहाँ से यहाँ यथावत् दी गई है । अत उन विषयों में कुछ कहना कृतकरण–कथितकथन आदि न्याय से निष्प्रयोजन है । मेरा जो विशेष कथन है वह द्वितीय खण्ड एव तृतीय खण्ड की प्रस्तावना में आलेखित करने की मेरी धारणा है । कल्याणमस्तु ।

लि *मुनि यशोविजय*

महासुद–१५ वि स २०४८ सोलापुर

प्रस्तावना

[पूर्वप्रकाशित स्याद्वादरहस्य मे उद्धृत]

आनन्द की बात है-पूनर्नाम श्रीचतुर्विधसंघ का करकमल आज 'स्याद्वादरहस्य' नामक सुंदर जैनन्याय के ग्रन्थ से सुशोभित हो रहा है ।

'स्याद्वादरहस्य' के प्रद्योतक हैं १८ वीं शताब्दी के ज्योतिर्धर श्रीमद् यशोविजय उपाध्याय । उपाध्यायजीने कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि विरचित 'वीतरागस्तोत्र' के अष्टम प्रकाश पर प्रथम एक संक्षिप्त विवरण लिखा । उसके बाद उसी को फिर से पल्लवित किया और अन्त में अनेक वादस्थलो का संग्रह करने के लिये पुनः तृतीय विवरण करना शुरू किया ।

प्रथम संक्षिप्त विवरण १२ श्लोक पर होने से संपूर्ण है । द्वितीय विवरण जिसका ग्रन्थ परिमाण प्रथम से अधिक है केवल ११ वा श्लोक के विवेचन के बाद १२ वे श्लोक का विवेचन के पहले अपूर्ण रह गया है । तृतीय विवरण ३ श्लोक के विवेचन के बाद अपूर्ण रह गया है फिर भी इन श्लोको का विवेचन द्वितीयविवरणगत ३ श्लोक के विवेचनग्रन्थपरिमाण से अधिक है, इसलिये तृतीय विवरण को यहाँ 'बृहत', द्वितीय को 'मध्यम' और प्रथम को 'लघु' ऐसी संज्ञाएँ दी गई है ॥

१-प्रतिपरिचयादि

लघु 'स्याद्वादरहस्य' का उपाध्यायजी के स्वहस्ताक्षर वाला आदर्श आज अहमदाबाद देवशापाडा के उपाश्रय के भंडार में उपलब्ध हो रहा है । क्रमांकपत्र में उसका क्रमांक ह ८९६२ । इसका लेखन वि० सं० १७०१ में आन्तरोली गाँव में किया है । इसमें १३ पत्र है, प्रत्येक में २० से कम पंक्ति नहीं है केवल तेरहवें से द्वितीय पृष्ठ पर १६ पंक्ति के बाद ग्रन्थ समाप्ति है । अनेक पत्रो में हाँसीए में पाठ का प्रक्षेपण किया है । छट्ठे पत्र का द्वितीय पृष्ठ और सातवाँ का अग्र पृष्ठ चारो ओर से भर दिया है, जिससे कौनसा पाठ कहाँ बढाना ? यह शोधना विषय का ज्ञान के बिना अति दुरूह बन गया है । उपाध्यायजी की स्वहस्तलिखितग्रन्थप्रति से जिन ग्रन्थो का पूर्वप्रकाशन हुआ है उसमे कुछ ग्रन्थ ऐसे है जिसमे हाँसीआ में लिखा हुआ पाठक का उचित स्थान में निवेश न किया गया है जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया है, उदाहरण के लिये नयरहस्य आदि ग्रन्थ देखिए । हमने हमारी मति के अनुसार विषय को समझकर उन प्रक्षेपो का उचित स्थान मे निवेश कर के सम्पादन किया है फिर भी कहीं त्रुटि दीख पडे तो उसके समार्जन के लिये उपाध्यायजी के मूलादर्श को अवश्य देखने के लिये हमारी साग्रह विज्ञप्ति है । इसकी अन्य नकल आज कहीं भी उपलब्ध नहीं हो रही है ।

मध्यम 'स्याद्वादरहस्य' का आदर्श भी उपाध्यायजी के स्वहस्ताक्षर वाला विमलगच्छीय महेन्द्रविमल के ज्ञानभंडार से उपलब्ध हो रहा है । यह ज्ञानभंडार पहले देवशा के पाडा में ही था किन्तु अभी ला० द० विद्यामंदिर (अहमदाबाद) मे रखा गया है ।

इस आदर्श में ४९ पत्र है । इसमें पंक्तियो का प्रमाण सर्वत्र समान नहीं है, किसी मे १३ से कम नहीं है और २० से अधिक प्रायः नहीं है । पत्र ४९ के द्वितीय पृष्ठ में चतुर्थ पंक्ति अपूर्ण रह गई है- उपाध्यायजी के स्वहस्तलिखित आदर्श होने से यह ज्ञान होता है कि यह मध्यम स्या० र० अपूर्ण ही रह गया है । संभव है कि इतना लिखने के बाद यह आदर्श कहाँ गुम हो गया हो जिससे ग्रन्थ भी अपूर्ण हो रह गया हो और इसीलिये उन्हो ने तृतीय बृहत्परिमाण वाले 'स्या० र०' रचना का प्रारम्भ किया हो । इसकी भी अन्य नकल अप्राप्य है ।

तृतीय बृहत्परिमाण स्या० र० का मूल आदर्श 'संवेगी जैन उपाश्रय (अहमदाबाद)' के ज्ञानभंडार में उपलब्ध हो रहा है । यह आदर्श उपाध्यायजी के स्वहस्तलिखित न होने पर भी पृष्ठ ११/२ में स्वहस्ताक्षरो मे प्रक्षेप होने से उनके ही काल में लिखी गई होगी यह सिद्ध है । प्रति का लेखन शुद्ध और सुवाच्य है इसमें २४ पत्र है । प्रत्येक मे प्रायः २८ पंक्ति है । केवल पत्र २४ का अग्रपृष्ठ पाँचवी पंक्ति से अपूर्ण रह गया है- यह अपना दुर्भाग्य है । अन्य कोई नकल इस प्रति की प्राप्ति नहीं है ।

'स्याद्वादरहस्य' एक विवेचनात्मक ग्रन्थ है जिसमें वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश का मूल रूप से ग्रहण किया गया है । इस लिये वीतरागस्तोत्र और उसके प्रणेता पू० आचार्यदेव श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि का संक्षेप में यहाँ परिचय करना उचित है ।

२-पू. आ. श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि और वीतरागस्तोत्र

जिनशासन में अनेक विद्वान और प्रभावक आचार्य हो गए जिसमे पू. आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का अति-उन्नत स्थान है । वि. सं. ११४५ मे जन्म और मात्र ८ वर्ष की उम्र मे उनकी जैन दीक्षा हुई । आचार्य श्री देवचन्द्रसूरि उनके गुरु थे जिन्होंने भावि के रहस्य को जानकर छोटी उम्र मे इस बालक को दीक्षित बना कर सुशिक्षित भी बनाया । धैर्य-गाम्भीर्यादि गुणसम्पन्नता

के कारण वि स ११६६ मे जिनशासन के जिम्मेदारी पूर्ण श्री आचार्यपद से विभूषित किये गये। तव से वे आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन आचार्य ने गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिह को प्रतिवोध करके जिनशासन की शोभा मे अभिवृद्धि करवाई। व्याकरण-काव्य-छद-अलकार न्याय-चरित्र आदि साहित्य का कोइ विषय उनकी लेखिनी से अछूत न रहा। साडे तीन करोड श्लोक रचना करने वाले श्री हेमचन्द्रसूरि ने सिद्धराज के वाद गुर्जरदेश के अधिपति कुमारपाल को भी जैन धर्म का उपदेश देकर परम श्रमणोपासक वनाया। कुमारपाल भूपाल की प्रार्थना से उन्होने अपने वीतरागदेव की मधुर स्तुति रूप मे वीतरागस्तोत्र की रचना की, जिसमे २० प्रकाश हे और प्रत्येक मे ८ से कम श्लोक नही है। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने दो राजवी को प्रतिवोध कर के सारे गुजरात मे अहिसा धर्म की वहुमूल्य प्रतिष्ठा की। भारत देश मे आज सव से अधिक अहिसक शान्ति प्रिय प्रजा का निवास कही भी हो तो वह गुजरात मे, जिसके लिये श्री हेमचन्द्रसूरि का सारे गुजरात का समाज अवश्य ऋणी है। ऐसे महान् प्रभावक आचार्य वि स १२२९ मे स्वर्ग पधारे। सिद्धहेमशब्दानुशासन आदि अनेक ग्रन्थरत्न आज इन महापुरुष की उच्चतम प्रतिभा मे साक्षी दे रहे है।

३-स्याद्वादरहस्य के कर्त्ता उपाध्याय यशोविजयः-

विक्रम की १७ वी शताब्दी मे गुजरात मे पाटण (सिद्धपुर) के नजदीक मे एक छोटा सा देहात कनोडु श्री यशोविजय के जन्म से धन्य वन गया। श्री यशोविजय महाराज का जन्म दिन निश्चितरूप से वताने के लिये कोई आधार न होने पर भी इतना जरूर कह सकते हैं कि उनका जन्म वि स १६७५ से १६८० के बीच मे हुआ होगा। क्योकि वि स १६८८ मे उनकी दीक्षा निश्चित है और ८ वर्ष से कम उम्र वाले को जैनशासन मे उत्सर्ग मार्ग मे दीक्षा दी नही जाती, तथा उन्होंने बाल्यवय मे ही दीक्षा ली है। इस से दीक्षा के समय ८ से १३ वर्ष की उम्र हो तो वह अनुमान ठीक हो सकता हे। उनके पिता का नाम नारायण था और माता का सोभागदे। अपना नाम था जसवन्त।

वाल्यवय मे जसवन्त की तीक्ष्ण वुद्धि और दयालुता-उदारता आदि को देख कर लोगो को यह विश्वास पैदा हुआ था कि जरूर एक दिन यह वालक वडा पडित और महात्मा बनेगा। वह दिन भी दूर न था कि जसवन्त को सद्‌गुरुदेव पू नयविजय महाराज का परिचय हुआ। उनकी सोम्य मुखाकृति और नि स्पृहतापूर्ण मुनिचर्या से जसवन्त प्रभावित हुआ। श्री नयविजय महाराज ने भी जौहरी की तरह इस वाल रत्न की परीक्षा कर ली और वह दिन आ गया जव कि माता और पिता ने हर्षाश्रुपूर्ण आशिष से जसवन्त को दीक्षा के लिए शरणाइयो का मगल ध्वनि वजाना शुरू कर दिया। वि स १६८८ मे वालक जसवन्त ने अणहिलपुर पाटण मे अपने जीवन को पाँच महाव्रतो के अगीकारपूर्वक सयमित वना दिया। आजीवन सद्‌गुरु के चरणोपासक वन गये। केवल स्वय नही किन्तु अपने लघु वन्धु पद्मसिह भी साथ ही दीक्षा लेकर अपने वडे भाइ का पदानुसारी वना। दीक्षा के समय नामपरिवर्तन से जसवन्त जशविजय वना और पद्मसिह पद्मविजय।

तीक्ष्ण वुद्धिवाले श्री जसविजय महाराज ने वाल्यवय मे ही अर्थगम्भीर जैनशास्त्रो के अध्ययन मे अपने को तल्लीन वना दिया। किन्तु जैन शास्त्रो मे पूर्वपक्ष के रूप मे आनेवाले जैनेतरदर्शनो के सिद्धातो का अभ्यास जव तक अच्छी तरह न किया हो तव तक जैनदर्शनशास्त्रो का रहस्य हस्तगत होना कठीन है। पूज्य गुरुदेव श्री नयविजय महाराज भी समझते है कि यदि जसविजय को जैनेतरदर्शनो का अच्छा अध्ययन कराया जाय तो जैनदर्शन के सिद्धातो का सम्यक् ज्ञान भी होगा। दूसरी ओर जसविजय की प्रतिभा से चमत्कृत होकर अहमदावाद मे एक धनजीसूरा नामक श्रेष्ठी ने गुरुदेव श्री नयविजय महाराज को आग्रहपूर्ण विज्ञप्ति की कि 'आप जसविजय को काशी मे ले जाइए और सभी दर्शनो का अध्ययन करने मे पढाने वाले भट्टारक आचार्य को जो दक्षिणा देनी होगी वह सव मे समर्पित करुगा।'

श्री नयविजय महाराज ने भी निश्चय कर लिया और गुजरात मे से उग्र विहार कर के गुरु-शिष्य के युगल ने काशी को पावन किया। वहाँ सातसो विद्यार्थीओ को पढानेवाले भट्टारक के पास जसविजय भी पढने लगे और भट्टारकजी भी उनकी प्रतिभा देखकर दाँतो तले अँगुली दवाने लगे। विद्यार्थीओ मे सव से आगे थे जसविजय। असीम गुरुकृपा का वह फल था। मात्र तीन वर्ष मे तो जसविजय महाराज ने न्याय-वेशेषिक-मीमासक आदि दर्शनो के कठिन ग्रन्थो का तलस्पर्शी अध्ययन कर लिया।

जयविजय महाराज अध्ययन मे मग्न थे उस समय काशी मे एक महावादी सन्यासी ने वाद के लिये काशी के पण्टितो को आह्वान दिया। वाद मे वडे वडे पण्डित हार गये। तव भट्टारक की नजर जसविजय पर स्थिर हुई। जसविजय महाराज ने वादसभा मे अनेक पण्डितो की उपस्थिति मे गुरुकृपा के अनन्य प्रभाव से स्याद्वाद की अकाट्य युक्ति द्वारा उग सन्यासी को वाद मे पराजित कर दिया। स्याद्वाद दर्शन की जयपताका को काशी के गगनागण मे लहराना आसान तो नही था, सभी पण्टित आश्चर्यमग्न बन गये और वहुत सम्मानपूर्वक जसविजय महाराज को न्यायविशारद की उपाधि से विभूषित वना दिये।

तदनन्तर श्रीमद् नयविजय महाराज और न्यायविशारदजी विहार करके आग्रा मे आये । वहाँ भी एक विद्वान भट्टारक के पास चार वर्ष तक श्री जसविजय महाराज ने जैनेतरदर्शनो का ही अभ्यास किया । इस समय मे श्री जसविजय महाराज ने अनेक नवीन ग्रन्थो की रचना की होगी जिसको देखकर भट्टारक श्री ने जसविजय को न्यायाचार्य पद भी समर्पित किया । जैनेतर दार्शनिको मे उदयनाचार्य के बाद यह गौरवपूर्ण पद किसी दूसरे को दिया गया हो ऐसा सुना नही है । उपाध्यायजी इन दोनो पदवी का स्वय उल्लेख इस तरह करते है-

"पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्या प्रदत्तं बुधैः,
न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ॥"

अर्थ-जिसको (जसविजयजी को) पहले काशी मे पण्डितो ने 'न्यायविशारद' विरुद दिया और बाद मे १०० ग्रन्थो की रचना करने वाले को न्यायाचार्य पद भी दिया गया ।

२-तथा "न्यायाचार्य विरुद तो भट्टाचार्यइं न्यायग्रन्थरचना करी देखी प्रसन्न हुइ दिऊँ छइ । न्यायग्रन्थ २लक्ष कीधो छई । तो बोद्धादिकरी एकान्त युक्ति खडी स्याद्वादपद्धति मार्डीनइ ।"

-श्री यशोविजय के स्तम्भतीर्थ से जेसलमेर वास्तव्य साहहरराज पर लिखित पत्र मे से ।

इस उद्धरण से पता चलता है कि श्री जसविजय महाराज ने अपने पठनकाल मे ही बृहत्काय ग्रन्थ की रचना की होगी । लघु स्याद्वादरहस्य मे न्यायवादार्थ, अध्यात्मतपरीक्षा आदि अनेक स्वोपज्ञ ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है । 'लघु स्या र' का रचना काल सवत् १७०१ होने से दीक्षा के बाद केवल १२-१३ वर्ष के अन्तर मे ही श्री उपाध्यायजी महाराज ने अनेक ग्रन्थो की रचना की होगी जिनमे अध्यात्ममतपरीक्षा आदि ग्रन्थ तो उपलब्ध है किन्तु दो लक्ष श्लोकपरिमाण वाला ग्रन्थ जो हमारे ख्याल से न्यायवादार्थ ही होना चाहिए अभी अनुपलब्ध ह- यह एक दुर्भाग्य की बात है ।

आग्रा मे अभ्यास पूर्ण करने पर गुरु शिष्य का युगल जब अहमदाबाद आया तब भारी धामधूम से उनका नगर प्रवेश कराया गया ओर श्री यशोविजय महाराज की १८ अवधान की कला देखकर वहाँ का सुबा महोबतखान प्रसन्न हुआ । श्री यशोविजय महाराज का पूरा जीवन प्राचीन-नवीनन्यायशैली के मिश्रण वाले सेद्धान्तिक आर न्याय ग्रन्थो की रचना मे ही समाप्त हुआ ।

सवत् १७१८ मे श्री विजयप्रभसूरि ने उनको उपाध्याय पद से अलकृत किया और तब से श्री यशोविजय महाराज 'उपाध्यायजी' के दुलारे नाम से ही बहुधा प्रसिद्ध बने । वि स १७४३ मे बडौदा के पास दर्भावती (डभोई) नगर मे चातुर्मास किया था । उसके बाद स १७४४ मे उसी नगर मे समाधिपूर्ण स्वर्गवासी बने । जिस स्थान पर श्री उपाध्यायजी का अग्निसस्कार किया गया था उसी स्थान पर एक स्तूप बनाकर गाँव के सघ ने वहाँ उपाध्यायजी के पदयुगल की स्थापना की । आज भी यह स्तूप डभोई मे श्री यशोविजय महाराज की विद्वत्ता का यशोगान कर रहा हे ।

५५ वर्ष के दीक्षा पर्याय मे श्री उपाध्यायजी महाराज ने लाखो श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचना के द्वारा श्री जेन शासन की अपूर्व सेवा की । जेन सघ श्री यशोविजय महाराज के वचनो मे प्रामाणिकता का सपूर्ण विश्वास रखता हे । इतना ही नही जैनेतर पडित भी श्री उपाध्यायजी के ग्रन्थो को पढ कर चकित हो जाते ह और उनकी प्रतिभा के आगे मस्तक झुका देते है ।

जिन ग्रन्थो की श्री यशोविजय महाराज ने रचना की उनमे रहस्यपद से अङ्कित १०८ ग्रन्थ उपाध्यायजी ने बनाया हो ऐसा अनुमान करने के लिये एक महत्त्व का उल्लेख उनके 'भाषारहस्य' नामक ग्रन्थ मे देखने मे आता है वह इस प्रकार है -"रहस्यपदाङ्कितत्तया[1] चिकीर्पिताऽष्टोत्तरशतग्रन्थान्तर्गत प्रमारहस्य-नयरहस्य-स्याद्वादरहस्यादिसजातीय प्रकरणमिदमारभ्यते" । इस प्रकरण मे आगे जाकर 'वादरहस्य' ग्रन्थ का उल्लेख मिलता हे वह इस प्रकार है 'तत्त्वमत्रत्य मत्कृतवादरहस्यादवसेयम्' (भा र पृष्ठ १५/२)' । उपदेशरहस्य नामक एक ग्रन्थ भी उपलब्ध है । रहस्यपदाङ्कित सभी ग्रथ तो आज उपलब्ध नही ह किन्तु उन सभी मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'स्याद्वादरहस्य' उपलब्ध होकर प्रकाशित हो रहा हे यह आनन्द की बात हे । इस ग्रन्थ का खुद उपध्यायजी ने अनेक ग्रन्थो मे अतिदेश किया हे जिनमे से कुछ इस प्रकार है ।

१ अधिक मत्कृत-न्यायालोक-स्याद्वादरहस्ययोरवसेयम् । शास्त्रवार्त्तासमुच्चय-स्त०१ श्लो० ४२ की टीका स्याद्वादकल्पलता
२ 'विस्तरस्तु स्याद्वादरहस्ये' शा० वा० स्त० ६ श्लो० ३७ टीका
३ 'अधिक स्याद्वादरहस्ये' ज्ञानार्णव पृष्ठ ३४/२ और ३६/१
४ 'अधिक स्याद्वादरहस्यादवसेयम्' न्यायालोक
५ 'धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदस्य सप्रपञ्च स्याद्वादरहस्ये व्यवस्थापितत्वात्' ज्ञानार्णव पृष्ठ ३९/१

---

[1] मुनि यशोविजय सपादित सटीक-सविवेचन भाषारहस्य पुस्तक पृष्ठ- १३१, २१६

इस तरह भाषारहस्य, शास्त्रवार्त्ता की टीका स्याद्वादकल्पलता, ज्ञानार्णव-न्यायालोक आदि अनेक ग्रन्थो मे उस उम विषय के विस्तार की जिज्ञासा के लिये श्री उपाध्यायजी स्याद्वादरहस्य की ओर अगुलीनिर्देश करते है। इस ग्रन्थ मे श्री उपाध्यायजी ने स्याद्वाद के सर्वाङ्गीण स्वरूप वताने के लिये एक सफल और गौरवपूर्ण प्रयास किया है। उसको समझने के लिये आवश्यक है कि हम प्रथम उसकी भूमिका को समझ ले।

४-'स्याद्वादरहस्य' की पार्श्वभूमि

भगवान ऋषभदेव से लगाकर भगवान महावीरस्वामी पर्यन्त ऐसा काल बीत गया जिसमे समय समय पर शाश्वत सुख और अध्यात्म का महान सदेश सुनाने वाले २४ तीर्थकर सर्वज्ञ भगवन्त थे। किन्तु अध्यात्म साधना की मूल बुनियाद आत्मा-पुण्य-पाप-परलोक इत्यादि ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थ है जिनके प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर न होने से हेतु-तर्क और दृष्टान्तो की सहाय से लोगो के हृदय मे इनके प्रति श्रद्धा जमाई जाती थी। भगवान महावीर के समय मे अन्य भी अनेक जैनेतर दर्शन विद्यमान थे जिसमे आत्मा आदि की वाते की जाती थी तथा उनकी सिद्धि के लिये और दूसरे के मतो के खडनार्थ हेतु-तर्क का सहारा लिया जाता था किन्तु हेतु और तर्क से जनहृदय मे उन सिद्धान्तो के प्रति श्रद्धा जमाने के लिये प्रयास किया गया हो ऐसा कम देखने मे आ रहा था।

भगवान महावीर के बाद जैनशासन की धुरा को वहन करनेवाले अनेक प्रभावक आचार्य हुए जिन्होने हेतुवाद के आधार पर अहिसादि निर्दोष सिद्धान्तो को जनसमाज मे प्रतिष्ठित करने के लिये पर्याप्त श्रम लिया था। वैदिक दर्शनो मे न्यायदर्शन के प्रस्थापक न्यायसूत्रप्रणेता गौतम ऋषि भी ऐसे हुए जिन्होंने हेतुवाद के बल से आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थो के बारे मे अपनी वैदिक मान्यताओ को जनहृदय मे प्रतिष्ठित करना शुरु किया। साथ साथ अन्य वेदिक दर्शनो मे भी हेतुवाद का आश्रय लेकर अपनी मान्यताओ का प्रतिपादन करनेवाले तरह तरह के ग्रन्थो की रचना शुरु हो गई।

अनेक ग्राम नगर मे विचरने वाले जैनाचार्यो से यह हकीकत गुप्त नही थी कि यदि इन दर्शनो की वाग्जालो मे जनसमाज फँस जायगा तो अहिसा-सत्य के सुनहरे सिद्धान्तो के नाम पर लोग हिसापूर्ण यज्ञ यागो मे निर्दोष पशुओ की बलि करने से अछुत न रहेगा और धर्म के नाम अधर्म के प्रचार मे कुछ कमी न रहेगी। इसलिये परम्परया मनुष्यो की कुवासनाओ को पुष्ट करने वाले ऐसे सिद्धान्तो के प्रचार की भयकरता को समझने वाले जेनाचार्यों ने उनके प्रतिविधान के लिये स्वदर्शन के अभ्यास के साथ परदर्शन के ग्रन्थो को भी जैन श्रमणवर्ग के अभ्यास मे स्थान दिया। यद्यपि दृष्टिवाद (१२ वाँ अगशास्त्र) मे मिथ्यादर्शनवादीओ के मतो का उत्थापन विस्तारपूर्वक किया था फिर भी दृष्टिवाद महाकाय शास्त्र होने के कारण तथा मुनिवर्ग मे स्मृतिहास के कारण उसका अधिकाश विच्छेद हो गया था। इसलिये परदर्शनो के अभ्यास के लिये उनके ग्रन्थो के अभ्यास के सिवा और कोई मार्ग रहा न था। इस तरह के अभ्यास का यह नतीजा था कि जैन परम्परा मे अनेक ऐसे विद्वान हुए जिनके रचे गये ग्रन्थो मे हेतुवाद के बल पर अकाट्य तर्क और हृदयङ्गम दृष्टान्तो की सहाय से जेनेतर दार्शनिको की मान्यताओ की अपूर्णता या असत्यता दर्शाई गई। साथ साथ अध्यात्म से अपने उत्कर्ष की साधना के लिये केसे पूर्ण ओर सत्य सिद्धान्तो का आश्रय लेना चाहिये यह भी सयुक्तिक बताया गया।

आजकल के आधुनिक विद्वान् यह शोर मचा रहे है कि— "प्राचीन काल मे परदर्शनो की मान्यताओ को धिक्कार या हीनता की दृष्टि से देखे जाने के कारण दार्शनिक लोगो ने अपने ग्रन्थो मे इतर दर्शनो की मान्यताओ का खडन मडन करने मे व्यर्थ ही समय बीता दिया"- यह केवल अपनी मतिमन्दता के प्रदर्शन के सिवा और कुछ नही है। चूँकि कदाचित् जैनेतर दार्शनिको के विषय मे यह कथन सत्य भास रहा हो तो भी जैन दार्शनिको के लिये तो नितान्त असत्य कहा जा सकता है। जैनेतर दार्शनिको के जैन धर्म को नास्तिक भी बता दिया है किन्तु जेन दार्शनिको ने कभी भी अन्य दार्शनिको को नास्तिक नही बताया यदि चार्वाक दर्शन को छोड दिया जाय। हमारे ख्याल से तो जैनेतर दार्शनिको ने भी अपने ग्रन्थो मे अन्य दार्शनिको के मन्तव्यो की समीक्षा की हे यह इसलिये कि अपने दर्शन के अनुयायी लोग, जो कि स्वपरउभय दर्शन के मन्तव्यो की परीक्षा करने मे असमर्थ हैं, वे अपने दर्शन के सिद्धान्तो का खण्डन सुन कर स्वदर्शन से भ्रष्ट हो जाय ओर परदर्शन के सिद्धान्तो ओर आचारो को अगीकार करने की क्षमता न रखे तो आखिर उभयतो भ्रष्ट होकर परलोक की मान्यता से सर्वथा निरपेक्ष हो जाय-पाप का भय न रहे और अकार्य मे सदा प्रवृत्त रह कर अपनी आत्मा को अधःपतन के पथ पर ले जाय ऐसे महान् अनिष्ट का सर्जन न हो इस उद्देश्य से बहुधा अन्य दर्शन की मान्यताओ के खडन मे प्रवृत्त होते थे। जैन दर्शन के विद्वान् भी अन्य दार्शनिको के मन्तव्यो की समीक्षा करने मे प्रवृत्त हुए थे वह इसलिये कि मुमुक्षु मानवगण उसके सहारे तत्त्व का विनिश्चय कर सके और तत्त्व के विनिश्चय का फल द्वेषशान्ति को भी पा सके। जैन शास्त्रो के रहस्य को नही समझने वाले केवल दो-चार ग्रन्थो का अनधिकृत अध्ययन कर लेने पर पाडित्य का अभिमान धारण करने वाले आधुनिक विद्वान जो कि प्राचीन आचार्यो के लिये 'हरिभद्र-हेमचन्द्र' ऐसे नाम मात्र का तुच्छ निर्देश करते हुए अनेक ग्रन्थो की प्रस्तावना मे देखे जाते है और उन तत्त्वदर्शी

मनीषीओ के लिये यद्वा तद्वा लीसर डालते हैं- यह उन आधुनिक विद्वानो की अति शोचनीय दयनीय दशा का द्योतक है । अस्तु ।

शुभ उद्देश से स्वसिद्धान्त का साधकयुक्तियों से समर्थन और अन्यदार्शनिक प्रदर्शित बाधक युक्तियो का निराकरण करने की प्राचीन परम्परा के प्रभाव से जैन जैनेतर दर्शन को अनेक बहुमूल्य ग्रन्थरत्न प्राप्त हुए । 'स्याद्वादरहस्य' भी उनमें एक है ।

एक समय था जब जैनेतर विद्वान् लोग अपनी परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तो को ज्यों का त्यों अपना लेते थे । किन्तु जब दार्शनिकसिद्धान्तो का परस्पर संघर्ष बढा तब विक्रमीय १४वीं शताब्दि के न्याय दर्शन के एक प्रखर विद्वान ने परम्परा आगत सिद्धान्तो को थोडा परिष्कृत कर के नये शैली से विद्वानो के सामने उपस्थित करना उचित समझा । वह था 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ का सर्जक उपाध्याय गङ्गेश । प्राचीन सिद्धान्तो को परिष्कृत करके नवीन शैली से प्रतिपादन करने वाले यह विद्वान नव्यन्याय के आद्य पिता रूप से प्रसिद्ध हुवे । विक्रमीय १७ वी शताब्दि के अन्त से तो पक्षधरमिश्र-रघुनाथ शिरोमणि इत्यादि अनेक विद्वानो के पाण्डित्यपूर्ण विवेचन से वह नव्यन्याय का ग्रन्थ अतिपल्लवित हो गया था । तत्त्वचिन्तामणि के अभ्यास के बिना मानो विद्वता ही उस काल मे अपूर्ण रह जाती थी ।

'तत्त्वचिन्तामणि' की रचना के बाद जैनदर्शन मे भी उसका अभ्यास शुरू हो गया था किन्तु उसकी जटिलता के कारण सब उसका अभ्यास न कर सकते थे तो उसका परीक्षण और आलोचन के कार्य की तो आशा भी कहाँ ?

किन्तु 'जैन जयति शासनम्' इस न्याय से १७ वीं शताब्दी के शृङ्गार श्रीमद् उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने गुरुदेवो के पास जैनदर्शन का सूक्ष्म अभ्यास किया और काशी मे जा कर जैनेतर दर्शनों का भी आमूलचूल अध्ययन किया । 'तत्त्वचिन्तामणि' तो उनके लिये मानो बालक्रीडा थी ।

अध्ययन के बाद यशोविजय उपाध्यायजी ने नव्यन्याय की शैली से ही नवीनन्याय के सिद्धान्तो की परीक्षा और समालोचना करना शुरु कर दिया । इतना ही नहीं, जैनदर्शन के प्राचीन सिद्धान्तो मे कुछ भी परिवर्तन न करने पर भी नव्यन्याय की शैली से उनका इस ढग से प्रतिपादन करना शुरु किया जिनको पढ कर आज नव्यन्याय के अनेक विद्वानो का मस्तक झुक जाता है ।

'स्याद्वादरहस्य भी एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमे स्थान स्थान पर चिन्तामणिकार और दीधितिटीकाकार के मतो की समीक्षा कर के जैनन्याय के स्याद्वाद सिद्धान्त को नवीनन्याय की शैली से सुप्रतिष्ठित करने का एक अनूठा प्रयास किया गया है । जिज्ञासा होगी कि 'स्याद्वाद किसको कहते है ?'

५-स्याद्वाद

जैसे वेदान्तदर्शन का प्रधान अङ्ग अद्वैतवाद है, बौद्धदर्शन का प्रधान अङ्ग क्षणिकवाद है वैसे ही जैनदर्शन का प्रधान अङ्ग है स्याद्वाद ।

जगत् मे एक जटील प्रश्न हर विचारको के सामने उपस्थित होता है कि वस्तु का आखरी स्वरूप क्या है ? जैसे जैसे इस प्रश्न पर विचार किया जाता है वैसे वैसे इस प्रश्न की जटीलता कम होने के स्थान मे बढती ही रहती है । भिन्न भिन्न विचारको की मति भी भिन्न भिन्न होती है और सब अपनी अपनी प्रतीति के अनुसार उस प्रश्न का समाधान देने की कोशिश करते है । इन समाधानो मे से भी फिर अनेक प्रश्नो का जन्म होता है और उनके उत्तर मे प्रवृत्त होने पर विचारमणिओ की सख्या भी बढता ही रहती हे । कोई ऐसा भी विचारक जन्म लेता है जो इन विचारमणिओं मे अपने एक विचार का धागा परोकर विचारमणिमाला के रूप मे उन विचारो का गठन कर लेता है और इस तरह गठित किया गया विचारसंग्रह भी जगत् मे दर्शन के नाम से प्रसिद्ध होता है ।

वस्तु के आखरी स्वरूप पर जैसे भिन्न भिन्न विचारो का आविर्भाव होता है वैसे ही प्राणिगण मे बुद्धि मे सबसे अग्रणी गिने जाने वाले मनुष्य को अपना जीवन किस ध्येय की सिद्धि के लिये किस तरह जीना चाहिये यह भी एक अतिजटिल प्रश्न है और उस पर भी विचार करने वाले भिन्न भिन्न समाधान प्रगट करते है और उन समाधानो को आचारशास्त्र के रूप मे लोग अपना लेते है ।

इस जगत् मे विविध दर्शन आर आचारशास्त्रो का उद्गम होता है तब सूक्ष्म बुद्धि वाले लोगो के हृदय मे यह भी प्रश्न स्थान लेता है कि किस दर्शन को अपनाया जाय और किस आचारशास्त्र के आधार पर जीवन बिताया जाय ? इस प्रश्न का प्राय सभी दार्शनिको की ओर से एकमात्र यह समाधान होना चाहिये कि 'जो सर्ववस्तुओ का ज्ञाता हो और सर्व दोषो से मुक्त हो ऐसे पुरुषविशेष से प्रतिपादित दर्शन और आचारशास्त्र को ही अपनाना चाहिये । भिन्न भिन्न दर्शन के शास्त्रो का अभ्यास किया जाय तो यह भी एक प्रश्न खडा होता है कि 'भिन्न भिन्न दर्शनो के एक दूसरे से प्रतिपादित सिद्धान्तरूप विचारो मे यदि परस्पर

अत्यन्त विरोध देखने मे आ रहे है तव किस दर्शन के प्रणेता को सर्वज्ञ मान कर उसके वचन को प्रामाणिक माना जाय ?' इस प्रश्न के उत्तर मे अभिनिवेशरहित विचारक इतना ही कहगे कि जिस दर्शनशास्त्र मे प्रतिपादित तत्त्व किसी भी प्रमाण से वाधित न होता हो और जिस आचारशास्त्र मे वताये गये सकल प्रवर्त्तक और निवर्त्तक विधान उस प्रमाणाऽवाधित तत्त्व से विरुद्ध न हो और परस्पर भी अविरुद्ध हो उसी दर्शन और आचारशास्त्र को सर्वजीव कल्याणसाधक कहा जा सकता है ।

सक्षेप मे कह सकते है कि "जिस दर्शन मे तर्क-युक्ति और प्रमाण से अवाधित तत्त्वो (वस्तुस्वरूप) का प्रतिपादन किया गया हो और जिस दर्शन पर आधार रखने वाले आचारशास्त्र मे वताये गये विधि निषेध परस्पर अविरुद्ध होने पर सर्वजीवो के कल्याण की साधक युक्तिओ से सिद्ध होता हो वह दर्शन ही कसौटी मे उत्तीर्ण और कल्याणसाधन मे उपयुक्त होता है ।"

इस भूमिका पर यदि सभी दर्शनो का अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि कोई जगत् के अस्तित्व का अस्वीकार करता है, तो कोई उसके अस्तित्व का समर्थन करता है । अस्तित्व के समर्थन करने वालो मे भी कोई दार्शनिक एक मात्र चेतनातत्त्व की ओर निर्देश करता है और कोइ मात्र जडतत्त्व की ओर निर्देश करता है तो अन्य दार्शनिक जड और चेतन दोनो तत्त्व का स्वीकार करता हे । चेतन तत्त्व के स्वीकार करने वाले भी कोई उसके वहुत्व का निषेध करते हैं तो कोई अनेकता का समर्थन करते है । इन सभी विचारो का गहराई मे उतर कर परीक्षण किया जाय तो यह भी मालूम होगा की भिन्न प्रवक्ता वस्तु के भिन्न भिन्न स्वरूप मे से किसी एक स्वरूप का दर्शन करके उसका प्रतिपादन कर रहा है जब कि सभी दर्शनो के तथ्याशो को मिलाया जाय तो वस्तु का सही स्वरूप समझ मे आ सकता है ।

'कर्मसिद्धान्त इत्यादि सिद्धान्तो का अतिविस्तार से और रहस्यपूर्ण विवेचन केवल जेन दर्शन मे ही उपलब्ध है और युक्ति-तर्क से आज भी अवाधित रहा है' इस सत्य के आधार पर जैनदर्शन के प्रतिपादन करनेवाले श्री तीर्थकरदेवो मे उनके अनुयायियो को यह अतूट श्रद्धा है कि वे अवश्य सर्वज्ञ थे और राग-द्वेष से पर थे । उनसे प्रतिपादित सिद्धान्तो के सग्रह करने वालो आगमशास्त्रो का अवगाहन किया जाय तो इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इस दर्शन मे वस्तु के किसी एक मात्र धर्म (स्वरूप) की ओर अगुलीनिर्देश नही किया जाता है किन्तु उसमे सम्भवित सभी धर्मों का स्वीकार किया जाता चाहे उसमे परस्पर विरोध का आभास भी क्यो न हो रहा हो ! जेनदर्शन का यह सनातन प्रघोष रहा हे कि सकल वस्तुसमूह अनन्तधर्मात्मक हे- अनेकान्तात्मक है- उसमे से किसी एक अभिप्रेत धर्म का ही प्रतिपादन करने मे अपूर्णता है । हॉ उस अभिप्रेत धर्म का प्रतिपादन करते समय दूसरे अनन्त धर्मों का अपलाप न किया जाय और उस धर्म के प्रतिपादन करने मे अपना क्या उचित अभिप्राय या अपेक्षा है यह व्यक्त किया जाय तो उस एक धर्म के प्रतिपादन को भी समीचीन कहा जा सकता हे । वास्तव मे वस्तुगत अनन्तधर्मों का प्रतिपादन करने लगे तो समय का शायद अन्त होगा लेकिन उसका अन्त न होगा तथा अनेक पदार्थ भी ऐसे होते है जिसको जानते हुए भी हम उसके स्वरूप को शब्द से नही वता सकते इस लिये सर्वज्ञ-तीर्थकरो ने सकल पदार्थ को जानते हुये भी उन सभी का अभिलाप अशक्य होने के कारण कतिपय भावो का ही स्वरूप वताया किन्तु खास उपदेश यह दिया गया कि जिस पदार्थ मे आज हमे किसी एक अनित्य धर्म का दर्शन हो रहा है वह पदार्थ ही अपने आप मे अनित्य होने पर भी नित्य है, चूँकि उसकी दृश्यमान अवस्था केवल अल्पकालीन है किन्तु उस अवस्था का आधारभूत पदार्थ, जो कि दूसरे क्षण मे अवस्थान्तर की प्राप्त कर लेता है वह तो स्थायी रहने से नित्य माना जा सकता है- जैसे कि १० ग्राम भार वाले सुवर्ण गोलक मे से एक लम्वा तार खीचा जाता है तब वहाँ गोलकावस्था निवृत्त होती है और लम्वायमानावस्था जन्म लेती है किन्तु दोनो मे १० ग्राम सुवर्ण तो वही रहता है । इस तरह सत्त्व-असत्त्व नित्यत्व-अनित्यत्व भेदाभेद आदि अनेक धर्मयुगल ऐसे होते हैं जिसमे आपातत विरोध भास रहा हो फिर भी एक पदार्थ मे उसका अस्तित्व भी देखने मे आ रहा हो ।

वस्तुगत अनन्त धर्मों मे से प्रत्येक का प्रतिपादन अशक्य होने के कारण तथा किसी एक काल मे किसी एक वस्तु मे कोई एक धर्म अथवा धर्मसमूह का ही प्रतिपादन शक्य होने के कारण उस धर्म के प्रतिपादन के समय वक्ता को उस वस्तु मे उस धर्म को सगत करने वाले अपने अभिप्राय या अपेक्षा को स्पष्ट करने की आवश्यकता रहती है ।

इस तरह सम्यक् अपेक्षाओ के स्पष्टीकरण द्वारा वस्तुगत वास्तविक धर्मों के प्रतिपादन का ही दूसरा नाम है स्याद्वाद ।

स्याद्वाद का सरल अर्थ यह है कि सम्यक् अपेक्षा से वस्तु का वोध अथवा प्रतिपादन । जव तर्क, युक्ति और प्रमाणो की सहाय से समुचित अपेक्षा को लक्ष मे रख कर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है तव उनमे किसी भी प्रकार के विरोध को अवकाश नही रहता । क्योकि जिस अपेक्षा से प्रवक्ता किसी धर्म का किसी वस्तु मे निदर्शन कर रहा हो यदि उस अपेक्षा से वस्तु मे उस धर्मकी सत्ता प्रमाणादि से अवाध्य है तो उसको स्वीकारने मे अपेक्षावादीओ को कोई हिचक का अनुभव नही होता ।

सर्वज्ञ-तीर्थकरो के उपदेशो मे से प्रतिफलित होने वाले जैनदर्शन के सिद्धान्तो की यदि परीक्षा की जाय तो सर्वत्र इस स्याद्वाद

का दर्शन होगा। स्पष्ट है कि स्याद्वाद ही जैन दर्शन की महान बुनियाद है। सभी सिद्धान्तो की समीचीनता का ज्ञान कराने वाला स्याद्वाद है जिसमे सकल समीचीन सिद्धान्तो की अपने अपने सुयोग्य स्थान मे प्रतिष्ठा की जाती है।

सक्षेप मे कहे तो प्रमाण से अबाधित सकल सिद्धान्तो का मनोहर सकलन ही स्याद्वाद है। अप्रामाणिक सिद्धान्तो का समन्वय करना स्याद्वाद का कार्य नही है।

इस महान् स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन जैन आगमों मे मिलता है तथा उसके बाद रचे जाने वाले नियुक्ति ग्रन्थो मे भी उसका प्रतिपादन है। उसके आधार पर दिवाकर सिद्धसेनसूरिजी-हरिभद्रसूरिजी-देवसूरिजी आदि अनेक जैनाचार्यों ने स्याद्वाद के सिद्धान्त को अपने अपने सम्मतितर्क- अनेकान्तजयपताका-स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थो मे पल्लवित किया जिसमे स्याद्वाद सिद्धान्त की यथार्थता की उद्घोषणा की गई और उसमे परवादीओ द्वारा दिये गये दूषणो का परिहार भी किया गया। पुन नव्यन्याय की शैली से स्याद्वादी अभिमत भेदाभेदवाद आदि पर अनेक दूषण लगाये गये जिसका परिहार करके नव्यन्याय की शैली से ही स्याद्वादसिद्धान्त की पुन प्रतिष्ठा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य श्री यशोविजय महाराज ने "स्याद्वादरहस्य" आदि ग्रन्थो द्वारा पूर्ण किया।

६-'स्याद्वादरहस्य' का वक्तव्य

वीतराग स्तोत्र के अष्टम प्रकाश के आधार पर श्री यशोविजय महाराज ने स्याद्वादरहस्य मे एकान्तवादीओ की मान्यताओ का खण्डन करके भगवान् ने जिस तरह सप्तभङ्गी के द्वारा स्याद्वादसिद्धान्त का उपदेश दिया है उसका सयुक्तिक समर्थन किया है। बौद्धादि दार्शनिक, जो कि प्रकटरूप से स्याद्वाद सिद्धान्त का स्वीकार नही करते है, वे भी अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिये किस तरह स्याद्वाद का ही गुप्त आश्रय लेते है वह भी दृष्टान्तो के साथ बताया गया है।

इस तरह (१) एकान्तवादी मतो का खण्डन, (२) स्याद्वाद सिद्धान्त के स्वरूप का प्रतिपादन और (३) अन्य दार्शनिको के अभिप्रेत सिद्धान्तो से भी स्याद्वाद का समर्थन-ये तीन कार्य स्याद्वादरहस्य का प्रधान अभिधेय रहा है, जो कि मूल श्लोक मे भी है।

इन मुख्य तीन कार्यो के अतिरिक्त दूसरे अनेक वादो का इस (मध्यमस्याद्वादरहस्य) ग्रन्थ मे सग्रह किया गया है जिसमे सब से प्रथम एकान्तवादी और अनेकान्तवादी के बीच मे विप्रतिपत्ति का आकार कैसा होना चाहिये उसका निरूपण है। विप्रतिपत्ति के आकार का समर्थन करने के बाद प्रथम श्लोक के विवेचन मे (१) नय और प्रमाण के आधार से वस्तु का स्वरूप (२) भेदाभेद पर विवरण (३) समवायनिराकरण (४) चक्षु की अप्राप्यकारिता की सिद्धि (५) पुन भेदाभेदनिरूपण (६) भेद और पृथक्त्व के स्वरूप का विचार (७) साख्याभिमतसत्कार्यवाद का खण्डन (८) जैनमत से सदसत्कार्यवाद की स्थापना (९) क्षणिकवाद का खडन-इन ९ विषयो पर चर्चा की गई है।

द्वितीय श्लोक के अवतरण मे आशका के रूप मे आत्मा की अनित्यता मे बाधको की उपस्थिति कर के ज्ञानादि गुणो से आत्मा के अभेद मे भी बाधको का उपन्यास किया है। फिर उस शका के उत्तर मे द्वितीय श्लोक के विवरण मे (१) भोगपदार्थ विवेचन (२) आत्मा की एकान्त नित्यता का खण्डन और (३) एकान्त अनित्यता के खडन की युक्तियाँ बताई गई है।

तृतीय श्लोक के विवरण मे एकान्तनित्य और एकान्तअनित्यवादी के मत मे पुण्य पाप की असगति बताई गई है। उसमे (१) अदृष्ट की सिद्धि (२) अदृष्ट के पौद्गलिकत्व तथा आत्मपरिणामरूपत्व की सिद्धि (३) अमूर्त्त से मूर्त्त का सम्बन्ध और उसका विभाव परिणाम-आदि पर पर्याप्त विवरण किया गया है।

चतुर्थ श्लोक मे एकान्तनित्यवादी और एकान्तअनित्यवादी के मत मे अर्थक्रियाकारित्व की अनुपपत्ति का निरूपण है जिसमे अर्थक्रिया के स्वरूप का विवेचन तथा स्वभाव पर विवरण किया है।

पचम श्लोक मे वस्तु का नित्यानित्यत्वादिरूप निर्दोषस्वभाव भगवान् ने किस तरह बताया है वह दर्शाने के लिये (१) सप्तभङ्गी का विस्तार से निरूपण (२) सप्तभङ्गी के स्वभावद्वैविध्य का निरूपण (४) 'सकृदुच्चरित'० न्याय के अर्थ का निरूपण किया गया है। प्रसग मे विस्तार से (१) तमोद्रव्यत्ववाद (२) ईश्वरकर्तृत्वखडन और (३) सर्वज्ञसिद्धि का प्रतिपादन किया है।

षष्ठ श्लोक सरल होने से उसके पर कुछ भी विवेचन किया नही है- इस श्लोक मे गुड और सूण्ठ के सयोजन के दृष्टान्त से स्याद्वाद की निर्दोषता बताई गई है।

सप्तमश्लोक का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। प्रथम इस श्लोक का अन्वय किस तरह लगाना उसके पर विवेचन दिया है। तदनन्तर सत्त्वाऽसत्त्व, नित्याऽनित्यत्व, भेदाऽभेद, सामान्य-विशेष अभिलाप्याऽनभिलाप्यादि परस्पर विरुद्ध प्रतीयमान धर्मों का सामानाधिकरण्य जिन युक्तियो से सिद्ध होता है उनका प्रतिपादन किया है।

८ वे श्लोक मे बौद्धमत से अनेकान्तवाद का समर्थन बताया है ।

९ वे श्लोक मे विस्तार से चित्ररूप पर विवेचन किया गया । चित्ररूप को एकानेक मानने वाले दार्शनिको के मत से स्याद्वाद का समर्थन किया है । अभिन्न पदार्थो मे भी धर्मधर्मिभाव का समर्थन किया है । शास्त्रप्रसिद्ध उपसर्जनत्व पदार्थ का स्पष्टीकरण किया है । शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को न मानने वाले बौद्ध पक्ष का भी खडन किया गया है ।

१० वे श्लोक मे साख्यमत से अनेकान्तवाद का समर्थन किया गया है

११ वे श्लोक मे अनेकान्तवाद मे चार्वाक की सम्मति की अनावश्यकता का प्रतिपादन किया गया हे । बाद मे चार्वाकमत का पूर्वपक्ष और विस्तार से उसका खडन भी किया गया हे, शब्द की पौद्गलिकता का विस्तार से समर्थन किया गया है, शब्द नित्यानित्यत्व का विस्तार से विचार किया गया हे, आत्मा की सिद्धि करके उसके विशेषस्वरूप का प्रतिपादन प्रमाणनयतत्त्वालोक के 'चेतन्यस्वरूप [७-५६]' इस सूत्र के आधार पर किया गया है जिसमे ज्ञानाज्ञानात्मकस्वभाववादी भट्टमत का निराकरण किया है, आत्मा के देह परिमाणवत्ता की सिद्धि ८१ श्लोको मे की है । एकात्मवाद का खडन किया गया है । प्रसग से कारणता के निरूपण मे पाच अन्यथा सिद्धिओ का निरूपण किया गया है, जिसमे चतुर्थ अन्यथासिद्धि के निरूपण मे ही मध्यम स्याद्वादरहस्य अपूर्ण रह गया हे ।

लघु स्याद्वाद०मे १२ वे श्लोक पर भी विवेचन किया है जिसमे बुद्धिमान पुरुषो के लिये वीतराग सर्वज्ञ भगवन्त प्रतिपादित दुग्ध, दही ओर धृत-तीनो मे अनुगत गोरस के समान उत्पाद-व्यय-स्थैर्य से मिश्रित ही वस्तु स्वीकारने योग्य बताई गई है ।

बृहत्स्याद्वाद० मे केवल तीन श्लोक का ही सम्पूर्ण विवेचन पाया जाता है, चतुर्थ श्लोक का विवरण अपूर्ण ही उपलब्ध हो रहा है फिर भी प्रथम तीन श्लोको का जितना विवरण मध्यमस्याद्वाद० मे मिलता है उससे भी विशद विवरण उन विषयो का इस बृहत्स्याद्वाद० मे पाया जाता है । इसमे मध्यम की अपेक्षा (१) प्रतियोगिता (२) न्यायमत से अन्योन्याभाव की अव्याप्यवृत्तिता का विचार तथा (३) जैनमत से अन्योन्याभाव की अव्याप्यवृत्तिता का विचार (४) वैशिष्ट्यवाद (५) प्रागभाव पर विमर्श इत्यादि अधिक विवेचन भी पाया जाता है ।

सभी विषयो के जिज्ञासु अनुक्रमणिका से अधिक परिचय प्राप्त कर सकेगे और नवीन न्याय की शैली से इन सभी विषयो का प्रतिपादन पूज्य श्रीमान् उपाध्यायजी ने किस तरह किया हे इस जिज्ञासा को तृप्त करने के लिये तो पाठको की इस ग्रन्थ का ही अभ्यास करना आवश्यक रहेगा ।

बृहत्स्याद्वादरहस्य यदि सम्पूर्ण उपलब्ध होता तो जैनन्याय की शोभा अत्यन्त बढ जाती किन्तु दुर्भाग्य से जिस तरह उपाध्यायजी के अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध-अपूर्णोपलब्ध हो रहे हे उस तरह यह ग्रन्थ भी सम्पूर्ण उपलब्ध न हुआ किन्तु मध्यमस्याद्वादरहस्य बहुधा पूर्ण मिला है- यह भी कम आनन्द की बात नही है ।

जैसे जैसे इस ग्रन्थ का अभ्यास विद्वद्वर्ग मे होता जायगा- हमारी यह श्रद्धा है कि जैनदर्शन के प्रति पाठक की श्रद्धा मे ज्वार (भरती) आती ही रहेगी । विद्वान् जैन मुनिवर्ग के लिये स्वाध्याय का एक उत्तमआलम्बन सदा के लिये बना रहेगा यद्यपि इस ग्रन्थ के अभ्यास के लिये विवेचन की आवश्यकता जरूर अभ्यासिओ को महसूस होगी किन्तु आशा है कि एक बार उसके मूलरूप मे प्रकाशन हो रहा है तो उससे प्रेरणा पाकर कोई विद्वान् मुनिरत्न सविवेचन प्रकाशन के लिये भी उद्यत होगे।

उपकारस्मरण :-

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे इन महापुरुषो का अचिन्त्य उपकार अवश्य स्मरणीय है-

(१)-सिद्धान्तमहोदधि- कर्मसाहित्यनिपुणमति-वात्सल्यक्षीरोदधि-परमपूज्य-आचार्य देवेश श्रीमद् विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराजा, जिनकी अनहदकृपा हमे सयम और सम्यग्ज्ञान आदि सद्योगो की उपासना-आराधना मे सतत उत्साहित कर रही हे ।

(२)-न्यायविशारद वर्धमानतपोनिधि उग्रविहारी परमगुरु आचार्यदेवश्रीविजय **भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराज, जिन्होंने अज्ञान अटवी मे गुमराह हमारी आत्मा के ज्ञान नेत्र को विमलाञ्जन लगाकर सन्मार्गदर्शन कराया तथा अमूल्य सयमरत्न का दान दिया ।

(३)-प पू शान्मूर्त्ति मुनिभगवन्त प्रगुरुदेव श्री **धर्मघोषविजय** महाराज ओर सद्गुरुदेव प्रशान्तमुद्र गीतार्थ मुनिभगवन्त श्री **जयघोषविजय** महाराज, जिनकी पुनित निश्रा मे हमारे सयमदेह की पुष्टि और जिनके अविरत सान्निध्य मे इस ग्रन्थ का सम्पादन हुआ ।

इन सद्गुरुओ की महती कृपा से इस ग्रन्थ के सम्पादन के द्वारा जिस पुण्य का अर्जन हुआ उससे विश्व के सकल जीव स्याद्वादरुचि तथा कदाग्रहविषमुक्त बने-यह एक शुभेच्छा ।

—जयसुन्दरविजय
अहमदावाद

विषयमार्गदर्शिका

१ Bold type में जयलता टीका के विशेष विषयों का उल्लेख है। २ Normal type में मूलप्रकरण एवं जयलता- हिन्दी टीका के विषयों का निर्देश है।



श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नम ॥

श्रीमद्विजय-प्रेम-भुवनभानु-जयघोषसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

ऐं नम ।

महामहोपाध्याय-न्यायविशारद-न्यायाचार्य-श्रीमद्विजययशोविजयगणिवरविरचितम्

मुनियशोविजयकृतजयलता-रमणीयाभिधानव्याख्याभ्या भूषितम्



(मध्यम)

सकलवाचककुलालकारहारमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपडितश्रीलाभविजयगणिशिष्यमुख्यपडित-श्रीजितविजयगणिपडितश्रीनयविजयगणिगुरुभ्यो नम ।

(प्रथम·खण्ड)

★☆ स्याद्वादरहस्यकारीयमङ्गलम् ☆★

ऐकारस्फारमन्त्रस्मरणकरणतो या स्फुरन्ति स्ववाच ।
स्वच्छा एताश्चिकीर्षु सकलसुखकर पार्श्वदेव प्रणम्य ।
वाचाटाना परेषा प्रलपितरचनोन्मूलने वद्धकक्षो
वाचा श्रीहेमसूरेर्विवृतिमतिरसोल्लासभाजा तनोमि ॥१॥

★☆ जयलताव्याख्याकृन्मङ्गलम् ☆★

अनारब्धेऽष्टमे वर्षे नत्वा शङ्खेश्वराधिपम्। श्रीयशोविजयेनेय जयलता प्रतन्यते ॥१॥
त नौमि हेमसूरिं यत्कृपया दिव्यया खलु । सद्य सपद्यते गद्य-पद्यरचनदक्षता ॥२॥
न्यायविशारद नौमि यदीयस्मरणात्खलु । जटिलन्यायवाचा हि रहस्य बुध्यते क्षणात् ॥३॥
पठन्ति वहवो न्याय सुचिर रटयन्त्यपि । पाठयन्त्यपि केचिद्रहस्य तु वेत्ति कश्चन ॥४॥
सर्वज्ञोदितहेतुयुक्तिनिकरै स्याद्वादमुद्राङ्कितै जाग्रन्मोहमहाभरैकविलसन्मिथ्यादृशा यन्मतम् ।
नानाचित्रमहत्कदाग्रहजुषामेकान्तवादात्मक जीर्णशीर्णपटीतटीव शतधा सभिद्यते तत्क्षणात् ॥५॥
अनेकान्तात्मक वस्तु प्रतीयते प्रमाणत । तत्राऽऽक्षेपा परेषा हि महामोहविजृम्भितम् ॥६॥

● रमणीया (हिन्दीव्याख्या) ●

कलिकालसर्वज्ञ रूप से जिन्हे सब लोग अच्छी तरह पहचानते हैं ऐसे श्रीहेमचद्रसूरीश्वरजी महाराजा ने, जो १८ देश के मालिक परमार्हत कुमारपाल के परम श्रद्धेय गुरुवर थे और श्रीसिद्धराज सोलकी राजा के दरवार के श्रेष्ठ रत्न कहे जाते थे, श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन, त्रिषष्टीशलाकापुरुषचरित्र, छन्दोनुशासन आदि अनेक रचनाऐ की थीं। इन रचनाओ मे से वीतरागस्तोत्र एक अनुपम रचना है, जिसमे अरिहत भगवतो की स्तुति की गई है। सुना जाता है कि कुमारपाल महाराज इस स्तोत्र का पाठ किये विना मुँह मे पानी भी डालते नही थे। इस स्तोत्र के, जिसमे २० प्रकाश है, अष्टम प्रकाश मे स्याद्वादप्रकाशकरूप से भगवत की स्तवना की गई है। स्याद्वाद का निगूढार्थ इस प्रकाश मे अन्तर्निहित है, जिसे प्रकाशित करने के लिए महामहिम

★ जयलता ★

इह खलु सदसन्नित्यानित्याभिलाप्यानभिलाप्याद्यनेकस्वरूपं वस्तु प्रतिनियतानुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययेनाऽनुभवन्तोऽपि परमार्थतो महामोहकर्मगजेन्द्र-सामर्थ्यदीपत' समारसागरासारतामिव न प्रतिपद्यन्ते अपायहेत्वसद्ग्रहव्याप्तान्तःकरणा नैयायिकादयो वादिमुख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते च। अतस्तान्निराचिकीर्षुः सिद्धराज-कुमारपालभूपालादिमौलिमणिचर्चितचरणसरोरुहाणां वादिदेवमलय-देवेन्द्रसूर्यादिसमकालीनानां विरचितशब्दच्छन्दोलिङ्गानुशासन-नामकोप-द्व्याश्रय-योगशास्त्र-प्रमाणमीमांसालङ्कारचूडामणित्रिषष्टिशलाकापुरुषादिमहाशास्त्राणां कलिकालसर्वज्ञविरुदवतां श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वराणां वीतरागस्तोत्राष्टम-प्रकाशान्तर्निहित वाग्वैभवं प्रचिकटयिषुः न्यायाचार्यो हि कामितपूरणसुरतरु-सिद्ध-स्वप्रिय-वाग्मन्त्रस्मरणकृते शिष्टसमयपरिपालनाय विघ्नविनायकोपशान्तये प्रयोजनादिप्रतिपादनाय चाह-ऐंकारेति। अनेन प्रियवाग्मन्त्रबीजस्मरणं कृतं। तेन च वागीश्वरीं प्रति स्वबहुमानं कृतज्ञतादिकं चाऽऽवेदितम्। स्वच्छा एतान्चिकीर्षुरिति। तादृक्स्वगाच पवित्रयितुमिच्छु'। ऐंकारमन्त्रस्याऽयं प्रभावो यदुताऽस्खलितवाक्प्रवाहनि'सरणम्, किन्तु सम्भवति तत्र पूर्वकालीनैकान्तवादवासनामालिन्यं यथाऽन्यदर्शनिनाम्। ततस्तत्प्रक्षालनेन=दूरीकरणेन स्ववाचः स्वच्छताऽऽपादनार्थं श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वराणां स्याद्वादोपधिग-र्भवाचां विवृत्तिव्याजेनोपासनां कर्तुं महामहोपाध्यायेच्छोचितैव। अनेन स्वसंबद्धं स्वकीयमनन्तरप्रयोजनमुपदर्शितम्। शेषप्रयोजनानि सामर्थ्योन्नेयानि।

सकलसुखकरं पार्श्वदेवं प्रणम्येति। अनेनेष्टदेवतानमस्कारस्वरूपं मङ्गलं कृतम्। तेन शिष्टाचारः परिपालितो भवति। तच्चाऽपूर्वोत्पाद-विघ्नध्वंसहेतुः, ततः पुण्यप्रकृतिबन्ध-पापप्रकृत्युच्छेदयोर्युगपद्भावात्। यत्तु न्यायमञ्जरीगारे नव्यमतप्रदर्शनावसरे 'विघ्नध्वंसविशेष एव मङ्गलस्य फलं विघ्नध्वंसविशेषान्तरं च विनायकस्तवपाठादेः फलं' (न्या म म पृ ३) इत्युक्तं, तत्र चारुतया चतुरचेतसां चेतसि चकास्ति, विघ्नेषु जात्यन्तरकल्पनाया मानाभावात्, दुरितोदयस्यैव विघ्नरूपत्वात्। तदुक्तं अनेकान्तजयपताकावृत्तौ याकिनीमहत्तरासूनुना 'विघ्नं प्रागुपात्ताशुभकर्मोदयलक्षणं' (अने ज प पृ २)। न चैवं व्यतिरेकव्यभिचारो दुर्निवार इति वाच्यम् स्तवपाठादेरपि मङ्गलत्वाऽविशेषात्, दुरितनिवृत्त्यसाधारणकारणत्वस्यैव मङ्गललक्षणत्वादिति दिक्।

वाचाटानां=मुखराणां न तु सम्यग्वादिनां, तद्वचननिराकरणे द्वादशाङ्ग्याशातनप्रसङ्गात्, परेषां=नैयायिकमीमांसकसाङ्ख्यसौगतचार्वाकादीनां अनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वप्रच्यावितानां प्रलपितरचनोन्मूलने=उक्तव्यर्थालापविरचननिराकरणे, व्यर्थालापस्य प्रलापलक्षणत्वात्। न च समासाऽघटकपदसा-पेक्षतया प्रलपितपदस्याऽसमर्थत्वेन समासाऽसाधुत्वमिति वाच्यम् तदर्थैकदेशप्रलापे एव परकर्तृकत्वस्याऽन्वयात्, तदर्थान्वितस्वार्थपरत्वस्यैव तत्सापेक्षत्वपदार्थत्वात्। स्वार्थश्च स्वीयवृत्तिग्रहविशेष्य. 'तदर्थाऽन्विते'त्यत्राऽभेदान्वयो वा प्रवेश्य.। न चैवमपि षष्ठ्यर्थविधया कर्तृत्वकल्पनमदृष्टपूर्वमिति वाच्यम् 'चैत्रस्य भोजनमि'त्यत्र चैत्रकर्तृकभोजनविषयकबोधवत् प्रकृतेऽपि परकर्तृकप्रलापरचनोन्मूलनविषयकबद्धकक्षत्वप्रकारक-शाब्दबोधोपगमे

● रमणीया ●

तर्कसम्राट न्यायविशारद न्यायाचार्य महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने स्याद्वादरहस्य नाम से अनूठा विवरण ग्रंथ बनाया है। वर्तमान मे लघु स्याद्वादरहस्य, मध्यम स्याद्वादरहस्य और बृहत् स्याद्वादरहस्य नाम से तीन विवरणग्रंथ वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश पर उपलब्ध होते हैं। यहाँ मध्यमपरिमाण होने के सबब मध्यमस्याद्वादरहस्य नाम से प्रसिद्ध ग्रंथरत्न का भावानुवाद लिखा जाता है। विवरण ग्रंथ के प्रारंभ मे विवरणकार ऐंकार इत्यादि रूप से मंगल करते हैं, जो निम्नोक्त रूप से हैं।

● मंगलश्लोकार्थ ●

ऐंकाररूप स्फुरायमान तेजस्वी मन्त्र का स्मरण करने से जो वाणी चारों ओर फैलती है उन्हें स्वच्छ करने का अभिलाषी तथा मुखर परवादिओ के प्रलाप की रचना का उन्मूलन करने मे तत्पर मैं (महोपाध्यायजी) सकलसुखकर श्रीपार्श्वनाथ भगवंत को नमस्कार कर के श्रीहेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराज की अत्यंत रसिक वाणी का विस्तार करता हूँ ॥१॥

● मंगल श्लोक का विशेषार्थ ●

महामहोपाध्यायजी प्रायः अपनी प्रत्येक कृति प्रारंभ मे सिद्ध वाग्मंत्र के प्रधानबीजभूत ऐं पद का उल्लेख करते है, जो वाग्देवता के प्रति अपनी कृतज्ञता का द्योतक है और बहुमान का सूचक भी। वाग्देवता का स्मरणरूप मंगल इससे अर्थतः द्योतित होता है।

बुद्धिमान पुरुषों की ग्रन्थ मे प्रवृत्ति, उसके अनुबन्धों को जाने बिना नहीं हो सकती। वे अनुबन्ध चार होते है। जैसे (१) अभिधेय (२) प्रयोजन, (३) अधिकारी, (४) सम्बन्ध। अनुबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-पुरुषमनुबध्नाति=स्वज्ञानेन प्रेरयति इति अनुबन्धः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुबन्ध शब्द का अर्थ फलित होता है-ग्रन्थप्रवृत्ति में प्रयोजक ज्ञान का विषय। इस कारण ग्रन्थ के प्रारम्भ मे अभिधेय आदि को अवश्य बताना चाहिए। यहाँ चिकीर्षुः पद से स्वसम्बन्धी साक्षात् प्रयोजन का निर्देश किया गया है तथा स्वसम्बन्धी परम्परा मे प्रयोजन है मोक्ष-यह अर्थतः सूचित होता है। इसी तरह ग्रन्थकार का परसम्बन्धी साक्षात् प्रयोजन है श्रोता को स्याद्वादगोचर रहस्यार्थ का ज्ञान उत्पन्न कराना और परम्पर प्रयोजन है श्रोता को ग्रन्थप्रतिपाद्य स्याद्वाद के ज्ञान द्वारा कदाग्रहध्वंस से सम्यग् दर्शन की निर्मलता ओर उससे चारित्र की निर्मलता एवं मोक्ष की प्राप्ति। शिष्ट पुरुषों की प्रवृत्ति परोपकार से व्याप्त होने के नाते ग्रन्थकार का परसम्बन्धी प्रयोजन अनायास ही ज्ञात होता है।

★ जयलता ★

क्षतिविरहात्! वद्धकक्ष =तत्परः, अनेन एकान्तवादोन्मूलनस्य स्वापेक्षयाऽतिसुकरत्व दर्शित आम्रसेकपितृतर्पणन्यायेन प्रयोजनान्तर च प्रदर्शितम्। श्रीहेमसूरेरतिसोल्लासभाजा वाचा विवृति तनोमीत्यनेन प्रतिज्ञा प्रदर्शिता। सा च तदर्थिना शिष्याणामवधानफलिका। अधिकारी चात्र तदर्थी समर्थो विद्वान् सामर्थ्यगम्यः। तदुक्त न्यायमालाया 'अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणाऽपर्युदस्तोऽधिक्रियते' (न्या मा ११९)। श्रीहेमचद्रसूरिवाग्वृत्तिः शान्तरसः प्रकृते रसपदेन बोध्यः। स च परमार्थेन आत्मवृत्तिरपि तज्जनकत्वेन वाण्यामुपचर्यते। शान्तरसश्च परमार्थतः सम्यग्दृष्टावेव। सम्यक्त्वञ्च स्याद्वादप्रतिपत्तिमूलम्। प्रकर्षेण तत्प्रतिपादकत्वात् प्रकृते श्रीहेमचन्द्रसूरिवचनेषु शान्तरसभ्राजिष्णुत्वमिति बोधनार्थं 'अतिरसोल्लासभाजामि'ति वाचा विशेषणम्।

प्रकृते सम्बन्धोऽपि सामर्थ्यगम्योऽनेकविधः तथाहि-अभिधेय-प्रकरणयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावरूपः, पदार्थावबोध-प्रकरणयोर्जन्यजनकभावलक्षणः, निःश्रेयस-प्रकरणयोः प्रयोज्यप्रयोजकभावस्वरूपः, मुक्तिपदार्थज्ञानयोरपि स एव, अभिधेयज्ञानयोर्विषयविषयीभावात्मकः, मुक्त्यधिकारिणोः प्राप्यप्रापकभावप्रकारः, अधिकारि-विचारयोः च कर्तृकर्तव्यभावः सम्बन्धः। यद्यपि प्रकरणकृता प्रकृतेऽभिधेयनिर्देशः स्पष्टतया न कृतः तथापि लघुपरिमाणस्याद्वादरहस्यप्रकरणे द्वितीयकारिकयोपदर्शित इहानुसन्धेयः। तदुक्त तत्र अभ्यस्य तर्कं स्याद्वादरहस्य शस्ययुक्तिकम्। निरस्तदुर्नय मार्गप्रवेशाय निबध्यते॥ (ल स्या रह पृ १) इति। अस्याश्च व्याख्यालेश उपयोगितया प्रदर्श्यते। तथाहि-अभ्यस्य=अभ्यासविषयीकृत्य। पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरभ्यास इत्येके। ध्येये वस्तुनि चित्तस्य स्थिरीकरणार्थो यत्न इत्यपरे। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य पुनः प्रतिपादनमित्यन्ये। पुनःपुनरनुशीलनमभ्यास इति तु वयम्। तर्कमिति। व्यभिचारादिशङ्कानिवर्तिका वस्तुस्वरूपानुगामिनी ऊहापोहात्मिका विचारशक्तिस्तर्कः, तम्। केचित्तु अनिष्टाऽऽपादन तर्क इत्याहुः। आत्मविचाराधीनोऽर्थावग्रह इत्येके। व्याप्यारोपेण व्यापकप्रसञ्जन तर्क इत्यपरे। युक्त्याऽर्थनिर्णयस्तर्क इत्यन्ये। व्याप्तिग्राहकः प्रमाणभिन्नो विचारस्तर्क इतीतरे। अमृतनादोपनिषदि तु 'आगमस्याऽविरोधेन ऊहन तर्क उच्यते॥ (अ उप १७) इत्युक्तम्। प्रथमपादेन तर्काभ्यासस्यैतत्प्रकरणाऽसाधारणकारणत्व व्यज्यते।

स्याद्वादरहस्यमिति। स्याद्वादगोचरनिगूढार्थप्रतिपादक प्रकरणविशेषम्। अनेनाभिधेयमुक्तम्। स्यात्=कथञ्चित् तत्तदपेक्षया वादः=वस्तुनिरूपण स्याद्वादः। यत्तु आधुनिकैः हिरियन्नादिभि [१] 'स्याच्छब्दोऽस्यातुविधिलिङ्रूपः सभावनार्थवाचक' इत्युक्त तन्मन्दम् सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दः तिङन्तप्रतिरूपको निपात इत्यभ्युपगमात्। तदुक्त आप्तमीमासाया 'वाक्येष्वनेकान्तद्योती, गम्य प्रति विशेषणम्।

● रमणीया ●

अनुबन्धसजातीय होने के सबब 'तत्ग्रहणे तत्सजातीयोऽपि गृह्यते' न्याय से अभिधेय, अधिकारी, सबध का भी ग्रहण हो गया-ऐसा समझा जाता हे। 'शास्त्रजन्यप्रमानिवर्त्त्याऽज्ञानविषयोऽभिधेय । अर्थात् शास्त्रजन्य प्रमात्मक ज्ञान से निवृत्त होने योग्य अज्ञान का जो पदार्थ विषय होता है वही पदार्थ उस शास्त्र का अभिधेय (विषय) समझा जाता हे। प्रस्तुत ग्रथ के अध्ययन से स्याद्वादविषयक रहस्यार्थ का अज्ञान निवृत्त हो जाता है। अत स्याद्वादगोचर रहस्यार्थ-दिव्यार्थ इस प्रकरण का अभिधेय है। अभिधेयार्थ का अर्थी, जो समर्थ एव विद्वान् हो, अर्थात् इस ग्रथ की नव्यन्याय शैली मे निपुण हो, वह इसका अधिकारी है। सम्बन्ध अनेकविध होता हे। श्रद्धानुसारी श्रोता के प्रति गुरुपर्वपरपरा सम्बन्ध तथा तर्कानुसारी श्रोता के प्रति ग्रन्थ ओर उसके अभिधेयार्थ आदि मे वाच्यवाचकभाव आदि सम्बन्ध बताया जा सकता है। इस प्रकार अनुबन्ध चतुष्टय का निरूपण किया गया।

'सकलसुखकर' इत्यादि। इससे अपने मनोवाछितप्रद इष्ट देव का स्पष्टरूप से नामग्रहण कर के नमस्कार किया गया हे, जिसे हम साक्षात् इष्टदेवनमस्कारात्मक मगलाचरण कह सकते हैं। नमस्कार का अर्थ है - 'नमस्कार्यावधिक स्वापकर्षबोधानुकूल स्वीयव्यापारविशेषो नमस्कार '। नमस्कार के योग्य परमेश्वर के प्रति अपनी न्यूनता के बोधन के लिए किये जानेवाले मन-वचन-काया के व्यापारविशेष को नमस्कार कहते हैं। यहाँ 'नत्वा' का प्रयोग नही कर के 'प्रणम्य' शब्द का प्रयोग प्रकरणकार ने किया हे वह नमस्कार मे प्रकर्ष का बोधक है। अर्थात् यहाँ अत्यत शुभभावयुक्तमनसहित कराञ्जलि, शिरोनमन और शब्दप्रयोगरूप नमस्कार क्रिया अभिमत है। 'त्वा' प्रत्यय से ग्रथप्रारम्भापेक्षया पूर्वकालिकत्व नमस्कारपदार्थ मे बोधित होता है। अर्थात् इस अवसर्पिणी काल के २३ वें तीर्थकरदेव श्रीपार्श्वनाथ भगवत को प्रकृष्ट नमस्कार करने के बाद ही ग्रन्थ रचना का प्रारभ करना ग्रथकार को अभीष्ट है-यह 'त्वा' प्रत्यय से विदित होता है।

किसी भी कार्य के प्रारम्भ मे मगल अवश्य करना चाहिए-यह केवल जेनो का सिद्धान्त नही हे, अपि तु नैयायिक, वेयाकरण आदि दार्शनिको का भी है। सभी शिष्ट पुरुषो का वह आचार हे। अत प्रकरणकार ने भी इस प्रकरण का श्रीगणेश करते हुए मगलाचरण किया है, जो अपनी शिष्टता एव आस्तिकता का भी प्रतिक होता है। मगल श्लोक के तृतीय पाद से अपनी बद्धलक्ष्यता का निर्देश किया गया हे। व्यर्थ प्रलाप करनेवाले अन्य दार्शनिको की तुच्छ रचनाएँ एव उनके गलत सिद्धातो का उन्मूलन करने की महोपाध्यायजी को टेक थी। इसी सबब यहाँ द्रव्यानुयोग का निरूपण होगा, न कि चरणकरणानुयोग आदि तीन अनुयोग का-यह भी ध्वनित होता है। द्रव्यानुयोग के प्रतिपादन मे ही अन्य दार्शनिको के तथ्यहीन सिद्धान्तो का निरसन मुमकिन है।

१-देखिये भारतीयदर्शन की रूपरेखा (हिरि०) पृ ९६४

इह हि निखिलकुवादिकुतर्कसतमसछन्न जगतः शुद्धनयलोचनमुन्मिमीलयिपवः श्रीहेमसूरयो यथावस्थितार्थव्यवस्थापनद्वारा भगवन्त स्तोतुमुपक्रमन्ते ''सत्त्वस्ये'' ति-

▲ कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्रसूरिरचित-वीतरागस्तोत्राऽष्टमप्रकाशः ▲

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ ॥१॥

★ जयलता ★

स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तत्र केवलिनामपि॥ (आ मी १०३) इति। एतेन 'स्याच्छब्दः क्वाचित्कार्थः' इति देवराजवचन प्रत्युक्तमिति। तदुक्त स्याद्वादमञ्जर्यां-' स्यादिति अनेकान्तद्योतकमव्ययम्। ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादः नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्' (स्या म २५)। सिद्धर्षिगणिनाऽपि न्यायावतारवृत्तावुक्त निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताशेषधर्मान्तरसूचकेन स्याता युक्तो वादः = अभिप्रेतधर्मवचन स्याद्वादः' (न्या वृ पृ ९३) इति।

अभिधेय विशेषणद्वयेन विशिनष्टि-शस्ययुक्तिक=प्रशस्ययुक्तिगर्भित, निरस्तदुर्नय=परास्तानभिमतवस्त्वंशापलाप्यध्यवसायविशेषमिति। यद्यपि प्रस्तुत प्रकरण करिष्यमाण न तु कृत तथापि प्रकरणकृतो मनसि तदुपस्थितेः सत्त्वात् क्तप्रत्ययस्य न्याय्यत्वम्। यद्वा प्रकृतप्रकरणस्य क्रियमाणत्वेन 'क्रियमाण कृत'मितिन्यायात् क्तप्रयोगस्य युक्तत्व भावनीयम्। मार्गप्रवेशाय=यथावस्थितानेकान्तमार्गान्तर्गमनाय। अनेन परमम्बद्ध स्वकीयमनन्तर प्रयोजन दर्शितम्। एवञ्च ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयस्य पानुबन्धचतुष्टय प्रतिपादित भवति। नामादिनिक्षेपविचारस्तु स्वयमूहनीय इत्यल विस्तरेण।

ग्रन्थप्रस्तावार्थं प्रथममुपोद्घातसङ्गति प्रदर्शयति-इहेति प्रवचने इत्यर्थः। जगत इति। जगत्पद तदानीं मिथ्यात्वविशिष्टात्मपर, शिष्टमतिरोहितार्थमिति न भाष्यते। व्याख्येयस्य वीतरागस्तोत्राष्टमप्रकाशस्याऽऽद्यकारिकामाह-सत्त्वस्येति। कारिकाक्षरार्थस्सुगमत्वान्न तन्यते। प्रकरणकार एतदन्तर्निहितैदम्पर्यार्थ-

● रमणीया ●

मगल श्लोक के चतुर्थ पाद मे महामहोपाध्यायजी ने अपनी प्रतिज्ञा का उल्लेख किया है। प्रतिज्ञाश्रवण से तदर्थी श्रोता ग्रथाध्ययन मे सावधानता से प्रवृत्त होते ह। स्वय स्वतत्र ग्रथरचना मे समर्थ होते हुए भी महोपाध्यायजी कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचद्रसूरीश्वरजी महाराजा की वाणी का विवरण कर रहे हैं, इससे आचार्यदेवश्री की वाणी मे अतिरसोल्लाससम्पन्नता एव अभिनवोन्मेषशालिता का अनायास ज्ञान सुज्ञ वाचको को हो ही जाता है तथापि तथाविध अव्युत्पन्न पाठको के लिए 'अतिरसोल्लासभाजा' ऐसा वाणी का विशेषण दिया गया है, जो अष्टादशदेशाधिपति कुमारपाल के प्रतिबोधक गुरुवर के प्रति अपनी श्रद्धेयता एव बहुमान्यता का निवेदन कर रहा है।

यद्यपि अभी प्रकरणकार महोपाध्यायजी महाराजा मगलाचरण कर रहे हैं, इसके अनन्तर स्याद्वादरहस्य प्रकरण का आरभ होगा तथापि 'वर्तमानसमीपे वर्तमानवद् वा' न्याय से भविष्यत् अर्थबोधक 'स्यामि' इत्यादि आख्यात का प्रयोग न कर के अव्यवहित भविष्यत् अर्थ का बोध कराने के लिए वर्तमान आख्यात का प्रयोग किया है। सन्निहित भाविकाल को लक्ष्य मे रख कर वर्तमानार्थ प्रत्यय का 'तनोमि' ऐसा प्रयोग करना नामुनासिब नही है किन्तु व्याकरणानुशासनसमत ही है।

● प्रकरण उपोद्घात ●

इह इत्यादि। मगलाचरण करने के पश्चात् प्रस्तुत ग्रथ की अवतरणिका के लिए उपोद्घात सगति को बता रहे हैं। 'चिन्ता प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घात विदुर्बुधा'। प्रकृत अर्थ की सिद्धि के लिए-प्रवृत्ति के लिए-प्रस्ताव के लिए जो विचार किया जाता है उसे उपोद्घातसगति कहते हैं। असगत (सगतिशून्य) अर्थ का अभिधान उन्मत्त प्रलाप की भाँति प्रेक्षावान् पुरुषो के लिए अनुपादेय बन जाता है। अत सगतिनिरूपण भी आवश्यक है। उपोद्घात सगति को प्रदर्शित करते हुए ग्रथकार कहते है कि-मिथ्यात्वी आत्माओ के शुद्धनयरूप लोचन को, जो सकल कुवादिओ के कुतर्करूपी अधकार से व्याप्त बने हुए हैं, प्रगट करने की इच्छा से श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश मे 'वीतराग सर्वज्ञ भगवत ही वस्तु के यथावस्थित स्वरूप के व्यवस्थापक एव प्ररूपक हैं' ऐसी सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवत की स्तवना करने के लिए जिनोक्त यथावस्थित अर्थ की 'सत्त्वस्य' इत्यादि रूप से व्यवस्था करते ह।

● वीतरागस्तोत्र अष्टम प्रकाश के आद्य श्लोक का अर्थ ●

यदि सत् पदार्थ एकान्त नित्य माना जाय तब कृतनाश और अकृतआगम दोष प्राप्त होते है। एव सत् पदार्थ एकान्त क्षणिक माना जाय तब भी कृतनाश तथा अकृतागम दोष प्राप्त होते है।१। यह आद्य श्लोक का शब्दार्थ है। इसका भावार्थ-ऐदम्पर्यार्थ उपाध्यायजी महाराज अपने विवरण-स्याद्वादरहस्याभिधान व्याख्या मे बता रहे हैं। देखिये,

१-दक्षिण पूर्वी और पश्चिमी दर्शन-पृ ६७

अत्र 'सत्त्वमेकान्तनित्य न वा?' इति न विप्रतिपत्तिः, स्वमते एकान्तनित्यत्वकोट्यप्रसिद्धेः। किन्तु 'नित्यत्वमनित्यवृत्ति न

★ जयलता ★

विस्फारणकृते व्याख्यानयति-अत्रेति वादे इत्यर्थः। सत्त्वमेकान्तनित्य न वा? इति न विप्रतिपत्ति । अत्र विप्रतिपत्तिर्नाम विरुद्धकोटिद्वयोपस्थापकः शब्दः। सशयजनकवाक्य विप्रतिपत्तिरित्येके। विरुद्धार्थप्रतिपादकानेकवचन सेत्यन्ये। विपरीता बुद्धिर्विप्रतिपत्तिरित्यपरे। विरुद्धार्थकवाक्यद्वयजन्यप्रतीतिद्वय विप्रतिपत्तिरितीतरे। प्रदर्शितविप्रतिपत्त्यभावे हेतुमाह-स्वमते इति स्याद्वादिमते। एकान्तनित्यत्वकोट्यप्रसिद्धेरिति। अय भावः 'सत्त्वमेकान्तनित्य न वा?' इत्यत्र सत्त्वमुद्देश्य विधिकोटौ एकान्तनित्यत्वधर्मो विधेयो निषेधकोटौ च तदभावः। स्याद्वादिनैकान्तनित्यत्वस्यानभ्युपगमात् तन्मते निषेधकोटौ विधेयप्रतियोगिन एकान्तनित्यत्वस्याऽप्रसिद्धत्वेनाऽप्रसिद्धप्रतियोगिकनिषेधस्याऽसम्भवान्न तादृशविप्रतिपत्तिः सम्भवति। यादृश हि वस्तु क्वचित्प्रसिद्ध्यति तादृशस्यैव विप्रतिपत्तिः सभवति क्लृप्तसामग्रीबलात्। यादृश च सर्वथैवाऽप्रसिद्ध तद्विषयिणी विप्रतिपत्तिरशक्यैव। न हि वादिप्रतिवादिनोरन्यतरस्य वाऽप्रसिद्धमनूद्यते विधीयते वा, अन्यथा 'चैत्रो वन्ध्यापुत्रो न वा?' इत्यस्याप्यापत्तेः। प्रकृते 'यत्सत्तद् वस्तु' इति सर्वैरपि वादिभिरविगानेन प्रतीतमिति यदेव सत्त्वस्य लक्षण तदेव वस्तुत्वस्येति स्थितौ 'अर्थक्रियाकारित्व सत्त्व' इति सौगता सङ्गिरन्ते, 'सत्ताख्यपरसामान्य सत्त्व' इति योगा व्याचक्षते। साङ्ख्यास्तु 'पुरुषस्य चैतन्यरूपत्व तदन्येषा च त्रिगुणात्मकत्व सत्त्व' इति वदन्ति। 'सत्त्व त्रिविध पारमार्थिक व्यावहारिक प्रातिभासिक चे'ति वेदान्तिनः। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्व सत्त्व इति स्याद्वादिनः। एवञ्च वादिप्रतिवादिसम्मतस्यैकस्य सत्त्वस्य विरहान्न तादृशविप्रतिपत्तिरिति गूढार्थः।

अत्रैकान्तनित्यत्वस्याऽप्रसिद्धावुपमागर्भिता अस्मदीयश्लोकाः।

नरशृङ्गेण नष्टश्चेदेकान्तनित्यमस्तु हि। नालस्थतन्तुना मेरुश्चलितश्चेत्तदा हि तत् ॥१॥
वध्यापुत्रीकटाक्षे रतिश्चेयुना तदाऽस्ति तत्। मृगतृष्णाजल पीत्वा तृप्तश्चेत्तद्भवेत्तदा ॥२॥
शशशृङ्गेण नागेन्द्रो मृतश्चेदस्ति तत्तदा। पृथिव्या पतित व्योमाऽस्तु तस्य परमार्थता ॥३॥
सुरभि व्योमपुष्प स्यात्, तदैवाऽकल्पित हि तत्। जात्यन्धैर्यदि माणिक्यपरीक्षा स्यात् तदा हि तत् ॥४॥
अभव्यमोक्षसजाते, भवतु तस्य सम्भवः। तारकेण हि सूर्यग्रहे स्यात्तत्परमार्थता ॥५॥
तृणानलस्तथा नित्यस्स्यात्तदा तद्भविष्यति। निर्मितः शशशृङ्गेण शरदचेत् तद्भविष्यति ॥६॥
अधोज्वलनमग्नेश्चेत् सर्वथा नित्यता तदा। रम्भास्तम्भेन काष्ठेन पाकसिद्धौ हि सा भवेत् ॥७॥
प्रतिभटः कुरङ्गः स्यात् पञ्चाननस्य सा तदा। तमोनाशे हि चित्रस्थदीपकृतेऽस्तु सा खलु ॥८॥
ज्वालाग्निमण्डले वृद्धिश्चेत्तृणादेस्तदा हि सा। काको वा हसवद्गच्छेद् भवत्वेकान्तनित्यता ॥९॥
यदि वरविघाताय कन्योद्वाहस्तदा हि सा। शुनो वीर्येण सिहस्तु जितोऽस्तु तत्स्थितिः खलु ॥१०॥
सद्योजाता तु या कन्या भोगयोग्या भवेद्धि सा। तरङ्गमालया बद्धश्चेत् कश्चित्तर्हि सा भवेत् ॥११॥

● रमणीया ●

● विप्रतिप्रति का प्रदर्शन ●

अत्र इति। यहाँ 'सत्त्व एकान्त नित्य है या नही?' ऐसी विप्रतिपत्ति नही है। विप्रतिपत्ति यानी विवाद उस विषय मे होता हे जो प्रसिद्ध हो। अप्रसिद्ध वस्तु के सम्बन्ध मे कभी कोई विवाद करता नही है। 'चेत्र वध्यापुत्र है या नहीं' ऐसा वाद न देखा गया हे और न सुना गया हे, क्योकि वध्यापुत्रत्व ही जगत मे प्रसिद्ध नही है। प्रस्तुत मे वादी है स्याद्वादी-अनेकान्तवादी ओर प्रतिवादी हे नैयायिक आदि। स्याद्वादी के मत मे कोई भी चीज एकान्त नित्य नही होती है। अत एकान्तनित्यत्व की जैनमत मे प्रसिद्धि नही हे, जब कि जैन के द्वारा एकान्तनित्यत्व अभ्युपगत नही है तब तो 'सत्त्व एकान्तनित्य हे या नही?' ऐसा विवाद नेयायिक के साथ कैसे हो सकता है? विप्रतिपत्ति मे वादी और प्रतिवादी दोनो को विधेयकोटि की कहाँ भी प्रसिद्धि जरूरी है। अन्यथा 'वन्ध्यापुत्र खपुष्पमाला को धारण करता हे या नही?' इत्यादि निरर्थक वितडावाद होने की आपत्ति होगी।

शका :- 'सत्त्व एकान्तनित्य न वा?' ऐसी विप्रतिपत्ति ही नही है, तब तो विवाद ही नामुमकिन हो जायेगा। फिर परदर्शन के सिद्धान्तो का उन्मूलन ही कैसे हो सकेगा? मूल नास्ति कुत शाखा?

समाधान :- किन्तु इति। वाह! आप भी अक्ल के दुश्मन प्रतीत होते है। ग्रथ के शब्दार्थ मे मूढ बन कर ग्रथ के भावार्थ की खोज को तिलाजलि दे रहे है। यथाश्रुतार्थ भले ही नामुमकिन हो मगर इसका तात्पर्य ऐसा है कि-'नित्यत्व अनित्यवृत्ति न वा?' 'अनित्यत्व नित्यवृत्ति न वा?' इत्याकारक विप्रतिपत्ति अभिप्रेत हे। अर्थात् 'नित्यत्व धर्म अनित्य पदार्थ मे रहता हे या नही?' तथा 'अनित्यत्व धर्म नित्य पदार्थ मे रहता है या नही?' ऐसी विप्रतिपत्ति अभिमत है। यहाँ विधिकोटि है स्याद्वादी की तथा निषेधकोटि हे नैयायिक आदि प्रतिवादिओ की। आशय यह है कि परवादीअभीष्ट एकान्तनित्यत्व, जो कूटस्थनित्यत्व मे पर्यवसित होता हे, वह भले ही स्याद्वादी मत मे अप्रसिद्ध=कहाँ पर भी अस्वीकृत हो लेकिन नित्यत्व तो प्रसिद्ध है-स्वीकृत है। जैन मत मे परिणामनित्यत्व

न वा?' 'अनित्यत्व नित्यवृत्ति न वा?' इत्यादिरूपा। न चैवमपि तद्भावाऽव्ययत्वरूप नित्यत्व परमतेऽप्रसिद्धम्,

★ जयलता ★

गगने नीलिमा सत्त्वे स्यादेकान्तनित्यता। शुक्तिकारजत सत्य भूषण चेत्तदाऽस्तु मा ॥१२॥
रज्जुसर्पेण दष्टश्चेन्नरो भवतु सा तदा। क्षीरं गोस्तनजे काम पुनरारोपणे हि सा ॥१३॥
मेरुरागत्य पद्मे हि स्थितश्चेत् मा भवेत्तदा। नपुसककुमारस्य स्त्रीसुख स्यात्तदा हि मा ॥१४॥
भृष्टबीजसमुत्पन्नवृद्धिश्चेत् सा भवेत् स्वयम्। ज्ञानिनो हृदय मूर्देर्शात तत्कल्पन तदा ॥१५॥
कूर्मरोम्णा गजे बद्धे सर्वथा नित्यता भवेत्। गन्धर्वनगरे सत्ये कूटस्थनित्यता भवेत् ॥१६॥
तक्र क्षीर पुनः स्यात्तदाऽपि न सा भविष्यति। शिवो हि सर्गकर्ता चेत् तयाऽपि सा न सम्भवेत् ॥१७॥
लुण्टिते वेश्मनि स्यायामिकजागरण न सा। हते तस्करवृन्दाग्लेऽपि न तत्स्थितिर्भवेत् ॥१८॥
खरो गजगति प्राप्तश्चेत्तथापि न सा भवेत्। चित्रकर्म विना कुड्य तयापि सा न सभवेत् ॥१९॥
नदीवेग· स्थिरश्चेत् तदापि न सा भविष्यति। चिन्तामणिर्यदि प्राप्तस्यात् तयापि न सा भवेत् ॥२०॥
क्षीर विहाय सँविरुचिस्तयापि सा हि न। मासात्पूर्वं मृते मर्त्ये ह्यागतेऽपि न सा भवेत् ॥२१॥
ज्वालार्वह्निरनुष्णश्चेदपि न सा भविष्यति। अयजातकुमार्या पाके कृतेऽपि न मा भवेत् ॥२२॥
धीभावो हि वज्रे स्यात् तयापि सा न सम्भवेत्। मरुमरीचिका सत्या चेत्तयापि न सा भवेत् ॥२३॥

ननु विप्रतिपत्त्यसम्भवेन कथ विवादप्रसक्तिरित्याशकायामाह किन्त्विति। 'नित्यत्वमनित्यवृत्ति न वा?' इति। अत्र विधिकोटि· स्याद्वादिना निषेधकोटिश्च नैयायिकादीनाम्। विधिकोटिप्रसिद्धिश्च वक्ष्यमाणक्रमेण घटादौ ज्ञेया। एवमुत्तरत्राऽपि भावनीयम्।

नन्वेकान्तनित्यत्वमिव नित्यत्व स्याद्वादिमतेऽप्रसिद्धमुत प्रसिद्धम्? इति विकल्पयुगली विमलीभावमाबिभ्रती सर्वत्राऽप्रतिहतप्रसग प्रसरीसरीति। यदि प्रथमो विकल्प· कक्षीक्रियते तदा घट्टकुट्या प्रभात जातम्। नापि द्वितीय· क्षोदक्षम·, अनिर्वचनात्। न च 'तद्भावाव्यय नित्य' (तत्त्वा ५/३०) इति वाचकमुख्यवचनात् तद्भावाव्ययत्वरूप नित्यत्व प्रसिद्धमिति वाच्यम् नैयायिकादिमते तदसिद्धेरित्येकामसिद्धि परिहरतो द्वितीयाऽसिद्धिरापद्यत इत्याशका निरसितुमुपन्यस्यति-न चेति। एवमपि = प्रदर्शितरीत्या विप्रतिपत्त्युपदर्शनेऽपि, तद्भावाव्ययत्वरूप पारिभाषिक नित्यत्व परमते = नैयायिकादिमते, अप्रसिद्ध=अपरिचितम्। अय भाव· तस्य=सत· भावेन द्रव्यत्वस्वर्णत्वादिपरिणामेण अव्यय = अविनाशि यत् तन्नित्यमुच्यते स्वमते। तद्भावश्च नित्यत्वम्। भावशब्दग्रहणात् परिणामनित्यत्व गृह्यते न तु कूटस्थनित्यत्वम्, अन्यथा 'तदव्यय नित्यमि'ति सूत्र स्यात्। तच्च परमते न प्रसिद्धम्, परेण कूटस्थनित्यत्वस्य परिग्रहात्। प्रतिवादिनो विधेयकोट्यप्रसिद्धे 'नित्यत्वमनित्यवृत्ति न वा?' इत्यपि विप्रतिपत्तिर्न सम्भवतीत्येकमनुसधित्सतोऽपर प्रच्यवते। न च परेण स्वाभिमत नित्यत्व गृह्यता स्याद्वादिना तु स्वाभिमत तयाऽपि विप्रतिपत्तिस्तु सभवत्येवेति वाच्यम् विप्रतिपत्तिकोटौ भिन्नविषयकत्वस्यासम्भवात्। न हि 'हरिपदवाच्य· पञ्चाननोऽत्राऽस्ती'ति परेणोक्ते 'हरिपदवाच्यः प्लवङ्गोऽत्र नास्ती'ति विप्रतिपत्ति· सम्भवति, विरोधाभावात्।

● रमणीया ●

आत्मादि द्रव्यो मे माना गया हे। अत स्वमत मे अप्रसिद्धि दोष की कोई सभावना नही हे। परिणामनित्यत्व का अर्थ है तद्भावाऽव्ययत्वम्।

● विधेयकोटि में असमानता की आशका ●

शका ·- न चैवमपि इति। आपकी यह बात तो ठीक है कि प्रदर्शित विप्रतिपत्ति की विधेयकोटि मे वादी के मत मे अप्रसिद्धि दोष नही हे। मगर जेन मत मे प्रसिद्ध तद्भावाऽव्ययत्वरूप नित्यत्व तो प्रतिवादी नैयायिक आदि के मत मे अप्रसिद्ध है-अस्वीकृत ह। उनके मत मे तो सर्वथा विकाररहितत्वात्मक कूटस्थनित्यत्व ही प्रसिद्ध है अर्थात् जो नित्यत्व प्रतिवादी मत मे प्रसिद्ध हे वह वादी के मत मे अप्रसिद्ध हे और जो वादी के मत मे प्रसिद्ध है, वह प्रतिवादी के मत मे अप्रसिद्ध हे। मतलब कि विप्रतिपत्ति की विधेयकोटि का पदार्थ उभय मत मे समान नही हे, असमान हे। ऐसी स्थिति मे विप्रतिपत्ति का होना पुन असभवग्रस्त है। वादी उद्देश्यभूत पदार्थ मे जिसका स्वीकार करता हे उसीके अभाव का जब प्रतिवादी समर्थन करता हे उसे विप्रतिपत्ति कहते हे। वादी उद्देश्य मे जिसका विधान करता है उस उद्देश्य मे प्रतिवादी अन्य पदार्थ का निषेध करे तब वह विप्रतिपत्ति नही कही जाती। जैसे कि भूतल मे घट का विधान होने पर भूतल मे पट का निषेध करना यह विप्रतिपत्ति=विरुद्धप्रतिपत्ति नही है। ठीक वैसे नैयायिक ने प्रस्तुत मे अनित्य पदार्थ मे जिस नित्यत्व का (कूटस्थनित्यत्व का) निषेध किया है, उसीका प्रतिवाद (निषेध) जेन की ओर से किया जाय तब विप्रतिपत्ति बन सकती हे। घटादि मे नैयायिक कूटस्थनित्यत्व का निषेध करते हे और जेन उसी घट आदि मे परिणामनित्यत्व का विधान करते है। इस स्थिति मे विधेयकोटि मे भिन्न भिन्न पदार्थ का निवेश होने से विप्रतिपत्ति

नित्यव्यवहारविषयत्वेनैव तस्योपन्यासात्। सत्त्वस्य = पदार्थत्वेनोभयसम्प्रतिपन्नस्य ।

★ जयलता ★

समाधत्ते-नित्यव्यवहारविषयत्वेनैवेति। 'अयं नित्य' इत्यादिरूपशाब्दव्यवहारगोचरत्वेनैव, एवकारेण 'स्वाभिमतत्वादिना' इति व्यवच्छिद्यते। तस्य = नित्यत्वस्य, उपन्यासात् = प्रदर्शनात्, तत्र परमताप्रसिद्धमिति गम्यम्। अय भावः परिणामनित्यत्वस्य विप्रतिपत्तिकोटौ निवेशे तस्य परमतेऽप्रसिद्धत्वेन कूटस्थनित्यत्वस्य निवेशे च स्वमतेऽप्रसिद्धत्वेन न तादृशविप्रतिपत्तिः सम्भवति किन्तु वादिप्रतिवादिकर्तृकनित्यशब्दप्रयोगरूप-व्यवहारविषयविधया नित्यत्वस्य तत्र प्रवेशे तु तस्योभयमते प्रसिद्धत्वेन समानविषयकत्वात् प्रदर्शितविप्रतिपत्तिः सम्भवत्येवेति न कोऽपि दोष इति समाधानाशयः।

ननु पतञ्जल्यादिमते तद्भावाव्ययत्व प्रसिद्धमेव, तदुक्त योगभाष्ये, 'तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्त्तमानस्यैवाऽध्वस्तातीतानागतवर्त्तमानेषु भावान्यथात्व भवति न द्रव्यान्यथात्व। यथा सुवर्णभाजनस्य भावान्यथात्व भवति न सुर्वणान्यथात्व' (पा यो भा ३/१३)। अतः कथमुच्यते तत् परमतेऽप्रसिद्धम्? अत एव नित्यत्वस्य नित्यव्यवहारविषयत्वलक्षणपरिष्कारोऽपि न घटामञ्चति। मैवम्, प्रधानमल्लनिवर्हणन्यायात् परशब्देनात्र नैयायिकादेरभिमतत्वात्। याभिर्युक्तिभिरतिप्रबलशुष्कतर्ककर्कशत्वेन प्रसिद्धोऽपि नैयायिकादिर्जय्यस्ताभिरितरे दूरतो निरस्ता भवन्तीति ग्रन्थकृतोऽभिप्रायोत्रयनात्। एवञ्चानन्यग-तिकतया तादृशविषयत्वरूपस्य नित्यत्वस्य प्रदर्शनमपि युक्तमिति भावनीयम्।

स्यादेतत्-तद्भावेन व्ययश्चेत् प्रसिद्धः तदा तदभावरूप नित्यत्व क्वचित् सम्भवेत् स एव तु वन्ध्यासुतसहोदरः, असतोऽनिषेधात्, तदुक्त विशेषावश्यकभाष्ये, 'असओ नत्थि निसेहो' (वि आ भा १५७४) इति। तद्भावेन व्ययस्याऽभ्युपगमेऽपसिद्धान्तात्, नित्यत्वोच्छेदापत्तेश्चेति-मैवम्, 'तद्भावाव्यय नित्य' (तत्त्वा ५ ३०) इति तत्त्वार्थसूत्रस्य 'ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवद् नित्य' इत्यर्थकत्वस्वीकारात् ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूप-वत्त्वस्यैव स्वमतसिद्धनित्यत्वलक्षणत्वात्, गुरुधर्मस्याऽपि प्रतीतिबलेनाऽवच्छेदकत्वस्वीकारात् कम्बुग्रीवत्वेन न घटस्य नित्यत्वापत्तिरिति 'ध्वसप्रतियोगितान-वच्छेदक ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकसमानाधिकरण न वा?' इत्यत्र विप्रतिपत्तितात्पर्यमिति वक्ष्यते मा त्वरिष्ठाः।

वस्तुतस्तु प्रकृतेऽवच्छेदकत्वमनन्तर्भाव्य 'ध्वसाऽप्रतियोगित्व ध्वसप्रतियोगित्वसमानाधिकरण न वा?' ध्वसप्रतियोगित्व ध्वसाऽप्रतियोगित्वसमा-नाधिकरण न वा? इति विप्रतिपत्तौ न दोषलेशगन्धोऽपीति वृहत्परिमाणस्याद्वादरहस्यप्रकरणोक्तदिशा परिभावनीय सूक्ष्मेक्षिकया।

ननु विप्रतिपत्तौ वादिप्रतिवादिनोरुद्देश्यविधेयकोटिप्रसिद्धिवत् प्रसङ्गापादने वादिप्रतिवादिनोरुद्देश्यकोटिप्रसिद्धिरावश्यकी। न ह्यप्रसिद्धमुद्दिश्य किञ्चिदापाद्यते, अन्यथा 'यदि वन्ध्यापुत्रोऽश्यामः स्यात् मित्रातनयो न स्यात्' इत्यादेरपि दुर्वारत्वम्। प्रकृते च परमते सत्पदवाच्यः समवायेन परसामान्यवान्। स च स्वमते न प्रसिद्धः नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वरूपस्य सामान्यस्यैवाऽनभ्युपगमात् समवायस्य पराभिमतस्याऽप्रसिद्धेः घटकाऽप्रसिद्धौ घटिताप्रसिद्धेर्न्याय्यत्वात्। ततश्च सत्त्वस्येति प्रकृते प्रसङ्गापादन कुड्य विना चित्रकर्मवत् प्रतिभातीत्याशङ्कायामाह सत्त्वस्य = पदार्थत्वेनोभयमतसम्प्रतिपन्नस्येति। पदार्थविधया वादिप्रतिवादिभ्या स्वीकृतस्येति यावत्।

● रमणीया ●

नही कही जाती। विप्रतिपत्ति मे असभव दोष का निराकरण करने का प्रयास करने पर भी विप्रतिपत्ति ज्यो की त्यो नामुमकिन बनी रहती हे। स्वर्ग मे जाने पर भी गधे को कुम्हार मिल ही गया।

समाधान :- नित्यव्यव इति। जनाब! हम सात घाट के पानी पी चुके है-यह आप जानते नही है, अन्यथा ऐसा आक्षेप आप न करते। हमको यह मालुम है कि नैयायिक अभिमत नित्यत्व और हमारा अभिमत नित्यत्व ठीक उसी तरह भिन्न हैं जैसे गर्दभ और अश्व। अतएव नित्यत्व का प्रवेश हमने न तो स्वाभिमत रूप से किया है ओर न तो पराभिमत रूप से किया हे मगर नित्यव्यवहारविषयत्व रूप से ही किया है। 'अय नित्य' इत्याकारक शाब्दिक व्यवहार का विषयभूत जो आत्मा आदि पदार्थ हैं उसमे तादृशव्यवहारविषयत्व नाम का एक धर्म रहता है। नित्यव्यवहारविषयभूत होने से नित्यव्यवहारविषयत्वेन रूपेण नित्यत्व का विप्रतिपत्ति मे निवेश किया गया है। आत्मा आदि मे नित्यव्यवहारविषयता तो वादी-प्रतिवादी दोनो को अभीष्ट ही हैं। अत नित्यव्यवहारविषयविधया नित्यत्व का निवेश करने मे न तो वादी के मत मे अप्रसिद्धि है और न तो प्रतिवादी के मत मे अप्रसिद्धि है। अत्र तो विप्रतिपत्ति होने मे कोई बाध नही है। 'नित्यत्व अनित्यवृत्ति न वा?' इस विप्रतिपत्ति मे विधिकोटि स्याद्वादी की है और निषेधकोटि नैयायिक आदि पर दार्शनिको की हे।

● सत्पदार्थ का निर्वचन ●

सत्त्वस्य इति। विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन कर के एकान्तनित्यपक्ष मे अर्थात् निषेधकोटि के उद्घोषक नैयायिक के मत मे प्रकरणकार दोष का उद्भावन करते है जिससे निषेध कोटि का प्रत्याख्यान स्वय हो जाएगा। प्रतिवादी के मत मे अनिष्ट आपादन को वताने के पूर्व मे उद्देश्यभूत सत्त्व पदार्थ का प्रकरणकार निर्वचन करते हैं। अर्थात् सत् पदार्थ यदि एकान्तनित्य हो तव कृतनाश का प्रसङ्ग होगा इस आपादन मे उद्देश्यभूत सत् है, जिसमे एकान्तनित्यत्व के आरोपरूप आपादक के वल से कृतनाशरूप आपाद्य की आपत्ति दी गई हे। इस आपादन मे उद्देश्यवाचक सत्पद का अर्थ हे पदार्थरूप से वादी-प्रतिवादी को समत पदार्थ। यहाँ यह शका करना

'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्ये'ति व्याख्यान तु म्वमतावष्टम्भेन शोभते, परमते धर्मितावच्छेदकाऽनिश्चयात्। 'एकान्तनित्यत्वे' = अनित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्वे; कृतनाश· = घटादिपर्यायाणा कुम्भकारादिकृताना सर्वथा नाशः स्यात्, अनित्यस्य नित्यत्वविरोधात्। घटादीनामनित्यत्वे च बहुवादिनामविवादात्।

★ जयलता ★

ननु 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त मत्' (तत्त्वा ५ ।२०) इत्युमास्वातिवचनात्प्रसिद्ध तन्निर्वचन कथ न कक्षीक्रियते ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनाऽयोगादित्याशङ्कायामाह-उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्येति, व्याख्यान=सत्त्वपदनिर्वचन तु स्वमतावष्टम्भेन= जैनमतावलम्बनेन शोभते = युज्यते। ननु स्वमते एव कि? इत्याह-परमते=नैयायिकादिप्रतिवादिमते, धर्मितावच्छेदकानिश्चयात्=उद्देश्यताऽवच्छेदकानिश्चयात्, तन्मते उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वस्य विरोधभियाऽप्रसिद्धेरिति विप्रतिपत्त्यनापत्तेर्न तादृशनिरूपण कर्तव्यमिति भावः। एतेनादृष्टपरिकल्पन दृष्टहान चेत्यपास्तम् म्लेच्छो हि म्लेच्छभाषयैव प्रतिपाद्यते इतिन्यायात्।

एकान्तनित्यत्व इति। ननु पुनः किमर्थं स्वमताऽप्रसिद्धस्योपादान कृतम्? मैवम्, प्रसङ्गापादनरूपत्वादस्य, तत्र च विकल्पसिद्धस्याऽऽपादकत्वसम्भवात्, अन्यथा विपक्षबाधकतर्कोच्छेदप्रसङ्गात्। अनित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्वे = ध्वसप्रतियोगित्वासमानाधिकरणध्वसाप्रतियोगित्वात्मकत्वे। आपादक प्रदर्श्याऽऽपाद्य दर्शयति-कृतनाश इति। सर्वथा = सर्वप्रकारेण, नाश = अभाव. स्यात्। सर्वथानित्यस्य कृत्यविषयत्वेन कृतत्वधर्मस्याऽतीतकृतिविषयत्वरूपस्याऽसभवात्। तत· कृतघटादेर्जगति सर्वथा विलोप· स्यात्। तदेवोपदर्शयति अनित्यस्य नित्यत्वविरोधात् = कूटस्थनित्यत्वविरोधात्। विरोधश्चात्र सहाऽनवस्थानरूप· प्रकाशान्धकारयोरिवाऽवगन्तव्यः। तत· कूटस्थनित्यपक्षे घटादेः कृतत्वोपगमेऽनित्यत्वापातेन कूटस्थनित्यत्वपक्षत्यागः स्यादित्युभयत· पाशारज्जुन्यायापातः। विशालराजसूरयस्तु 'कृत = कुम्भकारस्य मृदानयन-क्लेदन-चक्रारोपणाद्युपक्रम·, तस्य नाश· = नैरर्थक्य (वी स्तो अव पृ ३) इति व्याख्यानयन्ति।

ननु घटादीनामनित्यत्व कुतः? येन तद्विरोधात्तेषा नित्यत्व न स्यादित्याशङ्का परिहरति-घटादीनामनित्यत्वे च बहुवादिनामविवादादिति।

● रमणीया ●

कि-''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्'' इस तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार सत्त्व का अर्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक ऐसा करना ही उचित है। पदार्थविधया उभय समत ऐसा सत्त्वशब्दार्थ कहीं भी श्रवणगोचर हुआ ही नहीं है। अत अदृष्ट कल्पना और दृष्टपरित्याग दोष प्रस्तुत सत्त्वपदार्थ के विवरण मे शामिल हो जाते है। इन दोष से अपने को बचाने के लिए स्याद्वादी के लिए उचित यही है कि उमास्वातिजीकृत सत्त्वपदार्थ की व्याख्या का ही स्वीकार करना चाहिए''- मुनासिब नहीं है। इसका कारण यह है कि तत्त्वार्थसूत्रप्रसिद्ध सत्त्वपदार्थनिर्वचन करना स्वमत की अपेक्षा से तो ठीक उसी भाँति सत्य है जैसे एक और एक = दो। मगर यहाँ प्रतिवादी नैयायिकादि है। उद्देश्यभूत सत्पदार्थ का धर्मितावच्छेदक स्याद्वादीअभिमत उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्व नैयायिक मत मे अप्रसिद्ध है। एकान्तवादी नैयायिक आदि विरोध दोष के सबब एक ही धर्मी में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का युगपत् साहित्य नहीं मानते है। जब कि अनिष्टापादन मे वादी और प्रतिवादी को धर्मितावच्छेदक=उद्देश्यतावच्छेदक का निश्चय होना आवश्यक है। अप्रसिद्ध को उद्देश्य बना कर अनिष्ट आपादन कभी भी नहीं किया जाता है जैसे 'वन्ध्यापुत्र यदि हुशियार होगा तो परीक्षा मे जरूर उत्तीर्ण होगा' इत्यादि। अत वादी और प्रतिवादी के मत में उद्देश्यतावच्छेदक की प्रसिद्धि के लिए प्रदर्शित व्याख्यान कि-पदार्थत्वेन उभयसम्मत-करना मुनासिब ही है। म्लेच्छो हि म्लेच्छभाषयैव प्रतिपाद्यते। अत हमने जो कहा उसमे पत्थर की लकीर समझो।

● एकान्तनित्यत्वपक्ष मे कृतनाश दोष ●

एकान्तनित्यत्वे इति। प्रस्तुत प्रसगापादन मे आपादक है एकान्तनित्यत्व और आपाद्य है कृतनाश। एकान्तनित्यत्व का अर्थ है अनित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्व। अर्थात् जिस अधिकरण मे नित्यत्व रहता है उसमे अनित्यत्व रहना न हो तादृशनित्यत्व ही एकान्तनित्यत्वपद से प्रतिपाद्य है। अनित्यत्व और नित्यत्व परस्पर व्यधिकरण है-यह भी एकान्तनित्यत्वपद का दूसरी शैली से बताया गया पूर्व के समान ही अर्थ है। यदि पदार्थत्वेन उभयसम्मतपदार्थगत नित्यत्व मे 'अनित्यत्वाऽसमानाधिकरणत्व होता है न कि अनित्यत्वसमानाधिकरणत्व' ऐसी मान्यता को समति दी जाय तब कुम्हार आदि से किये गये घट आदि पर्यायो का सर्वथा विलोप हो जायेगा, क्योकि अभ्युपगत एकान्त नित्यत्व पक्ष मे अनित्य पर्यायो का नित्यत्व के साथ विरोध है। आशय यह है कि घट आदि पर्याय कृतक होने से अनित्य होते है। इस विषय मे तो अनेक वादी-प्रतिवादी समत है। दूसरो की क्या बात करते हो? नैयायिक, जो प्रतिवादिरूप से उपस्थित है, भी इस विषय मे अपनी सम्मति का प्रदान करता है कि - घटादि पदार्थ अनित्य है, अनित्यत्वधर्म से युक्त है। अनित्यत्व जिसमे रहता हो वहाँ नित्यत्व कभी भी नहीं रहता है-ऐसी नैयायिक आदि की मान्यता है। तब घट आदि अनित्य पदार्थ मे नित्यत्व नहीं मगर सिर्फ अनित्यत्व ही रहेगा। जैसे घट घटत्वरूप से अनित्य है वैसे मृत्, द्रव्यत्व आदि रूप से भी नित्य ही होगा। घट मे घटत्व रूप से अनित्यत्व और मृत्त्व=मिट्टीरूप से नित्यत्व नहीं रह सकेगा। मतलब घट का कम्बुग्रीवत्व-मृत्त्व-द्रव्यत्व

परमाणूनामाकाशादीना च सर्वथा नित्यत्व, स्थूलपृथिव्यादिचतुष्टयस्य तु सर्वथाऽनित्यत्वमिति हि परमतनिगर्वः। एतच्च प्रत्यक्षविरुद्धम्, न हि कम्बुग्रीवत्वाऽऽदिनै(?ने)व 'मृत्त्वेनाऽपि घटो नष्ट' इति कश्चित् प्रत्येति, प्रत्युत 'पूर्वमयमेव मृत्पिडस्तत्कम्बुग्रीवत्वादिनाऽऽसीदि'ति

★ जयलता ★

नैयायिक-वैशेषिक-मीमासक-सुगत-चार्वाकायनेकवादिना तदनित्यत्वाभ्युपगमेऽप्रत्यवस्थानात्। साख्य-योगादिभिस्तदपलापात् 'सर्ववादिनामि'त्यनुक्त्वा 'वहुवादिनामि'त्युक्तम्।

ननु यदेवाभिमत रुचिर तदेव वैचेन पथ्यत्वेनोपदर्शितम्, कृतकत्वेन घटादीना सर्वथाऽनित्यत्वस्याऽभ्युपगमादिति यदि परः स्वाशयमुद्भावयेत् तन्निराचिकीर्षुराह-परमाणूना = मूर्तत्वे सति निरवयवाना, आकाशादीना = आकाशात्ममनोदिगादीना च सर्वथा = सर्वैः प्रकारैः, नित्यत्व = निर्विकारित्व, स्थूलपृथिव्यादिचतुष्टयस्य तु = द्व्यणुकादि-स्थूलपृथिव्यप्तेजोवायूना तुर्विशेषणे तदेव दर्शयति-सर्वथा = सर्वप्रकारेण, अनित्यत्व = ध्वसप्रतियोगित्वमिति हि इति निश्चये, परमतनिगर्व =परमतस्थिताना नैयायिकादीना मिथ्याहङ्कारः। मिथ्यात्वमेव प्रतिपादयति-एतच्च = पराभ्युपगत प्रत्यक्षविरुद्धम्। यद्यप्यनुमानादिविरुद्धमपि तथापि सर्वेपा शेपप्रमाणानामुपजीव्यत्वेन सर्वतो वलवत्त्वात्प्रत्यक्षप्रमाणस्य तद्विरोध प्रदर्शयति-न हीति। अस्य च 'प्रत्येती'त्यनेनाऽन्वयः। कम्बुग्रीवत्वादिनेव = 'कम्बुग्रीवत्वादिना घटो नष्ट' इतिवत्, मृत्त्वेनाऽपि घटो नष्ट = मृद्रूपेणाऽपि घटो विनष्ट इति। अय भावः 'कम्बुग्रीवत्वादिना घटो नष्ट' इत्यत्र तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्व, तस्य च ध्वसप्रतियोगितायामन्वयः ततश्च कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्ननष्टता = कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगिता प्रतीयते। तस्याश्च घटेऽन्वयः। अतः कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगितावान् घट इति तदर्थः। न चैव मृत्त्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगिता घटे प्रतीयते। ततो ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदकयोः कम्बुग्रीवत्वमृत्त्वयोर्यद्वा ध्वसप्रतियोगित्वाऽप्रतियोगित्वयोर्घटसामानाधिकरण्येन ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकसमानाधिकरणध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकलक्षणो ध्वसप्रतियोगित्वासमानाधिकरणध्वसाऽप्रतियोगित्वात्मको वा एकान्तनित्यत्वपक्षो वाध्यते। मृत्त्वञ्चोपलक्षण द्रव्यत्वादीना, तेनाऽनलादिना मृत्त्वेनाऽपि तद्ध्वसे क्षतिविरहात् पार्थिवत्वेन द्रव्यत्वेन वा तदनष्टत्वस्य सत्त्वात्। वाधकाभाव नित्यत्वसभिन्नानित्यत्वपक्षे दर्शयित्वा साधकप्रमाण दर्शयति प्रत्युतेति। अनेन वैपरीत्यभावो वोध्यते। पूर्वं = अतीतकाले, अयमेव = साम्प्रत वियमान एव, इदमः सन्निकृष्टार्थवाचकत्वात् 'इदमस्तु सन्निकृष्टे, समीपतरवर्तिरूपे एतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्ष विजानीयात् ॥ ( ) इत्यभियुक्तोक्तेः। मृत्पिडः तत्कम्बुग्रीवत्वादिनासीदिति साम्प्रत वियमान एव मृत्पिण्डोऽतीतकालाऽवच्छेदेन परोक्षकम्बुग्रीवत्वाद्यवच्छिन्नातीतास्तित्ववानिति सर्वोऽपि किमुत नैयायिक इत्यपिशब्दार्थः, प्रत्यभिजानीते = प्रत्यभिज्ञाप्रमाणविपयीकुरुते। अय भावः तत्तेदन्तावगाहिज्ञान यद्वा एकस्य कालद्वयसवद्धत्वग्राहि सस्कारसहकृतेन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यभिज्ञोच्यते। प्रदर्शितप्रत्यभिज्ञा च वर्तमानकालावच्छेदेन मृत्त्वावच्छिन्नास्तित्ववति मृत्पिडेऽतीतकालावच्छेदेन कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसवत्त्वमवगाहते। एतद्वलेन च ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदकयोर्ध्वसप्रतियोगित्वाप्रतियोगित्वयोर्वा वैयधिकरण्यरूप एकान्तनित्यत्व वाध्यते तयोः सामानाधिकरण्यस्वरूप स्वाभिमत परिणामनित्यत्व च साध्यते। एतेन 'एकस्मिन् धर्मिणि विधिप्रतिपेधौ न, विरोधात् (व्यो व पृ १०) इति व्योमशिववचन प्रत्युक्तम् प्रत्यभिज्ञयैव विरोधपरिहारात्।

यत्तु प्रज्ञाकरगुप्तेन प्रमाणवार्तिकालकारे "यदा व्ययः तदा सत्त्व कथ तस्य प्रतीयते। पूर्वप्रतीते सत्त्व स्यात् तदा तस्य व्ययः कथम्। (प्र वा अ वृ १४२) इत्युक्त, तत्र मया "यदा व्ययस्तदा सत्त्व कथ नास्य प्रतीयते। अस्तित्वमेकरूपेण पररूपेण नास्तिता॥ इत्येव प्रतिविधीयते।

● रमणीया ●

आदि की अपेक्षा नाश होने की आपत्ति होगी।

शका :- वाह! आप नैयायिक के सामने वाद कर रहे है ओर जो सिद्धात या घटना नेयायिक को मान्य हे उसीकी आपत्ति दे रहे है। तव तो नेयायिक इष्टापत्तिरूप से इसका स्वीकार ही कर लेगा। नेयायिक के मत मे परमाणु, आकाश, आत्मा, दिशा, काल ओर मन आदि सर्वथा नित्य पदार्थ हैं ओर स्थूल पृथ्वी आदि चार भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) सर्वथा अनित्य ही हैं। घट आदि तो स्थूल पृथ्वीरूप होने से सर्वथा अनित्य हे-यह तो नेयायिको की निजी मान्यता है। इसीका समर्थन कर के आप भी नैयायिक के दर्शन मे स्थित हो चुके है।

समाधान :- परमाणूना इति। आपकी यह वात ठीक है कि प्रतिवादी के मत मे परमाणु, आकाश आदि पदार्थ सर्वथा नित्य है और स्थूल पृथ्वी आदि भूतचतुष्क सर्वथा अनित्य हे। मगर यह पारमार्थिक सिद्धान्त नही है, नेयायिक का अभिमानमात्र है। नैयायिक की यह मान्यता प्रत्यक्षविरुद्ध भी है, चूँकि 'घट जैसे कम्बूग्रीवत्व आदि रूप से नष्ट हुआ है वैसे मृत्त्वरूप से भी नष्ट हुआ है' ऐसा अनुभव लोगो को नही होता है, किन्तु 'यही मृत्पिण्ड पूर्व मे उस कम्वग्रीवत्वादिरूप से था' ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी होता है। आशय यह है कि घट के उपर मुद्गर आदि का प्रहार होने पर जव वह टूट जाता है तव ऐसी प्रतीति निर्विवाद सिद्ध है कि 'घट कम्बुग्रीवत्वरूप से नष्ट हो गया' किन्तु 'मृत्पिड मृत्तिकारूप से नष्ट हो गया' ऐसी प्रतीति नही होती है। यदि घट का सर्वथा विनाश हुआ हो तव तो 'घट मृत्तिकारूप से भी नष्ट हुआ' ऐसी प्रतीति भी होनी चाहिए। प्रत्युत लोगो को प्रतीति होती हे कि - 'घट चला गया, मृत्तिका वनी हुई है'। 'यही मृत्पिड कम्बुग्रीवत्वरूप से था' ऐसे प्रत्यभिज्ञान से पूर्वोत्तरकालवर्ती एक ही द्रव्य का भान होता हे। इससे यह सिद्ध होता है कि मृत्पिण्ड मे मृत्त्वरूप से अनित्यता नही बल्कि नित्यता है।

सर्वोऽपि प्रत्यभिजानीते। न चेय विशेषणाऽभावमेव विषयीकुरुते, विशेष्ये लडर्थान्वये बाधकाभावात्, प्रतीतिप्रातिव्याच्च।

★ जयलता ★

अत एव "जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसम्भवात्" (ब्र सू १/२/३३ शा भा) इति शाकरभाष्य-वचनमपि प्रत्युक्त वेदितव्यमिति दिक्।

अथ परमाणूनामेकान्तनित्यत्व तु न प्रमाणविरुद्धमिति चेत्? न, परमाणूनामपि कार्याऽभिन्नतयाऽर्थान्तरभावगमनरूपस्य नाशस्य विभागजातस्य चोत्पादस्योपगमात्। एतेन 'परमाणुलक्षणा नित्या' (प्र पा भा पृ १२) इति प्रशस्तपादभाष्यवचन प्रत्युक्तम्, आकाशस्य च नित्यत्वोपगमे 'एतस्मादात्मन' आकाशः सभूतः' (तै ३,१) इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनविरोधप्रसगात्, अवगाह्याधारतापर्यायोत्पादस्य तदनाधारत्वपर्यायध्वसस्वरूपत्वेना न्ततः क्षणध्वसे तद्विशिष्टध्वसनियमाच्च तद्ध्वसोऽभ्युपेयत इति दिक्।

ननु प्रदर्शितप्रत्यभिज्ञा न कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नमृत्पिडनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकध्वसावगाहिनी किन्तु कम्बुग्रीवत्वरूपविशेषणप्रतियोगिकध्वसाऽव-गाहिनी, सत्यपि चेत्रे शिखानाशदशाया 'शिखी विनष्ट' इतिप्रतीतिवत्। तथा च ध्वसप्रतियोगित्वस्य कम्बुग्रीवत्ववृत्तित्वेन ध्वसाऽप्रतियोगित्वस्य च मृत्पिडनिष्ठत्वेन कथ तया तयो' सामानाधिकरण्य सिध्येत् येन तद्वैयधिकरण्यरूपमेकान्तनित्यत्व विलीयेत? इत्याशङ्का निरसितुमुपक्रमते-न चेति। इय = उपर्युक्तप्रत्यभिज्ञा, विशेषणाभावमेव = कम्बुग्रीवत्वादिरूपविशेषणप्रतियोगिकध्वसमेव, एवकारेण विशेष्यीभूतमृत्पिडप्रतियोगिकत्व ध्वसे व्यवच्छिद्यते, विषयीकुरुते = अवगाहते। अयमाशयः प्रत्यभिज्ञायामस्धातूत्तरलङ्प्रत्ययार्थोऽतीतत्व ध्वसप्रतियोगित्वरूप कम्बुग्रीवत्वेऽन्वीयते। प्रतियोगितया कम्बुग्रीवत्वेऽन्वितो ध्वसोऽनुयोगितया मृत्पिंडेऽन्वीयते। ततश्च कम्बुग्रीवत्वप्रतियोगिकध्वसवान् मृत्पिड इति प्रत्यभिज्ञाकारः 'सविशेषणौ विधिनिषेधो विशेषणमुपसङ्क्रामतः' इति न्यायात्। ततश्च न तयोः सामानाधिकरण्य सम्भवति।

हेतुद्वयेन समाधत्ते-विशेष्ये = मृत्पिंडे, लडर्थान्वये = लडर्थाऽतीतत्वस्यान्वयाभ्युगमे, बाधकाभावात् = विरोधाऽभावात्। अय भावः लडर्थश्चातीतत्व ध्वसप्रतियोगित्वरूप, तस्य च मृत्पिडरूपविशेष्येऽन्वयाङ्गीकारे बाधक नास्ति 'सविशेषणौ' इति न्यायस्तु सति विशेष्यबाधे लब्धप्रसरो नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। मृत्पिडावस्थाया मृत्त्वेन तस्य ध्वसाङ्गीकारे विरोधस्स्यात्। न हि कम्बुग्रीवत्वादिना तदा मृत्पिडनाशाभ्युपगमे विरोधलेशगन्धोऽप्यस्ति। अतः कम्बुग्रीवत्वाद्यवच्छिन्नध्वसप्रतियोगितावत् मृत्पिडरूपविशेष्य सभवति। यद्यपि लडर्थातीतत्वस्यान्वयो धात्वर्थे एव व्युत्पन्नः। तथा च कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसप्रतियोग्यस्तित्ववान् मृत्पिण्ड इति प्रतीत्युत्पादेन ध्वसप्रतियोगित्वमस्तित्वे प्रतीयते न तु मृत्पिण्डे। अतो न तयो. सामानाधिकरण्य सम्भवति येन कूटस्थनित्यत्व बाधित स्यात् तथापि नञ्समभिव्याहृतास्धातोरभावार्थकत्ववत् लङ्प्रत्ययसमभिव्याहृतास्धातोर्ध्वसोऽर्थः आख्यातार्थश्च प्रकृते निरूढलक्षणया प्रतियोगित्वम्। स्वप्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्व प्रत्ययानामिति व्युत्पत्ते. 'कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगितावान् मृत्पिण्ड' इत्युपगमे न कोऽपि दोषलेश इति विभावयामि।

ननु विपक्षे बाधक किमस्ति? इत्याशङ्कायामाह-प्रतीति-प्रातिव्याच्चेति। प्रत्यभिज्ञात्मकप्रतीतिविरोधाच्चेत्यर्थः। अय भावः दण्डत्वेन कारणतेत्यत्र

● रमणीया ●

नैयायिक :- न चेय इति। वाह! एक छोटे बच्चे की भाँति स्याद्वादी भी नैयायिक को समझा रहे है कि- प्रत्यभिज्ञा से 'मृत्पिड का कम्बुग्रीवत्वरूप से नाश हुआ है, मृत्त्वरूप से नहीं' यह सिद्ध होता है। मगर यहाँ यह कहा जा सकता है कि-उक्त प्रत्यभिज्ञा से विशेष्यभूत मिट्टी के पिंड का कबुग्रीवत्व आदि रूप से नाश हुआ - ऐसा भान नहीं होता है किन्तु विशेष्य मृत्पिण्ड मे कम्बुग्रीवत्वरूप विशेषण के ध्वस का भान होता है। मृत्पिण्ड तो ज्यो का त्यो बना हुआ है सिर्फ उसमे कम्बुग्रीवत्व आकार, जो पूर्व अवस्था मे मृत्पिड मे रहा था, ही नष्ट हुआ है। तब एक ही मृत्तिकापिण्ड का कबुग्रीवत्वरूप से विनाश और मृत्तिकारूप से अविनाश कैसे सिद्ध हो सकता है? स्थायित्व है मृत्तिका मे और विनाशित्व है कबुग्रीवत्व आदि आकार मे। मतलब कि नित्यत्व और अनित्यत्व एक ही वस्तु मे उक्त प्रत्यभिज्ञान से सिद्ध होता नहीं है। इस परिस्थिति मे नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर व्यधिकरण है, एक अधिकरण मे रहते नही है- इस मान्यता का परित्याग कैसे हो सकता है? जैसे छात्र की शिखा का नाश होने पर 'शिखी विनष्ट' यह प्रतीति छात्र के विनाश को अपना विषय बनाती नहीं है मगर छात्र की शिखा के विनाश को ही, क्योकि छात्र तो जीवित है-यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। ठीक वैसे उक्त प्रत्यभिज्ञा मृत्तिका मे सस्थानविशेष के नाश को अपना विषय बनाती है, न कि मृत्तिका के नाश को, क्योकि मृत्तिका तो उपलभ्यमान है। इसी बात को नव्यन्याय की परिभाषा मे बताना हो तो हम यह कह सकते है कि 'पूर्वमयमेव मृत्पिण्ड कम्बुग्रीवत्वादिना आसीत्' इस प्रत्यभिज्ञा मे अस् धातु के उत्तर भूतकालसूचक लङ् प्रत्यय रहा है जिससे 'आसीत्' ऐसा रूप बना है। लङ् प्रत्यय का अर्थ है अतीतत्व अर्थात् ध्वसप्रतियोगित्व। उसका अन्वय है कम्बुग्रीवत्व मे। तब 'कम्बुग्रीवत्वादिना आसीत्' का अर्थ होगा 'ध्वसप्रतियोगित्वमत् कम्बुग्रीवत्वम्'। प्रतियोगिता सम्बन्ध से कबुग्रीवत्व मे अन्वित ध्वस का अनुयोगिता सम्बन्ध से मृत्पिड मे अन्वय होता है। तब प्रत्यभिज्ञा का आकार होगा - 'कम्बुग्रीवत्वप्रतियोगिकध्वसवान् मृत्पिण्ड'। अत नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर समानाधिकरण है-इस मान्यता का स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्याद्वादी :- विशेष्ये इति। लोकप्रतीति से आपके सिद्धात न्यारे है। ठीक ही कहा है तीन लोक से मथुरा न्यारी। मगर

यत्तु 'यदि ह्यतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानस्यैव विशेष्यस्य ध्वंसस्स्यात्तदा क्षणरूपातीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षणं घटस्य विनाशस्स्यादि'त्यभिदधे मणिकृता तत्तु तादृशक्षणभङ्गस्य दोषाऽनावहत्वात्तदीयैरेव दूषितम्।

★ जयलता ★

यथा तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वं तथैव कम्बुग्रीवत्वादिनासीदित्यत्राऽपि स एवार्थः। तस्य च लडर्थेऽन्वयः तस्य च विशेष्ये। एवञ्च कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नध्वंसप्रतियोगितावान् मृत्पिंड इत्येवाकारः स्वारसिकः। ततः कम्बुग्रीवत्वप्रतियोगिकध्वंसवान् मृत्पिंड इति नैयायिकप्रदर्शिताऽर्थाभ्युपगमे उक्तप्रतीतिविरोधः। किञ्च 'अयमेवे'त्यनेन धर्मिण एव नाशप्रतियोगिविधयोपन्यासो न तु धर्मस्य। यदि च धर्मिणः सत्त्वेन धर्मस्य चाऽसत्त्वेनाऽवगाहनं स्यात् तर्हि 'अस्मिन् मृत्पिंडे कम्बुग्रीवत्वमासीदि'ति प्रतीतिः स्यात्। अत उपदर्शितप्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्तेः मृत्पिण्डप्रतियोगिकध्वंसः प्रकृते सिद्ध्यति, सर्वतो बलवत्त्वादन्यथाऽनुपपत्तेः। तदुक्तं हर्षेण खंडनखंडखाद्ये 'अन्यथानुपपत्तिश्चेत् अस्ति वस्तुप्रसाधिका। पिनष्ट्यदृष्टवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका॥ (ख ख खा २)

गङ्गेशमतं दर्शयति-यत्त्विति। अस्य चाभिदध इत्यनेनाऽन्वयः। यदि = अभ्युपगमप्रदर्शने, हि = खलु अतीतविशेषणावच्छेदेन = ध्वस्तविशेषणावच्छेदेन, विद्यमानस्यैव, एवकारेणातीतव्यवच्छेदः कृतः, विशेष्यस्य = मृत्पिंडादेः, ध्वंसस्स्यादित्येतत्पर्यन्तमापादकोपदर्शनं कृतम्। विपक्षबाधं दर्शयति-तदेति। क्षणरूपातीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन = तत्तत्क्षणविशिष्टत्वेन हेतुना। निमेषत्रयं क्षण इत्येके। घटिकायाः षष्टो भाग' क्षण इत्यन्ये। निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भाग इत्यपरे। स्वाधेयपदार्थप्रागभावानाधारः समयः क्षण इति केचित्। प्रतिक्षणं घटस्य विनाशस्स्यादिति। अनेनाऽऽपादनं कृतम्। मणिकृता = तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थकृता गङ्गेशोपाध्यायेन अनुमानखण्डे ईश्वरानुमानप्रकरणे इति शेषः। कम्बुग्रीवत्वादिविनष्टविशेषणावच्छेदेन सतोऽवच्छेद्यस्य विनाशोपगमेऽतीततत्तत्क्षणात्मकविशेषणावच्छेदेन साम्प्रतं सतो घटस्याऽपि ध्वंसस्स्यात्। एवञ्च द्वितीयक्षणे विद्यमानस्य घटस्य प्रथमक्षणविशिष्टत्वेन रूपेण ध्वंसः, तृतीयक्षणे द्वितीयक्षणविशिष्टत्वेन मुद्गराद्यसंनिधानेऽपि घटस्य नाशः स्यात् ध्वस्तविशेषणावच्छेदेन ध्वंसाङ्गीकारात्। एवञ्च प्रसिद्धनाशकसामग्र्ययोगेऽपि प्रतिक्षणं घटादिनाशापत्तेस्सर्ववैनाशिकमतप्रवेशप्रसङ्गो दुर्निवारः। एतद्वारणाय विद्यमानविशेष्याप्रतियोगिकनाशप्रतियोगितावच्छेदकत्वं नष्टधर्माणामभ्युपेयमिति ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदकयोर्वैयधिकरण्यमक्षतमिति फक्किकार्थः।

समाधत्ते-तत्तु इति। अस्य च दूषितमित्यनेनाऽन्वयः। तादृशक्षणभङ्गस्य दोषानावहत्वादिति। पूर्वपूर्वक्षणावच्छिन्नविद्यमानविशेष्यप्रतियोगिकध्वंस-

● रमणीया ●

आपकी यह बात उचित नही हे। इसका कारण यह है कि विशेष्यभूत मृत्पिंड मे लड्प्रत्यय के अर्थ अतीतत्व का अन्वय करने मे कोई बाधक नही है। यद्यपि मृत्तिका पिंड उस काल मे विद्यमान है। अत मृत्त्वरूप से उसका विनाश नही माना जा सकता मगर उस काल मे वह कंबुग्रीवत्वरूप से तो विद्यमान नही है। अत कम्बुग्रीवत्वरूप से उस मृत्पिंड का विनाश मानने मे कोई बाध नही है। अत अस् धातुउत्तर लड्आख्यातार्थ अतीतत्व = ध्वंसप्रतियोगित्व का अन्वय विशेष्यभूत मृत्पिंड मे संभवित ही हे। 'कंबुग्रीवत्वादिना आसीत्' इसमे तृतीया विभक्ति का अर्थ है अवच्छिन्नत्व और उसका अन्वय हे प्रतियोगिता मे तथा उस प्रतियोगिता का अन्वय है मृत्पिंड मे। अत प्रत्यभिज्ञा का आकार होगा 'कम्बूग्रीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगितावान् मृत्पिंड'। आप जो अर्थ बताते हैं कि - 'कम्बुग्रीवत्वप्रतियोगिकध्वंसवान् मृत्पिंड' - यह प्रत्यभिज्ञा का आकार हे', इसके स्वीकार मे तृतीया विभक्ति के अर्थ अवच्छिन्नत्व की अनुपपत्ति होगी, जो प्रत्यभिज्ञा मे उल्लिखित है। अत प्रतीतिविरुद्ध होने से भी कम्बुग्रीवत्व का नाश मानना उचित नही हे। यदि कम्बुग्रीवत्व के ध्वंस को वह अपना विषय बनाती तब तो 'अस्मिन् मृत्पिंडे कम्बुग्रीवत्व आसीत्' = 'इस मृत् पिंड मे कम्बुग्रीवत्व था' ऐसी प्रतीति होती किन्तु यहाँ तो 'अयमेव मृत्पिंड कम्बुग्रीवत्वेन आसीत्' = 'यही मृत्तिका पिंड कम्बुग्रीवत्व रूप मे था' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। अत कम्बुग्रीवत्व मे ध्वंसप्रतियोगिता न मान कर ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकता ही मानना मुनासिब है।

● अतीत विशेषणावच्छेदेन ध्वंस होता नही है - चिंतामणिकारमतप्रदर्शन ●

यत्तु॰ इति। यहाँ व्याख्याकार उपाध्यायजी महाराज नव्यन्याय की स्थापना करनेवाले गंगेश उपाध्याय का, जिसने तत्त्वचिंतामणि नामक ग्रंथ की रचना की हे, मत बताते हैं। मणिकार का मत यह है कि - किसी भी अविद्यमान विशेषण की अपेक्षा से विद्यमान विशेष्य का अतीत = विनष्ट विशेषणावच्छेदेन ध्वंस होता नही है। यदि अतीत विशेषण की अपेक्षा से विद्यमान विशेष्य का ही ध्वंस हो जाय तब तो बौद्धमतप्रवेश की आपत्ति आएगी। इसका अभिप्राय यह हे कि 'इदानीं घट' इस प्रतीति से घट मे एतत्क्षणवृत्तित्व का भान होता है और 'वृत्तित्वसम्बन्ध से एतत्क्षणविशिष्टो घट' ऐसा भी भान होता हे। मगर इस वर्तमान क्षण के अनन्तर घट मे स्ववृत्तित्वसम्बन्ध से पूर्वक्षण का अभाव होता है, क्योंकि उस वक्त वह क्षण अतीत है। उस पूर्व क्षण की अपेक्षा से घट नष्ट हुआ-ऐसा स्वीकार किया जाय तब तो क्षण क्षणिक होने के सबब प्रतिक्षण घट का पूर्व पूर्व अतीत क्षण की अपेक्षा से विनाश सिद्ध हो जाएगा। मुद्गरादिसंनिधान के बिना ही प्रतिक्षण घटध्वंस होने से क्षणिकवादी बौद्ध के मत मे प्रवेश हो जाएगा। अत विनष्टविशेषणावच्छेदेन विद्यमान घटादि विशेष्य का नाश माना जा नही सकता। प्रस्तुत मे 'अयं कम्बुग्रीवत्वादिना आसीत्' प्रत्यभिज्ञा मे कम्बुग्रीवत्वादि अतीत होने के सबब कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक मृत्पिंडध्वंस माना जा नही सकता।

यत्तु 'कपालादिसमवेतनाशं प्रति कपालादिनाशस्य कारणत्वात् कथं कपालादिनाशादर्वागतीतविशेषणाऽवच्छेदेनाऽपि घटध्वंससम्भवः

★ जयलता ★

स्वीकारस्य दुष्टताप्रयोजकत्वाभावात्, प्रतिक्षणं निरन्वयनाशानापातेन सुगतमतप्रवेशविरहादिति यावत्। नदीयैरेव = नव्यनैयायिकैरेव। एवकारार्थश्चात्र उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाऽप्रतियोगित्वलक्षणोऽयोगव्यवच्छेदो बोध्यः। अयं भावः बौद्धमते हि प्रतिक्षणं निरन्वयविनाशोऽङ्गीक्रियते। स चोपादानसहितकार्यध्वंसरूपः। प्रकृते च पूर्वक्षणावच्छेदेन प्रतिक्षणं घटादिध्वंसोपगमेऽपि न कपालसहितघटध्वंसोपगमो येन सुगतमतप्रवेशः। ततो विपक्षबाधकतर्कविरहादतीतविशेषणावच्छिन्नध्वंसीयप्रतियोगितोपगन्तव्येति। किञ्च विशिष्टात्यन्ताभाववद् विशिष्टध्वंसोऽप्यङ्गीकार्यः, 'शिखी विनष्टः' इति प्रतीतेरन्यथाऽनुपपत्तेः। न च विशेष्यनाशसामग्र्यभावाद् विशिष्टनाशानुपपत्तिरिति वाच्यम् विशेषणात्यन्ताभावकृतविशिष्टाभाववद् विशेषणादिनाशकृतविशिष्टनाशसम्भवात् विशिष्टातिरिक्तवादिनः सार्वभौमस्य मते च सुतरां तत्सिध्यति। अतः प्रतिक्षणं तत्तत्क्षणावच्छिन्नघटादिनाशोपगमेऽपि मुद्गरादिसन्निधाने एव घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकनाशोपगमान्न बौद्धमतप्रवेशापत्तिः। तदुक्तं तत्त्वचिन्तामण्यालोककृता जयदेवमिश्रेण एतत्प्रतिविधानावसरे - "विशेष्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकः प्रतिक्षणं ध्वंसो नेष्यत एवेतीदृशक्षणभङ्गेऽपि नानिष्टापत्तिः। न च प्रत्यभिज्ञाविरोधः, समानप्रकारकस्यैव ज्ञानस्य विरोधितयाऽवच्छेदकान्तरावच्छिन्नध्वंसबुद्धावपि घटत्वावच्छेदेनाभेदबुद्धेर्बाधाभावादिति [त चि पृ ०४]। ततश्चातीतविशेषणावच्छिन्नविद्यमानविशेष्यप्रतियोगिकध्वंससिद्ध्या ध्वंसप्रतियोगित्वाऽप्रतियोगित्वयोर्वैयधिकरण्यमेवेति स्वीकारो न युक्तः। एतेन सुचिरकटाहन्यायात् स्थूलपृथ्व्यादिचतुष्कस्य तु सर्वथाऽनित्यत्वमिति परमतं प्रत्यक्षविरुद्धमिति व्याख्यातम्। एतेन तत्त्वचिन्तामणौ व्यधिकरणप्रकरणे प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः (व्य प्र पृ ०४) इति गङ्गेशोक्तं तन्निरस्तम् घटत्वेन पटो नास्तीत्यादिस्वारसिकानुभवबलेन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य गीर्वाणगुरुणाऽपि परिणेतुमशक्यत्वात्। स्वरसवाह्यनुभवापलापे सर्वत्राऽनाश्वासप्रसङ्गात्। तदुक्तं पञ्चदश्यां विद्यारण्यस्वामिना 'स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याऽप्यनवस्थितेः। कथं वा तार्किकम्मन्यः तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात्॥ (प द ३१२०) इति दिक्।

यत्त्विति। अस्य च तत्तुच्छमित्यनेनाऽन्वयः। कपालादिसमवेतनाशं = कपालादिरूपसमवायिकारणे समवायेन वृत्तेर्जन्यघटादेर्ध्वंसं, प्रति कपालादिनाशस्य कारणत्वात्, आदिशब्देन कपालद्वयसंयोगनाशग्रहणं, परेण असमवायिकारणनाशस्य तत्कारणत्वोपगमात् कथं कपालादिनाशादर्वाग् = पूर्वं अतीतविशेषणावच्छेदेनाऽपि = तत्तत्पूर्वक्षणरूपविशेषणविशिष्टत्वेनाऽपि, किं पुनर्विद्यमानविशेषणावच्छेदेनेत्यपिशब्दार्थः, घटध्वंससम्भवः ? नैव तदुत्पत्तिरिति काक्वा ध्वनितम्। अत्रायं परगाशयः कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवायसम्बन्धेन समवेतनाशं प्रति स्वप्रतियोगितासम्बन्धेन समवायिकारणनाशस्य स्वप्रतियोगिसमवायसम्बन्धेनाऽसमवायिकारणनाशस्य च कारणत्वम्। कपालत्वादिजात्यादौ नाशापत्तिवारणाय कालावच्छिन्नेति। स्वप्रतियोग्याश्रयत्वसम्बन्धस्य कार्यतावच्छेदकत्वे तु कपालवृत्तिरूपध्वंसध्वंसापत्तेः। ततः प्रदर्शितरीत्या कपालनाशादिसामग्र्यभावात्पूर्वक्षणावच्छेदेन वर्तमानक्षणावच्छेदेन वा न तद्घटध्वंसोत्पादस्य न्याय्यत्वम्, व्यतिरेकव्यभिचारेण कार्य-कारणभावभङ्गप्रसङ्गात्। सोपादानकारण-कार्यध्वंसोपगमे च शुद्धोदनतनयमतप्रवेशस्य दुर्वारत्वात्। ततः इतो व्याघ्र इतस्तटीति न्यायापातेन प्रतिक्षणं पूर्वक्षणविशिष्टघटप्रतियोगिकध्वंसोत्पादकल्पना न युक्तिमतीति निहितार्थः।

● रमणीया ●

● अतीतविशेषण को ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदक मानने में कोई दोष नहीं ●

तत्तु० इति। व्याख्याकार उपाध्याय यशोविजयजी महाराज का कहना है कि- मणिकार के उक्त वचन का प्रतिविधान तो अन्य नैयायिक की ओर से ही किया गया है। अतएव मणिकारमत निराकृत हो जाता है। अन्य नव्य नैयायिक का मणिकारमत के प्रतिवाद में यह कहना है कि तादृश क्षणभङ्ग के स्वीकार में कोई दोष नहीं है। इसका आशय यह है कि बौद्ध मत में जो क्षणभंग स्वीकृत है वह प्रतिक्षण निरन्वयनाशरूप है। प्रतिक्षण तत्तत्क्षणावच्छेदेन विद्यमान घट का नाश मानने पर भी यह नाश निरन्वयनाशरूप नहीं है। उपादानकारणसहित जो कार्यनाश होता है वही निरन्वय नाश कहा जाता है। प्रस्तुत में विनष्टक्षणावच्छेदेन घट का ध्वंस मानने पर भी उपादानकारण(समवायिकारण)कपालसहित घट का ध्वंस स्वीकृत नहीं किया जाता है। अतः बौद्धमत में प्रवेश की कोई संभावना ही नहीं है। जब विपक्षबाधक तर्क ही नहीं है तब तो अतीतविशेषणावच्छेदेनविद्यमान विशेष्य के ध्वंस का अंगीकार करना न्याय्य ही है। एक और एक ग्यारह बन जाते हैं - यह मालुम है न? महोपाध्यायजी का आशय यह है कि नव्य नैयायिक ने मणिकारमत को दूषित कर के स्याद्वादी की सहायता की है, क्योंकि स्याद्वादी तो कम्बुग्रीवत्वावच्छेदेन विद्यमान मृत्तिकापिंड का नाश मानते ही हैं। अब तो कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक मृत्पिंडध्वंस निराबाध होने के सबब कम्बुग्रीवत्वावच्छेदेन मृत्पिंड में अनित्यत्व और मृत्त्वावच्छेदेन नित्यत्व सिद्ध होता है। इस परिस्थिति में-घटादि सर्वथा अनित्य है, 'स्थूल पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय नित्यत्व से शून्य होते हुए अनित्यत्वयुक्त ही है- इत्यादि कैसे कहा जा सकता है? अतः स्थूल पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय सर्वथा अनित्य है - ऐसा नैयायिक सिद्धांत बाधित है - प्रत्यक्षविरुद्ध है, यह सिद्ध होता है।

नैयायिक :- यत्तु कपाला इति। 'प्रतिक्षण समवायिकारणसहित घटध्वंस का स्वीकार नहीं करने की वजह से बौद्धमत-क्षणभंग में प्रवेश की आपत्ति नहीं है-ऐसा जो कहा गया है - वह समीचीन नहीं है, क्योंकि जब तक समवायिकारण कपालादि का नाश

इति' तत्तुच्छम् कपालकदम्बकोत्पत्तिरूपस्य घटनाशस्य तदानीमनभ्युपगमात्। तत्तत्क्षणावच्छिन्नघटादिनाशस्य तु तत्तदुत्तरक्षणादिरूपस्य पूर्वक्षणाधीनात्मलाभस्य कपालनाशात्पूर्वमपि सम्भवे बाधकाभावात्।

कश्चित्तु 'संसर्गावच्छिन्न-किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याभावस्याऽत्यन्ताभावत्वनियमान्न प्रागुक्तप्रतीतेर्विशेषणावच्छिन्न-

★ जयलता ★

तन्निराकरोति-कपालकदम्बकोत्पत्तिरूपस्य, एतच्चोपलक्षण मृत्पिण्डोत्पत्तिरूपस्य घटनाशस्य तदानीं = कपालाद्यनाशदशाया अनभ्युपगमात्। अय भावः विनाशः हि द्विविधो भवति वैस्रसिकः प्रयोगजनितश्च। वैस्रसिकः नाशः स्वाभाविकनाश उच्यते। प्रयोगजनितश्च विनाशः समुदयजनित उच्यते। स च द्विविध एकः समुदयविभागमात्रप्रकारः यथा पटादेः कार्यस्य तत्कारणपृथक्करणे तन्तुविभागमात्र द्वितीयश्चार्यान्तरगमन यथा मृत्पिडस्य घटलक्षणार्थान्तरभावेनोत्पादो विनाशः। तदुक्त सम्मतितर्के 'विगमस्स वि एव विही समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो । समुदयविभागमेत्त, अत्थतरभावगमण च ॥ (स त ३।३४) इति । कपालकदम्बकोत्पत्तिरूप घटनाश प्रति कपालद्वयसयोगरूपाऽसमवायिकारणनाशस्य मृत्पिण्डोत्पत्तिरूप घटनाश प्रति कपालात्मकसमवायिकारणनाशस्य तत्तदुत्तरक्षणरूप वैस्रसिक घटनाश प्रति च तत्तत्पूर्वक्षणस्य कारणत्वमस्ति । यदि च प्रकृते समुदयजनितविभागोऽभ्युपगम्येत तदा कपालादिनाशविरहेण तदनापत्तिस्स्यात् । पर स एवात्र नोपेयते । अतो न व्यतिरेकव्यभिचारपिशाचदुःसञ्चारः । एतेन प्रतियोगितासवन्धेन घटनाश प्रति समवायेन मुद्गरादिविलक्षणसयोगस्य हेतुत्वेन कथ तदनापाते तदुत्पादः ? इति प्रत्युक्तम् प्रायोगिक घटादिनाश प्रत्येव तद्धेतुत्वोपगमात् तस्य चात्राऽनङ्गीकारात् ।

तर्हि किस्वरूपो घटध्वसोऽत्रोपेयते ? इत्याशङ्कायामाह-तत्तत्क्षणावच्छिन्नघटादिनाशस्य = अतीतक्षणावच्छेदेन घटादिप्रतियोगिकध्वसस्य, तुर्विशेषद्योतनार्थः, तत्तदुत्तरक्षणादिरूपस्य = तत्तदुत्तरक्षणविशिष्टघटलक्षणस्य, पूर्वक्षणाधीनात्मलाभस्य = अव्यवहितपूर्वक्षणोपादानकस्य, अनेन कार्याकस्मिकत्वापत्तिर्दूरीकृता, कपालानाशात्पूर्वमपि = कपालादिनाशमृतेऽपि, कि पुन॰ तत्सत्त्वे इत्यपिशब्दार्थः सभवे = उत्पत्तौ अभ्युपगम्यमानाया, बाधकाभावात् = कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गादिबाधकतर्कविरहात् । अय भावः प्रकृते वैस्रसिको व्ययोऽङ्गीक्रियते । तस्य च हेतुः अव्यवहिततत्तत्पूर्वक्षण एव न तु कपालादिनाशः । अतः तदभावप्रयुक्तोत्पत्त्यभावप्रतियोगित्वस्य तादृशघटध्वसे विरहेऽपि न क्षतिः । न ह्यकारणविरहदशाया स्वसामग्रीबलेन जायमाने कार्ये व्यतिरेकव्यभिचारमामनन्ति मनीषिणः । ततश्च कपालादिनाशमृतेऽतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानविशेष्यप्रतियोगिकध्वसस्य न्याय्यत्वेनोक्तप्रतीतिबलात् कम्बुग्रीवत्वाद्यवच्छिन्नध्वसप्रतियोगित्वस्य मृत्त्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगित्वाभावस्य चैकत्रैव घटेऽकामेनाऽपि परेणाऽभ्युपगन्त-व्यत्वात् ध्वसप्रतियोगित्वप्रतियोगित्वयो॰ सामानाधिकरण्य निराबाधमिति सिहावलोकनन्यायेन द्रष्टव्यमित्यल विस्तरेण ।

दर्शितप्रतीतेर्विशेषणप्रतियोगिकध्वसविषयत्वमिति मत निरस्याऽधुना तस्य विशेषणाऽवच्छिन्नविशेष्यात्यन्ताभावविषयत्वमिति मत खण्डयितुमुपक्रमते कश्चित्त्विति । अस्य च तत्तुच्छमित्यनेनाऽन्वयः । अत्यन्ताभावत्वनियमादिति । ससर्गावच्छिन्न-धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताया निरूपकोऽभावोऽत्यन्ताभा-

● रमणीया ●

न हो तब तक घट का नाश ही नही हो सकता है। समवायिकारण मे समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले कार्य के नाश के प्रति समवायिकारण का नाश प्रतियोगिता सम्बन्ध से कारण माना गया हे। जो कारण होता हे वह कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण मे कार्याधिकरणतया अभिमत मे अवश्य रहना चाहिए। अत प्रस्तुत मे तत्तत् अतीतक्षणावच्छेदेन घटध्वस कपाल मे उत्पन्न होने के पूर्व कपाल मे प्रतियोगिता सम्बन्ध से कपालनाश रहना जरूरी हे, जो तव वहाँ अविद्यमान हे । अत कपालादिनाश के पूर्व अतीतविशेषणावच्छेदेन भी घटध्वस नामुमकिन हे । विना कारण के कार्योत्पत्ति कैसे होगी ?

स्याद्वादी :- तत्तुच्छ-कपाल० इति। आपकी यह वात सर्वथा तथ्यहीन हे। आपकी ओर से दिया गया दोष तब सभवित हैं यदि तत्तत्क्षणावच्छेदेन प्रतिक्षण घटध्वस कपालकदम्बक की उत्पत्तिरूप माना जाय मगर तादृश घटध्वस का हम उस अवस्था मे स्वीकार करते ही नही हैं। आशय यह है कि घट पर मुद्‌गर प्रहार होने पर कपालपरम्परा की उत्पत्ति होती हे वह घटध्वस यदि कार्यरूप से अभिमत हो तब तो कपालध्वस की प्रतियोगिता सम्बन्ध से कपाल मे उपस्थिति आवश्यक हे। मगर प्रतिक्षण पूर्वक्षणविशिष्टत्वेन रूपेण जो घटध्वस हमे मान्य है वह तादृश नही है। प्रतिक्षण मुद्‌गरादि सामग्री के विरह मे जो पूर्वक्षणावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटध्वस होता है वह उत्तर-उत्तर क्षणविशिष्ट घटस्वरूप होता है-ऐसा हमारा अभ्युपगम है। तादृशघटनाश के प्रति दंडप्रहारादि कारण नहीं है और तादृशघट उत्पाद के प्रति कुलालादि कारण नही हैं। पूर्व क्षण ही उसकी उपस्थापक है। अत प्रतिक्षण पूर्वक्षणावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव के अभ्युपगम मे कोई बाध नही है। इस स्थिति मे मृत्पिण्ड का पूर्वक्षणावच्छेदेन ध्वस ओर मृत्त्वावच्छेदेन ध्वस का अभाव इन दोनो की सिद्धि निराबाध हे। इस तरह नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर समानाधिकरण सिद्ध होने के सबब स्थूल पृथ्वी आदि चतुष्क सर्वथा=सर्व अपेक्षा से अनित्य ही है-यह नैयायिक सिद्धात अश्रद्धेय है।

नैयायिकः:- कश्चित्तु० इति। आपने मृत्पिण्ड मे कम्बुग्रीवत्वावच्छेदेन अनित्यत्व और मृत्त्वावच्छेदेन नित्यत्व सिद्ध करते हुए कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक मृत्पिडध्वस का प्रतिपादन किया हे। किन्तु वह असगत हैं। इसका कारण यह हे 'अयमेव मृत्पिंड कम्बुग्रीवत्वादिना आसीत्' इस प्रतीति मे कम्बुग्रीवत्व का अवच्छेदकविधया भान होता हैं। यदि उक्त प्रतीति का विषय मृत्पिडध्वस होता तो प्रतियोगितावच्छेदकरूप से कम्बुग्रीवत्व का भान न होता, चूँकि ध्वस का प्रतियोगितावच्छेदक कोई धर्म होता नहीं है। ध्वस की प्रतियोगिता निरवच्छिन्न होती है। परत उक्त प्रतीति कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक मृत्पिडात्यन्ताभाव को ही विषय करती हैं। इसका कारण यह है कि तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धावच्छिन्न और यत्किंचिद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव अत्यन्ताभाव ही होता

विशेष्य-ध्वंसविषयत्वमि'ति तत्तुच्छम्, यदुत्पत्तौ कार्यस्याऽवश्य विपत्तिस्तस्यैव प्रध्वंसत्वाभ्युपगमात्।

ननु 'यदुत्पत्ताविं'त्यत्र सप्तम्यर्थः पूर्वकालत्व निमित्तत्व वाऽनुपपन्न कपालादेरुत्पत्तेः प्रागुत्तर वा घटविपत्तेरनभ्युपगमात्,

★ जयलता ★

वरूप एव न तु ध्वंसादिस्वरूप इति नियमाङ्गीकारात्, मया नैयायिकेनेति गम्यम्। प्रकृते संसर्गावच्छिन्नेति तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धावच्छिन्न इत्यर्थः। तेन नाऽन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिः किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न इति प्रतियोगिताया विशेषणाद् ध्वंसप्रागभावयोरतिव्याप्तिः परिहृता, तयो' निरवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात्। तदुक्त मुक्तावलीप्रभाकृता नृसिंहशास्त्रिणा 'घटध्वंसप्रागभावयोः धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे मानाभावेन (मु प्र पृ २६१) इत्यादि। तयो' तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धावच्छिन्नत्व तु परेणोपेयत एव। तदुक्त मुक्तावलीमञ्जूषाकृता ''ध्वंसप्रागभावयोः संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व-स्वीकारेण 'घटो नास्ति रक्तो नास्ति' इत्यादिषु प्रतीतिषु संयोगसमवायादिसम्बन्धावच्छिन्नत्वेन प्रतियोगितावगाहनात्'' (मु म पृ १६५) इति। प्रागुक्तप्रतीतेरिति। 'पूर्वमयमेव मृत्पिण्डः तत्कम्बुग्रीवत्वादिनाऽऽसीदितिप्रतीतें', न विशेषणावच्छिन्नविशेष्यध्वंसविषयत्व = न तत्कम्बुग्रीवत्वादिविशेषणा-वच्छिन्न-विशेष्यवृत्तिप्रतियोगितानिरूपकध्वंसावगाहित्व, ध्वंसप्रतियोगिताया धर्मानवच्छिन्नत्वात्, किन्तु विशेषणावच्छिन्नविशेष्यनिष्ठप्रतियोगिताकात्य-न्ताभावगोचरत्वम्। प्रकृते प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वरूपलक्षण' समवायरूपो वेत्यन्यदेतत्। अत्यन्ताभावलक्षणक्रान्तत्वेन न तत्प्रतीतिविषयस्य ध्वंसात्मकत्वम्। अतो न प्रकृतप्रतीत्या ध्वंसप्रतियोगित्वप्रतियोगित्वयोरेकाधिकरणवृत्तित्व सिध्यति येन कूटस्थनित्यत्व विलीयेतेति परस्याऽऽशयः।

तन्निराकरोति-तत्तुच्छमिति। पराभिप्रायस्याऽत्यन्ताऽसारताप्रदर्शनार्थमेवमुक्तम्। तदेव प्रतिपादयति-यदुत्पत्तौ =कपालाद्युत्पत्तौ सत्या कार्यस्य = घटादे' अवश्य = नियमात्, विपत्ति, तस्यैव = कपालादेरेव प्रध्वंसत्वाऽभ्युपगमात् = घटध्वंसात्मकत्वोपगमात्, प्रागुक्तप्रतीते' कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नमृत्पिण्ड-प्रतियोगिकध्वंसगोचरत्वमेवेति गम्यम्। अथ भाव' मृत्पिण्डे जायमाने घटस्याऽवश्य विपत्तिः, अतः मृत्पिण्ड एव घटध्वंसो न तु पराभिमतः तुच्छाभावः, 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'तिन्यायेनाऽतिरिक्ताऽभावात्मकधर्मिकल्पनाऽपेक्षया क्लृप्तमृत्पिण्डे एव ध्वंसत्वधर्मकल्पनाया न्याय्यत्वात्, सद्दशानुविद्धस्यैवाऽसद्दशस्यानुभवाच्च। ततश्च प्रकृते मृत्पिण्डोत्पादे नियमात् कम्बुग्रीवत्वाच्छिन्नस्य विपत्तेर्मृत्पिण्ड एव कम्बुग्रीवत्वाच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वंसात्मक' सिध्यति ततश्चात्रात्यन्ताभावत्वकल्पना न श्रेयसी। न चैव ध्वंसप्रतियोगिताया निरवच्छिन्नत्व प्रभाकृदुक्त विरुध्येतेति वाच्यम् 'घटत्वेन घटो विनष्टो न तु मृद्रूपेण' इति सार्वजनीनप्रतीत्यन्यथानुपपत्ते' प्रध्वंसप्रतियोगिताया सावच्छिन्नत्वस्यावश्यमभ्युपगन्त-व्यत्वात् परेणाऽपि। न हि कस्यचिद् ग्रन्थकृतो विपरीतलिखन प्रमाणबलाद् वस्तुसिद्धौ बाधक सभवति, अतिप्रसङ्गात्। अतिप्रसक्तधर्मस्याऽप्यवच्छेदक-त्वादिति वक्ष्यति प्रकरणकारः स्वयमेवाऽग्रे इति मा त्वरिष्ठा' [द्दयता १४२तमे १६०तमे च पृष्ठे]।

कश्चिच्छङ्कते नन्विति। इति चेत्? पर्यन्त शङ्काग्रन्थ'। सप्तम्यर्थ = सप्तमीविभक्त्यर्थ पूर्वकालत्व = पूर्वकालिकत्व, यथा 'पितरि गमिष्यति पुत्रो गत' इत्यत्र 'पितृगमनपूर्वकालिकगमनानुकूलकृतिमान् पुत्र'' इतिशाब्दबोधेन तदर्थः सप्तम्या', निमित्तत्व = निमित्तकत्व, यथा 'पयःपाने तृषा शाम्यति,' इत्यत्र पय'पाननिमित्तकशमनप्रतियोगिनी तृषे'तिशाब्दप्रतीत्या तदर्थस्तस्या' सिध्यति। यद्यपि विषयत्वविशेष्यत्वाधेयत्व-

● रमणीया ●

है, ध्वसाभाव, प्रागभाव या अन्योन्याभाव नहीं - यह नियम है। प्रस्तुत प्रत्यभिज्ञान मे समवायसम्बन्धावच्छिन्न और कम्बुग्रीवत्वधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता के निरूपक अभाव का भान होने के सबब उक्त प्रतीति विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टात्यन्ताभाव को अपना विषय बनाती है। अत उक्त प्रत्यभिज्ञान को ध्वसविषयक नहीं किन्तु उक्त नियम के अनुरोध से विशेषणावच्छिन्नविशिष्टात्यन्ताभावविषयक मानना ही मुनासिब है। इस परिस्थिति मे मृत्पिण्ड मे कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्न ध्वस के प्रतियोगित्वस्वरूप अनित्यत्व और मृत्त्वावच्छिन्न ध्वसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व मानना असगत है। अत पूर्व मे जो कहा गया है कि - 'स्थूल पृथ्व्यादि भूतचतुष्टय सर्वथा अनित्य है अर्थात् नित्यत्वासमानाधिकरणानित्यत्व से युक्त है' - वह युक्तिसगत ही है।

● ध्वसलक्षण ●

स्याद्वादी :- तत्तुच्छ, यदुत्पत्तौ इति। आप को ध्वस किस चिडिया का नाम है? यह मालुम नहीं है और हम ध्वस पदार्थ का स्वरूप कैसा मानते है? इसको जानने की कोशिश किये विना ही आपने उक्त प्रतीति का विषय ध्वस नहीं हो सकता है-ऐसा कह दिया। वास्तव मे ध्वसपदप्रतिपाद्य सर्वथा भावभिन्न नहीं है, जैसा आपने माना है किन्तु ध्वस भावस्वरूप ही है। जैनमत मे ध्वस की व्याख्या ऐसी है कि-जिसकी उत्पत्ति होने पर कार्य की अवश्य विपत्ति हो वह उत्पन्न पदार्थ ही पूर्व कार्य का ध्वस है। जैसे मुद्गर प्रहारादि से कपालोत्पत्ति होने पर घटात्मक कार्य की अवश्य विपत्ति होती है। अत वह कपाल ही घट का प्रध्वस है। कपाल से अतिरिक्त स्वरूपसम्बन्ध से रहनेवाला ससर्गाभावविशेषरूप प्रध्वस नाम का अतिरिक्त सप्तम पदार्थ हमे मान्य नहीं है। प्रस्तुत मे मृत्पिण्ड की उत्पत्ति होने पर अवश्य कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ की विपत्ति होती है, अत मृत्पिण्ड ही कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ का प्रध्वस है। प्रदर्शित प्रत्यभिज्ञा का विषय प्रध्वस ही है, अत्यन्ताभाव नहीं है। अत पूर्व मे हमने जो बताया था कि-नित्यत्वसमानाधिकरण अनित्यत्व घटादि स्थूल पृथ्वीआदिस्वरूप भूतचतुष्क मे वृत्ति है-वह युक्त ही है।

शका :- ननु यदु० इति। आपने ध्वस का लक्षण तो अच्छा बनाया, मगर आप बहुत दूर की नहीं सोचते है कि-हमारे प्रध्वसलक्षण मे कोई दोष है या नहीं? लक्षणघटक पदार्थ की अनुपपत्ति तो नहीं है न? आप यूँही लक्षण बनाते हो। देखिये, आपने प्रध्वस

तदुत्पत्तिसमय एव प्रत्युत तदभ्युपगमात्। किञ्च, विपत्तिपदार्थस्यैवाऽत्रापरिचयस्तस्य प्रध्वसातिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वादिति चेत्? न, अवश्य यदुत्पत्तिप्रयोज्या यदनुपलब्धिः स तत्प्रध्वंस इत्यर्थात्।

★ जयलता ★

निरूपितत्व-व्यापकत्वावच्छेद्यत्वाभेद-प्रतिपाद्यत्व-घटकत्व-समानकालिकत्व-प्रतियोगित्वानुयोगित्वादयोऽनेके सप्तम्यर्थाः सन्ति तथापि प्रकृतेऽप्रसक्तत्वान्न ते दर्शिताः, प्रसक्त हि प्रतिपिध्यते न त्वप्रसक्तमिति न्यायात्। वा = प्रदर्शितान्यतरत् अनुपपन्न = न सङ्गतिमङ्गति। असगतिमेव भावयति-कपालादेरुत्पत्ते प्रागुत्तर वा घटविपत्तेरनभ्युपगमादिति। अय भावः 'यदुपत्तौ कार्यस्याऽवश्य विपत्तिरि'त्यत्र स्याद्वादिनो यत्पदेन कपालादिर्योऽभिमतः कार्यपदेन च घटादिः। यदि चोत्पत्तिपदोत्तरसप्तमीविभक्त्यर्थः पूर्वकालिकत्वमङ्गीक्रियेत तदा कपालाद्युत्पादपूर्वकालिकी घटादिविपत्तिरिति शाब्दबोधस्स्यात्। यदि च निमित्तकत्व नियतपश्चाद्भावित्वपर्यवसन्न तदर्थत्वेनोपगम्येत तदा कपालाद्युत्पादोत्तरकालिकघटादिविपत्तिरित्याकारकः शाब्दबोधस्स्यात्। उभयथाऽपि तदप्रामाणिकत्व तदभाववति तत्प्रकारकत्वावगाहित्वात्। न हि वय घटोत्पत्तेः कपालादिपूर्वोत्तरकालिकत्वमभ्युपगच्छामः। तर्हि को वोऽभ्युपगमः? इत्याशङ्कायामाह-तदुत्पत्तिसमये = कपालाद्युत्पादकाले, एव तदभ्युपगमात् = घटविपत्त्यभ्युपगमात्। घटविपत्तिकपालोत्पादयोः समकालीनत्वात् प्रदर्शितनियमघटकीभूतसप्तम्यर्थासङ्गतेर्नियमस्याऽप्रामाणिकत्वम्। न हि घटकबाधे तद्घटितस्याऽबाधितत्व सम्भवति।

नन्वस्तुएव समानकालिकत्वमेव तदर्थः कि नश्छिन्नम्? 'वित्ते नष्टे वित्तहरणमहो कर्तुमिच्छन्ति मूढाः' ( ) इत्यत्र'वित्तनाशसमानकालिकवित्तहरणचिकीर्षावन्तो मूढा' इति शाब्दबोधस्य प्रसिद्धेः। एतेन स्वयमन्येन गलिते सति मत्स्यान्तरगलन मत्स्यगलागलन्याय इत्यपि व्याख्यातम्। ततो ध्वसनिर्वचनमुक्तमेव युक्तमित्याशङ्कायामात्माश्रयदोपमाह किञ्चेति। विपत्तिपदार्थस्यैव अत्र = प्रदर्शितध्वसलक्षणे, अपरिचय = अनवबोधः। हेतुमाह-तस्य = 'बुद्धिविषयतावच्छेदकोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने यत्तत्पदयोः शक्ति'' ( ) इति नियमात् विपत्तिपदार्थस्येत्यर्थः, प्रध्वसातिरिक्तस्य = लक्ष्यीभूतध्वसभिन्नस्य, वक्तुमशक्यत्वात्। लक्ष्यस्य लक्षणे प्रवेशात् ज्ञप्तौ स्वग्रहसापेक्षग्रहकत्वरूप आत्माश्रयदोप-पङ्कपङ्किलत्वमनिर्गल कथ प्रक्षालनीय निर्मलबहुलनीतिलीलायितसुकुमारहृदयैः? ततो दर्शितध्वसलक्षण न युक्तमिति नन्वाशयः।

समाधत्ते-नेति। अवश्य = नियमतः, यदुत्पत्तिप्रयोज्या = कपालाद्युत्पत्तिप्रयोज्या, यदनुपलब्धि घटाद्यनुपलब्धिः, सः = कपालादिः तत्प्रध्वस = घटादिध्वसः, इत्यर्थात् = इत्यर्थोपगमात्। अय भावः सप्तम्यर्थः प्रयोज्यत्व, तच्च समानकालीनयोरपि सम्भवति यथा प्रदीपप्रकाशयोः। एवञ्च कपालोत्पाद-घटविपत्तिमध्ये प्रयोज्य-प्रयोजकभावो निराबाधः। न चैवमन्धकारोत्पादे सत्यनुपलभ्यमानस्य रूपज्ञानस्याऽन्धकारः प्रध्वसः

● रमणीया ●

का लक्षण 'यदुत्पत्तौ ' ऐसा बनाया है। इसमे 'उत्पत्ति पद के उत्तर मे सप्तमी विभक्ति लगाई है। इसका अर्थ क्या आप को पूर्वकालत्व अभिमत है या निमित्तत्व? दोनो अर्थ के स्वीकार मे अनुपपत्ति है। यदि सप्तमी विभक्ति का अर्थ पूर्वकालत्व मान्य करेगे तब लक्षण के पूर्वार्ध का अर्थ - 'यदुत्पत्तिपूर्वकालिकी अवश्य कार्यविपत्ति' अर्थात् 'जिसकी उत्पत्ति के पूर्व काल मे अवश्य कार्य की विपत्ति हो' ऐसा होता है। यत् पद से कपाल का और कार्य पद से घट ग्रहण करने पर लक्षणानुसार अर्थ यह होगा कि-कपाल की उत्पत्ति के पूर्व काल मे घट की अवश्य विपत्ति होने से कपाल ही घटप्रध्वस है। मगर यह अर्थ बाधित है, क्योकि कपालोत्पाद के पूर्व काल मे घट की विपत्ति नही होती है। सप्तमी विभक्ति का अर्थ निमित्तकत्व स्वीकृत किया जाय तो भी अर्थसगति नही हो सकती है, चूँकि निमित्तकत्व का अर्थ है उत्तरकालवृत्तित्व। सप्तमी विभक्ति का यह अर्थ स्वीकृत करने पर 'कपालोत्पादोत्तरकालवर्ती अवश्य घटविपत्ति' ऐसा अर्थ प्राप्त होगा। मगर यह अर्थ भी अबाधित नही है, चूँकि घटविपत्ति कपालोत्पाद के उत्तरकाल मे नही होती है। अत न तो पूर्वकालिकत्व अर्थ यहाँ सभव है और न तो उत्तरकालिकत्व। वास्तव मे कपालोत्पाद और घटविपत्ति दोनो ही समकालीन है-ऐसा माना जाता है। सप्तमी विभक्ति क अन्य अर्थ तो यहाँ सगत नही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त एक दोष यह है कि-'यदुत्पत्तौ अवश्य विपत्ति' इसमे विपत्ति पद का अर्थ ध्वस को छोड कर दूसरा कुछ नही हो सकता है। 'कार्यस्य विपत्ति' का अर्थ तो कार्य का विनाश=ध्वस ही होगा। मगर ध्वस किसे कहते है? इसका ज्ञान अभी तक हुआ ही नही है। ध्वस के लक्षण मे ही ध्वस का प्रवेश होने से ज्ञप्ति मे आत्माश्रय दोष स्पष्ट है। विपत्ति और ध्वस- सिर्फ शब्दान्तर है, अर्थात् पर्यायवाचक शब्द है। जैसे घट का लक्षण कुम्भ बनाया जाय तो लक्ष्यभूत घट का ही घटलक्षण मे प्रवेश होने से आत्माश्रय दोष होता है वैसे लक्ष्यभूत प्रध्वस का ही प्रध्वस के लक्षण मे प्रवेश होने मे आत्माश्रय दोष स्पष्ट है। प्रध्वस के ज्ञान के लिए प्रध्वस की जानकारी जरूरी हो तब लक्ष्यभूत प्रध्वस से अपरिचित व्यक्ति को प्रध्वस का ज्ञान ही नही हो सकता। इस तरह प्रदर्शित दो दोष (१) लक्षण घटक विभक्त्यर्थ की अनुपपत्ति होने के सबब उससे घटित लक्षण की अनुपपत्ति और (२) लक्षणघटक विपत्ति पद के अर्थ का अज्ञान -सर्वथा अपरिहार्य है। अत प्रध्वस का प्रदर्शित लक्षण उचित महसूस नही होता है। जिससे यह लक्षण त्याज्य है।

समाधान :- न अवश्य० इति। वाह! आप भी कमाल करते है। सिर मे दर्द होने पर सिर को ही काटने की बात करते है, न कि उसकी चिकित्सा की। आपसे प्रदर्शित अर्थघटन की भले ही अनुपपति हो मगर प्रदर्शित प्रध्वसलक्षण निर्दोष है, क्योकि इस लक्षण का तात्पर्य है-अवश्य यदुत्पत्तिप्रयोज्या यदनुपलब्धि स तत्प्रध्वस । अर्थात् सप्तमी विभक्ति का अर्थ है प्रयोज्यत्व

तत्र ऋजुसूत्रनये उपादेयक्षण एवोपादानध्वंसः। न च द्वितीयादिक्षणेष्वेव ध्वंसस्याऽभावेन घटस्य पुनरुन्मज्जनापत्तिः,

★ जयलता ★

स्यादिति वाच्यम् अत एवावश्यम्पदनिवेशात्। न हि रूपज्ञानस्याऽन्धकारोत्पादे नियमतोऽनुपलब्धिः सम्भवति वृषदंशकादीनामञ्जनसंस्कृतचक्षुषाञ्च सत्यपि तमउत्पादे रूपज्ञानस्योपलब्धेः। अवश्यं सूर्यकान्तमणिविरहविशिष्टचन्द्रकान्तमणिसत्ताप्रयोज्या दाहानुपलब्धिरतो तादृशमणेर्दाहप्रध्वंसत्ववारणाय, 'यत्सत्ताप्रयोज्ये'त्यनुपादाय यदुत्पत्तिप्रयोज्येत्युपादानम्। आत्माश्रयनिवारणार्थं विपत्तिपदमनुपलब्धिपरत्वेन व्याख्यातम्।

यदनुपलब्धिरित्यत्र यत्पदेन कार्यग्रहणं कर्तव्यम्। अवश्यं कपालोत्पादप्रयोज्या घटानुपलब्धिः। अतः कपालस्य घटप्रध्वंसत्वं सिद्धम्। एतेन विभागादेः संयोगादिनाशतापत्तिरित्युक्तावपि न क्षतिः, इष्टापत्तेः। एतेन "यदुत्पत्तौ कार्यस्याऽवश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभाव इति। यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकमिति" (प्र न त ३ ६१/६२) वादिदेवसूरिवचनं व्याख्यातम्। वस्तुतस्तु यदुत्पत्त्यधिकरणे उत्पन्नस्य यस्यावश्यमभावः स तत्प्रध्वंस इत्येवाऽस्यार्थः इति भावनीयमभ्यस्ततर्कशास्त्रैः।

नन्वस्तु यथोक्तलक्षणलक्षितो ध्वंसस्तथापि कुतोऽस्य प्रमिद्धिरिति चेत्? नयप्रमाणाभ्यामिति ब्रूमः। तत्रादौ नयापेक्षया तां दर्शयितुमुपक्रमते-तत्रेति। नयाऽपेक्षया ध्वंसस्वरूपनिरूपणे। ऋजुसूत्रनये इति सप्तम्यर्थश्चात्र प्रतिपाद्यत्वं, यथा 'शास्त्रे विषय' इत्यत्र 'शास्त्रप्रतिपाद्यो विषय' इत्याकारकः शाब्दबोधस्तथा प्रकृते ऋजुसूत्रनयप्रतिपाद्य उपादेयक्षण एवोपादानप्रध्वंस इत्यर्थः। ऋजुसूत्रनयश्च द्रव्यं सदप्युपसर्जनीकृत्य क्षणध्वंसिनः पर्यायान् प्रधानतया दर्शयति। तदुक्तं वादिदेवसूरिणा प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे 'ऋजु = वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः' (प्र न त ७/२८) इति। मुद्गरादिसन्निधौ जायमानः कपालात्मक उपादेयक्षण एव घटात्मकोपादानस्य ध्वंसः, तदसन्निधौ च द्वितीयक्षणविशिष्टो घटात्मक उपादेयक्षण एव प्रथमसमयविशिष्टघटरूपकारणस्य ध्वंसः। तन्मते हि पूर्वक्षणानामेवोत्तरक्षणोपादानत्वमुत्तरक्षणानाञ्च तदुपादेयत्वम्। एवमेव क्षणभङ्गस्य प्रसाधनात्। एतेन परभिमत एकान्ततुच्छरूपो घटध्वंसः प्रत्युक्तः, उपादेयक्षणातिरिक्तस्य ध्वंसस्यानुपलब्धेः। तदुक्तं ज्ञानश्रिया "दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र निपतन् दृष्टस्तथा मुद्गरः, दृष्टा खर्परसंहतिः परमितोऽभावो न दृष्टोऽपरः। तेनाऽभाव इति श्रुतिः क्व निहिता किं चाऽत्र तत्कारणं, स्वाधीना कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली॥ (   ) इति।

एतेन "मुद्गरपाताद्विनष्टो घट इति प्रतीत्याऽतिरिक्तविनाशाऽनुभवात्" (त चि प्र ख पृ ७७०) इति चिन्तामणिकृद्वचनं प्रत्युक्तम् 'मुद्गरपातजन्यविलक्षणपरिणामवान् घटः' इति प्रकृतवाक्यार्थत्वादिति दिक्।

ननूपादेयक्षणस्योपादानध्वंसत्वाभ्युपगमे प्रतियोग्युत्तरतृतीयक्षणे प्रतियोगिध्वंसोत्तरद्वितीयक्षणरूपे पुनरपि प्रतियोग्यस्तित्वापत्तिर्दुर्निवारा क्षणभङ्गस्वीकारेण तदा प्रतियोगिसत्ताविरोधिनः प्रतियोगिध्वंसस्य विरहात् जनितप्रतियोगिकप्रध्वंसविरहस्य जनितास्तित्वव्याप्यत्वादिति शङ्कामपहस्तयितुं प्रदर्शयति-न चेति। द्वितीयादिक्षणेषु कपालोत्पादद्वितीयादिक्षणेषु, एव = प्रतिक्षणं ध्वंसाभ्युपगमेन, ध्वंसस्याऽभावेन = कपालोत्पादक्षणरूपघटविध्वंसस्य विरहेण, घटस्य = प्रतियोगिनः, पुनरुन्मज्जनापत्ति = पुनरस्तित्वप्रसङ्गः। अयं भावः मुद्गरपातनिमित्तकघटविनाशानन्तरक्षणे प्रथमक्षणरूपः कपालोत्पादः घटनाशत्वेनाऽभिमतो विनश्यति द्वितीयक्षणरूपश्च कपालोत्पादो जायते। अन्धकारप्रकाशवद् जातघटादिप्रतियोगिकध्वंस-तत्प्रतियोगिनोः परस्परपरिहारलक्षणविरोधात् तद्ध्वंसविरहस्य तद्व्याप्यत्वेन द्वितीयक्षणे प्रतियोगिनो घटस्य सत्त्वमापाद्यते।

● रमणीया ●

जो असमानकालीन की तरह समानकालीन पदार्थ में भी हो सकता है। विपत्ति का तात्पर्य अनुपलब्धि अर्थ में है। अर्थात् जिस कार्य की अनुपलब्धि जिसकी उत्पत्ति से अवश्य प्रयोज्य हो वह उत्पत्ति का प्रतियोगी पदार्थ उस कार्य का प्रध्वंस है। जैसे कपाल उत्पत्ति से अवश्य घटानुपलब्धि प्रयोज्य होती है। अतः कपाल ही घटप्रध्वंस है। लक्षण में 'यदनुपलब्धि' में जो यत् पद है उससे कार्य का ग्रहण अभिप्रेत है-यह ख्याल में रहे। सूर्यकान्तमणिप्रतियोगिकाभावविशिष्ट चंद्रकान्त मणि की सत्ता से दाहानुपलब्धि अवश्य प्रयोज्य है। अतः तादृश चंद्रकांत मणि में दाहध्वंसत्व की अतिव्याप्ति का प्रसंग होता है। अतः यत्सत्ताप्रयोज्य का प्रयोग न कर के 'यदुत्पत्तिप्रयोज्या' ऐसा निवेश किया गया है। अंधकारोत्पाद में रूपानुपलब्धि प्रयोज्य होती है। अतः अंधकार में रूपविनाशत्व का अतिप्रसंग दूर करने के लिये 'अवश्य' पद का निवेश किया गया है। अन्धकार की उत्पत्ति होने पर भी औषधिविशेष का उपयोग करने पर रूप की उपलब्धि होती है। अतः रूपानुलब्धि अंधकारोत्पाद से अवश्य प्रयोज्य नहीं है। अतएव उसमें अतिव्याप्ति की आपत्ति नहीं है। आत्माश्रयदोष निवारणार्थ 'यद्विनाश' के स्थान में 'यदनुपलब्धि' ऐसा लक्षण में प्रवेश किया गया है। अब विभक्ति अंश की अनुपपत्ति या आत्माश्रय दोष या अतिप्रसंग दोष की गन्ध भी प्रदर्शित लक्षणार्थ में नहीं है। नैयायिक महाशय! अब समझ गये।

● ऋजुसूत्र नय से ध्वंस का निर्वचन ●

तत्र ऋजु० इति। प्रध्वंसाभाव का सामान्यतः लक्षण बताने के बाद व्याख्याकार महोपाध्यायजी महाराज ऋजुसूत्र नय से प्रध्वंस के स्वरूप को बताते हैं। ऋजुसूत्रनय से उपादेयक्षण ही उपादानक्षण का ध्वंस है। ऋजुसूत्र नय क्षणिक पर्याय का ही प्राधान्येन स्वीकार करता है। अव्यवहित पूर्ववर्ती पर्याय-क्षण ही अव्यवहित उत्तरवर्ती पर्यायक्षण का उपादान कारण है। अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षण

ध्वससन्तानाऽभावस्यैव तदापादकत्वात्।

★ जयलता ★

समाधत्ते-ध्वससन्तानाभावस्यैव, न तु ध्वससन्तान्यभावस्येत्येवकारार्थः, तदापादकत्वात् = प्रतियोग्यस्तित्वव्याप्यत्वात्। अय भाव' ऋजुसूत्रनयादेशेन प्रतिक्षण कार्यस्य विनष्टत्वेऽपि विजातीयसतानसामग्र्यसन्निधाने सजातीयसन्तानोत्पादः, तत्सनिधाने च विजातीयक्षणोत्पाद' पूर्वसन्तानोपमर्देनैव न त्वनुपमर्देन तथाऽभावपरिणतौ प्रतियोग्युन्मज्जन प्रतियोगिसन्तानध्वससत्त्व एव भवति न तु तद्विरहेऽपि। अय तु विशेषो यदुत विजातीयसन्ततिसामग्रीसत्त्वे पूर्विलभावसततिः विनिवर्त्तते न त्वभावसन्ततिः। पुनरपि विजातीयसन्तानसामग्रीसन्निधौ पूर्विलभावान्तरसन्ततिर्विलीयते न तु पूर्विलाभावसन्ततिः। तदा चाभावपरिणत्यपेक्षया सन्तानद्वयपराम्परा युगपच्चलति। ततश्च ध्वससन्तानसामग्रीविरहादेव न प्रतियोग्युन्मज्जनप्रसङ्गः। तथाहि मुद्गराद्यनापाते घटक्षणसन्ततिः तदापाते तु कपालक्षणोत्पादः तदनन्तरक्षणे पुनरपि मुद्गरादिपाते विलक्षणसन्तानप्रयोजके कपालिकाक्षणोत्पाद', पुनरपि मुद्गरादिपाते मृच्चूर्णक्षणोत्पादः पर तदाऽपि घटकपाल-कपालिकाध्वसाना सततित्रय युगपद् विद्यते न तु कपालध्वसक्षणोत्पादे घटध्वससततिर्विलीयते, न वा कपालिकाध्वसक्षणोत्पत्तौ घटकपालध्वससततिर्विलीयते, कपालादिद्रव्याणा कपालिकादिभावान्तरपरिग्रहेऽपि घटादिनिवृत्त्यात्मकस्वरूपाऽपरिहारात्। न चैव क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः, निवृत्तिसन्ततेः प्रदीर्घत्वमुपगम्य कपालात्मना भङ्गुर कपाल घटध्वसात्मना न भगुरमित्यभ्युपगमात्। एतेन भावप्रतियोगिकध्वसेऽभिधेये भावान्तरविधानेऽप्रस्तुताभिधानमपि प्रत्युक्तम् निवृत्त्यशस्याऽधिकत्वात्।

नन्वेवमृजुसूत्रनयार्पणात् प्र'वसप्रसिद्धिः स्यात् पर तन्नये प्रागभावप्रसिद्धिर्दुर्वचा। तन्नयेन कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोऽनन्तरात्मा प्रागभावः पूर्वक्षणोपमर्दनेवोत्तरक्षणोत्पादात् प्रागभावस्योत्तरक्षणरूप स्वध्वस प्रति कारणत्वमिति चाभ्युपगम्यते ततश्च तृतीयक्षणे प्रथमक्षणरूपप्रागभावस्य

● रमणीया ●

को अपने अव्यवहित पूर्ववर्ती पर्यायक्षण से अतिरिक्त अन्य किसीकी अपेक्षा नही होती है। पूर्वोत्तरवर्ती क्षणिक पर्यायो की उत्पत्तिधारा ओर नाशधारा चलती रहती है। सभी पर्याय अनन्तर समय मे अवश्य विनष्ट होते है। अत उत्तरवर्ती उपादेय (कार्य) क्षण ही पूर्ववर्ती उपादान (समवायिकारण) क्षण का विनाश हे। उपादेय क्षण से अतिरिक्त उपादानक्षणध्वस नही है। इसका सूचन करने के लिए 'उपादेयक्षण एव' यहाँ एवकार का प्रयोग किया गया है।

शका :- न च द्विती० इति। यदि उपादेयक्षण को ही उपादान क्षण का ध्वस माना जाय तव तो उपादेयक्षण के द्वितीय क्षण मे पुन उपादान क्षण के उन्मज्जन की आपत्ति आयेगी, क्योकि उपादानक्षणध्वसरूप उपादेय क्षण का अनन्तर समय मे नाश हो जाता हे। आशय यह हे कि ऋजुसूत्र नय के मत से तो सब चीजे एक क्षण ही रहती हे। उसके बाद अवश्य विनष्ट होती हे। जैसे मुद्गर पात से घटरूप उपादानक्षण का जो नाश हुआ है, वह कपालरूप उपादेयक्षणस्वरूप है। वह भी क्षणिक होने से अपनी उत्पत्ति के दूसरे समय मे नष्ट होता है। मतलव कि घट क्षण के उत्तर तृतीय क्षण मे, जो घटक्षणध्वस के द्वितीय क्षणस्वरूप हे, कपालक्षणरूप घटक्षणध्वस का भी ध्वस हो जाता है। तव तो वापस घटक्षण का उन्मज्जन होना न्यायप्राप्त ह। ध्वस अपने प्रतियोगी का विरोधी होता हे। अत ध्वस के अभाव और उसके उत्पन्न प्रतियोगी के वीच मे व्याप्यव्यापकभाव ह। व्याप्य की सत्ता से व्यापक की सत्ता निश्चित होती हे। घटक्षणध्वस का, जो कि कपालक्षणरूप हे, ध्वस होने से घटक्षणध्वम के द्वितीय समय मे घटक्षणध्वस के प्रतियोगी घट क्षण का पुनर्जन्म होने लगेगा। अत उपादेय क्षण को ही उपादानक्षणध्वस स्वरूप मानना नामुनासिव हे।

● घट पुनरुन्मज्जन आपत्ति का परिहार-ऋजुसूत्रनय ●

समाधान'- ध्वससता० इति। वाह' छोटे मुँहे वडी वात' ऋजुसूत्र नय का हार्द मालुम नही है ओर यूँ ही दोषारोपण' ऋजुसूत्र नय की यह मान्यता हे कि उपादान क्षण के पुनर्जन्म का आपादक उपादानक्षणध्वस का अभाव नही है किन्तु उपादानक्षणध्वससतान का विरह हे। आशय यह है कि घटक्षणध्वस के द्वितीयक्षण मे पूर्वसमयवर्ती घटक्षणध्वस का ध्वस होता है मगर तादृश द्वितीय क्षणवृत्तित्वेन रूपेण घटक्षणध्वस की उत्पत्ति भी होती हे, जिसका उपादानकारण है अव्यवहितपूर्वक्षणवृत्ति घटक्षणध्वस। अर्थात् घटक्षणध्वस का प्रथमक्षणवृत्तित्वेन रूपेण नाश होता हे और द्वितीयक्षणवृत्तित्वरूप से नवीन घटक्षणध्वस का जन्म भी होता है। एव अनन्तर समय मे द्वितीयक्षणवृत्तिविधया घटक्षणध्वस होता है और तृतीयक्षणवृत्तिस्वरूप से घटक्षणध्वस की उत्पत्ति भी वनी रहती है। एव अनन्तर समय मे तृतीयक्षणवृत्तित्वावच्छेदेन घटक्षणध्वस होता है और चतुर्थक्षणावच्छेदेन नूतन घटक्षणध्वस की उत्पत्ति जारी रहती है। घटक्षणध्वस की सतानधारा इस तरह आगे चलती ही रहेगी, जो वहुत दीर्घ होती है। घटक्षण के पुनरुन्मज्जन का नियामक घटक्षणध्वसमन्तान का ही अभाव है न कि यत् किचित् घटक्षणध्वम का विरह। जव कि घटक्षणध्वस के द्वितीय क्षण मे घटक्षणध्वसभन्तानविरहरूप आपादक ही नही है, घटपुनरुन्मज्जन का आपादन भी कैसे हो सकता है? ऋजुसूत्र नयमत मे तो घटक्षण का विरोधी जैसे घटक्षणध्वम हे वैसे घटक्षणध्वमसतान भी विरोधी ही है। वाप वैसा वेटा। अत घटक्षणध्वसविरह और घटक्षण के वीच व्याप्य-व्यापकभाव नही माना जा सकता। घटक्षणध्वससतानविरह और घटक्षण के वीच ही व्याप्ति मानी गई है। घटक्षण का आपादक ही घटक्षणध्वस के द्वितीय क्षण मे नही है तव कैसे घटक्षण के पुनरुन्मज्जन की आपत्ति होगी? न रहेगा वाँस न वजेगी वाँसूरी।

अत एव प्रागभावस्याऽपि पूर्विलतत्तत्क्षणरूपत्वेऽपि नाऽऽदिमक्षणरूपप्रागभावोपमर्दनात्मकत्वेन द्वितीयक्षणस्य ध्वसत्वप्रसङ्गः, प्रागभावोपमर्दनेनैव ध्वसात्मलाभात्।

★ जयलता ★

ध्वसात्मको द्वितीयक्षणो द्वितीयक्षणत्वेनेव प्रागभावध्वसत्वेन रूपेणाऽपि नश्येत्। ततश्च तृतीयक्षणे प्रथमक्षणध्वसध्वसस्य सत्त्वेन प्रथमक्षणोपलब्धिप्रसङ्गात् अभावप्रतियोगिकाभावस्य प्रथमाभावप्रतियोगिस्वरूपत्वादित्याशका पाटच्चरविलुण्टिते वेश्मनि प्रतिजागरणमिदमित्याशयेन निराकरोति-अत एवेति। पूर्व-पूर्वक्षणानामुत्तरोत्तरभावान्तरपरिग्रहेऽपि तत्तन्निवृत्त्यात्मकस्वरूपाऽपरित्यागादेव। अस्य न ध्वसत्वप्रसङ्ग इत्यनेनान्वयः। पूर्विलतत्तत्क्षणरूपत्वेऽपि = पूर्ववर्तितत्तत्क्षणात्मकत्वेऽपि, द्वितीयक्षणस्याऽऽदिमक्षणरूपप्रागभावोपमर्दनात्मकत्वेन ध्वसत्वप्रसङ्ग । ततश्च नाऽऽदिमक्षणोन्मज्जनप्रसङ्ग इति शेषः। भावितार्थमेवेदमिति न पुनस्तन्यते। तृतीयक्षणे द्वितीयक्षणत्वेन रूपेण द्वितीयक्षणध्वसेऽपि प्रथमक्षणध्वसत्वेन रूपेण तदभाव इति भावः। एतेनाऽभावविरहात्मत्व वस्तुनःप्रतियोगितेत्युक्तावपि न क्षति', प्रथमक्षणध्वसत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसस्यैव प्रथमक्षणरूपत्वसम्भवात्।

ननु द्वितीयक्षणवर्तिन' प्रथमक्षणध्वसस्य तृतीयक्षणे ध्वसो भवति न वा? इति द्विपक्षीराक्षसी प्रत्यक्षीबोभवीति। प्रथमे प्रथमक्षणोन्मज्जन दुर्निवार, द्वितीये च क्षणभगभगेनाऽपसिद्धान्तादित्याशङ्कायामाह-प्रागभावोपमर्दनेनैव = प्रागभावसन्तानोपमर्दनेनैव, ध्वसात्मलाभात् = प्रथमक्षणध्वसध्वसोत्पादात् प्रथमक्षणध्वसत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसोत्पादादिति यावत्। प्रागभावश्च प्रकृते न प्रथमक्षणरूपो ग्राह्योऽपि तु प्रथमक्षणध्वसात्मक' प्रथमक्षणध्वसध्वसस्य प्रथमक्षणरूपस्येति तु ध्येयम्। अय भाव' ऋजुसूत्रनये पूर्वपर्यायाः सर्वेऽप्यनादिमततितया घटस्य प्रागभावास्तथापि प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव न तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिः, घटात् पूर्वक्षणानामशेषाणामपि तत्प्रागभावरूपाणा विरहे एव घटोत्पत्त्युपगमात्। प्रागनन्तरक्षणाऽनिवृत्तौ तदन्यतमक्षणनिवृत्ताविव सकलतत्प्रागभावनिवृत्त्यसिद्धेर्घटोत्पत्तिप्रसङ्गाऽसभवात्। एव प्रकृते द्वितीयक्षणवर्तिन' प्रथमक्षणध्वसस्य द्वितीयसमयवृत्तित्वेन तृतीयक्षणे नाशेऽपि प्रथमक्षणध्वसत्वेन ध्वसाभावात्, तृतीयक्षणवृत्तित्वेन प्रथमक्षणध्वसस्योत्पादात्। प्रागभावसन्तानरूप-सकलप्रथमक्षणध्वसस्यैव निवृत्तेर्विरहान्न तृतीयक्षणे प्रथमक्षणोन्मज्जन न वाऽपसिद्धान्त इति सूक्ष्मेक्षिकया भावनीयम्।

● रमणीया ●

शका:- ठीक है प्रध्वस की तो ऋजुसूत्रनय मे प्रसिद्धि हो गई-ऐसा मान लिया, मगर प्रागभाव की ऋजुसूत्र नय मे प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। इसका कारण यह है कि इस नय के अभिप्राय से अव्यवहित पूर्वक्षण=उपादान क्षण ही प्रागभाव है। पूर्वक्षणरूप प्रागभाव का नाश द्वितीयक्षणस्वरूप ही है। तृतीयक्षण मे द्वितीयक्षण का नाश होना तो इस नय के सिद्धात से न्यायप्राप्त हे तथा द्वितीय क्षण तो प्रथमक्षणरूप प्रागभाव के ध्वसरूप है। अत तृतीय क्षण मे प्रथमक्षणध्वसरूप से द्वितीय क्षण का ध्वस होगा। अर्थात् तृतीय क्षण मे प्रथमक्षणध्वस का ध्वस होने से प्रथमक्षणरूप प्रागभाव के पुनरुन्मज्जन की आपत्ति तो इस पक्ष मे जरुर आयेगी। यदि प्रथमक्षणध्वस का ध्वस न माना जाय तो प्रथमक्षणध्वस मे नित्यत्व की एव ऋजुसूत्र नय के 'सर्वं क्षणिक' सिद्धात का भङ्ग होने की आपत्ति वज्रलेप बनेगी। इस तरह 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' न्याय से ऋजुसूत्रनय का प्रागभाव विलुप्त हो जाएगा।

समाधान '- अत एव प्राग० इति। उस्ताद' अब पछताये होत क्या जब चिडियाँ चुग गई खेत' हमने पूर्व मे ही यह बता दिया है कि पूर्वक्षणध्वस का द्वितीयक्षणवृत्तित्वरूप से ध्वस होने पर भी पूर्वक्षणध्वसत्वेन ध्वस नहीं होता है किन्तु तृतीयक्षणवृत्तित्वरूप से पूर्वक्षणध्वस की उत्पत्ति होती है। तत् तत् क्षण भावान्तरपरिणाम का स्वीकार करने पर भी अभाव परिणाम का त्याग नहीं करती हे। अभाव परिणाम के सतान की धारा चलती है। अतएव पूर्ववर्ती तत् तत् क्षणरूप से प्रागभाव का स्वीकार करने पर भी प्रथमक्षणरूप प्रागभाव के ध्वसत्वरूप से द्वितीय क्षण के ध्वस की आपत्ति नही आयेगी। इसी सबब प्रथमक्षणरूप प्रागभाव के पुनरुन्मज्जन के प्रसग को भी अवकाश नहीं है। यद्यपि प्रथमक्षणध्वस का द्वितीयक्षणवृत्तित्व रूप से तृतीय क्षण मे नाश होता हे-यह ऋजुसूत्रनय का सिद्धात हे तथापि प्रथमक्षणध्वस के सतान का ध्वस ही प्रथमक्षणध्वसध्वसस्वरूप प्रथम क्षण का आपादक ह। प्रथमक्षणध्वस की, जो द्वितीयक्षणरूप है, प्रथमक्षणध्वसत्वेन जब निवृत्ति हो तभी प्रथमक्षणध्वससतान की निवृत्ति कही जा सकती है। जेसे मुद्गरादिपात के पूर्व मे घट का तत् तत् क्षणवृत्तित्व रूप से नाश होने पर भी घटक्षणरूप से जन्म होता रहता हे जिसे घटक्षणसतान कहते हैं। जब मुद्गरपात होता है तब घटक्षण का घटक्षणरूप से नाश होता हे ओर पुन घटक्षणरूप से नही किन्तु कपालक्षणरूप से उत्पत्ति होती है-यही घटसतानध्वस कहा जाता है। वैसे प्रस्तुत मे प्रथमक्षणध्वस का तत् तत् क्षणवृत्तित्वरूप से नाश होने पर भी जब तक अनन्तर क्षण मे प्रथमक्षणध्वसत्व रूप से नवीन जन्म होता रहे - यही प्रथमक्षणध्वससतान कहा जाता हे। जब प्रथमक्षणध्वस का प्रथमक्षणध्वसत्वरूप से नाश हो ओर पुन प्रथमक्षणध्वसत्वरूप से जन्म न हो तब प्रथमक्षणध्वस सतान की निवृत्ति कही जा सकती है। प्रथमक्षणध्वसरूप प्रागभाव के सतान की निवृत्ति से ही प्रथमक्षणरूप प्रथमक्षणध्वसध्वस का जन्म सम्भव है। मगर तृतीय क्षण मे तो प्रथमक्षणध्वसरूप द्वितीय क्षण की निवृत्ति होने पर भी तृतीयक्षणवृत्ति प्रथमक्षणध्वसरूप क्षण की उत्पत्ति होती ही हे। अत तृतीय क्षण मे प्रथमक्षण के पुनरुन्मज्जन का प्रसग ऋजुसूत्रनय के मत मे नही है।

व्यवहारनये तु घटोत्तरकालवर्त्ति मृदादिस्वद्रव्य घटप्रध्वसः। घटपूर्ववर्त्तिनि मृदादिस्वद्रव्यऽतिव्याप्तिवारणाय 'घटोत्तरकालवर्ती'ति। घटोत्तरकालवर्तिन्यपि मृदादिसतानातरे तद्वारणाय 'स्वे'ति। समनियतस्त्वभावस्त्वेक एवेति भावः।

★ जयलता ★

ऋजुसूत्रनयार्पणया प्रध्वसस्य पर्यायरूपतामुपपाद्य सप्रत व्यवहारनयार्पणया तस्य पर्यायरूपतामाह-व्यवहारनय इति। सग्रहनयगोचरीकृतानर्थान् विधाय न तु निषिध्य यः परामर्शविशेषस्तानेव विभजते स व्यवहारनय उच्यते। तदुक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके 'सग्रहेण गृहीतानामर्थाना विधिपूर्वकः। यो व्यवहारो विभागः स्याद् व्यवहारो नयः स्मृतः॥ (त श्लो पृ.२७१॥ तत्त्वार्थस्वोपज्ञभाष्ये तु 'लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः' (त भा १/३५) इत्युक्तम्। विस्तृतार्थत्वादस्य सदेहव्यवच्छेदकत्वम्। तदुक्तमन्यत्र-'वि नानार्थेऽव सदेहे हरण हार उच्यते। नानासदेहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः॥ (   )। प्रकृते तु ऋजुसूत्रनयाद् विशेषद्योतनार्थः तदेव दर्शयति-घटोत्तरेति। व्यक्तमेव।

ननु मृदादिस्वद्रव्य घटप्रध्वस इत्येवोच्यता घटोत्तरकालवर्त्तित्वविशेषणनिवेशेन किं? इत्याशङ्कायामाह-घटपूर्ववर्त्तिनीति। एतच्चोपलक्षण घटकालवर्त्तिनः। घटात्पूर्वकालवर्त्ति घटाकारविशिष्ट च वर्तमान मृदादिस्वद्रव्य घटप्रध्वसो न भवति। अतः तत्रातिप्रसङ्गनिवारणकृते घटोत्तरकालवर्त्तिविशेषणोपादानस्य न्याय्यत्वम्, व्यभिचारनिवारकविशेषणस्य सार्थकत्वात्। द्रव्यपद चात्रोपादानकारणपरमिति ध्येयम्।

ननु लाघवात् घटोत्तरकालवर्त्ति मृदादिद्रव्य इत्येवोच्यता, स्वग्रहणेनालमित्याशङ्कायामाह-घटोत्तरेति। घटोत्तरकालवर्त्ति सन्तानान्तर अविवक्षिताऽविच्छिन्नमृत्क्षणधारान्तररूप ऋजुसूत्रनयाभिमत मृदादिद्रव्यमपि विवक्षितस्य घटस्य प्रध्वसो मा भूत्। अतः स्वपदोपादान मृदादिद्रव्यस्य विशेषणविधया कृतम्। स्वपदप्रवेशे तु नातिव्याप्तिः, विवक्षितघटापेक्षया तादृशसन्तानान्तरस्याऽस्वद्रव्यत्वात्।

ननु घटोत्तरकाल प्रथमक्षणे यादृशस्य मृदादिस्वद्रव्यस्य सत्त्व द्वितीयक्षणे न तादृशस्यैव सत्त्वम्। न हि प्रथमक्षणविशिष्ट मृदादिस्वद्रव्यमिदानीमस्तीति तदानी कश्चित्प्रत्येति। तदानीन्तनस्य द्वितीयक्षणविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य विवक्षितघटापेक्षयाऽस्वद्रव्यत्वेन न तस्य विवक्षितघटप्रध्वसत्व स्यादित्यव्याप्तिकलङ्कितदुर्ललनासङ्गतिमालिन्यस्य स्वपदनिवेशेऽनिर्वालनीयत्व तदनिवेशे च सन्तानान्तरेऽतिव्याप्तिबुभुक्षितराक्षसीदुःसञ्चारपुरस्कृतत्वमित्युभयतः पाशारज्जुरिति यदि परो ब्रूयादिति मनसिकृत्याऽऽह-समनियताऽभावस्तु = एकसन्तानवर्त्यभावस्तु, एक एव = अभिन्न एव, न त्वतिरिक्त इति। अयमभिप्रायः एकस्मिन्नेव सन्ताने पराभिमते यावन्तः अभावाः ते सर्वे परस्परमभिन्ना एव घट-घटाभावाभावौ घटाभाव-घटाभावाभावाभावाविव वा व्यवहारनयेनोपगम्यन्ते। एवञ्चैकस्मिन् मृदादिद्रव्यसन्ताने तादात्म्येन वर्त्तमानस्य विवक्षितघटप्रध्वसस्य

● रमणीया ●

● व्यवहारनय से ध्वसस्वरूपविचार ●

व्यव० इति। ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से घटध्वस पर्यायस्वरूप है यह बताने के बाद व्यवहार नय के, जो कि द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है, अभिप्राय से 'घटध्वस द्रव्यस्वरूप हे' यह व्याख्याकार बता रहे है। व्यवहार नय की दृष्टि से घटोत्तरकालवृत्तित्वविशिष्ट मिट्टी आदि स्वद्रव्य ही घटप्रध्वस है। मुद्गरादि के सन्निधान के अनन्तर मिट्टीद्रव्य ही देखा जाता है, इसके अतिरिक्त घटध्वस नाम की कोई भी चीज नही देखी जाती। अतएव घटध्वस घटोत्तरकालवृत्ति मिट्टीरूप स्वद्रव्यात्मक ही हे। द्रव्यपद से यहाँ उपादान कारण अभिमत है। अत स्वोत्तरकालवृत्ति स्वोपादानकारण ही स्वध्वस है-यह फलित होता हे। यदि सिर्फ ऐसा ही कहा जाय कि मिट्टी आदि स्वद्रव्य ही घटध्वस है तब तो घटोत्पत्ति की पूर्व अवस्था मे जो मिट्टीरूप स्वद्रव्य (स्वोपादानकारण) हे वह भी घटध्वसरूप हो जाएगा जिसके फलस्वरूप घटोत्पाद के पूर्व मे ही 'घटो नष्ट' यह व्यवहार होने लगेगा। घटोत्पाद के पूर्व मे जो मिट्टीद्रव्य है वह घटध्वस न बन जाए, उसमे ध्वस के लक्षण की अतिव्याप्ति न आए इसीलिए 'सब मिट्टीरूप स्वद्रव्य घटध्वस हे' ऐसा नही कह कर 'घटोत्तरकालवृत्ति मिट्टीद्रव्य ही घटध्वसरूप हे' ऐसा कहा गया है। घटोत्तरकालीन मिट्टीद्रव्य को घटध्वस मानने पर घटोत्पाद के पूर्व मे जो मिट्टीद्रव्य है वह घटध्वस नही हो सकता, क्योकि वह मिट्टीद्रव्य होने पर भी घटोत्तरकालीन मिट्टीद्रव्य नही हे। यदि घटोत्तरकालीन मिट्टीद्रव्य घटध्वस-ऐसा कहा जाय तब तो सन्तानान्तर यानी दूसरे घट का कारणभूत मिट्टीद्रव्य, जिसमे अभी तक घट उत्पन्न हुआ नही है, अन्य घट की उत्पत्ति के अनन्तर काल मे घटध्वस हो जाएगा, क्योकि वह किसी अन्य घटोत्पादकाल के उत्तरवर्ती मिट्टीद्रव्य है। ऐसा न हो इसलिए 'मिट्टीद्रव्य' ऐसा न कह कर 'मृदादिस्वद्रव्य' ऐसा कहा गया हे। अर्थात् घटोत्तरकालीन मृदादिद्रव्य घटध्वस नही है किन्तु घटोत्तरकालीन मृदादि स्वद्रव्य घटध्वस हैं-ऐसा अभिप्रेत है। अब अन्य घट का कारणभूत मिट्टीद्रव्य विवक्षित घट के ध्वसरूप नही हो सकता। इसका कारण यह है कि अन्य घट का कारण जो मिट्टीद्रव्य है वह स्वद्रव्य अर्थात् विवक्षित घट का उपादानकारण नही है। अत विवक्षित घट के उत्तरकालीन होने पर भी वह स्वद्रव्य नही होने के सबब विवक्षित घटध्वस नही हो सकता। यहाँ अन्य मिट्टीद्रव्य विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावरूप है। अत विशिष्ट न होने से वह विवक्षित घटध्वस नही हो सकता है। इस नय की दृष्टि से समनियत अभाव एक ही होता है-यह तात्पर्य हे।

एतेन "कपालस्यैव घटध्वंसरूपत्वे घटप्रागभावकालेऽपि 'घटो नष्ट' इति प्रतीतिः स्यादि"ति दूषणमनवकाशं वेदितव्यम्, विशिष्टकपालस्य प्रागसत्त्वात्। विशिष्टाऽविशिष्टयोः कथञ्चित् भेदस्तु सुप्रतीत एव, क्षणभङ्गाद्यापत्तेः सर्वथा भेदपक्ष एव दूषकत्वात्।

★ जयलता ★

स्वसमानाधिकरणेभ्यः प्रथमक्षणादिविशिष्टमृदादिद्रव्यरूपेभ्यो द्वितीयादिक्षणविशिष्टमृदादिद्रव्यरूपेभ्यो नास्ति भेदः। एवञ्च द्रव्यार्थादेशेन द्वितीयक्षणविशिष्टमृदादिद्रव्यस्य प्रथमक्षणविशिष्टमृदादिद्रव्यस्य च विवक्षितप्रध्वंसत्वमक्षतमिति नाव्याप्तिसङ्गतिः। एतेन द्वितीयादिक्षणेषु घटस्य पुनरुन्मज्जनापत्तिः प्रत्युक्ता।

स्यादेतत्-घटोत्तरकालवर्तीत्यत्रोत्तरकालवृत्तित्वस्य प्रध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्वरूपत्वेन घटप्रध्वंसाधिकरणकालवृत्ति मृदादिस्वद्रव्यं घटप्रध्वंस इत्यर्थः प्राप्तः। विशेषणस्थित्यधीनत्वाद्विशिष्टस्थितेः घटध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्वविशिष्टस्वद्रव्यस्थितौ घटध्वंसापेक्षणात् स्थितावात्माश्रयदोषसर्पविषमविषरागविपावेगज्वालालिङ्गितत्वं प्रध्वंसस्य दुर्निवारम् विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानजनकत्वात्। एवञ्च घटप्रध्वंसविशेषणकुक्षौ घटप्रध्वंसनिवेशेन ज्ञप्तावात्माश्रयदोषाऽतुच्छशूलोन्मीलदुन्मादस्य न केनाऽप्यगदङ्कारेणोत्सारणीयत्वम्, विशेषणज्ञानाधीनत्वाद्विशिष्टज्ञानस्य, सत्यम्, उत्तरकालवृत्तित्वस्य परिचायकत्वमुपेयते न तु विशेषणत्वमतो न दोषः। परिचेयस्थितेः परिचायकाधीनत्वाभावात् 'काकवत् देवदत्तगृहमि'त्यादौ तथादर्शनात्। अत एव ज्ञप्तावपि आत्माश्रयदोषः प्रत्युक्तः स्वोत्तरकालवृत्तित्वसम्बन्धेन 'घटवद् मृदादिस्वद्रव्य' इति प्रतीतिविशेष्यस्यैव घटध्वंसत्वमभ्युपगमात् प्रध्वंसस्य सम्बन्धशरीरनिवेशे ज्ञप्तावात्माश्रयाभावात्, संसर्गभानार्थं पूर्वं तज्ज्ञानस्यानपेक्षणादिति निपुणतरं निभालनीयम्।

ननूत्तरकालवृत्तित्वस्योपलक्षणत्वोपगमे कपालरूपस्वद्रव्यस्यैव घटप्रध्वंसत्वं स्यात्। कपालात्मकस्वद्रव्यं तु घटोत्तरकाल इव घटपूर्वकालेऽपि विद्यत एव। ततो घटपूर्वकालवृत्तित्वविशिष्टकपालात्मकस्वद्रव्यरूपस्य घटप्रागभावस्य सत्त्वेऽपि 'घट प्रध्वस्त' इति प्रतीतिव्यवहारौ दुर्निवारौ, विशिष्टस्य शुद्धानतिरेकादित्याशयं निराकर्तुमुपक्रमते-एतेनेति। अस्य वेति दूषणमनवकाशं वेदितव्यमित्यनेनाऽन्वयः। कपालस्यैव=घटस्वद्रव्यभूतस्य समवायिकारणत्वेन पराभ्युपगतस्योपादानकारणत्वेन स्वाभिमतस्य, एवकारेणान्ययोगव्यवच्छेदः कृतः, घटध्वंसरूपत्वे अभ्युपगम्यमाने इति गम्यम्। घटप्रागभावकालेऽपि = कार्यरहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य कपालमृदादिद्रव्यस्य घटप्रागभावरूपस्य सत्त्वदशायामपि, 'घटो नष्ट' इति प्रतीति, उपलक्षणाद् व्यवहारश्च, स्यात् = प्रसज्येत, तदा घटध्वंसरूपतयाऽभिमतस्य कपालस्य सत्त्वाद् घटध्वंसप्रतीत्यादिप्रसङ्गो दुर्निवार इति परस्याशयः।

समाधत्ते-विशिष्टकपालस्य = घटोत्तरकालवर्तित्वविशिष्टस्य कपालात्मकस्वद्रव्यस्य, प्रागसत्त्वात् = घटोत्तरकालादर्वागसत्त्वात्। अयमाशयो घटप्रागभावकाले घटपूर्ववर्तित्वविशिष्टस्य कपालस्य सत्त्वेऽपि घटोत्तरकालवृत्तित्वविशिष्टस्य कपालस्य घटध्वंसत्वेनाऽभिमतस्याऽसत्त्वान्न तदानीं 'घटो नष्ट' इति प्रतीतिर्नाऽपि तादृशो व्यवहारः। न च विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति वाच्यम् यतो नितम्बदेशे पर्वते वह्निसत्त्वदशायां 'शिखरविशिष्टे पर्वते न वह्नि' इति धीर्विना विशिष्टातिरेकं न सुघटा स्यात्। न च विशिष्टभेदेऽनन्तपदार्थकल्पनागौरवमिति वाच्यम् परस्याऽपि विशिष्टनिरूपिताधिकरणताऽऽनन्त्यकल्पनेन तौल्यात्, सर्वथा भेदाऽनभ्युपगमाच्च। सर्वथाऽभेदे त्वेतत्कालवृत्तित्वस्य शुद्धघटे सत्त्वदशायां 'इदानीं पूर्वक्षणविशिष्टो घट' इति व्यवहारप्रामाण्यप्रसङ्गादित्याशयेनाऽऽह-विशिष्टाविशिष्टयो = घटोत्तरकालवर्तित्वविशिष्टाविशिष्टयोः कथञ्चिद्भेद = घटोत्तरकालवर्तित्वरूपेण न तु कपालत्वरूपेणाऽपि भेदः तु सुप्रतीत एव = आरोपं विना सहजत एव प्रतीतिविषयीभूतः, अयोगव्यवच्छेद

● रमणीया ●

शंकाः- कपालस्यैव० इति। यदि कपाल को ही घटध्वंसरूप माना जाय तब तो जब घट का प्रागभाव होता है अर्थात् जब घट उत्पन्न नहीं हुआ है तब भी कपालरूप घट का स्वद्रव्य = उपादानकारण, जो नैयायिक मत में समवायिकारणरूप से प्रसिद्ध है, तो विद्यमान होने के सबब 'घटो नष्ट' इत्याकारक प्रतीति होने की आपत्ति आएगी। अतः घटध्वंस को भावान्तर स्वरूप नहीं माना जा सकता किन्तु अभावस्वरूप ही मानना चाहिए।

समाधान :- विशि० इति। जनाब! अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत! हमने पूर्व में ही यह बता दिया है कि उपादानकारणमात्र उपादेय का ध्वंस नहीं है किन्तु उपादेयउत्तरवर्ती स्वउपादानकारण ही उपादेयध्वंसरूप है। भला! तब कैसे घटप्रागभावकाल में 'घटो नष्ट' यह प्रतीति हो सकती है? घटप्रागभावकाल में जो कपाल है वह घटपूर्वकालवर्ती है, घटोत्पत्ति के उत्तरकालीन नहीं है। घटोत्तरकालीन कपालात्मक स्वद्रव्य न होने की वजह से उस दशा में 'घटो नष्ट' यह प्रतीति या व्यवहार नहीं हो सकता है। घटोत्तरकालवर्ती कपाल और घटोत्तरकालीनत्व से शून्य कपाल सर्वथा परस्पर अभिन्न है-ऐसा तो कैसे कहा जा सकता है? दोनों में कुछ भेद अवश्य है यह तो अच्छी तरह से जाना जा सकता है। जलपूर्ण घट से जलरिक्त घट में कुछ भेद अवश्य है-यह मालुम नहीं है? ग्रामीण लोग भी यह अच्छी तरह जानते हैं। अतः घटोत्पाद के पूर्व में 'घटो नष्ट' इस प्रतीति या व्यवहार का कोई अवकाश नहीं है।

शंका :- घटोत्तरकालीन और घटपूर्वकालीन कपाल में भेद मानने पर तो बौद्धमतप्रवेश की आपत्ति का निराकरण कैसे हो सकेगा?

समाधानः- क्षणभङ्गाद्यापत्तेः० इति। वाह! उलटा चोर कोटवाल को डाँटे! हमने अभी बता दिया है कि घटोत्तरकालीन और घटपूर्वकालीन कपाल, इन दोनों में सर्वथा भेद नहीं है किन्तु कथंचित् भेद है। क्षणभंग आदि का प्रसंग तब उपस्थित होता यदि हम इन दोनों

न चैव दुःखध्वसस्याप्यात्मरूपत्वेनाऽजन्यत्वान्मोक्षस्याऽपुरुषार्थत्वापत्तिः, स्याद्वादिभिरात्मनोऽपि कथञ्चिज्जन्यत्वाभ्युपगमात्।

★ जयलता ★

एवकारार्थः।

एतेन मृद्द्रव्यस्यैव घटप्रागभावध्वसरूपत्वोपगमे घटप्रागभावदशाया तद्ध्वसव्यवहारः तद्ध्वसदशाया च तत्प्रागभावव्यवहारस्स्यादित्यापत्तिरपि प्रत्युक्ता घटपूर्वोत्तरकालवर्त्तित्वरूपेण भेदस्याऽपि जागरूकत्वात्। अनेन प्रत्यभिज्ञानमपि समाहित ज्ञेयमिति दिक्।

ननु घटपूर्वोत्तरकालवर्त्तिनोः कपालयोर्भेदाऽभ्युपगमे तु प्रथमाप्रथमक्षणवर्तिनोरपि घटयोर्भेदः स्वीकृत एव। तथा च द्वितीयादिक्षणेषु मुद्गराद्यसन्निधानेऽपि प्रथमादिक्षणवर्तिघटनाशप्रसङ्गे प्रतिक्षण क्षणभङ्गापातेन सुगतमतप्रवेशस्स्यादित्याशङ्कयामाह-क्षणभङ्गाद्यापत्तेरिति। अस्य च दूषकत्वादित्यनेनान्वयः। आदिशब्देन कृतनाशाकृताभ्युपगमप्रत्यभिज्ञानबाधार्थक्रियाकारित्वाभावादेर्ग्रहणम्। सर्वथा भेदपक्ष एव, न तु कथञ्चिद्भेदपक्षेऽपीति। अयमाशयः पूर्वोत्तरक्षणवर्तिकपालयोः यदि सर्वप्रकारेण भेद इष्येत तदा पूर्वक्षणवृत्तिकपालस्य सोपादानस्य ध्वसापातेन क्षणभङ्गापत्तिः स्यात्। पर कथञ्चित् = उत्तरक्षणवृत्तित्वरूपेण भेदोपगमे तदनापातेन न क्षणभङ्गप्रसङ्गः। एतेन कृतनाशाद्यापत्तिरपि प्रत्युक्तेति ध्येयम्।

शका निरसितु दर्शयति-न चेति। एव = अभावस्याऽधिकरणरूपत्वोगमे, दु खध्वसस्य = सर्वदुःखध्वसस्वरूपस्य मोक्षस्य, आत्मरूपत्वेन = आत्मानतिरेकेण, अपुरुषार्थत्वापत्ति =पुरुषाभिलाषाविषयत्वप्रसङ्ग इति। अय भावः प्रदर्शितरीत्या ध्वसस्य भावरूपत्वेनाऽधिकरणस्वरूपत्वाङ्गीकारे आत्यन्तिकसकलदु'खध्वसरूपस्य मोक्षस्याऽऽत्मरूपता स्यात्। आत्मा च न साध्यः किन्तु नित्यत्वात्सिद्ध एव। सिद्धार्थेऽभिलापविषयत्वासम्भवेनात्मस्वरूपस्य मोक्षत्वेनाऽभिमतस्य दुःखध्वसस्य पुरुषैरर्थ्यत्व न स्यादिति शकाशयः।

समाधत्ते-स्याद्वादिभि आत्मनोऽपि किमुतान्यस्येत्यपिशब्दार्थः कथञ्चित्=पर्यायरूपतया जन्यत्वाभ्युपगमात् = साध्यत्वोपगमात्। अयमाशयः द्रव्यार्थादेशेनाऽऽत्मनो नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थादेशेनाऽनित्यत्वम्, अन्यथार्थक्रियाकारित्वाद्यभावापत्तेः। तदुक्त नयचक्रसारे 'अनित्यताया अभावे ज्ञायकतादिशक्तेरभावः अर्थक्रियाऽसम्भवः' (न च सा पृ ७५) इति। अत आत्मन आत्मत्वाऽपेक्षयाऽजन्यत्वेऽपि मुक्तत्वरूपेण जन्यत्वोपगमात् स्याद्वादिना न मोक्षस्याऽसाध्यत्व येनाऽपुरुषार्थत्वापत्तिः।

यत्तु न्यायभूषणे भासर्वज्ञेन यद्यात्मादि वस्तु स्वेन पर्यायिरूपेण नित्य तदा वस्तुतस्तन्नित्यमेव। तत्र पर्यायाऽनित्यत्वेनाऽनित्यत्व कल्प्यमान गौणमेव स्यात्'' (न्या भू पृ ५६०) इत्युक्त, तन्न चारु पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदस्य पूर्वोत्तरतत्तेदन्तास्वभावभेदानुविद्धोर्ध्वतासामान्याभिधानाभेदविषयकेन प्रत्यभिज्ञाप्रमाणेन सिद्धस्य जागरूकत्वात्।

● रमणीया ●

मे सर्वथा भेद माने। उत्तरकालीनकपालत्वरूप से पूर्वकालीन कपाल उत्तरकालीन कपाल से भिन्न होते हुए भी कपालत्वरूप से तो अभिन्न ही है-ऐसा हम मानते है। जब कि क्षणिकवादी तो इन दोनो मे सर्वथा भेद का स्वीकार करता है। अतएव उस पक्ष मे अनेक दोष प्रवाहित होते है। कथचित् भेद पक्ष मे वे दोष प्रसक्त नही होते है।

नैयायिकः- न चैव दुःख० इति। ध्वस को अधिकरणस्वरूप मानना ठीक नही है। इसका कारण यह है कि तब मोक्षपुरुषार्थ ही इस दुनिया मे से विलीन हो जाएगा। देखिये, मोक्ष का अर्थ है सकल दु ख का आत्यन्तिक ध्वस। दु ख आत्मा मे उत्पन्न होता है। अत दु खध्वस भी आत्मा मे ही रहेगा। जिसकी उत्पत्ति जहाँ होती है वहाँ उसीका नाश होता है। अत दु ख के समवायिकारण आत्मा मे दु खध्वस रहेगा, जो कि आपके अभिप्राय से आत्मस्वरूप होता है, क्योकि अभाव अधिकरणस्वरूप है। मगर आत्मा तो नित्य है, सदा विद्यमान है, प्राप्त है। जो चीज प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए कोई प्रयास करता हो ऐसा नही देखा जाता। दूसरी बात यह है कि आत्मा नित्य होने से अजन्य है। किसी कारण से आत्मा की उत्पत्ति नही हो सकती, अन्यथा आत्मा अनित्य बन जायेगी। जब आत्मा नित्य है तब तो आत्मस्वरूप मोक्ष भी नित्य ही हो जाएगा। इस परिस्थिति मे मोक्ष असाध्य बनेगा। इसलिये मोक्ष के पुरुषार्थत्व की हानि होगी अर्थात् पुरुष के लिए वह अभिलाष का विषय नही रहेगा। वाह! सिर मुँडाते ही ओले पडे!

स्याद्वादी :- स्याद्वा० इति। इस तरह आप हमारी ऑखो मे धूल न झोक सकोगे। इसका कारण यह हे दु खध्वसरूप मोक्ष भी आत्मा का पर्याय हे। अत दु खाभावरूपपर्यायात्मना आत्मा मे भी जन्यत्व=साध्यत्व अभीष्ट हे। पर्याय तो जन्य हे। आत्मा मे पर्याय की अपेक्षा जन्यत्व और द्रव्य की अपेक्षा अजन्यत्व रह सकता है। इसमे कोई विरोध नही है। अत अभाव ओर अधिकरण के अभेद की सिद्धि मे प्रदर्शित आपत्ति बाधक नही हो सकती।

नैयायिक :- अथैव० इति। घटप्रध्वसरूप अभाव ओर कपालरूप अधिकरण मे अभेद मानने पर इन दोनो मे आधाराधेयभाव नही हो सकता, क्योकि अभिन्न पदार्थ मे आधाराधेयभाव की लोगो को प्रतीति नही होती है। जेसे 'कपाले कपाल' अर्थात् कपाल मे कपाल है'-ऐसी प्रतीति नही होती है, क्योकि यहाँ आधार ओर आधेय परस्पर अभिन्न हे, वैसे 'कपाले घटध्वस' अर्थात् कपाल

अथैव 'भूतले कपालकदम्बकमि'तिवद् 'भूतले घटध्वस' इत्येव प्रतीतिः स्यात्, न तु 'कपाले कपालमि'तिवत् 'कपाले घटध्वस' इति चेत्? न, प्रतीतिबलेन घटध्वसत्वविशिष्टाऽऽधारतावच्छेदकत्वस्य कपालत्वे स्वीकारादिति दिग्।

''प्रमाणार्पणात्तु द्रव्यपर्यायात्माऽसौ, 'कपालकदम्बकरूप मृद्द्रव्य घटध्वस' इति प्रतीतेर्युगपदुभयनयोन्मीलनेनोभयावगाहित्वात्'' इति स्याद्वादरत्नाकरमीमासामासलधियामास्वादसुन्दरो विचारः।

★ जयलता ★

पूर्वपक्षयति-अथेति। एव = स्वोत्तरवर्तिनः स्वद्रव्यस्यैव स्वध्वसत्वोपगमे, 'भूतले कपालकदम्बकमि'तिवत् = आधाराधेयभेदावगाहितादृशप्रतीतिवत् 'भूतले घटध्वस' इत्येव प्रतीति स्यात्, भेदान्वयेऽपेक्षितस्याधाराधेयभेदस्य सत्त्वात्। एवकारप्रयोजन दर्शयति-न तु कपाले कपालमितिवदिति। अय भाव· भेदान्वयबोधे आधाराधेययोर्भेदो हेतु· तदभावे सति भेदान्वयबोधो न भवति यथा 'कपाले कपाल' इतिस्थले तयोर्भेदाभावान्न भेदान्वयबोध· तथैव 'कपाले घटध्वस' इत्यत्राऽपि घटोत्तरवर्तिकपाल-घटध्वसयोरैक्यात्र तादृशो भेदान्वयबोधो भवितुमर्हति किन्तु 'भूतले घटध्वसः' इत्येव। न चेष्टापत्ति· कर्तुं युज्यते, 'कपाले घटध्वस' इति प्रतीत्यनुपपत्तेः। न चाभेदान्वयोऽस्त्विति वाच्यम् सप्तमीस्थलेऽभेदान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वात्। ततः प्रध्वसस्य न भावरूपत्वमिति अथाशय·।

उत्तरपक्षयति-नेति। प्रतीतिबलेन = 'कपाले घटध्वस' इति स्वरसवाहिप्रतीतिबलेन, हेत्वर्थे तृतीयाऽत्र, हेतुत्वस्यान्वयश्च स्वीकारे। घटध्वसत्वविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य = सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन घटध्वसत्वविशिष्टाया आधारताया अवच्छेदकत्वस्य, कपालत्वे स्वीकारात् = कपालत्वेऽभ्युपगमात्। अयमाशय· यथा परेषा 'घटध्वसे घटो नास्ती'ति प्रतीतिबलेन सिद्धो घटध्वसाधिकरणको घटात्यन्ताभावोऽपि लाघवाद् घटध्वसात्मकाधिकरणस्वरूप एव न त्वतिरिक्त· परतु 'घटध्वसे घटो ध्वस्तः' इत्यप्रत्ययात् घटध्वसस्य घटात्यन्ताभावत्वेन रूपेण स्वात्मनि सत्त्वेऽपि घटध्वसत्वेन तत्रासत्त्वम्। एवञ्च तयोरैक्येऽपि घटध्वसत्वे घटात्यन्ताभावत्वविशिष्टाधारताया अवच्छेदकत्व परैरुपगम्यते। तथैव प्रकृते पर्यायादेशात् घटध्वसस्याधिकरणादतिरिक्तत्वेऽपि द्रव्यार्थाऽऽदेशादनतिरेकिणो· कपालघटध्वसयोराधाराधेयभावस्य स्वीकारात्। 'कपाले कपालमि'त्यप्रत्ययात् कपालरूपस्य घटध्वसस्य कपालत्वेन रूपेण कपालेऽसत्त्वेऽपि 'कपाले घटध्वस·' इति सार्वजनीनप्रत्ययात् तस्य घटध्वसत्वेन रूपेण तत्र सत्त्वात् घटध्वसत्वविशिष्टाधारताया अवच्छेदकत्व कपालत्वे सङ्गतिमङ्गति, अन्यथा 'घटात्यन्ताभावे घटो नास्ती'त्यत्राऽभेदे परस्य विशेषणविशेष्यभावस्यानुपपत्तेः। न चैव घटध्वसे कपालमित्यपि कि न स्यादिति वाच्यम् बदरप्रतियोगिकसम्बन्धानुयोगिताया एव बदराधारताव्यवहारप्रयोजकत्ववत्प्रकृतेऽपि धर्मिताभिधानस्याऽऽधारतानियामकत्वादित्यादिसूचनार्थं दिगित्युक्तम्।

नयार्पणाद् ध्वसस्वरूपमुक्त्वा साम्प्रत प्रमाणार्पणात्तदाऽऽह प्रमाणार्पणात्तु = यथास्थितसकलनयसमूहरूपप्रमाणादेशात्, तुर्नयाऽपेक्षया विशेषद्योतने। तमेव द्योतयति द्रव्यपर्यायात्मा = उभयात्मक· असौ = प्रध्वसः। द्रव्यविशिष्टपर्यायः प्रध्वस इत्युक्तौ पर्यायविशिष्टद्रव्यस्याऽपि तत्त्वे विनिगमनाविरहप्रसङ्गात्प्रकारान्तररूप उभयात्मकोऽसावितिदर्शनार्थं द्रव्यपर्यायात्मेत्युक्तम्। हेतुमाह-कपालकदम्बकरूपमिति। अनेन प्रतीतेः

● रमणीया ●

मे घटध्वस है-ऐसी प्रतीति भी नही हो सकती, क्योकि कपालरूप आधार और घटध्वसरूप आधेय परस्पर अभिन्न है-ऐसा स्याद्वादी का सिद्धात है। हाँ, जैसे 'भूतले कपालकदम्बक' अर्थात् भूमि मे कपालावली है-ऐसी मति होती है, क्योकि यहाँ आधार और आधेय मे भेद है, ठीक वैसे ही 'भूतले घटध्वस' अर्थात् भूतल मे घटध्वस है-ऐसी प्रतीति हो सकती है, क्योकि कपाल की भाँति घटध्वस भी भूतल से भिन्न है। मगर 'कपाले घटध्वस' ऐसी जो प्रतीति होती है-इसकी उपपत्ति कथमपि नही हो सकती। अत कपाल और घटध्वस मे भेद मानना अर्थात् भावात्मक अधिकरण से अतिरिक्त अभाव का स्वीकार करना मुनासिब है।

स्याद्वादी· न प्रती० इति। वाह! रस्सी जल गयी पर बल न गया! 'कपाले घटध्वस' इस प्रतीति मे ही तो कपाल और घटध्वस में आधार-आधेयभाव की सिद्धि होती है तब भला इसका इन्कार केसे हो सकता? इकरार ही करना मुनासिब है। हाँ, यह ख्याल जरूरी है कि 'कपाले कपाल' ऐसी प्रतीति नही होने के सबब कपाल मे रहा हुआ कपालत्व कपालत्वविशिष्ट आधारता का अवच्छेदक नही हो सकता मगर 'कपाले घटध्वस' ऐसी प्रतीति होने के सबब आधारभूत कपाल मे रहा हुआ कपालत्व धर्म घटध्वसत्वविशिष्ट आधारता का अवच्छेदक हो सकता है। आशय यह है कि कपाल मे कपालात्मना घटध्वस नही रह सकता है किन्तु घटध्वसात्मना घटध्वस रह सकता है। कपालत्व को घटध्वसत्वविशिष्ट आधारता का अवच्छेदक मानने मे स्याद्वादी का यही आशय है। इसलिए 'घटे घट' इत्यादि आपत्ति का भी कोई अवकाश नहीं रहता है। इस विषय मे अधिक विचार भी किया जा सकता है। यह तो दिग्दर्शनमात्र है-इसकी सूचना देने के लिए दिग् शब्द का प्रयोग स्याद्वादरहस्यकार ने किया है।

● प्रमाण की अपेक्षा ध्वसस्वरूपविचार ●

प्रमाण० इति। नय की अपेक्षा ध्वस के स्वरूप का प्रदर्शन करने के पश्चात् महोपाध्यायजी महाराज प्रमाण की अपेक्षा उसका प्रदर्शन करते है। प्रमाण की अपेक्षा ध्वस न तो सिर्फ द्रव्यस्वरूप है और न तो सिर्फ पर्यायस्वरूप है किन्तु द्रव्यपर्याय उभयस्वरूप

केचित्तु कपालकदम्बकोत्पत्तिरेव घटप्रध्वसः। अत एव 'न भवो भगविहीणो भगो वा णत्थि सभवविहीणो। उप्पादो वि अ भगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण' ॥[१] (प्र सा अ २ गा ८) इत्यनेन सर्गस्थितिसहाराणा नान्तरियकत्व प्रतिपादितम्। कपालकदम्बकसर्ग एव हि घटसहारः, घटसहार एव च कपालकदम्बकसर्गः, तत्सर्गसहारावेव च मृदः स्थितिः, सैव च तत्सर्गसहारौ। भावस्य भावान्तराऽभावस्वभावेनाऽभावस्य च भावान्तरभावस्वभावेनाऽन्वयस्य व्यतिरेकमुखेन व्यतिरेकाणा

★ जयलता ★

पर्यायावगाहित्वमुक्तम्। मृद्द्रव्यमिति अनेन द्रव्यगोचरत्वमुक्तम्। क्रमशः तयोरवगाहने प्रतीतिद्वयापातेन नोभयात्मकत्व प्रध्वसस्य स्यादित्यत आह - युगपदुभयनयोन्मीलनेनोभयावगाहित्वादिति एकदैव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयसाहित्येन द्रव्यपर्यायगोचरत्वात्। स्वमनीषापरिजिहीर्षयाऽऽह स्याद्वादरत्नाकरमीमासामासलधियामिति स्याद्वादरत्नाकरगोचरविचारपूर्वकतत्त्वनिर्णयपरिपुष्टधिया, 'पूजितविचारो मीमासा' इति प्रमाणमीमासाया श्रीहेमसूरयो मीमासितवन्तः। प्रकृतविपये चोक्त स्याद्वादरत्नाकरे वादिदेवाचार्येण- ''प्रमाणार्पणाद्द्रव्यपर्यायात्मा ध्वसः। तथाहि- कपालपालिलक्षणपर्यायपरिकलित मृद्द्रव्य घटपर्यायाविष्टमृद्द्रव्यस्य प्रध्वस इति प्रामाणिकी प्रतीतिः सर्वैरप्यनुभूयमाना नापह्नोतु शक्यते। तदित्थ नयार्पणात्प्रमाणार्पणाच्च भावस्वभाव एव प्रध्वसाभावोऽपि प्रसिद्धिसौधमधितिष्ठति। तुच्छस्वभावत्वे तु प्रध्वसस्य मुद्गरादिव्यापारवैयर्थ्य स्यात्'' (स्या र ३/५८ सू) इत्यादि।

आशाम्बरमत वियोतयति-केचित्त्विति। कपालकदम्बकोत्पत्तिरेव घटप्रध्वस एवकारेण कपालकदम्बकस्य घटध्वसरूपत्वव्यवच्छेदः कृतः। अत एव = भावान्तरोत्पादस्यैव भावान्तरध्वसरूपत्वादेव। प्रवचनसारगाथामाह- 'न भवो' इति। सर्गस्थितिसहाराणा = उत्पादध्रौव्यव्ययाणा, नान्तरियकत्व = समकालीनत्व समव्याप्यत्व वा प्रतिपादित, कुन्दकुन्दार्येणेति शेपः। अमृतचन्द्रेणैतद्वृत्तावुक्तम् - ''न खलु सर्गः सहारमन्तरेण, न सहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव सहारः, य एव सहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसहाराविति। तथाहि - य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिडस्य सहारः भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनाऽवभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य सहारः स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनाऽवभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवाऽन्वयस्य प्रकाशनात्। येव च मृत्तिकाया· स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसहारौ व्यतिरेकाणामन्वयाऽनतिक्रमणात्'' (प्र सा अ वृ २८-पृ १२४) इत्यादि। 'कपालकदम्बकसर्ग एव हि घटसहार' इत्यत्रानुपदमेव वक्ष्यमाणः 'भावस्य भावान्तराभावस्वभावेन प्रकाशनादि'ति हेतुः अनुसन्धेयः। तत्राऽपि च 'अन्वयस्य व्यतिरेकमुखेन प्रकाशनादि'ति अनुसन्धेयम्। 'प्रकाशनादि'त्यस्य चानेकशोऽनेकत्र आवृत्तिः कार्या। एव सहारादावपि स्वय योजना कार्या। सर्गादयः परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव। अत्र प्रयोगा एव, सर्गः केवलो नास्ति तथानुपलब्धेः, सप्रतिपन्नवत्। एव स्थितिसहारौ केवलौ न स्तः तत एव तद्वत्। सापेक्षत्वात्

● रमणीया ●

है। मुद्गरादि का अभिघात होने के बाद सब लोग को यह प्रतीति होती है कि-'कपालावलिरूप मिट्टी द्रव्य घटध्वस है'। यह प्रतीति द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से समिलित होने के सबब एक साथ ही द्रव्य और पर्याय को अपना विषय बनाती हे। कपालावलि है मृद्द्रव्य का पर्याय और मिट्टी है पर्याय का आधारभूत द्रव्य। मौलिक दो नय से स्फुरायमान प्रमाणात्मक प्रदर्शित प्रतीति से ध्वस द्रव्य-पर्याय उभयस्वरूप सिद्ध होता है-यह तो स्याद्वादरत्नाकर की, जो कि महनीय वादिदेवसूरि से रचित यथार्थ महान् प्रमाणशास्त्र है, मीमासा से पुष्ट बनी हुई बुद्धि के अधिपतिओ का रसिक विचार हे।

● दिगबर आम्नाय से ध्वसस्वरूपविचार ●

केचित्तु० इति। विवरणकार महोपाध्यायजी महाराज अपने श्वेतावर आम्नाय के अनुसार नय और प्रमाण से ध्वसस्वरूप की मीमासा करने के पश्चात् अब दिगबर आम्नाय के अनुसार ध्वस के स्वरूप का प्रदर्शन कर रहे है। दिगम्बर मनीपियो का यह कहना है कि-घट का प्रध्वस कपालावलि की उत्पत्ति ही हे। इससे अतिरिक्त कोई घटध्वस पद का वाच्यार्थ नही है। इसीलिए प्रवचनसार ग्रथ मे उत्पाद-स्थिति और सहार का नान्तरीयकत्व बताया गया हे। कुदकुद आचार्य ने प्रवचनसार मे यह कहा है कि - 'कोई भी चीज की उत्पत्ति विनाश से रहित नही होती है। विनाश भी उत्पत्ति के विना नही हो सकता। ध्रौव्य के विना उत्पाद ओर विनाश नही हो सकते'। आशय यह है कि उत्तर पदार्थ का जन्म पूर्व पदार्थ के नाश के विना कथमपि सभव नही है। अत उत्तर पदार्थ की उत्पत्ति ही पूर्व पदार्थ का नाश है और पूर्व पदार्थ का नाश ही उत्तर पदार्थ की उत्पत्ति हे। उत्पत्ति और विनाश होते हुए भी वस्तु अपने मूलरूप मे सदा अवस्थित रहती है। मूल द्रव्य की स्थिति के विना उत्पाद और विनाश भी नही होते है। अत सर्ग-स्थिति-सहार परस्पर अभिन्न है। जेसे कपालावलि की उत्पत्ति ही घट का विनाश है, क्योकि भाव पदार्थ अन्य भावस्वरूप पदार्थ के अभावस्वरूप मे ज्ञात होता है। अत कपालावलि की उत्पत्ति को अन्य भावस्वरूप घट पदार्थ के अभावस्वरूप (विनाशस्वरूप) मानना न्यायसगत है। यहाँ अन्वय ही व्यतिरेकमुख से प्रकाशित होता है। कपालोत्पाद की सत्ता (अन्वय) घट के ध्वस (व्यतिरेक) द्वारा ज्ञात होती है। एव घट का सहार ही कपालावलि की उत्पत्ति है। वह घट सहार से

१-न भवो भगविहीनो भगो वा नास्ति सभवविहीन । उत्पादोऽपि च भगो, न विना ध्रौव्येणाऽर्थेन॥

चान्वयानतिक्रान्त्या प्रकाशनादित्याहु ।

स्यादेतत् - घटत्वेन घटध्वंसस्येवात्मत्वादिनाऽऽत्मादिध्वंसाभावादात्मादेरेकान्तनित्यत्वं स्यादिति। मैवम्, ध्वंसप्रतियोगित्वे

★ जयलता ★

समनियतत्वात्तेषामैक्यमिति नग्नाटाशयः।

अत्र हि कपालसर्गानन्तरसमये 'घटध्वंसवत्कपालमि'ति प्रतीतिर्न स्यात् तदानीं कपालसर्गाभावात्। तत्प्रतीत्युपगमे च तदैव 'कपालमुत्पन्नम्' इत्यवबोधस्य दुर्वारत्वापत्तेः। ऋजुसूत्रनयेन तदुपपादने प्रमाणानुपग्रहप्रसगात्। किञ्च, 'सर्गस्थितिसंहाराः परस्परं भिन्नाः अस्खलज्ज्ञानप्रतीतिविषयत्वात्, रूपरसादिवत्' इत्यनेन सत्प्रतिपक्षदुष्टचण्डालस्पर्शकलङ्कपङ्किलत्वं कथमपाकरिष्यते हेतुश्रोत्रियस्याऽशक्यप्रतिक्रियैः। न च गगनादौ सर्गसंहारप्रतीतिविशेषणीभूतास्खलितत्वेऽसिद्धताप्रोद्धतपामरीदुर्भगीभावस्य ऋभुविभुनाऽपि परिणेतुमशक्यत्वमिति वाच्यम्, कथंचित् क्षणिकत्वसाधनात्। तत एव घटादौ ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलितत्वं सिद्धं, सर्वथा क्षणिकत्वस्य पूर्वं निराकृतत्वात्। न च सर्गादीनां कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वोपगमे विरुद्धतादुर्भगभामिनीकलङ्ककालिमोल्लासः प्रादुर्भवत्येवेति वाच्यम्, तदात्मनो वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वात्, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात्। एतेन "यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदाऽन्यः सर्गोऽन्यः संहारोऽन्या स्थितिरित्यायाति। तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याऽभवने सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्, असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्। तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्याऽसंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात्। तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्" (प्र.सा.अ.टी. २/८पृ.१२४) इत्यमृतचन्द्रवचनं प्रत्युक्तम्, कुम्भसर्गस्यैव मृत्पिण्डसंहारत्वोपगमे तत्कारणत्वं मृत्पिण्डसंहारस्य न स्यात्, स्वस्य स्वकारणत्वोपगमे तूत्पत्तावात्माश्रयदोषदाम्भ्यप्राकट्यस्य बृहस्पतिनाऽपि प्रणाशयितुमशक्यत्वात्। न हि पटुरपि नटबटुः स्वस्कन्धमारोढुं शक्तः, अन्यथा सुतीक्ष्णाऽसिधारा स्वमेव प्रथमं छिन्द्यादित्यादिकं परिभाव्य स्वकीयाऽस्वरसप्रदर्शनं 'माहुरि'त्येन प्रकरणकृता कृतमिति विभावयामि। तन्त्वं पुनर्बहुश्रुतेभ्योऽवगन्तव्यम्।

ननु स्याद्वादिभिरात्मत्वेनाऽऽत्मध्वंस उपेयते न वा? इति कल्पनोभयी लोकालोकद्वयं पवित्रयन्ती त्रौकतेऽत्र। तत्र नाऽऽद्या हृद्या, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। नाऽपि द्वितीया, अनेकान्तवादोच्छेदप्रसङ्गादित्याशयेनोपतिष्ठते स्यादेतदिति। आत्मत्वादिनेति। आदिपदेन द्रव्यत्व-गगनत्वादेर्ग्रहणम्। आत्मादिध्वंसाभावादिति। आदिपदेन गगनादेः परिग्रहः। एकान्तनित्यत्वं स्यात् = अनित्यत्वव्यधिकरणनित्यत्वं भवेत्। अयं भावः घटपदप्रवृत्तिनिमित्तीभूतघटत्वेन घटध्वंसः न तु द्रव्यत्वेनेतिरीत्या यथा स्याद्वादिभिरनित्यत्वेन परामिमते घटे नित्यत्वमभिन्नानित्यत्वं साध्यते तथाऽऽत्मादौ न युज्यते आत्मादिपदप्रवृत्तिनिमित्तीभूतात्मत्वादिनाऽऽत्मादिध्वंसस्य विरहात्। तथा चात्मादौ नित्यत्वमनित्यत्वव्यधिकरणं स्यादित्येकान्तनित्यत्ववादापात इति पूर्वपक्षाशयः।

● रमणीया ●

अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि अभाव भावान्तर की विद्यमानतारूप से ज्ञात होता है। यहाँ व्यतिरेक ही अन्वय द्वारा उपलब्ध होता अर्थात् घटध्वंस ही कपालोत्पादरूप से ज्ञान होता है। कपालोत्पाद के बिना घटध्वंस का भान नहीं होता है। एवं कपाल का जन्म और घट का विनाश ही मिट्टी द्रव्य की स्थिति है, क्योंकि इन दो अवस्था में मिट्टी ज्यों कि त्यों उपलब्ध होती है। मिट्टी द्रव्य की स्थितिरूप से ही सर्ग और संहार तथा सर्ग और संहाररूप से ही स्थिति होती है। अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परस्पर अभिन्न है, अतिरिक्त नहीं है। यह दिगंबर आम्नाय में होनेवाले अमृतचन्द्र का मत है, न कि श्वेतांबर आम्नाय का-यह ख्याल में रखना आवश्यक है। इस विषय में विशेष जिज्ञासु पाठक जयलता पर अपनी निगाह डाल सकते हैं।

नैयायिक :- स्यादेतत्० इति। घटत्वरूप से घट अनित्य है और मृत्त्वरूप से नित्य है। अतः घट में नित्यत्व और अनित्यत्व है-ऐसा आपने जो बताया है वह आत्मा आदि में सुसंगत नहीं है। इसका कारण यह है कि आत्मत्वरूप से आत्मा कभी नष्ट नहीं होती है। आत्मा का अनात्मा होना स्याद्वादी को भी मान्य नहीं है। आत्मस्वरूप से आत्मा के नाश का होना जैन मत में भी अमान्य होने के सबब आत्मा आत्मत्वरूप से नित्य हो जायेगी। द्रव्यत्व आदि रूप से तो आत्मा का नाश नामुमकिन ही है। अतः आत्मा में एकान्तनित्यत्व का स्वीकार स्याद्वादी को अनिच्छा से भी करना पड़ेगा। एक भी स्थल में एकान्तनित्यत्व की प्रसिद्धि हो गई तब तो हमारा ही विजय है और स्याद्वादी का पराजय। क्या यह हो सकता है?

स्याद्वादी :- मैवं० इति। यह नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा में ध्वंसप्रतियोगिता और ध्वंसप्रतियोगित्व का अभाव, दोनों का समावेश होने से एकान्त नित्यत्व नौ-दो-ग्यारह हो जाता है। ध्वंसप्रतियोगिता जैसे घट में है ठीक वैसे ही आत्मा में है। मगर विशेषता इतनी ही है कि घट का नाश घटत्वरूप से, जो घटपदप्रवृत्तिनिमित्त है, होता है जब कि आत्मा का नाश आत्मत्वरूप से, जो कि आत्मा पद का प्रवृत्तिनिमित्त है, नहीं होता है। फिर भी आत्मा का मनुष्यत्व आदि रूप से नाश होने के सबब आत्मा में ध्वंस की प्रतियोगिता तो रहती ही है। आशय यह है कि 'आत्मा मर गई' ऐसी न तो अभ्रान्त प्रतीति होती है और न तो ऐसा व्यवहार होता है। अतः आत्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक ध्वंस को मान्यता नहीं दी जा सकती। परंतु 'मनुष्य मर गया', 'चैत्र

सति ध्वसाऽप्रतियोगित्वेनैवैकातत्वाऽपायात्। इयास्तु विशेषो यदात्मत्वादिनाऽऽत्मादेर्नित्यत्व तद्भावाऽव्ययत्वात्, घटत्वादिना घटस्य तु नेति। मनुष्यत्वादिना त्वात्मादेरपि ध्वसोऽनिवारित एवेति तत्त्वम्।

ननु तद्भावेन व्ययश्चेत्प्रसिद्धस्तदा तदभावरूप नित्यत्वमात्मत्वादिनाऽऽत्मादौ सभवेत्, स एव गगनारविन्दसोदर एवेति

★ जयलता ★

समाधत्ते-मेवमिति। एकान्तत्वाऽपायात् = एकान्तनित्यत्वविरहात्। अय भावः एकान्तनित्यपक्षे आत्मादौ सर्वथा ध्वसाप्रतियोगित्वरूप कूटस्थनित्यत्वमभिमत परन्तु प्रकृते आत्मादौ ध्वसप्रतियोगित्वे सति ध्वसाऽप्रतियोगित्वस्य सत्त्वान्नानेकान्तवादस्याऽव्यापकत्व न वैकान्तवादस्य प्रसरः। घटात्मनोर्विशेष दर्शयति- इयास्त्विति। तद्भावाऽव्ययत्वात् = तस्य = आत्मनो भावस्य = आत्मत्वरूपस्य परिणामस्य अव्ययत्वात् = अविनाशित्वात्। घटत्वादिनेति आदिशब्देन कबुग्रीवत्वादिग्रहण, घटस्य तु नेति = न नित्यत्व, तद्भावाऽव्ययत्वविरहात्, 'घटत्वेन घटो विनष्ट' इत्यादिप्रतीतेः। एतेन घटादयोऽनित्या आत्मगगनादयो नित्या इति प्रवादोऽपि व्याख्यात । व्यावहारिकनित्यतालक्षणे समुदयविभागरूपस्यैव व्ययस्य प्रवेश्यत्वादिति दिक्।

तर्हि केन रूपेणाऽऽत्मादौ ध्वसप्रतियोगित्व प्रसिद्ध येनैकान्तनित्यत्वक्षतिः स्यादित्याशङ्कायामाह - मनुष्यत्वादिनेति। आदिशब्देन बालत्वादिघटावच्छिन्नत्वादिपरिग्रहः। आत्मादेरपि। आदिशब्देन गगनादेर्ग्रहण। ध्वसोऽनिवारित एवेति। ध्वसप्रतियोगित्वमनिवारितमेवेति। अय भावः 'देवोऽयमात्मा मनुष्य आसीदि'त्यादिप्रतीतेः मनुष्यत्वाद्यवच्छिन्नध्वसप्रतियोगित्वस्यात्मत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगित्वाभावस्य चाऽऽत्मनि सत्त्वान्नात्मन एकान्तनित्यत्वमिति।

अथ यादृश हि वस्तु क्वचित् प्रसिद्ध तादृशमेवान्यत्र विधीयते निषिध्यते वा न तु सर्वथाऽप्रसिद्धम्, 'असओ नत्थि निसेहो' [वि भा १५७४] इति विशेषावश्यकमहाभाष्यवचनात्। आत्मत्वादिनाऽऽत्मप्रतियोगिकध्वसस्यैवाऽप्रसिद्धौ तदभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्। आत्मत्वादिना आत्मप्रतियोगि- कध्वसस्य प्रसिद्धौ तु तदवच्छिन्नध्वसप्रतियोगिताया एवात्मनि सत्त्वात् न तस्य ध्वसप्रतियोगित्वे सति ध्वसाऽप्रतियोगित्व स्यात्। अत एव आत्मत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगित्वाभावस्याऽऽत्मनि सत्वान्नात्मन एकान्तनित्यत्वमित्यनुपदमेवोक्त प्रत्युक्तम्, सिद्ध्यसिद्धिभ्या व्याघातादित्यशक्तोऽह गृहारम्भे, शक्तोऽह गृहभञ्जने इति न्यायात् शकते - नन्विति। तद्भावेनेति। प्रकृते आत्मत्वादिना परिणामेन, व्यय = ध्वसः। सभवेत्, तदभावस्य प्रसिद्धप्रतियोगिताकत्वादिति आक्षेपलभ्यम्। स एव = आत्मत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वस एव। गगनारविन्दसोदर सर्वथाऽप्रसिद्धः तुच्छ इति यावत्।

● रमणीया ●

मृत्युशय्या पर लेट गया' इत्यादि प्रतीति और व्यवहार होने की वजह मनुष्यत्वादिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक आत्मध्वस को तो मान्य करना ही पडता हे। अत आत्मस्वरूप से ध्वसप्रतियोगित्व का अभाव और मनुष्यत्वादिरूप से ध्वसप्रतियोगित्व एक ही आत्मा मे रहने से सर्वथा ध्वसप्रतियोगित्वराहित्यस्वरूप एकान्त नित्यत्व पलायन हो जाता हे। अक्ल वडी या भैस?

नैयायिक :- ननु तद्भा० इति। आपने जो कहा है कि 'आत्मा मे आत्मत्वरूप से ध्वस की अप्रतियोगिता है अर्थात् आत्मत्वरूप से आत्मा का अव्यय = अविनाश है' यह ठीक नही है, क्योंकि आत्मत्वरूप से आत्मा का ध्वस ही अप्रसिद्ध है। जो चीज कहॉ भी प्रसिद्ध हो, तव तो उसका अन्यत्र निपेध हो सकता है मगर जो सारे जहॉ मे कहॉ भी नही है उसका निपेध नही किया जा सकता, क्योंकि निपेध्य की प्रसिद्धि (= ज्ञान) निपेध करने मे जरूरी होती है। जो चैत्र को नही जानता वह 'मेले मे चैत्र नही था' यह कैसे कह सकता है? प्रस्तुत मे हमारा आशय यह है कि 'तद्भावाव्ययत्व नित्यत्व' ऐसा जैन को अभिमत है। मगर तद्भाव से अर्थात् अपने मूलरूप से व्यय ही जेन मत मे अप्रसिद्ध है तव तद्भाव के व्यय का निपेध करना और उसे नित्यत्वरूप मानना कैसे सगत हो सकता है? ऐसी परिस्थिति मे आत्मत्वरूप से आत्मा मे ध्वस का निपेध कैसे हो सकता है? आत्मत्वरूप से आत्मध्वस तो गगनकमल की भॉति अप्रसिद्ध है। हमारे पक्ष मे भले ही दोप हो, मगर आप का पक्ष भी कहॉ निर्दोप हे?

स्याद्वादी :- न ध्व० इति। आप तो पूरे अक्ल के दुश्मन लगते है। तद्भावाव्ययत्वरूप नित्यत्व का तात्त्विक अर्थ हम क्या मानते हे? इसको जाने विना ही आप हल्ला कर रहे हे! हम यह मानते है कि तद्भावाव्ययत्वरूप नित्यत्व का अर्थ हे- ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्व अर्थात् ध्वस की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्म का होना ही किसी भी चीज की नित्यता हे। आत्मा का ध्वस आत्मस्वरूप से नही होता हे। अत आत्मत्व धर्म आत्मप्रतियोगिकध्वस की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक है। ध्वसप्रतियोगिता के अनवच्छेदक आत्मत्व आदि धर्म का आत्मा मे होना ही आत्मा का नित्यत्व है। अत हमारे पक्ष मे अप्रसिद्धि का दोपारोपण करना आप की अक्ल का प्रदर्शन है। आसमान पर थूका अपने सिर!

चेत्? न, ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तदर्थत्वात्। न चैव कम्बुग्रीवादिमत्वेन घटस्य नित्यत्व स्यादिति वाच्यम् गुरुधर्मस्याऽपि प्रतीतिवलादवच्छेदकत्वस्वीकारात्। ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक यद्धर्मवन्निष्ठाऽत्यताभावप्रतियोगितानवच्छेदक

★ जयलता ★

समाधत्ते-नेति। ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्यैव तदर्थत्वात् = तद्भावाऽव्ययत्वपदवाच्यत्वात्। अय भाव आत्मत्वाद्यवच्छिन्नध्वसप्रतियोगिताया अप्रसिद्धत्वेऽपि घटत्वादौ प्रसिद्धस्य ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्यात्यन्ताभावो ह्यात्मत्वादौ वक्तु युज्यत एव। एव ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकस्याऽऽत्मत्वादेरात्मादौ सत्त्वाऽभ्युपगमे न किञ्चिद्बाधकमस्ति। तथा च ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदकरूपयोः मनुष्यत्वाद्यात्मत्वादिनोः सामानाधिकरण्यान्नैकान्तनित्यत्वमात्मादेः, 'ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकसमानाधिकरण न वा?' इत्यत्र विप्रतिपत्तेः तात्पर्यात्।

वस्तुतस्तु प्रकारताद्याख्यविषयतायामात्मत्वावच्छिन्नत्वस्य प्रसिद्धत्वेन तदभावस्य मनुष्यत्वाद्यवच्छिन्नात्मवृत्तिप्रतियोगितानिरूपकध्वसीयप्रतियोगिताया प्रतिपादने खडश॰ प्रसिद्ध्या आत्मत्वावच्छिन्नत्वशून्यप्रतियोगित्वरूपस्य आत्मत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोगित्वाभावस्यात्मादावुपगमे दोपलेशगधोऽपि नास्ति। एवमपि ध्वसप्रतियोगिताऽभावसमानाधिकरणध्वसप्रतियोगित्वस्यात्मादौ सत्त्वेनैकान्तनित्यत्वव्याहतिरित्यस्मदीयाभिनवोन्मेपशालिप्रज्ञोत्रीतोऽय पन्था विभाव्यता स्वभ्यस्ततर्कग्रन्थैः।

विद्वासो यदि मम दोपमुद्गिरेयुः यद्वा ते गुणगणमेव कीर्तयेयुः।
तुल्य तद् वहु मनुते मनो मदीय, कष्ट तद्वत मनुते यदाह मन्दः ॥ (प्रहर्षिणी)

ननु तद्भावाव्ययत्वपदवाच्यत्वेन ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्य सावच्छिन्नत्वेन च ध्वसप्रतियोगिताया॰ स्वीकारे घटस्य घटत्वेनेवाऽनित्यत्व स्यात् न तु कम्बुग्रीवादिमत्त्वेन, सभवति लघौ गुराववच्छेदकत्वाङ्गीकारस्याऽन्याय्यत्वादिति शङ्का निराकर्तुं दर्शयति - न चेति। एव = ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वस्य तद्भावाव्ययत्वपदप्रतिपाद्यत्वोपगमे, कम्बुग्रीवादिमत्त्वेन घटस्य नित्यत्व स्यात्, ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकीभूतकम्बुग्रीवादिमत्त्वरूपस्य सत्त्वात्, यद्रूप ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदक तेन रूपेण प्रतियोगिनो नित्यत्व यच्च ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक तेन रूपेण प्रतियोगिनोऽनित्यत्वमिति स्याद्वादिभिरङ्गीकारादिति परस्याशयः।

समाधत्ते - गुरुधर्मस्याऽपि, किमुत लघुधर्मस्येत्यपिशब्दार्थः, प्रतीतिवलादिति हेतुनिर्देश॰, अवच्छेदकत्वस्वीकारात्, स्याद्वादिभिरिति शेप॰। अय भावः, यथा घटादो अनेकगुणसत्त्वे गौरवमिति गौरवज्ञानसत्त्वेऽपि चक्षु.सन्निकर्षबलाद् घटादावनेकगुणसाक्षात्कारोदयेन गौरवज्ञानस्य न तादृशज्ञानविरोधित्व तया प्रकृतेऽपि कम्बुग्रीवादिमत्त्वादो घटत्वाद्यपेक्षया गौरवज्ञानसत्त्वेऽपि 'कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति', 'कम्बुग्रीवादिमद्वान् देशः', 'देशे कम्बुग्रीवादिमान्', 'अत्र कम्बुग्रीवादिमत्त्व' इत्यादिप्रतियोगिताप्रकारता-विशेष्यतायवच्छेदकत्वविषयकस्वरसवाहिप्रतीतेरुदयेन गौरवज्ञानस्य नैतादृशज्ञानविरोधित्वम्। तथा च व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य आवश्यकतया गौरवज्ञानस्य प्रतियोगितायवच्छेदकत्वज्ञानविरोधित्वाभावे गौरवे प्रतियोगितायवच्छेदकत्वविरोधित्वासिद्ध्या गुरुधर्मस्याऽवच्छेदकत्व प्रतीतिबलायात न सुरगुरुणाऽपि प्रत्याख्यातु शक्यम्। तदभावप्रत्यक्ष प्रति

● रमणीया ●

नैयायिक :- न चैव कम्बु॰ इति। यदि तद्भावाव्ययत्व का अर्थ ध्वस की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्म का होना - ऐसा माना जाय तव तो घट भी कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूप से नित्य ही हो जायेगा। इसका कारण यह है कि घटत्व धर्म की अपेक्षा कम्बुग्रीवादिमत्त्व गुरुभूत धर्म है। लघु धर्म का सभव हो, उस स्थल मे गुरुधर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता नहीं है। अत घटनिष्ठ ध्वसप्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म घटत्व हो सकता है, कम्बुग्रीवादिमत्त्व नही। ध्वस की प्रतियोगिता का अनवच्छेदकीभूत कम्बुग्रीवादिमत्त्व धर्म घट मे होने से घट कम्बुग्रीवादिमत्त्व धर्म की अपेक्षा नित्य हो जाएगा।

स्याद्वादी :- गुरु॰ इति। उस्ताद ! रुपया परखे वार वार, आदमी परखे एक वार। वस, आप की परीक्षा हो गई। आपको किसने यह शिक्षा दी है कि 'गुरुधर्म अवच्छेदक नही होता है'? हमे यह वात मान्य नही है। हम तो यह घोषणा करते है कि - गुरु धर्म भी प्रतीति के वल से अवच्छेदक होता है। देखिये, 'भूतले कम्बुग्रीवादिमान् अस्ति' इस बुद्धि मे कम्बुग्रीवादिमत्त्व का विशेष्यतावच्छेदकविधया भान होता है। 'भूतल कम्बुग्रीवादिमत्' इस प्रतीति मे कम्बुग्रीवादिमत्त्व का प्रकारतावच्छेदकविधया भान होता है। वेसे 'कम्बुग्रीवादिमान् नष्ट' इस प्रतीति के वल से ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकविधया कम्बुग्रीवादिमत्त्व का ही भान होता है। अपनी प्रतीति के वल से कम्बुग्रीवादिमत्त्व मे आये हुए अवच्छेदकत्व का सन्मान करना चाहिए, तिरस्कार नही। घटत्व की भाँति कम्बुग्रीवादिमत्त्व धर्म भी ध्वसप्रतियोगिता का अवच्छेदक होने से घटत्व की तरह कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूप धर्म की अपेक्षा से भी घट अनित्य ही होगा, नित्य नही। अव तो ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ न?

[तद्भावाव्ययत्व के अन्य अर्थ का प्रदर्शन एव निरसन]

ध्वसप्र इति। तद्भावाव्ययत्व का अर्थ ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्व है यह वताने के वाद महोपाध्यायजी महाराजा उसका दूसरा सभवित अर्थ वताते हे कि - यद्धर्मविशिष्ट मे रहनेवाले अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक यदि ध्वसप्रतियोगिता का अवच्छेदक न वने तो उस धर्म से अन्य धर्म का होना ही प्रतियोगि का नित्यत्व है। जेसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व आदि धर्म से विशिष्ट घट में रहनेवाले पटभेद आदि की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म घटत्व, जो कि घटध्वस की प्रतियोगिता का अवच्छेदक है, नही होता है। अत कम्बुग्रीवादिमत्त्व आदि धर्म से अन्य द्रव्यत्व-मृत्त्व आदि धर्म का घट मे होना ही घट का नित्यत्व है। द्रव्यत्व आदि धर्म से ही घट मे नित्यत्व रहता है।

तदन्यधर्मवत्त्वस्य तदर्थत्वे तु ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकताद्दशमनुष्यत्वादेरात्मत्वादिमन्निष्ठात्यताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेनाऽऽत्मत्वादि-

★ जयलता ★

तदभावप्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वात् 'कम्वुग्रीवादिमान् ने'ति प्रत्यक्षानापत्तेः।

यत्तु 'क्वचिदप्रकारीभूतधर्मेऽपि-यथा कम्वुग्रीवादिमदभावप्रतियोगितावच्छेदकता घटत्वे' इति ज्वालाप्रसादगौडेनोक्त तन्मन्दम्, प्रतियोग्यशे प्रकारीभूतधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वनियमात्। विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्नाया एव प्रतियोगिताया अभावे प्रतियोगिनः सबधतया भानात्, अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्यवुद्धित्वानुपपत्तेः। 'कम्वुग्रीवादिमान्नास्ती'त्यादिप्रतीतेः तत्प्रतियोगिकाभावमात्रावलम्वनत्वोपगमे एकघटवत्यपि यत्किञ्चित् कम्वुग्रीवादिमद्व्यक्तेरभावसत्त्वात्तत्राऽपि ताद्दशप्रतीतिः प्रमाण स्यात्। इत्थ च ताद्दशप्रतीतेः यत्किञ्चित्कम्वुग्रीवादिमत्प्रतियोगिकाभावमात्र न विषयः परन्तु कम्वुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव विषयः। अत एव एकघटवति भूतले कम्वुग्रीवादिमान्नास्तीति शब्दो न प्रमाण, प्रमाण च घटसामान्यशून्ये। एवञ्च 'कम्वुग्रीवादिमत्त्वेनाऽऽसीदि'त्यनुभववलेन कम्वुग्रीवादिमत्त्वस्य ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वसिद्ध्या न कम्वुग्रीवादिमत्त्वरूपेण प्रतियोगिनो घटस्य नित्यत्व सिद्धम्। गुरोनवच्छेदकत्वे 'प्रमेयवह्निमान्'इत्यादो लघुरूपसमनियतगुरुरूपेण साध्यतायामव्याप्तिर्दुर्वारा स्यात्।

प्रकृते प्रतीतेर्वल अवच्छेदकत्वावगाहित्वम्। यथा घटत्वेऽभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वग्राहकमान 'घटो नास्ती'ति प्रतीतौ अवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस-म्वन्धेन घटत्वस्याभावाशे भानमेव, ताद्दशभानाद् घटत्वेऽभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वसिद्धिः तथैव 'कम्वुग्रीवादिमान् ध्वस्तः' इति प्रतीतावपि ध्वसाशेऽवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसबन्धेन कम्वुग्रीवादिमत्त्वस्यैव भान न तु घटत्वस्य। तथा च तद्ग्राहकमानस्य सत्त्वात्कवुग्रीवादिमत्त्वेऽपि ससर्गाभावप्रतियोगितायवच्छेदकत्वस्य सिद्धिरिति दिक्।

स्वाभिप्रायेण तद्भावाव्ययत्व ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वात्मकमुक्त्वा सभाव्यमानमन्यदपि तन्निर्वचन दूषयितुमुपन्यस्यति-ध्वसप्रतियोगितेति। 'यद्धर्मवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकमि'त्यत्र 'यद्धर्मवन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकमि'ति सुसगच्छते। तदर्थत्वे = तद्भावाव्ययत्वपदार्थत्वे-ऽभ्युपगम्यमान इति शेषः। प्रकृतनिर्वचनभावनैव ज्ञेया, यद्धर्मवन्निष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकीभूत ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक तद्धर्मान्यधर्मवत्त्व तद्भावाव्ययत्वरूप नित्यत्वम्। यत्पदेन कम्वुग्रीवादिमत्त्वादेर्ग्रह', तदन्यधर्मपदेन द्रव्यत्वादे' परिग्रहः यथा कम्वुग्रीवादिमत्त्वविशिष्टवृत्तिपटादिप्रतियोगिका-न्योन्याभाव-प्रतियोगितानवच्छेदकीभूत ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक घटत्व तदन्यद्रव्यत्वादिमत्त्वमेव घटादेर्नित्यत्वम्। अय भावः घटे घटत्व-कम्वुग्रीवादिमत्त्वा-दिद्रव्यत्व-सत्त्वादयोऽनेके धर्माः सन्ति घटत्वकम्वुग्रीवादिमत्त्वविशिष्टे 'नाय घट' इति प्रतीतेनुदयाद् घटभेदो नास्ति परतु पटादिभेदाः सन्ति। ताद्दशान्योन्याभावीयप्रतियोगितावच्छेदक पटत्वादि न तु घटत्व। अतः घटत्व-कम्वुग्रीवादिमत्त्वभिन्ना मृत्त्व-द्रव्यत्वादयः तदन्यधर्मपदेनाऽत्राऽभिमताः। ताद्दशमृत्त्वादिधर्मवत्त्वमेव घटस्य नित्यत्वम्। प्रकृतनिर्वचने यत्पदेन मृत्त्व-द्रव्यत्वादिग्रहण न सभवति। मृत्त्वादिविशिष्टे शरावादौ 'नाय घट' इत्यवाधितप्रत्ययोदयेन मृत्त्वादिधर्मविशिष्टनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव घटत्वस्य न तु ताद्दशप्रतियेगितानवच्छेदकत्वम्। यदि यत्पदेन मृत्त्वादिपरिग्रहः स्यात्, न स्यादेव तर्हि मृत्त्वादिना घटस्य नित्यत्व स्याद्वायभिमत, मृत्त्वादौ तदन्यधर्मत्वस्य वाधोपलभात्। परतु प्रदर्शितरीत्या न तद्ग्रहण सभवति, मूल नास्ति कुतः शाखा? प्रकृते यद्धर्मविशिष्टा यावन्तस्ते सर्वे ग्राह्याः, तेन द्रव्यत्वविशिष्टे घटाकारालिङ्गिते घटभेदविरहेण ताद्दशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य ध्वसप्रतियोगिताऽवच्छेदकीभूते घटत्वे सत्त्वेऽपि न द्रव्यत्वेन घटस्य नित्यत्वानापत्तिः गुरुत्वविनिर्मुक्तध्वसप्रतियोगितान-वच्छेदकधर्मवत्त्व नित्यत्वमिति निष्कर्षः।

प्रतिविधत्ते तुशब्देन। ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकताद्दशमनुष्यत्वादेरिति। मनुष्यगतिनामकर्मविपाकोदयादिधर्मवन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छे-दकत्वे सति 'मनुष्यो मृतः' इत्यादिप्रतीत्या ध्वसप्रतियोगिताऽवच्छेदकीभूतस्य मनुष्यत्वादेः। आत्मत्वादिमन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेनेनि। अत्र 'आत्मत्वादिमन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेनेति पाठः सुसगतो भाति। आत्मत्वादिविशिष्टे मनुष्यगतिविपाकोदयवति 'नाय मनुष्यः' इत्यादिप्रतीत्यनुदयेन ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकीभूतस्य मनुष्यत्वादिधर्मस्य तद्वन्निष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वविकलत्वात् यत्पदेनाऽऽत्मत्वादिग्रहण सभवति।

● रमणीया ●

तु० इति। मगर उपाध्यायजी महाराज का कहना हे कि तद्भावाव्यत्व का उपर्युक्त अर्थ-निर्वचन करने पर आत्मा मे आत्मत्व धर्म की अपेक्षा नित्यत्व नही हो सकता, जो स्याद्वादी आदि विद्वानो को अभिमत हैं। देखिये, 'मनुष्यो मृत' इत्यादि प्रतीति से मनुष्यत्वरूप से मनुष्य नष्ट हुआ यह सिद्ध होने से मनुष्यत्व धर्म ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक है। यत् पद से आत्मत्व आदि धर्म का ग्रहण करने पर आत्मत्वविशिष्ट मनुष्य मे 'नाय मनुष्य' ऐसी प्रतीति न होने से आत्मत्वादिविशिष्ट मनुष्य मे रहनेवाले भेद की प्रतियोगिता का मनुष्यत्व अनवच्छेदक होता हे। यत् पद से आत्मत्व आदि धर्म का ग्रहण हो जाने के सवव तदन्यधर्म शब्द से आत्मत्व आदि का ग्रहण नही हो सकता। तदन्यधर्मवत्त्व तो प्रस्तुत लक्षण मे नित्यत्व है। अत तदन्यधर्म शब्द से आत्मत्व आदि धर्म का ग्रहण होना चाहिए। मगर 'यत्' शब्द से ही आत्मत्व आदि का ग्रहण होने के सवव तदन्यधर्म शब्द से आत्मत्व आदि का ग्रहण हो नही सकता। तदन्यधर्मवत्त्व तो प्रस्तुत लक्षण मे नित्यत्व है। अत तदन्यधर्म पद से ही आत्मत्व आदि का ग्रहण होना चाहिए। मगर यहाँ यत् शब्द से ही आत्मत्व आदि धर्मों का ग्रहण होने के सवव 'तत्' पद से वे धर्म ही ग्राह्य होते हैं। इस परिस्थिति मे 'तदन्य' पद से आत्मत्व आदि का ग्रहण नामुमकिन है, क्योकि 'तत्' शब्द से प्रतिपाद्य से भिन्न पदार्थ ही 'तदन्य' पद का वाच्यार्थ होता है। जिस धर्म की अपेक्षा जो पदार्थ नित्य हैं उस धर्म का ग्रहण यदि 'यत्' शब्द से न हो सके तभी 'तदन्य' पद से उस धर्म का ग्रहण हो सकता है तथा ताद्दशधर्मवत्ता ही पदार्थ का नित्यत्व हो सकता है। परतु यहाँ

नाऽऽप्यात्मत्वादे (?त्मादे)र्नित्यत्वमसगृहीत स्यात्।

अथ 'कपालनाशादेः सामान्यतः कपालादिसमवेतनाश प्रत्येव कारणत्वात् घटत्वेन घटध्वम आकस्मिक' इति चेत्?

★ जयलता ★

तदन्यधर्मत्वस्याऽऽत्मत्वादौ बाधान्नाऽऽत्मत्वादिरूपेणाऽऽत्मादेर्नित्यत्व स्यात् तादृशतदन्यधर्मविषयैव नित्यत्वस्य प्रतियोगिन्यभिप्रेतत्वादस्मिन् कल्पे। असगृहीत स्यात् = प्रदर्शिततद्भावाव्ययत्वलक्षणानाक्रान्त भवेदिति, लक्ष्यकदेशाऽवृत्तित्वाद् लक्षणस्याऽव्यापकत्वेनाऽव्याप्तिरिति यावत्।

एतेन प्रकृते आत्मत्वादिविशिष्टयावन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व न ध्वसप्रतियोगिताऽवच्छेदकीभूते मनुष्यत्वादौ सभवति, देवगतिनामकर्मविपाकोदयवति आत्मत्वादिधर्मविशिष्टे 'नाय मनुष्य' इत्याद्यबाधितप्रतीतेरुदयेन तद्धर्मनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकतासमालिगितत्वान्मनुष्यत्वादेरिति न यत्पदेनाऽऽत्मत्वादिग्रहण सभवति येन तदन्यधर्मत्वस्याऽऽत्मत्वादौ बाधेन तद्रूपेणाऽऽत्मादेर्नित्यत्व प्रकृतकल्पाऽनाक्रान्त स्यादित्युक्तावपि न क्षति यद्धर्मविशिष्टस्य यस्य कस्यचिद्ग्रहणविवक्षाया प्रस्तुतदोषाविष्करणतात्पर्यात्। यद्धर्मविशिष्टयावता ग्रहणविवक्षाया त्वेतत्कल्पस्यापि निर्दोषत्वात्। इदमेवाभिप्रेत्य लघुपरिमाणस्याद्वादरहस्येऽनेनैव प्रकरणकृता वाकारेण द्वितीयकल्पविधया तद्भावाऽव्ययत्वस्य प्रकृतनिर्वचन कृतमिति दृढतर पर्यालोचनीय पर्युपासितगुरुकुले.।

अन्योन्याभावनिवेशमनादृत्याऽत्यन्ताभावस्यैव पाठमध्यप्रवेशे तु 'यद्धर्मवन्निष्ठे'त्यत्र 'यद्धर्मवद्वृत्तिनिष्ठे'त्यादि ज्ञेयम्। अर्थात् यद्धर्मवद्यावद्विशिष्टवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकताशून्य ध्वसीयप्रतियोगितावच्छेदक तद्धर्मान्यधर्मवत्त्व तद्भावाव्ययत्वरूप नित्यत्वम्। यद्धमवद्विशिष्टयावद्वृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदक ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक तदन्यधर्मवत्त्वमिति व्याख्याने तु घटस्य भूतलवृत्तिपटवृत्तित्वदशाया घटत्वस्य घटपटसयोगवत्पटवद्भूतलवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकताशून्यत्वाद् घटपटसयोगापेक्षया घटस्याऽनित्यत्वमसगृहीत स्यात् यावत्त्वस्याऽप्रसिद्धिश्च।

अत्यन्ताभावघटितनित्यत्वलक्षणापेक्षयाऽन्योन्याभावघटितमेव तद्ग्राह्यम्, प्रतियोगिवैयधिकरण्याऽनिवेशेन लाघवात् अव्याप्यवृत्तिसयोगादे: सयोगत्वेन नित्यत्ववारणाय तन्निवेशोऽत्यन्ताभावघटितलक्षणेऽवश्यमेव कार्यः, अन्यथा सयोगत्ववद्विशिष्टवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकतायाः सयोगत्ववृत्तित्वेन सयोगत्वधर्मापेक्षया सयोगस्य नित्यत्वापत्ते:। इत्यमेव परामर्शगादाधर्यां प्रदर्शितोऽन्योन्याभावघटितव्यापकताया स्वरूप उपपद्यते।

प्रतियोगिवृत्ति: यो धर्म: प्रतियोगिध्वसानन्तरमपि ध्वसाऽधिकरणे नियमेन प्रतीयते तादृशधर्मवत्त्वमेव तद्भावाव्ययत्वपदप्रतिपाद्य नित्यत्वम् यथा घटवृत्तिः द्रव्यत्वादि: घटध्वसानन्तरमपि घटध्वसाधिकरणीभूतकपाले प्रतीयते। अतो द्रव्यत्वादिमत्त्व घटे नित्यत्वम्। द्रव्यत्वादिरूपेणैव घटस्य नित्यत्वादिति मदुन्नीतो नवीनोऽय पन्था विभाव्यता नयनिपुणै:।

ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व तद्भावाव्ययपदवाच्यमिति कल्पे प्रत्यवतिष्ठते नैयायिक: अथेति। अयमाशय: स्वप्रतियोगितासबधेन कपालविनाश: स्वप्रतियोगिसमवायित्वससर्गेण कपालसमवेतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपेण कपालसमवेतध्वस प्रति कारण सामान्यतः अन्वयव्यतिरेकाभ्या कार्य-कारणभाव: सामान्यधर्मावच्छेदेन विश्राम्यतीति नियमात्। ततो मुद्गरादिनिपातदशाया कपालात्मकसमवायिकारणनाशात् कपालसमवेतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वविशिष्टध्वसोत्पादस्य न्याय्यत्व न तु घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वविशिष्टध्वसोत्पादस्य, कारणविरहात्। एव कपालसमवेतत्वरूपेण घटध्वसोत्पादेऽपि घटत्वेन रूपेण घटध्वसोत्पादो न स्यात्। अतो घटत्वेन घटध्वसस्याऽऽकस्मिकत्व स्यात्। एवञ्च घटत्वस्य ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन तद्रूपेण घटस्य नित्यत्वमापद्येत। अर्थात् आकस्मिकत्वे घटत्वेन घटध्वसो न कदाऽपि स्यात् स्याद्वा सर्वदैव। तदुक्त धर्मकीर्तिना 'नित्य सत्त्वमसत्त्व वाऽहेतोर्वान्यानपेक्षणात्। तैक्ष्ण्यादीना यथा नास्ति कारण कण्टकादिषु॥ [प्र वा १/१८२] इति। घटत्वेनेति। तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्व, प्रतियोगितासबधेन तस्य चान्वयो घटध्वसे। अत: प्रतियोगितासबधेन घटत्वावच्छिन्नघटध्वसो यद्वा घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटध्वस आकस्मिक । अनेन तदवच्छिन्नसामग्र्यनिश्चये 'एतावत्सत्त्वेऽवश्यकार्योत्पाद' इत्यनिश्चयरूपादाकस्मिकत्वात्प्रवृत्तेर्दुर्घटत्वप्रसङ्गो दर्शित ।

● रमणीया ●

आत्मत्वादि धर्म का 'यत्' पद मे ग्रहण उपर्युक्त रीति से सभव होने से आत्मत्व आदि धर्म की अपेक्षा आत्मा आदि मे नित्यत्व नहीं हो सकेगा। अत तद्भावाव्ययत्व का अर्थ 'ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्व' ऐसा जो पूर्व मे बताया गया है वही उचित है। प्रस्तुत अथघटना मे तो आत्मत्व आदि धर्म से आत्मा आदि मे नित्यत्व की उपपत्ति न होने से अव्याप्ति दोष की प्राप्ति होती है। इस विषय मे काफि अधिक विचार हो सकता है। विशेष जिज्ञासु पाठक यहाँ जयलता पर दृष्टिपात करे - यह मुनामिव है।

पूर्वपक्ष :- अथ कपा० इति। कपालनाश सामान्यत, कपालसमवेतनाश के प्रति कारण होता है। अर्थात् कपालसमवेतत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक ध्वस का कपालत्वेन कपालनाश कारण होता है। इसका कारण यह है कि समवायी कारण के नाश से समवायी कारण मे समवेत कार्य का नाश होता है। मगर वह समवेत कार्य का ध्वस घटत्व आदि विशेषरूप से नहीं होता है बल्कि कपालसमवेतत्वरूप से होता है। अत मुद्गर आदि के प्रहार से जो घटध्वस होता है वह कपालसमवेतत्वरूप से हो सकता है, न कि घटत्वरूप से। अत घटत्वरूप से घटध्वस आकस्मिक हो जाएगा। कपालनाश से घटत्वरूप से नहीं किन्तु कपालसमवेतत्वरूप से कपाल मे समवेत घट का नाश होता है। अत घटत्व धर्म ध्वसप्रतियोगिता का अनवच्छेदक ही बनेगा। इस अवस्था मे घट द्रव्यत्व आदि की भाँति घटत्वरूप मे भी नित्य हो जायेगा। स्याद्वादी के पक्ष मे इस दोष का निराकरण कैसे हो सकेगा?

न, कारणत्वपर्यायाणा प्रतीतिबलेन विशिष्य विश्रातानामेव कल्पनादिति दिक्।

तथाऽकृतागम , पर्यायाणामपि नित्यानामेव सतामागन्तुकत्वात्, अन्यथा पर्यायवतोऽपि अनित्यत्वापत्तौ नित्यत्वपक्षहानेः ।

★ जयलता ★

समाधत्ते-नेति। कारणत्वपर्यायाणा प्रतीतिबलेन विशिष्य विश्रान्तानामेव कल्पनादिति। अय भावः नियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूप-कारणत्वपर्यायाणा विशेषरूपेणैव ग्रहसम्भव', अन्यथाऽन्वयव्यतिरेकव्यभिचारग्रहयोरविशेषेण कारणताबुद्धावप्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गात्। न च विशेषणरूपेण तत्तद्व्यक्तीनामन्यथासिद्धत्वान्न हेतुत्वमिति वाच्यम्, एव द्रव्यत्वेन जन्यभावत्वेनैक एव कार्यकारणभावः स्यादिति दण्डत्वादिना कारणत्व-बुद्धिव्यपदेशयोरप्रामाण्यप्रसङ्गात्। एतेन सामग्र्याः कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तिव्याप्यत्वाद् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसोत्पादस्याऽनापत्ति', कपालसमवेतत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकध्वसस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वादिति प्रत्युक्तम् व्यापकधर्मस्य व्याप्यधर्मेणाऽन्यथासिद्धेः, व्यापकधर्मेणाऽत्र -कार्यतास्वीकारे अनुत्पाद्येऽपि कपालसमवेतद्रव्यत्वादिप्रतियोगिकध्वसे स्वरूपयोग्यतारूपकार्यतापत्तिः सुरगुरुणाऽपि निराकर्तुमशक्या। न च 'यद्विशेषयो' कार्यकारणभाव' स तत्सामान्ययोरपि' इति न्यायात् सामान्यतो हेतुहेतुमद्भावसिद्धिरिति वाच्यम् विशेषाभावकूटेनैव सामान्याभावप्रतीत्युपपत्तौ यावत्कारणाभावदशाया कार्यानुत्पादप्रयोजकत्वरूपेण तदतिरिक्तकारणसामान्याभावकल्पनाया गौरवेणोक्तनियमे मानाभावात्। न चैव प्रवृत्तेर्दुर्घटत्वमुक्त वज्रलेपायितमिति वाच्यम् सादृश्यबुद्ध्यैव प्रवृत्त्युपपत्तेः। तत्पटत्वाद्यवच्छिन्नकार्योत्पादस्याऽऽकस्मिकत्व त्वभिमतमेव, तद्धर्मावच्छिन्नसामग्रीसत्त्वेऽपि तथानिश्चयविरहात्, तद्धर्मावच्छिन्ने प्रवृत्त्यभावाच्च परतु प्रवृत्त्यौपयिककारणताया सामान्यतः कारणतादिग्रहस्य वक्तुमशक्यत्वात्। इत्थमेव सिद्धान्तोक्तः तीर्थकरसिद्धादिभेदोऽन्तरङ्गकारण भव्यत्वविशेष साधयति।

वस्तुतस्तु 'कपालमेव घटीभूतमि ति प्रतीत्या घटतया कपालस्य परिणामन तयो' कथञ्चिदभेदस्य सिद्धेः घटपरिणतकपालनाशस्यैव घटनाशरूपत्वान्मुद्गरपाताद्यधीनात्मलाभयोः समानकालीनयो' तयोः कुत आकस्मिकत्वशङ्कागन्धलेशोऽपि परस्येति चेखिद्यतेऽस्माक मनः। यत्तु मुक्तावलीकृता अनन्ताधिकरणात्मकात्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया लघीयस्त्वात्। एवञ्चाधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते [मुक्ता श्लो १२/पृ १६५] इत्युक्त, तदसत् धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायेन क्लृप्ताधिकरणेष्वेव धर्मकल्पनाया न्याय्यत्वात्, घटात्यन्ताभावत्वविशिष्टाधारतावच्छेद-कत्वस्य प्रतीतिबलेन भूतलत्वेऽभ्युपगमात्। अतिरिक्तध्वसकल्पनापूर्वमेव तदनन्तकार्यकारणकल्पनागौरवस्योपस्थितेः फलमुखगौरवाभावादित्यादिसूचना-र्थमत्र दिक्पदप्रयोगः प्रकरणकारेण कृत इति ध्येयम्।

एकान्तनित्यत्वपक्षे कृतनाशप्रसङ्ग प्रदर्श्य साप्रतमकृतागमदोषकलङ्क निष्टङ्कयति - तथेति। समुच्चयार्थे तथाशब्द'। अकृतागम इति। अकृतानामेव नित्याना पर्यायाणामागम इत्यर्थ'। हेतुमाऽऽह- पर्यायाणामपि किमुत द्रव्याणामित्यपिशब्दार्थः। नित्यानामेवेति। अनित्यव्यवच्छेदार्थमेवकारप्रयोगः। आगन्तुकत्वात् = अजन्यसत्ताकत्वात्। अनेन घटादिपर्यायाणा नित्यत्वमापादितम्। विपक्षबाधकतर्कमाह - अन्यथेति। पर्यायाणा जन्यत्वाभ्युपगमे इत्यर्थ। पर्यायवतोऽपि = द्रव्यस्यापि, पर्यायविशिष्टतयोत्पादेन अनित्यत्वापत्तौ मत्या पर्यायत्वेन सप्रतिपन्नस्य सर्वथा नित्यत्वपक्षहाने

● रमणीया ●

उत्तरपक्ष :- न का० इति। वाह! एक तो चोरी दूसरे सीना चोरी! घट का कपालसमवेतत्वविधया नाश मानना और घटत्वरूप से घटध्वस मे आकस्मिकता का दोषारोपण करना! यह नही हो सकता, क्योकि हम ''नियत अन्वय और व्यतिरेक के प्रतियोगित्वरूप कारणत्व पर्यायो का विशेषरूप से ही ज्ञान होता है'' ऐसा स्वीकार करते है। यह हमारी मान्यता मनमानी नही है किन्तु प्रतीति बल की वजह की गई है। देखिए, तन्तु से उत्पन्न पट को देख कर तत्काल उत्पन्न पट और तत्पूर्वकालीन ततुओ के बीच ही कार्य-कारणभाव ज्ञात होता है, सब पट और सब ततुओ का नही। सब ततु और सब पट का ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही हो सकता है, अन्य अल्पज्ञ व्यक्ति को नही। अत कपालनाश से प्रयोज्य घटध्वस को देख कर घटत्वरूप से ही घटध्वस मे कपालनाश की कार्यता का भान होता है, न कि कपाल समवेतत्वरूप से कपालनाशनिष्ठकारणतानिरूपित कार्यता का अवच्छेदक (=नियामक) ध्वसनिष्ठ घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व ही होने के सबब घटत्वरूप से घटध्वस कपालनाश के कार्यतावच्छेदक से आक्रान्त होता है। इसलिए वह आकस्मिक नही है। जो धर्म कार्यता कोटि मे निविष्ट न हो उस रूप से यदि कारण मे उत्पत्ति हो जाय तब कार्य मे आकस्मिकत्व का व्यवहार और प्रतीति सभव है। अत प्रकृत स्थल मे आकस्मिकता दोष नही है। इस सबध मे अधिक विचार हो सकता है इस बात की सूचना देने के लिए व्याख्याकार ने दिक् शब्द का प्रयोग किया है।

● एकान्तनित्यपक्ष मे अकृतागम दोष ●

तथाऽकृता० इति। एकान्तनित्यत्वपक्ष मे जैसे कृत पर्याय के सर्वथा नाश का अनिष्ट प्रसग उपस्थित होता है ठीक वैसे ही अकृत पर्यायो के आगम का (प्राप्ति का) अनिष्ट प्रसग भी सिर पे टकराता है। इसका कारण यह है कि एकान्तनित्यपक्ष मे 'पदार्थत्वेन सप्रतिपन्न सकल पदार्थ अनित्यत्वव्यधिकरण नित्यत्व से युक्त है' यह विकल्प स्वीकृत है। अत पदार्थभूत पर्याय भी सर्वथा नित्य = सर्वथा अकृत ही होगा। अत अकृत = नित्य पर्यायो का ही द्रव्य मे आगमन होगा न कि पर्याय की उत्पत्ति। यदि

अथ घटत्वादेरेव कपालादिजन्यतावच्छेदकत्वाद्घटत्वस्य च कपालाद्यवृत्तित्वान्नाय दोष इति चेत्? न 'कपाल घटीभूतमि'ति प्रतीत्या तयोः स्यादभेदसिद्धेः।

★ जयलता ★

प्रसङ्गो दुर्निवारः। अय भावः प्रकृते प्रतिवादी हि नैयायिकादिरभिमतो न तु साख्यादिः। प्रधानमल्लनिवर्हणन्यायेन नैयायिक-वैशेषिकौ प्रतिक्षिप्य पश्चात्प्रकारान्तरेणाऽस्या एव कारिकायाः प्रथमार्धं विवरिष्यता प्रकरणकृता साख्यादिरपि निराकरिष्यते। स्याद्वादिभिः पर्यायत्वेनाऽभिमताना ज्ञानादीनामेकान्तानित्यत्व घटत्वादीनाञ्चैकान्तनित्यत्वभ्युपगम्यते। प्रकृते पदार्थत्वेन सप्रतिपन्नानामात्मादीनामेकान्तनित्यपक्षे प्रतिवादिना नैयायिकेन गृहीते ज्ञानादिपर्यायाणामप्येकान्तनित्यत्वापातेनाऽकृतानामजन्यानामात्मनि विद्यमानानामेव ज्ञानादिपर्यायाणामागमन स्यात्। एवञ्चाऽध्ययनादिप्रयत्नैर्नैरर्थक्य स्यात्। न च ज्ञानादेरेवोत्पाद आत्मादिः तु कूटस्थनित्य एवेति वाच्यम् पर्यायस्य जन्यत्वोपगमे तद्विशिष्टतयाऽऽत्मादेरप्युत्पादस्य न्याय्यत्वेन कूटस्थनित्यत्वेनाभिमतस्याऽऽत्मादेरप्यनित्यत्वाऽऽपातेन तदेकान्तनित्यत्वविकल्पत्यागेन प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानस्याऽपसिद्धान्तस्य च दुर्वारत्वम्। एव घटत्वादिपर्यायाणा नित्यत्वेन सदा स्वकारणसन्निहितत्वात् तत्कृते कुभकारादिप्रयत्नाना पिष्टपेषणादिन्यायेन वैयर्थ्यं स्यादिति स्याद्वादिनोऽभिप्रायः।

यद्यपि वीतरागस्तोत्रविवरणादावत्र साख्य एव प्रतिवादित्वेन गृहीतः। तदुक्त प्रभानन्दसूरिणा वीतरागस्तोत्रविवरणे "साख्यैरप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव कूटस्थनित्य वस्त्वभ्युपगम्यते। तच्च यद्येव स्यात्तदा वस्तुनि घटादौ कुम्भकारादिकृताना पर्यायाणा सर्वथा नाश एव स्यात्। एतच्च प्रत्यक्षविरुद्ध यतः कुभकारादिभिर्निर्मीयमाणाः स्यासकोशकुशूल-पृथुबुध्नोदरायाकाराः कृशाकृशरूपतया क्षणे क्षणे दरीदृश्यन्ते। अतः तेषा पर्यायाणामाविद्धदङ्गनप्रतीताना विनाश एव स्यात्। ते च यदि न कृतास्तदा घटोऽप्यकृत एव स्यात्। कृतेष्वेव च तेषु घटोऽपि कृतः। एवञ्च सति नित्यताक्षतिः। तथाऽकृताऽऽगमोऽपि स्यात्। तथाहि-पर्यायास्तावत्तन्मते कूटस्थनित्यत्वादेव केनचिन्न कृताः। अकृता एव च समुपस्थिताः। यदि कृतास्स्युस्तदा घटस्याऽपि कृतकत्वे नित्यत्वपक्षक्षतिः। एतच्चानुष्णोऽग्निरित्यादिवत् प्रत्यक्षविलक्षणमकृतागमस्वरूप कः सुधीः श्रद्दधीत" [वी स्तो वि ८/१-पृ ९७] इति। विशालराजसूरिणाऽपि वीतरागस्तोत्रावचूर्णौ 'साङ्ख्य एकान्तेन नित्यत्वमङ्गीकुरुते। तथा सति कृतनाशाकृतागमनामानौ दोषौ स्याताम्। तथाहि- घटो यदि सर्वदा निष्पन्नसिद्धस्तदा[1] कृतनाशः, कृत=कुभकारस्य मृदानयनक्लेदन-चक्रारोपणाद्युपक्रमस्तस्य नाशः = नैरर्थक्य भवति, घटस्य नित्य निष्पन्नत्वात्। अथाऽकृतागमः, यथा-यदि सर्वं सर्वदाऽपि नित्य तदा घटाकारोऽपि नित्यः। तथा च सति मृत्पिडे पूर्वमदृष्टो घटाकारो नित्यत्वादकृत एवागत' एवञ्चाऽकृतागमदूषण स्यात्' [वी स्तो अव ८/१ - पृ ९६] इत्येव वदता प्रतिवादित्वेन साख्यो दर्शितः तथाऽपि सति सभवेऽधिक नैव दोषायेति न्यायेन प्रतिवादित्वेन नैयायिकस्य प्रदर्शन न्याय्यमेवेति भावनीयम्।

नैयायिकः कुलालादिप्रयत्नवैयर्थ्यादिदोष निराकरोति - अथेति। घटत्वादेरेव। एवकारेण कपालवृत्तिकपालत्वादिव्यवच्छेदः कृतः। नाय दोष इति। स्वकारणसन्निहितघटत्वादिपर्यायाऽऽगमन-कुलालकृतिवैयर्थ्याभिधानदोषौ न स्तः। कपालादिकार्यतावच्छेदकीभूतस्य घटत्वादेर्नित्यत्वेऽपि न सर्वत्र सत्त्व परन्तु घटादिकार्य एव। कपालादिषु तदसत्त्वेनाऽन्यत्र सतोऽपि तत्राऽसत एव घटत्वादेस्तत्राऽऽगमेन न स्वस्मिन् सत एवागमप्रसङ्गो येन तदश्रद्धेयत्व स्यात्। एतेन कुलालादिकृतिवैयर्थ्यदोषोऽपि प्रत्युक्त कपालवृत्तिधर्मस्य कार्यतावच्छेदकत्वानुपगमादिति नैयायिकाशय।

ननु घटकपालयोः सर्वथा भेदः सिद्ध' स्यात् तदा एव वक्तु युज्यते यदुत 'कपालाऽवृत्ति घटत्वमेव कार्यतावच्छेदक' पर स एव वन्ध्यापुत्रसहोदर इत्याशयेन स्याद्वादी तन्निराकरोति - नेति। कपालमेव घटीभूतमिति प्रतीत्या तयोः घटकपालयोः स्यात् = कथचित् अभेदसिद्धे। अय भावः घटस्य कपालपरिणामतया न तयोः सर्वथा भेद एव परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिदभेदात्। 'एतानि कपालान्येव घटतया परिणतानी'ति

● रमणीया ●

पर्याय की उत्पत्ति मानी जाय तब तो पर्यायी भी पर्याय की भाँति अनित्य हो जायेगा, चूँकि पर्यायविशिष्टतया पर्यायी की उत्पत्ति का स्वीकार तब न्याय प्राप्त है। यह तो आगे बाध और पीछे आग जैसा हुआ, क्योंकि पर्याय की उत्पत्ति मानने पर एकान्तनित्यत्व पक्ष का भग हो जायेगा ओर पर्याय को नित्य मानने पर कुभकार आदि के प्रयास की व्यर्थता होगी, क्योंकि कुम्हार जिस घटादि पर्याय को उत्पन्न करने का प्रयास कर रहा है वह तो नित्य होने की वजह विद्यमान ही है अर्थात् कुम्हार का प्रयास पिष्टपेषणतुल्य हो जाएगा। इस तरह पदार्थ मात्र को सर्वथा नित्य मानने पर कृतनाश और अकृत (=नित्य) के आगमन का दोष उपस्थित है।

नैयायिक :- अथ घट इति। स्याद्वादी की और से दिया गया अकृतागम दोष हमारे मत मे तब प्राप्त हो सकता है यदि कारण मे विद्यमान धर्म को ही कार्यतावच्छेदक माना जाय। मगर ऐसा हमारा अभ्युपगम नही है। हमारा सिद्धात यह है कि कपालादि का कार्यतावच्छेदक घटत्व है जो कि कपालादि कारण मे रहता नही है, भले ही वह नित्य हो। घटत्व नित्य होते हुए भी कपाल मे अविद्यमान होने से अकृतागम दोष अर्थात् अपने मे विद्यमान की ही प्राप्ति का दोष नही है। अतएव कुम्हार आदि का प्रयत्न भी सफल बना रहता है।

स्याद्वादी :- न कपा० इति। वाह! अधजल गगरी छलकत जाय! कपाल मे अविद्यमान घटत्व को कार्यतावच्छेदक मानने पर कोई दोष नही है - यह आपकी मान्यता तथ्यहीन है। इसका कारण यह है कि घट और कपाल सर्वथा भिन्न ही कहाँ है? 'यह कपाल ही घटरूप से परिणत हो गया' इस प्रतीति से घट और कपाल मे परिणाम्यपरिणामक भाव की सिद्धि होती है। जिनके बीच परिणाम्य-परिणामकभाव होता है वे परस्पर कथचित् अभिन्न होते हैं जैसे श्याम घट और रक्त घट। पाक से

१-देवचन्द्रलालभाई जैन पुस्तकोद्धारप्रकाशितग्रन्थेऽत्र 'तथा' इत्यशुद्ध पाठ।

साख्यः सत्कार्यवाद सदसि निगदतु स्कधमास्फाल्य तावत् । स्वैराऽसत्कार्यवादी प्रभवतु स पुनस्तावदेवात्र यौगः ॥
यावद् दुर्वादिवृन्दद्विरदमदभिदकेसरिक्रीडनैकप्रागल्भ्याभ्यासभाजो जिनसम्यविदो ध्यानमुद्रा भजन्ते॥१॥

★ जयलता ★

एतेन यदसत् पूर्वमासीत् तस्य पश्चादपि कथ सत्त्वम्, विरोधादिति प्रत्युक्तम् कालभेदेन समावेशात्, स्वसामग्रीसामर्थ्यदिव प्रागसतः पश्चात्सत्त्वेऽविरोधात् । अस्ति स कोऽपि महिमा दडचक्रचीवर-कुलालादीना यदेतेपु सम्भूय व्याप्रियमाणेसु प्राक् असन्नेव घटः सम्भवति । 'असतोऽम्मवद्धत्वाज्जन्यत्वेऽतिप्रसङ्ग इति' चेत् ? नैवम् कपालजातीयस्य घटजातीये एव सामर्थ्यात् । 'कुत एतत्' ? 'सत्कार्यवादेऽपि कथमेतत्, - यदुत तन्तुष्वेव पटात्मता न सर्वत्रेति' ? 'वस्तुस्वाभाव्यादिति' चेत् ? तदेव प्रकृतेऽपि भविप्यति । एतेन यद्यसन्नेव घटः कपालादिभिः क्रियते तन्त्वादिभिरपि कि न क्रियत इति प्रत्युक्तम् । इति योगा = नैयायिकाः, उपलक्षणाद् वैशेपिकादयश्चः, सङ्गिरन्त इति ।

[इति सर्वथाऽसत्कार्यवादनिरूपणम्]

प्रकरणकारो न्यायविशारदः साम्प्रतमभिनवोन्मेपशालिस्वप्रज्ञा वियोतयति - साख्य इति । कारिकार्थलेशस्त्वेवम् तावद् एव साख्य वादस्य सदसि = सभाया, निज स्कधमास्फाल्य = ऊर्ध्वीकृत्य, सत्कार्यवाद प्रोक्तस्वरूप निगदतु, तावदेवाऽत्र = वादसभाया, पुन स स्वैराऽसत्कार्यवादी = स्वच्छन्दतयाऽसत्कार्यवदनशीलः यौग = अक्षपादतनयः प्रभवतु = स्वप्रभावमुपदर्शयतु, यावद् दुर्वादिवृन्दद्विरदमदभिदकेसरिक्रीडनैकप्रागल्भ्याऽभ्यासभाज = असद्ग्रहप्लावितान्तःकरणप्रतिवादिनिकरात्मककुञ्जरदानभेतृपञ्चाननखेलतुल्यव्यापारमात्रप्रवणाऽनुशीलनरसिकाः, जिनसमयविद = स्याद्वादिनः ध्यानमुद्रा = एकान्तवादनिरसनपूर्वकानेकान्तवादव्यस्थापनात्मकध्येयाकारप्रत्ययप्रवाहमुद्रा सदसत्कार्यवादमर्मस्थाननिरूपणलक्षणध्येयाकारप्रणिधानप्रवाहमुद्रा वा भजन्ते = आश्रयन्ते । यथा वनराजविरहिते वनैकदेशे स्वेच्छेया गर्जन्तोऽपि गजादयः तदुपस्थितौ न तथाकर्तुमुत्सहन्ते प्रत्युत प्रलीयन्ते, अन्यथा सर्वार्थहानिभावात् तथैव स्वसदसि स्वैर प्रलपन्तोऽपि एकान्तवादिनो विजयिनि स्याद्वादिनि उपस्थिते न प्रभवन्ति, वस्तुस्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः ।

प्रथम तावत्सत्कार्यवाद्युपन्यस्तहेतुपञ्चक सक्षेपतो निराकुर्मः । तथाहि- यत्तावदुक्त 'सत्कार्यमसदकरणादि'ति तदसत् , सर्वथा सत्कार्यवादे सतः सिद्धत्वेनाऽकरणात्, अन्यथा पुरुषाद्यपि क्रियेत। न च 'केशान् मे कुरु' इत्यादिव्यवहारदर्शनात् सतोऽपि क्रियमाणत्व सिद्धमित्यारेकणीयम् तस्यौपचारिकत्वात्, तत्र केशादिष्वन्यदेव किञ्चित्क्रियते, केशादीना तु प्रागेव निष्पन्नत्वात्, निष्पन्नस्य निष्पादनाऽसम्भवः, कारकव्यापारवैफल्यप्रसङ्गात् । न हि तेन कार्योत्पत्ति' तदभिव्यक्तिः तदावरणविनाशो वा कर्तुं शक्यते, तदुत्पत्त्यभिव्यक्त्योरपि प्राक् सत्त्वे कारकव्यापारवैफल्यात्, असत्त्वेऽपसिद्धान्तात् । आवरणविनाशेऽपि न तत्साफल्यम्, असतो भावस्योत्पादवत् सतो भावस्य नाशाऽभावात् । एतेन अन्धकारवत् तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वेन कारणमेवाऽऽवारकमिति प्रत्युक्तम् एवमदर्शनेऽपि कार्यस्य स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गात्, पटादिवद् व्यवधायकत्वेन तदावारकत्वे च तन्नाशे इव मृत्पिण्डध्वसेऽपि तदुपलब्धिप्रसङ्गच ।

वस्तुतः कारणस्य तदुपकारकत्वेन तदावारकत्वाऽयोगः । 'यत्तु क्रियामणत्व भवनकर्तृतया व्याप्तमि'त्युक्तम्, तदपि न चारु, असाधारणत्वात्, अनुपलब्धिविरोधाच्च । एतेन यत् सर्वाकारेण सन्न तत् केनचिज्जन्य यथा प्रकृतिश्चैतन्य वा । सदेव च सर्वथा कार्यं मध्यावस्थायामिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्ग इत्यप्यावेदितम्

यच्चोक्तम् 'उपादानग्रहणादि'ति तदपि विचार्यमाण विशारारुतामश्चति, साध्यार्थितयैवोपादानग्रहणात् । यच्च 'उपादानग्रहणात् =

● रमणीया ●

विलक्षण ही पदार्थ है' - ऐसा आँठवाँ विकल्प भी सन्मान्य नही हो सकता, क्योकि वह उपलब्धिविरह आदिस्वरूप नहीं है मगर उनसे अतिरिक्त वह क्या हे ? इसका सम्यक् निरूपण ही नामुमकिन हे । अत आँठो विकल्पो मे से एक भी विकल्प आदरणीय हो नही सकता, जिसके वल पर सत्कार्यवाद खडा रह सके । अत यही मानना मुनासिव है कि कारणव्यापार के पूर्वकालावच्छेदेन उपादानकारण मे अविद्यमान ही कार्य सामग्री के सहयोग से पश्चात् उत्पन्न होता है । इस तरह सत्कार्यवाद की कुटिर, जो साख्य मनीपियो ने काला पसीना पाड कर खडी की हे, धराशयी हो जाती हे ओर असत्कार्यवाद का राजमहल, जो नैयायिक मनीपियो ने दिल्लगी से वनाया है, खडा होता हे-ऐसा नेयायिक विद्वानो का कथन है ।

● सदसत्कार्यस्थापन-स्याद्वादी ●

स्याद्वादी : - साख्यः स० इति। तव तक साख्य विवुध अपने गृह मे खधा उठा कर सत्कार्य का निरूपण करता हे ओर तव तक स्वेच्छानुसारितया नैयायिक भी असत्कार्यवाद का प्रभाव डालता हे जव तक दुष्ट वादिओ के वृदरूप गजराज के मद का भेदन करनेवाले वनराज की क्रीडा करने मे ही स्फुरायमान अभ्यास को करनेवाले जिनसमयवेदी स्याद्वादी ध्यानमुद्रा को धारण करते नही हे। अर्थात् एकान्तसत्कार्यवादी साख्य और एकान्त असत्कार्यवादी नेयायिक की पीपुडी तव तक चलती है जव तक सदसत्कार्यवादी स्याद्वादी अपने सूक्ष्म तत्त्व के निरूपण की ओर ध्यान नही देते- प्रयास नही करते॥१॥

★ जयलता ★

उपादानसम्बन्धादि'त्युक्त तदपि न पेशलम्, प्राक् कार्यसत्त्वस्याऽद्यावधि असिद्धत्वेन तेनोपादानससर्गायोगात् ।

यच्च 'सर्वसम्भवाऽभावादि'त्युक्त, तदपि न निर्मायविद्वज्जनसमवायरञ्जनाय सञ्जायते, नियतादेव क्षीरादे· सामग्र्या दध्यादिदर्शनात् ।

यदपि 'शक्तस्य शक्यकरणादि'त्युक्त तदपि स्ववधाय कृत्योत्थापन प्रस्थापित सख्यावद्भि· साख्यै:, शक्ताश्रितत्वेन शक्यविषयाया· शक्ते· विनाऽपि शक्यसद्भाव स्मरणमिव ज्ञेयविषय आत्माश्रय ज्ञेयमृतेऽप्युपपत्ते·। कारणत्वञ्च कार्यं प्रति कारणस्य शक्तिविशेषः। स च कारणाश्रय एव, न कार्यकारणाश्रयः। निरूपणमप्यस्य कार्यावगमाऽधीनम्, न तु कार्यसत्त्वाधीनम्। अनेनाऽसति कार्येऽस्येद कारणमिति नोपपद्येतेति प्रत्युक्तम् । 'एतेन कारण नाम कार्योपहितमर्यादम्। तच्च तदभावे नाऽर्हति भवितुम्। न हि यद् यदुपहितमर्याद तत्तदभावे भवति, यथा कुण्डलोपहितसीमा कुण्डली न कुण्डलाभावे' इत्यपि निरस्तम् निश्चयनयेन तथात्वेऽपि व्यवहारनयेनाऽतथात्वात्। न चाऽसदशक्यकरण केसरिशृङ्गवदिति उदीरणीयम्, स्वभावभेदादसदेकस्वभाव केसरिशृङ्गम्, सदसत्स्वभाव च घटादिकमिति । यथा चैतत्तत्त्व तथा निपुणतरमुपपादयिष्यते सदसत्कार्यस्थापनावसरे । सर्वथा सिद्धे तु शक्त्यव्यापार एवेति अर्थक्रियाकारित्वविरहेण तदसत्त्वापातात् शक्तिमहासत्याः प्राणहत्यापापारोप· स्वशिरसि सरसिरुहारोह इवाऽऽयात· कथ पश्चात्क्रियते सख्यावता मुख्यै· साख्यैः ?

एतेन 'त्रयःखलु भावपरिणामा· साख्यानाम्, धर्म-लक्षणाऽवस्थाभेदात् यथाक्रम धर्मि-धर्म-लक्षणाधिकरणा· । तद्यथा सुवर्णतत्त्वमेक धर्मि, तस्य परिणामाः स्वस्तिकमुकुटकुम्भादयो धर्माः उपचयाऽपचयधर्माणः। तेषाञ्च लक्षणपरिणाम· । तथाहि- यदा खल्वय सुवर्णकार· स्वस्तिक भङ्क्त्वा मुकुट रचयति तदा स्वस्तिको वर्तमानतालक्षण हित्वाऽतीततालक्षणमापद्यते । मुकुटस्तु अनागततालक्षण हित्वा वर्तमानता प्रतिपद्यते । तथाऽवस्थापरिणामो लक्षणगतः । प्रतिक्षणमुत्पादनिरोधधर्माणोऽभिनवतमाऽभिनवतराऽभिनव-पुराण-पुराणतर-पुराणतमत्वादय· । प्रयत्नरक्षितस्याऽपि वस्त्रादेः प्रान्ते पुराणतमत्वोपलम्भात् । सोऽय त्रिविधः परिणामोऽतिशय इत्यप्युच्यते । अत एकाऽतिशयनिवृत्त्याऽपरातिशयोत्पत्त्या व्यवहारभेदोपलब्धेऽपि धर्मी तु तदवस्थ एवेति सत्कार्यवाद एव श्रेयानिति परास्तम् अतिशयस्य प्राक् सत्त्वे उपलम्भप्रसङ्गात्, असत्त्वे तु कथ पश्चादपि प्रादुर्भाव· ? 'असदकरणादि'ति भवद्भिरभ्युपगतत्वात्, अन्यथाऽपसिद्धान्तापातात् । 'कारणभावाच्च सत्कार्यमि'त्यपि न शतक्रतु- गुरुमुरारातिविमुग्धताकारिगिर्वाणोमुखीशेमुषीमुखराऽसङ्ख्य सख्यावत्साख्याऽहङ्कारहारिविख्यातस्याद्वादिपर्षदि प्रणिगद्यमान घटाकोटिमटङ्कमाटीकते । न ह्यय नियमो यदुतोपादेयमुपादानात्मकमेव, विजातीयेष्वप्युपादानोपादेयभावदर्शनात् । दृश्यते हि शृङ्गाच्छर·, सर्षपानुलिप्ताच्छृङ्गात् धान्यसद्भाव·, गोलोमाविलालोमभ्या दूर्वा, विसदृशाऽनेकद्रव्यसयोगेन च सर्पसिंहभटमणिहेमादिकमुत्पद्यत इति । तदुक्त विशेषावश्यकमहाभाष्ये 'जाइ सरो सिगाओ भूतणओ सासवाणुलित्ताओ । सजायइ गोलोमाविलोमसजोगओ दुव्वा ॥ रुक्खायुव्वेदे जोणिविहारे य विसरिसेहितो । दीसइ जम्हा जम्म सुहम्म! तो नायमेगंतो' ॥ [वि भा १७७४/७५] इति । लोकेऽपि शालूकादपि शालूको गोमयादपि शालूक·, बीजादपि गोधूमा वशबीजादपि, अग्नेरप्यग्निररणिकाष्ठादपीति दृश्यते ।

एतेन "न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्। इह यद्यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति यथा गौरश्वस्य। धर्मश्च पटस्तन्तूना, तस्मान्नार्थान्तरम्। उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्व तन्तुपटयोः। ययोरर्थान्तरत्व न तयोरुपादानोपादेयभावो यथा घटपटयोः। उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः। तस्मान्नार्थान्तरत्वम्। इतश्च नार्थान्तरत्व तन्तुपटयोः सयोगाऽप्राप्त्यभावात्। अर्थान्तरत्वे हि सयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः, अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययो·। न चेह सयोगाऽप्राप्ती, तस्मान्नाऽर्थान्तरत्वमिति। इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वाऽन्तरकार्याऽग्रहणात्। इह यद् यस्माद् भिन्न तस्मात्तस्य गुरुत्वान्तर कार्यं गृह्यते, यथैकपलिकस्य स्वस्तिकस्य यो गुरुत्वकार्योऽवनतिविशेषस्तस्माद् द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्वकार्योऽवनतिभेदोऽधिकः। न च तथा तन्तुगुरुत्वकार्यात् पटगुरुत्वकार्यान्तर दृश्यते। तस्मादभिन्नस्तन्तुभ्यः पट इति" [सा कौ पृ १५०] इति साख्यतत्त्वकौमुदीकृद्वचनमपि प्रत्युक्तम् तुल्यगुरुत्ववतो· घटपटयोरभेदप्रसङ्गाच्च।

किञ्च क्रिया=उत्पत्तिरूपा जनिक्रिया, निरोधः = प्रध्वसरूपो विनाशः, तयोर्या बुद्धि· 'कपालमुत्पद्यते घटो विनश्यती'त्यादिरूपा, 'इमे तन्तवोऽयञ्च पट' इति व्यपदेशः, पटस्य शरीराच्छादनाद्यर्थक्रियाकारित्व तन्तूनाञ्च सीवनादिरूपार्थक्रियाकारित्वम्, तन्तव कारणरूपेण व्यवहर्तव्याः पटश्च कार्यविधये'ति व्यपदेशः दृश्यते। एतेषा भेदादपि कार्यकारणयो· कथञ्चिद्भेदः सिद्ध्यति। एतेन 'स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदाश्च नैकान्तिक भेद साधयितुमर्हन्ति। एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधादि' [सा त कौ पृ १५२]ति साख्यतत्त्वकौमुदीकृतो वचनममपहस्तितम् स्वरूप-सस्थानादिभेदादपि स्यात्तद्भेदसिद्धेश्च न हि वयमेकान्तिक तद्भेद साधयामः परन्तु स्याद्भेदमेवेत्यनुक्तोपालम्भदानमकारि तत्रभवता भवता। तत· 'असदकरणादि'त्यादि वदता स्वयमेव स्वपादे दत्त· कुठारप्रहारः। तदुक्त कमलशीलेनाऽपि तत्त्वसग्रहपञ्जिकाया -'शक्यमिदमित्यभिधातुम्-'

'न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥'

न सत्कार्यमिति व्यवहितेन सम्बन्धः । कस्मात्? सदकरणात्, उपादानग्रहणादित्यादेर्हेतोः" [त स प पृ ३१] यथा चैतत्तत्त्व तथाऽनुपदमेवोपपादितमस्माभिः ।

वासनामथ मुञ्चन्तु, समये साख्ययोगयोः। सदसत्कार्यवादाय प्रयते सावधानधीः ॥२॥

तथाहि-युगपत्प्रवृत्ताभिरन्वयशक्तिभिर्यथा पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्तास्सक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव

★ जयलता ★

तदुक्त तत्त्वसग्रहेऽपि शान्तरक्षितेन

''यदि दध्यादय; सन्ति दुग्धायात्मसु सर्वथा। तेषा सता किमुत्पाद्य हेत्वादिसदृशात्मनाम् ॥ [त स १७]

हेतुजन्य न तत्कार्यं सत्तातो हेतुवित्तिवत्। अतो नाभिमतो हेतुरसाध्यत्वात् परात्मवत् ॥१८॥

अथाऽस्त्यतिशयः कश्चिदभिव्यक्त्यादिलक्षणः। य हेतवः प्रकुर्वाणा न यान्ति वचनीयताम् ॥१९॥

प्रागासीद्यद्यसावेव न किञ्चिद्दत्तमुत्तरम्। नो चेत् सोऽसत्कथ तेभ्यः प्रादुर्भाव समश्नुते ॥२०॥

नातः साध्य समस्तीति नोपादानपरिग्रहः। नियतादपि नो जन्म न च शक्तिर्न च क्रिया ॥२१॥

सर्वात्मना च निष्पत्तेर्न कार्यमिह किञ्चन। कारणव्यपदेशोऽपि तस्मान्नैवोपपद्यते ॥२२॥

क्षीरादिषु च दध्यादि शक्तिरूपेण यत्र सत्। का शक्तिस्तत्र दध्यादि यदि दृश्येत दुग्धवत् ॥ [त स गा ३४

अन्यच्चेत् कथमन्यस्य भावेऽभक्त्याऽन्यदुच्यते। न हि सत्त्वस्य सद्भावः(? वे) सद्भावो दुःखमोहयोः ॥३५॥

मृद्विकारादयो भेदा नैकजात्यन्वितास्तथा। सिद्धा नैकनिमित्ताश्च मृत्पिण्डादेर्विभेदत, ॥४३॥इति।

यत्तु किरणावलीकृता ''सर्ववस्तुषु सत्त्व द्विविध सूक्ष्म स्थूल चाऽविरुद्धम्। तत्र कारणव्यापारैः सूक्ष्ममाव्रियते स्थूल च प्रकाश्यते, तमसाऽऽवृतघटस्य तेजसा प्रकाशनवत्। अतो न कारणव्यापारः निष्प्रयोजनः। अत एव नाऽनवस्थाऽपि अभिव्यक्तेरेव स्थूलसत्त्वाऽपरपर्यायत्वात्, अनभिव्यक्तेश्च सूक्ष्मसत्त्वाऽपरपर्यायत्वात्। प्रतिक्षणपरिणामकैः कारणैः सूक्ष्मसत्त्वाऽनुवर्तन यावत्, तावत् अभिव्यक्तिरावृता स्थूलकारणव्यापारैश्च प्रकाशिता भवति'' [सा त कौ किर टीका श्लो ९] इति गदित तत्र मनोहारि सताम्, स्थूलसत्त्वप्रकाशनस्य प्राक् सत्त्वे उपलम्भप्रसक्तेः, असत्त्वे च पश्चादपि तदभावः स्यात्, अन्यथाऽपसिद्धान्तदुष्टदन्दशूकदष्टत्व शक्रपराक्रमेणाऽपि न निवारयितु शाशक्येतेति। एतेन ''शक्तिर्नवीना नेवोत्पद्यते नैव प्राक्कालीना विनश्यति किन्तु स्थिरैकस्वभावैवेति जर्मनजनपदीयस्याऽऽधुनिकचितकस्य रेलमहोल्टसस्य वचन निरस्तम्।

सत्कार्यवादमेकान्त निराकृत्य हि साम्प्रतम्। पराणेतुमसत्कार्यं यत्नः किञ्चिद्विधीयते ॥१॥

मृत्पिण्डावस्थाया घटार्थक्रियाकारित्व-गुणव्यपदेशाभावात् 'उपादाने सर्वथाऽसदेवोत्पद्यते कार्यमि'त्ययमप्येकान्तो मिथ्यावाद एव। कार्योत्पत्तिकाले कारणस्याऽविचलितस्वरूपस्य कार्यादव्यतिरिक्तस्य सत्त्वे सत्कार्यवादप्रवेशप्रसङ्गात्। सर्वथा तद्व्यतिरिक्तस्य कार्यस्योत्पत्तौ कारणस्य प्राक्तनरूपेणैवावस्थितत्वात् अकारणा कार्योत्पत्तिर्भवेत्, कारणस्य प्राक्तनाऽकरणस्वरूपाऽपरित्यागात् परित्यागे वा कार्यकरणस्वरूपस्वीकारेण तस्यैव कथञ्चित्कार्यरूपत्वादनेकान्तसिद्धिः। व्यतिरेके च कारणात् कार्यस्य पृथगुपलम्भप्रसङ्गः। न च समवायेन तदाश्रितत्वेन तस्योत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्ग इति साम्प्रतम् अतिरिक्ताऽवयविनः समवायस्य च निषिद्धत्वात्।

यत्तु न्यायकन्दलीकृता 'अन्वयव्यतिरेकाभ्या तज्जातीयनियमने तज्जातीयस्य शक्त्यवधारणात्' [न्या क पृ ३४३] इति निगदितम्, तन्न, सर्वथाऽसतः नरशृङ्गवत् शक्त्यविषयत्वात्। न च कारणाऽभावादेव न नृशृङ्गोत्पाद न त्वसत्त्वादिति शङ्कनीयम् यतः सोऽपि कुतः? 'असत्त्वादि'ति चेत्? 'तदपि कुतः'? 'कारणाभावादि'ति चेत्? तर्हि अन्योन्याश्रयाक्रान्तविषमविषधरीविषावेगविधुरितता कथमुत्तार्यते तार्किकमन्यैः? न च 'अस्ती'तिधीविषयत्वाभावादेव न तज्जन्यत इत्यप्यङ्गीकर्तव्यम्, प्रध्वसे व्यभिचारात्। न च विधिनिषेधव्यवहाराऽविषयत्वान्न तदुत्पद्यत इत्यपि वक्तु शक्यते, नरशृङ्ग नास्तीति निषेधव्यवहारस्य जागरूकत्वात्। न च नरि शृङ्ग नास्तीति एव तदर्थ इत्यप्युचितम् विकल्पविषयस्याऽखण्डस्यैव नृशृङ्गस्य प्रतियोगित्वोल्लेखात्, अन्यथा 'इह नृशृङ्ग नास्ती'ति अनुपपत्तेरिति दिग्।

स्थिते चैवमेकान्तसत्कार्याऽसत्कार्यवादयोरप्रामाणिकत्वे प्रकरणकृदाह वासनामिति। सुगमत्वात्कारिका न तन्यते।

प्रतिज्ञातमेव निर्वहति - तथाहीति। युगपत्प्रवृत्ताभिः हेमादिसमानजीविताभिः हेमादिद्रव्यनिष्पादिकाभिः अन्वयवशक्तिभि = सामान्यशक्तिभिः, यथा पर्यायनिष्पादिका = अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाः, उत्पादव्ययाऽऽलिङ्गिताः क्रमप्रवृत्ताः व्यतिरेकव्यक्ती = पर्यायव्यक्तीः विशेषव्यक्त्यपराभिधानाः, तास्ता सक्रामतो द्रव्यस्य हेमादिलक्षणस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव द्रव्यार्थिकनयेनाभिमतः, तथा अङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः

● रमणीया ●

व्याख्याकार यही तत्त्व श्रोता को बताते हुए दूसरी कारिका मे कहते है कि→एकातवादी साख्य और नैयायिक (=यौग) के दर्शन (=सिद्धात) की वासना (=सस्कार) को छोड दो। सावधानबुद्धिवाले न्यायविशारद न्यायाचार्य सदसत्कार्यवाद के लिए प्रयत्न करते है॥२॥

त० । सदसत्कार्यवाद की सिद्धि इस तरह होती है। जैसे समकालप्रवृत्त द्रव्यकालीनस्थितिवाली द्रव्यनिष्पादक जो अन्वय शक्तियाँ हे, उनसे पर्यायनिष्पादक व्यतिरेकव्यक्तिओ = पर्यायव्यक्तिओ को धारण = सक्रमण करते हुए द्रव्य का सद्भावउत्पाद कहा जाता हे, ठीक वैसे ही उत्पादध्वसस्वभाववाली क्रमप्रवृत्त पर्यायनिष्पादक ऊन ऊन व्यक्तिरेकव्यक्तिओं के द्वारा समकालप्रवृत्त द्रव्यनिष्पादक अन्वयशक्तिओ

प्रादुर्भावः तथा क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिः ताभिः ताभिः युगपत्प्रवृत्ता अन्वयशक्तीः सङ्क्रामतो द्रव्यस्याऽसद्भावनिबद्धोऽपि, द्रव्यार्थिकेन सर्वस्य सतोऽपि पर्यायार्थिकेनाऽसत्त्वात्। तदुक्तम्-

[1]एवंविध सहावे दव्वं दव्वट्ठपज्जयट्ठेहिं। सदसब्भावणिबद्धं पाउब्भावं सदा लहदि॥ [प्र०सा०अ० २ गा० १९]

★ जयलता ★

क्रमप्रवृत्ताभि जन्मविनाशयुक्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभि =अङ्गदादिपर्यायोत्पादिकाभि. व्यतिरेकव्यक्तिभि =पर्यायव्यक्तिभिः ताभि ताभि जनिध्वंसवर्जिता युगपत्प्रवृत्ता स्थित्यैकलाञ्छिता हेमादिद्रव्यनिष्पादिका हेमादिसमानस्थितीः अन्वयशक्तीः सङ्क्रामतो = विपरिणामयतः द्रव्यस्य हेमादिलक्षणस्य, असद्भावनिबद्धोऽपि पर्यायार्थिकनयेन सम्मतः । तदेव एतत्समर्थनार्थं हेतुत्वेनोपदर्शयति -द्रव्यार्थिकेन नयेन सर्वस्य पदार्थजातस्य सतोऽपि = सत्त्वेऽपि पर्यायार्थिकेन नयेन तत्सत्त्वव्यवहारप्रयोजकसामग्रसमवधानदशाया तथाविधार्थक्रियाकारित्वादर्शनेन हेतुना असत्त्वात् = असत्त्वेनोपगमात् ।

अत्रैव संवाद दर्शयति - तदुक्तमिति । कुन्दकुन्दाचार्येण प्रवचनसार इति शेषः । एवंविधमिति । अत्र अमृतचन्द्रव्याख्यैव वर्तते - "एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधन द्रव्य सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम् । स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयताया सद्भावनिबद्ध एव स्यात् । पर्यायाभिधेयताया त्वसद्भावनिबद्ध एव । तथाहि- यदा द्रव्यमेवाऽभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवाऽवसानवर्जिताभिः यौगपद्यप्रवृत्ताभिः द्रव्यनिष्पादिकाभिः अन्वयशक्तिभिः प्रभवाऽवसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीः तास्ताः सङ्क्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः, हेमवत् । तथाहि- यदा हेमैवाऽभिधीयते नाऽङ्गदादयः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिः यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः सङ्क्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः । यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्य तदा प्रभवाऽवसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभि व्यतिरेकव्यक्तिभिः ताभिः ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तीः सङ्क्रामतो द्रव्यस्याऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावो हेमवदेव । तथाहि- यदाऽङ्गदादिपर्याया एव अभिधीयन्ते न हेमतदाऽङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभि अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिः व्यतिरेकव्यक्तिभिः ताभिः ताभिः हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेम निष्पादिका अन्वयशक्तीः सङ्क्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः ।

अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकाः ताः ता. व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्याऽन्वयशक्तित्वमापन्ना पर्यायान् द्रव्यीकुर्युः तथाऽङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिः ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्याऽन्वयशक्तित्वमापन्नाभिः अङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन् । द्रव्याभिधेयतामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्नाभिः हेम अङ्गदादिपर्यायमात्रीक्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसदित्यनवद्यम्" [प्र सा अ टी पृ १५०] इति ।

जयसेनीयव्याख्यालेशस्त्वेवम् - "यथा यदा काले द्रव्यार्थिकेन विवक्षा क्रियते यदेव कटकपर्याये सुवर्णं तदेव कङ्कणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। 'कस्मादि'ति चेत्? द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणाऽविनष्टत्वात्। यदा पुनः पर्यायविवक्षा क्रियते कटकपर्यायात् सकाशादन्यो यः कङ्कणपर्यायः सुवर्णसम्बन्धी स एव न भवति तदा पुनरसदुत्पादः। 'कस्मादि'ति चेत्? पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वात्" [प्रसा ज टी पृ १५०] इति।

● रमणीया ●

को धारण करते हुए द्रव्य का असदुत्पाद भी कहा जाता है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से प्राक् विद्यमान का भी पर्यायार्थिकनय मे असद्भाव होता है। आशय यह है कि जब द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा मे कहते है तब यह कहा जाता है कि - द्रव्य जिन पर्यायो को धारण करता है, उन उन पर्यायो मे वही द्रव्य अवस्था के परिवर्तन मे अन्य कहा जाता है। इसीका नाम है- असद्भावनिबद्ध उत्पाद = असदुत्पाद। कहा भी गया है कि - इस प्रकार द्रव्य स्वभाव मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सत् और असत्, इन दो भावो से संयुक्त उत्पत्ति को सदा प्राप्त करता है। जैसे व्यतिरेक व्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति को, जो द्रव्यसमानकालीन स्थितिवाली हैं, प्राप्त कर के द्रव्यनिष्पादक अन्वयशक्ति स्वरूप बन कर पर्यायो को द्रव्य बनाती है ठीक वैसे ही द्रव्यनिष्पादक अन्वयशक्तियाँ भी क्रमिक प्रवृत्ति को प्राप्त कर के उन उन पर्यायव्यक्ति के स्वरूप को अपनाकर द्रव्य को पर्यायस्वरूप बनाती है - यह सिद्धान्त है। आशय यह है कि कंकणादि पर्याय की निष्पादक सुवर्णशक्ति कंकणादि पर्यायो को सुवर्ण द्रव्य करती है। वैसे ही सुवर्ण द्रव्य भी अपनी शक्तियो से कंकणादि स्वपर्यायो में क्रम से उत्पन्न होने से द्रव्य भी तब पर्याय स्वरूप बनता है। अत असदुत्पाद मे जो पर्याय है, वे द्रव्य ही है और सदुत्पाद मे जो द्रव्य है, वह पर्याय ही है। इस तरह द्रव्य-पर्याय मे भेदाभेद होने से सदसत्कार्यवाद की सिद्धि होती है।

१ - एवंविधे स्वभावे द्रव्य द्रव्यार्थ-पर्यायार्थाभ्याम्। सदसद्भावनिबद्ध प्रादुर्भाव सदा लभते॥ इति छाया ।

यथा च व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्याऽन्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रव्यीकुर्युः तथाऽन्वयशक्तयोऽपि क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युरिति सिद्धान्तः ।

अथ घटस्य कारणव्यापारात्प्राक्सत्त्वे चाक्षुषं स्यादिति चेत् ? भवत्येव मृत्त्वेन रूपेण । घटत्वेन स्यादिति चेत् ?

★ जयलता ★

अथ प्रकरणकारः राद्धान्तमाह- यथा चेति। इदमनूद्याऽमृतचन्द्रीपतत्त्वप्रदीपिकाव्याख्याया भावितार्थत्वान्नेह तन्यते।

एवञ्चैकान्तेन सदसतोरजन्यत्वात् अजनकत्वाच्च कार्यकारणभावस्याऽघटमानत्वात् कथञ्चित् सदसतोरेव जन्यत्व जनकत्वञ्च विश्राम्यतः । न चैकस्य सदसद्रूपत्व विरुद्धम्, भेदाभेदस्य इव जात्यन्तररूपस्य सदसत्त्वस्यैकदैकत्राऽबाधिताऽध्यक्षतः प्रतिपत्तेः । न च भवतु सदसत्त्व जात्यन्तररूप तथापि तदेकत्र सत्त्व-तदभावप्रतीतिर्व्यङ्ग्यम्, तयोश्चैकत्रावच्छेदकभेद विना प्रतीत्यनुपपत्तेरिति वक्तव्यम् द्रव्यत्व-पर्यायत्वयोरेव तदवच्छेदकत्वसम्भवात् । द्रव्यरूपेण सतः पर्यायस्य प्रागपि द्रव्यरूपेणोपलम्भात् पर्यायरूपेण चानुपलम्भात् । एतेन कार्यस्य कारणव्यापारात् प्राक् सत्त्वे उत्पत्तिपदार्थ एव विलीयेत, कार्यस्य प्रागपि सत्त्वेनाऽऽद्यक्षणसम्बन्धरूपतदभावादिति निराकृतम्, पर्यायरूपेण प्रथमक्षणसम्बन्धरूपपर्यायोत्पादस्य सुघटत्वात् । न चेदेवम्, उपादानकारणत्वमेव दुर्घट स्यात्, समवायनिरासेन स्वसमवेतकार्यकारित्वलक्षणतदसिद्धेः ।

सदसत्कार्यवादस्तु परेषामप्यभिमतः । तदुक्त विधिविवेके मण्डनमिश्रेण "निरुपादानकार्यानुत्पादात् तदत्यन्तव्यतिरेकाऽभावात् उपादेयस्योपादान-रूपेण सत उत्पत्तिरुच्यते । सर्वात्मना तु सत्त्वे तदनुपपत्तेः [=तस्मादुत्पत्तेरनुपपत्तेः] वैयर्थ्याच्चोपादेयवत् [वि वि पृ २४]

वाचस्पतिमिश्रेणाऽपि विमुक्ताऽसद्ग्रहेण विधिविवेकटीकाया न्यायकणिकाऽभिधानाया - "धर्मधर्मिभावो नैकान्तिकभेदे भवितुमर्हति गवाश्वस्येव । नाऽप्यभेदे ऐकान्तिके, धर्मिरूपस्येव । तस्मात् कथञ्चिद्भेदः कथञ्चिदभेद एषितव्यः । सोऽयमनेकान्ताऽभ्युपगम इति" [वि वि न्या क पृ २५] प्रतिपादितम्। न्यायकन्दल्या 'असदेकस्वभाव गगनकुसुम, सदसत्स्वभाव तु घटादिकम्' [न्या क पृ ३४२] इति वदन् श्रीधरोऽपि स्याद्वादमनुपतति ।

वस्तुतस्तु गौतमीयदर्शने सदसत्कार्यवाद एवाभिमतः । तदुक्त न्यायसूत्रवैदिकवृत्तौ हरिप्रसादस्वामिनाऽपि "निष्पत्तेः प्राक् फल = कार्यं सदसदिति वेदितव्यम् । कुतः ? 'उत्पादव्ययदर्शनात्' [न्या सू अ.४.आ १ सू ४९] तदुत्पत्तिविनाशयोरुपलभ्यमानत्वात् । चेदुत्पत्तेः प्राक् कार्यमसद् भवेत्- न जातु उत्पद्येत, असतः शशशृङ्गादेरुत्पत्त्यदर्शनात् । सच्चेत् न कदाचिद्विनश्येत्, पुरस्तात् सतः पश्चादपि सत्त्वनियमेन विनाशाऽसम्भवात्। उत्पद्यते विनश्यति च कार्यम् । तस्मात् भवति प्रतिपत्तिर्नूनमेतदुत्पत्तेः प्राक् नाऽसदस्ति, नापि सत् किन्तु सदसदिति" [न्या वै वृ] इति ।

वैशेषिकदर्शनेऽपि सदसत्कार्यवाद एवाभिमतः । तदुक्त 'सदसत्' [वै सू अ ९,आ १ सू २] इति वैशेषिकसूत्रवैदिकवृत्तौ- "प्राक् कारणात्मना सद् भवत्कार्यात्मना कार्यमसद्भवतीत्यर्थः । तदेव हि कारणव्यापारेण न कथञ्चिदुत्पद्येत, यत्केनाऽपि रूपेणोत्पत्तेः पूर्वं सद् न भवेत्, यथा सिकतासु तैलम् । कार्यजात तु प्रागुत्पत्तेः कारणात्मना सद् भवेदेव, कार्यात्मना भवत्यसत् । अतो न कश्चिद् दोष इति भावः" [वै सू वै वृ पृ १७४] इति। केवल भाष्य-वार्तिककारादिभिर्न्यायवैशेषिकसिद्धान्तो विकार्यतामापादित इति ध्येयम् । किञ्च 'असदेवेदमग्रे आसीत् तत् सदासीत्' [तै ब्रा २/१/९/१] इति तैत्तरीयब्राह्मणवचनाच्च सदसत्कार्यवादः श्रुतिसिद्ध इत्यल चसुर्या ।

नैयायिकः प्रतिवदति - अथेति । कारणव्यापारात् = कुलालादिव्यापारात् प्राक् = प्राक्कालावच्छेदेन, सत्त्वे = कपालवृत्तित्वेऽभ्युपगम्यमाने इति शेषः । सति स्वविषये इन्द्रियादिकारणकलापस्य साक्षात्कारजनकत्वात् तदानी घटचाक्षुषापत्तिर्दुर्निवारेति नैयायिकाशयः । इष्टापत्तित्वेन स्याद्वादी तदङ्गीकरोति भवत्येवेति । कुलालादिव्यापारात्प्राक्कालावच्छेदेन घटचाक्षुष भवत्येव । मृत्त्वेन रूपेण । घटत्वेन घटचाक्षुषविरहेऽपि मृत्त्वेन घटचाक्षुष भवत्येवेत्यर्थः । एवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थः ।

ननु तदानी घटस्य सत्त्वे मृद्रूपेणेव घटत्वेनाऽपि घटचाक्षुषोदयः स्यादित्याशयेन नैयायिक आह- घटत्वेन स्यादिति तच्चाक्षुष स्यादित्यर्थः ।

● रमणीया ●

● प्राक् काल मे घट मृद्रूपेण सत्, घटत्वरूप से असत् -स्याद्वादी ●

अथ० इति । अब यहाँ नेयायिक को यह शका हो कि→ 'घट कुलालादिव्यापार के पूर्वकाल मे भी द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से विद्यमान ही है तब तो मृत्पिड के साथ चक्षुसन्निकर्ष होने पर घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योकि विषय विद्यमान हो तथा इद्रिय आदि सामग्री विद्यमान हो तब तो विषय का साक्षात्कार होना न्यायप्राप्त है । अन्यथा घटादि का त्रिकाल मे ज्ञान ही नही होगा' ← तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि मृद्रूप से घट का चाक्षुष साक्षात्कार कुम्हार आदि के व्यापार के पूर्व काल मे भी होता ही हे । 'अय मृत्पदार्थ' इत्यादि रूप से घट का चाक्षुष सर्वजनविदित ही है । यहाँ यह कहना कि→'कुभकारादिव्यापार के प्राक् जैसे घट का मृत्त्वरूप से साक्षात्कार होता है वेसे घटत्वरूप से भी होना चाहिए, क्योकि तब घट तो विद्यमान ही है←भी ठीक नही है, क्योकि कुलालादिव्यापार से प्राक् घट की सत्ता मृत्त्वरूप से होती है लेकिन घटत्वरूप से होती नही है । भला जो जिस रूप से जिस अवस्था मे न हो उसका उस रूप (=धर्म) से उस अवस्था मे केसे प्रत्यक्ष हो सकता ? हो, तब भी वह भ्रान्त होगा । अत कुभकारव्यापारप्राक्कालावच्छेदेन घटचाक्षुष का घटत्वरूपेण अनुदय ठीक ही हे ।

● कार्यकारण मे कथचित् अभेद होने से प्राक् कालावच्छेदेन कार्यसिद्धि ●

कपालस्य० इति । जैसे कारणरूप से कार्य का प्रत्यक्ष प्राक् काल मे होने से प्राक् कालावच्छेदेन कार्य की सत्ता सिद्ध होती

न, तेन रूपेण प्रागसत्त्वात् । कपालस्य घटेऽविष्वग्भावेन हेतुत्वादपि प्राक्सत्त्वसिद्धिः ।

अथ घटप्रागभावसत्त्वे घटसत्त्वं कथमिति चेत् ? तयोरविरोधादिति गृहाण । कथं इति चेत् ? अस्तित्वनास्तित्वयोरेकपरिणामात् ।

★ जयलता ★

स्याद्वादी तन्निराचष्टे - न, तेन रूपेण = घटत्वेन रूपेण, प्राक् = कुलालादिव्यापारप्राक्कालावच्छेदेन, असत्त्वात् = घटप्रतियोगिकसत्त्वविरहात् । अयं भावः परिणयनकाले चैत्रस्य चैत्रत्वादिना रूपेण साक्षात्कारे सत्यपि मैत्रपितृत्वेन साक्षात्कारस्तु संवत्सरकालादनन्तरमेव भवति, तदानीं तत्पितृत्वेन तस्याऽसत्त्वात् । न च पूर्वं मैत्रपितृविषयकसाक्षात्कारो न भवत्येवेति वाच्यम् मैत्रपितृणा सार्धमाबाल्यकालान्मम मैत्र्यामिदित्याद्यबाधितव्यवहारान्यथानुपपत्तेः । एवञ्च मृत्पिण्डाद्यवस्थाया मृद्रूपेण घटचाक्षुषोदये जातेऽपि घटत्वेन रूपेण तदनुदयोऽप्युपपद्यते । एतेन तदानीं घटत्वविनिर्मुक्तघटसाक्षात्कारापत्तिरपि प्रत्युक्ता घटत्वविनिर्मुक्तविषयिताकस्य मृत्त्वप्रकारकघटविषयकचाक्षुषस्य तदानीमिष्टत्वात् । न च भ्रमत्वप्रसङ्गः, तद्वति तत्प्रकारकत्वात् ।

हेत्वन्तरेण मृत्पिण्डावस्थाया घटसत्ता साधयति स्याद्वादी कपालस्येति । अस्य हेतुत्वादित्यत्राऽन्वयः । घटे इति । सप्तम्यर्थो निरूपितत्वं अन्वयश्च तस्य हेतुत्वे । अविष्वग्भावेनेति । पराभिमतसमवायस्याऽसिद्धत्वात् तादात्म्यसम्बन्धेनेत्यर्थः तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वम् । हेतुत्वादिति हेतुत्वमाश्रित्य, गम्ययपः कर्माधारे' [सि हे २/१/७४] इति सिद्धहेमवचनात् । अपिशब्दोऽनुपदोक्तसमुच्चयार्थः। एवञ्च घटनिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकपालहेतुत्वम्- लभ्यापि कारणव्यापारात् प्राक्कालावच्छेदेन घटसत्त्वसिद्धिः किंपुनः तदानीं मृद्रूपेण घटचाक्षुषमाश्रित्येति समुदितार्थः । अयं भावः यद् यदविष्वग्भूतं तत् तत्सत्त्वे सदेव यथा मृत्स्वरूपं मृदविष्वग्भूतं मृत्सत्त्वदशायां सदेव । मृदविष्वग्भूतश्च घटः, तस्मात् प्राक् मृदवस्थायामपि सन्नेव स । अतः कुलालादिव्यापारात् प्राक्कालावच्छेदेनाऽपि घटसत्त्वं सिध्यति ।

ननूपादाने कर्तृव्यापाराभावस्य कार्यप्रागभावव्याप्यत्वात् कुलालव्यापारप्राक्कालावच्छेदेन घटप्रागभावसत्त्वेन घटसत्त्वं न भवितुमर्हति प्रागभावस्य स्वप्रतियोग्यभावव्याप्यत्वादित्याशयेन नैयायिकः शङ्कते- अथेति । घटसत्त्वं कथमिति । कुलालव्यापारात्प्राक् घटसत्ता न युक्तिमतीति अयमाशयः । स्याद्वादी समाधत्ते- तयोरिति घट-तत्प्रतियोगिकप्रागभावयोः । कथमिति अविरोधः कथं तयोरिति पराशयः । स्याद्वादी समाधत्ते- अस्तित्वनास्तित्वयोरेकपरिणामादिति । घट-तत्प्रागभावयोरभिन्नद्रव्यपर्यायत्वात् । तयोः परस्परमनुविद्धत्वान्न विरोध इत्याशयः ।

यत्तु "न सन्नाऽसन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा" [मा का] इति नागार्जुनकृतमध्यमकशास्त्रं व्याख्यानयता चन्द्रकीर्तिना "सन्न निर्वर्तते, विद्यमानत्वात् । असन्नपि, अविद्यमानत्वात् । सदसन्नपि, परस्परविरुद्धस्यैकार्थस्याऽभावात्, उभयपक्षाभिहितदोषाच्च" इत्युक्तं, तन्न चारु, यतो न हि वयं निष्पत्तेः प्राक् येन रूपेण सद् वर्तते तेनैवाऽसदित्यभ्युपगच्छामः किन्तु अन्येन रूपेण । कारणरूपेण सतः कार्यरूपेणाऽसत्त्वस्योपगमे विरोधाभावात् । दीर्घह्रस्वादिवत् सदसत्त्वयोरपेक्षाभेदेनैकत्र समावेशः प्रतीतिबलादङ्गीकर्तव्य इति दिक् ।

● रमणीया ●

है ठीक वैसे ही कार्य-कारण में कथंचित् अभेद होने से भी प्राक् कार्यसत्ता सिद्ध होती है। आशय यह है कि कपाल घट के प्रति अविष्वग्भाव संबंध से कारण होता है। अविष्वग्भाव कहो या तादात्म्य कहो या भेदाभेद कहो या कथंचित् अभेद कहो ये सब अनर्थान्तर (=पर्यायवाची शब्द) है। उपादान और उपादेय में तादात्म्य तो बहुजनप्रसिद्ध है। समवायसंबंध असिद्ध होने से समवायसंबंध से उपादान-उपादेयभाव नामुमकिन है। इस तरह घट और कपाल अभिन्न होने से भी घट की सत्ता कपालवस्था में भी सिद्ध होती है। अतः कुलालव्यापार के पूर्व काल में घट की सत्ता मानने में कोई दोष नहीं है।

● प्रागभाव और कार्य में परस्पर विरोध नहीं ●

अथ घटप्रा० इति। यहाँ यह शंका हो कि→ कुलालव्यापार के प्राक् काल में तो घट का प्रागभाव होता है। अतएव कुलाल कपाल में प्रवृत्ति करता है। यदि कपालावस्था में भी घट की सत्ता मानी जाय तब तो कपाल में घट का प्रागभाव रह नहीं सकता और यदि तब घटप्रागभाव कपाल में माना जाय तब घट की सत्ता अप्रामाणिक बनेगी, क्योंकि प्रागभाव और कार्य में सहानवस्थान नाम का विरोध होता है। कपालावस्था में घटप्रागभाव तो प्रसिद्ध ही है। अतः घटसत्ता तब हो नहीं सकती'←तो यह नामुनासिब है। इसका कारण यह है कि घटप्रागभाव और घट में विरोध ही होता नहीं है। इन दोनों में विरोध न होने का कारण यह है कि अस्तित्व और नास्तित्व का एक परिणाम होता है। आशय यह है कि घटप्रागभावरूप नास्तित्व और घटात्मक अस्तित्व परस्पर कथंचित् अभिन्न होते हैं। परस्पर अभिन्न होने से उन दोनों में विरोध नहीं है। अतएव वे एक समय में भी एकाधिकरण में रह सकते हैं।

स्यादेतत् -विजातीयसयोगस्य जन्यसाक्षात्कारत्वं जन्यतावच्छेदकमस्तु न तु जन्यद्रव्यत्वमनन्तद्रव्यप्रागभावप्रध्वसाभावकल्पनागौरवात् । न च विजातीयसयोग विनाऽपि गुणादौ द्रव्यसाक्षात्कारोदयाद् व्यभिचारः, द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयतायाः कार्यतावच्छेदकसब-

★ जयलता ★

द्रव्यमात्रस्य नित्यत्ववादिन नव्यनास्तिक पूर्वपक्षयति - स्यादेतदिति । 'बोध्य'(दृश्यता १३९ तमे पत्रे) इत्यन्तमय पूर्वपक्ष इति ध्येयम् । विजातीयसयोगस्य = कपालद्वयादिविषयकविलक्षणसयोगस्य, जन्यसाक्षात्कारत्व = जन्यत्वसमानाधिकरणप्रत्यक्षत्व, जन्यतावच्छेदकमस्तु लाघवात्, न तु जन्यद्रव्यत्व = सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टद्रव्यत्वम्, द्रव्यत्वमित्येवोक्तावनुत्पाद्येऽपि स्वरूपयोग्यतारूपकार्यतापत्तेर्जन्यपदोपादानम् । हेतुमाह - अनन्तद्रव्यप्राग- भाव-प्रध्वसाभावकल्पनागोरवादिति । यद्यपि द्रव्यत्वावच्छिन्नानुयोगिकनित्यत्वोपगन्तुः साख्यस्य मतेऽपि द्रव्यविषयकजन्यप्रत्यक्षप्रतियोगिकानन्तप्रागभाव-प्रध्वसाभावकल्पनागौरवमव्याहतमेव तथापि द्रव्यप्रतियोगिकप्रागभावादिकल्पनाविरहेण लाघवम् । प्रतिवादिमते तु द्रव्यप्रतियोगिकानतप्रागभावादिकल्पनेऽपि द्रव्यविषयकसाक्षात्कारप्रतियोगिकानतप्रागभावादिकल्पनाया आवश्यकत्वाद् गौरव सुस्पष्टमेव । एवञ्च लाघवात् विजातीयसयोगनिष्ठकारणतानिरूपितायाः कार्यताया अवच्छेदक जन्यसाक्षात्कारत्वमेवेत्युपगन्तुमर्हतीति भावः ।

ननु विजातीयसयोगस्य गुणत्वेन गुणादिवृत्तित्व न सभवति, गुणादीना निर्गुणत्वात् । गुणादिगोचरस्साक्षात्कारस्तु जायत एवेति कथ न व्यतिरेकव्यभिचार इत्याशय निराकर्तुं दर्शयति - न चेति । गुणादाविति । आदिपदेन कर्म-सामान्य-विशेष-समवायादेर्ग्रहणम् । सप्तम्यर्थ, प्रकारत्वाख्यविषयत्वम् । अन्वयश्चास्य द्रव्यसाक्षात्कारोदयैकदेशसाक्षात्कारे । ततः गुणादिप्रकारक-द्रव्यविशेष्यकप्रत्यक्षजन्मदर्शनादित्यर्थः । व्यभिचार = व्यतिरेकव्यभिचारः । अय शङ्काशयः विषयतासबन्धेन जन्यसाक्षात्कार प्रति समवायेन विजातीयसयोगस्य कारणत्वे कल्प्यमाने प्रकारताख्यविषयतासबन्धेन गुणप्रकारक-द्रव्यविशेष्यकसाक्षात्काराधिकरणे समवायेन विजातीसयोगस्य विरहेण व्यतिरेकव्यभिचारस्य कारणताग्रहविघटकस्य दुर्निवारत्वान्नाय कार्य-कारणभावो युक्तः । समाधत्ते - द्रव्यनिष्ठलोकिकविषयताया = द्रव्यानुयोगिकलौकिकविषयतायाः, कार्यतावच्छेदकसवन्धत्वेन

● रमणीया ●

● सब द्रव्य सर्वथा नित्य - नव्यनास्तिक पूर्वपक्ष[1] ●

पूर्वपक्षः - स्यादेतत्० इति । विजातीसयोग का कार्यतावच्छेदक जन्यसाक्षात्कारत्व हो-यही उचित है, न कि जन्यद्रव्यत्व, क्योकि जन्यद्रव्यत्व को कार्यतावच्छेदक मानने पर द्रव्यप्रतियोगिक अनत प्रागभाव और प्रध्वसाभाव की कल्पना का गौरव उपस्थित होता है । आशय यह है कि कपालद्वयविलक्षणसयोग को घट का कारण माना जाय तव कार्यतावच्छेदक होगा घटत्व, जो कि जन्य द्रव्य मे ही रहता है। किन्तु जो कार्यतावच्छेदक का आश्रय होता है उसका प्रागभाव भी तदुत्पत्ति मे कारण होता है । अत घटादि अनत द्रव्य के अनत प्रागभाव की कल्पना असत्कार्यवादी को करनी होगी । तथा असत्कार्यवादी के मत मे जन्य भावमात्र अनित्य होने से ध्वस का प्रतियोगी होता है । अत जन्य 'द्रव्य को प्रतियोगी वनानेवाले अनत प्रध्वसाभाव की कल्पना उस मत मे प्रसक्त होती है । इस तरह विजातीय सयोग का कार्यतावच्छेदक जन्यद्रव्यत्व माननेवाले असत्कार्यवादी के मत मे अनत द्रव्यप्रागभाव और द्रव्यप्रध्वसाभाव की कल्पना करनी पडती है । जव कि जन्यसाक्षात्कारत्व को विलक्षणसयोग का कार्यतावच्छेदक मानने पर जन्यद्रव्यप्रतियोगिक अनत प्रागभाव ओर प्रध्वसाभाव की कल्पना अनावश्यक है, क्योकि द्रव्यमात्र ही हमारे पक्ष मे नित्य है । नित्य पदार्थ का न तो प्रागभाव होता है ओर न तो ध्वसाभाव होता है । अत लाघवसहकार से विलक्षणसयोग का कार्यतावच्छेदक जन्यप्रत्यक्षत्व मानना ही उचित महसूस होता है ।

शका:- न च वि० इति । लाघव-गौरव की प्रवृत्ति तव होती हे जव व्यभिचार आदि दोष प्रसक्त न हो । जन्यद्रव्यत्व को विजातीय सयोग का कार्यतावच्छेदक माननेवाले असत्कार्यवादी के मत की' अपेक्षा जन्यसाक्षात्कारत्व मे कार्यतावच्छेदकता की मान्यता देने वाले सत्कार्यवादी के मत मे लाघव जरूर है मगर व्यतिरेक व्यभिचार दोष मुँह फाडे खडा रहता है । इसका कारण यह है कि गुणादि मे विलक्षणसयोग रहता नही है, क्योकि विजातीयसयोग गुण है और गुण का आश्रय गुण होता नही है । परावलवी को परावलवी आश्रय क्या देगा ? प्रकारताख्यविषयता सवध से द्रव्यविशेष्यक साक्षात्कार गुण मे उत्पन्न होता है तथा कार्याधिकरणीभूत गुण मे समवाय सवध से विलक्षणसयोग रहता नही है । कारण के विरह मे कार्य की उत्पत्ति होने से यहाँ व्यतिरेक व्यभिचार दोप का प्रसग दुर्निवार हे । व्यभिचारग्रह कार्य-कारणभाव का प्रतिवधक होता है । अत विजातीय सयोग और द्रव्यसाक्षात्कार के वीच हेतु-हेतुमद्भाव को मान्यता नही दी जा सकेगी ।

● द्रव्यानुयोगिक लौकिकविषयता कार्यतावच्छेदक सवध - नव्यनास्तिक पूर्वपक्ष ●

समाधानः- द्रव्यनिष्ठ० इति । जनाव, व्यतिरेकव्यभिचार दोष तव कहा जा सकता है जव कार्यतावच्छेदक सवध से कार्य के अधिकरण मे कारणतावच्छेदक सवध मे कारण का अभाव हो । प्रस्तुत मे कार्यतावच्छेदक सवध सिर्फ विषयता सवध नही है किन्तु

[1] उत्तरपक्ष का पत्राङ्क १८० से प्रारभ होता है ।

न्यत्वेन तदुद्धारात् । एतेन द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे मूर्तसाक्षात्कारत्वादिना विनिगमनाविरहः, स्वाश्रयविषय-

★ जयलता ★

तदुद्धारात् = व्यतिरेकव्यभिचारप्रच्यवात् । अय समाधानाशयः विषयतासामान्यमेव न विजातीयसंयोगीयकार्यतावच्छेदकसंबन्धः, येन व्यतिरेकव्यभिचारपिशाचसंचारसुस्यात् परन्तु द्रव्यानुयोगिकलौकिकविषयतैव । तादृशसंबंधेन जन्यसाक्षात्कारो गुणादौ न जायते किन्तु द्रव्य एव । तत्र च समवायेन विजातीयसंयोगोऽस्त्येवेति न व्यभिचारलेशगन्धोऽपि ।

ननु द्रव्यवृत्तिविषयताया एव विजातीयसंयोगीयजन्यतावच्छेदकसंबन्धत्वमस्तु, लौकिकपदनिवेशस्यानतिप्रयोजनत्वादिति चेत्? मैवम्, 'घटाकाशौ पश्यति' इत्यादौ द्रव्यानुयोगिकालौकिकविषयतावति निरवयवे गगने समवायेनासमवायिकारणीभूतविजातीयस्वावयवसंयोगविरहेण पुनर्व्यतिरेकव्यभिचारापत्तेः । एवञ्च सामान्यलक्षण-ज्ञानलक्षणान्यतरप्रत्यासत्त्या जायमानोपनीतभानविषयीभूतद्रव्यव्यवच्छेदार्थं लौकिकपदनिवेशस्याऽऽवश्यकत्वात् । एतेन अलौकिकविषयताशालिनि अनुत्पन्नादिद्रव्ये विजातीयसंयोग विनाऽपि साक्षात्कारस्य जायमानत्वाद् व्यतिरेकव्यभिचारः प्रत्युक्तः, अनुत्पन्नप्रभृतिद्रव्यसाक्षात्कारस्य प्रदर्शितसंकुचितकार्यताकोटिबहिर्भूतत्वात् ।

ननु लौकिकविषयताया एव विजातीयसंयोगीयजन्यतावच्छेदकसंसर्गत्वमस्तु लाघवात् । न च गुणादौ द्रव्यगोचरजन्यसाक्षात्कारस्य लौकिकविषयतया जायमानत्वाद् व्यभिचारपरपुरुषसंगतिमालिन्य कारणताक्रान्ताया इति वाच्यम् सामानाधिकरण्येन विजातीयसंयोगस्य गुणादावपि सत्त्वात्, समवाय-सामानाधिकरण्याऽन्यतरसंबन्धस्यैव कारणतावच्छेदकत्वादिति चेत्? अहोऽपूर्वसूक्ष्मेक्षिका देवानाम्प्रियस्य अन्यतरत्वस्य तद्भिन्नभिन्नरूपत्वेन गुरुतरत्वात्, शब्द-ज्ञानेच्छादौ सामानाधिकरण्येन विजातीयसंयोगस्य विरहेऽपि प्रत्यक्षजन्मदर्शनेन व्यभिचारस्य वज्रलेपायितत्वाच्चेति घट्टकुटीप्रभातन्यायागमः ।

एतेनेति । द्रव्यानुयोगिकलौकिकविषयतासंबन्धेन जन्यसाक्षात्कारत्वस्यैव विजातीयसंयोगकार्यतावच्छेदकधर्मत्वाभ्युपगमेन । अन्वयश्चास्याऽग्रिमेत्यत्र । द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे = विजातीयसंयोगकार्यतावच्छेदकत्वे । मूर्तसाक्षात्कारत्वादिनेति । आदिपदेन स्पर्शवत्प्रत्यक्षत्वादेर्ग्रहणम् । अय शंकाशयः अमूर्तद्रव्यविषयकलौकिकसाक्षात्कारो न कदापि भवति, तस्याऽयोग्यत्वात् । अतः विजातीयसंयोगनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकत्वमविशेषेण द्रव्यसाक्षात्कारत्वमूर्तसाक्षात्कारत्वयोर्वर्तते । अतो नैकतरनिर्णयो भवितुमर्हतीति विनिगमनाविरहेणोभययोः कार्यतावच्छेदकत्वापत्त्या गौरवम् ।

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वमेव परम्परया कार्यतावच्छेदकमित्याशङ्कायामाह स्वाश्रयविषयतासंबन्धमिति । स्वाश्रयविषयतानिरूपितविषयितासंसर्गमिति

● रमणीया ●

द्रव्यवृत्ति लौकिकविषयता है । प्रस्तुत कार्यतावच्छेदक संबंध से गुणप्रकारक-द्रव्यविशेष्यक 'गुणवत् द्रव्य' इत्यादि साक्षात्कार द्रव्य में ही रहता है, गुण में नहीं । इसका कारण यह है कि उक्त साक्षात्कार का विशेष्य द्रव्य है और प्रकार गुण है । अतः यहाँ व्यतिरेक व्यभिचार दोष का उद्भावन करना अपनी अज्ञता का ही सूचक है । हाँ, गुणनिष्ठ लौकिकविषयता को कार्यतावच्छेदक संबंध मानने पर व्यतिरेक व्यभिचार दोष जरूर प्रसक्त होता, मगर वह तो कार्यतावच्छेदक संबंध ही नहीं है । फिर व्यभिचार दोष को स्थान कहाँ? साँच को आँच कहाँ? झूठ को पाँव कहाँ?

यदि द्रव्यनिष्ठ विषयता को ही कार्यतावच्छेदक संबंध माना जाय तो निरवयव द्रव्य का जिसमें उपनीतभान होता है ऐसे 'घटाकाशौ पश्यति' इत्यादि प्रत्यक्ष में पुनः व्यतिरेकव्यभिचार प्रसक्त होगा, क्योंकि द्रव्यनिष्ठविषयता संबंध से उक्त प्रत्यक्ष का अधिकरण तो आकाश भी होता है, मगर वह निरवयव होने के सबब असमवायिकारणीभूत विलक्षणसंयोग का अनधिकरण होता है । इस व्यतिरेक व्यभिचार के निवारणार्थ विषयता के विशेषणरूप में लौकिकपद का निवेश किया गया है । अब व्यभिचार दोष को स्थान नहीं है, क्योंकि आकाश अमूर्त होने से लौकिक बाह्य प्रत्यक्ष की विषयता का आश्रय होता नहीं है । अतः द्रव्यवृत्ति लौकिकविषयतासंबंध से उक्त प्रत्यक्ष का अधिकरण गगन नहीं है किन्तु घट ही है, जिसमें कपालद्वय का विजातीय संयोग रहता ही है । इस तरह अब व्यभिचार दोष की गंध भी प्रसक्त नहीं है ।

● विनिगमनाविरह दोष आशंका - नैयायिक ●

शंका :- एतेन द्रव्यसा० इति । समवाय संबंध को कारणतावच्छेदक तथा द्रव्यवृत्ति लौकिकविषयता को कार्यतावच्छेदक संबंध मानने पर भी यह समस्या मुँह फाडे खडी है कि- 'विजातीय संयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म किसे माना जाय' ? यदि द्रव्यसाक्षात्कारत्व को विजातीयसंयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म माना जाय तब मूर्तसाक्षात्कारत्व को ही क्यों उसका कार्यतावच्छेदक न माना जाय ? - इस समस्या का निर्णायक कोई तर्क या जवाब नहीं मीलता है । अतः द्रव्यसाक्षात्कारत्व की भाँति मूर्तसाक्षात्कारत्व को भी कार्यतावच्छेदक मानना होगा या तो दोनो मे से एक भी कार्यतावच्छेदक धर्म नहीं होगा, अन्यथा अर्धजरतीय न्याय का प्रसंग होगा । दोनो को कार्यतावच्छेदक मानने पर गौरव होगा । यदि परंपरासंबंध से द्रव्यत्व को ही कार्यतावच्छेदक धर्म माना जाय तो भी मूर्तत्व आदि धर्म मे विनिगमनाविरह दोष प्रसक्त होगा । आशय यह है कि स्वाश्रयविषयतानिरूपित विषयिता को कार्यतावच्छेदकतावच्छेदक संबंध मान कर, विजातीयसंयोग के कार्यभूत द्रव्यसाक्षात्कार में उक्त संबंध से रहनेवाले द्रव्यत्व को कार्यतावच्छेदक धर्म माना जा

तासबन्ध कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीकृत्य द्रव्यत्वादेस्तथात्वेऽपि मूर्तत्वादिना स एव दोष इत्यपास्तम्, परस्यापि चक्षुःसयोगजन्यतावच्छेदकत्वेनैतस्यैव श्रेयत्वात् । इत्थञ्च द्रव्यमात्र सर्वथा नित्यमस्तु ।

★ जयलता ★

स्वाश्रयनिष्ठविशेष्यताख्यविषयतानिरूपितविषयितावत्त्वससर्गमिति यावत् । कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीकृत्य = विजातीयसयोगकार्यतावच्छेदकतावच्छेदक कृत्वा, द्रव्यत्वादे तथात्वेऽपि = कार्यतावच्छेदकधर्मत्वेऽपि, मूर्त्तत्वादिना, स एव = विनिगमनाविरह एव, दोष । अय भावः स्वाश्रयनिष्ठविषयतानिरूपितविषयितावत्त्वसबन्धः कार्यतावच्छेदकतावच्छेदको भवति, स्वपदेन द्रव्यत्वादेर्ग्रहणम् । द्रव्यत्वाश्रयीभूतद्रव्यनिष्ठविषयतानिरूपितविषयितावत्त्व द्रव्यविषयकसाक्षात्कारे भवति । विजातीयसयोगस्य कार्यात्मके द्रव्यगोचरसाक्षात्कारे दर्शितसबन्धेन द्रव्यत्वस्य विद्यमानत्वात् तस्य तत्कार्यतावच्छेदकधर्मत्वमित्युक्तौ तादृशसबन्धेन मूर्तत्वादेरपि तत्र विद्यमानत्वात् तत्कार्यतावच्छेदकत्व परम्परासबन्धेन सुघटमिति पुनरपि विनिगमनाविरहेण द्रव्यत्व-मूर्तत्व-स्पर्शवत्त्वादौ सर्वत्राऽविशेषेण कार्यतावच्छेदकताऽऽपत्तिर्दुर्वारा, अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गादिति शङ्काशयः ।

मौलपूर्वपक्षी तन्निराकरोति - इत्यपास्तमिति । हेतुमाह- परस्यापीति नैयायिकस्यापि, कि पुनः ममेत्यपिशब्दः । चक्षु सयोगजन्यतावच्छेदकत्वेन एतस्यैव = जन्यसाक्षात्कारत्वस्यैव श्रेयत्वादिति 'श्रिग्सेवायामि'ति हैमधातुपाठबलेन श्रिग्धातोर्यत्प्रत्ययः । ततः श्रयितु योग्यत्वादित्यर्थः । प्रकृते अय भाव', यथा नैयायिकमते चक्षुःसयोगजन्यतावच्छेदक द्रव्यसाक्षात्कारत्व यदुत मूर्तसाक्षात्कारत्वादीति विनिगमकविरहेऽपि जन्यसाक्षात्कारत्वमेव तत् । यद्वा स्वाश्रये आकाशादिप्रत्यक्षवारणकृते उद्भूतरूपवत्त्वादिस्वरूपा योग्यता कल्प्यते तथैव प्रकृतेऽपि विजातीयसयोगजन्यतावच्छेदक द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयतासबन्धेन जन्यसाक्षात्कारत्वमेवेत्युपेयतेऽस्माभिः । न च मन्मते गौरवम्, प्रत्युत त्वदभिमतातिरिक्तयोग्यत्वाकल्पनेन लाघवम्, परमाणुमनोदिगात्मकालाकाशेषु निरवयवद्रव्येष्वसमवायिकारणीभूतविजातीयसयोगस्य द्रव्यसाक्षात्कारजनकस्य विरहात् । न चैवमपि द्व्यणुकसाक्षात्कारापत्तिर्दुर्वारेति द्रव्यानुयोगिकलौकिकविषयतया कार्यतावच्छेदकप्रत्यासत्त्या द्व्यणुकस्यानाक्रान्तत्वात् । एतेन द्रव्यत्वापेक्षया द्रव्यसाक्षात्कारत्व गुरु; न तथाऽवयवादिकल्पना, गौरव तु फलमुखत्वान्न दोषाय इत्यपि निराकृतम्, जन्यद्रव्यत्व- जन्यसाक्षात्कारत्वयोस्तुल्यत्वात् । अत एव जन्यसाक्षात्कारत्वस्य सामानाधिकरण्येन जन्यत्वविशिष्टसाक्षात्कारत्वरूपतया विनिगमनाविरहोऽपि प्रत्युक्त तव मते चक्षुःसयोगजन्यतावच्छेदकेऽप्यस्य पर्यनुयोगस्य जागरूकत्वेन ममाऽपर्यनुयोज्यत्वात् ।

निगमयति - इत्थञ्चेति । द्रव्यमात्र = द्रव्यत्वावच्छिन्न समवेताऽसमवेतद्रव्यलक्षण सावयव-निरवयवद्रव्यात्मक वा सर्वथा = सर्वप्रकारेण, द्रव्यत्व साक्षात्[1]परपरा[2] व्याप्यधर्मेणाऽपीति यावत् तात्पर्यम्, नित्यमस्तु = ध्वसाऽप्रतियोगि भवतु । एवञ्च सयुक्ताणुद्वयादिकमेव

● रमणीया ●

सकता है । उक्त सबध मे स्वपद से द्रव्यत्व का ग्रहण अभिप्रेत है । अत स्वाश्रय = द्रव्यत्वाश्रय द्रव्य होगा । द्रव्यनिष्ठ विषयता से निरूपित विषयिता द्रव्यविषयक साक्षात्कार मे रहती हे । इस तरह द्रव्यत्व स्वाश्रयनिष्ठविषयतानिरूपित विषयितास्वरूप सबध से द्रव्यगोचरसाक्षात्कार मे रहने से उक्त सबध से विजातीयसयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म हो सकता है, क्योकि कार्य मे रहने वाला धर्म कार्यतावच्छेदक माना जा सकता है । मगर स्वाश्रयविषयतानिरूपितविषयिता सबध से तो मूर्त्तत्व आदि को भी विलक्षणसयोग का कार्यतावच्छेदक धर्म माना जा सकता है, क्योकि स्व = मूर्त्तत्व के आश्रय = मूर्त्त द्रव्य मे रहने वाली विषयता से निरूपित विषयिता मूर्तद्रव्यविषयक प्रत्यक्ष मे रहने के सबब उस सबध से मूर्त्तत्व आदि भी मूर्त्तद्रव्यगोचर प्रत्यक्ष मे, जो कि विलक्षण सयोग का कार्य है, रहते हैं । अत उपर्युक्त परपरासबध से द्रव्यत्व की भाँति मूर्त्तत्व आदि मे भी विलक्षणसयोगनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकता की कल्पना करनी होगी, जिसके फलस्वरूप मे गोरवदोष प्रसक्त होगा । अत विजातीय सयोग और द्रव्यसाक्षात्कार के बीच हेतु-हेतुमद्भाव की कल्पना नामुनासिब है ।

● विनिगमनाविरह दोष का निराकरण - नव्य सत्कार्यवादी की ओर से ●

समाधान :- इत्यपास्त पर० इति । वाह' असत्कार्यवादी भैया' अपना पाँव जलता है और आप दूसरे के घर की आग बूझाने चले । अलौकिक बुझुर्गता' आप नेयायिक महाशय भी चक्षु सयोग का जन्यतावच्छेदक द्रव्यसाक्षात्कारत्व मानते हैं । मगर यहाँ हम भी यह कह सकते है कि चक्षु सयोग का कार्यतावच्छेदक मूर्त्तसाक्षात्कारत्व भी मुमकिन होने से विनिगमनाविरह आपके मत मे भी जागृत हे । जो दोष दोनो पक्ष मे प्रसक्त हो उस विषय मे प्रतिवादी से प्रश्न किया जा नही सकता, क्योकि उसका समाधान दोनो (वादी-प्रतिवादी) के लिए समान है । अत हमारे ओर तुम्हारे लिए जन्यसाक्षात्कारत्व को ही कार्यतावच्छेदक मानना ठीक हे । अत विजातीयसयोग का कार्यतावच्छेदक जन्यसाक्षात्कारत्व सिद्ध होने से द्रव्य मात्र यानी सब द्रव्य सर्वथा नित्य ही है - यह मानना श्रेयस्कर हे । इस तरह एकात सत्कार्यवाद की स्थापना की जा सकती है । अत अवयव से अतिरिक्त अवयवी के जन्म की कल्पना अप्रामाणिक है ।

१ द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य पृथ्वीत्वादि । २ द्रव्यत्वपरपराव्याप्य घटत्वादि ।

न चैव तन्तूनामेव पटत्वात् 'तन्तौ पट' इति प्रत्ययो न स्यादिति वाच्यम् फलबलेन विलक्षणसयोगवत्त्वरूपपटत्वादिविशिष्टाधारताव-च्छेदकत्वस्य विलक्षणसयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वे स्वीकारात् । अत एव न तन्तुपटपदयोः पर्यायताऽपि, विलक्षणसयोगवत्त्वरूपशक्यतावच्छेद-

★ जयलता ★

द्व्यणुकादिक, अवयवातिरिक्तानतावयव्यादिकल्पने गौरवान्निरवयवत्वमेव सर्वेषा द्रव्याणाम् । अत एव बाध-सिद्धसाधने प्रत्युक्ते द्रव्यत्वावच्छिन्ने ध्वसप्रतियोगित्वस्य विधेयत्वादिति निहितार्थ' ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय' । एव = सयुक्तावयवानामेवाऽवयविस्वरूपत्वोपगमे, तन्तूनामेव = विलक्षणसयोगविशिष्टतन्तूनामेव, पटत्वात् = पटस्वरूपत्वेन, तयोरभिन्नत्वात् 'तन्तौ पट' इति प्रत्यय = वृत्तित्वस्य सप्तम्यर्थत्वेन 'तन्तुनिरूपितवृत्तितावान् पट' इत्यर्थकः बोधः, न स्यात् = नैव स्यात्, 'सर्वं वाक्य सावधारणमि'ति न्यायात् । 'भूतले तन्तुसमूह'' इतिवत् 'भूतले पट' इत्येव प्रतीतिः स्यात्, न तु 'तन्तो ततु:', 'कपाले कपालमि'त्यादिप्रतीतिवत् 'तन्तौ पट' इति प्रतीतिरपि । न हि पटुरपि नटवटुः स्वस्कन्धमारोढु शक्तः । तन्निराकरोति फलबलेनेति 'तन्तो पट' इत्याद्यबाधितप्रत्ययमहिम्ना, हेत्वर्थे तृतीया, हेतुत्वाऽन्वयश्च स्वीकारे । विलक्षणसयोगवत्त्वरूपटत्वादिविशिष्टाधारताव-च्छेदकत्वस्य = सामानाधिकरण्यसबन्धेन विजातीयसयोगवत्त्वस्वरूपेण पटत्वादिना विशिष्टाया आधारताया अवच्छेदकत्वस्य, विलक्षणसयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वे = विजातीयसयोगवत्त्वस्वरूपे तन्तुत्वे स्वीकारादिति । अय भाव' आतानवितानादिदशामापन्नाः सयुक्ततन्तव एव पटः । एव पटत्वमपि तादृशविलक्षणसयोगवत्त्वरूपमेव न तु तदतिरिक्तजातिविशेषरूपम् । यथा नैयायिकमते घटध्वसाधिकरणको घटात्यन्ताभावो लाघवाद् घटध्वसात्मकाधिकरणस्वरूप एव न तु तदतिरिक्तः परन्तु 'घटध्वसे घटो ध्वस्त' इत्यप्रत्ययात् घटध्वसत्वे घटात्यन्ताभावत्वविशिष्टाधारताया अवच्छेदकत्व प्रसिद्धमेव । तद्वत् प्रकृतेऽपि 'तन्तौ तन्तुः' इत्यप्रत्ययात् तन्तुत्वेन तन्तो' स्वात्मन्यसत्त्वेऽपि 'तन्तौ पट' इति सार्वजनीनप्रतीतिबला-दुपदर्शितपटत्वरूपेण सयुक्ततन्त्वभिन्नपटस्य सयुक्ततन्तौ सत्त्वेन सामानाधिकरण्यसबन्धेन विलक्षणसयोगवत्त्वरूपपटत्वविशिष्टाधारताया अवच्छेदकता तन्तुत्वे कल्प्यमाना घटामश्नुति। पृथक् तन्तुषु पटाधारताया अप्रतीतेः तन्तुत्वमपि तादृशाधारतावच्छेदक विलक्षणसयोगवत्त्वस्वरूपमेव न तु तदतिरिक्तजातिविशेषरूपम्। ततुत्वस्वरूप विलक्षणसयोगवत्त्व न पटत्वलक्षणविलक्षणसयोगवत्त्वरूप किन्तु तदन्यदेव। तत्फलमाह-अत एवेति ततुत्वलक्षणविलक्षणसयोगस्य पटत्वात्मकविलक्षणसयोगविजातीयत्वादेव । ननु ततुपटपदयोरभिन्नार्थवाचकत्वोपगमे 'पटमानय' इत्यत्र 'तन्तुमानय'इत्यपि स्यात् तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थप्रतिपादनादित्याशङ्का निराकर्तुमाह- न तन्तुपटपदयो पर्यायताऽपीति । तन्निरासे हेतुमाह- विलक्षणसयोगवत्त्वरूपशा-

● रमणीया ●

शका :- न चैव० इति । यदि-अवयव मे अतिरिक्त अवयवी नही है- ऐसा माना जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि ततु से पट भिन्न नही है अर्थात् ततु ही पट हे । मगर ऐसा मानने पर 'ततो पट' अर्थात् 'ततु मे पट है' ऐसी प्रतीति प्रामाणिक हो नहीं सकेगी । इसका कारण यह है कि पट और ततु अभिन्न होने पर उन दोनो मे आधार-आधेयभाव हो नही सकता । आधार और आधेय मे भेद होने पर ही आधार-आधेयभाव हो सकता हे जैसे 'भूतले घट' इत्यादि । आधार-आधेयभाव का नियामक भेद न होने से ततु और पट मे आधार-आधेयभावात्मक नियम्य भी हो नहीं सकता, अन्यथा 'घटे घट' 'चैत्रे चैत्र' इत्यादि प्रतीति भी होने लगेगी, जो स्वप्न मे भी होती नही हे ।

● तनु-पट मे अभेद होने पर भी आधार-आधेयभाव की उपपत्ति ●

समाधान :- फलब० इति । नहीं हजूर, ततु और पट मे अभेद होने पर भी आधार-आधेयभाव की अनुपपत्ति नहीं है । इसका कारण यह हे कि सब लोगो को 'ततौ पट' ऐसी स्वारसिक प्रतीति होती है । इस प्रसिद्ध प्रामाणिक प्रतीति के बल पर हम ततु को पटाधार मानते ह और ततुत्व को पटाधारता का अवच्छेदक भी मानते है । यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी हे कि हमारे मत में पटत्व या ततुत्व जातिस्वरूप नही है किन्तु सखड उपाधिस्वरूप हे । जिसका निर्वचन हो सके वह उपाधि सखण्ड कही जाती हे जैसे आकाशत्व = शब्दसमवायिकारणत्व । इस तरह विलक्षण सयुक्त ततु मे ही पट की प्रतीति होने से पटत्व सयोगविशेषस्वरूप ही है, क्योकि ततु स्वतत्र होते है या पुस्तक के पन्ने की भाँति एक के उपर दूसरा ततु होता है तब पट की प्रतीति होती नहीं है । इसी तरह ततुत्व भी विजातीयसयोगवत्तास्वरूप हे, जो कि पटत्व के घटक सयोग से विलक्षण है । सार्वजनीन प्रतीति के बल से विलक्षणसयोगवत्त्वस्वरूप पटत्व की समानाधिकरण आधारता का या सामानाधिकरण्य सबध से तादृशपटत्वविशिष्ट आधारता का अवच्छेदक तन्तुत्व, जो कि विजातीयसयोगवत्त्वस्वरूप हे, होता हे -ऐसा स्वीकार किया जाता है । अत पट स्वनिष्ठ आधेयता से निरूपित तादृशततुत्वावच्छिन्न आधारता सबध से ततु मे रह सकता है ।

● ततु-पट पर्याय शब्द नही है ●

अत एव० इति । यहाँ इस शका को कि→'ततु और पट अभिन्न ही होने पर तो ततुशब्द और पटपद के वाच्यार्थ मे

कभेदात्। 'तन्तुसयोगात्पट उत्पन्न' इति व्यवहारस्तु भ्रान्त एव। 'पट उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिस्तु पटत्वादिघटकसयोगोत्पादमात्रमवगाहते।

★ जयलता ★

क्यतावच्छेदकभेदादिति । ततुपदशक्यतावच्छेदकीभूतविलक्षणसयोगवत्त्वापेक्षया पटपदशक्यतावच्छेदकीभूतविलक्षणसयोगवत्त्वस्य भिन्नत्वादित्यर्थः । अन्य एव सयोगविशेष'तन्तुव्यपदेशनियामकोऽन्य एव सयोगविशेष स्तन्तुव्यपदेशनियामक इति नीलघटपदयोरिव शक्यार्थाभेदेऽपि शक्यतावच्छेदकभेदान्न ततुपटपदयोः पर्यायत्वापत्तिरिति भावः । एतेन तयोः सहाऽप्रयोगापत्तिरपि प्रत्युक्ता ततुपदशक्यतावच्छेदकस्याऽनन्यलभ्यत्वात् ।

ननु सयुक्ततन्तूनामेव पटत्वोपगमे 'ततुसयोगात् घट उत्पन्न' इत्यादिव्यवहारस्योपपत्तिः कथ स्यादित्याशङ्कायामाह- 'तन्तुसयोगात्पट उत्पन्न' इति व्यवहारस्त्विति । तुपदेन तादृशप्रतीतेरप्याक्षेपः कृतः । भ्रान्त एव = भ्रमप्रयुक्त एव । अनेन 'तन्तुसयोगात्पट उत्पन्न' इति प्रतीतेरप्यप्रमात्वमावेदितम् । यद्वा पटपद पटाभिव्यक्तिपरमित्यपि समाधातव्यम्, अर्थात् लक्षणया 'तन्तुसयोगात्पटाभिव्यक्तिरुत्पन्ना' इति तादृशशाब्दव्यवहारजन्यबोधाकारः ।

'पट उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिस्त्विति । आदिशब्देन 'घटो नष्ट' इत्यादेर्ग्रहणम् । पटत्वादिघटकसयोगोत्पादमात्रम् = विजातीयसयोगवत्त्वरूपपटत्वादिनिष्ठविषयताव्यापकविषयताशालिसयोगस्य केवलामुत्पत्ति अवगाहते = विषयीकुरुते। स्वस्मात्स्वोत्पादस्याऽसभवास्पदत्वेन 'तन्तुसयोगादि'त्यस्याऽनुपादानम् । एव 'पटो नष्ट'इति प्रतीतिरपि विशेषणनाशविषया ज्ञेया ।

ननु नानासयुक्ततन्तूनामेव पटत्वात् 'पटा' इति वहुत्वावगाहिन्येव प्रतीतिः स्यात् न तु 'पट' इत्यादिरूपाऽपीत्याशङ्कायामाह- 'पट' इत्यत्रैकत्वमिति । इदञ्चोपलक्षणम् 'पटौ' इत्यत्र द्वित्वमित्यस्य । औपचारिकमिति गौणमिति । अय भावः 'अय राशिः ' इत्यादौ यथा सुपदेनाऽऽरोपितैकत्व समूहैकत्व वा विवक्षामहिम्ना बोध्यते तथैव 'पट' इत्यादावपि सुपदेनारोपितैकत्व समूहैकत्व वा एव 'पटो महानि'ति धीरप्यणूना महत्त्वाऽसम्भवात् 'महान् धान्यराशि'रितिवत् सयोगविशेषरूप महत्त्वमवगाहत इति ।

● रमणीया ●

अभेद होने से वे दोनो पर्याय शब्द कहालायेगे, जेसे घटपद और कुभपद←अवकाश नही हे, क्योकि ततु-पट पद के शक्यार्थ मे अभेद होने पर भी शक्यतावच्छेदक मे भेद है। आशय यह है कि सयुक्त ततु ही पट होने पर भी पटत्व, जो कि पटपद का शक्यतावच्छेदक होता है, एक सयोगविशेषस्वरूप है जो कि ततुपद के शक्यतावच्छेदक ततुत्वस्वरूप सयोगविशेष से विजातीय है। उन दोनो मे वैजात्य होने से वे (ततुत्व और पटत्व) भिन्न हैं। अत एव ततुपद और पटपद मे पर्यायता की आपत्ति नही है। जिन शब्दो के शक्यतावच्छेदक अभिन्न होते हे वे पर्यायवाचक कहे जाते हैं जैसे घटपद और कुभपद। घटपद और कुभपद का शक्यतावच्छेदक एक घटत्व ही है। अत वे पर्यायवाचक कहे जाते हैं। मगर ततुपद और पटपद के शक्यतावच्छेदक भिन्न होने से वे पर्यायवाचक हो नही सकते ।

● 'ततुसयोगात् पट उत्पन्नः'- व्यवहार भ्रान्त - नवीन नास्तिक ●

ततुसयो० इति । यहाँ यह शका भी कि → ''यदि ततु और पट अभिन्न होते तव तो 'ततुसयोगात् पट उत्पन्न' = 'ततु सयोग से पट उत्पन्न हुआ' इस व्यवहार की उपपत्ति हो नही सकती, क्योकि जिनके वीज तादात्म्य होता है वे परस्पर के जनक नही होते, अन्यथा आत्माश्रय दोष प्रसक्त होता। जेसे तादात्म्य होने की वजह घट का जनक घट होता नही है या घट घटसयोग से उत्पन्न होता नही है, ठीक वैसे ही 'ततुसयोग से पट उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार भी न हो सकेगा। अपने सयोग से अपना जन्म न तो कभी देखा गया है ओर न तो कभी सुना गया है-''←अस्थान है। इसका कारण यह हे कि उपर्युक्त शाब्दव्यवहार भ्रमप्रयुक्त है। जो व्यवहार प्रमा से प्रयुक्त हो उसकी उपपत्ति करना ठीक हैं मगर जो प्रमाणशून्य है उसकी सगति करना नामुनासिव है। ऐसे तो लोक मे 'आकाश ओर समदर मिल जाते हैं', 'सूर्यनारायण सागर मे डूबकी लगाता है' इत्यादि शाब्द व्यवहार भी होता है। पर क्या कोई वुद्धिमान् इसका समर्थन करने का प्रयत्न करता है? अव समझ मे आ गया न कि- ततुसयोग से पट उत्पन्न हुआ' इस भ्रान्त व्यवहार की सगति करने की जरूरत है या नही? एक ओर वात का यहाँ ध्यान रखना आवश्यक हे कि 'पट उत्पन्न' आदि प्रतीति पट मे उत्पत्ति का अवगाहन करती नही हे किन्तु विलक्षणसयोगवत्त्वस्वरूप पटत्वादि के घटक सयोग की उत्पत्ति का ही अवगाहन करती है, क्योकि पट तो हमारे पक्ष मे नित्य होने से प्रागभाव का प्रतियोगी ही होता नही है। जो प्रागभाव का अप्रतियोगी होता है वह आद्यक्षणसवध स्वरूप उत्पत्ति का प्रतियोगी होता नही हैं। अत द्रव्यमात्र को नित्य माननेवाले हम 'पट उत्पन्न' इत्यादि प्रतीति का विषय विजातीयसयोगवत्त्वरूप पटत्व से विशिष्ट पट के घटक विजातीय सयोग प्रतियोगिक उत्पाद को मानते है ।

● 'पटः' यह प्रतीति औपचारिक एकत्वावगाही - नवीन पूर्वपक्ष जारी ●

पट इत्य० इति । यहाँ यह दहशत करना कि → ''अवयव और अवयवी मे सर्वथा अभेद मानने पर तो पट अनेक ततुस्वरूप होगा। पट के अवयवभूत ततु एक नही, किन्तु अनेक होते है। अत 'पट' ऐसा एकवचनात प्रयोग हो नहीं सकता किन्तु 'पटा' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए। अनेक अवयव और अवयवी मे 'पट' इत्याकारक शब्द प्रयोग की उपपत्ति कथमपि हो नही सकती-''

'पट' इत्यत्रैकत्व पुनरौपचारिकम् । 'ततुः पट' इति प्रतीतिस्तु 'वृक्षो वनमि'तिवदेव नोदेति । 'पटस्ततवः' इति प्रतीतिस्त्वेकत्वधर्मितावच्छेदककबहुत्वप्रकारिका सतीच्छाविशेपमपेक्षते ।

★ जयलता ★

ननु 'पट' इत्यादावुपचारस्यैवाश्रयितव्ये 'महानय राशि'रित्यादिवत् 'तन्तुः पट' इत्यपि प्रतीतिः स्यात्, ततुपटयोरभिन्नत्वादविशेषेण पट इव ततावपि आरोपितैकत्वावगाहनस्य न्याय्यत्वात् । एव च 'ततुःपट' इति शब्दप्रयोगोऽपि प्रसज्येत अभेदान्वयबोधे समानवचनकत्वस्य नियामकत्वात्, अन्यथा 'नीलाः पट' इत्यपि प्रतीयेतेत्याशङ्का निराचिकीर्षुराऽऽह- तन्तु पट इति प्रतीतिस्त्विति । प्रतीतिरुपलक्षण व्यवहारस्य। 'वृक्षो वनमि'तिवदेव नोदेतीति । अयमाशयः वृक्षातिरिक्तस्य वनस्याऽसत्त्वेऽपि 'वृक्षो वनमि'ति प्रयोगः प्रतीतिर्वा नोपजायते, यस्मिन् यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकापेक्षाबुद्धिविषयत्व न व्यवहारौपयिक तत् तद्धर्मावच्छिन्नेनाऽभेदेन नान्वीयत' इति व्युत्पत्तिमहिम्ना । एवञ्च प्रकृतेऽपि पटस्य तन्त्वनतिरिक्तत्वेऽपि पटे एकत्वावच्छिन्नततुप्रकारकापेक्षाबुद्धिविषयतायाः पटपदप्रयोगानौपयिकत्वादेकत्वावच्छिन्नतन्तुनाऽभेदेन पटानन्वयात् 'तन्तुः पट' इति प्रतीतिः प्रयोगो वा न भवति । एतेन अभेदान्वयबोधे समानवचनकत्वस्य नियामकत्वादिति प्रत्युक्तम् 'वेदा· प्रमाणमि'त्याद्यभेदान्वयबोधबलात्तादृशनियमे सकोचस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

पटस्तन्तव इति प्रतीतिरिति । अत्र पटो धर्मित्वेन तन्तवश्च प्रकारत्वेन भासन्ते । धर्मितावच्छेदकमेकत्वम्, प्रकारतावच्छेदक च बहुत्वमित्याह एकत्वधर्मितावच्छेदककबहुत्वप्रकारिकेति । यस्यामेकत्व विशेष्यतावच्छेदक तथा बहुत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रकारिकात्व स्तः सा इत्यर्थः । प्रकारतावच्छेदकस्यापि प्रकारत्वेन 'बहुत्वप्रकारिके'त्युक्तम् । इच्छाविशेपमपेक्षते = तात्पर्यविशेपमपेक्षते । अय भावः यथा 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' इति न्यायसूत्रे त्रितयनिष्ठस्य पदशक्तिनिरूपकत्वरूपपदार्थत्वस्यैकत्व विवक्षितमिति तत्र विशेष्यपदस्य बहुवचनान्तत्वेऽपि विशेषणवाचकपदस्यैकवचनान्तत्व तथैव प्रकृते तन्तुनिष्ठ- पूर्वोक्तपटत्वस्यैकत्व विवक्षितमिति विशेषणपदस्य बहुवचनान्तत्वेऽपि विशेष्यवाचकपदस्यैकवचनान्तत्वमुपपद्येत । अत एव तादृशप्रतीतिः 'विशिष्टे वैशिष्ट्यमि'ति न्यायेन निराबाधेति तात्पर्यम् ।

● रमणीया ●

← ठीक नही है । इसका कारण यह है कि 'पट' इत्याकारक शब्द प्रयोग मे एकवचन से जिस एकत्व की प्रतीति होती है, वह एकत्व वास्तविक नही किन्तु औपचारिक होता है । अर्थात् बहुत्व होने पर भी पट मे एकत्व का आरोप किया जाता है । अत आरोप के विषयीभूत एकत्व की, 'पट' इत्याकारक शब्द प्रयोग से, पट मे प्रतीति होती है - ऐसा माना जाता है । जैसे 'अय राशि' यहाँ राशिपदोत्तर सुप्रत्यय से आरोपित एकत्व का ही भान होता है, क्योकि अनेक पदार्थ ही राशिशब्द का अर्थ है, जिनमे एकत्व बाधित है । इसी तरह पटपदोत्तर सुप्रत्ययार्थ एकत्व अनेक तत्वात्मक पट मे बाधित होने से आरोपविषयीभूत माना जा सकता है ।

● 'ततुः पटः' इस प्रतीति को अवकाश नही - अभिनव पूर्वपक्ष चालु ●

'ततुः० इति । यहाँ यह समस्या कि→'पट मे आरोपित एकत्व का भान 'पट' शब्द से होता हो तब तो 'ततु पट' यह प्रतीति भी होने लगेगी, क्योकि यहाँ भी ततु मे पट की भाँति आरोपित एकत्व का भान माना जा सकता है । पट ततु से अतिरिक्त तो है ही नही, तब पट मे एकवचन से औपचारिक एकत्व की प्रतीति हो और पट से अभिन्न ततु मे एकवचन से औपचारिक एकत्व की प्रतीति न हो- यह नादिरशाही चल नही सकती । दूसरी बात यह है कि ततु और पट मे अभेदान्वयबोध करना हो तब दोनो के बोधक पदो मे समानवचनकत्व भी आवश्यक होता है । अत 'ततु पट' इत्याकारक शब्द प्रयोग की भी आपत्ति हो सकती है'← भी नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि जैसे वृक्ष से वन अतिरिक्त नही होता है फिर भी 'वृक्षो वन' ऐसी प्रतीति होती नही है, क्योकि एकत्वविशिष्टवृक्षप्रकारक अपेक्षाबुद्धिविषयता वनपदप्रयोग की औपयिक न होने से एकत्वावच्छिन्न वृक्ष मे वन का अभेदान्वयबोध होता नही है । ठीक वैसे ही प्रस्तुत मे एकत्वविशिष्ट ततुप्रकारक अपेक्षाबुद्धि की विषयता 'पट'पदप्रयोग की उपायभूत न होने से एकत्वविशिष्ट ततु मे पट का अभेदान्वयबोध भी होता नही है । इस तरह 'ततु पट' इत्याकारक शब्द प्रयोग की आपत्ति भी नही है, क्योकि तादृश आकाक्षा प्रस्तुत मे अभेदान्वयबोध की जनक नही है ।

● 'पटः ततवः' प्रतीति का विचार ●

पटस्ततव० इति । अवयव और अवयवी मे अभेद मानने पर अनेक ततु और पट के बीच अभेदान्वयावगाही 'पट ततव' यह बोध हो सकता है । मगर 'नीलो घट' इत्यादि प्रतीति इच्छाविशेष की अपेक्षा रखती नही है, क्योकि यहाँ प्रकारीभूत नीलपदार्थ मे और विशेष्यभूत घट मे एकत्व का भान होता है । जब कि 'पट ततव' यह प्रतीति, जो पट मे विशेष्यता का और ततु मे प्रकारता का अवगाहन करती है, इच्छाविशेष की स्वोत्पत्ति मे अपेक्षा रखती है, क्योकि यहाँ धर्मितावच्छेदक = विशेष्यतावच्छेदक एकत्व होता है और प्रकारतावच्छेदक बहुत्व होता है । सामान्यत· विशेष्यतावच्छेदक और प्रकारतावच्छेदक सख्या अभिन्न होती है ।

'एकत्र द्वयमि'ति न्यायेन तदन्वयबोधापादने शब्दाऽसाधुत्वमेव वा । अधिकः पूर्वपक्षो मत्कृतन्यायवादार्थेषु बोध्यः ।

★ जयलता ★

एकविशेषणविशिष्टेऽपरविशेषणवैशिष्ट्यमित्यर्थकेन विशिष्टे वैशिष्ट्यमिति न्यायेनैकत्वमुद्देश्यतावच्छेदकीकृत्य तात्पर्यविशेषसव्यपेक्षायाः 'पटस्तन्तव' इति प्रतीतेः प्रामाण्यमुपपाद्य साम्प्रत'मेकत्र द्वयमि'ति न्यायेन तदप्रामाण्यमाविष्करोति- 'एकत्रे'ति । एकस्मिन् धर्मिणि यदा विशृङ्खलतयाऽनेकविशेषणान्वयोऽभीष्टस्तदाऽय न्यायोऽवतरति । यथा 'दशरथपुत्रो लक्ष्मणभ्राता रामो गतः' इत्यत्र विशेष्यभूते रामे दशरथपुत्रत्व-लक्ष्मणभ्रातृत्वयोः स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोर्विशेषणयोरन्वयविवक्षणेऽय न्यायः प्रवर्तते । तदुक्त न्यायकोशे भीमाचार्येण "एकत्र द्वय रीत्या जायमान ज्ञान उभयप्रकारतानिरूपितैकविशेष्यताशालि ज्ञानम् । 'सुन्दरः पुरुषो दण्डी' अत्र सौंदर्य-दण्डयोः पुरुषे युगपद्विशेषणत्वेनान्वयविवक्षाया ज्ञान तादृश भवति । सौन्दर्यविशिष्टपुरुषे दण्डमात्रस्य दण्डविशिष्टपुरुषे वा सौंदर्यमात्रस्य विशेषणत्वेनाऽन्वयविवक्षाया तु 'विशिष्टे वैशिष्ट्यमि'ति रीत्या ज्ञान जायते" । तथा प्रकृतेऽपि विशेष्यभूते पटे पटपदोत्तरसुप्रत्ययार्थैकत्व-तन्तुपदोत्तरजसप्रत्ययार्थबहुत्वयोर्विशेषणयोर्युगपदन्वयबोधस्याऽऽपादने तु 'पटस्ततव' इति शब्दप्रयोगस्याऽप्रामाण्यमेव, एकत्र पटे एकत्व-बहुत्वरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरसमावेशात् ।

नन्वनुपदमेव तादृशप्रतीतेः प्रामाण्यमावेदित सम्प्रति च तादृशशब्दस्याऽसाधुत्वमुद्घोष्यत इति कथ न पूर्वापरविरोध इति चेत् ? मैवम् पूर्वमेकत्व धर्मितावच्छेदकीकृत्य तात्पर्यविशेषमहिम्ना तदाश्रये बहुत्व विहितमिति तस्याः 'वृक्षा वनमि'तिप्रतीतिवत्प्रामाण्यम्। अधुना तु पटत्वमुद्देश्यतावच्छेदकीकृत्य तद्वति तात्पर्यविशेषमृते एकत्व-बहुत्वे विरुद्धे विधित्सिते इति तादृशशब्दप्रयोगस्याऽनाकाक्षिताभिधानत्व विद्योतितमिति न विरोधगधोऽपि ।

मत्कृतन्यायवादार्थेष्विति[१] प्रकृतप्रकरणकारकृतन्यायवादार्थेषु। प्रमारहस्यादिवत् साम्प्रत नाय ग्रन्थ उपलभ्यत इति चेखिद्यते मन्मनः । किन्तु प्रकरणकारैरेव उत्पादादिसिद्धिविवरणे अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे च नव्यनास्तिकमतरूपेणातिसक्षेपतः प्रकृतपूर्वपक्षनिरूपण तन्निराकरणञ्च कृतमिति साम्प्रतमुपलभ्यत इति ध्येयम् ।

यद्यपि विलक्षणसयोगवत्तावदणुत्वस्य पटत्वरूपत्वे तावत्त्वाऽप्रत्यये तदग्रहाऽऽपत्तेः । न च विलक्षणसयोगवत्त्वरूपमेव पटत्वमिति वाच्यम् तन्त्वाद्यग्रहे तत्सयोगाग्रहेऽपि पटत्वादिप्रतीतेः 'तन्तुसयोगात्पट उत्पन्न' इत्यादिव्यवहाराऽयाथार्थ्यापत्तेश्च। न चेष्टापत्तिरित्यारेकणीयम्, तथा सति सर्वाऽपलापिमाध्यमिकमतसाम्राज्यापत्तेः। किञ्च विलक्षणसस्थानावच्छेदेन सन्निकर्षाद् यद्द्रव्यगतपटत्वादिग्रहस्तस्योत्पादविनाशादिस्वरसवाहिप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या पृथगवयविसिद्धिः । तस्य चैकस्याप्यावृतानावृतत्व-रक्तारक्तत्व-सकम्पनिष्कम्पत्वादिना भेदाद्देशप्रदेशरूपतासिद्धौ कथ नाऽणूनामवयविप्रदेशतयाऽन्यत्व, तेन कथञ्चिन्नित्यत्वस्याऽव्याहतेः, एकान्तनित्यत्वस्य क्वाऽप्यनुपगमात् । किञ्च, विभागजातोत्पत्त्याप्यणूनामन्यत्वम्, अन्यथा कपालादीनामपि तदुच्छेदापत्त्या सत्कार्यवादापत्तेः । गुरुत्व-महत्त्व-दृश्यत्व-विलक्षणसस्थानाच्छादनाद्यर्थक्रियाकारित्वादिभेदेनापि कथञ्चिदन्यत्वमणूना

● रमणीया ●

मगर जब प्रयोजनविशेष की उपस्थिति हो तब धर्मितावच्छेदकीभूत सख्या ओर प्रकारतावच्छेदक सख्या मे भेद भी हो सकता है। जसे 'वेदा प्रमाण' इत्यादि स्थल मे अभेदान्वयबोध होने पर भी वेदचतुष्टय मे समानरूप से प्रामाण्य का बोध कराने के तात्पर्य से विशेष्यवाचक और विशेषणवाचक पद मे भिन्नवचनप्रयोग हुआ है। वेसे एक ततु मे नही मगर अनेक ततु मे ही आच्छादन आदि अर्थक्रिया का कारित्व रहता हे - इत्यादि इच्छाविशेष = तात्पर्य से 'पट ततव' इत्यादि प्रतीति भी हो सकती है। यहाँ व्याख्याग्रथ मे महोपाध्यायजी ने 'बहुत्वप्रकारिका' ऐसा जो लिखा हे उसका अर्थ बहुत्वप्रकारतावच्छेदकिका अर्थात् 'जिसमे प्रकारतावच्छेदक बहुत्व है ऐसी प्रतीति' ऐसा अर्थ है। प्रकारतावच्छेदक भी ज्ञान मे प्रकार होता है, विशेष्य नही। अत 'बहुत्वनिष्ठ प्रकारतावच्छेदकतास्वरूप प्रकारता से निरूपित प्रकारिता ज्ञान मे रहती है' यह तात्पर्य है। इस तरह 'पटस्ततव' इस प्रतीति की उपपत्ति की जा सकती है।

एकत्र० इति। मगर जब 'एकत्र द्वय' इस न्याय से पट ओर अनेक ततु मे अभेदान्वयबोध का आपादन किया जाय तब वह शब्दप्रयोग अप्रामाणिक (=असाधु) ही हे-यह भी कहा जा सकता हे। तात्पर्य यह है कि एकविशेषण (=एकत्व) से विशिष्ट पट मे विशेषणान्तर (=बहुत्व) का अन्वय तात्पर्यविशेष से करने पर तादृश प्रतीति प्रामाणिक हो सकती है। मगर पटत्व को उद्देश्यतावच्छेदक बना कर एक ही पट मे पटपदोत्तर विभक्त्यर्थ एकत्व और ततुपदोत्तर विभक्त्यर्थ बहुत्व के अन्वय का आपादन किया जाता हे तब 'पटस्ततव' यह शब्दप्रयोग अप्रामाणिक ही होगा, क्योकि एक धर्म मे एकत्व और बहुत्वात्मक विरुद्ध धर्म का समावेश हो सकता नही है। तात्पर्यविशेष के विना विरुद्ध धर्म का एक धर्मी मे समावेश अनाकाक्षित होता है। अत 'एकत्र द्वय' न्याय से विशेषणद्वय का एक विशेष्य मे भान मानने पर वह शब्दप्रयोग शिष्ट जन मान्य नही है। जब एक ही धर्मी मे अनेक विशेषण का युगपत् समावेश अभीष्ट होता है तब 'एकत्र द्वय' न्याय की प्रवृत्ति होती है। यहाँ जो कुछ विश्लेषण किया गया है- वह तो दिग्दर्शनमात्र है। पूर्वपक्ष का अधिक विवेचन तो हमने (प्रकरणकार महामहोपाध्यायजी ने) न्यायवादार्थ मे किया है। जिज्ञासुवर्ग वहाँ से अधिक जानकारी पा सकते हे।

[१] महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराजा से रचित यह ग्रथरत्न वर्तमान काल मे उपलब्ध होता नहीं है। यह विनष्ट हो गया हो- ऐसा मानने को दिल इन्कार करता है। सभव है किसी भाडागार मे यह सुरक्षित पडा हो। यह साप्रतकाल मे एक खोज का विषय है।

अत्र ब्रूम । पर्यायत्वावच्छेदेनैव द्रव्यस्य कारणता सामान्यतो गृहीतेत्यसमानजातीयद्रव्यपर्यायरूपस्य घटस्य कथं न जन्यत्वम्? अन्यथा कपालस्यैव घटत्वात् कपालरूप-घटरूपयोर्भेदो न स्यात् ।

★ जयलता ★

पटादित' सिद्धमित्यादयो दोषाः पूर्वपक्षमते सन्ति तथापि स्फूटत्वात्तानुपेक्ष्य 'उपायस्योपायान्तराऽदूषकत्वादि'ति न्यायेनाऽन्यरीत्या प्रकृतप्रकरणकाराः समादधते - अत्र ब्रूम इति । पर्यायत्वावच्छेदनेवेति एवकारेण 'पर्यायत्वसामानाधिकरण्येने'त्यस्य व्यवच्छेदः कृतः । पर्यायमात्र प्रतीति भावः । द्रव्यस्य कारणता सामान्यतो गृहीतेति । विशेषविनिर्मोकेण पर्यायमात्रं द्रव्यकार्यं द्रव्यञ्च तत्कारणमिति व्याप्तिर्निश्चिता इति भावः । इतिशब्दो हेत्वर्थे । असमानजातीयद्रव्यपर्याय- रूपस्येति स्वापेक्षयाऽसमानजातीयं यद् द्रव्यं तत्पर्यायरूपस्य, स्वपदेन पटादिस्वरूपपर्यायग्रहणम् । घटस्य कथं न जन्यत्वमिति ? जन्यत्वमेवेत्यर्थः । अथ भावः घटस्य कपालद्रव्यविजातीयत्वात् कपालत्वावच्छिन्नाधारतानिरूपकत्वाच्च कपालपर्यायत्वम् । पर्यायत्वावच्छिन्नस्य द्रव्यत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपकत्वात् घटत्वलक्षणपर्यायत्वविशिष्टे घटे कपालात्मक-स्वद्रव्यनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यत्वं निराबाधम् । विपक्षबाधं दर्शयति - अन्यथेति । घटस्य कपालजन्यत्वानुपगमे । भेदो न स्यात्, तथा च प्रत्यक्षबाधः । अथ भावः कपालरूप-घटरूपयोः भेदः प्रसिद्ध एव पराभिमतश्च । परन्तु घटकपालयोः सर्वथाऽभेदे घटरूपमेव कपालरूपं स्यात्, तत्सम्बन्धिनः तदभिन्नसम्बन्ध्यभिन्नत्वनियमात् घटरूप-कुम्भरूपवत् । न च तथा । तस्मात् कपालात् कथञ्चित् घटभेदोऽभ्युपगन्तव्य एव ।

अत्रेदं किञ्चिद् विचार्यते । 'पर्यायत्वावच्छेदेनैव द्रव्यस्य कारणता' इत्यत्र द्रव्यपदं यदि कारणपरं तदाऽऽत्माश्रयदोषः । यदि चाऽयोग्यार्थकं तदाऽसम्भवदोषकवलितत्वं स्यात् । यदि च पर्यायभिन्नपरं तदा कपालस्य घटकारणत्वं न स्यात्, तस्याऽपि व्यञ्जनपर्यायात्मकत्वात् । तदुक्तं प्रकरणकृद्भिरेव सप्तभङ्गीनयप्रदीपे "तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्ति सादृश्यपरिणतिलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव, 'स्थूलाः कालान्तरस्थायिनः शब्दानां संकेतविषया व्यञ्जनपर्याया' इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः" [स भ न पृ ४८] इति । तदुक्तं श्रीहर्षवर्धनोपाध्यायेनाऽपि अध्यात्मबिन्दुवृत्तौ व्यञ्जनं व्यक्तिः प्रवृत्ति-निवृत्तिनिबन्धनयत्किञ्चिदर्थक्रियाकारित्वं, तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जनपर्यायः [अ वि १/२१ श्लो वृत्तौ] इति । न च द्रव्यपदमर्थपर्यायभिन्नपरं, कपालादेः स्थूलत्वात् अर्थपर्यायस्य च सूक्ष्मत्वात् । तदुक्तं रत्नाकरावतारिकायां 'सूक्ष्मः प्रतिक्षणभावी = अर्थपर्यायः [प्र न ५/८/८० रत्ना वृ] इति वाच्यम् तद्व्याख्यानस्य ऋजुसूत्रनयावलम्बित्वात् । तदुक्तमध्यात्मबिन्दुवृत्तौ 'अर्थपर्यायो नाम भूतत्व-भविष्यत्वसंस्पर्शरहितः शुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपम् । तदेतत् ऋजुसूत्रविषयमामनन्ति' [अ वि १/२१] । व्यवहारनयविषयत्वेन कपालस्याऽर्थपर्यायाऽऽक्रान्तत्वेन स एव दोषः । तदुक्तं वादमहार्णवेऽभयदेवसूरिभिः 'अर्थपर्यायाः अर्थग्राहकाः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्याः तद्ग्राह्या

● रमणीया ●

● घट जन्य है- स्याद्वादी का उत्तरपक्ष[२] ●

उत्तरपक्षः- अत्र ब्रूम० इति । आपकी रामकहानी सुनी, मगर वह अप्रामाणिक है । इसका कारण यह है कि - 'पर्यायत्वावच्छेदेन ही द्रव्य कारण है'- ऐसा कार्यकारणभाव सामान्यतः निश्चित है । कहने का आशय यह है कि -'द्रव्य संयोगादि पर्यायविशेष का ही कारण नहीं है किन्तु पर्यायसामान्य का कारण है' यह व्याप्ति निश्चित की गई है, क्योंकि द्रव्य में पर्यायविशेष की ही कारणता हो न कि पर्यायसामान्य की-इस बात में कोई प्रमाण नहीं है । जैसे नैयायिक संप्रदाय में दंडचक्रादि सामग्री से घटविशेष की ही उत्पत्ति होने पर भी दंड-चक्रादि घटविशेष के कारण माने नहीं जाते किन्तु घट सामान्य के ही कारण माने जाते है, क्योंकि व्यक्तिविशेष में गृहीत किया गया कार्यकारणभाव सामान्यधर्म (=व्यापकधर्म) अवच्छेदेन ही पर्याप्त होता है, यदि कोई बाधक न हो तो । वैसे यहाँ भी कपालात्मक द्रव्यविशेष से विजातीयसंयोगात्मक पर्यायविशेष की उत्पत्ति आपके मतानुसार प्रत्यक्षगोचर होती हैं फिर भी कार्य-कारणभाव तो द्रव्यसामान्य (=द्रव्यमात्र) और पर्यायसामान्य (=सब पर्याय) के बीच ही पर्यवसित होता है । जब यह निश्चित हो चूका है, तब घट और कपाल के बीच कार्य-कारणभाव सिद्ध क्यों नहीं होगा? इसका कारण यह है कि कपालात्मक द्रव्य में रहनेवाला घट कपालद्रव्य से समानजातीय न होने से कपाल का पर्याय है । कपाल घट का स्वद्रव्य है । कपाल में कपालत्व रहता है और घट में घटत्व रहता है । अतः स्ववृत्तिजाति से भिन्न जाति स्वरूप असमानजातीयत्व उन दोनों के बीच सिद्ध ही है । जो अपने आधार से विलक्षण जातिवाला हो वह उस आधार का पर्याय कहा जाता है । इस तरह घट कपालद्रव्य का पर्याय होने से कपाल से जन्य हो- यह तो न्यायप्राप्त बात है, जिसका अपलाप करना ठीक नहीं है, अन्यथा सर्वत्र प्रामाणिक कार्य-कारणभाव का भंग हो जायेगा । यदि द्रव्य और पर्याय के बीच हेतु-हेतुमद्भाव का अंगीकार किया न जाय तथा घट

१ 'कपालस्य घटकारणता न स्यादि'ति दोषः । २ पत्राङ्क १२३ से आरब्ध दीर्घ पूर्वपक्ष का उत्तरपक्ष

किञ्चैव दडादौ घटसाधनताज्ञानेन प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ विजातीयसयोगत्वमेव घटत्व, युक्तञ्चैतत्, कथमन्यथा घटत्वस्य जातित्व ? मृत्त्व-स्वर्णत्वादिना साङ्कर्यात् ।

★ जयलता ★

वाऽर्थभेदाः [स त १/३१ वृ] इति । यत्तु विशेषावश्यकवृत्तौ श्रीमलधारिहेमचन्द्रसूरिणा "ये त्वभिलपितु न शक्यन्ते श्रुतज्ञानविषयत्वातिक्रान्ताः केवलज्ञानादिविषयास्तेऽर्थपर्यायाः' [वि भा २९८० म वृ] इत्युक्त तत्तु नयमतविशेषपेक्षया दिगम्बरसम्प्रदायापेक्षया वोक्तमिति प्रतिभाति । तदुक्त लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्तो 'अदृश्याः सूक्ष्माः केवलागमगम्या अर्थपर्याया' इति ।

अत्रेदमाभाति-स्वमते घटादिना मृदादिपर्यायत्वेन द्रव्यपदमत्रोर्ध्वतासामान्यपरम् । मृदादेरूर्ध्वतासामान्यलक्षणत्वात्, तदुक्त प्रमाणनयतत्त्वालोकालकारे श्रीवादिदेवसूरिणा पूर्वापरपरिणामसाधारण द्रव्यमूर्ध्वतासामान्य कटककङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति [प्र न त ५/५] यद्वा द्रव्यपद अविष्वग्भावसवन्धेन पर्यायविशिष्टपर, तेन घटस्य स्व-रूपरसादिपर्यायजनकत्वमव्याहतमिति दिक् ।

दोषान्तरमाह - किञ्चेति । एव = अवयविनो घटादिलक्षणस्य कपालादिस्वावयवाभिन्नत्वेन नित्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने । घटसाधनताज्ञानेनेति । तृतीयार्थो हेतुत्वमन्वयश्च तस्य प्रवृत्तौ । ततः 'दण्डादि घटकारण' इत्यादिज्ञानहेतुका प्रवृत्तिः दडादौ न स्यादित्यर्थः, कपालाभिन्नस्य घटस्य वियमानत्वात् । न च वियमानजन्मोद्देशिका प्रवृत्तिः भवति, प्रवृत्तेरविरामादिप्रसङ्गात् ।

ननु विजातीयसयोग एव घटो विजातीयसयोगत्वमेव च घटत्व स्याताम् । एवञ्च दडादो प्रवृत्तिरप्युपपद्यते, विलक्षणसयोगस्याऽनुत्पन्नत्वादित्याशयेनाऽऽह - अथेति । विजातीयसयोगत्वमेव = कपालद्वयविलक्षणसयोगत्वमेव, युक्तश्च एतत् = घटत्वस्योपदर्शितविजातीयसयोगत्वकल्पनम्। विपक्षे वाधमुपदर्शयति - कथमिति । अन्यथा = घटत्वस्य विजातीयसयोगत्वात्मकत्वानङ्गीकारे । जातित्व = द्रव्यवृत्तिजात्यात्मकत्वम् । मृत्त्व-स्वर्णत्वादिना साकर्यादिति । अय भाव· मृत्पिण्डे मृत्त्वमस्ति घटत्व च नास्ति, सौवर्णघटे तु घटत्वमस्ति मृत्त्व च नास्ति, मार्त्तघटे चोभयमिति मृत्त्वेन

● रमणीया ●

और कपाल मे सर्वथा अभेद ही माना जाय तव तो कपालरूप और घटरूप मे भेद नही होगा, क्योकि घट और कपाल सर्वथा अभिन्न होने से घटरूप वोलो या कपालरूप वोलो, कोई फर्क नही है। सिर्फ शब्द मे भेद है, अर्थ मे नही । मगर घटरूप ओर कपालरूप मे भेद तो प्रसिद्ध ही हे। घटवर्ण ओर कपालवर्ण को एक मानने पर तो प्रत्यक्ष वाध हे । अत सर्वजनविदित प्रत्यक्ष का अपलाप करने की अपेक्षा अच्छा तो यही है कि- घटात्मक पर्याय को कपालद्रव्य का कार्य माना जाय । ऐसा मानने पर घटादि मे, जो कि आपको द्रव्यस्वरूप मे मान्य है, अनित्यता की सिद्धि हो सकती है। अत आपने पूर्व मे [देखिये पृ १३५] जो कहा था कि 'द्रव्यमात्र नित्य ही हो' यह वात धराशय हो जाती ह ।

● घटादि नित्य होने पर दडादि मे प्रवृत्ति असम्भव-स्याद्वादी ●

किञ्चैव इति । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय हे कि- यदि कार्य और कारण मे सत्कार्यवादी के मतानुसार सर्वथा अभेद ही होने से घट एकात नित्य है तव कोन सा कुम्हार दड-चक्र--चीवर आदि मे घटसाधनता ज्ञान से प्रवृत्ति करेगा ? मतलव यह हे कि जो साध्य हो, उसीका साधन प्रसिद्ध होता है, असाध्य गगनादि के नही। घट तो सत्कार्यवादी के मत मे सर्वथा नित्य होने से सिद्ध ही है, साध्य नही । जव कि घट साध्य ही नही है तव दड मे घटसाधनता = घटजनकता का प्रामाणिक ज्ञान किसको होगा? और दडादि मे घटसाधनता का प्रामाणिक ज्ञान न होने पर घट के लिए दडादि में कौन बुद्धिमान् कुम्हार प्रवृत्ति करेगा? क्योकि स्वेष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान के विना स्वेष्ट की सिद्धि के लिए साधन मे प्रवृत्ति नामुमकिन है। वेचारा कुम्हार भुखा मरेगा । अत सर्व सत्कार्यवादी के सिर पर दडादि मे प्रवृत्तिअनुपपत्ति की आपत्ति का एव कुलालवृत्ति उच्छेद का वडा कलक आयेगा, जिसको व्रह्मा भी दूर कर नही सकता । अत सत्कार्यवाद के एकान्त को कब्रस्तान मे गाड दो ।

● दडादि मे प्रवृत्ति की उपपत्ति - सत्कार्यवादी ●

सत्कार्यवादी :- अथ वि० इति । जी, हजूर ! आप क्या वात कर रहे है? सत्कार्यवाद के स्वीकार मे कुम्हार की आजीविका का उच्छेद नही होगा । इसका कारण यह है- घट द्रव्यात्मक नही है किन्तु कपालद्वय के विजातीयसयोगात्मक है । घटत्व भी द्रव्यवृत्ति जाति न हो कर गुणविशेषवृत्ति जातिस्वरूप यानी विजातीयसयोगत्वात्मक है। देखिये, अव कुम्हार भुखा नही मरेगा, क्योकि कपाल विद्यमान होने पर भी विलक्षण सयोगात्मक घट तो अनुत्पन्न ही हे । 'कपाल मे विजातीय सयोग की उत्पत्ति का कारण दडादि

न च कुलालादिजन्यवच्छेदकतया मृत्त्व-स्वर्णत्वादिव्याप्य नानाघटत्वमेव स्वीकर्तव्यम्, अनुगतधीस्तु कथञ्चित्सौसादृश्यात्,

★ जयलता ★

साकर्यं घटत्वस्य, परस्परासमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशस्य साकर्यलक्षणत्वात् । एव स्वर्णपिडे स्वर्णत्वमस्ति घटत्व नास्ति, मार्त्तघटे तु घटत्वमस्ति स्वर्णत्व नास्ति, सौवर्णघटे चोभयमिति स्वर्णत्वेन सम तत्साकर्यम् । आदिपदेन ताम्रत्वादेर्ग्रहणम् । साकर्यस्य जातिबाधकत्वाद् घटत्वस्य जातित्व न सभवतीति भाव' ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय' । कुलालादिजन्यतावच्छेदकतयेति । आदिपदेन स्वर्णकारादेर्ग्रहणम् । मृत्त्व-स्वर्णत्वादिव्याप्य नानाघटत्वमेवेति । एवकारेणैकघटत्वव्यवच्छेद' कृतः । अनेन मृत्त्वादिना घटत्वस्य साकर्यमपाकृतम् । अथ भावः जातौ परापरभावनियमोऽस्ति । साकर्यसत्त्वदशाया जातो परापरभावो न घटाकोटिमटाव्यते । नानाघटत्वोपगमे साकर्यप्रचारो न भावी, यतः स्वर्णघटे यद् घटत्व तन्न मार्त्तघटे, यद् मार्त्तघटे तन्न सावर्णघटे किन्त्वन्यदेव । अत' मार्त्तघटे चोभयमित्यस्य नावकाशः सौवर्णघटवृत्तिघटत्वस्य मार्त्तघटस्यघटत्वविलक्षणत्वात् । एवमेव सौवर्णघटे चोभयमित्यप्यनवकाश वेदितव्यम्, मृत्त्वादिव्याप्यघटत्वस्य स्विरहात् ।

ननु पटत्वादिवत् स्वर्णत्वव्याप्यघटत्वस्य मृत्त्वाऽपरघटत्ववलक्षण्ये कथ मार्त्तसौवर्णादिघटेषु 'अय घट', अय घट'' इत्यनुगतो बोधः स्यादित्याशङ्कायामाह - अनुगतधीस्त्विति । कथञ्चित्सौसादृश्यादिति सस्थानादिसादृश्यादित्यर्थ' । मार्त्त - सौवर्ण-राजतादिविजातीयघटाना

● रमणीया ●

है । 'कपाल मे विजातीय सयोग की उत्पत्ति का कारण दटादि है'- इस ज्ञान मे कुलाल दडादि मे प्रवृत्ति करेगा और द्रव्यमात्र को नित्य मानने का हमारा सिद्धात भी अखड बना रहेगा, क्योकि चक्रभ्रमणादि से कपाल की या द्रव्यात्मक घट की उत्पत्ति की यहाँ कोई बात ही नही है । इस तरह विजातीयसयोगत्व को घटत्व मान कर सयोगविशेषरूप घट की उत्पत्ति का अगीकार करने पर न तो द्रव्यमात्र के नित्यत्व का उच्छेद होता है और न तो कुम्हार की वृत्ति का उच्छेद । साँप भी न मरे और लाठी भी न टूटे-ऐसा देखो हमारी बुद्धि का नया आविष्कार !

● घटत्व को द्रव्यवृत्ति जाति मानने पर साकर्य ●

सत्कार्यवादी:- युक्तश्चे० इति । यहाँ यह शका करना कि⟶''आपने जो समाधान बताया है वह तब मुमकिन होता यदि घटत्व द्रव्यवृत्ति जाति न होकर गुणवृत्ति हो । मगर ऐसा है नही, क्योकि घटत्व तो द्रव्यवृत्ति जातिरूप से प्रसिद्ध है । वैसा आप मानोगे तब तो द्रव्यात्मक घट की उत्पत्ति को एव द्रव्य मे अनित्यत्व को मान्यता देनी होगी''⟵ठीक नहीं है, क्योकि घटत्व को द्रव्यवृत्ति जातिस्वरूप माना जा नहीं सकता । यदि घटत्व को द्रव्यवृत्ति जातिविशेषस्वरूप माना जाय तब तो मृत्त्व-सुवर्णत्व आदि जाति से साकर्य प्रसक्त होता हे, जो जातिबाधक है-ऐसा न्यायाचार्य उदयन ने गुणकिरणावली मे बताया है । साकर्य इस तरह है - मृत्पिड मे घटत्व रहता नहीं हे, किन्तु मृत्त्व रहता है । सुवर्णघट मे घटत्व रहता है, मगर मृत्त्व नहीं । जब कि मार्त्त घट मे मृत्त्व और घटत्व रहते हैं । परस्पर असमानाधिकरण मृत्त्व और घटत्व का मिट्टी के घट मे रह जाने से साकर्य दोष स्पष्ट हे, क्योकि परस्पर व्यधिकरण (अन्यत्र एक अधिकरण मे न रहनेवाले) धर्म का एक अधिकरण मे रहना ही साकर्यशब्द का अर्थ हे । जिस तरह घटत्व का मृत्त्व जाति के साथ साकर्य होता है, ठीक उसी तरह घटत्व का सुवर्णत्व जाति के साथ भी साकर्य होता हे । वह इस तरह- सुवर्णपिड मे स्वर्णत्व जाति रहती हे, मगर घटत्व नहीं । मिट्टी के घट मे घटत्व रहता है, स्वर्णत्व नही । परस्पर व्यधिकरण घटत्व और स्वर्णत्व जाति सोवर्ण (सुवर्ण से निर्मित) घटात्मक एक ही अधिकरण मे रह जाने से घटत्व का सुवर्णत्व जाति के साथ साकर्य होता हे । जब साकर्य प्रसक्त हो तब सकीर्ण दोनो धर्म को जाति नहीं कह सकते किन्तु किसी एक को ही। मृत्त्व-सुवर्णत्व आदि तो जातिरूप से प्रसिद्ध ही है, क्योकि घटत्व को जातिरूप माना जाय और मृत्त्व को उपाधिरूप माना जाय तो भी स्वर्णत्व के साथ घटत्व का साकर्य जागृत ही है । मृत्त्व और स्वर्णत्व दोनो को उपाधिस्वरूप मानने की अपेक्षा अच्छा यही है कि घटत्व को ही द्रव्यवृत्ति जातिस्वरूप नही मानना, किन्तु गुणवृत्ति जातिस्वरूप मानना । अत घटत्व को विजातीयसयोगत्वस्वरूप मानने पर साकर्य भी न होगा और मृत्त्व-स्वर्णत्व आदि मे जातित्व की अनुपपत्ति भी नही होगी । एक पथ दो काज !

● नानाघटत्ववादी नव्यनैयायिक का मत ●

नव्यनैयायिक :- न च इति । अजी हजूर, क्या आप दशवी शताब्दी मे रहते हे ? घटत्व को द्रव्यवृत्ति जातिस्वरूप मानने मे साकर्य तब प्रसक्त होता यदि घटत्व को एक ही माना जाय । मगर वास्तव मे घटत्व एक नहीं हे, किन्तु अनेक हैं । इस बात की सिद्धि धर्मिग्राहक प्रमाण से ही होती है अर्थात् घटत्व के साधक प्रमाण से ही घटत्व मे अनेकत्व की सिद्धि होती है । सामान्यत जाति की सिद्धि जन्यतावच्छेदकता आदि स्वरूप से होती हे । घट कुलालादि से जन्य है । अत कुलालादिजन्यतावच्छेदकधर्मविधया ही नानाविध घटत्व की सिद्धि होती हे । अब साकर्य दोष की कोई सभावना नही है, क्योकि मृत्त्व जाति का व्याप्य घटत्व अलग है, स्वर्णत्वजाति का व्याप्य घटत्व अलग है । अत ''परस्पर असमानाधिकरण घटत्व और मृत्त्व की वृत्तिता मार्त्त घट मे होने

अत्र किञ्चिद्विचार्यते। **नन्वेव कपालघटयोर्जन्यजनकभावो न स्यात्, अभेदे तदसभवात्।** अत एव **नीलघटपदयोः**

★ जयलता ★

प्रत्ययेनाऽवयवावयविनोः कथचिदभेदसिद्धेः तेनैव परिणम्य-परिणामकभावात्। न हि करिणि दृष्टे तत्पदेनानुमेप्यते। तथाऽपि चेत्तर्करसिकस्तर्हि प्रयोग शृणु घटकपालौ न सर्वथा भिन्नौ परिणम्यपरिणामकभावात्, रक्तश्यामघटवत्। न चैव 'वह्निपरिणतोऽयोगोलक' इति प्रत्ययादयोगोलकस्यापि वह्न्यभेदप्रसङ्ग इति वाच्यम् तदानी तयोरेकावगाहताभावरूपस्याऽभेदस्येष्टत्वात्, अवयवावयविनोरेकप्रदेशभावेनाऽभेदस्तु घटकपालादिस्थलेपूपेयते।

यत्तु सत्स्वेवाऽवयवेपु उत्पन्न' पटः विनष्टः पटः उत्पन्नो घटो विनष्टो घट उत्पन्नो वृक्षो विनष्टो वृक्ष इति सार्वजनीनप्रतीतिसिद्धोत्पादविनाशविशिष्टस्य वस्तुनो द्रव्यान्तरत्वावश्यभावात्। [मुक्ता श्लो ३६ मजू पृ २८९] इति मुक्तावलीमञ्जूपाकारेणोक्त तन्न विद्योतते सयोवियोयोगिहृदयसहृदयस्याद्वादिसमुदयसदसि प्रणिगद्यमानम् पर्यायादेशादतिरेकेऽपि कार्यस्य द्रव्यादेशेनानतिरेकात्, पर्यायद्वारा द्रव्यविगमस्यैक्यप्रत्यभिज्ञानाऽप्रतिपन्थित्वात् 'श्याम उत्पन्नो रक्तो विनष्ट' इति वैधर्म्यज्ञानकालेऽपि 'स एवाऽय' इति प्रत्यभिज्ञायाः सर्वसिद्धत्वात्।

यदपि- "घट इत्यादिप्रतीतिविषयताया अनेकपरमाणुपु कल्पने गौरवादवयवातिरिक्तावयविसिद्धिरिति" [मुक्ता दि पृ २८९] मुक्तावलीदिनकरीयवृत्तावभिहित तदपि न मनीषिमनोविनोददायि अतिरिक्तधर्मिकल्पतातः क्लृप्तेप्वेव परमाणुरूपस्वद्रव्येपु तत्कल्पनाया एव 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'ति न्यायेन युक्तत्वात्। एवञ्च स्वद्रव्येपु सतामेव नित्याना घटत्वादिपर्यायाणामागमस्य वज्रलेपायित आगम एकान्तनित्यत्वपक्षसमाश्रयणे गीर्वाणगुरुणाऽपि पराकर्तुमशक्य इति सिद्धम्।

प्रसङ्गसङ्गत्या भेदाभेदपक्षोद्भावितदोपान्निराचिकीर्पुराह- अत्रेति। एकान्तनित्यत्वपक्षापतितदोपमीमासावसरे। गुणगुणिनोः सर्वथा भेदवाद्याह- नन्विति। तृतीयचेत्पदपर्यन्त विस्तृतः पूर्वपक्षः। अत्र वदन्तीत्यनेन अग्रे [दृश्यता ३८ तमे पत्रे] समाधानग्रन्थ इति चेतसि प्रणिधातव्यम्। एव = 'कपाल घटीभूत'मिति प्रतीत्या कार्यकारणयोरभेदाभ्युपगमे इति। कपालघटयोरिति व्यत्ययेन घटकपालयोरिति। जन्यजनकभावो न स्यात्। हेतुमाह - अभेदे इति। सप्तम्यर्थो विपयत्व तस्य च तत्पदार्थेऽन्वयः। ततश्च अभेदविपयकजन्यजनकभावस्याऽसभवादिति हेत्वर्थः। प्रसङ्गापादनमेतत् 'यदि घटकपालयोरभेदस्स्यात् तर्हि तयोर्जन्यजनकभावो न स्यात्' इत्याकारकम्। अभेदरूपापादकसत्त्वेन तत्प्रतियोगिकजन्यजनकभावाभाव आपाद्यते ननुवादिना। कार्यकारणयोरभेदोपगमे उत्पत्तो आत्माश्रयदोप एव कृतकरण-प्रयत्नैरर्थक्य-प्रयत्नाऽविरामादयो दोषा ज्ञेयाः।

अत एवेति। अभेदविपयकहेतुहेतुमद्भावासभवादेव, कार्यकारणभावस्य स्वप्रतियोगिप्रतियोगिकभेदव्याप्यत्वादेवेति यावत्। अस्य च

● रमणीया ●

रक्तरूपतया परिणत घट जेसे पूर्वकालीन श्याम घट से सर्वथा भिन्न होता नही है। ठीक वैसे ही घट और कपाल भी परस्पर सर्वथा भिन्न नही होते है किन्तु कथचित् अभिन्न होते है। जव घट ओर कपाल मे कथचित् अभेद सिद्ध हो गया तव तो 'कपाल मे अविद्यमान घटत्व ही कपालजन्यतावच्छेदक होता है न कि विद्यमान' यह कहना कैसे सगत होगा? अव पछताये होत क्या जव चिडियॉ चूग गई खेत! घट और कपाल मे कथचित् अभेद सिद्ध होने से घट मे रहनेवाला घटत्व कपाल मे भी रहता है- यह सिद्ध होता हे। तव तो अपने मे विद्यमान् धर्म की ही प्राप्ति का अनिष्ट प्रसग तदवस्थ रह जायेगा। कौन बुद्धिमान पुरुप विद्यमान चीज की ही प्रयत्न के द्वारा प्राप्ति होने मे श्रद्धा करेगा? इस अवस्था मे कुम्हार आदि भी घटोत्पादन के लिए प्रयत्न कैसे कर सकते ह? यदि करे तव भी वे प्रयास आदि निष्फल ही वन जायेगे। अत एकान्तनित्यत्वपक्ष मे कृतनाश दोप की भॉति अकृतागम दोप भी वज्रलेप हो जायेगा। अव प्रासगिक रूप से प्रकरणकार इस विषय मे अधिक विचारविमर्श करते है।

● सर्वथा भेदवादी का दीर्घ पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्ष :- नन्वेव कपा॰ इति। 'कपाल घटीभूत' प्रतीति से घट और कपाल मे यदि अभेद माना जाय तव तो कपाल और घट के वीच हेतु-हेतुमद्भाव ही नही हो सकता। अर्थात् घट का कारण कपाल और कपाल का कार्य घट-इस तरह घट और कपाल के वीच कार्य-कारणभाव नही हो सकता, क्योकि वे दोनो परस्पर अभिन्नरूप माने गये है। जो चीज परस्पर अभिन्न होती है उनमे कार्य-कारणभाव होता नही है जेसे घट ओर कुभ। कार्य-कारणभाव भिन्न-भिन्न पदार्थ मे ही सभव हे। कोई भी चीज अपनी जनक नही होती हे। घट को ही घट का कारण मानने पर जव तक कारणात्मक घट अविद्यमान होगा तव तक कार्यात्मक घट का उत्पाद न हो सकेगा, क्योकि कार्योत्पाद के पूर्व मे कारण की आवश्यकता होती है। इस तरह उत्पत्ति मे आत्माश्रयदोप होने से स्व का कारण स्व नही हो सकता। यदि कारणात्मक घट विद्यमान होगा तव उससे अभिन्न कार्यात्मक घट भी विद्यमान होने से कार्योत्पाद के लिए प्रयत्न करने की जरूरत नही होगी। इस तरह उत्पत्ति के प्रयास की निरर्थकता कार्य-कारण के अभेदपक्ष मे दोपरूप है। यदि कार्य से अभिन्न कारण होने पर भी कार्योत्पाद के लिए प्रयत्न किया जाएगा तव तो सर्वथा ही तादृश प्रयत्न चालु रहेगा, क्योकि प्रयत्न के पूर्व ओर पश्चात् काल मे कार्य की सत्ता समान हे। इसी तरह कृतकारण आदि अनेक दोष भी कार्य-कारण के अभेद पक्ष मे प्राप्त होते है। अत घट और कपाल के वीच अभेद मानना नामुनासिव हे।

शका :- अत एव नील॰ इति। घट और कपाल मे अभेद की सिद्धि मत हो। मगर गुण और गुणि मे तो अभेद की सिद्धि अनिवार्य हे, क्योकि नीलपद और घटपद मे शाब्दिक सामानाधिकरण्य होता हे। शाब्दिक सामानाधिकरण्य का अर्थ दो शब्दो के वीच समान विभक्ति का होना। जिनके वाचक शब्दो का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हो ओर साथ ही वे एक ही अर्थ मे प्रवृत्त

शब्दसामानाधिकरण्यनिर्वाहकतया गुणगुणिनोरभेदसिद्धिरित्यपास्तम्, तादात्म्येन स्वार्थान्वितार्थशाब्दबोधजनकत्वरूपस्य तस्य नीलपदस्य नीलवल्लक्षणादिनाऽपि निर्वाहात्। लक्षणादिप्रतिसंधानं विना तादृशशाब्दबोधस्त्वनिष्ट एव।

★ जयलता ★

'अपास्तमि'त्यनेनाऽन्वयः। नीलघटपदयोः शब्दसामानाधिकरण्यनिर्वाहकतया = अभेदान्वयबोधजनकत्वनिर्वाहकतया गुणगुणिनोरभेदसिद्धिः। अवान्तर-पूर्वपक्षिणो मीमांसकस्याऽयमाशयः नीलरूप-घटयोर्न समवायः किन्त्वभेदः 'दण्डी पुरुष' इत्यत्र दण्डि-पुरुषयोरिव 'नीलो घट' इत्यत्राऽपि नीलघटयोरबाधिताभेदानुभवात्। 'नीलो घटो', 'दण्डी पुरुष' इतिबुद्ध्योर्विशेषणसंबन्धमात्रगोचरत्वे 'नीलो घट' इतिवद् 'दण्डः पुरुष' इत्यपि स्यात् यद्वा 'दण्डी पुरुष' इतिवत् 'नीली घट' इत्यपि स्यात्। अथवा विशेषणता-विशेष्यतावच्छेदकयोर्नीलत्व-घटत्वयोरेकवृत्तित्वं ज्ञायते, दण्डित्व-पुरुषत्वयोरिव पुरुषे। एवमेव नीलघटपदयोः शाब्दमपि सामानाधिकरण्यं युज्यते। नीलत्व-घटत्वाभ्यां भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताभ्यां समानविभक्तिकयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तेः। यद्वाऽस्तु अभेदसंसर्गेण स्वार्थान्वितार्थविषयकशाब्दधीजनकत्वं शाब्दसामानाधिकरण्यं तथापि तयोरभेदसिद्धिरप्रत्यूहैव। एतेन एकार्थविषयकशाब्दबोधजनकत्वं सामानाधिकरण्यमित्युक्तावपि न क्षतिः अभेदस्य संसर्गमर्यादया लाभात्। तदुक्तं गदाधरेण व्युत्पत्तिवादे' अभेदश्च प्रातिपदिकार्थे स्वसमानविभक्तिकेन स्वाऽव्यवहितपूर्ववर्तिना च पदेनोपस्थापितस्यैव संसर्गमर्यादया भासते-यथा नीलो घटः [व्यु वा पृ ३] इति।

परमते अत एवेत्यनेन बाधः प्रदर्शितः। अधुना प्रकारान्तरेण शाब्दसामानाधिकरण्योपपत्तिं दर्शयति - तादात्म्येन स्वार्थाऽन्विता-र्थशाब्दबोधजनकत्वरूपस्येति। अभेदसंसर्गेण स्वार्थान्वितान्यप्रातिपदिकार्थविषयकशाब्दबोधहेतुत्वरूपस्य, तस्य = शाब्दसामानाधिकरण्यस्य। अस्य च निर्वाहादित्यनेनाऽन्वयः। अत्र हेतुमाह - नीलपदस्य नीलवल्लक्षणादिनाऽपीति। अयं भावः मतुपो लोपात् अभेदोपचाराद्वा नीलपदस्य नीलवति लक्षणास्वीकारेणाऽपि प्रदर्शितसामानाधिकरण्यस्योपपत्तेः न प्रकृतप्रयोगस्तयोरभेदसाधकः अन्यथानुपपत्त्यभावात्।

ननु यस्य पुरुषस्य तत्र लक्षणाग्रह एव न जातः तत्र स्थले तु तयोरभेदप्रतीतेर्दुर्वारत्वमित्याशङ्कायामाह-लक्षणादिप्रतिसंधानं विना तादृशशाब्दबोधस्त्वनिष्ट एव। तदानीं शाब्दबोधस्याऽनभिमतत्वादित्यर्थः। न चाऽत्राऽपि किं बीजमिति वाच्यम् तत्र अभेदवादिना नीलपदस्य गुणवाचकत्वोपगमे 'वस्त्रं शुक्लः' इति प्रयोगापत्तेः 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति।' [अ को १-५-१७] इत्यमरकोशवचनात्। अत्र हि शुक्लत्वाद्यवच्छिन्नस्वशक्तिज्ञानविशेष्यताप्रत्यासत्त्या शुक्लादिपदानां गुणवृत्तित्वे पुल्लिङ्गावश्यभावोऽनुशासितः। अत एव 'शुक्लं वस्त्रं' इत्यादौ शुक्लपदस्य शुक्लवति लक्षणयैव विशेष्यलिंगगामित्वमिति दिक्।

● रमणीया ●

हो तब उन दोनो के बीच समान विभक्ति का प्रयोग हो सकता है। जैसे 'दंडी पुरुष' यहाँ दोनो पद का प्रवृत्तिनिमित्त अलग है और साथ ही वे शब्द एक ही अर्थ मे प्रवृत्त होते है। अत दंड और पुरुषत्वरूप भिन्न पदप्रवृत्तिनिमित्तवाले दंडीपद और पुरुषपद मे समान विभक्ति का प्रयोग होता है। यहाँ दंडी से अभिन्न पुरुष का अर्थात् तादात्म्य संबध से दंडिविशिष्ट (दंडी मे अन्वित) पुरुष का भान होता है। शब्द सामानाधिकरण्यमहिम्ना यहाँ दोनो पद के दो वाच्यार्थ मे अभिन्नता की सिद्धि होती है। ठीक वैसे ही 'नीलो घट' इस प्रयोग मे भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले नीलपद और घटपद मे समानविभक्तित्वरूप सामानाधिकरण्य होने से इन दोनो पद के वाच्यार्थ नील रूप और घट मे अभेद की सिद्धि होती है। अत उक्त प्रयोग के बल से गुण-गुणि मे अभेद सिद्ध होता है।

● गुण-गुणी मे अभेद असिद्ध - पूर्वपक्ष ●

समाधान :- तादात्म्येन० इति। अब पछताये होत क्या जब चिडियाँ चुग गई खेत' हमने पूर्व मे ही बता दिया है कि कार्य-कारण के बीच अभेद कभी भी नही हो सकता है। जब कि गुण कार्य है और गुणी घटादि उसका कारण है तब तो इन दोनो के बीच भेद ही अनायास सिद्ध हो जाता है। कार्यकारणभाव अपने प्रतियोगी मे भिन्नता का व्याप्य है। व्याप्य की सिद्धि से व्यापक की सिद्धि अनिवार्य है। यहाँ यह शका करना कि—> ''तब घटपद और नीलपद मे सामानाधिकरण्य की उपपत्ति कैसे होगी?''<— नामुनासिब है। इसका कारण यह है कि गुण और गुणी मे अभेद का स्वीकार किये बिना भी पदसामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो सकती है। देखिये, भिन्न पदप्रवृत्तिनिमित्त वाले पदो मे समानविभक्तिकत्व यह शाब्दसामानाधिकरण्य का स्वरूपमुखी लक्षण है और हेतुमुखी लक्षण है तादात्म्य संबध से अपने अर्थ से युक्त अन्य पदार्थ के शाब्द बोध का जनकत्व। जैसे 'दंडी पुरुष' स्थल मे तादात्म्य संबध से दंडी से विशिष्ट पुरुषविषयक शाब्दबोध जनकत्वरूप सामानाधिकरण्य, जो कि दंडीपद और पुरुष पद मे विद्यमान है। इसकी उपपत्ति करने के लिए नील पद की नीलवान् मे लक्षणा मानना भी मुनासिब ही है। अर्थात् 'नीलपद' नील रूप का नही किन्तु नील रूप से विशिष्ट अर्थ विषयक शाब्द बोध कराने की इच्छा से प्रयुक्त है। - ऐसा मानने पर भी दर्शित पदसामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो सकती है। लक्षणा मानने पर नीलरूपविशिष्ट और घट के बीच अभेद का बोध होता

यत्तु 'एवं सति शुक्लपटपदयोरेकार्थत्वे 'शुक्लः पटः' इति सहप्रयोगो न स्यात् घटादेरिव रूपादेश्च त्वाच स्यात्। 'पटमानये'त्युक्ते यत्किञ्चित्शुक्लाऽऽनयनं च व्युत्पन्नस्य स्यात्। स्याच्च 'अपटः पटः' इतिवत् 'अशुक्लः पटः' इति वचो विरोधग्रस्तं, पाकेन श्यामरक्तविनाशोत्पादाभ्यां घटस्य तौ स्यातां घटसत्त्वेऽपि च तयोः तौ न स्याताम्।

★ जयलता ★

तत्त्वचिंतामणिकारमतं दर्शयति-यत्त्विति। अस्य च 'इति गंगेशेनोक्तं' इत्यत्राऽन्वयः। 'तन्न'त्यनेन निराकरिष्यति। एवं सति = गुण-गुणिनोरभेदाभ्युपगमे सति। शुक्लपटपदयोः एकार्थत्वे = अभिन्नार्थबोधजनकशब्दरूपत्वे प्राप्ते 'घटः कुम्भः' इतिवत् 'शुक्लः पटः' इति सह प्रयोगो न स्यात्, अन्यपदाभिहितार्थप्रतिपादनेन पौनरुक्त्यप्रसंगात्। द्वितीयदोषमाह - घटादेरिव रूपादेश्च त्वाच स्यात्। गुणगुणिनोरभेदाभ्युपगमे यथा घटादेः त्वगिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारो भवति तथैव रूपादेरपि स स्यात्, घटकुम्भयोरभेदाभ्युपगमे घटस्पार्शनप्रत्यक्षे सति कुम्भस्पार्शनप्रत्यक्षवत्। न च तदस्ति। गुणगुणिनोरभेदपक्षे तृतीयदोषमुद्गिरति - 'पटमानये'त्युक्ते = इति नियोगे सति, यत्किञ्चिच्छुक्लानयनं च व्युत्पन्नस्य = 'घट-कुम्भयोरभेदे घटानयने कुम्भानयनवत् पटशुक्लयोर्गुणिगुणयोरभिन्नत्वे घटादिरूपशुक्लपदार्थानयने पटानयनं स्यादेवे'ति व्युत्पत्तिमतः स्यात्। चतुर्थदोषं प्रकटयति - 'अपटः पटः' इतिवत्। यथेदं वचनं प्रतीतिपराहतं तथैव पीतपटे 'अशुक्लः पटः' इति वचो विरोधग्रस्तं स्यात्। न हि स्वस्मिन्नेव स्वभेदः संभवति। पटशुक्लगुणयोरभिन्नत्वे तत्सत्त्वे तत्सत्त्वात्, घटसत्त्वे कुम्भसत्त्ववत्। पञ्चमदोषं दर्शयति - पाकेन = विजातीयतेजःसंयोगेन, श्यामरक्तविनाशोत्पादाभ्यां = श्यामरूपस्य विनाशेन रक्तरूपस्य चोत्पादेन गुणिनो घटस्य तौ = विनाशोत्पादौ स्याताम्, तयोरभेदात्, घटविनाशोत्पादे कुम्भविनाशोत्पादवत्। षष्ठं दोषमाह- घटसत्त्वेऽपि। व्यत्ययेन अपिशब्दः 'तयोः' इत्यनन्तरं योज्यः। ततश्च घटसत्त्वे च तयोरपि = श्यामरक्तयोरपि, तौ = विनाशोत्पादौ, न स्याताम्। तयोरभिन्नत्वेनाभिमतस्य घटस्य सत्त्वात्, तदभिन्नसत्त्वे तद्विनाशोत्पादयोरसंभवात्, व्यापकाभावेन व्याप्याभावस्य सिद्धेरिति गुण-गुणिनोरभेदपक्षे दोषषट्कागमनं दुर्निवारम्।

● रमणीया ●

है, जो कि अबाधित है। जिस व्यक्ति को यह मालुम नहीं है कि नीलपद की नीलवान् में लक्षणा है उसे शाब्द बोध नहीं हो सकता है। अगर हो जाए तो भी वह बाधित होने से अप्रामाणिक होगा। अप्रामाणिक ज्ञान स्वविषय का साधक होता नहीं है। अतः शाब्दिक सामानाधिकरण्य के बल से गुण और गुणी में अभेद की सिद्धि करने का आपका स्वप्न स्वप्न ही रहेगा। अक्ल बडी या भैंस?

● तत्त्वचिंतामणिकार के मत से गुण-गुणी के अभेद पक्ष मे दोषषट्क ●

यत्तु० इति। गुण और गुणी के अभेद पक्ष मे नव्य न्याय की नींव डालनेवाले गंगेश महाशय का यह आक्षेप है कि- '(१) गुणी और गुण के अभेद पक्ष में शुक्ल पद और पट पद, ये दोनों एकार्थक = अभिन्न अर्थ के वाचक होने के सबब 'शुक्लः पटः' ऐसा सहप्रयोग हो नहीं सकता जैसे घट और कुंभ दोनों पर्याय शब्द होने से 'घटः कुंभः' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता वैसे ही 'शुक्लः पटः' इस तरह दो शब्दों का एक साथ वाक्य मे प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि गुण और गुणी के अभेदपक्ष मे पटपद से जिस अर्थ का बोध कराना है उस अर्थ का बोध शुक्लपद से ही हो जाता है। शुक्ल पद से गुणी पट का बोध होने पर भी यदि पट पद का प्रयोग किया जाएगा तो पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा। एक ही अर्थ के लिए अनेक पद का प्रयोग करना-यही तो पौनरुक्त्य दोष का लक्षण है।

(२) गुण-गुणी के अभेद पक्ष मे दूसरा दोष यह है कि शुक्ल रूप और पट दोनों अभिन्न होने के सबब जैसे पट का स्पर्शनेंद्रिय से प्रत्यक्ष होता है ठीक वैसे ही शुक्ल रूप का भी स्पार्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा। कुंभ का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने पर कुंभ अभिन्न घट के स्पार्शन प्रत्यक्ष की तरह। मगर ऐसा होता नहीं है। अंधे को पट का स्पार्शन होने पर भी शुक्ल वर्ण का त्वाच प्रत्यक्ष होता नहीं है। इसके अतिरिक्त (३) 'पटमानय' अर्थात् 'तुम पट को ले आओ' ऐसा आदेश होने पर व्युत्पन्न आज्ञांकित मनुष्य सन्निहित यत् किंचित् शुक्ल रंग की डिब्बी को लाएगा, क्योंकि शुक्ल वर्ण और पट एक होने से शुक्ल वर्ण की ट्यूब लाने पर उससे अभिन्न वस्त्र का आनयन अनायास संपन्न होगा' ऐसा गुण-गुणी के अभेद पक्षवादी को ज्ञान है। मगर ऐसा होता नहीं है। इसके अतिरिक्त (४) दोष यह है कि 'अपटः पटः' अर्थात् 'पट पटभिन्न है' यह वाक्य जैसे विरुद्ध है वैसे पीत पट मे 'अशुक्लः पटः' यह वाक्य भी विरुद्ध हो जाएगा, क्योंकि पट मे जैसे पट का भेद अविद्यमान होता है वैसे ही गुण-गुणी के अभेद पक्ष मे शुक्ल रूप का भेद पट मे विद्यमान नहीं होता है। अतः 'अशुक्लः पटः' 'वस्त्र श्वेत नहीं है' यह वचन विरुद्ध बन जाएगा। इसके अतिरिक्त (५) दोष यह है कि - कुम्हार श्याम घट को आग की भट्ठी मे डालता है तब श्याम वर्ण का नाश होता है और रक्त वर्ण की उत्पत्ति होती है। मगर गुण और गुणी मे अभेद मानने पर श्याम रूप से अभिन्न घट का नाश श्याम रूप के नाश के साथ साथ होगा और विलक्षण अग्निसंयोगरूप पाक से रक्त रूप का उत्पाद होने पर रक्तरूप से अभिन्न होने के नाते घट का भी जन्म हो जाएगा, दंड-चक्र,चीवर-कुलाल आदि के बिना ही!!! यदि यहाँ ऐसा कहा जाय कि दंड-चक्र-चीवर-कुलाल आदि सामग्री न होने से घट का जन्म नहीं होता है और विलक्षण मुद्गर प्रहार आदि

अथ शुक्लत्व-घटत्वादिजातिभेदान्नेमे दोषा इति चेत्? न शुक्लत्वादेर्द्रव्यवृत्तित्वेऽन्धस्य त्वचा द्रव्यत्वग्रहवत् रूपत्वग्रहस्याऽपि

★ जयलता ★

गुणगुणिनोरभेदवादी दोषपट्कज्वरदोषमेकेनैवौषधेन निराकरोति-अथेति। शुक्लत्व-घटत्वादिजातिभेदान्नेमे = अनन्तरमुक्ताः दोषा । अय भावो गुणगुणिनोः शुक्ल-घटयोरभिन्नत्वेऽपि शुक्लत्व-घटत्वयोः पदप्रवृत्तिनिमित्तयोः भिन्नत्वोपगमात् नानुपदमुक्ताः दोषाः सम्भवन्ति। तथाहि - समानपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नवाचकत्वात् घटकुम्भपदयोः सहप्रयोगो न भवति प्रकृते तु शुक्लत्व-घटत्वरूपभिन्नपदार्थतावच्छेदकजात्यवच्छिन्नवाचकत्वात् शुक्लघटयोः सहप्रयोगः स्यादेव, ततो न पुनरुक्तिदोषः। एतेनाभेदान्वयबोधानुपपत्तिरपि प्रत्युक्ता विलक्षणधर्माभ्यां तयोरुपस्थितेः। तदुक्तं व्युत्पत्तिवादे 'अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थितयोरेवेति व्युत्पत्तिः' [व्यु वा पृ ४०] एतेन 'घटादेरपि रूपादेश्च त्वाच स्यात्' इति प्रत्युक्तम् घटत्वादेः त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वेन तदवच्छिन्नघटादेः स्पार्शनत्वेऽपि शुक्लत्वादेः स्पर्शनेन्द्रियागोचरत्वेन तदवच्छिन्नस्य स्पार्शनत्वानापातात्। अत एव 'पटमानये'त्युक्ते यत्किञ्चिच्छुक्लानयनं च व्युत्पन्नस्य स्यादित्यस्याऽप्यनवकाशः, उद्देश्यतावच्छेदकीभूतं पटत्वं शुक्लत्वादेर्भिन्नमिति व्युत्पत्तिमतः तथासम्भवाऽभावात्, उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न एव विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नस्याऽन्वयो भवतीति व्युत्पत्तेः सर्वसिद्धत्वात्। अनेन 'अपटः पटः' इतिवत् 'अशुक्लः पटः' इति वचो विरोधग्रस्तं स्यादित्यपि निरस्तम् अन्योन्याभावस्य स्वप्रतियोगितावच्छेदकेनैव समं विरोधेन पीतपटे 'पटो न शुक्लः' इत्यत्र विरोधानवकाशात्, भेदप्रतियोगितावच्छेदकस्य शुक्लत्वस्याऽनुयोगितावच्छेदकीभूतपटत्वावच्छिन्नेऽसत्त्वेन भेद-तत्प्रतियोगितावच्छेदकयोर्वैयधिकरण्यात्। अत एव पञ्चमषष्ठौ दोषौ न सावकाशो, सामग्र्याः कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तिव्याप्यत्वात् घटत्वस्य पाकनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकशून्यत्वान्न तयोरुत्पादादौ सति तदुत्पादादिः न वा तत्स्थितौ तदुत्पादादिविरहः सामग्र्याः कार्यजननेऽन्यानपेक्षणादिति निगूढोऽभिप्रायः।

मणिकारस्तन्निराकुरुते- नेति। शुक्लत्वादेः घटत्वादितो भिन्नत्वेऽपि गुणगुणिनोरभिन्नत्वाभ्युपगममहिम्ना समायाते तस्य घटादिद्रव्यवृत्तित्वे अभ्युपगन्तव्ये अन्धस्य त्वचा = त्वगिन्द्रियेण द्रव्यत्वग्रहवत् = द्रव्यत्वस्पार्शनमिव रूपत्वग्रहस्याऽपि रूपत्वस्पार्शनस्यापि प्रसङ्गात्। हेतुमाह

● रमणीया ●

घटनाशक सामग्री न होने की वजह घट का विनाश भी नहीं होता है तब तो (६) दोष यह उपस्थित होगा कि - घट की सत्ता रहने से घट से अभिन्न श्याम वर्ण का न तो विलक्षण अग्निसंयोगक से विनाश होगा और न तो घटाऽभिन्न रक्त वर्ण की उत्पत्ति होगी। घट का उत्पाद-विनाश न होने पर उससे अभिन्न रक्त रूप और श्याम रूप का उत्पाद और विनाश कैसे संभव है? इस तरह गुण-गुणी में अभेद मानने पर इन ६ दोषों की प्राप्ति होती है।

● शुक्लत्व और घटत्व को भिन्न मानने पर दोषषट्क निरास-अभेदवादी ●

अभेदवादी :- अथ शुक्लत्व० इति। गुण और गुणी के अभेद पक्ष में उपर्युक्त दोष का वारण तो इस तरह भी हो सकता है कि - गुण और गुणी परस्पर अभिन्न होते हुए भी गुण और गुणी में रही हुई जाति भिन्न होती है। अर्थात् शुक्ल रूप और घट दोनों परस्पर अभिन्न है मगर शुक्लरूपनिष्ठ शुक्लत्व जाति से घटनिष्ठ घटत्व जाति भिन्न है। शुक्लत्व और घटत्व आदि को लेकर बताये गये उपर्युक्त दोषों का गुण-गुणी के अभेद पक्ष में अवकाश नहीं है। देखिए, (१) 'कुंभ घट' यह सहप्रयोग न होने का कारण यह है कि कुंभत्व और घटत्व एक ही हैं। मगर 'शुक्ल पट' ऐसे दो पदों का एकसाथ प्रयोग करने में पुनरुक्ति दोष नहीं है। शुक्ल पट से घटत्व का, जो कि शुक्लत्व से भिन्न है, कथन न होने के कारण घटत्व का प्रतिपादन करने के लिए घट पद का प्रयोग भी आवश्यक होने से सार्थक है - अधिक अर्थ का बोधक है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। अतः 'शुक्ल पट' ऐसा एक साथ दो पदों का प्रयोग निर्दोष है, कर्तव्य है। एवं (२) घट की तरह रूप के स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि घटाभिन्नरूप में रूप का त्वगिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होने के बावजूद भी रूपत्वरूप से रूप का स्पार्शन नहीं होता। रूपत्व त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य होने से रूपत्वविधया रूप का स्पर्शनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी तरह (३) 'पटमानय' ऐसा आदेश होने पर यत् किंचित् शुक्ल रंग की डिब्बी आदि को लाने का प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि 'उसमें पटत्व न होने से पटत्वविशिष्ट का आनयन बाकी रह जाएगा' ऐसा घटत्व और शुक्लत्व के भेद के ज्ञाता व्युत्पन्न पुरुष को मालुम है। इसी तरह (४) 'अशुक्ल पट' यह वचन विरोधग्रस्त होने का अवकाश नहीं है, क्योंकि शुक्लत्व और पटत्व भिन्न होने से शुक्लत्व जाति से शून्य पट में 'अशुक्ल पट' यह प्रयोग मुनासिब ही है। अन्योन्याभाव का विरोध स्वप्रतियोगितावच्छेदक के साथ होने से भेदप्रतियोगितावच्छेदक शुक्लत्व से रहित पट में 'अशुक्ल पट' यह प्रयोग सुसंगत है, निर्दोष है। तथा (५) अग्निसंयोग से श्याम वर्ण के विनाश और रक्त वर्ण की उत्पत्ति के समय घट के नाश और उत्पाद का प्रसंग भी असंभव है, क्योंकि सामग्री कार्यताऽवच्छेदकावच्छिन्न को उत्पन्न करती है, न कि कार्यतावच्छेदक से शून्य को भी। घटत्व जब कि विलक्षण अग्निसंयोग का कार्यतावच्छेदक या नाश्यतावच्छेदक ही नहीं है तो घटत्व से विशिष्ट की उत्पत्ति और विनाश कैसे संभव है? आपादक के अभाव में आपत्ति का प्रदर्शन करना शादी के पहले ही पुत्रमहोत्सवतुल्य समझा जाता है। अतएव (६) घट की विद्यमानता में श्यामरूप के विनाश और रक्तरूप के उत्पाद के होने में कोई बाध नहीं

प्रसङ्गात्, जातित्वाच प्रति आश्रयत्वाचस्यैव नियामकत्वादि'ति [त चि प्र ख पृ ६५७] गगेशेनोक्त तन्न आश्रयत्वाचस्य नियमतः पूर्वमभावाद् योग्यताविशेषाऽभावादेव रूपत्वाद्यस्पार्शननिर्वाहात्।

★ जयलता ★

- जातित्वाच प्रति आश्रयत्वाचस्येव नियामकत्वादिति। अय भावः जातिप्रत्यक्ष प्रति जात्याश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् रूपत्वाश्रयस्य रूपाऽभिन्नघटाद्यात्मकद्रव्यस्य स्पार्शनप्रत्यक्षे सजाते रूपत्वजातिप्रत्यक्षत्वस्य दुर्निवारत्वमन्धस्य योग्यव्यक्तिवृत्तित्वेन तद्योग्यतया द्रव्यग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वावधारणादिति मणिकाराशय ।

साप्रतमुपलभ्यमाने तत्त्वचितामणिग्रन्थे समवायवादे ''शुक्ल-पटशब्दयोरेकार्थत्वे 'घटः कुम्भ' इतिवत् 'शुक्लः पट' इति सहप्रयोगो न स्यात्। अन्धस्य पटग्रहवत् रूपग्रहः, रूपाग्रहवत् पटाग्रहोऽपि वा स्यात्। महारजतरक्ते पटग्रहवत् शुक्लग्रह', शुक्लाऽग्रहवत् पटाऽग्रहोऽपि भवेत्। 'पटमानये'त्युक्ते य कश्चिच्छुक्लमानयेत्। 'अपटः पटः' इतिवत् 'अशुक्लः पट' इति विरुध्येत पटशुक्लयोरभेदात्। अग्निसयोगादेकत्र श्याम-रक्तयोर्विनाशोत्पादे घटस्य तौ स्याता। घटसत्त्वे वा तयोरपि न स्याता। अथ शुक्लत्वादीना द्रव्यभेदात् तद्बोधार्थं सहप्रयोगः। अन्धादिना शुक्लादिग्रहे शुक्लत्वादीनामग्रह उपपद्यते। शुक्लत्वादिजातेश्च द्रव्येणाऽभेदो न समवाय' किन्तु स्वरूपसबध इति चेत्? न शुक्लत्व-मधुरत्व-सुरभित्वोष्णत्वादीना द्रव्यवृत्तित्वे द्रव्यग्राहकत्वगादिभिर्ग्रहणप्रसङ्गात्। रूपत्वादीना प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वनियमात्रेवमिति चेत्? रूपत्वादीना द्रव्यवृत्तित्वे प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतैव न स्यात्, योग्यवृत्तित्वेन जातेर्ग्रहणयोग्यत्वात्। तत्तज्जातित्वेन योग्यत्वेऽननुगमात्। तस्मात् रूपत्वादीना प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यताऽपि गुण-गुणिभेदे मानम्'' [तत्त्व चि प्र ख पृ ६५९] इत्येव पाठो दृश्यते इति ध्येयम्।

ननुवादी गगेशमत निरस्यति - तन्नेति। आश्रयत्वाचस्य = जात्याश्रयविषयकलौकिकविषयताशालिनः प्रत्यक्षस्य नियमत = अवश्यभावेन पूर्व = जातिविषयकलौकिकविषयताशालिप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नोत्पादाव्यवहितपूर्विलक्षणे, अभावात्। पूर्वमविनाभावेन तत्सत्ताविरहात् व्यतिरेकव्यभिचारेण नाश्रयत्वाचस्य जातित्वाचहेतुत्वम्। तत्कारणत्वाभिधानमसभवदुक्तिकञ्च। जातिव्यक्तिसवधाना युगपदेव निर्विकल्पज्ञानस्य जायमानत्वात्।

नन्वाश्रयस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि रूपत्वाप्रत्यक्षत्वे नियामक किमित्याशङ्कायामाह - योग्यताविशेषाभावादेव रूपत्वाद्यस्पार्शननिर्वाहात्। द्रव्यस्य स्पार्शनयोग्यत्वेऽपि रूपत्वादीना स्पार्शनयोग्यत्वाऽभावेन त्वगिन्द्रियाऽग्राह्यत्वे सामग्रीविरहादेव तदनापत्तिः, अन्यथा महत्त्वसमानाधिकरणोतरूपवलात्

● रमणीया ●

है। विलक्षण अग्निसयोग का कार्यतावच्छेदक है श्यामविध्वसत्व और रक्तत्व आदि। घटत्व आदि उसका कार्यतावच्छेदक नही है। अत रक्तत्वरूप से रक्तरूप के उत्पाद आदि का अपनी सामग्री से होना अमान्य कैसे हो सकता है? इस तरह गुण-गुणी मे अभेद होने पर भी उनमे रही हुई जाति को भिन्न मानने पर प्रदर्शित दोषपट्क को अवकाश नही है।

भेदवादी नैयायिक :- न शुक्ल० इति। जनाव ! गधा धोने से वछडा नही होता! कितना ही यत्न करो गुण और गुणी मे रहे हुए भेद को मिटाना आसान नही है। आप कहते है कि गुण ओर गुणी अभिन्न है तव तो गुण मे रहे हुए शुक्लत्व आदि धर्म गुणअभिन्न गुणी मे भी रह जाएंगे। अर्थात् शुक्लत्व आदि जाति भले ही द्रव्यत्व-घटत्व आदि से भिन्न हो मगर द्रव्य मे उनका रहना न्याय- प्राप्त है। जव शुक्लत्व आदि द्रव्य मे रहता ह यह सिद्ध हुआ तव तो द्रव्य मे रहे हुए द्रव्यत्व का जैसे स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है वैसे द्रव्यनिष्ठ शुक्लत्व का भी स्पार्शन प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योकि जाति के स्पार्शन प्रत्यक्ष मे जाति के आश्रय का स्पार्शन प्रत्यक्ष हेतु होता है। स्पार्शन प्रत्यक्ष के योग्य आश्रय मे वृत्ति होने से शुक्लत्व आदि का अध को भी स्पार्शन प्रत्यक्ष हो जायेगा। सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करने मे अन्य किसीकी अपेक्षा रखती नही है। मगर अध को रूपत्व-शुक्लत्व आदि का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता नही है। इसलिए गुण और गुणी मे अभेद मानना और तन्निष्ठ जाति मे भेद मानना यह अर्धजरतीय न्यायतुल्य होने से एव उपर्युक्त दोप के कारण त्याज्य है। यह चितामणिकार का कथन है।

● आश्रय का प्रत्यक्ष जाति के प्रत्यक्ष मे हेतु नही है ●

तत्र आश्रय० इति। तत्त्वचितामणिकार के उपर्युक्त कथन के प्रतिवाद मे ननुवादी का कहना है कि - गगेश का यह वचन कि → 'जातिस्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति जाति के आश्रय का स्पार्शन प्रत्यक्ष हेतु है'← तथ्यहीन हे। इसका कारण यह है कि जो कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण मे नियमत कार्याधिकरणविधया अभिमत मे रहता हो वही उस कार्य का कारण हो सकता है। नैयायिक मत मे शुक्लत्व ओर शुक्लरूप दोनो का निर्विकल्प प्रत्यक्ष एकसाथ ही होता हे जैसे कि घट-घटत्व का निर्विकल्प ज्ञान। जाति ओर जाति के आश्रय का प्रत्यक्ष जव समकालीन है तव न्यायमत मे इन दोनो के वीच मे कार्य-कारणभाव को मान्यता कैसे दी जा सकती है। अत 'जातिस्पार्शन मे जातिआश्रय का स्पार्शन हेतु है'- यह वचन निर्युक्तिक है। वास्तविकता तो यह हे कि स्पार्शन आदि प्रत्यक्ष मे योग्यताविशेप ही हेतु हे। जिसमे योग्यताविशेप हो उसका प्रत्यक्ष हो सकता हे। रूपत्व मे स्पार्शन प्रत्यक्ष की विशेप योग्यता न होने से अन्ध को रूपत्व के स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति नही दी जा सकती। इस पक्ष मे तो यही दोप

अथ भेदाभेदाभ्युपगमे न सर्वथाऽभेदपक्षसंभावितप्रसरः प्रागुक्तदोषः इति चेत्? न अवच्छेदकभेदं विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधात्। तदुक्तं मणिकृता "तस्यैव तत्राऽभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्तते ज्ञायते च यथा संयोगाभावः श्यामावच्छिन्नस्य तस्यैवान्योन्याभावस्तत्रैव

★ जयलता ★

द्रव्यचाक्षुषवत् महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतगंधबलाद् द्रव्यघ्राणजापत्तिः कथंकारं वारणीया नैयायिकमन्येन? न च द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयताप्रयोजकसन्निकर्ष-शून्यत्वान्न गंधाश्रयघ्राणजप्रत्यक्षमिति वाच्यम् प्रतियोगितासंबंधेन रूपत्वाद्यन्यतमभेदस्य विषयतासंबंधेन त्वाचहेतुत्वोपगमेन प्रकृतेऽपि क्षतिविरहात्। एतेन तत्तज्जातित्वेन योग्यत्वेऽननुगमादिति' [त चि प्र ख पृ ६५९] इति गंगेशवचनं प्रत्युक्तम्, प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातेन फलमुखगौरवस्याऽदोषत्वात्। ततश्च गुणगुणिनोरभेदपक्षे कार्यकारणभावोच्छेदात्माश्रयादिदोषप्रदर्शनमेव युक्तिमिति नन्वाशयः।

सांप्रतं भेदाभेदवादी प्रत्यवतिष्ठते ननुवादिनं प्रति-अथेति। भेदाभेदवादिनोऽयमाशयः घटकुंभयोस्तु सर्वथाऽभिन्नत्वेन पौनरुक्त्यापातेन न सहप्रयोगः किन्तु मन्मते गुणगुणिनोर्भेदमादाय न पौनरुक्त्यं येन सहप्रयोगो न स्यात्। अत एव घटादेरिव रूपादेश्च त्वाचं स्यादिति प्रत्युक्तम् तयोरभिन्नत्वेऽपि भेदस्य जागरूकत्वात्। अनेन 'पटमानयेत्युक्ते यत्किञ्चिच्छुक्लानयनं व्युत्पन्नस्य स्यादि'त्यपि प्रत्युक्तम् सर्वथाऽभेदाभावात्। एतेन 'अपटः पटः' इतिवत् 'अशुक्लः पटः' इत्यपि वचो विरोधग्रस्तं स्यादित्यप्यपहस्तितम् भेदप्रतियोगितावच्छेदकस्यानुयोगिनि पीतपटे विरहेणाऽविरोधात्। एतेन पाकेन श्यामरक्तविनाशोत्पादाभ्यां घटस्य तौ स्यातां, घटसत्त्वे च तयोरपि तौ न स्यातामिति प्रत्युक्तम् सामग्र्याः स्वकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्ति-व्याप्यत्वात्। अत एव कार्यकारणभावासंभवदोषोऽपि प्रत्युक्तः सर्वथा भेदे घटपटयोरिव सर्वथाऽभेदे घटकुंभयोरिवाऽसंभवेन कार्यकारणभावस्य भेदाभेदपक्षे एव विश्रान्तत्वात्, चतुर्थराश्यभावात्।

न च भेदाभेदे किं प्रमाणमिति वाच्यम् अत्यन्तमभेदे घटकुंभयोरिव अत्यन्तं भेदे च घटपटयोरिव न सामानाधिकरण्यमिति तत एव भेदाभेदसिद्धेः। न च भेदाऽभेदयोः परस्परविरहरूपतया विरुद्धयोः कथमेकत्र समावेश इति वाच्यम् संयोगतदभावयोरिवाऽविरोधात्। पाकानन्तरं 'रक्तोऽयं न श्याम' इत्यबाधितानुभवबलात्तत्रैव तदन्योन्याभावसिद्धेस्त्वयाऽपि भेदाभेदस्वीकारात्। न चान्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वात्कथमेकत्र तदभावनिवेश इति वाच्यम् अन्योन्याभावत्वं अव्याप्यवृत्तिवृत्ति नित्याभाववृत्त्यभावत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मत्वात्, अत्यन्ताभावत्ववत् अव्याप्यवृत्तित्वं च स्वकालावच्छिन्न-स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणवृत्तित्वरूपं बोध्यं, तेन न सिद्धसाधनम्। यद्वा 'नित्ये'ति न विशेषणं अव्याप्यवृत्तिप्रतियोगिकप्रागभाव-प्रध्वंसयोरप्यव्याप्यवृत्तित्वादिति भेदाभेदवादिनो गूढतराशयः।

गुण-गुणिनोः सर्वथा भेदवादी मणिकारमतमवलम्ब्य भेदाभेदवादिमतं निराकरोति- नेति। अवच्छेदकभेदं विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधात्। अन्योन्याभावस्य संसर्गाभाववदव्याप्यवृत्तित्वेऽपि संयोग-तदभावयोरिवाऽवच्छेदकभेदमाश्रमृते नैकत्र भेदाभेदयोः समावेशः विरोधादिति भावः। अत्रैव यथा गुणगुणिनोरवच्छेदकभेदो न संभवति तथा मणिकृत्संमतिं दर्शयति - तदुक्तं मणिकृता = तत्त्वचिंतामणिकृता गंगेशेन समवायवादे इति गम्यम्। तस्यैव = प्रतियोगिन एव, तत्र = प्रतियोगिमति, अभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्तते ज्ञायते च यथा संयोगाभावः। एकस्मिन्नेव वृक्षे शाखाऽवच्छेदेन कपिसंयोगे सत्यपि मूलरूपावच्छेदकान्तरेण कपिसंयोगाभावो वर्तते 'वृक्षे शाखायां कपिसंयोगो न तु मूले' इति ज्ञायते च। अवच्छेदकभेदेनैकत्र प्रतियोगि-तदत्यन्ताभावयोः समावेशं प्रदर्श्य प्रतियोगि-तदन्योन्याभावयोरप्येकत्राऽवच्छेदकभेदेन समावेशं दर्शयति-श्यामावच्छिन्नस्य

● रमणीया ●

देना मुनासिब है कि गुणत्व-शुक्लत्व आदि और द्रव्यत्व घटत्व आदि भले ही परस्पर भिन्न हो मगर उनके आश्रय यानी गुण और गुणी परस्पर अभिन्न होंगे तो इन दोनों में प्रसिद्ध कार्य-कारणभाव का उच्छेद हो जायेगा। गुण कार्य है और गुणी कारण है - यह गुण-गुणी के अभेद पक्ष में नामुमकिन है।

भेदाभेदवादी :- अथ भेदाभेदा० इति। उपर्युक्त सब दोषों की संभावना भले ही गुण-गुणी के अभेदपक्ष में हो। मगर गुण-गुणी के भेदाभेद पक्ष में उपर्युक्त दोष नामुमकिन है। कार्य-कारणभाव का असंभव सर्वथा भेदपक्ष में या सर्वथा अभेदपक्ष में हो सकता है। मगर भेदाभेदपक्ष में कार्यकारणभाव का उच्छेद नहीं है। एवं 'शुक्लो घटः' इत्यादि सहप्रयोग में पुनरुक्ति दोष आदि का प्रसंग भी नहीं है, क्योंकि शुक्ल रूप और घट में सर्वथाऽभेद न होने में शुक्ल पद से अनभिहित अर्थ का घटपद से बोध होता है। इस तरह घट की भाँति रूप के स्पार्शन की आपत्ति भी भेदाभेदपक्ष में नहीं है, क्योंकि गुण-गुणी में भेद भी रहता है। इस तरह अन्य उपर्युक्त दोष भी भेदाभेद पक्ष में नामुमकिन है, क्योंकि गुण-गुणी में अभेद की भाँति भेद भी रहता है। दोनों रहने से किसी दोष का प्रवेश भेदाभेदपक्ष में होता नहीं है। एक और एक ग्यारह होते हैं। इस तरह भेद और अभेद जब दोनों गुण-गुणी में रहते हैं तब उसका बल प्रबल बन जाता है। यहाँ दोष की संभावना कहाँ?

● अवच्छेदक भेद के बिना एकत्र भेदाभेद का असमावेश ●

भेदवादी :- न, अवच्छे० इति। भेदाभेदवादी के उपर्युक्त कथन के प्रतिवाद में मूल ननुवादी का कहना है कि - प्रदर्शित दोष के निरासार्थ जिसका ग्रहण किया जाता है वह भेदाभेद ही वध्यापुत्रतुल्य असत् है, क्योंकि घटादिरूप एक धर्मी में अवच्छेदकभेद के बिना शुक्लादि गुण के भेद और अभेद का समावेश नामुमकिन है। इस विषय में सिर्फ हमारी ही नहीं बल्कि चिंतामणिकार की भी सम्मति है। मणिकार ने प्रत्यक्षखण्ड में समवायवाद में कहा है कि - "उसीका अभाव अन्य अवच्छेदक की अपेक्षा एक ही धर्मी में रहता है और ज्ञान होता है जैसे संयोगाभाव। वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग रहने पर भी मूलावच्छेदेन उसी वृक्ष

रक्तावच्छिन्ने तदन्योन्याभावाभावश्च श्यामावच्छेदेन। तदिहापि नीलस्याऽन्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलात् घटस्य भेदोऽस्तु, अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाभावरूपो घटे न घटत्वावच्छेदेनैव विरोधात्, एकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्राऽवृत्तेरज्ञानाच्च। नाप्यवच्छेदकान्तरेण, घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावात्, तदज्ञानेऽपि 'नीलो घट' इत्यनुभवाच्चेति'' चेत्?

★ जयलता ★

तस्य = घटस्यैव अन्योन्याभाव = भेदः तत्रैव = घट एव रक्तावच्छिन्ने = रक्तावच्छेदेन, तदन्योन्याभावाभावश्च = रक्तावच्छिन्नस्य घटस्येव भेदाभावश्च श्यामावच्छेदेन = श्यामावच्छिन्ने घटे। अय भावः पीठरपाकवादिनो नैयायिकस्य मते पाकेन श्यामनाशे रक्तरूपोत्पादेऽपि न घटध्वसः स्वीक्रियते 'स एवायमि'ति प्रत्यभिज्ञावलात्। तदा च 'रक्तोऽय घटो न श्यामः' इति प्रत्ययेन रक्तावच्छेदेन घटे श्यामावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावो वर्तते ज्ञायते च, एव पाकपूर्वं 'श्यामोऽय घटो न रक्तः' इति प्रत्ययेन श्यामावच्छेदेन तत्रेव घटे रक्तावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावो वर्तते ज्ञायते च, अवच्छेदकभेदोपगमेन विरोधपरिहारात्।

प्रतियोगितदत्यन्ताभावयोरिव प्रतियोगि-तदन्योन्याभावयोरेकत्राऽवच्छेदकभेदस्यानुपलभादित्याशयेनाऽऽह - तदिहापीति। तस्मात् गुण-गुणिस्थलेऽपीति। नीलस्य = नीलरूपस्य, षष्ठ्यर्थः प्रतियोगित्व, ततश्च नीलरूपप्रतियोगिकान्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेन = घटत्वावच्छिन्ने घटे इति हेत्वर्थे, नीलात् घटस्य भेदोऽस्तु। अत्र पञ्चम्यर्थः प्रतियोगित्व षष्ठ्यर्थश्चाऽनुयोगित्वम्। ततः नीलरूपप्रतियोगिक-घटानुयोगिकः भेदोऽस्तु। अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावान्वयात् 'घटत्वाच्छेदेन घटो नीलरूपभेदवान्' इति ज्ञाने नास्ति विरोधः। अभेदान्वयबाधमाह - अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाभावरूपो = नीलभेदाभावरूप' अभेदस्य भेदाभावरूपत्वात्, घटे घटात्मकानुयोगिनि न घटत्वावच्छेदेनेव सभवति विरोधात् अत्र एकाधिकरणे एकावच्छेदेन भावाभावयोः समावेशस्यैव विरोधलक्षणत्वात्। तदेवाऽऽह एकावच्छेदेन भावाभावयो = तद्वत्ता-तदभाववत्तयोः एकत्र = एकाधिकरणे अवृत्ते = अविद्यमानत्वात्, अज्ञानाच्च = अप्रमीयमाणत्वाच्च। घटत्वावच्छेदेन नीलरूपभेदस्य सत्त्वेन घटे घटत्वावच्छेदेन न नीलरूपप्रतियोगिकभेदाभावः सभवतीत्याशयः। अस्तु तर्हि घटे नीलभेदाभावो भिन्नावच्छेदेनेत्याशकायामाह - नाप्यवच्छेदकान्तरेण, घटत्वावच्छिन्ने नीलभेदविशिष्टे घटे तदभावात् नीलभेदाभावसमावेश- प्रयोजकस्याऽवच्छेदकान्तरस्य विरहात्, घटत्वातिरिक्तस्य तस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न हि घटत्वावच्छेदेन घटे पटभेदस्य सत्त्वे तत्रैवाऽवच्छेदकान्तरेण पटभेदाभावः सभवति। तथापि यदि परस्तत्राऽवच्छेदकभेद

● रमणीया ●

मे कपिसयोग का अभाव रहता हे। इसमे कोई विरोध नही है, क्योकि एक ही अधिकरण मे भिन्न भिन्न देश मे कपिसयोग और उसका अभाव रहता हे। वृक्ष मे शाखावच्छेदेन कपिसयोग ओर कपिसयोगाभाव रहता हो - यह नही हो सकता, क्योकि एक ही अवच्छेदक की अपेक्षा भाव और अभाव का प्रमाज्ञान नही हो सकता और न तो भाव और अभाव एक अवच्छेदेन रह सकते हैं। क्या एक म्यान मे दो तलवार रहती है? क्या एक ही गुफा मे दो सिह रहते हे? जेसे अवच्छेदकान्तर की अपेक्षा प्रतियोगी और उसके अत्यन्ताभाव का एक ही धर्मी मे समावेश हो सकता है ठीक वैसे ही अन्य अन्य अवच्छेदक की अपेक्षा एक ही धर्मी मे प्रतियोगी और उसका भेद (अन्योन्याभाव) भी रह सकता है। जैसे, अग्निसयोग से घट मे श्याम रूप का विनाश ओर रक्त रूप का उत्पाद होता है। तव श्यामावच्छिन्न घट का अन्योन्याभाव रक्तावच्छेदेन वर्तमान घट मे रहता है और श्यामावच्छिन्न अन्योन्याभाव का अभाव श्यामावच्छेदेन उसी घट मे रहता है। ऐसे रक्तावच्छिन्न अन्योन्याभाव श्यामावच्छेदेन ओर रक्तावच्छिन्न अन्योन्याभाव का अभाव रक्तावच्छेदेन एक ही घटस्वरूप धर्मी मे रहता है। मगर गुण और गुणी के भेदाभेद मे वैसा कहना सभव नही हैं। देखिए, नील रूप का अन्योन्याभाव (भेद) घट मे घटत्वावच्छेदेन रहता है। अत नील वर्ण का भेद घट मे रह सकता हे। मगर नील वर्ण का अभेद यानी नीलरूप के भेद का अभाव घट मे घटत्वावच्छेदेन नही रह सकता, क्योकि एकावच्छेदेन एक धर्मी मे न तो भाव ओर अभाव रहते हैं और न तो उनका वैसा ज्ञान होता है। अत एकावच्छेदेन (घटत्वावच्छेदेन) नीलभेद ओर नीलभेदाऽभाव का घटात्मक धर्मी मे समावेश करने पर विरोध उपस्थित होता है। घटत्वावच्छेदेन घट मे नील रूप का भेद रह गया तो नीलभेदाभाव घट मे किस अवच्छेदक की अपेक्षा रहेगा? यह तो यहाँ नही कहा जा सकता कि → ''घटत्व से भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा घट मे नीलभेदाभाव रहता हे''←इसका कारण यह हे कि घटत्व से अतिरिक्त अवच्छेदक घट मे ज्ञात ही नही है। घटत्व से अतिरिक्त (अन्य) अवच्छेदक का ज्ञान न होने पर भी 'नीलो घट' अर्थात् 'नीलरूप से अभिन्न घट' ऐसी अभेदवादी को अभिमत प्रतीति अन्य व्यक्ति को भी होती है। अवच्छेदकान्तर का अवगाहन न करने से दर्शित विरोध से नील के अभेद का घटत्वावच्छेदेन घट मे प्रमात्मक अवगाहन उस प्रतीति से नही हो सकता। अवच्छेदकान्तर के न मिलने के सबब नीलभेदाभाव का घट मे समावेश करना नामुमकिन है। अत नील ओर घट मे भेदाभेद की कल्पना मे कोई प्रमाण नही हे वल्कि प्रमाणविरोध ही उपस्थित हे। गुण-गुणी मे भेदाभेद ही जव कल्पित हे तव भेदाभेद के अभ्युपगम से दर्शित दोषो का निवारण कैसे हो सकता हे? क्या कल्पित गाय कभी दूध दे सकती है?

अत्र वदन्ति - न हि भेदाऽभेदो भेदविशिष्टाऽभेदः, अभेदविशिष्टभेदस्याऽपि सवधित्वे विनिगमकाभावात्, किन्तु जात्यन्तररूप एव गुण-गुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेनाऽनुभवबलेन च सिद्धः इति क्वावच्छेदकभेदानुपलब्धिदोषः ?

★ जयलता ★

स्वीकुर्यात् तदाऽऽह - तद्ज्ञानेऽपि = घटत्वातिरिक्तावच्छेदकान्तरानवबोधदशायामपि, भेदाभेदवायभिमतनीलरूपघटाभेदावगाहिन 'नीलो घट' इत्यनुभवाच्च नैयायिकस्येति शेष। अथ भावः तत्प्रकारकज्ञानस्य निरवच्छिन्नतदभावप्रकारकज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् घटत्वावच्छेदेन नीलभेदप्रकारकज्ञाने सति 'नीलो घटः' इति अवच्छेदकान्तरानवगाहिन. तदभेदावगाहकत्वेन भेदाभेदवायभिमतस्य ज्ञानस्याऽसम्भवात् न तत्र तदभेदसमावेशप्रयोजकावच्छेदकान्तरस्य सिद्धि। तत एव न तत्र तदभेदसिद्धिरिति मणिकाराशयः। सम्प्रत लभ्यमाने तत्त्वचिन्तामणौ 'घटे न' इत्यत्र 'न घटे' इति व्यत्यय शेष तथैवाक्षरस॰ समवायवादे दृश्यते।

स्याद्वादिन॰ अत्र वदन्ति पूर्वं मणिकृन्मतनिरासक पश्चाच्च मणिकृन्मतपुरस्कारिण गुणगुणिनो॰ सर्वथा भेदवादिन नन्मत प्रथम निराकृत्य नानासमवायनिरसनानन्तर अनुपदमुक्त मणिकारमत समालोचयिष्यति व्याख्याकार इति प्रणिधातव्यम्। यदि हि भेदाऽभेदो भेदविशिष्टाभेदरूपो यद्वाऽभेदविशिष्टभेदरूप॰ स्वीक्रियेत तदाऽवच्छेदकभेदयाञ्चा स्यात्। पर तादृशो भेदाऽभेद एव नोपेयत इत्याशयेनाऽऽह - न हीति। विनिगमकाभावात् भेदविशिष्टाभेदरूपत्वोपगमपक्षपातियुक्तिविरहात् भेदाभेदस्याऽभेदविशिष्टभेदस्वरूपत्वाङ्गीकारस्याऽनिराकार्यत्वम्। द्विविधरूपेण तत्स्वीकारे च गौरवमित्याह - किन्त्विति। भेदाभेदाभ्या जात्यतररूप एव । अस्य च सिद्ध इत्यनेनाऽन्वय॰। हेतुद्वयमाह गुणगुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेनेति। 'नीलो घट' इत्यादिविशिष्टबुद्धिनियामकत्वेन तयोः सर्वथा भेदेऽपि समानाधिकरणप्रयोगस्येष्टत्वे 'पटो घट' इत्यपि स्यात्, सर्वथाऽभेदे च 'कुम्भो घट' इत्यपि स्यात्। न च तथा भवतीत्यतः तादृशप्रतीतिनियामकत्वेन गुणगुणिनोर्भेदाभेदो भेदाभेदाभ्या विलक्षण एक एव सिध्यति। हेत्वन्तरमाह - अनुभवबलेन चेति - 'नीलो घट' इति प्रतीतिमहिम्ना जात्यन्तररूपो भेदाभेद॰ सिध्यति। सर्वथाऽभेदे सहप्रयोगानुपपत्तेः सर्वथाभेदे च सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः क्वावच्छेदकभेदानुपलब्धिदोष इति। प्रमाणप्रतीते हि तदखण्डत्वेऽवच्छेदकभेदाभावस्य न दूषणत्वमपि तु भूषणत्वमेव अन्योन्यविरुद्धयोः तयो॰ गुञ्जाफले रक्तत्व-श्यामत्वयोरिव खण्डशो व्यापित्वानुपगमात्।

जात्यन्तररूपभेदाभेदापलापे 'नीलघटयोरभेद॰' इत्यत्र 'नीलघटयोरिति प्रयोग॰ दुर्घट॰ चार्थे द्वन्द्वानुशासनात्, भेदस्य च चार्थत्वात्, द्वन्द्वे भेदाऽभानेऽभेदभ्रमाद्यनिवृत्तिप्रसङ्गात् भेद विना द्विवचनानुपपत्तेश्च, द्वित्वस्य भेदनियतत्वात्। 'नीलो घट' इत्यादौ स्वतन्त्रधर्मधर्मिभावस्वीकारेऽपि भेदाभेदयोरेकतरभ्रान्तत्वे तदितरभ्रान्तत्वस्य तुल्यत्वादिति दिक्।

● रमणीया ●

● भेदाभेद की प्रामाणिकता - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष :- अत्र वदन्ति॰ इति। ननु से प्रारम्भ (देखिये, पृ ३१) दीर्घ पूर्वपक्ष के प्रतिवाद मे व्याख्याकार का कहना है कि भेदाभेद यदि भेदविशिष्ट अभेदस्वरूप माना जाय या अभेदविशिष्ट भेदरूप माना जाए तब एकातभेदवादी की ओर से दिये गए दोष सभवित है। मगर हम भेदाभेद को भेदविशिष्ट अभेदरूप मानते नहीं है, क्योकि इसके विपरीत "अभेदविशिष्ट भेदस्वरूप भेदाभेद को ही मानना चाहिए" ऐसा अन्य किसीकी ओर से कहा जाए तब उसके पक्ष मे कोई दोष या अपने पक्ष मे कोई साधक तर्क भेदविशिष्ट अभेद को भेदाभेद माननेवाले की ओर से नहीं बताया जा सकता। जब कि स्वपक्ष मे कोई साधक युक्ति या परपक्ष मे कोई बाधक युक्ति ही नहीं है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि- 'भेदविशिष्ट अभेद ही भेदाभेद शब्द का अर्थ है, न कि अभेदविशिष्ट भेद?' भेदाभेद को भेदविशिष्ट अभेद और अभेदविशिष्ट भेद उभयस्वरूप मानने मे गौरव है। अत स्याद्वादी भेदाभेद को जात्यतररूप मानते है। जैसे नरसिंह न तो केवल नर है और न तो केवल सिंह है किन्तु नर और सिंह से विलक्षण है। वैसे भेदाभेद भी विलक्षण है, जात्यतर है। भेदाभेद को पृथक् पृथक् भेद और अभेद से विलक्षण मानने मे दो हेतु है। प्रथम हेतु है गुण-गुणी आदि की विशिष्ट प्रतीति का नियमन। 'नीलो घट' यह गुण-गुणी की विशिष्ट प्रतीति है। यदि नील गुण और घट गुणी मे सिर्फ अभेद माना जाय तो 'घट कुम्भ' ऐसी प्रतीति भी होने लगेगी और उन दोनो मे केवल भेद ही माना जाए तो 'घट पट' ऐसी प्रतीति भी होने लगेगी, क्योकि घट और पट भिन्न है। मगर सर्वथा भिन्न या अभिन्न पदार्थविषयक तादृश विशिष्टप्रतीति होती नहीं है। अत प्रदर्शित विशिष्ट बुद्धि के नियामकरूप मे जात्यतररूप भेदाभेद का अभ्युपगम किया जाता है। तथा दूसरा हेतु है - अनुभूति। लोगो का यह अनुभव है कि नीलरूपवाले घट को देख कर 'नीलो घट' ऐसी नील और घट मे अभेद अवगाही प्रतीति और 'घटस्य नीलरूप' ऐसी नील और घट मे भेदअवगाही प्रतीति होती है। उभयविध अनुभव के बल से भी यह सिद्ध होता है कि- गुण और गुणी आदि मे भेद और अभेद दोनो ही समिलित है। जैसे लाल वर्ण और श्वेत वर्ण को मिलाने मे लाल और श्वेत से विलक्षण गुलाबी रग उत्पन्न होता है वैसे भेद और अभेद परस्पर अनुविद्ध होने से जात्यतरस्वरूप बन जाते है। जब गुण-गुणी आदि मे प्रमाण से भेदाभेद जात्यतरस्वरूप सिद्ध हो गया तब अवच्छेदकभेद

एकातभेदेऽवयवेष्ववयवी किं देशेन समवेयात् कात्स्न्र्येन वा? नाद्यः अवयवातिरिक्तस्य तद्देशस्याऽभावात्। न द्वितीयः, प्रत्यवयवसमवेतावयविबहुत्वप्रसङ्गात्।

★ जयलता ★

जात्यन्तरत्वं च नृसिंहन्यायेनोभयात्मकतया गुडशूठिन्यायेन वोभयदोषपरिहारात्मकतया भवति। यथा हि परमते विषयरूपविशेषणविषयकव्यवसायज्ञानजन्यानुव्यवसायो हि ज्ञानत्वांशे निष्प्रकारको विषयांशे च सप्रकारक इति नरसिंहाकार एव द्रव्यार्थता-पर्यायार्थतारूपभेदेन घटे नीलप्रतियोगिकभेदाभेदसमावेशः। वक्ष्यमाणगुडशूठिन्यायेन वोभयदोषपरिहारः स्वयं भावनीयः।

अनेन सहानवस्थाननियमादनयोर्बाधितमेव सामानाधिकरण्यमिति प्रत्युक्तम् तन्नियमाऽसिद्धेः जलादौ रूपस्य गंधासामानाधिकरण्यदर्शनेऽपि पृथिव्यां तत्सामानाधिकरण्यवत् पर्वतमहानसयोः पर्वतीय-महानसीयवह्न्यभावयोः परस्पराऽसामानाधिकरण्यदर्शनेऽपि ह्रदे तदुभयसामानाधिकरण्यवत् भेदाभेदयोः प्रतियोगिविशेषितयोरन्यत्राऽसमाविष्टयोर्दर्शनेऽपि प्रकृते समावेशसंभवादिति दिक्।

स्वमते जात्यन्तरात्मकभेदाभेदं व्यवस्थाप्य गुण-गुणिनोरेकान्तभेदवादिनं प्रतिक्षिपति विमलविकल्पयुगलोपक्षेपेन - एकातभेद इति। नाद्य = अवयवेष्वयवी देशेन सम्बन्धेन वर्ततेति विकल्पो न मञ्जुलः, अवयवातिरिक्तस्य तद्देशस्याऽभावादिति स्थितावात्माश्रयदोषादिति। अयं भावः 'अवयवी देशेन समवेयात्' इत्यस्याऽर्थोऽयं तत्तदवयवेषु समवायेन तत्तदवयवात्मकदेशेनाऽवयवी वर्तेत। स्वेषामेव तत्तदवयवानां स्वेषु अवयविस्थितौ सवधरूपेणापेक्षणात् स्थितौ स्वाश्रयदोषस्य स्फुटत्वमेव। यदि चैतद्दोषनिवारणकृते तत्तदवयवभिन्नावयवरूपदेशेनाऽवयवी तत्तदवयवेषु समवेयात्तर्हि अक्लृप्तावयवेष्ववयविसमवेतत्वप्रसङ्गो दुर्निवारः, अक्लृप्तावयवेषु वृत्तिं विनाऽक्लृप्तावयवात्मकदेशेन क्लृप्ततत्तद्देशेष्ववयविसमवेतत्वस्याऽसंभवात्। अक्लृप्तावयवेष्वप्यवयविस्थितेरक्लृप्तावयवात्मकदेशेनाभ्युपगमे पुनः स्थितौ स्वाश्रयदोषः। अक्लृप्तावयवानां क्लृप्तावयवासंबद्धत्वेन क्लृप्तावयवात्मकदेशेनावयविनोऽक्लृप्तावयवेषु वृत्तेरसंभवेनाऽक्लृप्तावयवेष्ववयविसमवेतत्वकृतेऽवयवान्तरकल्पनाप्रसङ्गात्, देशस्याऽपि देशकल्पनायामनवस्थानिर्लज्जकुट्टिनी कंठपीठनिविष्टा कथमुत्सारणीयेति प्रथमविकल्पाभ्युपगमनान्तरीयकदोषपरम्परानिगूढार्थः' सूक्ष्मेक्षिकया भावनीयः।

न द्वितीय इति। अवयवेष्ववयवी कात्स्न्र्येन समवेयादिति द्वितीयो विकल्पोऽपि न चारुः। हेतुमाह - प्रत्यवयवसमवेतावयविबहुत्वप्रसङ्गादिति। प्रत्यवयवमवयविनः संपूर्णतया समवेतत्वाभ्युपगमेऽवयवसमसंख्याकावयव्युपलब्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः। एकस्मिन्नेव सर्वात्मनाऽवयविसमवेतत्वे तदाऽन्ये तदनाश्रयाः स्युः न च देश-कात्स्न्र्यातिरेकेणाऽन्या वृत्तिः संभवतीति नावयवावयविनोरेकातभेदसिद्धिः। द्वित्वस्य द्वयोः पर्याप्तत्ववत् यावदवयवेष्ववयविनः पर्याप्तत्वाभ्युपगमे यावदवयवाऽग्रहे तदग्रहो न स्यात्, प्रत्येकपर्याप्तत्वे च प्रत्येकं पर्याप्तत्वव्यवहारः स्यादिति निहितार्थः।

वस्तुतस्तु परेण निरंशस्याऽवयविनः स्वीकारात् प्रथमो विकल्पो न संभवति तथापि तस्य निरंशत्वोपगमे तस्य पृथुतरदेशावस्थानमयुक्तं

● रमणीया ●

की अनुपलब्धि-दोष कैसे होगा? "घटत्वावच्छेदेन घट में नीलरूप का भेद रहता है तब घटत्वावच्छेदेन ही नील का अभेद उसी घट में नहीं रह सकता और घटत्व से अतिरिक्त अवच्छेदकान्तर का भान अभेदग्राहकतया अभेदवादी को अभिमत 'नीलो घटः' इत्यादि प्रतीति में होता नहीं है" - यह दोष जात्यंतरस्वरूप भेदाभेद के पक्ष में नहीं हो सकता। भेद को मान कर उसीमें उसका अभेद मानना हो तब अन्य अवच्छेदक की अपेक्षा हो सकती है। मगर स्वतंत्र भेद और अभेद का प्रवेश किये बिना जात्यंतरस्वरूप भेदाभेद का अंगीकार करने पर यह दोष अप्रसक्त है। अतः गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि में जात्यंतररूप भेदाभेद को मान्यता दी जाए यही मुनासिब है।

● एकांत भेदवाद की अनुपपत्ति ●

स्याद्वादी :- एकांत० इति। गुण-गुणी, अवयव-अवयवी में भेदाभेद तो प्रमाण सिद्ध है। मगर एकांतभेदवादी के मत में अवयव-अवयवी के बीच केवल भेद नामुमकिन है। इसका कारण यह है कि अवयव-अवयवी में एकांतभेद मानने पर जो प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनका सही समाधान एकान्तभेदपक्ष में मिलता नहीं है। यहाँ हमारे ये प्रश्न है कि - अवयव और अवयवी में एकांतभेद मानने पर अवयवों में अवयवी अंश से रहेगा या सर्वात्मना? इनमें से प्रथम विकल्प मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अवयव में अवयवी का एक देश से रहने का तात्पर्य यह है कि अवयव में अवयवी का एक देश रहता है। मगर अवयवी का एक देश अवयव से अतिरिक्त नहीं है। अर्थात् अवयव अवयव में रहता है - यह अर्थ प्राप्त होगा। तत्तदवयवों में अवयवी को तत्तदवयवात्मक एक देश से वृत्ति मानने पर स्थिति में आत्माश्रय दोष होगा। अतः प्रथम विकल्प मान्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि तब प्रत्येक अवयव में अवयवी पूर्णरूप से समवेत होने से अवयवबहुत्व से अवयवी के बहुत्व की प्रसक्ति होगी। अर्थात् १०० तंतु से १०० पट उत्पन्न होने की आपत्ति आयेगी। अतः अवयव अवयवी का समवायसंबंध में एक देश से या संपूर्णतया वर्तन नामुमकिन है। वर्तन का उक्त दो प्रकार से अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार हो नहीं सकता। अतः अवयव और अवयवी सर्वथा भेद मानना नामुनासिब है।

अथाऽवयवेष्ववयवी समवैत्येव, देशेन कात्स्न्र्येन वेत्यत्र पुनरापादकाभावोऽन्यथा भवतामप्यवयवेष्ववयविनो भेदाभेदो देशेन कात्स्न्र्येन वा? आद्ये, अवयवातिरिक्तदेशाऽनिरुक्तिः। द्वितीये प्रत्यवयवभिन्नाऽभिन्नाऽवयविबहुत्वप्रसक्तिरिति तुल्यः पर्यनुयोग इति चेत्? न, अभेदनयाद्बहुत्वेऽपि भेदनयादैक्यात्, तथैव प्रतीतेः। परेण तु तथाऽनभ्युपगमात्, समवायस्यैवाऽसिद्धो तात्पर्याच्च।

★ जयलता ★

स्यात्। अल्प-बहवयवारम्भादिकृतोऽसौ लघुबृहदादिभेद इत्युपगमापेक्षया तद्विशेषविशिष्टा अवयवा एवावयविव्यपदेशं भजन्ता, किमवयविपृथग्भावकल्पना-कष्टशतेन? अन्यथा 'तन्तव एवैते पटतया परिणता' इत्यादिव्यवहारस्य, विभक्तेषु तन्तुषु 'त एवैते तन्तव' इत्यादिप्रत्यभिज्ञायाः अवयवगुरुत्वाद्यविशेषितावयविगुरुत्वादेश्चानुपपत्तिप्रसङ्गादिति दिक्।

परः प्रत्यवतिष्ठते-अथेति। अवयवेष्ववयवी समवैत्येवेति। भिन्नेषु अवयवेषु निरंशोऽवयवी समवायवृत्त्या एव वर्तते। समवाय एवावयविनोऽनेकत्र वृत्तित्वस्य नियामक इति नैयायिकाशयः। ननु तर्हि दर्शितविकल्पयामलस्य किं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह- 'देशेन कात्स्न्र्येन वा?' इत्यत्र पुनरापादकाभाव। यद्धि कस्यचित् क्वचित् प्रसिद्धं तदेवाऽन्यत्राऽऽपाद्यते यत्तु कस्यचिदपि न कुत्राऽपि प्रसिद्धं न तदन्यत्राऽऽपाद्यते। न हि केनाऽपि कस्यचिदपि सर्वात्मनैकदेशेन वा क्वचिद् वृत्तिरस्तीत्युपेयते। ततो 'देशेन कात्स्न्र्येन वा?' इति आपादकस्यैवाभावः। विपक्षे बाधमाह - अन्यथेति। क्वचित् कस्यचित् देशेन कात्स्न्र्येन वृत्तित्वस्य प्रसिद्धत्वोपगमे। भवतामपि = स्याद्वादिनामपि, न केवलं नैयायिकानामस्माकमित्यपिशब्दार्थः। आद्ये। अवयवेष्ववयविनो भेदाभेदो देशेन वर्तत इत्युपगमे। अवयवातिरिक्तदेशाऽनिरुक्ति। तथा च स्थितौ स्वाश्रयदोषः पूर्वोक्तरीत्या अवयवेष्ववयविनः कात्स्न्र्येन भेदाभेदो वर्तत इति विकल्पाङ्गीकारे। प्रत्यवयवेति। अवयवसमसङ्ख्याकभिन्नाभिन्नावयविसत्त्वप्रसङ्ग इति तुल्य पर्यनुयोग। तथा चात्र न नैयायिकः पर्यनुयोज्यः समदोषत्वात्। तदुक्तं श्लोकवार्तिके कुमारिलेन यत्रोभयोः समो दोषः, परिहारश्च तत्समः। नैकः पर्यनुयोज्यः स्यात् तादृगर्थविचारणे॥ [श्लो वा] इति अयाशयः।

स्याद्वादी तन्निराकुरुते। नेति। अभेदनयादिति। 'गम्ययपः कर्माधारे' [सि हे २/२/७४] इति सिद्धहेमशब्दानुशासनवचनात् अभेदनयमवलम्ब्ये-त्यर्थः। अयं भावः प्रमाणापेक्षया भेदाभेदस्य जात्यन्तरत्वेऽपि अवयवावयव्यादीनामभेदग्राहिनयाश्रयणेऽवयवबाहुल्येनाऽवयविनोऽनेकत्वेऽपि अवयवावयविनो-र्भेदग्राहिनयावलम्बनेऽनेकावयवेभ्योऽतिरिक्त एकोऽवयवीत्यङ्गीकारात्र देश-कात्स्न्र्यविकल्पग्रस्तत्वं तयोर्भेदाभेदस्य। ऐक्यादिति अवयवावयविनोरैक्यात्=

● रमणीया ●

● अवयव मे अवयवी समवाय संबंध से रहता है - नैयायिक ●

नैयायिक :- अथाव० इति। अवयवी अपने से सर्वथा भिन्न अवयवो मे समवाय संबंध से रहता है - यह हमारा सिद्धांत है। समवाय संबंध ही अनेक अवयवो मे अवयवी की वृत्तिता का नियामक होता है। अवयवी अपने अवयवो मे देश से रहता है या सर्वात्मना? यह प्रश्न ही निरवकाश है, क्योंकि इस प्रसंग साधन मे आपादक ही अप्रसिद्ध है। अवयवी का अवयवो मे देश से या संपूर्णतया रहना ही अप्रसिद्ध है अर्थात् वंध्यापुत्र की तरह काल्पनिक ही है तब उसके बल पर किसी अनिष्ट चीज का आपादन कैसे शक्य होगा? क्या ऐसा आपाद्य-आपादकभाव हो सकता है कि - 'यदि यहाँ वंध्यापुत्र होगा तो वह सहस्त्रवर्षायु होगा'?। प्रतिवादी के मत मे आपादक प्रसिद्ध होने पर ही अनिष्टापादन वादी की ओर से होना संगत हो सकता है। यदि प्रतिवादी के मत म आपादक अप्रसिद्ध होने पर भी अनिष्ट आपादन हो सकता हो तब तो हम भी स्याद्वादी महाशय के सामने दो विकल्पो की इंद्रजाल खडी करेंगे कि - "अवयवो मे अवयवी का भेदाभेद एक देश से है या सर्वात्मना? यदि अवयवो मे अवयवी का भेदाभेद एक देश से होगा तब तो आत्माश्रय दोष स्याद्वादी के मत मे भी दुष्प्रतिकार्य हो जायेगा, क्योंकि अवयवी का तत्तदवयवो से अतिरिक्त देश कोई हो सकता नही है और - तत्तदवयवात्मक एक देश से अवयवी का भेदाभेद सर्वात्मना रहता है' - ऐसा द्वितीय विकल्प मान्य किया जायेगा तब तो प्रत्येक अवयव मे भिन्नाभिन्न अवयवी रहने से अवयवो की समान संख्या मे अनेक अवयवी की उपलब्धि होने का प्रसंग स्याद्वादी के शिर पर आयेगा"। इसका निवारण स्याद्वादी की ओर से नहीं हो सकता। अतः देश कात्स्न्र्य के विकल्प की इंद्रजाल बिछाये बिना हमने जो कहा है कि - अवयवो मे अवयवी समवाय संबंध से रहता है - वही ठीक है।

● अवयव-अवयवी मे भेदाभेद नय से एकत्वानेकत्व की उपपत्ति-स्याद्वादी ●

स्याद्वादी :- न, अभेद० इति। आपका यह कथन ठीक नही है। इसका कारण यह है कि भेदनय और अभेदनय की दृष्टि से इसकी उपपत्ति हो सकती है। आपने यह कहा था कि अवयवी का भेदाभेद प्रत्येक अवयव मे रहेगा तो अनेक अवयवी के स्वीकार की आपत्ति आएगी। मगर अवयव और अवयवी मे अभेद माननेवाले अभेदनय की दृष्टि से यह इष्टापत्ति है, क्योंकि अवयव अनेक होने से अवयव से अभिन्न अवयवी भी अनेक हो - यह न्यायप्राप्त है। मगर अवयव और अवयवी मे भेद माननेवाले भेदनय की दृष्टि मे अवयवो से अतिरिक्त एक अवयवी है। इस तरह भेद और अभेद नय की दृष्टि से अवयवी एक और अनेक है। अवयवी मे अपेक्षा से एकत्व और अनेकत्व मानने का कारण यही है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अवयवी मे एकत्व और अनेकत्व की

तथाहि ''गुणजातिक्रियाविशिष्टबुद्धयो विशेषणसबधविषयाः विशिष्टबुद्धित्वात् 'दण्डी'तिबुद्धिवत्। सबधान्तरविशिष्टबुद्धीनामपि

★ जयलता ★

अभिन्नत्वादित्यर्थो न कार्यः वाक्यभेदप्रसङ्गात्, अग्रे 'बहुत्वेऽपि' इत्यत्रावयविनो बहुत्वेऽपीत्यर्थोपगमात्। किन्तु एकत्वमत्राऽन्यत्वरूप ज्ञेयम्। ततः अवयवेभ्योऽवयविनोऽन्यत्वमित्यर्थः। तदुक्त - ''एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले यथा। साधारणे समानेऽल्पे सख्याया च प्रयुज्यते॥''

ननु भेदनयेनाऽवयवेभ्योऽवयविनोऽतिरिक्तत्वेनैकत्वमभेदनयेन च बहुत्वमित्यत्र कि प्रमाणमित्याशङ्कायामाह - तथैव प्रतीते। 'तन्तव एवैते पटतया परिणता' 'पटोऽयमिह रक्तो न तत्र रक्तः' इत्यादिप्रत्ययादवयविनोऽनेकत्व विरुद्धधर्माध्यासस्य तद्भेदकत्वात् तथा 'पटोऽयमि'त्यादिप्रत्ययाच्चैकत्व प्रतिप्राणिसवेदनसिद्धमिति भावः। अवयवावयविभेदाऽभेदपक्षे एव 'सर्वं वस्त्र रक्त', 'किञ्चिद् वस्त्र रक्त' इत्यादिचित्रलोकव्यवहारसिद्धेः। अस्खलद्वृत्तित्वात्तत्प्रयोगस्य वस्त्रपदस्य वस्त्राऽवयवे लक्षणाया निर्युक्तिकत्वादिति दिक्।

ननु 'तर्हि ममाऽपि अयमेव पन्था अस्तु' इति पराशङ्कायामाह - परेण = नैयायिकेन तु तथाऽनभ्युपगमात् अवयवेभ्योऽवयविनः सर्वथा भेदोपगमेन कथञ्चिद्भेदाभेदानङ्गीकारान्नाऽय समाधानपन्थाः परस्य सभवति, अपसिद्धातनिशिततरधारकुठारप्रहारः स्वयमेवाऽभिमताऽवयवावयव्यादिभेदपक्षसुरद्रुममूले निहितः स्यात्। देश-कार्त्स्न्यविकल्पद्वितयोत्थापनाशयमाह स्याद्वादी - समवायस्येवासिद्धौ तात्पर्यं चेति। अनेकावयवेष्ववयविवृत्तितानियामकस्य समवायस्यैवाश्रयण युष्मच्चित्तवृत्तिमहिलायाः पण्ढालिगनमिव न चिन्तिताभिलापपूर्त्यै इत्याशयेन मया 'देशेन समवेयात् कार्त्स्न्येन वा?' इति प्रश्नकरणात्। शब्दमात्रे मूढतया न भाव्य पर तात्पर्यमन्वेषणीयम्।

समवायनिरासार्थं प्रथम परमते यथा समवायसिद्धिः तथा दर्शयति - तथाहीति। गुणेति। 'गुणवान् घट' इत्याद्याकारकविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसबधविषया विशिष्टबुद्धित्वात् 'दडी पुरुष' इति विशिष्टबुद्धिवत्। यथा 'दडी पुरुषः' इति विशिष्टबुद्धौ विशेषण दडः, विशेष्यः पुरुषः तयोः सबधस्तु सयोगः तद्विषयिणी सा भवति। तथा 'गुणवान् घट' इत्यत्र गुणो विशेषण, विशेष्यो घटः तयोर्यः सबधः स समवाय एव सयोगादीना बाधात् तादृशविशिष्टबुद्धिविषयस्य समवायस्यातिरिक्तसबधतया सिद्धिरिति पराशय'। अत्र पक्षतावच्छेदक गुणजातिक्रियान्यतमप्रकारकबुद्धित्व, तेनैकैकप्रकारकबुद्धित्वस्य पक्षतावच्छेदकत्वेऽपरस्य पक्षतावच्छेदककोटौ नाऽप्रवेशः। विशेषणस्य सबधो विषयो यस्या' सेति विग्रहाबलात् ससर्गतानिरूपकत्व साध्यम्। ससर्गत्व च सासर्गिकविषयतावत्त्वमेव। 'तद्बुद्धिनिरूपितप्रकारत्व-विशेष्यत्वसामान्यभिन्नतद्बुद्धिनिरूपितविषयतावत्त्वे सति तद्बुद्धिनिरूपितप्रकारत्वविशेष्यत्वान्यतरवद्भिन्नत्व ससर्गत्वमि'ति [मुक्ता प्रभा पृ १३२]

● रमणीया ●

प्रतीति होती हे। 'यह पट यहाँ रक्त है ओर वहाँ श्याम ह' इत्यादि प्रतीति से पट मे अनेकत्व का भान होता है, क्योकि विरुद्ध-धर्माध्यास ही भेद का नियामक होता हे। रक्तत्व ओर श्यामत्व स्वरूप विरुद्ध धर्मों की अपेक्षा से पटस्वरूप अवयवी अनेक हे। इस तरह 'यह पट हलका हे' 'यह एक ही पट हे' इत्यादि प्रतीति से पट मे एकत्व का भी अवगाहन होता हैं। अत पटात्मक अवयवी मे एकत्व ओर अनेकत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इस तरह अन्य अवयवी मे भी एकत्व और अनेकत्व सिद्ध होता है। मगर यह स्याद्वाद मे ही मुमकिन हे, नैयायिक आदि एकान्तवादी के दर्शनो मे नही। नैयायिक आदि तो पट आदि अवयवी और ततु आदि अवयवो मे सर्वथा भेद ही मानते हैं। अत उनके दर्शन मे अवयवी मे एकत्व ओर अनेकत्व असभवित है। दूसरी बात यह हे कि - 'अवयवी समवाय से अपने अवयवो मे देश से रहता है या सर्वात्मना?' यह पर्यनुयोग करने के भीतर हमारा आशय यह है कि समवाय सबध ही कूर्मरोम की भाँति काल्पनिक है। समवाय सबध विद्यमान हो तब समवायनामक सबध से अवयवी एक देश से या सर्वात्मना स्वावयवो मे रह सकता हे। मगर भेदवादीअभिमत समवाय सबध ही वास्तविक न होने से भेदवादी के मत मे अवयवी का स्वावयवो मे वर्तन अनुपपन्न हे।

● समवायसाधक अनुमान ●

नैयायिक :- गुणजा० इति। अजी, हजरत! आपने यह क्या बोला कि - 'समवाय ही वध्यापुत्र की भाँति असत् हे?' हमारा इकलोता प्यारा समवाय तो सहीसलामत है। देखिये, हम अनुमान प्रमाण से समवायनामक सबध को सिद्ध करते हैं। अनुमान का आकार इस प्रकार हे - ''गुण, जाति या क्रिया से विशिष्ट विषयक बुद्धियाँ विशेषण ओर विशेष्य के सबध को विषय करती हें, क्योकि वे विशिष्टविषयक बुद्धियाँ हे। जो भी विशिष्टविषयक बुद्धि होती है वह विशेषण और विशेष्य के सबध को विषय करने वाली होती ह। जैसे 'दडवाला पुरुष' यह बुद्धि दडात्मक विशेषण से विशिष्ट पुरुष को विषय करने के सबब दड ओर पुरुष के (सयोग) सबध को विषय करती हे।'' इस अनुमान मे साध्य है विशेषणप्रतियोगिक-विशेष्यअनुयोगिकससर्गविषयकत्व ओर हेतु है विशिष्टविषयकबुद्धित्व। इस अनुमान से सिद्ध होता है कि उक्त गुणादिविशेषणविशिष्टविषयक बुद्धियाँ विशेषण ओर विशेष्य के किसी सबध को विषय करती

सबधान्तरविषयत्वान्न व्यभिचारः। न वा स्वरूप सबधेनाऽर्थान्तरत्वम्, पक्षधर्मताबलेन लाघवात् तस्यैकस्येव सिद्धेः अनन्ताना

★ जयलता ★

नृसिंहशास्त्री। 'सबधत्व विशिष्टप्रतीतिनियामकत्व तच्च प्रकारत्वविशेष्यत्वाऽन्यविषयताश्रयत्वमि'ति [मु म पृ १३०] मञ्जूषाकार पट्टाभिरामशास्त्री। प्रतियोग्यनुयोगिप्रतीत्यधीनप्रतीतिविषयत्व ससर्गत्वमित्यन्ये। विशिष्टबुद्धित्वादिति। यत्किञ्चित्पदार्थनिष्ठप्रकारतानिरूपकबुद्धित्वादित्यर्थः। निर्विकल्पे व्यभिचारवारणाय विशिष्टत्वविशेषणम्। अत्र ''यत्किञ्चित्पदार्थनिष्ठविशेषणतानिरूपकत्वमात्रस्य सद्धेतुत्वसभवाद्धेतौ बुद्धित्व न निवेशनीयम्, व्यर्थत्वात्। न च यत्किञ्चित्पदार्थनिष्ठविशेषणतानिरूपकत्व इच्छानिष्ठमादाय स्वरूपासिद्धिप्रसगेन बुद्धिनिष्ठनिरुक्तनिरूपकत्वस्यैव हेतुत्वमिति ज्ञापनार्थं विशिष्टबुद्धित्वादित्युक्तमिति वाच्यम् बुद्धिनिष्ठनिरुक्त- निरूपकत्वस्यापि तत्तद्व्यक्तित्वेन हेतुत्वेऽप्यननुगमेन भागासिद्धिप्रसगात्। निरूपकतात्वेन निरूपकताया हेतुत्वस्याऽऽवश्यकतया तस्या इच्छादिसाधारण्येऽपि तत्र ससर्गतानिरूपकत्वात्मकसाध्यस्यापि सत्त्वाद् व्यभिचारित्वाऽप्रसक्त्या पूर्वोक्तप्रयोजनविरहाद्धेतो बुद्धित्वदान व्यर्थमेवेति किन्तु एतादृशहेतोः पक्षसत्त्वबोधनाय तदभिहितमिति'' [मु कि पृ ५५] इति किरणावलीकारप्रभृतय।

यदि विशेषणसमवायविषयत्व साध्यमुक्त स्यात् तर्हि साध्याऽप्रसिद्धिः दृष्टान्तासिद्धिरित्यादयो दोषाः स्युः। अत एव 'विशेषणसबधविषया इत्युक्तम्। अत एव दृष्टान्तत्वेनाऽभिमतानां 'दडी पुरुष' इत्यादिरूपाणा सबधान्तरविशिष्टबुद्धीनामपि सबधान्तरविषयत्वात् = ससर्गतासामान्यनिरूपकत्वात् न व्यभिचार = हेतोः साध्याभाववद्वृत्तित्वम्। किमुत प्रकृतसबधविशिष्टबुद्धीनामित्यपिशब्दार्थः। समवायत्वनिरूपकत्वस्य साध्यत्वोपगम 'घटवद्भूतलमि'त्यादिबुद्धीना विशिष्टबुद्धित्वहेतुविभूषिताना तच्छून्यत्वेन हेतोर्व्यभिचारित्व स्यात्। अतः ससर्गतानिरूपकत्वस्य साध्यत्व, तस्य च तत्राऽप्यक्षतत्वादिति भावः। एतेन 'घटाभाववद् भूतल' 'घटज्ञानमि'त्यादिरूपाणामभावज्ञानादिविशिष्टबुद्धीना विशेषण-विशेष्यमात्रावगाहित्वेन व्यभिचारकल्पना परास्ता तासामपि स्वरूपसबधविषयत्वेन ससर्गतानिरूपकत्वसमाकलितत्वात् न व्याप्तिमहामत्याः प्राणहत्यापापारोपकलङ्कः नैयायिकशिरसि सरसिरुहारोह इव समारोहति।

ननु तर्हि स्वरूपसबधेनैव नैयायिकानामर्थान्तरत्व प्राप्तम् अभावादिज्ञानाना विशेषणस्वरूपस्यैव ससर्गविधया ग्राहकत्वेन तेषा विशेषणविशेष्यसबधग्राहकत्वेऽपि समवायसाधनाय प्रवृत्तनैयायिकमते स्वरूपसबधस्य प्रकृतानुपयोगित्वेनाऽर्थान्तर दोष इत्याशङ्कायामाह न वा स्वरूपसबधेनाऽर्थान्तरत्वमिति अर्थान्तरशब्दस्य स्वानभिमतार्थसिद्धिवाचकत्वम्। तन्निरासे हेतुमाह - पक्षधर्मताबलेनेति। अय भावो यथा 'क्षित्यादिकार्यं सकर्तृकमि'त्यत्र 'कृतिजन्यत्वव्याप्यकार्यतावान्' इति परामर्शादपि 'कृतेरेकत्वे लाघवमि'ति लाघवज्ञानसहकृतात् 'क्षित्यादिकमेककृतिजन्य'मित्यनुमितिवत् 'सबधस्यैकत्वे लाघवमि'ति लाघवज्ञानसहकृताद् 'विशेषणसबधविषयकत्वव्याप्यविशिष्टबुद्धित्ववती गुणादिविशिष्ट बुद्धि'रितिपरामर्शादपि

● रमणीया ●

है। वह सबध समवाय सबध से अतिरिक्त नहीं हो सकता। इसलिये उक्तानुमान से गुण, जाति और क्रिया का उनके आश्रय के साथ समवाय सबध सिद्ध होता है। खुदा सलामत रखे समवाय को।

शका :- आपसे प्रदर्शित विशिष्टविषयकबुद्धित्व हेतु अपने साध्य का अविनाभावी नहीं है, क्योंकि 'घटाभाववत् भूतल' इत्यादि बुद्धि एव 'घटज्ञान' इत्यादि विशिष्ट बुद्धि मे विशिष्टबुद्धित्व हेतु व्यभिचारग्रस्त है। ये बुद्धियाँ भी क्रमशः घटाभावात्मक विशेषण से विशिष्ट भूतलविषयक बुद्धिरूप एव घटादिविशिष्टज्ञानविषयक बुद्धिरूप होने से विशिष्टबुद्धित्वस्वरूप हेतु से सपन्न होने पर भी विशेषण और विशेष्य को ही विषय करती है, उनके सबध को विषय नहीं करती है। व्यभिचारी हेतु अपने साध्य को कैसे सिद्ध कर सकता है? व्यभिचारी होने के सबब उक्त हेतु को तिलाजलि देना ही मुनासिब है।

नैयायिक :- सबधातर० इति। नहीं, जनाब! यह नहीं हो सकता। हमने जो कहा है उसे पत्थर की लकीर समझो। उक्त अभावादिविशिष्ट बुद्धियो मे उक्त हेतु व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि वे बुद्धियाँ भी विशेषणस्वरूप को ही सबधविधया ग्रहण करती है। विशेषण का स्वरूप ही सबध का कार्य करता है। स्वरूपसबधविषयक होने के सबब वे विशिष्ट बुद्धियाँ विशेषणससर्गाविषयक नहीं है। ऐसी अवस्था मे उक्त हेतु अव्यभिचारी ही ठहरेगा। तब भला इसका त्याग कैसे हो सकता है?

शका :- यदि विशिष्ट बुद्धि होते हुए भी दर्शित बुद्धि समवायविषयक नहीं है तब तो हम यह भी कह सकते है कि - पूर्वोक्त गुणादिविशिष्टविषयक पक्षभूत बुद्धियाँ भी विशेषण के स्वरूप की सबध के रूप मे ग्राहक है। तब बेचारा समवाय कैसे विद्वज्जनो मे प्रतिष्ठित होगा। स्वरूप सबध से ही अर्थान्तर दोष आयेगा अर्थात् उन बुद्धियो मे विशेषण-विशेष्यसबधविषयकत्व सिद्ध हो जाने पर भी विशेषण और विशेष्य का नैयायिक को अभिमत एक अतिरिक्त समवाय सबध सिद्ध नहीं हो सकता। बकरी को निकालने पर आँगन मे साँप घुस गया!

नैयायिक :- न वा० इति। आपकी यह बात समीचीन नहीं है, चूँकि यहाँ सासर्गिक विषयता के आश्रयरूप मे ससर्ग सामान्य अभिप्रेत है, स्वरूपसबध नहीं। यहाँ लाघवसहकृत पक्षधर्मता के बल से उक्त अनुमान द्वारा एक समवाय की सिद्धि होगी। आशय

स्वरूपाणा सबधत्वस्य कल्पने गौरवात्, धर्मकल्पनातो धर्मिकल्पनाया गुरुत्वञ्च कल्पनीयाऽनेकत्वप्रयुक्तमिति नात्राऽवतरति।

यद्वा 'विशेषणसबधनिमित्तका'इति साध्यम् । हेतौ च सत्यत्व विशेषण देय, तेन न विशिष्टभ्रमे व्यभिचारः ।

★ जयलता ★

एकसबधविषयिण्यनुमितिः सिध्यति। एतन अयुतसिद्धयोर्गुणद्रव्ययोः स्वरूपसबधस्तु प्रत्यक्षसिद्ध एव। तस्य च 'गुणादिविशिष्टबुद्धिकानुमाने साध्यघटितसबधतया धर्तुं शक्यत्वात् सिद्धस्य साधनेनात्र सिद्धसाधन दोष इति मीमासकाशयोऽपि परिहृत , गौरवाच्च।

ननु किमत्र गौरवमित्याशङ्कायामाह - अनन्ताना स्वरूपाणा सबधत्वस्य कल्पने गौरवादिति। 'गुणवान् घटः' 'क्रियावान् घटः' इत्यादिप्रतीतिषु गुणादिस्वरूपमेव ससर्गः। तत्र तत्र तत्प्रतीतिनिरूपिता च ससर्गता भिन्ना भिन्ना कल्पनीयेति तत्तत्प्रतीतिष्वनन्तस्वरूपाणा नानाससर्गत्वकल्पने गोरवम्। गारवाच्च प्रकृते स्वरूपसबधाः न स्वीक्रियन्ते।

ननु 'नीलो घट' इत्यादिप्रतीतौ घटादिस्वरूपमेव ससर्गः घटादिस्वरूप च क्लृप्तमेव न तु कल्पनीयम्। तत्तत्प्रतीतिनिरूपितससर्गताख्यो धर्म एव घटादिस्वरूपे कल्पनीय' परेण। नैयायिकेन तु तयोः समवायाख्योऽतिरिक्तो धर्म्येव कल्पनीयः तत्र च ससर्गताख्यो धर्म इति 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी'ति न्यायात् स्वरूपेष्वेव क्लृप्तेषु ससर्गताकल्पन युक्तमित्याशङ्कायामाह - धर्मइति। कल्पनीयानेकत्वप्रयुक्तमिति। धर्मिणः कल्पनीयत्वे तदुत्पादविनाशादिकारणपरम्परायाः कल्पनीयत्वापातेन धर्मकल्पनातो धर्मिकल्पनाया गुरुत्व दोषः। प्रकृते च समवायस्य नित्यत्वान्न तत्कारणादिकल्पन येन समवायत्वधर्मविशिष्टसमवायात्मकधर्मिकल्पने गौरव प्रसज्येत। समवायनिष्ठससर्गता च समवायस्वरूपैव। अतो न तत्र सबधातरकल्पनेन गौरवमनवस्था वा। नात्राऽवतरति = न समवायरूपधर्मिकल्पने निरुक्तगुरुत्वमापतति। अतोऽतिरिक्तसमवायकल्पनाया ज्यायस्त्वमिति प्राचीननैयायिकाशयः।

एव लाघवतर्केण समवायसाधने वक्ष्यमाणदोषभयात् पर' तत्साधनार्थ कल्पान्तरमाह यद्वेति। विशेषणसबधनिमित्तका इति साध्यमिति। साध्यनिर्देश'। विशेषणसबधनिमित्तकत्व विशेषणससर्गजन्यत्वरूप साध्यमित्यर्थः। ननु 'वह्निमान् हृद' इत्यादि भ्रमात्मकविशिष्टबुद्धीना विशेषणससर्गविरहदशाया जायमानत्वेन विशेषणससर्गाजन्यत्वाद्धेतोर्व्यभिचारित्व स्यादित्यत आह - हेतौ च सत्यत्व विशेषण देयमिति। हेतोः

● रमणीया ●

यह है कि - उक्त बुद्धियो को विशेषण के स्वरूप की सबध के रूप मे ग्राहक मानने पर विशेषणस्वरूप अनत होने से अनत स्वरूपनिष्ठ ससर्गताख्य विषयताशालित्व मानना पडेगा तो गौरव होगा और यदि उन्हे विशेषण-विशेष्य से अतिरिक्त एक सबध का ग्राहक माना जायेगा तो उस सबध मे रहनेवाली एक ससर्गताख्य विषयता मानने मे लाघव होगा। इस लाघवज्ञान के बल से एक अतिरिक्त समवाय सबध की सिद्धि होती है।

शका :- गुण-गुणी आदि विशिष्टविषयक बुद्धि के ससर्गविधया स्वतत्र समवाय को मानना और समवाय मे समवायत्व की कल्पना करना-इसमे समवायस्वरूप धर्मी और समवायत्वरूप धर्म - दोनो की कल्पना करनी पडेगी। जब कि क्लृप्त विशेषण के स्वरूप मे ही ससर्गता की कल्पना करने मे मात्र ससर्गताख्य एक धर्म की कल्पना आवश्यक है। शिष्ट पुरुषो मे यह न्याय प्रसिद्ध है कि - 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी' अर्थात् धर्मी की कल्पना करने की अपेक्षा धर्म की कल्पना करने मे लाघव हे। इस न्याय के बल से उक्त बुद्धियो को ससर्गविधया समवायावगाही मानने की अपेक्षा स्वरूपसबधावगाही मानने मे लाघव सिद्ध होने से यहाँ अतिरिक्त समवाय की कल्पना करना नामुनासिब हे।

नैयायिक :- धर्मकल्प० इति। हमने यह ठीक सुना है कि - थोथा चना बाजे घना' तोते की भाँति न्याय का अर्थ बताना यह विद्वद् जनो मे हास्यास्पद होता है। 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसी' इस न्याय का तात्पर्य यह है कि धर्मी की कल्पना करने मे धर्मी मे रहनेवाला धर्म, धर्मी ओर धर्म का सबध, नवीन कार्य-कारणभाव इत्यादि की कल्पना करनी आवश्यक होती है। इस तरह धर्मी की कल्पना के पीछे प्रदर्शित अनेक पदार्थो की कल्पना की परपरा उपस्थित होती है। जब की धर्म की कल्पना करने मे उसमे रहनेवाला धर्म आदि की परपरा कल्पनीय नही होती है। अनेक कल्पनीय पदार्थो की अपेक्षा धर्मी की कल्पना मे गौरव माना जाता है ओर अनेक कल्पनीय पदार्थो की अपेक्षा न होने के सबब धर्मकल्पना मे लाघव है। यह उक्त न्याय का रहस्यार्थ है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मी की कल्पना करने पर भी जब अनेक कल्पनीय पदार्थो की उपस्थिति न हो तब दोष का बीजभूत गौरव न होने की वजह धर्मकल्पना की अपेक्षा धर्मी की कल्पना मे दोष नही हो सकता। प्रस्तुत मे समवाय सबध नित्य होने से कार्यकारणभाव की कल्पना नही है ओर समवायत्वाख्य धर्म स्वरूपसबध से ही समवाय मे रहने की वजह स्वतत्र सबध की कल्पना भी अनावश्यक हे अथवा यह भी कहा जा सकता है कि समवायत्वाख्य धर्म समवायस्वरूप ही हे। अत धर्म और धर्मी दो कल्पना भी यहाँ अनावश्यक हे। अत उक्त न्याय भी समवायनामक एक अतिरिक्त सबध की कल्पना करने मे बाधक नही हे। उक्त अनुमान प्रमाण से जब समवाय सिद्ध हो गया तब खुद की तो बात कहाँ? खुदा भी इसका वारण कर नही सकता। भला, प्रमाणसिद्ध पदार्थ के अपलाप मे क्या फायदा?

● समवायसाधक दूसरा अनुमान - नैयायिक ●

नेयायिक :- यद्वा० इति। सिर्फ उक्त एक अनुमान से ही समवाय सबध की सिद्धि होती है - ऐसा नही है। दूसरा अनुमान

अनुगतकार्यस्याऽनुगतहेतुनियम्यत्वाच्च सबध एक एव सिध्यति।

★ जयलता ★

सत्यत्वेन विशेषणीयत्वात् विशिष्टविषयकसत्यबुद्धित्वस्य हेतुत्वमित्यर्थः। भ्रमबुद्धेः सत्यत्वविरहान्न व्यभिचारः। यद्यपि भ्रमस्याऽपि स्वरूपतः सत्यत्व विषयतः सत्यत्वोक्तावपि प्रदर्शितभ्रमविषयीभूताना वह्नि-ह्रद-तत्सयोगाना पार्थक्येन सत्यत्वाद्व्यभिचारो दुर्निवारस्तथापि प्रमात्वरूपसत्यत्वोपगमे दोषो नास्ति। प्रकारतावैशिष्ट्य च [1]स्वनिरूपकत्व- [2]स्वविशिष्टाधेयतानिरूपिताधिकरणत्वसबधावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववन्निरूपितवृत्तित्वोभयसबधेन ग्राह्यम्। आधेयताया स्ववैशिष्ट्य च [1]स्वसामानाधिकरण्य- [2]स्वावच्छेदकसबधावच्छिन्नत्व- [3]स्वानवच्छेदकधर्मानवच्छिन्नत्व - [4]स्वानवच्छेदकधर्मानवच्छिन्नत्वसबधावच्छिन्नस्ववृत्तित्वात्मकसबधचतुष्टयेनोपगन्तव्यमिति विभावनीय सुधीभि.।

स्यादेतत् - पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे अनुमितिस्मृत्यादिविशिष्टविषयकसत्यबुद्धीना विशेषणससर्गाऽजन्यत्वेनाशतो बाधः पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन तदुपगमे च 'दडी पुरुष' इत्यादिविशिष्टविषयकसत्यबुद्धीना सिद्धसाध्यत्वेनाशत सिद्धसाधन दुर्निवारमिति चेत्? मैवम् बुद्धिपदस्य प्रत्यक्षपरत्वेनानुमितिस्मृत्यादेः पक्षानन्तर्भूतत्वान्न कश्चिद् दोषः। ततश्च दर्शितानुमानेन विशिष्टविषयकबुद्धीना सबधविधया जनकतया समवायसिद्धेर्निर्गतङ्कत्वात्।

नन्वेवमपि नेकः समवायः सिध्यति किन्तु गुणविशिष्टबुद्धेरेकः समवाय जातिविशिष्टबुद्धेरपरः क्रियाविशिष्टबुद्धेरन्यः इति समवायत्रितयसिद्धिः। धर्मित्रितयकल्पनाऽपेक्षया वर क्लृप्तेष्वेव विशेषणादिषु ससर्गताकल्पन लाघवादित्याशङ्कायामाह - अनुगतकार्यस्येति। गुणजातिक्रियान्यतमप्रत्यक्षबुद्धित्वरूपानुगतधर्मावच्छिन्नकार्यस्य अनुगतहेतुनियम्यत्वाच्च = नियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नान्वयव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वाच्चेत्यर्थः। न ह्येककार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तिः अनुगतकारणतावच्छेदकावच्छिन्नभिन्नसमवधाननिमित्तका सभवति हेतोर्व्यभिचारित्वापत्ते कार्यस्याऽऽकस्मिकत्वापत्तेश्चेति। द्रव्यविशिष्टविषयकप्रत्यक्षे सयोगत्वेनाऽनुगतस्येव गुणादिविशिष्टविषयकप्रत्यक्षे समवायत्वेन समवायस्यैव नियामकत्वमुपगन्तव्यम्। स्वरूपसबधानामनन्तत्वादननुगतत्वाच्च न ततः तन्निर्वाह इति भाव। चकारेण समवायैक्यसाधनार्थं लाघवस्वरूपः प्रथमो हेतुः समुच्चित। एव हेतुद्वयेन सबध समवायाभिधान एक एव सिध्यति, न त्वनेक.।

● रमणीया ●

भी समवाय की सिद्धि करने मे सावधान है। देखिये, यह रहा वह दूसरा अनुमान ⟶ गुण, क्रिया, जाति से विशिष्ट विषयक बुद्धियाँ विशेषण के ससर्ग से जन्य है, चूँकि वे विशिष्ट बुद्धि हैं। जो भी विशिष्ट बुद्धि होती है वह विशेषण-विशेष्य के सबध से जन्य होती है = विशेषण-विशेष्यससर्गनिमित्तक होती है। जैसे 'दडवाला पुरुष' यह विशिष्ट बुद्धि दडस्वरूप विशेषण और पुरुषात्मक विशेष्य के सयोगाख्य सबध से जन्य होती है। यदि विशिष्ट बुद्धि को विशेषण-विशेष्यससर्ग से जन्य न मानी जाये तब दड और पुरुष के बीच सयोगनामक सबध की असत्त्व दशा मे भी 'दडवाला पुरुष' ऐसी विशिष्ट बुद्धि के उत्पाद की आपत्ति होगी अर्थात् दड से सयुक्त पुरुष मे जैसे 'दडी पुरुष' यह विशिष्टविषयक बुद्धि विशेष्यविधया उत्पन्न होती है ठीक वैसे ही दड से असयुक्त पुरुष मे भी उत्पन्न होने लगेगी यदि सयोगसबध को ससर्गविधया जनक न माना जाए तब। अत विशिष्टबुद्धि और विशेषणविशेष्य के सबध मे कार्य-कारणभाव अबाधित है। विशिष्ट बुद्धि मे विशेषण-विशेष्यससर्गजन्यत्व का नियम सिद्ध होने से उक्त अनुमान से यह सिद्ध होगा कि गुण-क्रियाजातिविशिष्टविषयक बुद्धियाँ भी द्रव्य के साथ गुण-जाति-क्रिया के सबध से जन्य हैं। जो सबध उक्त बुद्धियो के जनकरूप मे सिद्ध होगा वह समवाय से भिन्न सिद्ध नहीं हो सकता। अत उक्त अनुमान से समवाय की सिद्धि अनिवार्य है।

शका :- जी, हजरत! उक्त अनुमान से समवाय का उत्थान नामुमकिन है, क्योकि आपका हेतु व्यभिचारी है। मानो कि किसीको यह भ्रम हो गया कि 'वह्निमान् ह्रद' अर्थात् 'तालाब अग्निवाला है'। यह भ्रमात्मक विशिष्टबुद्धि वह्नि और ह्रद के सयोग की असत्त्व दशा मे ही उत्पन्न होती है, क्योकि तालाब मे कभी सयोग सबध से अग्नि रहता हो - ऐसा होता नहीं है। विशिष्टबुद्धि के नियामक = जनक अग्निसयोग के न होने पर भी उक्त बुद्धि उत्पन्न होने से विशिष्टबुद्धि और विशेषण-विशेष्यससर्ग के बीच कार्यकारणभाव बाधित है। व्यतिरेक व्यभिचार स्पष्ट होने पर कार्य-कारणभाव का निश्चय अनुन्मत्त पुरुष को कैसे हो सकेगा? अत आप का विशिष्टबुद्धित्वरूप हेतु विशेषणविशेष्यससर्गनिमित्तकत्वस्वरूप साध्य की सिद्धि मे असमर्थ है।

नैयायिक :- हेतौ च सत्य० इति। अजी, जनाब! आपके कान भी कच्चे है। आप हमारी पूरी बात सुनने के पहले ही अपना लेक्चर देने लगते है। हमने तो अभी तक - दूसरे अनुमान का साध्य विशेषणविशेष्यससर्गनिमित्तकत्व है - इतना ही बताया है मगर हेतु नहीं। दूसरे अनुमान मे हेतु सिर्फ विशिष्टबुद्धित्व नहीं है, किन्तु विशिष्टविषयकसत्यबुद्धित्व है। प्रथम अनुमान के हेतु मे सत्यत्व विशेषण देने से दूसरे अनुमान के हेतु मे उक्त व्यभिचार को कोई अवकाश नहीं है, क्योकि 'वह्निमान् ह्रद' यह विशिष्टबुद्धि भ्रमात्मक है, प्रमात्मक नहीं। उक्त विशिष्टबुद्धि मे प्रमात्वरूप विशेषण का विरह होने से विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्ट हेतु का अभाव

जन्यतावच्छेदक चाभावादिविशिष्टबुद्धिव्यावृत्तमनुभवसिद्धवैलक्षण्यविशेषवद्बुद्धित्वमिति केचित्। तन्नेत्यन्ये, वैलक्षण्यस्य

★ जयलता ★

अत्रैव प्राञ्चो नैयायिकाः गुणादिविशिष्टविषयकबुद्धिनिष्ठ विशेषणसबधनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदक केषाञ्चिन्मतेन दर्शयति - जन्यतेति। अभावादिविशिष्टबुद्धिव्यावृत्तम्। आदिशब्देन स्वत्व-स्वामित्व-प्रतियोगितादेर्ग्रहणम्। अनुभवसिद्धवैलक्षण्यविशेषवद्बुद्धित्वमिति। अनुभवसिद्धो यो वैलक्षण्यविशेषः तद्वद्बुद्धित्वम्। वैशिष्ट्य च सामानाधिकरण्येन ग्राह्य। ततः सामानाधिकरण्येन वैलक्षण्यविशेषविशिष्ट-बुद्धित्वमित्यर्थः। अय भावः 'घटाभाववद् भूतल' 'चैत्रस्वत्ववद् धनमि'त्यादिषु स्वरूपादिससर्गावगाहिषु अभावादिविशिष्टविषयकबुद्धिषु गुणादिविशिष्टविषयकबुद्धिनिष्ठ गुणजातिक्रियान्यतमाऽवगाहित्व नास्ति। ततो गुणादिविशिष्टबुद्धिषु सामानाधिकरण्यसबधेन यद् गुणाद्यन्यतमावगाहित्वरूपवैलक्षण्यविशेषविशिष्ट बुद्धित्व वर्तते तन्नाऽभावादिविशिष्टविषयकबुद्धिषु वर्तते।ततोऽभावादिविशिष्टबुद्धिनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयताशून्याऽनुभवसिद्धगुणादित्रितयान्यतमाऽवगाहित्वात्मक-वैलक्षण्यविशेषसमानाधिकरणबुद्धित्व जन्याशे प्रकारीभूत स्वरूपससर्गेण गुणादित्रितयान्यतमप्रतियोगिकससर्गनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकताविशिष्टमिति केषाञ्चिन्मतस्य फलितार्थः। तादृशबुद्धित्वस्य गुणादिप्रतियोगिकससर्गनिरूपितजन्यताऽन्यूनानतिरिक्त- वृत्तित्वेन जन्यताऽवच्छेदकत्व न्याय्यम्।

"ननु प्रदर्शितमनुभवसिद्ध वैलक्षण्य [1]जातिस्वरूपे भवद्भिरङ्गीक्रियते [2]विषयितारूपमन्य[3]त्स्वरूप वा? इति कल्पनात्रितयी त्रिपथगाप्रवाहत्रयीव जगत्त्रयी पवित्रयन्ती त्रौकते" इत्याशयवता अन्येषा मतेन केषाञ्चिन्मत निराकरोति - तन्न इति अन्ये इति। आद्यकल्पनायामन्ये

● रमणीया ●

होने से उक्त भ्रमात्मक विशिष्ट बुद्धि मे व्यभिचार का अवकाश नही हे। हेतु रहता हो और साध्य न रहता हो तव हेतु व्यभिचारी हो सकता है। उक्त भ्रम मे न तो विशिष्टविषयकप्रमाबुद्धित्व हे आर न तो विशेषणविशेष्यससर्गजन्यत्व हे। तव व्यभिचार की वाँग पुकारना केसे मुनासिव होगा?

● अनुगत कार्यकारणभाव से समवायसिद्धि-नैयायिक ●

अनु० इति। दूसरी वात यह है कि जेसे 'दडी पुरुष' 'घटवद् भूतल' इत्यादि विशेषणविधया तत्तत् द्रव्य से अनुगत विशिष्ट बुद्धि का सयोगत्व से अनुगत सयोग सवधविधया नियामक होता है, क्योकि अनुगत कार्य अनुगत कारण से नियम्य होता है। यदि कार्य अनुगत होने पर भी कारण अननुगत माना जाये तव व्यतिरेक व्यभिचार का दोष प्रसक्त होता है। प्रस्तुत मे गुण-जाति-क्रिया अन्यतम विशेषणात्मक विषय से अनुगत विशिष्ट बुद्धि का सवधविधया अनुगत नियामक मानना आवश्यक है। यहाँ सयोग सवध को नियामक मानना तो असभवित है, क्योकि सयोग सवध द्रव्य-द्रव्य के वीच होता है। 'सयोगो द्रव्यानुयोगिको द्रव्यप्रतियोगिक' यह नियम हे। तादात्म्य सवध भी नियामक नही माना जा सकता, क्योकि स्व का तादात्म्य स्व मे होता हे, पर मे नही। द्रव्य ओर गुणादि भिन्न भिन्न पदार्थ होने के सवव उनके वीच तादात्म्य सवध को भी नियामक नही माना जा सकता। स्वरूप सवध तो अनत होने से अननुगत ह ओर उन्हे कारण मानने मे गौरव भी है। अत पारिशेष न्याय से एक समवाय नाम के सवध की कल्पना की जाती हे।

● गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धि मे वैलक्षण्य कल्पना - नैयायिक एकदेशीय ●

जन्यता० इति। गुणादि विशेषण से विशिष्ट द्रव्यविषयक बुद्धि ओर विशेषण-विशेष्य के सवध के वीच उक्त कार्य-कारणभाव के सवध के विचार मे अन्य विद्वान् मनीषियो का यह कहना है कि - 'विशेषण-विशेष्यससर्गात्मक कारण का जन्यतावच्छेदक अभावादिविशिष्टबुद्धिव्यावृत्त अनुभवसिद्धवेलक्षण्यविशेषवद्बुद्धित्व है। आशय यह हे कि 'अभावादि विशेषण से विशिष्ट द्रव्यादिविषयक बुद्धि मे न रहनेवाला वैलक्षण्य गुणादि विशेषण से विशिष्ट द्रव्यादिविषयक बुद्धियो मे अनुभवसिद्ध है। अत गुणादिविशिष्ट बुद्धि मे जो बुद्धित्व धर्म है वह सामानाधिकरण्य सवध से अनुभवसिद्ध वेजात्य से विशिष्ट है। अभावादिविशिष्टविषयक बुद्धि मे जो बुद्धित्व है वह सामानाधिकरण्य सवध से उक्त वैजात्यवान् नही हे, क्योकि वह वेजात्य अभावादि से विशिष्टविषयक बुद्धि मे रहता नही है। अत अभावादिविशिष्टबुद्धि मे न रहने वाला बुद्धित्व, जो सामानाधिकरण्य सवध से गुणादिविशिष्ट बुद्धियो मे अनुभवसिद्ध वैजात्य से विशिष्ट हे, ही विशेषण-विशेष्यससर्ग का कार्यतावच्छेदक हे। तादृश कार्यतावच्छेदक के आश्रयीभूत गुणादिविशिष्टबुद्धि का जो सवध होता है वही समवाय सवध होगा, जो कि गुणादिविशिष्टबुद्धियो का ससर्गविधया जनक है। उक्त वेजात्य से विशिष्ट बुद्धियो की अर्थात् उन विजातीय बुद्धियो की उपपत्ति समवाय के विना नही हो सकती।

● गुणादिविशिष्टबुद्धियो मे वैजात्य स्वीकार मे दोषपरपरा - नैयायिक ●

तन्नेत्यन्ये० इति। नेयायिक देशीय के उक्त कथन के प्रतिवाद मे अन्य नैयायिको का कहना हे कि - विशेषणविशेष्यससर्ग के जन्यतावच्छेदकविधया उक्त विजातीयबुद्धित्व का स्वीकार नही हो सकता हे, चूँकि गुणादिविशेषण से विशिष्ट-द्रव्यादिविषयक बुद्धि

जातिरूपस्य स्मृतित्वानुमितित्वादिना साङ्कर्यात्। विषयितारूपस्य च समवायाऽसिद्ध्या दुर्वचत्वात्।

★ जयलता ★

साङ्कर्यदोषकलङ्कमाविष्कुर्वन्ति- वैलक्षण्यस्य जातिरूपस्य स्मृतित्वानुमितित्वादिना साङ्कर्यादिति। अयं भावः 'घटाभाववान् सः' इत्यादिस्मृतौ वैलक्षण्यं नास्ति, स्मृतित्वञ्चास्ति। 'गुणवान् घटः' इत्यादिप्रत्यक्षे वैलक्षण्यमस्ति स्मृतित्वं च नास्ति। 'गुणवान् सः' इति स्मृतौ तु परस्परासमानाधिकरणयोः स्मृतित्ववैजात्ययोः समावेशेन स्मृतित्वेन साङ्कर्यम्। एवं वह्निमान् धूमादित्यनुमितौ वैलक्षण्यं नास्ति अनुमितित्वञ्चास्ति। घटो गुणवान् इत्यादिप्रत्यक्षे वैलक्षण्यमस्ति परमनुमितित्वं नास्ति। सत्तावान् द्रव्यत्वादित्याद्यनुमितौ वैलक्षण्यानुमितित्वयोः समावेशादनुमितित्वेन सह साङ्कर्यम्। आदिशब्देन शाब्दबोधत्वादेर्ग्रहणम्। तद्यथा 'घटाभाववद् भूतलं' इत्यादिशाब्दबोधे तादृशं वैलक्षण्यं नास्ति शाब्दत्वं चास्ति। 'गुणवान् सः' इत्यादिस्मृतौ वैलक्षण्यमस्ति परं शाब्दत्वं नास्ति। 'रूपवान् घटः' इत्यादिशाब्दबोधे च शाब्दत्ववैलक्षण्ययोरुभयोरेव परस्पराऽसमानाधिकरणयोः समावेशात् साङ्कर्यगरलकरालप्रचारस्य सुरेश्वरगुरुणाऽपि प्रणाशयितुमशक्यत्वात्। साङ्कर्यस्य परमते जातिबाधकत्वान्न दर्शितवैलक्षण्यं जातिस्वरूपं सम्भवति।

द्वितीयकल्पना अपि न घटाकोटिमाटीकते - विषयितारूपस्य च समवायाऽसिद्ध्या दुर्वचत्वादिति। अयं भावः 'गुणवद् द्रव्यमि'त्यादिगुणादिविशिष्टबुद्धिर्यथा विशेष्यतासम्बन्धेन द्रव्ये भवति तथा अभावेऽपि भवति, 'अभावो गुणीय' इत्यादिप्रतीतेः। एवमेव कालिकेन 'सुखवान् घटः'

● रमणीया ●

में अभावादिविशेषणविशिष्टविषयक बुद्धि की अपेक्षा जिस वैलक्षण्य की चर्चा की गई है वही हिजडे के लडका जैसा है। विचार करने पर तादृश वैलक्षण्य के स्वरूप का सम्यक् निर्वचन नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि उस वैलक्षण्य को जातिरूप नहीं माना जा सकता। उस वैलक्षण्य में अनुमितित्व-स्मृतित्व का साङ्कर्य प्रसक्त है, जो न्यायदर्शन में जाति का बाधक होता है। साङ्कर्य का अर्थ है परस्पर असमानाधिकरण धर्म का एक अधिकरण में समावेश होना। देखिये, 'गुणवान् घट' इस प्रत्यक्ष में वह वैजात्य रहता है, अनुमितित्व नहीं। 'वह्निमान् पर्वत' इस अनुमिति में अनुमितित्व रहता है, वह वैजात्य नहीं। इस तरह परस्पर में अनुमितित्व और वैजात्य व्यधिकरण है। जब कि 'सत्तावान् द्रव्यत्वात्' इत्यादि गुणजातिक्रियान्यतमविषयक अनुमिति में अनुमितित्व और वैजात्य दोनों ही समानाधिकरण है। इसी तरह 'घटाभाववान् स' इस स्मृति में स्मृतित्व रहता है, वैजात्य नहीं तथा 'गुणवान् घट' इस प्रत्यक्ष में वैजात्य रहता है, स्मृतित्व नहीं। जब कि 'गुणवान् स' इस स्मृति में वैजात्य और स्मृतित्व-दोनों ही रहते हैं। इस तरह वैजात्य का अनुमितित्व-स्मृतित्व आदि के साथ साङ्कर्य होने के सबब वैजात्य का जातिविधया अंगीकार नहीं हो सकता।

● विषयितारूप वैलक्षण्य कल्पना अशक्य ●

विषयिता० इति। यहाँ यह शंका करना कि → 'वैलक्षण्य को जातिस्वरूप मानने में साङ्कर्य दोष हो तो उसे विषयितास्वरूप मानना चाहिए। अर्थात् विषयतानिरूपितविषयिता, जो गुणादिविशिष्टबुद्धि में रहती है वही वैलक्षण्य है जो अभावादिविशेषणविशिष्टविषयक बुद्धि में रहती नहीं है।' ← ठीक नहीं है, क्योंकि विषयितारूप वैलक्षण्य समवाय की सिद्धि के पूर्व दुर्वच है। आशय यह है कि - गुणादिविशेषणविशिष्टविषयक बुद्धि विशेष्यविधया जैसे द्रव्य में होती है ठीक वैसे ही 'अभावो गुणीय' अर्थात् प्रतियोगिता संबंध से 'गुणवान् अभाव' यह गुणविशिष्टविषयक बुद्धि विशेष्यविधया अभाव में भी हो सकती है। इस तरह गुणविषयक ज्ञान भी विषयता संबंध से घट में रहने से 'विषयतया ज्ञानवान् गुण' यह गुणविशिष्टविषयक बुद्धि होती है जो विशेष्यविधया गुण में रहती है। इस तरह कालिक संबंध से क्रिया में सुख रहने से 'कालिकेन सुखवती क्रिया' इत्यादि गुणविशिष्टविषयक बुद्धि भी होती है, जो विशेष्यविधया क्रिया में रहती है। मगर इन बुद्धियों का पक्ष में अन्तर्भाव करने पर समवाय की नहीं बल्कि प्रतियोगिता-विषयता-कालिकादि संबंध की सिद्धि हो जायेगी, जिससे अर्थान्तर और सिद्धसाधन दोष प्रसक्त होते हैं। अतः समवाय को सिद्ध करने के लिए इन सभी बुद्धियों से विलक्षण, जो गुणादिविशेषणविशिष्टविषयक बुद्धियाँ हैं, उन्हीं को पक्ष मानना होगा किन्तु उन बुद्धि में विषयितारूप वैलक्षण्य समवाय के बिना शक्य नहीं है, क्योंकि समवाय सिद्ध होने पर ही समवायनिष्ठ सांसर्गिकविषयता से निरूपित विषयिता की सिद्धि हो सकती है, जो प्रतियोगिता-विषयता-कालिकादि संबंधनिष्ठविषयतानिरूपित विषयिता की व्यावर्तक हो सकती है। यदि गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धियों को समवायाऽसंसर्गक मान कर उनमें 'अभावो गुणीय' इत्यादि उपर्युक्त बुद्धियों से विलक्षण विषयिता की उपपत्ति की जायेगी तो उससे समवाय का उत्थान ही नामुमकिन है, समवायाऽविषयक प्रतीति में वृत्ति विषयिता से समवायसिद्धि का मनोरथ हिजडे से पुत्ररत्नप्राप्ति की कामना समान है। यदि गुणादिविशिष्ट बुद्धि को समवायविषयक मान कर समवाय की सिद्धि की जायेगी तो तादृश-विषयिताशाली गुणादिविशिष्टबुद्धि को समवायसाधक अनुमान में पक्ष नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस अनुमान का प्रयोग समवायविरोधी के प्रति करना होगा और उसे समवायमूलकविलक्षणविषयिताशाली बोध अभिमत नहीं हो सकता। पक्ष वही हो सकता है जो प्रतिवादी को सम्मत हो। अतः गुण-जाति-क्रियादिविशेषणविशिष्टविषयक बुद्धि के कारणरूप विशेषण-विशेष्यसंसर्ग के जन्यतावच्छेदकविधया उक्त वैलक्षण्यघटित विजातीयबुद्धित्व का अर्थात् अभावादिविशिष्टबुद्धिव्यावृत्त अनुभवसिद्धवैलक्षण्यविशेषवद् बुद्धित्व का स्वीकार करना नामुनासिब है। घटक की अप्रसिद्धि से उससे घटित भी अप्रसिद्ध हो जाता है। 'यह वन्ध्यापुत्र का वस्त्र है' अर्थात् 'वन्ध्यापुत्रनिरूपितस्वत्ववद् वस्त्र' ऐसी प्रतीति कभी भी होती नहीं है, चूँकि निरूपकविधया उसका घटक वन्ध्यापुत्र ही अप्रसिद्ध है। ठीक वैसे ही वन्ध्यापुत्रतुल्य वैलक्षण्य से घटित विजातीयबुद्धित्व भी अनाहार्य ज्ञानविषय नहीं हो सकता, जन्यतावच्छेदक की तो बात ही कहाँ?

परन्तु सत्यलौकिकविशिष्टप्रत्यक्षत्वमेव जन्यतावच्छेदकम्। विशेषणसबधत्व च हेतुतावच्छेदकमिति कार्य-कारणभाववलादेव गुणादिविशिष्टप्रत्यक्षहेतुत्वेन लाघवादेक एव सबध सिध्यति, स एव समवाय'' इति वदति प्राञ्चो नैयायिका ।

★ जयलता ★

विपयतासबधेन 'ज्ञानवान् घट'' इत्यादयोऽपि गुणादिविशिष्टविपयकाववोधाः प्रसिद्धा एव। दर्शितगुणादिविशेपणविशिष्टनिष्ठविपयतानिरूपितविपयितारूप-वैलक्षण्योपगमे समवायसिद्धिर्नास्ति परन्तु प्रतियोगिता-कालिक-विपयतादिरूपसवधसिद्धिरेव । ततः पुनरपि सिद्धसाधनार्थान्तरदोपानतिवृत्तिरेव। अतः प्रतियोगितादिसवधावगाहिवुद्धिव्यावृत्ताना- मेव गुणादिविशिष्टविपयकबुद्धीना पक्षता वाच्या। परन्तु व्यावर्तक विपयितारूप वैलक्षण्य समवायाऽसिद्धौ नात्मलाभ लभते, समवायाऽससर्गकत्व गुणादिविशिष्टवुद्धिपूपगम्य विपयितारूपवैलक्षण्योपपादने समवायाऽसिद्धिप्रसङ्गात्, समवायससर्गकत्व तेपूपेत्य तदुपपाद्य समवायसाधने तादृशविपयिताशा- लिवुद्धीनामपक्षत्वप्रसङ्गात् समवायानङ्गीकर्तृभि॰ प्रतिवादिभिः समवायमूलकविलक्षणविपयतानिरूपितविपयिता शालिना गुणादिविशेषणविशिष्टविपयकवुद्धी- नामनङ्गीकारात्, प्रतिवाद्यप्रसिद्धस्य पक्षत्वाऽयोगात्। एतेन विपयितात्मकवैलक्षण्याङ्गीकारे ज्ञप्तावात्माश्रयदोपो ऽपि प्रदर्शित । अत एव गुण-जाति-क्रियान्यतमविशेपणविशिष्टनिष्ठविपयतानिरूपितविपयितायाः कल्पनाऽपि प्रत्युक्ता। तृतीयकल्पनाऽपि न युक्ता, वैलक्षण्यस्याऽन्यस्वरूपस्याऽनिर्वचनात्।

प्राञ्चो नेयायिकाः स्वमते विशेपणप्रतियोगिकससर्गनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यताया अवच्छेदक प्रदर्शयन्ति-'परन्तु' इति। सत्यलौकिकविशिष्टप्रत्यक्ष-त्वमेव जन्यतावच्छेदकमिति लौकिकविशिष्टप्रत्यक्षत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वोपगमे 'वह्निमान् हृद' इत्यादिप्रत्यक्षस्याऽपि वह्निप्रतियोगिकससर्गजन्यत्वापत्तिः। अतः सत्यत्वेन जन्यतावच्छेदकः विशेपितः। 'सुरभि चदनमि'त्यादिज्ञानलक्षणासन्निकर्षजन्यालौकिकप्रत्यक्षप्रमायामतिव्याप्तिवारणार्थं 'लौकिके' त्युक्तम्। 'विशिष्टे'त्यनुक्तौ निर्विकल्पप्रत्यक्षप्रमायामतिप्रसङ्गः स्यात्। 'स सुदरः' इत्यादिलौकिकस्मृतेः 'वह्निमान् पर्वतः' इत्यादिसत्यलौकिकप्रमानुमितेश्च ससर्गाजन्यत्वात्, ज्ञानत्वमनुभवत्व वा विहाय प्रत्यक्षत्वमुक्तम्। समवायत्वस्य हेतुतावच्छेदकत्वोपगमे आत्माश्रयदोपः प्रसज्येत। अत आह - विशेपणसवधत्वञ्च हेतुतावच्छेदकमिति। दर्शितजन्यतावच्छेदकस्य कालिकादिससर्गावगाहिसाक्षात्कारवृत्तित्वेऽपि विशेपणसवधत्वस्य च कालिकादिनिष्ठत्वे ऽपि स्वाश्रयदोपवारणायाऽनन्यगतिकगतिन्यायेनोक्तनिर्वचन सामान्यधर्मपुरस्कारेण कृतम्।

नन्वेवमपि सयोग-कालिकादिभिः सिद्धसाधनमर्थान्तर च दुर्निवारमित्याशङ्कायामाह - कार्यकारणभाववलादेव गुणादिविशिष्टप्रत्यक्षहेतुत्वेन लाघवादेक एव सवध सिध्यतीति। सामान्यतो गृहीतः कार्यकारणभावोऽन्वयव्यतिरेकादिभि॰ विशेपे विश्राम्यतीति न्यायेन दर्शितकार्यकारणभाववलेन 'गुणादिविशिष्टप्रत्यक्षहेतुत्वरूपेण ससर्गसामान्यस्य सिद्धावपि सयोगादिवाधात्, तासा नित्यद्रव्येष्वपि विशेष्यविधया जायमानत्वेन कालिकासभवात्, प्रतियोगिता-विपयतादिसवधाननुभवदशायामप्यस्खलद्वृत्त्या जायमानत्वेन प्रतियोगिताद्यसभवाल्लाघवतर्कसहकाराच्च 'गुणवान् घटः' इत्यादिलौकिकप्रतीति-ष्वनुगत एक एव सवधः सिध्यति भेदे प्रमाणाभावात्, एकत्वेनैव क्लृप्तप्रतीत्युपपत्तेः। तदनित्यत्वे कार्यकारणभावकल्पनागौरवात् स नित्य एव, स एव समवाय = समवायपदप्रतिपाद्य इति प्राचामाशय ।

● रमणीया ●

शका :- तव तो जन्यतावच्छेदक ही अप्रसिद्ध हो जाने की वजह विशेषणविशेष्य-ससर्ग और गुणादिविशिष्ट-वुद्धि का कार्य-कारणभाव ही नही वन सकेगा । इस स्थिति मे समवाय की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? जिसका कार्यतावच्छेदक प्रसिद्ध न हो वह किसीका कारण नही सकता। अत पुन ससर्गविधया गुणादिविशिष्टवुद्धि के जनकरूप मे समवाय असिद्ध ही रह जायेगा।

नेयायिक :- परतु० इति। अजी, हजरत! अन्य किसीकी ओर से वताया गया जन्यतावच्छेदक सगत न हो इसका मतलव यह नही हे कि विशेषणविशेष्य के ससर्ग का जन्यतावच्छेदक ही कोई नही है। हम वताते हे कि - विशेषणससर्ग का जन्यतावच्छेदक धर्म सत्यलोकिकविशिष्टप्रत्यक्षत्व है। जो विशिष्ट वुद्धि सत्य हो, लोकिक हो और प्रत्यक्षात्मक हो वही विशेषण के ससर्ग का कार्य ह और गुणादिविशिष्टवुद्धिनिष्ठ सत्यलोकिकविशिष्टप्रत्यक्षत्व ही विशेषणससर्ग का कार्यतावच्छेदक है। 'वह्निमान् हृद' इत्यादि भ्रात लोकिक विशिष्ट प्रत्यक्ष मे व्यतिरेक व्यभिचार के निवारणार्थ 'सत्य' ऐसा विशेषण दिया गया है। सामान्यलक्षणा - ज्ञानलक्षणादिप्रत्यासत्तिजन्य प्रमात्मक विशिष्ट प्रत्यक्ष का कार्यकोटि मे से व्यवच्छेद करने के लिए विशिष्टप्रत्यक्ष का लोकिकत्व विशेषण दिया गया हे। निर्विकल्प ज्ञान मे ससर्गजन्यत्व न होने से विशिष्टविपयकत्व का प्रत्यक्ष के विशेषणरूप मे ग्रहण किया गया हे। अनुमिति आदि वुद्धि भी ससर्गजन्य न होने के सवव कार्यतावच्छेदक की अतिरिक्त वृत्तिता को हटाने के लिए अनुभवत्व का ग्रहण न कर के प्रत्यक्षत्व का ग्रहण किया हे। तथा हेतुतावच्छेदक विशेषणसवधत्व हैं। समवायत्वरूप से हेतुता मानने पर आत्माश्रय दोप प्रसक्त होता है और सयोगत्वरूप से हेतुता मानने पर गुणादिविशिष्ट सत्यलौकिकप्रत्यक्ष मे वाध होगा तथा स्वरूपसवधत्वरूप से हेतुता मानने पर अर्थान्तरदोप होगा अर्थात् समवाय की सिद्धि न हो सकेगी। अत विशेषणसवधत्वरूप से हेतुता यहाँ मानी गई है। उक्त कार्य-कारणभाव के वल से गुणादिविशिष्टविपयक प्रत्यक्ष की हेतुता का सयोग आदि मे वाध और स्वरूपसवध के स्वीकार म गोरव से यहाँ लाघवसहकार से एक अतिरिक्त सवध सिद्ध होता हे। उसीका नाम समवाय है। इस तरह उक्त प्रमाण से एक समवाय की सिद्धि अनिवार्य हे। ऐसा हम प्राचीन नेयायिको का (एकसमवायवादियो का) सिद्धान्त हे।

तत्तुच्छ प्राचि पक्षे प्रत्येक विनिगमनाविरहात्, एकत्र गुणगुणिनोर्द्वयोः सबधत्वकल्पनाया अतिरिक्तसमवायस्य तत्र सवधत्वकल्पनायाश्च तुल्यत्वादुभयत्र चाऽप्रयोजकत्वम्।

★ जयलता ★

प्रकरणकार एतन्मतस्याऽश्रद्धेयत्व सूचयति- तत्तुच्छमिति। हेतुमाह - प्राचि = प्रथमे विशेषणसबधविषयकत्वसाध्यके पक्षे प्रत्येक = स्वरूपसबधे समवाये च, विनिगमनाविरहात् = स्वरूप-समवायान्यतरपक्षपातियुक्त्यभावात्। ननु समवायोपगमे लाघवमेव विनिगमकमित्याशङ्कायामाह - एकत्रेति समवाये। गुण-गुणिनो = नीलादि-घटायोः द्वयोः सबधत्वकल्पनाया , अतिरिक्तसमवायस्य = गुणगुण्यतिरिक्तस्य समवायाभिधानस्य तत्र = गुणगुणिनोः सवधत्वकल्पनायाश्च तुल्यत्वात् = तुल्यगौरवात्। अतो 'नीलो घट' इत्यत्र यथाऽतिरिक्तसमवाये नीलरूपघटयो॰ ससर्गता नैयायिकेन कल्प्यते तथैव तयोरपि समवायससर्गत्व कल्पनीयम्। तथा चार्थान्तरसिद्धसाधने। किञ्च घटादिस्वरूप क्लृप्तमेव, न तु कल्पनीयम्। तत्प्रतीतिनिरूपिता या च ससर्गता नैयायिकेनाऽतिरिक्तसमवाये स्वीक्रियते सैव तेन घटस्वरूपेऽङ्गीक्रियत इति समानम्। न च घटविषयकप्रतीता घटस्वरूपस्य पटविषयकप्रतीतौ पटस्वरूपस्येत्यनन्ताना ससर्गत्वे गौरवमिति वाच्यम् नैयायिकेन या तत्तत्प्रतीतिनिरूपिता. ससर्गता॰ नत्तत्पदार्थप्रतियोगिकसमवाये स्वीकृता॰ ता एव तत्तत्स्वरूपेषु स्वीक्रियन्ते इत्यपि समानवात्। न च ज्ञानविषयाभ्यामतिरिक्ताना निरूपकतासबन्धेन ज्ञाने विषये चाश्रयतासबधेन वर्तमानाना विषयताना विषयभेदेन भिन्नतया तत्स्वरूपेषु तत्तत्प्रतीतिनिरूपिताना ससर्गताना भेदापत्तिरिति वाच्यम्, विषयैक्येऽपि निरूपकविषयिताभेदेन विषयताभेदस्याऽऽवश्यकतया समवायनिष्ठानामपि ससर्गताना घटपटादिविशेष्यताभेदेन भेदापत्तेः, समानत्वात्। तत्रैकस्मिन् अतिरिक्तसमवाये बहुविषयताकल्पनाऽपेक्षया बहुस्वरूपेष्वेकविषयताकल्पने गौरवाभावेन समानत्वात्। एतेन 'घटपटकटा इत्याकारके एकस्मिन्नेव समूहालवनज्ञाने नानास्वरूपाणा ससर्गताकल्पने गौरवमिति प्रत्युक्तम् तत्राऽपि तिसृणा ससर्गतानामेकस्मिन् समवाये स्वीकारापेक्षया तिसृषु व्यक्तिष्वेकस्याः ससर्गतायाः स्वीकारे गौरवविरहात्।

यत्तु मुक्तावलीकिरणावलीकारेण कृष्णवल्लभेन ''अस्ति तावद् 'अय घटोऽय घट' इति ज्ञानात् 'इमे घटा' इति ज्ञानस्य वैलक्षण्यम्। तच्च समूहालम्बने विशेष्यताभेदेन प्रकारताना भेदः न तु 'इमे घटा' इति ज्ञाने इति स्वीकारेणैव निर्वहति। ततश्च तस्मिन् ज्ञाने नानाविशेष्यतानिरूपिता एकैव प्रकारता तन्निरूपिका च ससर्गता समवायस्वीकर्तृभिरेकैव स्वीकार्या, स्वरूपसम्बन्धवादिभिस्तु तत्तद्व्यक्तिस्वरूपात्मकविषयभेदाद् भिन्ना एव ससर्गताः स्वीक्रियेरन् इति व्यक्तमिद गौरवम्। एव नील-पीतादिविशिष्टेष्वनन्तेषु भूतलादिस्वरूपेषु नीलादिप्रतियोगिकत्वकल्पनापेक्षया

● रमणीया ●

● समवायनिराकरण ●

स्याद्वादी :- तत्तुच्छ० इति। नैयायिक महाशय ने दो अनुमान से समवाय को सिद्ध करने का जो प्रयास किया है वह तथ्यहीन है, क्योकि इनसे समवाय सिद्धि नही हो सकती है। सबसे पहले प्रथमानुमान पर गृध्रदृष्टि से अवलोकन करते है। प्रथम अनुमान मे विशेषणसबधविषयत्व साध्य है। मगर 'नीलो घट ' इत्याकारक गुणगुणिविषयक बुद्धि मे जैसे समवाय मे नीलरूप और घट की ससर्गता की सिद्धि हो सकती है, ठीक वैसे ही नीलरूप और घट मे समवाय की ससर्गता भी सिद्ध हो सकती है। गौरव तो दोनो पक्ष मे समान ही है, क्योकि समवाय मे अनत गुण-गुणिनिरूपित ससर्गता और अनत गुण-गुणी मे एक समवायनिरूपित ससर्गता की कल्पना तुल्ययोगक्षेमवाली है। अत गुणगुणी मे समवाय की ससर्गता सिद्ध होने से प्रकृत अनुमान से स्वरूप सबध की भी सिद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप अर्थान्तर दोष प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त दोनो अनुमान मे विपक्षबाधक तर्क न होने से अप्रयोजकत्व दोष प्रसक्त होता है। यहाँ यह शका करना कि ⟶ ''अनत विशेषण-विशेष्य मे सबधत्व की कल्पना स्वरूपसबधवादी के पक्ष मे आवश्यक है जब कि समवायवादी के पक्ष मे एक समवाय मे ही सबधत्व की कल्पना करनी होगी। इस अवस्था मे स्वरूपसबधवादी के पक्ष मे समवायसबधवादी के पक्ष की अपेक्षा गौरव होता है। विपक्ष मे गौरवरूप बाधक दोष से समवाय सबध की सिद्धि हो सकती है। अत विनिगमनाविरह से अप्रयोजकत्व दोष का उद्भावन करना कैसे मुनासिब होगा?'' ⟵ ठीक नही है, क्योकि जैसे स्वरूपसबधपक्ष मे गुणविशिष्टविषयक बुद्धियो को विशेषण-विशेष्य के स्वरूप की सबधविधया ग्राहक मानने पर क्लृप्त विशेषण-विशेष्यस्वरूप अनत होने से अनतस्वरूपनिष्ठ ससर्गताख्य विषयताशालित्व मानना होगा ठीक वैसे ही नैयायिक के पक्ष मे विशेषण-विशेष्य से अतिरिक्त एक समवाय सबधरूप धर्मी की कल्पना कर के उसमे ससर्गताख्य विषयताशालित्व मानना होगा। विशेषण-विशेष्य के स्वरूप अनत है फिर भी क्लृप्त है, उनकी कल्पना करनी नही होगी तथा समवाय एक है फिर भी वह क्लृप्त नहीं है, उसकी कल्पना करनी पडती है। अत गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धियो मे विशेषण-विशेष्यस्वरूपनिष्ठ ससर्गताख्य विषयताशालित्व माना जाय या विशेषण-विशेष्यातिरिक्त समवायनिष्ठ ससर्गताख्य विषयताशालित्व माना जाय? दोनो ही कल्पना समान है। अर्थात् प्रथम कल्पना न तो द्वितीय कल्पना की अपेक्षा गुरु है और न तो प्रथम कल्पना की अपेक्षा द्वितीय कल्पना लघु है। अत प्रथम अनुमान मे विनिगमनाविरह से अप्रयोजकत्व दोष वज्रलेपतुल्य होता है। इस तरह द्वितीय अनुमान मे, जिसका साध्य विशेषणसबधजन्यत्व है, भी विनिगमनाविरह से अप्रयोजकत्व दोष है, क्योकि उक्त बुद्धियो मे विशेषण-विशेष्यस्वरूपसबधजन्यत्व माना जाय या विशेषण-विशेष्यातिरिक्तसमवायसबधजन्यत्व माना जाय, दोनो ही कल्पना समान है। विपक्षबाधक तर्क न होने से विशेषणसबधविषयत्वसाधक अनुमान और विशेषणसबधजन्यत्वसाध्यक अनुमान आपके अभीष्ट समवाय सबध की विषयविधया या जनकविधया सिद्धि करने मे असमर्थ है।

अथ विशिष्टसाक्षात्कारस्य सबधाऽविषयत्वे तदजन्यत्वे वा गवाश्वादावपि विशिष्टबुद्धिः स्यादिति विपरीतबाधतर्कसत्त्वान्नैवमिति चेत्? न, प्राचि पक्षे लाघवादेकसबधविषयत्ववत्तदविषयत्वमेव प्रसज्येतेति कार्यभेदनिर्वाहाय सामग्रीभेदो मृग्य इत्यवश्याश्रयणीयस्य

★ जयलता ★

एकस्मिन् समवाये तत्कल्पनाया लाघवमिति'' [मु कि पृ ५६] उक्त तत्तु विचार्यमाण शीर्णजीर्णतार्णकुटीरवद् विशरारुभावमवाप्नोति। तथाहि क्लृप्तेपु भूतलादिस्वरूपेपु नीलादिप्रतियोगिकत्वकल्पनापेक्षयाऽतिरिक्तसमवाय प्रकल्प्य तत्र तत्कल्पनायास्तुल्यत्वात्, प्रत्युत नैयायिकस्य 'समवायः, तत्र समवायत्वम्, क्लृप्तभावभेदः नानाधिकरणवृत्तित्वमि'त्यादिकल्पनाया महागौरवात्। एतेन ''अभावस्य सबधत्व च क्लृप्त अन्यस्य गुण-गुण्यात्मकस्वरूपस्य सम्बन्धत्वेनाऽकल्पनात्। इहैव तत्कल्पनाया धर्मकल्पनालाघवमपि नादरणीयम्। उभयत्र सवधत्वधर्मकल्पनस्योभयकल्पनात्वेन तदवच्छिनैककल्पन एव लाघवात्'' [त चि मा वृ पृ ६४९] मथुरानाथोक्तमपहस्तितम् जातेरनुगतत्वेन व्यक्तिसवधत्वौचित्ये जाति-व्यक्त्योः समवायोच्छेदापत्तेश्चेति दिक्।

हेत्वन्तरमाह - उभयत्र च विशेषणसवधविषयकत्व-विशेषणसवधनिमित्तकत्वसाध्यकानुमितिद्वितये च अप्रयोजकत्वम् = विपक्षवाधकतर्कशून्यत्वम्। ''नन्वस्तु गुणादिविशिष्टविषयकबुद्धीना विशिष्टबुद्धित्व विशिष्टविषयकप्रमप्रत्यक्षत्व वा मास्तु विशेषणससर्गविषयत्व तज्जन्यत्व वा'' इति परेण नैयायिके पर्यनुयुक्ते न किञ्चिद् बाधक प्रमाण तेन दर्शयितु पार्यते। तत्र मानाभावे कथ तत्सिद्धिः? मानाधीना मेयसिद्धिरिति वचनात्।

नैयायिको विपक्षवाधकतर्क दर्शयति-अथेति। गवाश्वादौ परस्परमसवद्धे अपि विशिष्टबुद्धि स्यात् = 'गोमान् अश्वः', 'अश्ववान् गौः' इत्यादिगवादिविशेषणविशिष्टत्वेन रूपेण अश्वादिविषयक ज्ञान प्रसज्येतेत्यर्थः। विपरीतबाधकतर्कसत्त्वादिति। विशिष्टसाक्षात्कारत्वविशिष्टस्य विशिष्टविषयक-प्रमाप्रत्यक्षत्वस्य वा सवधाविषयत्वे सवधानिमित्तकत्वे वा अभ्युपगम्यमाने अविशिष्टयोरपि विशिष्टप्रत्यक्षोत्पादप्रसगरूपस्य विपक्षवाधकतर्कस्य सत्त्वादित्यर्थः। तदुक्त तत्त्वचिंतामणौ विशिष्टसाक्षात्कारस्य सवधाविषयत्वे तदजन्यत्वे वा गवाश्वादावपि विशिष्टबुद्धिप्रसङ्गादि' [त चि पृ ६५०] ति। वापर्यन्तमापादकाशो 'गवाश्वादावि'त्यादिरापाद्याशः। अविशिष्टयोः विशिष्टबुद्ध्यनुत्पादलिगेन विशिष्टप्रमप्रत्यक्षस्य सवधजन्यत्व सिध्यतीति पराशयः।

स्याद्वादी तन्निराकुरुते - नेति। प्राचि पक्षे = विशेषणसवधविषयकत्वसाध्यके पक्षे। लाघवादिति। 'अनतस्वरूपेपु ससर्गताकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तै-कसमवायोपगमे लाघव'मिति लाघवविषयकज्ञानात्। एकसवधविषयत्ववदिति। विशिष्टबुद्धेर्विशेषणविशेष्यातिरिक्तानुगतैकससर्गविषयत्वसिद्धिवत्। तदविषयत्वमेवेति। उक्तविशिष्टबुद्धेः अभावादिविशिष्टप्रत्यक्षवद् विशेषण-विशेष्यमात्रविषयत्वे ससर्गाऽविषयत्वेऽतिलाघवात् सविषयकत्वानुमानात् तदसिद्धिप्रसङ्गो दुर्निवार इति विपरीतमेव लाघवमापतितमिति स्वशस्त्र स्ववधायेति न्यायापातः। ततः प्रथम विशेषणसवधविषयकत्वसाध्यकानुमान त्याज्यमेवेत्याशयः।

ननु प्रतीतेर्विषयभेदः अनुभवात् सामग्रीभेदाद् वा न तु लाघवात्। तथाहि - 'घट-घटत्वे', 'पट-पटत्वे' इत्यादिनिर्विकल्पकप्रतीतिपु विषयभेदसिद्धिः सामग्रीभेदात्, न त्वनुभवभेदात्, निर्विकल्पकप्रतीतीनामतीन्द्रियत्वात्। एकत्रावस्थितयोर्घटयोः क्रमेण प्रत्यक्षत्वदशाया 'एक द्रष्ट्वाऽपर पश्यामी'त्यायनुभवबलेन पूर्वोत्तरजातप्रत्यक्षयोर्विषयभेदसिद्धिः न तु सामग्रीभेदेन, सामग्रीभेदव्यापकस्य सामग्रीघटकतावच्छेदकवैलक्षण्यस्य विरहात्। अनुभवबलेन न विशिष्टप्रतीतेः समवायविषयकत्व साधयितु पार्यते, अन्यथा विवादविरहप्रसङ्गात्। ततश्च गुणगुण्यादिविशिष्टबुद्धे: समूहालम्बनवैलक्षण्यनि-र्वाहकतया-सामग्रीभेदसिद्ध्यर्थं विशेषणससर्गजन्यत्वसाध्यकपक्षस्याऽवलम्बन मया क्रियत इति यदि नैयायिको ब्रूयात्तदाऽऽह - कार्यभेदनिर्वाहाय

● रमणीया ●

नैयायिक :- अथ विशि० इति। गुणादिविशिष्टविषयक साक्षात्कार को सवधविषयक मानना और गुणादिविशिष्टविषयक प्रमात्मक साक्षात्कार को सवधजन्य मानना आवश्यक ही है। यदि ऐसा न माना जाय तब तो जैसे दडसयोगवाले पुरुष मे 'दडी पुरुष' यह बुद्धि होती हे ठीक वैसे ही सयोग सवध से शून्य गाय और अश्व मे भी 'गायवाला अश्व' ओर 'अश्ववाली गाय' ऐसा वैशिष्ट्याऽवगाही साक्षात्कार होने लगेगा। मगर ऐसा विशिष्टविषयक साक्षात्कार होता नही है। विशिष्ट साक्षात्कार को सवधाऽविषयक या सवधाजन्य मानने के पक्ष मे यह बाधक तर्क हे। इस विपक्षबाधक तर्क से यह फलित होता हे कि - विशिष्ट साक्षात्कार ससर्गविषयक और ससर्गजन्य होता है। जब ससर्गविषयत्व प्रथम अनुमान से सिद्ध हुआ तब तो लाघव तर्क से विषयभूत सवध एक ही सिद्ध होगा जिसका नाम है समवाय।

स्याद्वादी :- न प्राचि० इति। आपका यह कथन युक्तिसगत नही है, क्योकि विशेषणससर्गविषयत्वसाध्यक पक्ष मे आप महाशय लाघव तर्क से एक अनुगत अतिरिक्त समवाय सवधविषयत्व सिद्ध करते हे और अनेक सवध का त्याग करते हैं तो हम इससे भी ज्यादा लाघव करने के लिए सवधविषयत्व का भी त्याग करते है, क्योकि आपके पक्ष की अपेक्षा हमारे पक्ष मे ज्यादा लाघव हे।

नैयायिक :- कार्यभेद० इति। विशिष्टविषयक साक्षात्कारात्मक कार्य मे वैलक्षण्य की सिद्धि सिर्फ लाघव तर्क से होती नही है

द्वितीयपक्षस्याऽप्यस्मन्नये योग्यतयैव प्रतिनियतविषयव्यवस्थोपपादिकया जर्जरीकृतत्वात्।

किञ्च, विशेषणसबधत्वमपि नैकमिति विशिष्यैव तत्कार्यकारणभावविश्रान्तिः।

★ जयलता ★

= गुणादिविशिष्टविषयक-समूहालम्बनधियोः भेदसिद्ध्यर्थं, सामग्रीभेदो = विशिष्ट-समूहालम्बनधीसामग्रीवैलक्षण्यविशेष' सृष्य इति विशेषणससर्गविषयकत्वसाध्यकप्रथमानुमानेन तत्सिद्ध्यभावात् अवश्याश्रयणीयस्य विशेषणससर्गजन्यत्वसाध्यकस्य द्वितीयपक्षस्य अपि अस्मन्नये = स्याद्वादिमते योग्यतयैव प्रतिनियतविषयव्यवस्थोपपादिकया = वैशिष्ट्य-नानामुख्यविशेष्यतारूपविषयविशेषव्यवस्थानिर्वाहिकया जर्जरीकृतत्वात् = समवायसिद्धिसामर्थ्यप्रत्याख्यातत्वात्। वस्तुतः तयाज्ञेयत्वस्वभावविशेषरूपयोग्यताविशेषस्यैव परेणाऽपि शरणीकरणीयत्वात्, अन्यथा समूहालम्बन-विशिष्टबुद्ध्योर्वैलक्षण्यस्य दुर्घटत्वात्, 'घटरूपसमवाया' इति समूहालम्बनेऽपि समवायस्य विषयत्वात्। न च स्वरूपतो भासमानेन वैशिष्ट्येन विशिष्टबुद्धे' समूहालम्बनाद्विशेषो मयोपेयते। न ह्युपदर्शितसमूहालम्बने समवायस्य स्वरूपतो भान किन्तु समवायत्वेनेति वाच्यम्, सयुक्तसमवायादे' सबधत्वे 'स्वरूपत'' इत्यस्य दुर्वचत्वात्। विषयविशेषमृते ज्ञाननिष्ठप्रकारिताविशेषोपगमे च साकारवादप्रसङ्गात्। ततश्च विशिष्टविषयकप्रमाप्रत्यक्षत्वेन हेतुना योग्यताविशेषजन्यत्वस्य सिद्धौ सिद्धसाधन परस्य चार्थान्तर दुर्निवारमिति भाव'।

यत्तु नव्यै 'गुण-क्रिया-जातिविशिष्टबुद्धि' सम्बन्धिभिन्नविशेषणसबधविषया निर्विषयकभावविशेषणकविशिष्टबुद्धित्वात् इतरानिरूपणाऽनिरूप्य-विशेषणकविशिष्टबुद्धित्वाद्वा। अतोऽभावादिविशिष्टबुद्धौ न व्यभिचारः' [त वि.प्र स्व पृ ६८१] इत्युक्त तत्तु 'लाघवादेः विशेषणोपादानेऽपि न फलसिद्धिप्रयोजकत्वात्, समवायसिद्ध्यनन्तर तेनैव हेतुना तदतिरिक्तसम्बन्धसाधन च स्यादिति प्रतिकूलतर्कपराहतत्वाच्चे'त्यनेन तदीयैव दूषितम्।

समवायपक्षे गौरव दर्शयति- किञ्चेति। विशेषणसबधत्वमपि नैकमिति। अय भाव' 'नीलो घट' इति प्रतीतिनिरूपिता या ससर्गता नैयायिकेन समवाये स्वीक्रियते सा च न 'पीतो घट' इति प्रतीतिनिरूपिता। एव तत्तत्प्रतीतिनिरूपिता विशेषणससर्गता' परस्पर भिन्ना' तत्तद्विशेषणप्रतियोगिकसमवाये नैयायिकेन स्वीक्रियन्ते। एव तत्तत्प्रतीतिनिरूपिता' विशेष्यससर्गता' तत्तद्विशेष्यानुयोगिकसमवाये परस्पर भिन्ना स्वीक्रियन्ते। ततश्च तत्कार्यकारणभावस्य विशिष्यैव विश्राम'। अय भावो नीलविशेषणविशिष्टप्रमाप्रत्यक्षस्य कारणतावच्छेदक समवायनिष्ठ नीलवृत्तिप्रतियोगितानिरूपकससर्गत्व, पीतविशेषणविशिष्टविषयकप्रमाप्रत्यक्षत्वस्य च पीतवृत्तिप्रतियोगितानिरूपकससर्गत्वमिति विशेषण-विशेष्यातिरिक्तसमवायकक्षीकरणेऽपि अनुगतकारणतावच्छेदकाभावेन न कारणतावच्छेदकलाघवमिति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरिति वर क्लृप्तेष्वेव विशेषणविशेष्यस्वरूपेषु ससर्गताकल्पनमिति निहितार्थः।

● रमणीया ●

किन्तु अनुभव से या सामग्रीभेद से होती है जैसे 'घट-घटत्वे' और 'पटपटत्वे' इन निर्विकल्पकों मे विषयभेद की सिद्धि उन निर्विकल्पको की सामग्री के भेद से होती है ठीक वैसे ही यहाँ सामग्री के भेद से ही समूहालम्बन साक्षात्कार की अपेक्षा गुणादिविशेषणविशिष्टविषयक साक्षात्कार मे वैलक्षण्य की सिद्धि होती है। अतएव विशेषणसबधविषयत्वसाध्यक पक्ष को छोड कर विशेषणससर्गनिमित्तकत्वसाध्यक द्वितीय पक्ष का हम आश्रय लेगे। प्रथम अनुमान से समवाय की सिद्धि न हो तो भी हमारा क्या बिगडा? हमारा दूसरा अनुमान तो समवाय की सिद्धि मे तत्पर ही है।

● योग्यता ही विषयविशेष की नियामक - स्याद्वादी ●

स्याद्वादी :- अस्मन्नये० इति। अभावादिविशिष्टविषयक बुद्धियो की अपेक्षा गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धियो मे वैलक्षण्य की उपपत्ति के लिए ससर्गविधया समवाय को जनक मानने की अपेक्षा योग्यताविशेष को ही, जो कि प्रतिनियत विषयव्यवस्था का उपपादक है, जनक मानने मे वैलक्षण्य की उपपत्ति हो सकती है। हम यही मानते है कि ज्ञान के विषय मे रहा हुआ स्वभावविशेष, जिसे योग्यताविशेष भी कह सकते है, स्वाश्रयेतरविषयक बुद्धियो की अपेक्षा स्वाश्रयविषयक बुद्धि मे वैलक्षण्य का समर्थक है। अत समवाय के स्थान पर अभिषिक्त योग्यताविशेष की सिद्धि होने से अर्थान्तर दोष और सिद्धसाधन दोष वज्रलेप होते है। दूसरा अनुमान समवायात्मक विशेषणससर्गनिमित्तकत्वसाध्यक नही हो सकता है किन्तु योग्यताविशेषनिमित्तकत्वसाध्यक हो सकता है। अत समवाय की कल्पना वन्ध्यापुत्रकल्पनातुल्य है - यह सिद्ध होता है। इस बात को पत्थर की लकीर समझो।

● समवायपक्ष मे अनेक ससर्गता की कल्पना ●

स्याद्वादी :- किञ्च० इति। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यातव्य है कि - समवाय को एक मानने पर भी नैयायिक महाशय समवायनिष्ठ ससर्गता, जो कि तत्तत्प्रतीतिनिरूपित होती है, अनेक मानते है। आशय यह है कि 'नील पट' इत्याकारक बुद्धि से निरूपित ससर्गता नीलरूपप्रतियोगिक समवाय मे है, पीतरूपप्रतियोगिक समवाय मे नही है तथा 'पीत पट' इस प्रतीति से निरूपित ससर्गता पीतरूपप्रतियोगिक समवाय मे है, नीलरूपप्रतियोगिक समवाय मे नही। इस तरह समवायनिष्ठ अनेक विशेषणससर्गता की कल्पना कर के नीलरूपविशेषणविशिष्ट प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदक नीलरूपप्रतियोगिकसमवायनिष्ठ ससर्गत्व और पीतरूपविशेषणविशिष्ट प्रत्यक्ष का कारणतावच्छे-दक पीतरूपप्रतियोगिकसमवायनिष्ठ ससर्गत्व इत्यादि कल्पना करनी आवश्यक है। इस तरह नीलविशिष्ट प्रत्यक्षात्मक कार्य का ससर्गविधया

गुणादिसाक्षात्कार इन्द्रियसबधजन्यो जन्यप्रत्यक्षत्वादित्यपि न समवायसाधनायाऽल, चक्षुपोऽप्राप्यकारित्वेनाऽस्मदादिप्रत्यक्ष प्रत्यपि इन्द्रियसबधस्याऽहेतुत्वात्।

★ जयलता ★

इन्द्रियप्रत्यासत्तित्वेन समवायसिद्धि निराकर्तुं प्रदर्शयति। गुणादिसाक्षात्कार इति। अय पक्षनिर्देशः आदिशब्देन क्रिया-जात्योर्ग्रहणेन गुणक्रियाजात्यन्यतमप्रकारकप्रत्यक्षत्व पक्षतावच्छेदकम्। साध्य निर्दिशति - इन्द्रियसबधजन्य इति। इन्द्रियप्रत्यासत्तिजन्यत्व साध्यम्। जन्यप्रत्यक्षत्वादिति। अय हेतुनिर्देशः। यद्यपि'हेतुकर्तृ-करणेत्यभूतलक्षणे तृतीया' [सि हे २/२/४४] इति सिद्धहेमवचनात् हेत्वर्थे तृतीया प्राप्ता तथापि 'गम्ययपः कर्माधारे' [सि हे २/२/७४] इति तद्वचनात् पञ्चमी न विरुद्धा, जन्यप्रत्यक्षत्वमाश्रित्येत्यर्थ'। उदाहरण च 'दण्डिप्रत्यक्षमि'ति गम्यम्। यथेन्द्रियसबधे सत्येव दण्डिप्रत्यक्ष जायते, न तु तदभावेऽपि अन्यथाऽन्धस्यापि तत्प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तत इन्द्रियप्रत्यासत्त्या जन्यप्रत्यक्षहेतुत्वलाभेन गुणादिसाक्षात्कारजनकतया गुणस्याऽद्रव्यत्वेन साक्षात्सयोगादिवाधेनेन्द्रियसयुक्ते घटादौ समवायः सिध्यति। ईश्वरप्रत्यक्षस्येन्द्रियसन्निकर्षाऽजन्यत्वेन हेतो जन्यत्वविशेषणदानम्।

अस्याऽश्रद्धेयत्वमविष्करोति - इत्यपि न समवायसाधनाय = विशेषणविशेष्यातिरिक्तैकसमवायाभिधानसबधसिद्धिकृते, अल = समर्थम्। हेतुमाह - चक्षुपोऽप्राप्यकारित्वेनेति अयमवान्तरहेतुनिर्देशः, अस्मदादिप्रत्यक्ष = जन्यप्रत्यक्ष प्रत्यपि, कि पुनस्त्वदभिमतेश्वरीयाऽजन्यप्रत्यक्ष प्रतीति अपिशब्दार्थः, इद्रियसबधस्याऽहेतुत्वादिति। अय मुख्यहेतुनिर्देश'। अय भाव' यदि स्पर्शनेन्द्रियादिवत् चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारि स्यात् तदा एव वक्तु युज्येत यदुत 'इन्द्रियसन्निकर्षः प्रत्यक्षहेतुरि'ति। न च चक्षु' प्राप्यकारि। ततो जन्यचाक्षुषप्रत्यक्षे चक्षुःसन्निकर्षाभावेन व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्निवारत्वान्न जन्यप्रत्यक्षत्वहेतुना इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वसिद्धिः येन तद्घटकतया समवायसिद्धिः स्यात्। एतेन "इन्द्रियप्रत्यासत्तित्वेन समवायसिद्धिः। तथाहि - गुण-क्रिया-जातिसाक्षात्कार इन्द्रियसबधसाध्यः जन्यप्रत्यक्षत्वात्, दण्डिज्ञानवदित्यतः साक्षात्सबधबाधकारणत्वेनेन्द्रियसयुक्ते सम्बन्धः सिध्यन् पक्षधर्मतावलाल्लाघवेनानुगतः समवाय एक एव सिध्यति, अनुगतकार्यस्याऽनुगतकारणजन्यत्वात्। न तु सयुक्तविशेषणतारूपस्वरूपसम्बन्धः तस्य च तत्तद्रूपादिरूपत्वेनाऽननुगतत्वात्। एव रूपत्वरसत्वसाक्षात्कारेऽपि कारणत्वेनेन्द्रिय सम्बन्धः समवाय एवानुगतः सिध्यति, लाघवात् न त्विन्द्रियसम्बन्धविशेषणता, तस्या रूपत्वादिस्वरूपत्वेनाऽननुगतत्वात्" [त.चि प्र ख पृ ६५२-६५३] इति चिंतामणिकारोक्त निरस्तम् साध्याभाववद्वृत्तित्वेन जन्यप्रत्यक्षत्वस्य व्यभिचारित्वात्, पक्षबाहुल्यलाघवस्यानादरणीयत्वाच्च, अन्यथा द्रव्यमपि पक्षेऽन्तर्भाव्य समवायसिद्धिप्रसङ्गात्। न चानुभवसिद्धसयोगाद्बाध', प्रमाणसमाहारे प्रमेयसमाहाराऽविरोधात्। 'दडी पुरुषः' इत्यादिप्रत्यक्षे सयोगविपयकत्वसाधकानुमानवत् लाघवज्ञानसहकृतस्य समवायविपयकत्वसाध्यकानुमानस्याऽपि जागरूकत्वात्।

● रमणीया ●

कारण नीलरूपनिरूपितमसर्गताविशिष्ट समवाय ओर पीतविशिष्टविपयक प्रत्यक्षस्वरूप कार्य का ससर्गविधया कारण पीतरूपनिरूपित ससर्गताविशिष्ट समवाय इत्यादि विशेषरूप मे कार्य-कारणभाव मानना आवश्यक है, अन्यथा समवाय एक होने से प्रतिनियत विपयव्यवस्था का लोप हो जायेगा। इस तरह विशेषण-विशेष्य से अतिरिक्त एक समवाय की कल्पना करने पर भी अनेक कार्य-कारणभाव की कल्पना नेयायिकमत मे आवश्यक ही है। अत समवायपक्ष मे भी वस्तुत लाघव तो नही ही हे। अत गुणादिविशिष्टविपयक वुद्धि का ससर्गविधया जनक ममवाय हे-इम मान्यता का स्वीकार करना नामुनासिब है।

नैयायिक :- गुणादि० इति। समवाय की सिद्धि भले ही गुणादिविशिष्टविपयक वुद्धि के ससर्गविधया जनकतया न हो मगर इद्रियप्रत्यासत्तिविधया समवायसिद्धि अनुमान प्रमाण से निरावाध है। वह अनुमान इस तरह हे - गुणादिसाक्षात्कार इन्द्रियसवध से जन्य है, चूँकि वह जन्य प्रत्यक्ष है। जो जन्य प्रत्यक्ष होता है वह इद्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है जैसे स्पर्शप्रत्यक्ष। किसी भी द्रव्य के स्पर्श का स्पर्शनेन्द्रिय के माथ सवध होता है तभी उस स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। त्वगिन्द्रिय से असवद्ध स्पर्श का प्रत्यक्ष होता नही है, अन्यथा तीन लोक की सव चीज के स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष होने लगेगा। अत प्रस्तुत मे गुणादि का प्रत्यक्ष जन्य प्रत्यक्ष होने के सवव इद्रियसवध से जन्य हे - यह सिद्ध होता हे। गुण आदि मे जो आदि पद है उससे क्रिया और जाति का ग्रहण अभिप्रेत है। गुण-कर्म-जाति मे चक्षुआदि इन्द्रिय का सयोग सवध तो नामुमकिन है, क्योकि सयोग सवध तो द्रव्य-द्रव्य के वीच होता हे। गुणादि द्रव्य न होने से सयोग सवध अप्रसक्त हे। इस तरह तादात्म्य आदि सवध का भी सभव नही है। गुणादि का इद्रिय के साथ साक्षात् सवध वाधित होने से पारपरिक सवध यानी इद्रियसयुक्तसमवायसवध पक्षधर्मता के वल से सिद्ध होता हे। जैसे घट के नील रूप के साक्षात्कार के लिए स्वसयुक्तसमवाय सवध है। स्व = चक्षुरिन्द्रिय, तत्सयुक्त घट, उस मे नीलरूप का समवाय। इस तरह स्वसयुक्तसमवायरूप इन्द्रिय प्रत्यासत्ति से नील रूप का साक्षात्कार होता है। अत इन्द्रियप्रत्यासत्तिरूप से समवाय की सिद्धि हो सकती हे।

● इन्द्रियप्रत्यासत्तिविधया समवायसिद्धि नामुमकिन - स्याद्वादी ●

स्याद्वादी :- इत्यपि न सम० इति। वाह' सकल तीर्थ कर आई तुमडियाँ, तौ भी न गई तिताई' आप महाशय विशेषणससर्गविपयत्वसाध्यक अनुमान का आश्रय करे या विशेषणससर्गजन्यत्वसाध्यक अनुमान का आश्रय करे या इद्रियसवध-जन्यत्वसाध्यक अनुमान का अवलवन

'चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वमेव न सहामहे' इति चेत्? शृणु,

प्रसङ्गसङ्गतमथ प्रथमानातिशुद्धधी । चक्षुरप्राप्यकारित्वं ब्रूते न्यायविशारद ॥

तथाहि - चक्षुषः प्राप्यकारित्वं तावद् व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या परैः परिकल्प्यते। तदुक्तम् चक्षुःसंयोगस्याऽपि

★ जयलता ★

यत्तु मथुरानाथेन 'अनुगतसंयोगत्वावच्छेदेन सम्बधत्वस्य क्लृप्तत्वात्, अन्यसम्बन्धकल्पने लाघववैपरीत्यात्। न च गुण-गुण्यादिद्वयेष्वप्येवमनुगतमस्ति धर्मान्तरम्, येन क्लृप्तत्वाल्लाघववैपरीत्यं स्यात्'' [त चि प्र म प्र पृ ६५०- माथु वृ] इत्युक्तं तन्न मनोरमम्, तत्राऽपि वस्तुत्व-सत्त्वाद्यवच्छेदेन सबधत्वोपगमे क्षतिविरहात्। न च वस्तुत्वादेरतिप्रसक्तत्वेन ससर्गतानवच्छेदकत्वम्, ससर्गतायाः केवल गुण-गुण्यादिस्वरूपेष्वेव सत्त्वादिति वाच्यम् विषयतारूपस्य ससर्गत्वस्याऽतिप्रसक्तधर्मावच्छिन्नप्रसिद्धे 'घटवद् भूतलमि'त्यादिज्ञानीयसंयोगनिष्ठ-सासर्गिकविषयतायामतिप्रसक्तसयोगत्वधर्मावच्छिन्नत्वस्य परेणाऽपि कल्पनादिति दिक्।

नैयायिकः चक्षुरप्राप्यकारित्वं प्रति विप्रतिपद्यते - चक्षुष इति। न सहामहे नाभ्युपगच्छामः। चक्षुर्हि रश्मिद्वारेणाऽर्थदेशं गत्वा प्रदीपवत् सम्बध्यते। तदुक्तं न्यायसूत्रे 'रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषाद् ग्रहणम्' [न्या सू ३/१/३८] इति। अनुमानाकारश्चैवं, ''चक्षुः सन्निकृष्टार्थप्रकाशकम्, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवद्'' इति परेषामाशयः। तत्र प्रतिविधत्ते - शृणु इति। प्रसङ्गसङ्गतमिति। प्रसङ्गसङ्गत्यागतमित्यर्थः। उपस्थितिविषयनिष्ठोपेक्षानर्हतावच्छेदकधर्मवत्त्वं प्रसङ्गसङ्गतिरिति अभियुक्ताः। उपक्रमते - तथाहीति। व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वान्यथाऽनुपपत्त्येति। चक्षुषः कुड्यादिव्यवहितवस्त्वप्रकाशकत्व-हेतुना। परे = नैयायिकादिभिः परिकल्प्यते। निराकुरुते - तदुक्तमिति। चक्षुःप्राप्यकारित्वसाधकहेतुकल्पनमयुक्तम्। चक्षुःसंयोगस्याऽपीति पराभिमतस्येति गम्यते। परमाण्वाकाशादौ सत्त्वादिति। आदिशब्देन आत्मादिग्रहणम्। व्यभिचारेणेति अन्वयव्यभिचारेणेति। पराभिमते चक्षुःसन्निकर्षे सत्यपि परमाण्वादिचाक्षुषविरहेण तस्य तद्धेतुत्वायोगात्।

● रमणीया ●

करें फिर भी समवाय की सिद्धि का मनोरथ कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता है। आपसे प्रदर्शित तृतीय अनुमान में व्याप्य है जन्यप्रत्यक्षत्व और व्यापक है इंद्रियसबधजन्यत्व। मगर यह व्याप्ति तो हमारे प्रत्यक्ष में ही व्यभिचारग्रस्त है। इसका कारण यह है कि चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है अर्थात् स्वविषय से असबद्ध हो कर ही चक्षुरिन्द्रिय स्वविषयविषयक साक्षात्कार की जनक है। घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर चक्षुरिन्द्रिय स्वाधिष्ठान से बाहर निकल कर घट से सयुक्त हो कर घटसाक्षात्कार को उत्पन्न करती नहीं है किन्तु स्वाश्रय में रह कर ही घटसाक्षात्कार को जन्म देती है। हमारे घटचाक्षुष प्रत्यक्ष में जन्यप्रत्यक्षत्व हेतु होने पर भी चक्षुरिन्द्रियसबधजन्यत्व नहीं है, क्योंकि हमारे चाक्षुष प्रत्यक्ष में इंद्रियसबध हेतु ही नहीं है। व्यभिचारदोषग्रस्त होने के सबब जन्यप्रत्यक्षत्व हेतु से इंद्रियसबध जन्यत्वरूप साध्य की और पारपरिक इन्द्रियप्रत्यासत्तिविधया समवाय की सिद्धि नहीं हो सकती है। आखिर दूध का दूध और पानी का पानी हो ही गया।

नैयायिक :- चक्षुषोऽप्रा० इति। अर्जी जनाब! आपने यह क्या कह दिया कि - 'चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है'? चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है-यह बात ही हमें नामजूर है। जो इन्द्रिय होती है वह प्राप्यकारी ही होती है अर्थात् अपने विषय से सबद्ध होकर ही स्वविषय का प्रत्यक्ष कराती है। अतः चक्षुरिन्द्रिय भी प्राप्यकारी है। अतः इन्द्रियप्रत्यासत्तिविधया समवायसिद्धि के निरसन का आधारस्तभ चक्षुरिन्द्रिय की अप्राप्यकारिता ही निष्प्रमाणिक होने से समवायनिरास का प्रयास स्तुत्य नहीं है।

● चक्षु अप्राप्यकारी है - स्याद्वादी ●

स्याद्वादी :- शृणु० इति। जनाब, नाव कागज की बहती नहीं। चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है-इस विषय की सिद्धि करना अब समवायनिरास के प्रसग में सुसगत है। अतः न्यायविशारद महोपाध्यायजी महाराजा चक्षुरप्राप्यकारित्व को सिद्ध करते हैं। चक्षु अप्राप्यकारित्व का स्थापन करने के लिए चक्षुप्राप्यकारित्व का निरसन करना जरूरी है। तदर्थ उसे जानना भी आवश्यक हो जाता है। अतः सर्वप्रथम नैयायिकमत का प्रकरणकार निरूपण करते हैं। नैयायिक महाशय का कहना है कि→''यदि नयनेन्द्रिय को प्राप्यकारी न मानी जाय तब तो नयन से असबद्ध वस्तु का, जो भित्ति आदि से व्यवहित है, भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने लगेगा। मगर ऐसा होता नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि चक्षु सबद्ध अर्थ की ग्राहक है। अर्थात् चक्षुगोलक से नयनरश्मियाँ बाहर निकलकर बाह्य वस्तु से सयुक्त होती है तभी बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। दिवारादि से व्यवहित वस्तु नयनरश्मि द्वारा चक्षुसयुक्त न होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं है''←मगर नैयायिक का यह कथन असगत है। इसका कारण यह है कि चक्षुसन्निकर्ष अन्वयव्यभिचारग्रस्त होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण नहीं हो सकता। अन्वयव्यभिचार इस तरह है कि-परमाणु आकाश आदि नैयायिकमतानुसार चक्षुसयुक्त होते हैं फिर भी उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता नहीं है। यदि चक्षुसयोग चाक्षुष प्रत्यक्ष का हेतु हो तबतो चक्षुसयोग

परमाण्वाकाशादौ सत्त्वाद्व्यभिचारेण चाक्षुषं प्रति हेतुत्वाऽयोगात्। 'महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपस्याऽपि तत्र सहकारित्वान्नाय दोष' इति चेत्? न, उद्भूतरूपस्याऽप्यवच्छेदकत्वसंभवेन विनिगमनाविरहात्।

अथ पाकेन रूपनाशक्षणेऽपि घटादिचाक्षुषोत्पत्तिरेव सामानाधिकरण्येनोद्भूतरूपविशिष्टमहत्त्वस्यैव हेतुत्वे विनिगमिकेति

★ जयलता ★

नैयायिकः प्रतिवदति - महत्त्वेति। नाय दोष इति। नान्वयव्यभिचारदोषः। परमाणौ सत्यप्युद्भूतरूपे महत्त्वविरहेणाऽऽकाशादौ च सत्यपि महत्त्वे उद्भूतरूपविरहेण महत्त्वाधिकरणवृत्तिविशिष्टोद्भूतरूपस्य चाक्षुषप्रत्यक्षसहकारिकारणस्याऽभावात् नान्वयव्यभिचार इति परस्याऽऽशयः। तन्निराकुरुते - नेति। उद्भूतरूपस्याऽप्यवच्छेदकत्वसंभवेनेति। अय भावः यथा परेण महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपस्य चाक्षुषप्रत्यक्षसहकारिकारणत्वमुच्यते तथाऽन्येनोद्भूतरूपसमानाधिकरणमहत्त्वस्य तत्सहकारित्वकथन सुवचम्। तथा च यथा परनये सामानाधिकरण्यसंबधेन महत्त्वविशिष्टोद्भूतरूप तत्सहकारि कारण तथैवाऽन्यनये सामानाधिकरण्यसंबधेनोद्भूतरूपविशिष्टमहत्त्व तत्सहकारि कारणमिति वर्णन सुकरम्। ततो यथा परनये चाक्षुषकारणतावच्छेदकत्व महत्त्वे तथैवाऽन्यनये उद्भूतरूपेऽपि संभवति बाधकाभावात्। अतः एकतरपक्षपातियुक्तिविरहात् न सामानाधिकरण्येन महत्त्वविशिष्टोद्भूतरूपस्य तत्सहकारिकारणत्व सिध्यति येन प्रदर्शितान्वयव्यभिचारधारालकरालप्रचारनिवारण स्यादिति।

कश्चित् उद्भूतरूपस्य द्रव्यचाक्षुषजनकतावच्छेदकत्व साधयति अथेति। पाकेन = विलक्षणतेजःसंयोगेन। रूपनाशक्षणेऽपीति। अपिना रूपनाशपूर्वक्षणपरिग्रहः। घटादिचाक्षुषोत्पत्तिरेवेति। एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः। हेतुत्वे = द्रव्यचाक्षुषकारणत्वे विनिगमिकेति नियामिका सामानाधिकरण्येन महत्त्वविशिष्टोद्भूतरूपत्वेन हेतुत्वाङ्गीकारे बाधिका चेत्यर्थः। अयमाशयः पाकेन घटीयश्यामरूपनाशक्षणानन्तर रक्तरूपोत्पत्तिर्जायते।

● रमणीया ●

से विशिष्ट परमाणु आदि का भी प्रत्यक्ष होना ही चाहिए। कारण की उपस्थिति मे कार्योत्पाद न्यायप्राप्त है। चक्षुसंयुक्त परमाणु आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने से चक्षुसन्निकर्ष को द्रव्यविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानना असंगत है। जब कि चक्षु संयोग द्रव्यचाक्षुष का कारण ही नही है तब चक्षु को प्राप्यकारी कैसे मानी जाय? अत चक्षुप्राप्यकारिता की नैयायिकमान्यता तथ्यहीन है।

नैयायिक :- महत्त्व० इति। अजी हजरत! परमाणु, आकाश आदि मे चक्षुसंयोग तो अवश्य ही रहता है। मगर सिर्फ एक कारण से कार्य की उत्पत्ति होती नही है, कारणसमुदाय से ही कार्योत्पत्ति होती है। चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण जैसे 'चक्षुसन्निकर्ष है ठीक वैसे ही महत्त्वसमानाधिकरण उद्भूतरूप भी उसका सहकारी कारण है। अर्थात् सामानाधिकरण्यसंबध से महत्त्वविशिष्ट उद्भूतरूप द्रव्यचाक्षुष मे सहकारी कारण है। परमाणु मे उद्भूत रूप होने पर भी वह सामानाधिकरण्यसंबध से महत्त्वविशिष्ट नही है, चूँकि परमाणु महत्परिमाणवाला नही होता है। अत सहकारी कारण के अभाव से परमाणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो तो भी चक्षुसन्निकर्ष मे द्रव्यचाक्षुषहेतुता अक्षत है। इसी तरह आकाश परम महत् परिमाण वाला होने से महत्त्वविशिष्ट होते हुए भी उद्भूतरूप रहित होने से चाक्षुषप्रत्यक्ष का अगोचर है। यदि घटादि पदार्थ की भाँति परमाणु आदि मे और आकाश आदि मे सामानाधिकरण्यसंबध से महत्त्वविशिष्ट उद्भूतरूप होता तब तो उनसे चक्षुसन्निकर्ष होने पर उनका जरूर चाक्षुष प्रत्यक्ष होता। मगर सहकारी विरह से उनका चाक्षुष होता नही है। अत परमाणु, गगन आदि के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुसन्निकर्ष को अन्यथासिद्ध मानना नामुनासिब है। सामानाधिकरण्य का अर्थ है एकाधिकरणवृत्तित्व - यह ख्याल मे रहे।

● महत्त्वसमानाधिकरण उत्कटरूप मे हेतुता असंभव ●

स्याद्वादी :- न, उद्भूत० इति। अजी, जनाब! मन के लड्डुओ से भूख नही मिटती। महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूप को अर्थात् सामानाधिकरण्य संबध से महत्त्वविशिष्ट उद्भूत रूप को आप द्रव्यचाक्षुषस्वरूप कार्य के प्रति सहकारी कारण मानते है। मगर आप के खिलाफ यदि कोई ऐसा कहे कि -'उद्भूतरूपसमानाधिकरणमहत्त्व अर्थात् सामानाधिकरण्य संबध से उत्कटरूपविशिष्ट महत्त्व सहकारी कारण है' तब आप अपने पक्ष मे साधक युक्ति और विपक्ष मे बाधक युक्ति दिखाने मे असमर्थ है। आपके मतानुसार सामानाधिकरण्य संबध से महत्त्वविशिष्ट उद्भूत रूप को द्रव्यचाक्षुष का सहकारी कारण मानने पर कारणतावच्छेदक महत्त्व यानी महत् परिणाम होता है। इसके खिलाफ अन्य व्यक्ति सामानाधिकरण्य संबध से उत्कटरूपविशिष्ट महत्त्व को द्रव्यचाक्षुष का सहकारी कारण मान कर उत्कटरूप को द्रव्यचाक्षुषकारणतावच्छेदक कहे तब आप उसके मत मे दोषदर्शन करा सकते नही है। अत आपके वक्तव्य को मान्यता नही जा सकती।

शका :- अथ पाके० इति। द्रव्यविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति सामानाधिकरण्य संबध से उद्भूतरूपविशिष्ट महत्त्व को ही सहकारी कारण मानना मुनासिब है, क्योंकि जब पाक से घट के श्याम रूप का नाश होता है, उसी क्षण मे भी चक्षुसन्निकर्ष से घट का चाक्षुष होता ही है। उस क्षण मे नूतन रक्त रूप उत्पन्न हुआ नही है, फिर भी घट का चाक्षुष होता है। इसीसे सिद्ध होता है कि उत्कट रूप द्रव्यविषयक चाक्षुष का कारण नही है किन्तु दंडत्व की भाँति अन्यथासिद्ध है। अत उद्भूत रूप को

चेत्? न, तत्र रूपनाशक्षण एव चाक्षुष न तु तदुत्तरोपजायमानरूपोत्तरमित्यस्य कोशपानप्रत्यायनीयत्वात्। अथ महत्त्वोद्भूतरूपयोः पृथगेवास्तु कारणता, महत्त्वजन्यतावच्छेदक च जन्यद्रव्यसाक्षात्कारत्वमेव। अत एव आत्मसाक्षात्कार एवात्मनि महत्त्वे मान, उद्भूतरूपजन्यतावच्छेदक च द्रव्यचाक्षुषत्वमेवेति चेत्? तथापि चक्षुर्गोलकपरिकलिताञ्जनाद्यनुपलब्धिः

★ जयलता ★

तत्पूर्वं क्षणमेक घटो नीरूपोऽवतिष्ठते। तदा घटस्य चक्षुःसन्निकृष्टत्वे सति घटरूपचाक्षुषविरहेऽपि घटचाक्षुषमुपजायते। यदि चोत्कटरूपस्य द्रव्यचाक्षुषहेतुत्व महत्त्वस्य च तद्धेतुतावच्छेदकत्व कक्षीक्रियेत तदा श्यामरूपनाशक्षणे घटविषयकचाक्षुषोत्पत्तिर्न स्यात्, कारणविरहात्। अतो महत्त्वस्य तद्धेतुत्वमुद्भूतरूपस्य च तद्धेतुतावच्छेदकत्वमङ्गीकर्तव्यमिति।

तन्निराकुरुते- नेति। तत्र = पाकेन श्यामनाशरक्तोत्पादस्थले। रूपनाशक्षणे = घटीयश्यामरूपनाशसमये, एव चाक्षुष = घटविषयकचाक्षुषप्रत्यक्ष। एवकारफलमन्ययोगव्यवच्छेद दर्शयति - न त्विति। तदुत्तरोपजायमानरूपोत्तरमिति घटीयश्यामरूपनाशक्षणोत्तरजायमानरक्तरूपानन्तरक्षणे इति अस्य = दर्शितविचारस्य बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य। कोशपानप्रत्यायनीयत्वात् = शपथमात्रनिर्णेयत्वात्, प्रमाणाऽप्रत्येतव्यत्वादित्यर्थः। अर्थात् परेण श्यामनाशक्षणे घटचाक्षुषप्रत्ययोत्पाद उपगम्यते तदेव सम्यक् रक्तोत्पादानन्तर तु नेत्यत्र प्रमाणाभावेन रक्तोत्पादानन्तर घटचाक्षुषोदयाङ्गीकृत्योद्भूतरूपस्य हेतुत्वाङ्गीकरण निराबाधमित्याशयः।

नन्वेवमपि घटीयश्यामरूपनाशक्षणे घटचाक्षुषोदयोपगमे बाधकाप्रदर्शनेन दुरुद्धरो विकटप्रकटकोपाटोपप्रकम्पमानो विनिगमनाविरह इति परेणाऽऽशङ्किते नैयायिको वदति अथेति। पृथगेवेति। स्वातन्त्र्येणैव न त्वेकविशिष्टापररूपेणेत्यर्थः। स्वातन्त्र्येणाऽन्वयव्यतिरेकित्वाद् द्वयोरपि हेतुत्व, अन्यथा दण्डादेरपि चक्रावच्छेदकत्व स्यात्, घट प्रति दण्डादिविशिष्टचक्रस्य हेतुताभिधानस्याऽनिराकार्यत्वात्। एतेन विनिगमनाविरहः प्रत्युक्त महत्त्वस्योद्भूतरूपमुद्भूतरूपस्य च महत्त्वमवच्छेदकमित्यत्र विनिगमकाभावादुभयोरपि हेतुत्वात्। महत्त्वजन्यतावच्छेदक च जन्यद्रव्यसाक्षात्कारत्वमेवेति। जन्येति साक्षात्कारविशेषण न तु द्रव्यस्य आत्मादिनित्यद्रव्यविषयकप्रत्यक्ष प्रत्यतिरिक्तकारणत्वकल्पनप्रसङ्गेन गौरवापत्तेः। पराभिमते परमाण्वादिविषयके ईश्वरप्रत्यक्षे जन्यत्वाभावेन कार्यताकोट्यनाक्रान्तत्वान्न व्यतिरेकव्यभिचारः। विषयविधया द्रव्याऽनिवेशे गुणादिविषयके जन्यसाक्षात्कारे व्यतिरेकव्यभिचारः स्यात्, विषयतासबधेन तदधिकरणे गुणादौ समवायेन महत्त्वविरहात्, गुणादीना निर्गुणत्वात्। परमाण्वादिविषयकानुमितिस्मृत्यादौ व्यतिरेकव्यभिचारवारणार्थमनुभवत्व ज्ञानत्व वा विहाय साक्षात्कारत्वोपादानम्। अत एवेति द्रव्यविषयकजन्यसाक्षात्कारत्वस्यैव महत्त्वकार्यतावच्छेदकत्वादेव। आत्मसाक्षात्कार एवेति। 'अह सुखी'त्यादिरात्मविषयकः साक्षात्कारः। एवकारोऽन्ययोगव्य च्छेदार्थः। आत्मनि महत्त्वे मानमिति। एतेनाऽऽत्मनोऽणुपरि- माणादिकल्पना प्रतिविहिता। द्रव्यचाक्षुषत्वमेवेति। वायुस्पार्शने व्यतिरेकव्यभिचारवारणाय साक्षात्कारत्वमनुपादाय चाक्षुषत्वमिति कथनम्। इद [१]नव्यनैयायिकमतेन ज्ञेयम्। मणिकारादिमते[२] तु वायोरप्रत्यक्षत्वाय तदुभयमपि बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षत्वे प्रयोजकमिति ध्येयम्।

स्याद्वादी समाधत्ते - तथापीति। तयोःपृथक्कारणत्वाऽभ्युपगमेऽपीति। चक्षुर्गोलकपरिकलिताञ्जनाद्यनुपलब्धिरिति। चक्षुर्गोलकातिरिक्तनयनगतश्चेति-

● रमणीया ●

द्रव्यचाक्षुष का कारणतावच्छेदक मानना ही न्याय्य है।

समाधान :- न, तत्र रूप० इति। नही, जनाब! यह बात ठीक नही है, क्योकि घटचाक्षुष श्यामरूपनाशक्षण मे ही होता है, न कि श्यामरूपनाश की अनन्तर क्षण मे उत्पन्न रक्तरूप की अनन्तर क्षण मे-यह आपकी बात प्रमाणप्रतीत न होने से अग्राह्य है। नूतन रक्त रूप की उत्पत्ति के पूर्व क्षण मे, जो कि श्यामरूपनाशाधिकरण क्षणस्वरूप है, ही घट का चाक्षुष होता है - यह बात प्रमाणसिद्ध हो तब द्रव्यचाक्षुष के प्रति उत्कट रूप की अहेतुता (कारणतावच्छेदकता) सिद्ध होती। मगर श्यामरूपनाश क्षण मे ही घटचाक्षुष मानना-इसमे कोई प्रमाण न होने से उत्कट रूप की हेतुता का अपलाप करना ठीक नहीं है। अत पुन विनिगमनाविरह उपस्थित होता है।

नैयायिक :- अथ महत्त्व० इति। उद्भूत रूप को महत्त्वनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक माना जाय - इस विषय मे कोई भी स्वपक्षसाधक या विपक्षबाधक तर्क न होने से महत्त्व और उद्भूत रूप, इन दोनो को कारण माना जाय यही ठीक है। दोनो मे स्वतत्रतया कारणता के स्वीकार से विनिगमवाविरह दोष अनुपस्थित है। महत्त्व का कार्यतावच्छेदक द्रव्यविषयक जन्यसाक्षात्कारत्व है अर्थात् द्रव्यविषयक जो प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है उसका कारण विषयनिष्ठ महत्त्व यानी महत् परिमाण है। महत्त्वनिष्ठकारणता निरूपित कार्यता का अवच्छेदक जन्यत्वे सति द्रव्यविषयकप्रत्यक्षत्व होने के सबब आत्मा मे महत्त्व (महत् परिमाण) की सिद्धि मे 'अह सुखी, अह दुःखी' इत्यादि आत्मविषयक मानवप्रत्यक्ष सहायक है। आत्मा के मानवप्रत्यक्ष मे द्रव्यविषयक प्रत्यक्षत्व होने से महत्त्व (महत् परिमाण) की सिद्धि होती है। तथा उद्भूतरूप का जन्यतावच्छेदक द्रव्यचाक्षुषत्व है और द्रव्यविषयक चाक्षुष का कारण विषयगत उद्भूतरूप है। जिसमे उत्कट रूप होता नहीं है उस द्रव्य का चाक्षुष होता नहीं है, जैसे गगन का चाक्षुष। प्रस्तुत कार्य-कारणभाव का स्वीकार करने पर किसी दोष का अनिष्ट प्रसग आता नहीं है।

स्याद्वादी :- तथापि चक्षु० इति। ठीक है, आपकी इस बात को मान्यता दी जाय। फिर भी चक्षुर्गोलकस्थित अञ्जन आदि

किमधीना ? 'योग्यताऽभावाधीने'नि चेत् ? तर्हि पाटच्चरविलुण्टिते वेश्मनि यामिकवृत्तान्तानुसरण, भित्त्याद्यन्तरितानुपलब्धेरपि योग्यत्वाभावेनैवोपपत्तौ चक्षुःप्राप्यकारित्वपथिकस्य दूरप्रोषितत्वात्।

स्यादेतत् भित्त्यादिव्यवहितार्थस्य न स्वरूपाऽयोग्यत्व, कालान्तरे तस्यैवोपलम्भदर्शनात् किन्तु भित्त्यादेश्चक्षुःप्राप्तिविघातकतया

★ जयलता ★

माकलितभागतः परेण नायनरश्मिविनिर्गमस्यानुपगमाद् गोलकेत्युक्तम्। आदिशब्देन पित्तादिद्रव्यग्रहणम्। किमधीनेति किंप्रयुक्तेति। नयनगोलकगताञ्जना-दौ समवायेन महत्त्वोद्भूतरूपयोः सत्त्वात् विषयतासम्बन्धेन तत्र चाक्षुषोत्पादस्य न्यायप्राप्तस्य प्रतिबन्धकादि परेण वक्तव्यमित्याशयः स्याद्वादिनः।

नैयायिक आह योग्यताऽभावाधीनेति तदनुपलब्धिः तद्योग्यत्वाभावप्रयुक्तेति। योग्यता चाऽत्रातिसामीप्यविरहः तदभावान्न तत्साक्षात्कारः। तदुक्त साख्यकारिकायामीश्वरकृष्णेन - 'अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥'' (सा का ७) इति।

स्याद्वादी प्रतिविधत्ते-तर्हीति। पाटच्चरेति। यथा पाटच्चरैः=तस्करैः विलुण्टिते वेश्मनि = गृहे यामिकस्य = आरक्षकस्य जागरण निरर्थक धनादिरक्षणरूपप्रयोजनविरहात् तथा प्रकृतेऽपि नेत्रगोलकगताञ्जनाद्यनुपलब्धेरतिसामीप्यरूपेण योग्यत्वाभावेनोपपादने नैयायिकेन कृते सति तस्यैव कुड्याद्यन्तरितार्थजाताऽग्रहोपपादनकृते लोचनप्राप्यकारितासाधनप्रयास आयासमात्रमिति तात्पर्यम्। तदेवाह भित्त्यादीति। योग्यत्वाभावेनैवेति अव्यवधानरूपस्य योग्यत्वस्याऽभावेनैव, एवकारेण नयनप्राप्यकारित्व व्यवच्छिद्यते। सर्वतो बलीयस्या अन्यथानुपपत्तेरन्यथैवोपपादनात् न तत्सिद्धिरित्याशयः।

पुनरपि नैयायिकः शङ्कते - स्यादेतदिति। न स्वरूपाऽयोग्यत्वमिति न चाक्षुषप्रत्यक्षनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वराहित्यमित्यर्थः। अत्रैव हेतुमाह कालान्तरे = कुड्याद्यनन्तरितदशाया तस्यैव = पूर्वं भित्त्यादिव्यवहितवस्तुजातस्यैव उपलम्भदर्शनात् = चाक्षुषप्रत्ययोदयोपलम्भात्। ननु तर्हि किमिति व्यवधानकाले न तत्प्रत्यक्षमित्याशङ्कायामाह किन्त्विति निषेधपूर्वं विशेषद्योतनार्थः। भित्त्यादे चक्षु प्राप्तिविघातकया =

● रमणीया ●

द्रव्य की चाक्षुष प्रतीति क्यो होती नही है? इस समस्या का समाधान आपको देना होगा, क्योकि चक्षुगोलकनिष्ठ अञ्जन आदि मे महत्त्व ओर उद्भूत रूप विद्यमान होने से उसका चाक्षुष होना न्यायप्राप्त हे।

नैयायिक :- योग्य॰ इति। चक्षुगोलकस्थ अञ्जन आदि मे महत्त्व, उद्भूत रूप ओर चक्षुसन्निकर्ष के होते हुए भी वह चाक्षुष प्रतीति का विषय इसलिए होता नही है कि उसमे योग्यता नही है। जैसे अत्यत दूरस्थ वस्तु चाक्षुष प्रत्यय के अयोग्य होती है वेसे ही अत्यत निकटस्थ वस्तु भी चाक्षुष के अयोग्य होती है। अञ्जनादि अतिसमीप होने से चक्षुजन्य प्रतीति का अगोचर है।

स्याद्वादी :- तर्हि पाट॰ इति। वाह! जनाव! चोरी कर के चोर चला जाय वाद मे आप घर की हिफाजत करते है। इसका कारण यह हे कि चक्षुगोलकस्थ अजनादि के अचाक्षुष की उपपत्ति भी योग्यत्व के अभाव से की जाती है ठीक वैसे ही भित्ति आदि से व्यवहित विषय के अचाक्षुष की उपपत्ति भी योग्यत्व के अभाव से हो सकती है। चाक्षुष प्रतीति की योग्यता मे जैसे अतिनैकट्य के अभाव का निवेश होता है वैसे व्यवधान के अभाव का भी समावेश होता है। भित्ति आदि से व्यवहित पदार्थ मे चाक्षुषयोग्यता न होने की वजह उसके अचाक्षुष की सगति हो जाय तव नयनप्राप्यकारित्व की सिद्धि कैसे होगी? यदि व्यवहितविषय के अचाक्षुष की अन्यथा उपपत्ति न हो सके तव तो चक्षु मे स्वसवद्ध अर्थग्राहकता की सिद्धि हो सकती। मगर अतिनिकट पदार्थ की भाँति व्यवहित पदार्थ की अयोग्यता से उसके अचाक्षुष की उपपत्ति हो सकती है। अत उसकी उपपत्ति के लिए नयनप्राप्यिकारित्व पथिक की आवश्यकता नही है। योग्यत्वाभाव ही चक्षु प्राप्यकारीत्व पथिक को परदेश मे भगा देगा।

नैयायिक :- स्यादेतत् इति। दिवार आदि से व्यवहित विषय के अचाक्षुष की उपपत्ति के लिए व्यवहित पदार्थ मे अयोग्यत्व को हेतु वताना ठीक नही है, चूँकि जो स्वरूपत अयोग्य होता है वह कदापि कार्य का जनक नही हो सकता हे। अग्नि मे शैत्यजनकत्व की योग्यता नही है तो वह कदापि शैत्य का जनक नही हो सकता है। वेसे व्यवहित पदार्थ को चाक्षुष के स्वरूपायोग्य मानने पर दिवारादि व्यवधान के विरहकाल मे भी उसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा। मगर ऐसा होता नही है। अव्यवधान काल मे उसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, जो पूर्व मे व्यवहित था। चाक्षुषप्रत्यक्ष के स्वरूपायोग्य मानने पर गधादि की भाँति व्यवहित पदार्थ का किसी काल मे चाक्षुष न होने की अनिष्ट आपत्ति से यह मानना आवश्यक है कि-नेत्रगोलक से वस्तुअभिमुख निर्गत रश्मि का विघातक होने से दिवार आदि चाक्षुष की प्रतिवन्धक होती हे। यदि दिवार को व्यवहितपदार्थविषयक चाक्षुष का प्रतिवन्धक मानी जाय तव व्यवधानकालीन अचाक्षुष और अव्यवधानकालीन चाक्षुष की उपपत्ति हो सकती है। प्रतिवन्धक की विद्यमानता मे कार्य का न होना अेर प्रतिवन्धक की अविद्यमानता मे कार्य का होना न्यायप्राप्त है। कुड्यादि को चक्षुरश्मिसयोगविघातकविधया चाक्षुषप्रतिवन्धक मानने पर चक्षुप्राप्यकारित्व की सिद्धि अनायास हो जाती है। चक्षुअप्राप्यकारित्व पक्ष मे व्यवहित पदार्थ के अचाक्षुष की उपपत्ति कथमपि मुमकिन नही है, क्योकि उस पक्ष मे दिवार आदि को चक्षुरश्मिसयोग का विघातक मानना असभव है। यदि चक्षुरश्मिसयोग प्रसक्त हो तव उसका विघात करनेवाले की कल्पना सगत होती, मगर चक्षुअप्राप्यकारिपक्ष मे चक्षुरश्मिसयोग चाक्षुष पदार्थ के साथ

विरोधित्वादेव न तदन्तरितार्थग्रहणमिति। मैवम्, भित्त्यादिव्यवहितस्याऽपि योगिना चाक्षुषा ग्रहात्, सूक्ष्मव्यवहितार्थज्ञाने ज्ञानावरणकर्मविपाकोदयविशेष एव हि प्रतिबन्धकः वाच्यः, तदभाव एव च योग्यता आत्मनिष्ठा सूक्ष्मव्यवहितार्थज्ञानजननीति

★ जयलता ★

नेत्रगोलकबहिर्निर्गतरश्मिपुञ्जगतिप्रतिबन्धकतया विरोधित्वादेवेति। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः, स च रुन्द्रतो दर्शितः प्रकरणकृता। न तदन्तरितार्थग्रहणम् = न भित्त्यादिव्यवहितविषयज्ञानम्। परस्याऽयमाशयः यथा चन्द्रकान्तमणिसमवधानदशायां वह्नेः न दाहकत्वस्वरूपायोग्यत्वं, तदसमवधाने तस्यैव दाहकत्वसम्भवात् परन्तु चन्द्रकान्तमणेः दाहप्रतिबन्धकत्वात्र तत्सत्त्वे दाहदर्शनं, प्रतिबन्धकाभावस्यापि सामग्रीघटकत्वात् तथैव प्रकृते द्रव्यचाक्षुषं प्रति कुड्यादेः प्रतिबन्धकत्वेन न तत्र तदन्तरितार्थचाक्षुषप्रत्ययसम्भवः, प्रतिबन्धकाभावस्याऽपि तत्कारणत्वात्। तदुक्तमुदयनेन न्यायकुसुमाञ्जलौ 'प्रतिबन्धो विसामग्री' (न्या कु) इति। एतेन भित्त्याद्यन्तरितानुपलब्धेरपि योग्यप्राप्यकारित्वसाधकत्वं भित्त्यादेः प्रतिबन्धकत्वेनैव तदचाक्षुषोपपत्तौ योग्यत्वाभावाधीनात्म- लाभस्य चक्षुरप्राप्यकारित्वपक्षेऽप्येव सुप्रोपितत्वादिति फक्किकार्थः।

प्रकृतेऽयोग्यत्वं न ग्राह्यस्यापि तु ग्राहकस्येत्याशयेन स्याद्वादी तन्निराकरोति - मैवमिति। योगिना चक्षुषा ग्रहादिति। अयं भावः चन्द्रकान्तमणिसमवधाने सति वह्नेः न किञ्चित् प्रति दाहकत्वं किन्त्वग्नि चाऽदाहकत्वं किन्तु सर्वं प्रत्यदाहकत्वं तथैव यदि प्रकृते भित्त्यादे तदन्तरितार्थचाक्षुषप्रतिबन्धकत्वं स्यात् तदाऽविशेषात् सर्वेषां तदचाक्षुषं प्रसज्येत। किन्तु नैवमस्ति। परोभिमतप्रतिबन्धकसत्त्वदशायामपि व्यवहितार्थविषयकयोगिचाक्षुषोदयस्य सत्त्वात्, अन्यथा योगित्वहानिप्रसङ्गात्। अतो व्यवहितार्थचाक्षुषं प्रति भित्त्यादेर्न प्रतिबन्धकत्वं वक्तुमर्हति। अतः प्रतिबन्धकत्वकल्पनेन नेत्राप्राप्यकारित्वसाधनप्रयासः नानाकरणपाटवशालिरम्यकमनीयरमणीसन्निन्दाप्रोद्धतपडरूपरिम्भारम्भेण पुत्ररत्नप्राप्तिमनोरथवदाऽऽभाति।

ननु व्यवहितार्थस्य चाक्षुषं योगिना भवति न त्वस्मादृशामित्यत्र किं कारणमित्यत आह - सूक्ष्मव्यवहितार्थज्ञाने इति। इदं चोपलक्षणमतिदूरसमीपाभिभूतार्थानाम्। ज्ञानावरणकर्मविपाकोदयविशेष एव हि प्रतिबन्धकः इति। ज्ञानोत्पादं प्रति ज्ञानावरणविलयस्य प्रयोजकत्वात् कर्मेत्यनुक्त्वा ज्ञानावरणेति विशेषणोपादानम्। तत्सत्त्वेऽपि ज्ञानोदयदर्शनात् 'उदये'त्युक्तम्। तदीयप्रदेशोदयस्याकिञ्चित्करत्वात् 'विपाकोदये'त्युक्तम्। ज्ञानावरणविपाकोदयवतोऽपि योगिविशेषस्य सूक्ष्मार्थज्ञानसम्भवात् 'तादृशोदयविशेष' इत्युपादानम्। एवकारेण कुड्यादिबाह्यवस्तुन्नोमस्य व्यवच्छेदः कृतः, 'बहिरङ्गादन्तरङ्गं बलवदि'ति न्यायात् दर्शिताऽन्तरङ्गेणैव तदुपक्षयात् कुड्यादीनां दर्शितोदयविशेषाऽऽधानेनैव चरितार्थत्वात्। उपचारादस्तु कुड्यादीनां प्रतिबन्धकत्वं न तु वास्तवम्, इन्द्रियाणां प्रमाणत्वव्यपदेशवत्। कुड्यादीनामौपचारिकं प्रतिबन्धकत्वं ज्ञानावरणकर्मशक्तिविशेषोद्बोधकत्वरूपं, एतेन भित्त्यादेः नयनरश्मिप्राप्तिविघातकतया प्रतिबन्धकत्वकल्पना प्रत्युक्ता। ज्ञानावरणविपाकोदयविशेषस्य मुख्यं प्रतिबन्धकत्वं च तत्कारणीभूताऽभावप्रतियोगित्वरूपं तदनुकूलशक्तिविघटकत्वं वेति नानुपपत्तिः।

ननु भवद्भिः पूर्वं 'भित्त्याद्यन्तरितानुपलब्धेरपि योग्यत्वाभावेनैवोपपत्तौ' (दृश्यतां पृ ५५) इत्युक्तं साम्प्रतञ्च तत्प्रतिबन्धकत्वेन व्यवहिताचाक्षुषमुपपाद्यत इति कथं न प्रतिज्ञाहान्यादयो दोषाः प्रसज्येरन्नित्याशङ्कायामाह तदभाव एव = ज्ञानावरणविपाकोदयविशेषाभाव एव सूक्ष्मव्यवहितार्थज्ञानसामान्यं प्रति योग्यता। एवकारेण महत्त्वोद्भूतरूपाऽनतिदूरत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः तदभावश्च क्वचित् क्षयोपशमरूपः क्वचिच्च क्षयात्मकः। आत्मनिष्ठेति। अनेन नेत्र विषयनिरूपितवृत्तित्वस्य व्यवच्छेदः कृतः। सूक्ष्मव्यवहितार्थज्ञानजननीति। उपलक्षणात् अतिसमीपदूराभिभूतादेर्ग्रहणम्। अयमाशयः वास्तविकप्रतिबन्धकत्वस्य ज्ञानावरणविपाकोदयविशेषनिष्ठत्वेऽपि तदावहत्वेन कुड्यादीनामस्मदीयज्ञानप्रतिबन्धकत्वमुपचर्यते। तेषां योगिज्ञानावरणविपाकोदयविशेषानावहत्वेन न योगिज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति व्यवधानकाले व्यवहितं नास्माभिर्गृह्यतेऽपि तु योगिभिः। कदाचिच्चाञ्जनविशेषादिसंस्कृतनेत्रेणाऽयोगिनाऽपि। अत एव साम्प्रतमाधुनिकयन्त्रादिसहायेनाऽस्थिस्वर्णादिर्व्यवहितस्याऽयोगिना ग्रहणेऽपि न क्षतिः।

● रमणीया ●

मान्य होता नहीं है। अतः व्यवहित पदार्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने की आपत्ति नेत्राप्राप्यकारित्वपक्ष मे वज्रलेप होती है। इसी सबब नेत्र मे स्वसम्बद्धार्थग्राहकत्व मानना अनिवार्य है।

स्याद्वादी :- मैव० भि० इति। दिवार आदि व्यवधायक पदार्थ को व्यवहितार्थविषयक चाक्षुष का प्रतिबन्धक मानना नामुनासिब है। इसका कारण यह है कि दिवार आदि से व्यवहित पदार्थ का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष योगी को होता है। यदि दिवार चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक होती तब तो जैसे दिवार से व्यवहित पदार्थ का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है ठीक वैसे ही उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष योगी को भी होना नहीं चाहिए। मगर योगी को दिवार आदि से व्यवहित पदार्थ प्रत्यक्ष तो होता ही है। अतः यहाँ दिवार आदि को प्रतिबन्धक न मान कर ज्ञानावरण कर्म के विशेष विपाकोदय (=रसोदय) को ही व्यवहितपदार्थविषयक चाक्षुष का प्रतिबन्धक मानना जरूरी है। दिवार आदि पदार्थ तो ज्ञानावरणकर्म के विपाकोदय (=रसोदय) को ला कर चरितार्थ हो जाते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म

गीयते । ननु स्फटिकाद्यन्तरितोपलब्धौ तादृशयोग्यताभावाद् व्यभिचारः इति चेत्? न, स्फटिकाद्यन्तरितोपयोगस्योत्तेजकत्वात्

★ जयलता ★

नैयायिकः शङ्कते -नन्विति। स्फटिकाद्यन्तरितोपलब्धौ = स्फटिकादिपारदर्शकव्यवधायकव्यवहितविषयकचाक्षुषप्रत्यक्षे, तादृशयोग्यताऽभावात् = अस्मदीयचाक्षुषप्रत्यक्षकृते अपेक्षितायाः ज्ञानावरणविपाकोदयविशेषाऽऽवाहकस्य व्यवधायकस्य गृहीतौपचारिकप्रतिबन्धकत्वस्याऽभावरूपाया योग्यताया विरहात्, व्यभिचार = व्यतिरेकव्यभिचारः सामग्रन्तर्भूतस्य प्रतिबन्धकाभावस्य विरहदशायामपि व्यवहितविषयकचाक्षुषोदयात्। व्यतिरेकव्यभिचाराच्चक्षुषोऽप्राप्यकारित्व न सङ्गतिमङ्गति। तत्प्राप्यकारिपक्षे तु स्फटिकादिक निर्भिद्य विषयदेश यावद् नायनरश्मीना गमनात्तचाक्षुष सुघटाकोटिमाटीकत इति नैयायिकाशयः।

स्याद्वादी तन्निराचष्टे-नेति। स्फटिकाद्यन्तरितोपयोगस्य = स्फटिक-काच-मण्यादिपारदर्शकव्यवधायकव्यवहितविषयविषयकस्योपयोगस्य, उत्तेजकत्वात् = प्रतिबन्धकगतशक्तिविघटकत्वात्। उत्तेजकत्व प्रतिबन्धके विद्यमाने सति कार्यजनकत्वमिति केचित्। प्रतिबन्धककोटिप्रविष्टाभावप्रतियोगित्व मुत्तेजकत्वमित्यन्ये। तच्च कारणीभूताभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूताऽभावप्रतियोगित्वमित्यपरे। कारणाभावातिरिक्तकार्याभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्वमि तीतरे। शक्त्यनुकूलत्व तदित्यपि कश्चित्। प्रतिबन्धके सत्यप्युत्तेजकसत्त्वदशाया कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारपिशाचपदसचारस्य दूरोत्सारितत्वात्, उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभावस्यैव कारणत्वात्। एतेन नायनरश्मिनिर्गम-स्फटिकादिभेदन-विषयदेशप्रापणादिगुरुतरकल्पना प्रत्युक्ता।

● रमणीया ●

के विपाकोदय विशेष का अभाव, जो आत्मा मे रहता है, ही सूक्ष्म और व्यवहितपदार्थविषयक ज्ञान का जनक योग्यत्व कहा जाता है। आप दिवार आदि को ज्ञानावरणीय कर्म के विपाकोदय को लाने से उपचारत प्रतिबन्धक कह सकते है। मगर वह भी योगिभिन्न व्यक्ति की अपेक्षा से, न कि योगी की अपेक्षा से भी। अत दिवार आदि की विद्यमानता मे दिवार आदि से व्यवहित पदार्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष हमे होता नही है, योगी को होता है।

शका :- ननु स्फ० इति। ज्ञानावरणीय कर्म के विपाकोदयविशेष को चाक्षुष प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक मानना तथा भित्त्यादि को हमारे ज्ञानावरणरसोदय विशेष का सपादक मानना ओर ज्ञानावरणविपाकोदय विशेष के अभाव को योग्यतारूप मानना-यह ठीक नही हे। इसका कारण यह है कि स्फटिक आदि व्यवधायक की विद्यमानता होने पर भी उससे व्यवहित पदार्थ का हमे चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। यह एक अटल नियम है कि कारण की अविद्यमानता मे कार्य की उत्पत्ति होती नही है। अगर विवक्षित कारण के विना भी विवक्षित कार्य उत्पन्न हो जाए तब विवक्षित उत्पन्न कार्य का वह कारण ही नही कहा जा सकता। प्रस्तुत मे हमारे चाक्षुष ज्ञान के प्रतिबन्धक की, जो यहाँ व्यवधायक स्फटिक आदि पारदर्शक द्रव्यस्वरूप विवक्षित है, विद्यमानता होते हुए उसके अभावरूप कारण की, जो हमारे ज्ञान के लिए योग्यताशब्दवाच्यरूप से अभिमत है, उपस्थिति नामुमकिन है। फिर भी उस काल मे स्फटिक आदि से व्यवहित विषयो की चाक्षुष प्रतीति हमे होती है। इसे व्यतिरेक व्यभिचार भी कहते है, जो कार्य-कारणभाव के निश्चय का प्रतिबन्धक हे। अत प्रतिबन्धकाभावस्वरूप उक्त योग्यता को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानना सगत नही है।

समाधान :- न० स्फ० इति। अजी, हजरत! हमारी पूरी बात सुने विना ही आप अपना लम्बा-चौडा लेक्चर देने लगते हे। जेसे हमारे चाक्षुष के लिए व्यवधायक द्रव्य प्रतिबधक हे, ठीक वैसे ही स्फटिक आदि से व्यवहित विषय का उपयोग उत्तेजक हे। सिर्फ प्रतिबन्धकाभाव कार्य का कारण होता नही है, किन्तु उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धक का अभाव ही कार्य का कारण होता है। अर्थात् हमारे चाक्षुष ज्ञान मे स्फटिक आदि पारदर्शक द्रव्य से व्यवहित विषय के उपयोग के अभाव से विशिष्ट ऐसे व्यवधायक द्रव्य का, जो योगिभिन्न व्यक्ति के चाक्षुष का प्रतिबन्धक होता है, अभाव ही उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबधक के अभावरूप होने से कारण है। प्रस्तुत मे स्फटिक आदि से व्यवहित पदार्थ का चाक्षुष हो सकता है, क्योकि यहाँ व्यवधायक स्फटिक आदि स्वरूप प्रतिबधक के होते हुए उत्तेजकाभाव से विशिष्ट प्रतिबधक नही है। स्फटिक आदि से व्यवहित विषय के उपयोगात्मक उत्तेजक की उपस्थिति मे उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धक के अभाव का होना प्रामाणिक है, जो चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण हे। इस तरह विशेषण (उत्तेजकाभाव) के अभाव से प्रयुक्त विशिष्टाभावस्वरूप कारण से कार्य की उत्पत्ति होने पर व्यतिरेक व्यभिचार की बाँग पुकारना-यह सिर्फ अपनी अज्ञता का सूचक है। अत उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभावरूप योग्यता को हमारे चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानना न्यायसगत है।

जिज्ञासा :- आप स्फटिक आदि व्यवहित पदार्थ विषयक उपयोग को उत्तेजक कहते है, मगर उपयोग किस चिडिया का नाम हे और व्यवहितत्व की शक्ल कैसी है? इस विषय मे तो कुछ भी प्रकाश ही डाला नही है। कृपया इसका समाधान दीजिये।

उपलब्धिश्चोपलिप्सोराभोगकरणमिति विशेषावश्यकवृत्तौ। व्यवहितत्वञ्च स्वाभिमुखपराङ्मुखाभिमुखत्वादिकम्। अस्तु वा विशिष्यैव प्रतिवध्यप्रतिबन्धकभावस्तथापि परेषामनन्तचक्षुःसंयोगेषु तत्तद्देशानां तत्तत्क्रियाणाञ्च कारणत्वकल्पनाऽपेक्षया लाघवमेव।

★ जयलता ★

प्रसङ्गादुपयोगादिस्वरूपं दर्शयति-उपयोगश्चेति। लक्ष्यनिर्देशोऽयम्। तल्लक्षणं निर्दिशति-उपलिप्सो = उपलब्धेच्छो' विषयबुभुत्सोरिति यावत्। ततश्च प्रकृते जिज्ञासोस्स्फटिकादिव्यवहितपदार्थजातविषयकाभोगकरणस्योत्तेजकत्वमिति फलितम्। श्रीवादिदेवसूरयस्तु 'अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः' तन्निमित्त आत्मव्यापारपरिणामविशेषः उपयोगः' (स्या. २ /६-पृ ४९) इति स्याद्वादरत्नाकरे व्याचक्रुः।

घटकाज्ञाने घटितज्ञानस्याऽसम्भवात् साम्प्रतमुत्तेजकघटकं दर्शयति-व्यवहितत्वञ्चेति। स्वाभिमुखपराङ्मुखाभिमुखत्वादिकमिति। स्वपदेन पुरुषस्य ग्रहणम्। स्वाभिमुखं च भित्त्यादिकम्। तस्य पराङ्मुखं' = परवर्ती भागः। तदभिमुखञ्च भित्त्यादिपरभागवर्तिवस्तुजातम्। तत्रैव स्वाभिमुखपराङ्मुखाभिमुखत्वं वर्तते। भित्त्यादेरेकस्मिन्नेव भागे ग्राह्यग्राहकयोः सत्त्वदशायां विषये व्यवहितत्वापत्तिवारणार्थं पराङ्मुखेत्युपादानम्। द्वितीयाभिमुखस्थाने पराङ्मुखेत्युक्तौ स एव दोषप्रसङ्ग इति द्वितीयाभिमुखपदनिवेशः। ततश्च ग्राह्यग्राहकयोर्मध्ये व्यवधायकसत्त्वदशायां तद्ग्राहकापेक्षया तद्ग्राह्ये प्रदर्शितं व्यवहितत्वं सम्भवतीति भावः। आदिपदेन स्वाभिमुखपराङ्मुखत्वं भित्त्यादिपरभागवृत्ति स्वपराङ्मुखपराङ्मुखाभिमुखत्वं च ग्राहकपृष्ठभागवर्तिभित्त्यादिपरभागवर्तिवस्तुनिष्ठं गृह्येते। एवञ्च स्फटिकाद्यभिमुखपुरुषपराङ्मुखपरवर्तिभागाभिमुखवस्तुविषयकाभोगक्रियाऽभावविशिष्टव्यवधायकाभावस्य चाक्षुषहेतुत्वमिति फलितम्।

ननु ज्ञानावरणविपाकोदयविशेषस्यातीन्द्रियत्वेन तत्र प्रतिबन्धकत्वज्ञानस्य प्रवृत्त्यनौपयिकत्वात् योगिचाक्षुषे व्यभिचारेण कुड्यादीनां च प्रतिबन्धकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्कथं प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावनिश्चयो येन प्रकृतकार्यकारणभावग्रहः स्यादिति यदि परो ब्रूयात् तन्मनसिकृत्य कल्पान्तरमाह - अस्तु वेति। विशिष्येति। योगिभिन्नग्राहकनिष्ठचाक्षुषं प्रति कुड्यादीनां प्रतिबन्धकत्वमिति। यद्वेत्थमवतरणिका कार्या-ननु व्यवहितचाक्षुषे इव परमाण्वादिचाक्षुषे न सदृशःप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावो वक्तुं युज्यते, प्रतिबन्धकाननुगमादित्याशङ्कायामाह अस्तु वेति। विशिष्येति। अत्रनादिविषयकाऽस्मदीयचाक्षुषं प्रति अतिसामीप्यस्य प्रतिबन्धकत्वं मेर्वादिविषयकास्मदीयचाक्षुषं प्रति अतिदूरत्वस्य प्रतिबन्धकत्वं व्यवहितविषयकास्मदी- यचाक्षुषं प्रति पारदर्शकव्यवहितार्थविषयकोपयोगाभावविशिष्टव्यवधायकस्य प्रतिबन्धकत्वं, परमाण्वादिगोचरकास्मदीयचाक्षुषं प्रति सङ्घातविशेषाभावविशिष्ट- सूक्ष्मत्वस्य प्रतिबन्धकत्वं, मध्याह्नादिकालीनतारकादिविषयकास्मदीयचाक्षुषं प्रति समभिभूतत्वस्य प्रतिबन्धकत्वं दुग्धादावस्मदीयजलाद्यचाक्षुषं प्रति समानाभिहारस्य प्रतिबन्धकत्वमित्यादि तृणारणिमणिन्यायेनाऽवगन्तव्यम्।

नन्वेवं प्रतिबन्धकाननुगमेन प्रतिबन्धकाभावकारणताबाहुल्यं स्यात्। तदपेक्षया चक्षुषः प्राप्यकारित्वमेवाऽस्त्वित्याशङ्कायामाह तथापि । अभ्युपगमपूर्वं विशेषद्योतनायेदमुक्तम्। तदेव व्याचष्टे परेषां = नैयायिकादीनां चक्षुःप्राप्यकारित्ववादिनाम्। अनन्तचक्षुःसंयोगेष्विति। कारणत्वकल्पनेत्यत्राऽन्यत्र चानुषज्यते। यद्यपि नेत्राप्राप्यकारित्वमतेऽनन्तनयनेषु कारणत्वकल्पनमावश्यकमेव तथापि तत्प्राप्यकारित्वमते एकस्याऽपि चक्षुषो विषयाऽऽनन्त्येन कल्पनीयानां तत्संयोगानामानन्त्यादक्लृप्तानन्तविषयचक्षुःसंयोगेषु अपि कारणत्वकल्पनेन कारणताऽऽधिक्यं सुस्पष्टमेव।

एवञ्च चक्षुःप्राप्यकारित्वपक्षे चाक्षुषप्रत्यक्षकारणकारणकल्पनागौरवमप्यनिवार्यमिति दर्शयति तत्तद्देशानामिति विषयतापन्नानामिति गम्यम्। संयोगस्य द्विष्ठतया चाक्षुषविषयतापन्नदेशानां तत्तच्चक्षुःसंयोगाधिकरणत्वेन तत्तद्देशेषु तत्तच्चक्षुःसंयोगनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताकल्पनमावश्यकम्, अन्यथा तत्तच्चक्षुःसंयोगेषु प्रतिनियतविषयकत्वस्याऽनुपपत्तेः। अधिकरणविधया घटं प्रति चक्रवत् तत्तद्देशेषु चक्षुःसंयोगकारणतायाः कल्पनमावश्यकमेवेति

● रमणीया ●

● उपयोग और व्यवधान का स्वरूप ●

समाधान :- उपयोग० इति। वत्स! आपकी जिज्ञासा ठीक है। सुनो इसका समाधान। विशेषावश्यक महाभाष्य की टीका में कहा है कि 'जिज्ञासु की आभोग क्रिया ही उपयोगरूप है'। जैसे 'वह कौन है?' ऐसी जिज्ञासा वाले पुरुष की जो जानने की प्रवृत्ति है उसे उपयोग कहते है। इस तरह व्यवहितत्व का अर्थ है स्व = ग्राहक पुरुष, उसके अभिमुख = समुख भित्ति आदि के पराङ्मुख ऐसे भित्त्यादि के पश्चाद् भाग के अभिमुख होना। जैसे दिवार की पूर्व दिशा में पुरुष और दिवार की पश्चिम दिशा में घट आदि पदार्थ रहे हो तब उस पुरुष के लिए घट आदि पदार्थ व्यवहित कहे जाते है, क्योंकि वे पुरुष के अभिमुख ऐसी दिवार से विमुख ऐसे दिवार के पश्चिमदिशावर्ती भाग के अभिमुख हैं। इस तरह स्फटिक आदि व्यवहितपदार्थविषयक आभोगक्रिया के अभाव से विशिष्ट व्यवधायक के अभाव को सामान्यतः हमारे चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण माना जा सकता है। इसमें कोई दोष नहीं है।

● चाक्षुष प्रत्यक्ष में विशेष प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव ●

स्याद्वादी :- अस्तु वा विशि० इति। उपर्युक्त सामान्यतः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के स्वीकारपूर्वक सामान्यतः कार्य-कारणभाव चाक्षुषप्रत्यक्ष स्थल में माना जा सकता है-इस पक्ष को छोड कर यदि विशेषतः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के स्वीकारपूर्वक विशेषतः कार्यकारणभाव मान कर व्यवहित पदार्थ की अनुपलब्धि की उपपत्ति करे तो भी कोई हरकत नहीं है। आशय यह है कि - परमाणु आदि विषयक

यत्तु 'सयोगेन चक्षुष चाक्षुष प्रति हेतुत्वे प्रागुक्तकारणत्वकल्पनागोरव फलमुखत्वान्न दोपायेति, तन्न, सयोगादिप्रत्यासत्तीनाम-

★ जयलता ★

भावः। तथा चक्षुःसयोगेषु क्रियाजन्यत्वमप्यभ्युपगन्तव्य 'सयोगविभागयोरसाधारणो हेतुः क्रिया'। ( ) इतिवचनात्। ततश्च तत्तत्क्रियासु तत्तच्चक्षुःसयोगनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताकल्पनमप्यधिकमित्याशयेनाऽऽह - तत्तत्क्रियाणामिति। नयनप्राप्यकारित्वपक्षस्य तत्तत्सयोगनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावाहुल्यदुष्टदन्दशुकदष्टत्वात्तदप्राप्यकारित्वमेव श्रेय इत्याशयेनाऽऽह - कारणत्वकल्पनाऽपेक्षया लाघवमेवेति। चक्षुरप्राप्यकारित्वपक्षे इति गम्यम्। समवायेन चक्षुःसयोगस्य हेतुत्वकल्पनाऽपेक्षया योग्यतासम्वन्धेन चक्षुष एव तद्धेतुत्वकल्पने लाघव स्पष्टमेव।

ननु तथापि चक्षुरप्राप्यकारित्वपक्षेऽतिदूरत्वादिदोषाणामननुगतत्वेन प्रतिवन्धकाभावनिष्ठकारणतावाहुल्येन गौरवमपरिहार्यमेव प्रतियोगितावच्छेदकभेदेन भिन्नत्वादभावस्येति 'निदामि च पिवामि चेति' न्यायापात इति चेत्? नैवम् स्याद्वादिनये तत्तदोषाणामेकशक्तिमत्त्वेन हेतुतायाअनुगमेन गौरवविरहात्, त्वया चैव वक्तुमशक्यत्वात्, शक्तेरनुपगमादिति दिक्।

ननु प्राप्यकारित्वपक्षे न चक्षुःसयोगत्वेन चाक्षुष प्रति हेतुता स्वीक्रियते किंतु चक्षुष्ट्वेन। एतेन समवायसम्वन्धेन चक्षुःसयोगस्य चाक्षुषकारणत्वकल्पनमयुक्त, समवायस्याऽसिद्धेरित्यपास्तम्, सयोगसम्वन्धेन चक्षुषः तद्धेतुत्वोपगमादित्याशयवन्त मतमपाकर्तुमुत्थापयति-यत्त्विति। सयोगेनेति सयोगसम्वन्धेन। अनेन समवायस्य चाक्षुषकारणतावच्छेदकसम्वन्धत्व व्यवच्छिन्नम्। चाक्षुष प्रति = द्रव्यविपयकचाक्षुष प्रतीत्यर्थः। हेतुत्वे अभ्युपगम्यमाने इति शेषः। एतेन समवायेन चक्षुःसयोगस्य तद्धेतुत्वकल्पनापेक्षया योग्यतासम्वन्धेन चक्षुष एव तद्धेतुत्वकल्पने लाघवमिति प्रत्युक्तम् तुल्यत्वात्।

ननु तथापि प्राप्यकारित्वपक्षे तत्तद्देशादिषु तत्तच्चक्षुःसयोगहेतुत्वकल्पनागौरवस्याऽनिराकार्यत्वमेवेत्याशङ्कायामाह प्रागुक्तकारणत्वकल्पनागोरवमिति । अनतचक्षुःसयोगेषु तत्तद्देशाना तत्तत्क्रियाणाञ्च कारणत्वकल्पनागौरवमित्यर्थः । फलाभिमुखत्वान्न दोपायेति । कार्यकारणभावनिश्चयानन्तरमुपस्थित गोरव फलमुखमित्युच्यते । तच्च न दोपरूप प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिभ्या व्याघातात्, अन्यथाऽद्वैतवादसाम्राज्यापत्तेः । ततश्च प्रकृते व्यवहितार्थाऽचाक्षुपत्वान्यथानुपपत्तेः चक्षुःप्राप्यकारित्वसिद्धौ सयोगेन चक्षुषः द्रव्यविपयकचाक्षुपहेतुत्वाङ्गीकाराऽनन्तरमुपस्थितस्य प्रदर्शितगौरवस्य फलमुखत्वेन प्रामाणिकत्वान्न दोपात्मकत्वम् । प्रमाणसहकारेऽनन्तपदार्थोपगमस्याऽप्यभियुक्तानामभिमतत्वात् । तदुक्त तन्त्रवार्तिके'प्रमाणवन्ति कल्प्यान्यदृष्टानि सुवहून्यपि' ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे तन्न, युक्तमिति गम्यम् । सयोगादिप्रत्यासत्तीनामिति । आदिशब्देन रूप-रूपत्ववघटाभावादिचाक्षुष प्रति कल्पनीयाना

● रमणीया ●

चाक्षुष के प्रति अतिसूक्ष्मत्व प्रतिवन्धक है, मेरु पर्वत आदि विषयक चाक्षुष के प्रति अतिदूरत्व प्रतिवधक है, दिन मे ग्रह-नक्षत्र-ताराओ के चाक्षुष मे अभिभूतत्व प्रतिवन्धक है, व्यवहित पदार्थ के चाक्षुष मे पारदर्शकपदार्थव्यवहितविषयकोपयोगाभावविशिष्टव्यवधायक प्रतिवधक है। इस तरह चक्षुअप्राप्यकारित्वपक्ष मे अनेक प्रतिवध्य-प्रतिवन्धक मानने का गौरव उपस्थित होता है, मगर जव चक्षुप्राप्यकारित्वपक्ष का अवलोकन किया जाय तव वह लाघवरूप से ज्ञात होने से स्वीकर्तव्य है, चूँकि नैयायिक के मत मे अनत चक्षु सयोग की कल्पना, तथा अनत चक्षुसयोग के प्रति तत्तत् देश और तत् तत् क्रियाओ को कारण मान कर अनत देश ओर अनत क्रिया मे अनत चक्षु सयोगकारणत्व की कल्पना करनी पडती है। सयोग द्विष्ठ होने से तत् तत् विषयरूप देश उसका अधिकरणविधया हेतु होता हे और सयोग का असाधारण कारण क्रिया (=कर्म) होती है - यह तो नैयायिकमत मे प्रसिद्ध है। इस तरह चक्षुप्राप्यकारिपक्ष मे अनत कार्यकारणभाव की कल्पना करने की अपेक्षा प्राप्यकारित्व पक्ष मे कतिपय प्रतिवध्य-प्रतिवन्धकभाव की कल्पना करने से लाघव है। अत नेत्राऽप्राप्यकारित्व पक्ष ही ज्यादातर सगत हे, जो हमने गृहीत किया हे।

● अनत चक्षुसयोगकारणत्वकल्पना फलमुखगौरवरूप - नैयायिक ●

नैयायिक :- यत्तु स० इति। योग्यतासम्वन्ध से चक्षु को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानने की अपेक्षा सयोग सम्वन्ध से चक्षु को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानने मे लाघव है, क्योकि इसमे अतिरिक्त योग्यता की कल्पना अनावश्यक है। अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष सयोगसम्वन्धावच्छिन्नचक्षुष्ट्वधर्मावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावान् है न कि समवायसम्वन्धवच्छिन्न-चक्षु सयोगत्वधर्मावच्छिन्नकारणता- निरूपितकार्यतावान् या योग्यतासम्वन्धावच्छिन्न-चक्षुष्ट्वधर्मावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावान्। इस तरह लाघव तर्क से जव सयोग सम्वन्ध से चक्षु मे चाक्षुष प्रत्यक्ष की कारणता सिद्ध हो गई तव तो चक्षु मे प्राप्यकारित्व यानी स्वसम्वद्धार्थग्राहित्व की सिद्धि अनायास हो जायेगी। यहाँ यह शका करना कि ⟶ "चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर अतिरिक्त अनत चक्षु सयोग की कल्पना, उनके प्रति तत् तत् अनत देश और तत् तत् अनत क्रिया मे कारणत्व की कल्पना इत्यादि गौरव होने से चक्षु को सयोग सम्वन्ध से चाक्षुपप्रत्यक्षकारण मानने की अपेक्षा योग्यता सम्वन्ध से चाक्षुष का कारण मानने मे लाघव है" ⟵ नामुनासिव हे, क्योकि अनत चक्षुसयोग ओर उनके प्रति देश ओर क्रिया मे कारणता की कल्पना का गौरव फलमुख होने से दोपरूप नही है। फलमुख गौरव का अर्थ हे - कार्यकारणभावनिश्चिय के अनन्तर उपस्थित गोरव। प्रमाण से कार्य-कारणभाव का निश्चय होने के पश्चात् उपस्थित गोरव दोपरूप नही कहा जा सकता। जेसे दड, चक्र, चीवर, कुलाल, मिट्टी आदि मे घटकारणता का प्रामाणिक निश्चय होने के पश्चात् कोई

ननुगमेन ताभिस्तस्य चाक्षुष प्रत्यकारणत्वात्, सम्बन्धाननुगमस्याऽपि स्वघटितव्याप्तिघटितकारणताभेदकतया दोषत्वात्, कालिकेनैव

★ जयलता ★

सयुक्तसमवाय-सयुक्तसमवेतसमवाय-सयुक्तविशेषणता-सयुक्तसमवेतविशेषणता-सयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणताना ग्रहणम् । अननुगमेनेति एकत्वे सत्यनेकवृत्तित्वविरहेण, सयोगादीना प्रत्यधिकरणभिन्नत्वात् । ताभि दर्शितप्रत्यासत्तिभि', तस्य = चक्षुषः चाक्षुष प्रति अकारणत्वात् = कारणत्वाऽसभवादित्यर्थ' । अय भाव' चाक्षुषकारणताग्रहप्रवृत्तिसमये सयोगेन चक्षुषो हेतुत्वकल्पने प्रथममेव गौरवमुपतिष्ठते, नित्यद्रव्यप्रतियोगिकसयोगानुपगन्तुर्मते सयोगस्य जन्यद्रव्यवृत्तित्वे सति स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगिविभागाभिन्नगुणरूपत्वात् अन्येषा च मते द्रव्यवृत्तित्वे सति तादृशरूपत्वात् अनुयोगिप्रतियोग्यन्यतरद्रव्यभेदे सयोगस्य भिन्नत्वात् । कारणताग्रहसमये उपस्थितस्य गौरवस्य कारणताग्रहविघटकतया न सयोगेन चक्षुष' द्रव्यचाक्षुषकारणत्व सभवति ।

ननु सम्बन्धाननुगमो न दोष' किन्तु कारणतायननुगम एवेति प्रकृते सयोगादिप्रत्यासत्तीनामननुगमेऽपि न दोष इत्याशङ्कायामाह - सम्बन्धाननुगमस्यापीति । कि पुनः कारणतायननुगमस्येत्यपिशब्दार्थः । स्वघटितव्याप्तिघटितकारणताभेदकतया = स्वेन सयोगादिसम्बन्धेन घटितया व्याप्त्या घटितायाः कारणताया भेदप्रयोजकतया, दोषत्वात् = कारणताग्रहविरोधित्वादित्यर्थः । अय भावः कारणत्व नाम अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्यनियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमित्युच्यते । कारणताघटकीभूतनियतान्वयव्यतिरेकस्वरूपञ्च तदितरसकलकारणसमवधाने तेन सम्बन्धेन तत्सत्त्वे कार्याऽवश्यभाव', तेन सम्बन्धेन तदसत्त्वे च कार्यस्याऽवश्यमभाव इति व्याप्त्यात्मकमुच्यते । एवञ्च दर्शितस्वरूपकारणताया समुदायविषयताव्यापकविषयतावत्त्वरूपघटकत्वविशिष्टाया नियतान्वयव्यतिरेकरूपाया व्याप्ते' तत्सम्बन्धेन घटितत्वेन तत्सम्बन्धभेदे तद्घटितव्याप्तिभेदप्रयुक्तकारणताभेदस्याऽऽक्षेपलभ्यत्वात्कारणताबाहुल्यस्य बृहस्पतिनाऽपि पराणेतुमशक्यत्वम् । तथा च प्रकृते सयोगस्याऽननुगतत्वेन प्रतिविषय चाक्षुषकारणताभेदस्योपस्थितो सयोगेन चक्षुषः कारणत्व दुरुपगम, कारणतावच्छेदकसम्बन्धानन्त्यप्रयुक्तानन्तकार्यकारणभावाङ्गीकारापत्ते' । न चैव

● रमणीया ●

व्यक्ति यदि ऐसा कहे कि—>'दण्ड, चक्र आदि अनेक मे घटकारणता मानने मे गोरव हे । इसकी अपेक्षा अच्छा तो यह हे कि सिर्फ दण्ड मे ही घटकारणता मानी जाय'<—तो यह सिर्फ अपनी अज्ञता का सूचक हे । इस तरह प्रस्तुत मे सयोग सम्बन्ध से चक्षु मे चाक्षुषकारणता का निश्चय होने के पश्चात् उपस्थित दर्शित गोरव फलमुख होने से दोषरूप नही कहा जा सकता । गधा आदि लात लगाये तो दोषरूप कहना ठीक ह, मगर दुधार गाय की तो लात भी भली ।

स्याद्वादी - तन्न सयो० इति । जनाव ! हमने धूप मे बाल सफेद नहीं किया है, जिसकी वजह आपकी हाँ मे हम हाँ बोले । आप सयोग सम्बन्ध मे चक्षु को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानते है- इसका मतलब यह होता है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध सयोग हे । मगर सयोग सम्बन्ध एक नहीं है किन्तु अनेक हे । अर्थात् जसे आपके मत मे सभी कपाल मे रहा हुआ घटकारणतावच्छेदकीभूत समवाय एक है वैसे सब नेत्र मे रहा हुआ तत् तत् विषयविषयक चाक्षुषकारणतावच्छेदकीभूत सयोग एक नही हे किन्तु भिन्न भिन्न हे । घट के साथ जो नेत्रसयोग हे वह पट के साथ नहीं है आर पट के साथ जो नेत्रसयोग है वह घट के साथ नहीं हे । चाक्षुषकारणतावच्छेदक सम्बन्ध विभिन्न होने से व्यभिचार दोष होगा, क्योकि चाक्षुषकारणतावच्छेदकीभूत पटनेत्रसयोग न होने पर भी घटचाक्षुष होता ह अर्थात् पटसयोग से नेत्र घट मे न रहने पर भी विषयता सम्बन्ध से घट मे घटचाक्षुष उत्पन्न होता है । कारणतावच्छेदकसम्बन्ध से कारण की अनुपस्थिति मे कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य का जन्म ही व्यतिरेक व्यभिचार की बाँग पुकारता हे जसे पुत्रजन्म कोमार्यभग की बाँग पुकारता हे । हाथ कगन को आरसी क्या ?

नयायिक :- नहीं, साहब ! हम ऐसा कहते नहीं हे कि-घटनेत्रसयोग की भाँति पटनेत्रसयोग, मठनेत्रसयोग भी घटचाक्षुष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध हे । हम तो ऐसा कहते है कि घटप्रतियोगिकनेत्रसयोग घटचाक्षुष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध है, पटप्रतियोगिकनेत्रसयोग पटचाक्षुष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध है । इस तरह पृथक् पृथक् सम्बन्ध को तत् तत् विषयकचाक्षुष का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हे । घट, पट आदि के साथ रहा हुआ नेत्रसयोग एक न हो तो क्या हुआ ? यह कोई राजकीय वचन नही ह कि सम्बन्ध मे अवश्य ही अनुगम होना चाहिए । सम्बन्ध अननुगम होने पर प्रसक्त भिन्न भिन्न सम्बन्ध मे कारणतावच्छेदकससर्गता का अननुगम निर्दोष है। अब सयोग सम्बन्ध से चक्षु को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानने मे व्यभिचार दोष की गध भी नहीं हे, क्योकि विषयता सम्बन्ध मे घटचाक्षुष के अधिकरणीभूत घट मे घटप्रतियोगिकसयोगसम्बन्ध से नयन रहता ही है । दर्शित कार्य-कारणभाव को निर्दोष होने के सबब मान्यता देनी चाहिए, जिसके फलस्वरूप नेत्रप्राप्यकारित्व की अनायास सिद्धि हो जाए ।

● कारणतावच्छेदक सम्बन्ध का अननुगम दोषरूप- स्याद्वादी ●

स्याद्वादी :- सम्बन्धाननु० इति । जनाब ! आप हमारी आँखो मे धूल झाकने की कोशिष क्यो करते है ? सम्बन्धाननुगम दोषरूप नहीं है-यह आपको किसने पढाया है ? कारणतावच्छेदक सम्बन्ध का अननुगम केसे दोषस्वरूप है ? यह कान खोल कर

चक्षुषः चाक्षुष प्रति हेतुत्वस्य तवाऽप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात्।

'स्वप्राचीस्थपुरुषसाक्षात्कारे स्वप्रतीचीवृत्त्यन्यूनपरिमाणकातिस्वच्छभिन्नस्वप्रतीचीवृत्तित्वसम्बन्धेन सत्त्वेनाऽस्तु भित्त्यादीना

★ जयलता ★

सम्बन्धाननुगमस्याऽदोषत्वप्रवादो विलीयेतेति वाच्यम्, तस्य प्रतिवन्धकतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमस्थलीयत्वात्, प्रतिवन्धकताऽवच्छेदकसम्बन्धस्य कारणताशरीरेऽप्रविष्टत्वादित्यनुपदमेव व्यक्तीभविष्यति, मा त्वरिष्ठाः ।

वस्तुतो नैयायिकेनाऽपि कालिकेन चाक्षुषहेतुतायाः चक्षुषि उपगन्तव्यतया न तत्प्राप्यकारित्वसिद्धिरित्याशयेनाऽऽह कालिकेनेवेति। कालिकविशेषणतासम्बन्धेनेवेति। एवकारेण सयोगादिव्यवच्छेदः कृतः। तवाऽपीति नैयायिकस्यापीति। अय भावः कपालनाशप्रयुक्तघटनाशसमये, 'इदानी मदीयो घटो ध्वस्त' इति चाक्षुषप्रतीतेः कारणतावच्छेदकससर्गतया कालिकविशेषणता एवाऽवश्यमुपगन्तव्या, अमूर्तकालस्यव परमते समवायिकारणनाशदशाया समवेतनाशाधिकरणत्वात्। ततः क्लृप्तेन कालिकविशेषणतासम्बन्धेनेव सर्वत्र चक्षुषः कारणतोपगन्तुमर्हति। न च द्रव्य-गुण-तदभावादिचाक्षुषस्यैवमुपपत्तावपि जातिविषयकचाक्षुषानुपपत्तिर्दुर्वारा, कालिकविशेषणतासम्बन्धेन चक्षुषो जात्यवृत्तित्वात्, 'नित्येषु कालिकायोगादि'ति वचनाद्विति वाच्यम्, तत्र कालिकविशेषणसमवायसम्बन्धस्य सभवात्। न च समवायसिद्ध्यसिद्धिभ्या व्याघात इति वाच्यम् स्वमते तस्याऽविष्वग्भावरूपत्वोपगमात्। न चेवमपि गौरवस्य वज्रलेपत्वात् घट्टकुट्या प्रभातमिति न्यायापात इति वाच्यम् तव मतेऽननुगतानतसयोग-सयुक्तसमवाय-सयुक्तसमवेतसमवाय-तत्त्रितयविशेषणतारूपषट्कोपगमापेक्षया दर्शितसम्बन्धद्वयाभ्युपगम एव प्रत्युत लाघवात्। न चैव वायुचाक्षुषापत्तेर्दुर्निवारत्वात्, रूपसमवायसत्त्वे तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावाऽयोगात्। एतेन रूपसमवायसत्त्वेऽपि वायौ स्वभावतो रूपाभावादेव नीरूपत्व (त चि प्र.ख पृ ६५४ इति चिन्तामणिकृद्वचन प्रत्युक्त मन्तव्यम्। न च तव मते तु वायोः रूपवत्त्वात्तत्प्रत्यक्षापत्तिर्दुर्वारेति वाच्यम् वायुगोचरयोगिविशेषचाक्षुषोपगमेनेष्टापत्तेः, संभिन्नश्रोतोलब्ध्यादेस्तत्र तत्र व्यावर्णितत्वात्, अस्मदीयनयनस्य तद्ग्रहणेऽसमर्थत्वादेव तद्विषयकास्मदीयाचाक्षुषोपपत्तेः। न हि स्थाणोरयमपराधः यदेनमन्धो न पश्यति। न चेव युगपत्सर्वरूपिचाक्षुषापत्तिरिति वाच्यम् नयनाभिमुखत्वस्याऽपि तत्र सहकारित्वोपगमस्य स्वयमेव प्रकरणकृता अनुपद वक्ष्यमाणत्वादिति मा त्वरिष्ठाः।

ननु भित्त्यादीना प्रतिबन्धकत्वादेव न तद्व्यवहितार्थचाक्षुषप्रत्ययोदय इति कि योग्यतयेत्याशयवतः कस्यचिन्मत खण्डयितु दर्शयति - स्वप्राचिस्थपुरुषसाक्षात्कार इति । स्वपदेन भित्त्यादिग्रहणम् । साक्षात्कारपदेनाऽत्र चाक्षुषसाक्षात्कारस्य ग्रहण, ततः भित्त्याद्यपेक्षया प्राचीस्थस्य पुरुषस्य चाक्षुषसाक्षात्कारे इत्यर्थः । स्वप्रतीचीवृत्त्यन्यूनपरिमाणकातिस्वच्छभिन्नस्वप्रतीचीवृत्तित्वसम्बन्धेनेति । स्वपदेन भित्त्यादिग्रहणमुभयत्रापि ।

● रमणीया ●

सुनियेगा । इसके पूर्व मे कारणता के स्वरूप का हम अवलोकन कराते है । कारणता का अर्थ हे नियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्व । नियतान्वयव्यतिरेक का अर्थ है - अमुक की हाजरी मे ही कार्य का जन्म होना ओर उसकी अविद्यमानता मे कार्य का न होना । जेसे कुम्हार की उपस्थिति मे ही घट की उत्पत्ति का होना यह है अन्वय और कुम्हार की अनुपस्थिति मे घट का जन्म न होना यह हे व्यतिरेक । दर्शित अन्वय और व्यतिरेक का प्रतियोगी हे कुम्हार और अनुयोगी है घट । कुम्हार मे जो नियत अन्वयव्यतिरेक की प्रतियोगिता है वही घटनिरूपितकारणता हे । कारणता के शरीर म नियतान्वयव्यतिरेक का प्रवेश है, जो व्याप्तिस्वरूप कहा जाता हे । यहाँ व्याप्ति यत् किचित् सम्बन्ध से घटित होती नही है, किन्तु कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से घटित होती है अन्यथा वादरायण सम्बन्ध से या स्वाभाववत्त्व सम्बन्ध से कुम्हार की उपस्थिति होने पर भी घट की उत्पत्ति होने का अतिप्रसग होगा । मगर यहाँ चाक्षुषकारणतावच्छेदकीभूत सयोग सम्बन्ध अनेकविध होने के सबब उनसे घटित व्याप्ति भी भिन्न होगी । अतएव उनसे घटित कारणता भी पृथक् पृथक् सिद्ध होगी, क्योकि घटक भिन्न भिन्न होने पर उनसे घटित पदार्थ का भिन्न भिन्न होना न्याय्य हे । अर्थात् कारणतावच्छेदक सम्बन्ध का अननुगम होने पर अनेकविध कारणता को मान्यता देनी होगी जिसके फलस्वरूप अनेक कार्य-कारणभाव का चाक्षुषस्थल मे स्वीकार करना होगा, जो अत्यत गोरवस्वरूप होने से त्याज्य है, ग्राह्य नही । अत चक्षु मे अननुगत सयोग सम्बन्ध से चक्षु मे द्रव्यविषयक चाक्षुष की कारणता, अननुगत स्वसयुक्तसमवाय सम्बन्ध से रूपविषयक चाक्षुष की कारणता, अननुगत स्वसयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से रूपत्वादिविषयक चाक्षुष की कारणता-इत्यादि का स्वीकार करना ठीक नही है । सयोगसम्बन्ध से कार्यकारणभावग्रह के पूर्व मे ही गौरव उपस्थित होने से इसे फलमुख नही कहा जा सकता ।

कालि० इति । इसके अतिरिक्त दूसरी वात यह है कि नेयायिक को भी तर्क के सहकार मे चक्षु को अननुगत सयोग, स्वसयुक्तसमवाय, स्वसयुक्तसमवेतसमवाय आदि सम्बन्ध से कारण मानने की अपेक्षा कालिक सम्बन्ध मे ही चक्षु को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानना मुनासिव हे, क्योकि वह सम्बन्ध अनुगत हे, एक हे, व्यापक हे । इस परिस्थिति मे नेत्र मे प्राप्यकारित्व (=स्वसम्बद्धार्थग्राहकत्व) की सिद्धि नामुमकिन है । अत नेत्र को प्राप्यकारी मानना अपने प्राज्ञ कुल मे वट्टा लगाने जेसा होने से त्याज्य है ।

पूर्वपक्ष :- स्वप्राची० इति । दिवार आदि से व्यवहित पदार्थ के अचाक्षुष की उपपत्ति विशेषरूप से भी हो सकती हे । देखिये, दिवार आदि की पूर्व दिशा मे रहे हुए पुरुष को होनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्ष मे दिवार आदि प्रतिवधक होती है । प्रतिवन्धकताअवच्छेदक

प्रतिबन्धकता प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमस्तु न दोषाय तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकविलक्षणाभावस्य कारणत्वस्वीकारात्। तथा च न चक्षुरप्राप्यकारित्वेऽपि भित्त्यादिव्यवहितोपलब्धिप्रसङ्गः' इति कश्चित् ।

★ जयलता ★

भिन्नपर्यन्तं द्वितीयस्वपदवाच्यस्य विशेषणम् । ततः स्वस्मात् = भित्त्यादेः प्रतीचीदिग्वृत्ति यद्ग्राह्यं तदपेक्षयाऽन्यूनपरिमाणकम्तिस्याऽतिस्वच्छस्फटिकादिपदार्थभिन्नस्य स्वस्य = भित्त्यादेः अपेक्षया प्रतीचीदिग्वृत्तौ ग्राह्ये वस्तुनि स्वप्रतीचीवृत्त्यन्यूनपरिमाणकातिस्वच्छभिन्नस्वप्रतीचीवृत्तित्वं वर्तते यदत्र प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धविधयाऽभिप्रेतम् । प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकयोः सामानाधिकरण्यसम्पादनकृते अयं प्रयासः, विषयतया यत्र प्रतिबध्यं सम्मतं तत्रैव दर्शितसम्बन्धेन प्रतिबन्धकस्य सत्त्वात् प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावोपपत्तिः । प्रतिबध्यविषयापेक्षया प्रकृते प्रतिबन्धकस्य न्यूनपरिमाणोपगमे दूरतो हिमाचलादिचाक्षुषप्रत्यक्षासम्भवापत्तिः आन्तरालिकानेकभित्त्यादेः सत्त्वात् । अतः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धकोटौ स्वपदप्रतिपाद्यस्य प्रतिबन्धकस्य विशेषणविधया 'अन्यूनपरिमाणके'ति ग्रहणम् । यत्किञ्चिदपेक्षयाऽन्यूनपरिमाणकत्वनिवेशे पुनरपि तत्प्रसङ्गः । अतः स्वप्रतीचीवृत्तिपदार्थापेक्षयाऽन्यूनपरिमाणकत्वलाभार्थं 'स्वप्रतीचीवृत्ति'इति ग्रहणम् । तथापि तादृशान्यूनपरिमाणकस्फटिकादिसत्त्वे व्यवहिताऽचाक्षुषप्रसङ्गात् पुनरपि 'अतिस्वच्छभिन्ने'ति स्वविशेषणोपादानम् । भित्त्यादिपूर्वस्थविषयाऽचाक्षुषापत्तिवारणार्थं 'स्वप्रतीचीवृत्ती'त्युक्तम् प्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्मं प्रदर्शयति - सत्त्वेनेति । भित्त्यादीना = भित्त्यादिषु । प्रतिबन्धकतेति । स्वप्राचीवृत्तिपुरुषीयस्य स्वप्रतीचीस्थ-स्वन्यूनपरिमाणकसत्ताविशिष्टविषयकचाक्षुषस्य प्रतिबन्धकता ।

ननु तथापि प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धघटकस्वभेदे तद्घटितसम्बन्धस्य भिन्नत्वात् सम्बन्धाननुगमदोषो वाचस्पतिनाऽपि परिकर्तुमशक्यः। एकसम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वोपगमे व्यभिचारात् तत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावकूटस्य हेतुत्वोपगमे च गौरवादित्याशङ्कायामाह-प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमस्तु न दोषाय = नोक्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावविरोधित्वाय। अयं भावः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावे प्रतिबध्यतावच्छेदकाननुगमस्यैव दोषात्मकत्वं, प्रतिबन्धकाभावनिष्ठायाः कारणतायाः कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नकार्याधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगित्वाभावरूपाया कार्यतावच्छेदकस्वरूपप्रतिबध्यतावच्छेदककोटावननुगमे गुरुतरकार्यतावच्छेदकसम्बन्धस्वरूपप्रतिबध्यतावच्छेदकसम्बन्धनिवेशप्रसङ्गेन कारणताशरीरे गौरवात् न तु प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमस्य दोषात्मकत्वं, प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाभावरूपस्य प्रतिबन्धकाभावस्य गुरुतरत्वेऽपि कारणताशरीरे तत्प्रवेशेन गौरवविरहात् प्रत्युत तद्व्यक्तित्वरूपेणैकस्यैव प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वोपगमेन लाघवादित्याशयेनाऽऽह - तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकविलक्षणाभावस्य कारणत्वस्वीकारादिति दर्शितरीत्या प्रसक्तेषु सकलसम्बन्धेषु पर्याप्तायाः = पर्याप्तिसम्बन्धेन निष्ठायाः प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धत्वरूपायाः प्रतियोगितावच्छेदकसंसर्गतायाः निरूपकस्यैकस्यैव विजातीयाभावस्य प्रतिबन्धकाभावरूपस्य चाक्षुषकारणत्वोपगमादित्यर्थः । तत्तत्सम्भवितप्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावकूटस्य न हेतुत्वं येन गौरवं प्रसज्येत, किन्तु तावत्सम्बन्धकूटावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्यैकस्यैवाऽभावस्य हेतुत्वे लाघवमिति यावत् । एतेन गौरवव्यभिचारौ प्रत्युक्तौ। अत एव योग्यतप्रौढतपामरीपरिरम्भणप्रयासायासोऽपि प्रत्युक्तः तत्प्रतिबन्धकतयैवानतिप्रसङ्गादित्याशयेनाऽऽह- तथा चेति । दर्शितरीत्या भित्त्यादीनां प्रतिबन्धकत्वोपगमे चेत्यर्थः । न चक्षुरप्राप्यकारित्वेऽपि भित्त्यादिव्यवहितोपलब्धिप्रसङ्ग,

● रमणीया ●

धर्म है सत्त्व और प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्ध है स्वपश्चिमदिशावर्ती पदार्थ से अन्यून परिमाणवाले और अतिस्वच्छ पदार्थ से भिन्न ऐसे स्व से पश्चिमदिशावर्तित्व । यहाँ स्व पद से दिवार आदि प्रतिबंधक का ग्रहण अभिमत है। आशय यह है कि दिवार अपनी पश्चिम दिशा मे रहे हुए पदार्थ से छोटी (न्यूनपरिमाणवाली) नहीं होनी चाहिए और स्फटिक, काच आदि की भाँति अतिस्वच्छ (=पारदर्शक) होनी नहीं चाहिए । ऐसी दिवार की पश्चिम दिशा मे स्थित पदार्थ मे दिवारपश्चिमदिक्स्थपदार्थाऽन्यूनपरिमाणक - अनतिस्वच्छ - दिवार का पश्चिमदिक्वृत्तित्व रहता है, जो प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्धरूप से अभिप्रेत है। अत तादृश सम्बन्ध से सत्त्वरूपेण दिवार, स्वपश्चिम दिग्वर्ती पदार्थ मे रहती है जिसमे विषयता सम्बन्ध से तद्विषयक चाक्षुष रहता है। दिवार यदि काच आदि से निर्मित हो या परवर्ती पदार्थ से छोटी हो तब तो व्यवहित परवर्ती पदार्थ का चाक्षुष हो सकता है। अतएव प्रतिबन्धकताअवच्छेदक सम्बन्ध की कुक्षि मे स्व (=दिवार आदि प्रतिबन्धक) के दो विशेषण का निवेश किया गया है। यद्यपि यहाँ प्रतिबन्धकताअवच्छेदक सम्बन्ध अनुगत नहीं है, क्योंकि सम्बन्धघटक स्वपदार्थ के भेद से तद्घटित प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्ध का भेद होना न्याय्य है तथापि तादृश अननुगम दोषरूप नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्ध का प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ कारणता के शरीर मे प्रवेश न होने से कारणताशरीर मे गौरव होता नहीं है, चाहे प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न अभावरूप प्रतिबन्धकाभाव गुरुतरशरीरक क्यों न हो ?

शंका :- प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्ध अननुगत होने पर तत् तत् सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रतिबन्धकाभावकूट को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानना होगा अर्थात् अनेक प्रतिबन्धकाभाव को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानना होगा। इसमे तो स्पष्ट ही गौरव है। प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावग्रह के पूर्व मे ही गौरव की उपस्थिति होने से इस गौरव को फलमुख कहा नहीं जा सकता। इस तरह गौरवदोषग्रस्त होने के सबब दर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव उपादेय नहीं हो सकता।

समाधान :- तावत्स० इति । जी हजरत ! इस गौरव को किस तरह नौ-दो-ग्यारह कर देना यह तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है। देखो, मेरा जादु टोना । यहाँ तत् तत् सम्बन्धावच्छिन्न तत् तत् प्रतिबन्धकाभाव के समूह को चाक्षुष का कारण नहीं माना जाता है किन्तु तत् तत् प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धकूट से अवच्छिन्न एक विलक्षण प्रतिबन्धकाभाव को ही चाक्षुष-कारण माना जाता है। अर्थात् दर्शित प्रतिबन्धकाभाव सम्भवित सकल प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध मे पर्याप्ति सम्बन्ध से रहनेवाली प्रतियोगितावच्छेदकसंसर्गता का निरूपक होता है, न कि प्रत्येक प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध मे स्वरूप सम्बन्ध से रहनेवाली प्रतियोगितावच्छेदकसंसर्गता का निरूपक। जैसे द्वित्व उभय मे पर्याप्तिसम्बन्ध से रहता है, न कि प्रत्येक मे ठीक वैसे प्रतियोगितावच्छेदकसंसर्गता, जो यहाँ प्रतिबन्धकतावच्छेदकसंसर्गतास्वरूप

तदसत् तेन सम्बन्धेन द्रव्यत्वमूर्तत्वादिना प्रतिबन्धकत्वे विनिगमकाभावाद् व्यवहितेऽपि योगिचाक्षुषानुरोधेन योग्यताया

★ जयलता ★

कि पुनः नेत्रप्राप्यकारित्वपक्षे इत्यपिशब्दार्थः प्रतिबन्धकतयैव सामञ्जस्ये योग्यताश्रयणमेवाऽस्माक चेतो दुनोति । न पुनः नेत्राऽप्राप्यकारित्वमिति फक्किकार्थो भाति ।

यद्यप्यखण्डाभावकारणतायाश्चित्ररूपवादे निराकरिष्यमाणत्व तथापि प्रकारान्तरेणात्र स्याद्वादी तन्निराचष्टे तदसदिति । तेन सम्बन्धेनेति । तदादीना बुद्धिपरामृष्टार्थज्ञापकत्वात् तादृशस्वप्रतीचीवृत्तित्वरूपेण ससर्गेणेत्यर्थः । द्रव्यत्वमूर्तत्वादिनेति । आदिशब्देन पृथ्वीत्वादि प्राप्यते । प्रतिबन्धकत्वे इति स्वपूर्वभागस्थपुरुषीयस्वप्रतीचीवृत्ति-स्वन्यूनपरिमाणकविषयकचाक्षुषप्रतिबन्धकत्वे, भित्त्यादीनामिति शेषः । विनिगमकाभावादिति । विनिगमना-विरहादित्यर्थः । अय भावो दर्शितमते यथा परेण प्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्मविधया सत्त्वस्य प्रदर्शन कृत तथा मया द्रव्यत्वादेः तत्त्वप्रदर्शने कृते न किञ्चिद्बाधक परेण दर्शयितु पार्यते इत्यनेकविधरूपेण प्रतिबन्धकताप्राप्तौ गौरवस्याऽपरिहार्यत्वम् ।

ननु प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमवत् प्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्माननुगमस्याऽपि कारणताशरीरगौरवप्रयोजकत्वाऽभावेनाऽदोषत्वादस्तु प्रतिबन्ध-कतावच्छेदकधर्माननुगमः कि नश्छिन्न ? इति यदि परो ब्रूयादिति चेतसिकृत्य दोषान्तर प्रदर्शयति - 'व्यवहितेऽपि' इति अपिशब्देनाऽव्यवहितसमुच्चयः । सप्तम्यर्थो वृत्तित्व तस्य चान्वयो योग्यताया । योगिचाक्षुषानुरोधेन = व्यवहितविषयकयोगिकर्तृकचाक्षुषप्रत्ययबलेन । योग्यताया = चाक्षुषयोग्यतायाः व्यवहितपदार्थवृत्तिचाक्षुषप्रत्यक्षकारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वस्येति यावत् । अय भावः दर्शितरीत्या भित्त्यादीना परवर्तिविषयकचाक्षुषप्रतिबन्धकत्वोपगमे योगिना व्यवहितविषयकचाक्षुषप्रतीत्युदयो न स्यात्, भवति च । अतः तदन्यथाऽनुपपत्त्या भित्त्यादिव्यवहितपदार्थेऽपि चाक्षुषकारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वरूपा योग्यता सिद्ध्यति । एतेन भित्त्यादीना प्रतिबन्धकत्वेनोपपत्तौ कि योग्यतयेति प्रत्युक्तम् तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनेन गौरवात्, क्लृप्तयोग्यतयैव व्यवहिताचाक्षुषनिर्वाहाच्च। यथैकमेव पयः चक्रवर्तिन प्रति योग्य तदितर प्रति च न तथैवैकस्मिन्नेव व्यवहितविषये एकापेक्षया योग्यत्व तदितरापेक्षया चायोग्यत्वमिति न कोऽप्यतिप्रसङ्गः । पूर्वमात्मनिष्ठा मुख्या योग्यता स्वमतेन दर्शिता । साम्प्रत चौपचारिकी विषयनिष्ठाऽपारिभाषिकी योग्यता प्रतिवादिग्रहणसौकर्यायोपदर्शितेति न विरोधो न वा पुनरुक्तिरिति सर्वं चतुरस्रमिति दृढतर भावनीय पर्युपासितगुरुकुलैः ।

● रमणीया ●

है, प्रत्येक सम्बन्ध मे पर्याप्तिसम्बन्ध से रहती नही है किन्तु तावत् सकल सम्बन्ध मे पर्याप्ति सम्बन्ध से रहती है । जब एक प्रतिबन्धकाभाव तावत् सकल सम्बन्ध से अवच्छिन्न होगा तभी वह तावत् सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रतियोगितावच्छेदकससर्गता का निरूपक होने से विलक्षण होगा । इस तरह एक ही प्रतिबन्धकाभाव मे चाक्षुष की कारणता मानने से गौरव दोष का अवकाश नहीं है । हम तो यह कहते हे कि चक्षु को अप्राप्यकारी मानो तो भी हमारा कोई विरोध नही है किन्तु व्यवहित विषय के अचाक्षुष की उपपत्ति के लिए योग्यता का अनुसरण करना ठीक नही है । दर्शित एक ही प्रतिबन्धक से व्यवहित विषय की अनुपलब्धि (=अचाक्षुष) सगत हो सकती है । इसमे प्राप्यकारित्व-अप्राप्यकारित्व का विवाद ही नही है । व्यवहितविषय के अदर्शन के लिए प्रतिबन्धक की कल्पना करनी या योग्यता के अभाव की कल्पना करनी ? इस विवाद के समाधानरूप मे हम अपनी ओर से प्रतिबन्धक की कल्पना को दर्शित रीति से आवश्यक समझते है, जो गौरवग्रस्त न होने के सबब विद्वान् मनीषियो के लिए आदरणीय एव अगीकरणीय है।

● व्यवहित की अनुलब्धि की उपपत्ति प्रतिबन्धक से हो नही सकती-स्याद्वादी ●

उत्तरपक्ष :- तदसत् तेन० इति । जी जनाब ! आपकी राम कहानी हमने गौर से सुनी । मगर आपसे प्रदर्शित प्रतिबन्धकतावच्छेदक सम्बन्ध से भित्त्यादि को प्रतिबन्धक मानने पर भी प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रतिबन्धकतावच्छेदक धर्म सत्त्व मानना या द्रव्यत्व, मूर्तत्व आदि को मानना ? यहाँ-हम करे वही कानुन-यह बात नही चल सकती, जिसकी वजह 'प्रतिबन्धकतावच्छेदक धर्म सत्त्व ही है, द्रव्यत्व आदि नही' ऐसा कहा जा सके । अर्थात् विनिगमनाविरह से सत्त्व, द्रव्यत्व, मूर्तत्व इत्यादि रूप से भित्त्यादि मे चाक्षुषप्रत्यक्षप्रतिबन्धकता माननी होगी, जो गोरवदोषग्रस्त होने के सबब उपादेय नही है । अत दर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव को मान्यता नही दी जा सकती ।

● योग्यता को चाक्षुषकारण मानना आवश्यक - स्याद्वादी ●

व्यवहितेऽपि० इति । भित्त्यादि को प्रतिबन्धक मानने मे इसके अतिरिक्त दोष यह है कि भित्त्यादिस्वरूप प्रतिबन्धक विद्यमान होने पर भी भित्त्यादि की पूर्व दिशा मे स्थित योगी को भित्त्यादि की पश्चिमदिशा मे रहे हुए घट आदि व्यवहित पदार्थ का जो चाक्षुष प्रत्यय होता है इसकी उपपत्ति भित्त्यादि को व्यवहितविषयक चाक्षुष का प्रतिबन्धक मानने पर कथमपि हो नही सकती है, क्योकि प्रतिबन्धक तो सब के प्रति समान ही हे । ऐसा नही हो सकता कि चन्द्रकान्त मणि चैत्र के लिए अग्निदाह का प्रतिबन्धक हो और मेत्र के प्रति नही । व्यवहितविषयक चाक्षुष योगी को होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि तव व्यवहित विषय मे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होने की योग्यता जरूर है । व्यवहित पदार्थ मे योग्यता का अवलम्बन तो योगी चाक्षुष के अनुरोध से नेयायिक को भी करना ही होगा । अर्थनिष्ठ योग्यता का स्वीकार किये विना तो व्यवहितविषयक योगिचाक्षुष का उपपादन

अवश्याश्रयणीयत्वाच्च। "योग्या चेद्योग्यता वः सपदि जनयितु ज्ञानमक्ष्णोऽनपेक्षः, कस्मादस्माकमाकस्मिक इव न तदा हन्त! वस्तूपलम्भः ? आयास कः प्रकुर्यादनणुमणिविभाभूषिते भूमिभागे, प्रद्योतार्थी प्रदीप प्रकटयितुमल तैलसपूरणाद्यै ॥१॥

योग्यता वस्तुनो बोधे, स्मृता प्रतिनियामिका । उपधान पुनस्तस्याः चक्षुरुन्मिलनादिना ॥२॥

★ जयलता ★

महत्त्वोद्भूतरूपातिरिक्तायाः चक्षुर्विषयनिष्ठाया योग्यतायाः प्रतिक्षेपिणः कस्यचिन्मतमेकेन श्लोकेन दर्शयति - योग्येति । गाथाव्याख्यालेशस्त्वेवम् - योग्यता स्याद्वाद्यभिमताऽऽत्मनिष्ठा विषयनिष्ठा वेत्यन्यदेतत्, चेत् = यदि व = युष्माक, ज्ञान = घटादिचाक्षुषसाक्षात्कार जनयितु =उत्पादयितु, योग्या = समर्था, तर्हि अस्माक = स्याद्वादिनैयायिकादीना, तदा = व्यवधानविरहदशाया, हन्त इति शोके, 'शोचने सम्प्रहर्षे च हन्तशब्दः प्रयुज्यते' (हला ५ ८७५) इति हलायुधकोशवचनात्, आकस्मिक इव = अतर्कितोपनीतवत्, अक्ष्ण = चक्षुषः अनपेक्ष = निरपेक्षः, वस्तूपलम्भ = विषयचाक्षुषप्रत्ययः कस्मात् = कुतो हेतोः न भवतीति शेषः 'यत्राऽन्यत् क्रियापद न श्रूयते तत्राऽस्तिर्भवन्तिपरः प्रयुज्यत' इति न्यायात् । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह - अनणुमणिविभाभूषिते = देदीप्यमाननानाविधबृहन्मणिमाणिक्यमालाप्रभापूरिते, भूमिभागे 'सती'ति गम्य, कः प्रद्योतार्थी = प्रकाशेच्छुकः, प्रदीप = प्रकाश, प्रकटयितु = विद्योतयितु, अल = भृश, तैलसपूरणाद्यै आदिशब्देन शरावाऽऽनयनवर्तिस्थापनारणिघर्षणादेर्ग्रहण, आयास = प्रयास , प्रकुर्यात् ? नैव कुर्यात्, पिष्टपेषण-मृतमारण-कृतकरण-पक्वपचनादिदोषप्रसङ्गादित्यर्थः।

ननु व्यवधानविरहदशाया युष्मदभिमता योग्यताऽस्मदीयचाक्षुषसाक्षात्कारोदयाय समर्थाऽसमर्था वा ? इति विमलविकल्पमञ्जुलयुगलमत्राऽवतेतीर्यते । न तत्राऽऽद्यो विद्योतते, निमिलितनयनस्याऽपि नरस्य चाक्षुषप्रत्ययप्रसङ्गात्, समर्थस्याऽन्यानपेक्षत्वेन कालक्षेपाऽयोगात्, तस्या अन्यसहकारिमुखप्रेक्षित्वे सामर्थ्यप्रच्यवप्रसङ्गात् । द्वितीयस्तु विकल्पोऽनुत्थानहतः, सयोगादिना क्लृप्तनेत्रादिनैवोपपत्तावक्लृप्तयोग्यताललनाकल्पनाया गौरवादिति निहितो नैयायिकाशयः ।

द्वितीयकारिकया स्याद्वादी समाधत्ते - योग्यतेति । वस्तुन = विषयस्य, बोधे = प्रकरणबलात् चाक्षुषबोधे इत्यर्थः । निर्देशस्य भावप्रधानत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारविषयत्वे इत्यर्थः । योग्यता = दर्शितस्वरूपा प्रतिनियामिका = तदुत्पत्त्यनुकूला । एतेन द्वितीयविकल्पः प्रत्युक्तः । ननु प्रथमे विकल्पे सम्मिलितनेत्रस्याऽपि चाक्षुषप्रत्ययापत्तिः किं विस्मर्यते ? इत्याशङ्कायामाह उपधान = सम्पादन, पुन तस्या = योग्यतायाः, चक्षुरुन्मिलनादिनेति । आदिशब्देन प्रणिधानादेर्ग्रहणम्। अय भावः योग्यतायाः चाक्षुषजननाय समर्थत्वेऽपि निमिलितनयनस्य नरस्य तदभावादेव न तदा वस्तूपलम्भः । एतेन विमुखस्य पुसोऽर्थसाक्षात्कारापत्तिरपि प्रत्युक्ता उपलम्भकस्य विषयाभिमुखत्वरूपस्य योग्यत्वस्य सामग्रीविरहेणाऽभावात् ।

● रमणीया ●

नैयायिक महाशय किस तरह कर सकता है ? क्योंकि प्रतिबन्धक, जो कार्यसामग्री का विघटक है, की उपस्थिति मे कार्यजन्ममहोत्सव कथमपि सम्भव नहीं है । योग्यता का स्वीकार करने पर ही व्यवहितविषयक योगिचाक्षुष की उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि तब 'व्यवहित वस्तु मे योगी की अपेक्षा चाक्षुषयोग्यता है और योगिभिन्न व्यक्ति की अपेक्षा चाक्षुष योग्यता नहीं है' ऐसा कहा जा सकता है । योग्यता भिन्न भिन्न व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न भिन्न हो सकती है, चाहे वह एक ही चीज मे क्यो न रहती हो ? जब योग्यता को मान्यता देनी आवश्यक ही हे तब चक्षु मे प्राप्यकारित्व की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योंकि योगिभिन्न व्यक्ति की अपेक्षा योग्यता के अभाव से ही हमारे व्यवहितविषयक अचाक्षुष की उपपत्ति हो जाने से नेत्रप्राप्यकारित्व का उत्थान छूमन्तर हो जाता है ।

नैयायिक :- योग्या चेद्यो० इति । स्याद्वादी के मत मे योग्यता ही चाक्षुष प्रत्यक्ष को झटिति उत्पन्न करने मे योग्य (=समर्थ) हे तब तो व्यवधानशून्य काल मे नयन की अपेक्षा किये विना ही आकस्मिक वस्तु का उपलम्भ (=साक्षात्कार) हमे क्यो नहीं होता हे ? क्योंकि अनेक बडे बडे मणिओ की प्रभा से विभूषित भूमिभाग होने पर प्रकाश का अर्थी बुद्धिमान् पुरुष प्रदीप को प्रकट करने के लिए तैलपूरण आदि मे यत्न करता नही है। आशय यह हे कि योग्यता ही वस्तु के साक्षात्कार का समर्थ हेतु हो तब योग्यता से अतिरिक्त चक्षु आदि कारण की अपेक्षा होनी नहीं चाहिए, क्योंकि समर्थ हेतु अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है । यदि योग्यता होने पर भी चक्षु की वस्तुसाक्षात्कार मे अपेक्षा हो तब तो इससे अच्छा यह है कि अक्लृप्त योग्यता को कारण मानने की अपेक्षा क्लृप्त नेत्र को ही कारण माना जाय ॥१॥

स्याद्वादी :- योग्यता वस्तु० इति । वाह ! छोटे मुँह बडी बात ! योग्यता का स्वरूप क्या है और उसका जनक कौन है ? यह जाने विना ही आपने दोषारोपण कर दिया । योग्यता को हम वस्तु के बोध के प्रति नियामक मानते हैं । योग्यता के सपादनार्थ चक्षु के उन्मिलन आदि की अपेक्षा होती है । अर्थात् अव्यवहित विषय के चाक्षुष प्रत्यक्ष के कारणीभूत योग्यत्व के सपादनार्थ नेत्र खोलना-इत्यादि आवश्यक है । चक्षु का उन्मिलन तो योग्यता का सपादन कर के चरितार्थ हो जाता है । अत आपने जो कथन किया था कि - 'योग्यता समर्थ है तो अव्यवहितविषयक चाक्षुष साक्षात्कार मे चक्षु की अपेक्षा क्यो होती हे ?' वह निरस्त हो जाता है, क्योंकि समर्थ योग्यता के सपादनार्थ ही नेत्रोन्मिलन आदि की अपेक्षा होती है । अत विषयतासम्बन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष के अधिकरणीभूत घटादि विषय में सयोग सम्बन्ध से नेत्रवृत्तिता की आवश्यकता नहीं है तथा दर्शित योग्यता को प्रतिनियत विषय के चाक्षुष का नियामक मानने से उस अवस्था मे योग्यता ही रहती नही हे ॥२॥

कालिकेन नयन यदि हेतुर्मिलिताक्ष्णि न हि पुसि कुतो धीः। इत्थमालपति वेद न यौगस्त्वाभिमुख्यमिह चेत्थममुष्य॥३॥
यदाऽऽभिमुख्य किल नोपकारक प्रक्लृप्तसयोगनियामक धियः ।
इहाऽस्मि नास्मिन्नियमे स्पृहावहः, कृतान्तकोपस्तु तवैव केवलम् ॥४॥

★ जयलता ★

पूर्वं यदुक्त स्याद्वादिना - 'कालिकेनैव चक्षुपः चाक्षुप प्रति हेतुत्वस्य तवाऽप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात्' (दृश्यता पृ ६०) तत्र नैयायिकः शकामुद्भावयति कारिकार्धेन - कालिकेन = कालिकविशेषणतासम्बन्धेन, नयन यदि हेतु = चाक्षुपसाक्षात्कारकारण, तर्हि मिलिताक्ष्णि = निमिलितनयने पुसि हि कुत = कस्माद्धेतोः धी = अर्थचाक्षुपबुद्धिः न भवति ? कालिकसम्बन्धेन जन्यमात्रे नेत्रस्य वृत्तित्वेन घटादौ नेत्रस्य सत्त्वेन तच्चाक्षुपेनाऽवश्य भाव्य, सामग्र्याः कार्यजनने प्रयोजनक्षतेरकिञ्चित्करत्वात्, सामग्रीसत्त्वेऽवश्य कार्यमिति नियमात्, नेत्रसमिलनोन्मिलनादेस्तत्राऽप्रवेशादिति नैयायिकाशयः ।

तन्निराचिकिर्पुः स्याद्वादी पश्चार्द्धेनाऽऽह - इत्थ = पूर्वदर्शितरूपेण यौग = नैयायिकः आलपति = प्रलपतीत्यर्थेऽय प्रयोगः । न तु वेद = जानाति, यौग इत्यत्रापि काकाक्षिगोलकन्यायेन सम्बध्यते । कि ? इत्याह इत्यञ्चेति द्वितीयकारिकोक्तदिशा च, इह = चक्षुपि आभिमुख्य = ग्राह्यग्रहणप्रवणत्व, अमुष्य = चाक्षुपसाक्षात्कारस्य, कारणमिति शेपः । कालिकविशेपणतासम्वन्धेन निमिलतनयनस्य नरस्य लोचनस्य विपयदेशनिष्ठत्वेऽपि कारणान्तरस्याऽऽभिमुख्यस्य विरहात् न तदानी तच्चाक्षुपप्रसङ्गः, 'सामग्री वै कार्यजनिका न त्वेक कारणमि'ति वचनात् । आभिमुख्ये चाक्षुपविपयत्वनियामकत्वमङ्गीकृत्य कालिकसम्वन्धेनैव चक्षुपः चाक्षुपकारणत्वोपगमेनैवोपपत्तौ नेत्रप्राप्यकारित्वपण्ढालिगन परस्य विद्वत्पर्पदि हास्यास्पदत्वायेति ध्वन्यते ।

ननु भवदभिमतमाभिमुख्य न चाक्षुपविपयत्वनियामक किन्तु चाक्षुपकारणतावच्छेकीभूतसयोगसम्बन्धस्यैव नियामकम् । अतः चाक्षुपकर्मत्वनियामकतया तदुपदर्शनस्याऽन्याय्यत्वादिति नेयायिकस्याऽऽशङ्कायामाह - यदिति । आभिमुख्य = नयनस्य विपयाऽभिमुखत्व, किल = खलु, धिय = चाक्षुपावबोधस्य, नोपकारक = न विपयतानियामक किन्तु प्रक्लृप्तसपोगनियामक = चाक्षुपकारणतावच्छेदकसम्वन्धविधया क्लृप्तविपयनेत्रसयोगस्य नियामक, इति अस्मिन् नियमे = प्रतिबन्धे स्पृहावह = स्वरसवान्, नाऽस्मि इह = जिनप्रवचने । तर्हि 'अभिमुखत्व नयनसयोगनियामक' इति सिद्धान्तस्य भङ्गः स्यादित्याशङ्कायामाह-कृतान्तकोप = सिद्धान्तहानिप्रयुक्तदोपः तु विशेपद्योतनार्थः केवल = नवर तवेव = नैयायिकस्यैव, एवकारेण स्याद्वादिनो व्यवच्छेदः कृतः । न हि कस्यचित् विपरीतनियमकल्पन युक्तिवलाद्वस्तुसिद्धौ वाधक भवति । अयमाशय' नैयायिकेनाऽभिमुखत्वे चाक्षुपकारणतावच्छेदकीभूतसयोगसम्बन्धनियामकत्व, स्याद्वादिना च चाक्षुपीयकर्मत्वाख्यविपयतानियामकत्वमभ्युपगम्यते । सयोगस्य कारणतावच्छेदकससर्गत्वे दर्शितगौरवात् स्याद्वादिना तत्परित्यज्यते । न चापसिद्धातदोपः, तथासिद्धान्ताऽनभ्युपगमात् । परेण च न तन्नियमः त्यक्तु शक्यते, अपसिद्धान्तदोपप्रसङ्गात्, तदपरित्यागे च गौरवधारालकरालप्रचारादित्युभयतः पाशारज्जुः परस्येति गूढार्थः ।

विपयाभिमुख्ये चाक्षुपबोधविपयतानियामकत्वमेव पञ्चमश्लोकेन दर्शयति - यत्र यत्रेति विपये इति शेपः । चक्षु परिसर्पति = अभिमुखीभवति, तत्र तत्र विपये किल = खलु वेदनजन्म = चाक्षुपप्रत्ययोदयः, इत्येव इदानी =आभिमुख्यस्य चाक्षुपविपयत्वनियामकत्वे निश्चिते सति, गोतमीयसमये = अक्षपाददर्शने, तत् = चाक्षुपवेदनजन्म प्राप्यकारिणि = विपयात्मकदेश प्राप्य चाक्षुपसाक्षात्कारकारिणि, चक्षुपि न साक्षि = प्रमाण, भवितुमर्हतीति गम्यम्। एतेन चक्षुपोऽप्राप्यकारित्वे स्वशिरःप्रतीपवर्तिदिक्स्थपदार्थपरिच्छेद' स्यादित्यपास्तम् प्रतियोगितासम्वन्धेन तत्राऽभिमुखत्वस्य चाक्षुपविपयतानियामकस्य विरहात् । न हि खदिरगोचरे परशौ पलाशे द्वैधीभावो भवति । युक्तञ्चैतत् 'तद्धेतोरेवाऽस्तु

● रमणीया ●

नैयायिक :- कालिकेन० इति । नेत्र को सयोग सम्वन्ध से ही कारण मानना युक्त है, न कि कालिक सम्वन्ध से । भले ही सयोग सम्वन्ध से चाक्षुपकारणता मानने मे गौरव हो ओर कालिक सम्वन्ध से चाक्षुपकारणता मानने मे लाघव हो फिर भी कालिक सम्वन्ध से चाक्षुपकारणता मानना ठीक नही है, क्योकि जव पुरुष आँखे मुँद लेता है तव भी कालिक सम्वन्ध से उस पुरुष की चक्षु विपयदेश मे रहने के सवव उस काल मे उस पुरुष को उस विषय के चाक्षुप साक्षात्कार की आपत्ति आयेगी । मगर वास्तविकता यह है कि जव पुरुष आँखे वद कर देता हे तव उसे विपय का चाक्षुप होता नही है, भले ही उसकी आँखे क़ालिक सम्वन्ध से घटादि विषय मे रहे । इस तरह कालिक सम्वन्ध से चक्षुकारणता के पक्ष मे अन्वय व्यभिचार दुर्निवार है । अत आपने पूर्व मे (देखिए पृ ६१) जो कहा था कि 'हमे कालिक सम्वन्ध से चाक्षुपकारणता माननी होगी'-वह ठीक नही हे । अत पारिशेपन्याय से सयोग सम्वन्ध से चाक्षुपकारणता सिद्ध होती है । जिसके फलस्वरूप मे चक्षुप्राप्यकारित्व की सिद्धि होती है ।

वेद न योग० इति । वाह ' नैयायिक महाशय ' आप भी-अध जल गगरी छलकत जाय-इस लोकोक्ति को चरितार्थ वना रहे हे, क्योकि आप यह जानते नही है कि योग्यता को, जो नेत्रोन्मिलन आदि से सपाद्य है, ही चाक्षुपविपपता का नियामक मानने से कोई अतिप्रसग होने का अवकाश नही है, क्योकि कितने ही कारण उपस्थित क्यो न हो ? मगर योग्यता के विरह मे कार्योत्पत्ति दुर्घट है । यदि आप इतने दूर तक सोचते तो किसी दहशत को अवकाश ही नही मिलता । नेत्र वध करने पर कालिक सम्वन्ध से विपय देश मे चक्षु के रहते हुए भी योग्यता, जो यहाँ आभिमुख्य (=नेत्र की विपयाभिमुखता) स्वरूप है, न होने के सवव चाक्षुप साक्षात्कार का कोई अवकाश नही है ॥३॥

नैयायिक :- यदाभि० इति । नेत्र की विपयदेशाभिमुख्यता तो चाक्षुपप्रत्यक्षकारणतावच्छेदकीभूत सयोग सम्वन्ध की ही नियामक

यत्र यत्र परिसर्पति चक्षुः तत्र तत्र किल वेदनजन्म । गौतमीयसमये तदिदानी प्राप्यकारिणि न चक्षुषि साक्षि ॥५॥

यत्तु - 'स्फटिकादिक भित्त्वा नयनरश्मिप्रसरण प्रत्यभिज्ञाभिज्ञाना दुरभ्युपगममिति - तत्तु विकटकपाटसपुटसघटितमपवरकमु-

★ जयलता ★

कि तेन ? इति न्यायेनाऽऽभिमुख्ये साक्षात्कारविषयतानियामकचक्षुःसयोगकारणत्वकल्पनाऽपेक्षया साक्षात्कारविषयत्वप्रयोजकत्वकल्पनाया युक्तत्वात्, चक्षु'सयोगनियामकादेव चाक्षुषवि- षयताप्रतिनियमसभवादिति परिभावनीयम् ।

कस्यचित् नेत्राऽप्राप्यकारित्ववादिनः मत दर्शयति-यत्त्विति । स्फटिकादिक अतिस्वच्छद्रव्य भित्त्वा = विदार्य परवर्तिविषयदेशपर्यन्त नयनरश्मिप्रसरण = नेत्रगोलकान्तर्गतकिरणवहिर्निर्गमन, प्रत्यभिज्ञाभिज्ञाना = प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्याभ्युपगन्तॄणा, दुरभ्युपगम = अशक्योपगममिति । अय यत्त्वाशयः नेत्राप्राप्यकारित्वपक्षे स्फटिकाद्यन्तरितविषयोपलब्धिः न सभवति । न च स्फटिकादिकमुपभिद्य विषयपर्यन्त नयनरश्मिगमनाऽङ्गीकारान्न दोषः, तदुक्त न्यायकुसुमाञ्जलौ उदयनेन ''स्फटिकाद्यन्तरितोपलब्धिः प्रसादस्वभावतया स्फटिकादीना तेजोगतेरप्रतिबन्धकतया प्रदीपप्रभावदेवोपपन्ना'' (न्या कु) इति वाच्यम् स्फटिकादिव्यवहितचाक्षुषप्रत्ययोदयानन्तर 'तदेवेद स्फटिकादिकमि'ति प्रत्यभिज्ञया पूर्वोत्तरकालीनस्फटिकाद्यभेदसिद्धेः, तस्या अप्रमाणत्वे सौगत एव क्षणभङ्गे विजयेत । एतेन सौसादृश्येन तदभेदावगाहिप्रत्यभिज्ञाया भ्रमत्वमिति भ्रान्तिः परास्ता तदानीं स्फटिकादीना सामग्रीविरहेणाऽऽकस्मिकत्वापत्तेश्चेति एकमनुसन्धित्सतोऽपर प्रच्यवते ।

केषाञ्चिन्मतेन यत्तुमत प्रत्याचष्टे तत्त्विति । विकटकपाटसपुटसघटित = निविडतरद्वारयुगलपिहित, अपवरक उपभिद्य = सामीप्येन भित्त्वा, प्रसृमरमृगमदपरिमलाभ्युपगमसमसमाधान = प्रसृत्वरकस्तुरिकामोदाङ्गीकारतुल्यपरिहारमिति । अयमाशयः यथाऽपवरकान्तःस्थकेशरकर्पूरकस्तुरिकादिसौर-भस्यातिनिविडकपाट्यामलावरुद्धापवरकवहिर्निर्गमनान्यथानुपपत्त्या तद्भिदोत्पादादिक कल्प्यते तथैवातिस्वच्छवस्तुव्यवहितार्थजातचाक्षुषान्यथानुपपत्त्या स्फटिकादिध्वसोत्पादादिक परिकल्प्यते । न च स्फटिकाद्याकस्मिकत्वापत्तेर्दुर्वारत्वमिति वाच्यम् मृगनाभिमलपरिमलप्रसरणपक्षेऽपि समानत्वात् । न चेश्वरज्ञानेच्छादितो नवीनापवरकादिनिर्माणमिति वाच्यम् स्फटिकाद्युत्पादेऽपि तस्य सुवचत्वात् । न च तदेवेद स्फटिकादिकमिति प्रत्यभिज्ञावाध

● रमणीया ●

है, न कि चाक्षुषप्रत्यक्षविषयता की । अत आपने पूर्व (द्वितीय श्लोक) मे जो कथन किया था कि→'आभिमुख्य वस्तुवोध का अर्थात् वोधविषयता का नियामक है'←वह ठीक नही है । इस तरह चक्षुप्राप्यकारित्व की सिद्धि हो सकती हे । विषयाभिमुख्य को चक्षुसयोगनियामक न मानने पर अपसिद्धात दोष प्रसक्त होगा ।

स्याद्वादी :- इहास्मि न० इति । चक्षुप्राप्यकारित्व की सिद्धि तव हो सकती यदि उक्त नियम का स्वीकार किया जाय । मगर उक्त नियम मे हमारी अनुमति ही नही है । हमने तो पूर्व मे ही वता दिया हे कि नयन का विषयाभिमुख्य ही ज्ञानविषयता का नियामक है । अर्थात् जिस विषय के अभिमुख नयन होता है उसीका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, अन्य विषय का नही । विषयाभिमुखता को नेत्रसयोग का नियामक मानना ओर नेत्रसयोग को चाक्षुषविषयता का नियामक मानना-इसकी अपेक्षा विषयाभिमुखता को ही चाक्षुषविषयता का नियामक मानना मुनासिव है । ऐसा मानने से नेत्रप्राप्यकारित्व की सिद्धि नही होगी । अपसिद्धान्त दोष (=कृतातकोप) तो सिर्फ आपके शिर पर आता है, हमारे पक्ष मे नही ॥४॥

यत्र० इति । अत यही मानना मुनासिव है कि नयन जिस जिस विषय के अभिमुख होता है, उस उस विषय का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । जव विषयाभिमुख्य से ही चाक्षुष प्रत्यक्ष मे प्रतिनियतविषयता की सिद्धि हो सकती है तो प्रतिनियतविषयक चाक्षुष से चक्षुसयोग की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? क्योकि प्रतिनियतविषयता अपने नियामक विषयाभिमुख्य की साधक है, न कि अपने अनियामक चक्षुसयोग की । नियम्य अपने नियामक का ही साधक होता है, न कि अनियामक का भी, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा । अत प्रतिनियत चाक्षुषविषयता भी नैयायिकदर्शन मे नेत्रप्राप्यकारित्व की सिद्धि मे सहायक नही हे ॥५॥

● चक्षुप्राप्यकारित्व पक्ष मे अन्य विद्वानो के द्वारा दोषारोपण ●

यत्तु० इति । यहाँ व्याख्याकार महोपाध्यायजी अन्य विद्वान् मनीषिओ का, जो चक्षुअप्राप्यकारित्व पक्ष को मान्यता देते हे, मत वताते है । उन मनीषियो का यह वक्तव्य हे कि- ''नेत्रप्राप्यकारित्व पक्ष मे स्फटिक, काच आदि पारदर्शक व्यवधायक पदार्थ से व्यवहित विषय के चाक्षुष प्रत्यक्ष की उपपत्ति हो सकती नही हे, क्योकि व्यवधायकस्वरूप प्रतिवन्धक विद्यमान है । यदि यहाँ नैयायिक महाशय यह कहे कि→'नयन मे से जो रश्मियाँ (=किरण) निकलती है वे स्फटिक आदि पारदर्शक व्यवधायक को तोड कर व्यवहित विषय पर्यन्त पहुँच कर उस विषय का चाक्षुष उत्पन्न करती हे । तथा ईश्वरइच्छा आदि से नूतन स्फटिक की वहाँ उत्पत्ति होती है, जो पूर्व स्फटिक सदृश होता है । अत नेत्रप्राप्यकारित्व पक्ष मे कोई वाधा नही है'←तो यह कथन उचित नही है, क्योकि 'स्फटिक को तोड कर नयनरश्मियाँ विषय देश मे जाती है' ऐसा माना जाय तव तो पूर्व स्फटिक का नाश और नये

पभिद्य प्रसृमरमृगमदपरिमलाभ्युपगमसमसमाधानमिति केचित् । वस्तुतो नयनस्य तैजसत्वाऽसिद्ध्या तद्रश्मय एव न सम्भवति ।

तैजस होता है जैसे प्रदीपादि । यदि रूपग्राहक द्रव्य होते हुए भी नयन मे तेजस्त्व न माना जाय तब तो प्रदीप

★ जयलता ★

इति वाच्यम् तदेवेदमपवरकादिकमित्यस्या अपि जागरूकत्वात् । न च तस्याः 'तदिवेदमित्यर्थकत्वेन सादृश्याऽवगाहित्वोपगमात्, अभेदावगाहित्वे तु तस्या भ्रमत्वादिति वाच्यम् स्फटिकादिप्रत्यभिज्ञानामपि तुल्यत्वात् । तदुक्त कुमारिलेन श्लोकवार्तिके -'यच्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥ (श्लो वा) इति ।

केचिदित्यनेनाऽस्वरसः सूचितः । तद्बीज त्विदम् - मृगमदादिद्रव्यवासिताना सूक्ष्मावयवानामेवापवरकच्छिद्रादितो वायुना सार्द्धं वहिर्निर्गमनात्, मदनादिना पिहितद्वारसध्यादिसपूरिते तु वायुवत् तद्बहिर्गमनस्याप्यसभवात्, तदानीं बहिःस्थितपुरुषादेः गन्धसाक्षात्कारस्याऽनुपलब्धेः स्वानुभवसिद्धत्वात्, समश्रेणिगामिनाऽतिसुकोमलेन नयनरश्मिना तु निश्छिद्रस्फटिकादिभेदस्याऽसभवात् ।

वस्तुगतिमनुरुध्य प्रकरणकारः स्वमत दर्शयति वस्तुत इति । नयनस्य तैजसत्वासिद्ध्या = चक्षुस्तेजस्त्वग्राहकप्रमाणविरहेण, तद्रश्मय एव न सभवन्ति । लोचनरश्मय एव वन्ध्यासुतसहोदरा इत्यर्थः । एतेन स्फटिकादिभेदनादिकल्पनाया कुड्य विना चित्रकर्मतुल्यत्वमावेदित भवति । न चेत्यस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । नैयायिकः चक्षुस्तैजसत्वसाधकानुमान दर्शयति-चक्षुरिति । पक्षनिर्देशोऽय, पक्षतावच्छेदकञ्च चक्षुष्ट्वम् । तैजसमिति । साध्यनिर्देशोऽय, समवायेन तेजस्त्व साध्यमत्र । चक्षुःसयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय हेतौ द्रव्यत्वे सतीति विशेषणोपादानम् । रूपादिष्विति । अत्र आदिशब्देन गधरसस्पर्शग्रहणम् । रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वादिति । एवकारेणाऽन्यगन्धादिगुणव्यवच्छेदः न तु तदभावरूपत्वादेः 'यो यदिन्द्रियेण गृह्यते तदभावः तद्गता जातिश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यत' इति वचनात् । अभिव्यञ्जकत्वञ्चाऽत्र न सूक्ष्मरूपेण स्थितस्याऽऽविर्भाव इति किन्तु प्रकाशकत्वम् । प्रदीपवदिति उदाहरणनिर्देशः स्वय गम्यः । यथा प्रदीपः तैजसः सन् रूपप्रकाशको भवति तथैव नयनमपि तैजस सदेव रूपप्रकाशक भवितुमर्हतीति भावः ।

ननु द्रव्यत्वे सति रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वस्य हेतोरञ्जनद्रव्ये सत्यपि तैजसत्व नास्तीति व्यभिचारकलकपङ्किलोऽय हेतुरिति

● रमणीया ●

स्फटिक की उत्पत्ति माननी होगी और ऐसा मानने पर 'यह वही स्फटिक है जो पूर्व मे था' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञान की, जो स्फटिकव्यवहितविषयक चाक्षुष के पूर्वकालीन और पश्चात् कालीन स्फटिक मे अभेद को सिद्ध करता है, उपपत्ति कथमपि नही हो सकेगी । प्रत्यभिज्ञा तो नैयायिक के मत मे भी प्रमाण ही है, जो बुद्धदर्शन के सामने नैयायिक का महा दिव्यशस्त्र है । अत स्फटिक आदि का भेद कर के नयनरश्मि की विषयदेशपर्यन्त गति को मान्यता देनी दर्शित प्रत्यभिज्ञा के स्वीकर्ता नैयायिक के लिए दुष्कर बन जाएगी ।'

● नैयायिक एकदेशीय का परिहार ●

तत्तु विक० इति । मगर इसके प्रतिवाद मे अन्य नैयायिक विद्वानो का यह वक्तव्य है कि-जेसे कमरे के दरवाजे को इस रीति से बध किया जाय कि जल का एक भी बुद कमरे के भीतर के भाग से बाहर न जा सके, फिर भी कमरे मे रखी हुई नदनवन के मृग की कस्तुरी की चेतनवती खुश्बु कमरे के बाहरी भाग मे झटिति चारो ओर फैल जाती है ठीक वैसे ही स्फटिक आदि के पर भाग मे नयनरश्मि का गमन सभवित है । आप जिन दोषो का नयनरश्मिनिर्गमनपक्ष मे आपादन करेगे उन दोषो का हम उक्त कस्तुरीसुवासप्रसरण मे आपादन करेगे । आप मृगकस्तुरी के सूक्ष्म अश का वहिर्निगमन तो मानते ही हैं । अत उन दोषो का वारण आपको भी करना ही होगा । उक्त दोष के निवारण के लिये आप जो समाधान वतायेगे वह समाधान हमारे लिए भी नयनरश्मिस्फटिकनिर्गमनपक्ष मे सुकर हो जायेगा । अत नयनरश्मि का विषयदेशपर्यन्त गमन मानने मे कोई दोष नही है । अत नेत्रप्राप्यकारित्व पक्ष ही श्रेयस्कर है ।

● नेत्र तैजस द्रव्य नही है - स्याद्वादी ●

वस्तुत० इति । नैयायिक के उक्त कथन के प्रतिवाद मे महामहोपाध्यायजी का जैनदर्शन की ओर से यह वक्तव्य है कि - यदि नयन मे रश्मि हो तब स्फटिक आदि भेदनपूर्वक बहिर्विषयदेश मे गमन आदि की उपपत्ति करना ठीक होता । मगर नेत्ररश्मि ही वध्यापुत्रतुल्य है, क्योकि नयन तैजस द्रव्य नही है । नेत्र मे तेजस्त्व न होने के सबब नेत्ररश्मि ही नामुमकिन है, क्योकि नैयायिक मतानुसार रश्मि तेजोद्रव्य ही हो सकती है । नेत्र मे तेजस्त्व ही नही है तो रश्मि की सभावना कैसे? और स्फटिकभेदनकल्पना कैसे? न रहेगा बाँस, न वजेगी बाँसुरी ।

नैयायिक :- चक्षुस्तैजस० इति । भाई जान ! आपने यह क्या कहा कि-नेत्र तैजस नही है ? नयन मे तेजस्त्व का साधक अनुमान प्रमाण जब तक जागृत है तब तक तो नेत्रतेजस्त्व की सिद्धि सुकर है । अनुमान का आकार इस तरह है कि-चक्षु तैजस द्रव्य है, क्योकि वह द्रव्य होते हुए रूपादि गुणो के बीच रूप की ही ग्राहक है । जो द्रव्य होते हुए रूपग्राहक होता है वह

तस्य चाक्षुषप्रयोजकत्वेऽपि तदजनकत्वादिति वाच्यम् अप्रयोजकत्वात् । नैयायिकैकदेशिनस्तु 'इन्द्रियत्व पृथिव्याद्यवृत्तिर्जन्यमाक्षात्का-

★ जयलता ★

शका निरसितुमाह नैयायिकः - न चाञ्जनेन व्यभिचार इति । अञ्जनञ्चोपलक्षण तथाविधौषध्यादीनाम् । हेतोः साध्याभाववद्वृत्तित्वेन न स्वलक्ष्यसाध्यसाधकत्व सभवतीति अवान्तरशङ्काशय' । तस्य निरासे नैयायिको हेतुमाह - तस्य = अञ्जनस्य । चाक्षुषप्रयोजकत्वेऽपि = चाक्षुषदर्शनानुग्राहकत्वेऽपि तदजनकत्वादिति । चाक्षुषप्रत्यक्षजनकत्वविरहादित्यर्थः । अञ्जन चक्षुर्नैर्मल्यस्यैव साक्षात् कारण न तु चाक्षुषदर्शनस्येति तथा द्रव्यत्वे सत्यपि रूपविषयकसाक्षात्कारकारणत्वविरहेण विशेष्याऽभावप्रयुक्तविशिष्टाभावसत्त्वेन हेतोरेवासिद्धेः कुतो व्यभिचारपिशाचप्रचारस्याऽवकाश इति नैयायिकसमाधानाशयः ।

स्याद्वादी अवान्तरशकानिराकरणघटितमुख्यशकाऽपाकरणे हेतुमाह अप्रयोजकत्वादिति दर्शितानुमानस्य विपक्षबाधकयुक्तिविकलत्वादित्यर्थ' । चक्षुषि द्रव्यत्वे सति रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वमस्तु, मास्तु तैजसत्वमिति परेण पर्यनुयोगे कृते न किञ्चिदपि बाधक प्रमाण नैयायिकेन वक्तु शक्यते । विपक्षबाधकप्रमाणविरहे तदभ्युपगमस्याऽन्याय्यत्वात् ।

किञ्च नयनस्य तैजसत्वे प्रदीपवदुद्भूतस्पर्शोद्भूतरूपवत्त्वप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्, अनुद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्शवत्तेजोऽन्तरकल्पनेऽतिगौरवादिति दिक् ।

ननु दर्शितविजातीयतेजोऽन्तरकल्पने गौरवाच्चक्षुष्ट्व तैजसाऽवृत्ति चाक्षुषसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकजातिविशेषरूपमेवाऽभ्युपगन्तु-मर्हति । अत एव घ्राणत्वादिकमपि पृथिव्याद्यवृत्तिजातिविशेषरूपमेवोपगन्तु युज्यत इत्याशयवता नैयायिकैकदेशिना मत दर्शयति-नैयायिकैकदेशिनस्त्विति । एकदेशित्वञ्च सिद्धान्तैकदेशाश्रयकत्वे सति स्वतन्त्राधिकार्थनिरूपकत्वम् । तुकारः सर्वथाऽक्षपादसिद्धान्ताश्रितनैयायिकमतापेक्षया विशेषद्योतनार्थ' ।

● रमणीया ●

भी तैजस होता है जैसे प्रदीपादि । यदि रूपग्राहक द्रव्य होते हुए भी नयन मे तेजस्त्व न माना जाय तव तो प्रदीप भी अतैजस हो जायेगा । अत रूपग्राहकद्रव्यत्व के सबब चक्षु मे तैजसत्व की सिद्धि होती है । यहाँ यह शका करना कि—>''अजन तो रूपादि गुण के मध्य मे रूप गुण का अभिव्यञ्जक होते हुए भी तेजस द्रव्य नही है । अत साध्याभाववद्वृत्ति होने से तैजसत्वसाधक हेतु व्यभिचारी हे । हेतु मे साध्य की व्याप्ति ही नही है तो उससे मनोवाछित साध्य की सिद्धि कैसे होगी ?''<—ठीक नही है, क्योकि अञ्जन द्रव्य रूप का प्रकाशक नही है अर्थात् रूपसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नही है किन्तु रूपसाक्षात्कार का प्रयोजक (=परपर कारण) हे । आशय यह है कि नयन जैसे साक्षात् रूपदर्शन का साक्षात् कारण है वैसे अञ्जन रूपदर्शन का साक्षात्कारण नही है । अञ्जन तो नयन मे नैर्मल्य का आधान कर के चरितार्थ हो जाता है । अजन को यदि चाक्षुष साक्षात्कार का कारण माना जाय तव तो जिस पुरुष के नयन मे अजनसस्कार कभी भी हुआ नही है, उसे चाक्षुष दर्शन न हो सकेगा, क्योकि एक भी कारण के विरह मे कार्य उत्पन्न होता नही है । इस तरह अजन द्रव्य मे द्रव्यत्वरूप विशेषण होने पर भी रूपसाक्षात्कारकारणत्वरूप विशेष्य न होने से विशिष्ट हेतु का अभाव सिद्ध होता है । जव कि अजन मे हेतुता ही नही है तव तैजसत्व न हो तो भी हमे क्या क्षति ? क्योकि व्यभिचार दोष तव आता है जव पक्षेतर मे हेतु हो और साध्य न हो । अत दर्शित हेतु मे व्यभिचार दोष का उद्भावन करना सिर्फ अपनी अज्ञता का ही सूचक है । अत चक्षु मे तेजस्त्व की सिद्धि उपदर्शित अनुमान प्रमाण से हो सकती हे । जव चक्षु मे तैजसत्व सिद्ध हुआ तव तो चक्षुरश्मि की सिद्धि अनायास ही हो जायेगी । और व्यवहितविषय के अचाक्षुष से नयन मे प्राप्यकारित्व की भी सिद्धि हो जायेगी ।

स्याद्वादी :- अप्रयो० इति । जनाव ! सेर को सवा सेर मिलना इस दुनिया मे मुश्किल नही है । आपने जो अनुमान बताया है, उसमे अप्रयोजकत्व दोष होने से नेत्र मे तेजसत्व की सिद्धि नही हो सकती । आशय यह हे कि किसी भी हेतु से स्वमनीषित साध्य की सिद्धि तव हो सकती है यदि विपक्षबाधक तर्क उपस्थित हो । अर्थात् 'पक्ष मे हेतु हो मगर साध्य न हो तो क्या दोष है ?' इस शका का निवर्तक अनुकूल तर्क न हो तव हेतु से स्वेष्ट साध्य की सिद्धि हो नही सकती । जैसे 'राम काला है, क्योकि दशरथ का लडका है जैसे लक्ष्मण' इत्यादि अनुमान से राम मे श्यामत्व का सिद्धि हो सकती नही है, क्योकि 'राम भले ही दशरथपुत्र हो, फिर भी काला न हो क्या दोष है ?' इस शका का निवर्तक यहाँ कोई तर्क नही है । ठीक वैसे ही दर्शित अनुमान मे यह शका हो कि- 'नयन मे भले ही रूपग्राहकद्रव्यत्व हो, मगर तेजसत्व न हो तो क्या दोष है ?' इसका निरासक कोई अनुकूल तर्क नैयायिक की ओर से दिखाया जा नही सकता । अत उक्त अनुमान से नयन मे तैजसत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । यदि विपक्षबाधक युक्ति न हो, फिर भी यदि स्वाभिमत साध्य सिद्ध हो जाय तव तो भारी अव्यवस्था हो जायेगी । अत नयन मे तेजसत्व की सिद्धि का मनोरथ छोडना होगा । अतएव नेत्र मे प्राप्यकारित्व की सिद्धि नामुमकिन है । झूठ को पावँ कहाँ ? साँच को आँच कहाँ ?

● इन्द्रियत्व पृथिव्यादि मे न रहनेवाली जाति है - नैयायिक एकदेशी ●

नैयायिक :- नैया० इति । वाह ! अनेकान्तवादी ! आपने ठीक ही कहा है कि-नयनेन्द्रिय तैजस नही है । हम भी यही कहते है कि इन्द्रियत्व एक जातिविशेष है जो पृथिव्यादि मे नही रहता है और जन्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपित जनकता का अवच्छेदक

रत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदको जातिविशेष इत्याहुः ।

तन्नेत्यन्ये - 'इन्द्रियत्वेन साक्षात्कार प्रति हेतुत्वे चक्षुःसयोगेनाऽन्धकारस्थघटादिसाक्षात्कारापत्तेः । एव सति चक्षुषो रश्म्यप्रसिद्ध्या प्राप्यकारित्वमपि दुरुपपादम् ।

★ जयलता ★

तमेव दर्शयति इन्द्रियत्वमिति । पृथिव्याद्यवृत्ति जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदको जातिविशेष इति । पृथ्वीत्वादिना साकर्यवारणाय पृथिव्याद्यवृत्तिरित्युक्तम् । अनेन नयनस्याऽतैजसत्वमावेदित, ईश्वरसाक्षात्कारवारणाय-'जन्ये'ति साक्षात्कारविशेषणम् । तेन साक्षात्कारत्वस्य प्रागभावप्रतियोगित्वरूपकार्यतातिरिक्तवृत्तित्वेन जन्यतानवच्छेदकत्वमित्युक्तावपि न क्षति जन्यसाक्षात्कारत्वस्यैव जन्यतावच्छेदकत्वात् । जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकः पृथिव्याद्यवृत्तिरेव जातिविशेष इत्यर्थः । जन्यसाक्षात्कारकारणतावच्छेदकतया य इन्द्रियत्वाभिधानो जातिविशेषः सिध्यति स च न पृथिव्यादिभूतपञ्चकनिष्ठो येन विजातीयभूतपञ्चककल्पनमिति नैयायिकैकदेश्याशयः । सिद्धान्तिनैयायिकमते तु इन्द्रियत्व न जातिः पृथिवीत्वादिना साकर्यात् किन्तु शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसयोगाश्रयत्वम् । तच्च पृथिव्यादिवृत्ति । यद्वा स्मृत्यजनकज्ञानहेतुमनःसयोगाश्रयत्व तत्, प्राणशरीरात्मानश्च स्मृतिजनकमनःसयोगवन्तः ।

केचित्तु प्रत्यक्षत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यवच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिककारणताश्रयत्वमिन्द्रियत्व, चाक्षुपत्वाद्यवच्छिन्न प्रति चक्षुष्ट्वादिना हेतुत्वात् सर्वत्र लक्षणसमन्वय इत्यप्याहुः ।

नैयायिकैकदेशिमत साम्प्रतमन्येपा मतेनाऽपाकरोति - तन्नेत्यन्ये व्याचक्षत इति शेषः । तदेवाऽऽह इन्द्रियत्वेन = पृथिव्याद्यवृत्तिजातिविशेषरूपेण, साक्षात्कार = जन्यसाक्षात्कार, प्रति हेतुत्वे अभ्युपगम्यमान इति शेषः । चक्षु सयोगेनेति । सयोगसम्बन्धेन चक्षुषा दर्शितेन्द्रियत्वविशिष्टस्य चक्षुरिन्द्रियस्य सयोगसबधेन इन्द्रियत्वेन रूपेण द्रव्यविषयकजन्यसाक्षात्कारसामान्यहेतुत्वात्, तेन रूपेण तेन सम्बन्धेन तस्य तमःस्थघटादौ वृत्तितया साक्षात्कारसामान्यस्य स्वसामग्रीवलायातस्य दूरोत्सारयितुमशक्यत्वात् । एव सयुक्तसमवाय-सयुक्तसमवेतसमवायादिना तद्रूपेण नयनेन्द्रियस्याऽन्धकारवृत्तिघटादिरूप-तद्रूपत्वादिवृत्तित्वात् तदीयरूपत्वादिसाक्षात्कारसामान्यापत्तेरपि दुर्निवारत्वात् अजा निष्काशयतः क्रमेलकापात इति न्यायागमः ।

प्रकरणकारः स्वाभिप्रायेण नैयायिकैकदेशिमते दोषान्तर प्रदर्शयति-एव सति= इन्द्रियत्वस्य पृथिव्याद्यवृत्तिजातिविशेषरूपत्वस्वीकारेण चक्षुष्ट्वस्य तैजसाऽवृत्तिजातिविशेषरूपत्वोपगमे सतीत्यर्थः । चक्षुषो रश्म्यप्रसिद्ध्या प्राप्यकारित्वमपि दुरुपपादम् । चक्षुषः तैजसत्वादिविरहेण रश्म्यसभवः । अत एव तस्य सयोगसम्बन्धेन हेतुत्वासभवः अन्यथाऽधिष्ठानस्य नेत्रगोलकशून्यत्वापत्तेः । इत्यश्च नेत्रे स्वसबद्धार्थग्राहकत्वस्याऽनुपपत्तिरिति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः ।

● रमणीया ●

होता है । अर्थात् जन्यप्रत्यक्षमात्र का कारणतावच्छेदक धर्म इन्द्रियत्व जाति है, जो पृथिवी आदि पाच भूतो मे रहती नही है । जब कि पाचो इन्द्रिय मे रहनेवाला इन्द्रियत्व सामान्य पृथ्वी आदि मे रहता नही हे तब नयनेन्द्रिय मे रहनेवाला नयनत्व, जो कि इन्द्रियत्वव्याप्यजातिविशेषस्वरूप है, तेजोद्रव्य मे किस तरह रहेगा ? जब कि नयनत्व तेजोद्रव्य मे नही रहता हे तब नयन को तैजस केसे माना जाय ? अत नयन अतैजस ही है ।

● इन्द्रियत्व जातिविशेषरूप नही है - अन्य विद्वान् ●

तन्नेत्यन्ये० इति । अन्य विद्वान् मनीषियो का यह कथन है कि- ''दर्शित नेयायिक एकदेशीय का मत तथ्यहीन है । इसका कारण यह है कि इन्द्रियत्व को पृथिवी आदि मे न रहनेवाली जातिस्वरूप मानी जाय तब भी इद्रियत्वरूप धर्म से जन्य साक्षात्कार की इद्रिय मे हेतुता मानने पर तो अधकार मे रहे हुए घट का साक्षात्कारसामान्य होने की आपत्ति आयेगी । आशय यह है कि जन्य साक्षात्कार सामान्य के प्रति प्रकाश हेतु नही है । अत घट अधकार मे रहता है तब भी इन्द्रियत्वरूपेण चक्षु इन्द्रिय सयोग सम्बन्ध से उसमे रहती है । साक्षात्कार सामान्य की सामग्री होने के सबब उस काल मे घट का साक्षात्कार होने की आपत्ति आयेगी । अत इन्द्रियत्व को पृथिवी आदि मे न रहनेवाली जाति मानना नामुनासिब है'' ।

● नेत्रअप्राप्यकारित्व अनिराकार्य - स्याद्वादी ●

एव सति० इति । नैयायिक एकदेशीय इन्द्रियत्व को पृथिवी आदि मे न रहनेवाली जातिस्वरूप मानते है । मगर वे नैयायिक होने के सबब नेत्र को प्राप्यकारी तो मानते ही हे । अत इनके प्रतिवाद के रूप मे ग्रथकार अपनी ओर से नैयायिक एकदेशीय के मत मे दोषप्रदर्शन करते हे कि - 'इन्द्रियत्व को पृथ्वी आदि मे अवृत्ति जातिविशेषस्वरूप और चक्षुष्ट्व को तेजोद्रव्य मे अवृत्ति जातिविशेषरूप मानने पर नेत्र मे प्राप्यकारित्व की सिद्धि न हो सकेगी, क्योकि अतैजस चक्षु को सयोगसम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार का कारण मानना असभवित है । आशय यह हे कि चक्षु अतेजस होने से नेत्ररश्मि की विषयदेशपर्यन्त गति नही मानी जा सकती । तथा सयोग सम्बन्ध से नेत्र को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण मानने पर घटचाक्षुष काल मे नेत्राधिष्ठान शून्य होने की आपत्ति आयेगी ।

ननु किञ्चिदवच्छेदेन तमःप्रच्छन्नेऽपि भित्त्यादौ यदवच्छेदेन चक्षुःसंयोगस्तदवच्छेदेनाऽऽलोकसयोगादेव चाक्षुपदर्शनात् चक्षुषः प्राप्यकारित्व सेत्स्यतीति चेत् ? एतन्निपुणतरमन्धकारवादे प्रतिविधास्यामः ।

एवञ्च "शाखाभिमुखेन चक्षुषा विटपिनो मूलावच्छिन्नसयोग्रहा भावादव्याप्यवृत्ति चाक्षुप प्रति चक्षुःसयोगावच्छेद-

★ जयलता ★

उक्तदोषमपाचिकीर्षवो नैयायिकैकदेशिन इन्द्रियत्वस्य पृथिव्यायवृत्तित्वमङ्गीकरणेऽपि नेत्रप्राप्यकारित्व साधयन्ति नन्विति । किञ्चिदवच्छेदेन = परवर्त्यादिभागावच्छेदेन तम प्रच्छन्नेऽपि = अन्धकारावृतेऽपि, भित्त्यादौ यदवच्छेदेन =पुरोवर्तिप्रभृतिभागावच्छेदेन, चक्षु सयोग भवतीति शेष' । तदवच्छेदेन = चक्षुःसयोगावच्छिन्नभित्त्यादिभागावच्छेदेन, आलोकमयोगादेव = सौरायालोकसन्निकर्षादेव, चाक्षुपदर्शनात् = चाक्षुपप्रत्ययोदयोपलब्धे', चक्षुप प्राप्यकारित्व सेत्स्यतीति । सामानाधिकरण्येन चक्षुःसयोगावच्छिन्नालोकसयोगस्य चाक्षुपजनकत्वोपगमेन न चक्षु'सयोगेनाऽन्धकास्यविषयचाक्षुपापत्तिः चक्षुःसंयोगावच्छिन्नालोकसयोगविरहात्, न वा चक्षुप्राप्यकारित्वापत्तिः, फलबलोन्नेयत्वेन चाक्षुपकारणतावच्छेदकविधया नेत्रविपयसयोगस्य सिद्धेरित्येकशस्त्रेण दोपद्वयपराहतिरिति । युक्तश्चैतत्, इत्यमेव भित्त्यादिपरवर्तिभागस्याऽऽलोकसयुक्तत्वेऽपि नयनाभिमुखपुरोवर्तिभागस्याऽन्धकारवत्त्वदशाया तदचाक्षुपोपपत्तेः । एवञ्च द्रव्यविपयकचाक्षुप प्रति समानावच्छेदकतासम्बन्धेन चक्षु'सयोगविशिष्टालोकसयोगस्य समवायेन, द्रव्यसमवेतगुणादिगोचरचाक्षुप प्रति चक्षु'सयोगविशिष्टालोकसयोगस्य स्वसमवायिसमवायसम्बन्धेन, रूपत्वादिगोचरचाक्षुप प्रति चक्षुःसयोगविशिष्टालोकमयोगस्य स्वसमवायिसमवेतसमवायसम्बन्धेन हेतुत्वमित्यादि स्वधिया भावनीयम् ।

वस्तुतोऽत्र परमाण्वादिचाक्षुपवारणाय चक्षु'सयोगावच्छेदकावच्छिन्न-महदुद्भूताऽनभिभूतरूपवदालोकसयोगत्वेन द्रव्यचाक्षुपत्वावच्छिन्न प्रति कारणताऽङ्गीकारे न दोपलेशगधोऽपीति पराशयः ।

प्रकरणकारः समाधानवार्ताऽतिदेश दर्शयति - एतदिति । परोक्तकारणत्वम् । अन्धकारवादे = अन्धकारद्रव्यत्वस्थापनवादे आलोकाभावेन तमोव्यवहारनिर्वाहनिराकरणाऽवसरे, प्रतिविधास्याम = निराकरिष्यामः । 'आलोकसयोगस्याऽप्यवच्छेदकत्वसम्भवे विनिगमनाविरहादि(दृश्यता श्लो ५ वृ)त्यत्र वक्ष्यमाणग्रन्थे स्पष्टीभविष्यतीदम् ।

चक्षुःप्राप्यकारित्वसाधनान्तर प्रतिविधातुमुपन्यस्यति-एवञ्चेति । अस्याऽन्वयश्च प्रतिविधातव्यप्रायमित्यत्र । विटपिन = वृक्षस्य, मूलावच्छिन्नसयोग ग्रहाभावादिति । मूलावच्छिन्न' कप्यादिसयोग', तस्य चाक्षुपसाक्षात्काराभावरूपाद् हेतोरिति । अव्याप्यवृत्तिचाक्षुप = स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिस्वरूपाऽव्याप्यवृत्तिविपयचक्षुर्जन्यप्रत्यय प्रति चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्न-समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारताया इति । चक्षुःसयोगस्याऽवच्छेदकेनाऽवच्छिन्नेन = नियन्त्रितेन समवायसम्बन्धेनावच्छिन्नायाः = विशिष्टाया आधारतया निरूपिताया'आधेयतायाः । सन्निकर्पस्येति चाक्षुपकारणतावच्छेदकससर्गत्वस्य । अवश्यकल्पनीयतया चक्षुप प्राप्यकारित्वमायास्यति = सेत्स्यतीत्यर्थः । अयमाशयः नयनस्य शाखाभिमुखत्वदशाया शाखावच्छिन्नकप्यादिसयोगविषयकचाक्षुपसाक्षात्कारे सत्यपि मूलावच्छिन्नकप्यादिसयोगचाक्षुपान्यथानुपपत्त्या न चक्षु'सयुक्तसमवायावच्छिन्नाधारतानिरूपितताधेयतायाः चाक्षुपकारणतावच्छेदकससर्गत्व सभवति किन्तु चक्षु'सयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायेनावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयताया एव तत्त्व कल्पयितुमुचितम् । न च शाखावच्छिन्नसयोगस्य चाक्षुपविपयत्वेन मूलावच्छिन्नसयोगेऽपि शाखाभिमुखचक्षुर्जन्यप्रती- तिविपयत्व सिद्धमेवेति वाच्यम् तत्तत्सयोगस्य स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वेन भेदात् । ततश्चाऽव्याप्यवृत्तिविपयकचाक्षुपकारणतावच्छेदकससर्गतावच्छेद- कविधया तत्र चक्षुःसयोगसिद्ध्या नेत्रस्य स्वसबद्धार्थग्राहकत्वरूप-प्राप्यकारित्वसिद्धिरिति परस्याऽऽशयः ।

● रमणीया ●

अत नैयायिक एकदेशीय के मत मे चक्षुप्राप्यकारित्व तो अनुपपन्न ही रह जायेगा । अर्थात् 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' न्याय से नेत्र-अप्राप्यकारित्व की मान्यता देनी पडेगी ।

पूर्वपक्ष :- ननु कि० इति । जी, हजरत ' नेत्र मे प्राप्यकारित्व कि सिद्धि तो निम्नोक्त चाक्षुपप्रत्यक्षानुरोध से निरावाध ही है । जरा कान खोल कर सुनिये ' यद्यपि अन्धकार चाक्षुप प्रत्यक्ष का विरोधी (प्रतिवन्धक) है, फिर भी दिवार के परवर्ती भाग मे अन्धकार होने पर भी पुरोवर्ती भाग का, जिसमे आलोक सयोग रहता है, चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है । इससे यह सिद्ध होता है चक्षु सयोगावच्छेदेन आलोकसयोग चाक्षुप प्रत्यक्ष का हेतु होता है । अर्थात् जिस भाग मे चक्षु सयोग रहता हे उसी भाग मे यदि आलोकसयोग रहता हो तव उस भाग का चाक्षुप प्रत्यक्ष हो सकता है । इस तरह द्रव्यविपयक चाक्षुप प्रत्यक्ष मे समानावच्छेदकतासम्बन्ध से चक्षु सयोगविशिष्ट आलोकसयोग को हेतु मानने से कारणतावच्छेदकविधया विपयनिष्ठतया से चक्षुसयोग सिद्ध होता हे जिसकी वजह चक्षुप्राप्यकारित्व का प्रामाणिक व्यवहार हो सकेगा । अत· चक्षु को अप्राप्यकारी मानना सगत नही है ।

उत्तरपक्षः एतन्निपु० इति । ठीक किया कि आपने अपने दिल का गुस्सा निकाल दिया । अभी ओर शात हो जाइयेगा, वाद मे हम आपके उपर्युक्त वक्तव्य का निराकरण अधकारवाद मे (देखिये पृ) करेंगे, क्योकि अभी उसका अवसर नही है । (प्रिय पाठक ' यहाँ चक्षुसयोगावच्छेदेन आलोकसयाग को द्रव्यचाक्षुप का कारण मानना या आलोकसयोगावच्छेदेन चक्षु सयोग को? इसमे विनिगमनाविरह दोप प्रसक्त है जिसका विश्लेपण हम अधकारवाद मे करेंगे । अभी तो ग्रथ के अनुसार ही हम आगे चलेगे, चलिये आगे ')

नैयायिक :- शाखाभिमु० इति । चक्षुप्राप्यकारित्व की सिद्धि तो अव्याप्यवृत्तिविपयक चाक्षुपस्थलीय कार्य-कारणभाव के वल से भी हो सकती हे । देखिये, जव आँखे वृक्ष की शाखा के अभिमुख होती हे तव वृक्ष मे शाखावच्छिन्न कपिआदिसयोग का चाक्षुप साक्षात्कार तो होता है मगर कपि आदि के मूलावच्छिन्न सयोग का चाक्षुप साक्षात्कार होता नही है । इससे यह निश्चित होता

कावच्छिन्नसमवाय सम्बन्धावच्छिन्नाधारतायाः सन्निकर्षस्याऽवश्यकल्पनीयतया चक्षुपः प्राप्यकारित्वमायास्यती''त्यपि प्रतिविधातव्यप्राय

★ जयलता ★

प्रतिविधातव्यप्राय वेदितव्यमिति । वक्ष्यमाणरीत्याऽत्रापि विनिगमकाभावात् समवायावच्छेदकावच्छिन्नचक्षुःसयोगसम्बन्धावच्छिन्नाऽऽधारतानिरूपिताधेयतायामपि तत्कारणतावच्छेदकससर्गत्वस्य वक्तु शक्यत्वेनातिगौरवप्रसङ्गादित्याशयः ।

वस्तुतः समवायस्यैव वन्ध्यास्तनधायमानत्वेन तद्घटितदर्शितरीत्या नेत्रप्राप्यकारित्वमनोरथो न सपूर्यते इत्यादिक स्वत उन्नेयम् । अत एव 'प्रायमि'त्युक्तम् ।

ननु नेत्राऽप्राप्यकारित्वे कथ नयनस्य शाखाभिमुखत्वदशाया मूलावच्छिन्नसयोगे चाक्षुपप्रतीतिविपयत्वाभावस्योपपत्तिरित्याशङ्कायामाह तदानीमिति ।

● रमणीया ●

है कि सिर्फ सयुक्तसमवायसम्बन्धावच्छिन्न आधारता चाक्षुप प्रत्यक्ष का कारणतावच्छेदकसम्बन्ध नही है किन्तु चक्षु सयोगावच्छिन्न ऐसे समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न आधारता ही तादृश ससर्ग है । यहाँ आधारता का अर्थ है आधारतानिरूपित आधेयता । आशय यह है कि समवाय सम्बन्ध तो व्यापक है । अत चक्षु स्वसयुक्तसमवायसम्बन्ध से जैसे शाखावच्छिन्न कपिसयोग मे रहती है ठीक वैसे ही मूलावच्छिन्न कपिसयोग मे भी रहती है । अत चक्षु की शाखाभिमुख अवस्था मे भी मूलावच्छिन्न कपिसयोग के प्रत्यक्ष होने की आपत्ति आयेगी । मगर उस दशा मे मूलावच्छिन्न कपिसयोग का प्रत्यक्ष होता नही है । अत इस आपत्ति के निवारणार्थ यही मानना होगा कि स्वसयोगावच्छेदकावच्छिन्न जो समवायसम्बन्ध, उससे अवच्छिन्न जो आधारता, उससे निरूपित आधेयता जहाँ रहती हो उस अव्याप्यवृत्ति सयोगादि गुण के चाक्षुप साक्षात्कार का नेत्र कारण है । अर्थात् स्वावच्छेदकावच्छिन्नसमवायाच्छिन्नआधारतानिरूपित आधेयता अव्याप्यवृत्तिविपयक चाक्षुपकारणतावच्छेदक सम्बन्ध है । स्वपद से चाक्षुपकारणीभूत चक्षु का ग्रहण अभिप्रेत है । जब ऑखे शाखा के अभिमुख होती है तब चक्षुसयोग का अवच्छेदक शाखा है । चक्षुसयोगावच्छेदकीभूत शाखा से अवच्छिन्न जो समवाय सम्बन्ध है उससे अवच्छिन्न आधारता शाखावच्छिन्न वृक्ष मे है । शाखावच्छिन्न वृक्षनिष्ठ आधारता से निरूपित आधेयता शाखावच्छिन्नवृक्षवृत्ति कपिसयोग मे है, मूलावच्छिन्नवृक्षवृत्ति कपिसयोग मे नही । अत शाखाभिमुख नेत्र से शाखावच्छिन्न कपिसयोग का, जो कि मूलावच्छिन्न वृक्ष मे रहता नही है, चाक्षुप प्रत्यक्ष होना सगत होता है, क्योकि उक्त सम्बन्ध से नेत्र शाखावच्छिन्न कपिसयोग मे, जो कि विपयतासम्बन्ध से कपिसयोगविपयक चाक्षुप प्रत्यक्ष का अधिकरण है, रहने के सबब कार्य ओर कारण मे सामानाधिकरण्य सपन्न होता है । उस अवस्था मे मूलावच्छिन्न कपिसयोग के चाक्षुप साक्षात्कार की आपत्ति भी हो नही सकती, क्योकि विषयतासम्बन्ध से मूलावच्छिन्नकपिसयोगविपयक चाक्षुप साक्षात्कार के अधिकरणतया अभिप्रेत मूलावच्छिन्न कपिसयोग मे उपर्युक्त चाक्षुपकारणतावच्छेदकीभूत सम्बन्ध से नेत्र न रहने की वजह कार्य और कारण मे वैयधिकरण्य होता है । जब कार्य ओर कारण समानाधिकरण होते हैं तभी कार्यजन्म हो सकता है, अन्यथा कार्य का देशनैयत्य नही होगा । यहाँ यह शका कि—→'कपिसयोग शाखावच्छिन्न ही होता है, मूलावच्छिन्न नही'←—नही करनी चाहिए, क्योकि यह कोई राजाज्ञा नही है कि बदर साहब शाखा मे ही बेठे, मूल मे नही । इस तरह अव्याप्यवृत्तिविपयक चाक्षुप साक्षात्कार के कारणतावच्छेदक सम्बन्ध की कुक्षि प्रविष्टतया विपयदेश मे रहनेवाले चक्षुसयोग की सिद्धि होती है, जो चक्षुप्राप्यकारित्व की आक्षेपक हे ।

स्याद्वादी :- प्रतिविधातव्यप्राय० इति । जी, हजरत ! अब पछताये होत क्या जब चिडियाँ चुग गई खेत ! जब कि - 'ननु किञ्चिदवच्छेदेन' . इत्यादि लबा-चौडा पूर्वपक्ष छिन्न-भिन्न हो गया, तब उसी रीति से आपकी राम कहानी भी कफन मे सो जायेगी । जो युक्ति पूर्वोक्त पूर्वपक्ष के निराकरण मे कामयाब होती है, उसीसे आपके भी दाँत खट्टे हो जायेंगे । इसका कारण यह है कि वक्ष्यमाण रीति के अनुसार यहाँ भी आपके मन्तव्य के खिलाफ यह विकल्प उपस्थित होता है कि - 'अव्याप्यवृत्तिविपयक चाक्षुप का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्न समवाय से अवच्छिन्न आधारता से निरूपित आधेयता माना जाय या समवायावच्छेदकावच्छिन्न चक्षु सयोग से अवच्छिन्न आधारता से निरूपित आधेयता ?' इसमे से एक भी पक्ष की साधक प्रबल युक्ति नही है, जिसकी वजह विनिगमनाविरह दोप प्रसक्त होता है । अव्याप्यवृत्तिविपयक चाक्षुप के कारणतावच्छेदकविधया सम्बन्ध ही निश्चित होता नही है, तब कार्य-कारणभाव का, जो यहाँ आपने बताया है, निश्चय कैसे हो सकेगा ? आपके वक्तव्य से कार्यकारणभाव का निश्चय न होने से आपके सुझाव को मान्यता नही दी जा सकती ।

नैयायिक :- ठीक है आपको हमारी बात अस्वीकार्य है । मगर जब आँखे शाखा के अभिमुख होती हैं तब मूलावच्छिन्न कपिसयोग के चाक्षुप साक्षात्कार का उदय क्यो होता नही हे ? उसकी उपपत्ति तो नेत्राऽप्राप्यकारित्वपक्ष मे कैसे हो सकेगी ? जब तक आप उसकी उपपत्ति न कर सके, तब तक हमने उसका जो उपपादन किया है, उसका स्वीकार अनिच्छा से भी करना होगा।

स्याद्वादी :- तदानीं० इति । जनाब ! आपको मालुम नही है कि हम सात घाट का पानी पी चुके है। शाखाभिमुख नयन से मूलावच्छिन्न कपिसयोग के अचाक्षुप की उपपत्ति करना तो हमारे बाएँ हाथ का खेल है। जरा, कान खोल कर सुनिये, हम कहते हे कि-चक्षु अप्राप्यकारी होने पर भी वह जिस द्रव्य के प्रति अभिमुख होती है। उस देश का ओर उस देश से अपृथग्भूत

चक्षुरभिमुखदेशाऽविष्वग्भावाभावादेव सयोगादिचाक्षुषानुदयात् । 'रूव पुण पासई अपुट्ठ तु' (आ नि.गा.५) इत्याद्यागमोऽप्यत्रार्थे साक्षीति दिक् ।

★ जयलता ★

नयनस्य शाखाभिमुखत्वेन मूलानभिमुखत्वकाले । चक्षुरभिमुखदेशाविष्वग्भावाभावादेवेति । चक्षुरभिमुखदेशापार्थक्यादेव, मूलावच्छिन्नसयोगदेशस्येति शेषः । सयोगादिचाक्षुषानुदयादिति वृक्षीयमूलावच्छिन्नसयोगादिविषयकचाक्षुषसाक्षात्कारविरहात् न नेत्राप्राप्यकारित्वसिद्धिरिति भावः । अयमाशयः चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वपक्षे यद्देशाभिमुख चक्षुः तद्देशस्य एव तद्देशाऽविष्वग्भूतयोग्यगुणकर्मादि-तदभावादेः चाक्षुष भवतीति नियमोऽङ्गीक्रियते । अनेन द्रव्यचाक्षुष प्रति नेत्राऽभिमुखत्वस्य, गुणादिचाक्षुष प्रति च नेत्राभिमुखदेशापृथग्भूतत्वस्य विशिष्य कारणत्वमुपदर्शितम् । स्वनये गुणादिर्न समवायेन द्रव्यवृत्तिः किन्त्वविष्वग्भावसम्बन्धेन, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अत एव स्याद्वादिमतेऽननुगतसयोग-संयुक्तसमवाय-संयुक्तसमवेतसमवाय-तत्त्रितयविशेषणताना चाक्षुषकारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तित्वकल्पनागौरवस्याऽनवकाश । एतेन गौरवस्य फलमुखत्वकल्पनाऽपाकृता लाघवसहकृतगत्यन्तरस्य सत्त्वात् । एवञ्च मूलावच्छिन्नसयोगस्य नयनाभिमुखशाखारूपदेशाऽविष्वग्भावविरहेण चाक्षुषप्रत्ययविषयत्वाभावः तदप्राप्यकारित्वेऽप्युपपद्यते ।

नन्वेव सत्यपसिद्धान्तनिग्रहस्थानकलितत्व स्यादित्याशङ्कायामाह-'रूव' इत्यादि । रूप पुनः पश्यति अस्पृष्टमेवेत्यर्थः, तुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात् । पुनः शब्दो विशेषणार्थः यदुताऽस्पृष्टमपि रूप योग्यदेशावस्थित पश्यति न पुनरयोग्यदेशावस्थित मेर्वादि । अत्र हारिभद्रीयाऽऽवश्यकवृत्तिलेशः प्रदर्श्यते । तथाहि - "नयन योग्यदेशावस्थिताऽप्राप्तविषयपरिच्छेदक, प्राप्तिनिबन्धनतत्कृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात्, मनोवत् । स्पर्शनेन्द्रियञ्च विपक्ष इति । आह - "जलघृतवनस्पत्यालोकनेष्वनुग्रहसद्भावात् सूर्याद्यालोकनेषु चोपघातसद्भावादसिद्धो हेतुः । मनसोऽपि प्राप्तविषयपरिच्छेदकत्वात् साध्यविकलो दृष्टान्तः । तथा च लोके वक्तारो भवन्ति 'अमुत्र मे गत मन' इति" । अत्रोच्यते - प्राप्तिनिबन्धनाख्यहेतुविशेषणार्थनिराकृतत्वात् अस्याऽऽक्षेपस्येत्यदोषः । किञ्च, यदि हि प्राप्तिनिबन्धनौ विषयकृतावनुग्रहोपघातौ स्याता, एव तर्हि अग्निशूलजलाद्यालोकनेषु दाहभेदक्लेदादयः स्युरिति । किञ्च, प्राप्तविषयपरिच्छेदकत्वे सति अक्ष्यञ्जनमलशलाकादिकमपि गृह्णीयात् । आह - "नायना मरीचयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्ति । नतश्च तेषा तैजसत्वात् सूक्ष्मत्वाच्चाऽनलादिसम्पर्के सत्यपि दाहाद्यभाव इति" । अत्रोच्यते - प्राक्प्रतिज्ञातयोरनुग्रहोपघातयोरप्यभावप्रसङ्गात् अयुक्तमेव तत्, तदस्तित्वस्य उपपत्त्या ग्रहीतुमशक्यत्वाच्च । 'व्यवहितार्थाऽनुपलब्ध्या तदस्तित्वावसाय इति चेत्' ? न, तत्रापि तदुपलब्धौ क्षयोपशमाऽभावात्, व्यवहितार्थानुपलब्धिसिद्धिः । आगममात्रमेवैतदिति चेत्' ? न, युक्तिरप्यस्ति, आवरणाभावेऽपि परमाण्वादौ दर्शनाभावः स च तद्विधक्षयोपशमकृतः । यच्चोक्त 'साध्यविकलो दृष्टान्त' इति तदप्ययुक्तम्, ज्ञेयमनसोः सम्पर्काभावात्, अन्यथा हि सलिलकर्पूरादिचिन्तनादनुगृह्येत, वह्निशस्त्रादिचिन्तनाच्चोपहन्येत । न चानुगृह्यते, उपहन्यते वेति" (आ नि श्लो ५ हा वृ)

किञ्च, चक्षुषः प्राप्यकारित्वे शाखा-चन्द्रमसोर्युगपद्ग्रहणानुपपत्तिः, युगपदुभयसयोगाभावात् । न च क्रमिकत्वमेव तज्ज्ञानयोः यौगपद्यप्रतीतिस्तु शतपत्रपत्रीवेधवद् भ्रमात्मिकेति वक्तव्यम् तथा सति ततः 'साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायस्य अनुपपत्तेः, तदनुव्यवसायसमये शाखाज्ञानस्य विनष्टत्वात् । एतेन "तुल्यकालग्रहण चाऽसिद्धमेव, तदभिमानस्य कालसन्निकर्षेणैवोपपत्तेः । अचिन्त्यो हि तेजसो लाघवातिशयेन वेगातिशयः यत्प्राचीनाचलचूडावलम्बिन्येव भगवति मयूखमालिनि भवनोदरेष्वालोक इत्यभिमानो लोकाना" (मु दिन पृ ३४०) इति मुक्तावलीदिनकरीयवचन निरस्तम् अनुव्यवसायस्यैव

● रमणीया ●

योग्य गुण आदि का वह चाक्षुष साक्षात्कार कराती है। हमारे मत मे द्रव्य और गुण कथचित् अभिन्न = अपृथक् होते हैं। जब आँखें वृक्ष की शाखा के सन्मुख होती हैं तब शाखा से अवच्छिन्न कपिसयोग आदि योग्य गुण का चाक्षुष साक्षात्कार होता है, क्योंकि वह कपिसयोग नेत्र के अभिमुख शाखास्वरूप देश से अपृथक् = कथचित् अभिन्न है। मगर उस अवस्था मे मूलावच्छिन्न कपिसयोग का चाक्षुष हो नहीं सकता, क्योंकि वह नेत्र के अभिमुख शाखारूप देश से अविष्वग्भूत (= अपृथक् = कथचित् अभिन्न) नहीं है किन्तु नेत्र अनभिमुख मूलात्मक देश से अपृथग् है अर्थात् नेत्राभिमुखदेशाऽपृथग्भूतत्वस्वरूप चाक्षुषप्रत्यक्षकारणतावच्छेदक के विरह मे मूलावच्छिन्न कपिसयोग का चाक्षुष साक्षात्कार तब होता नहीं है।

रूव पुण० इति। चक्षु अप्राप्यकारी है, यह सिर्फ हमारी मनमानी कल्पना नहीं है, जिसकी वजह अपसिद्धात आदि दोष की सभावना हो। नेत्र अप्राप्यकारित्व का तो चरम श्रुतकेवली श्रीमद् भद्रबाहुस्वामीजी ने भी समर्थन किया है। यह रहा उससे रची गई आवश्यकनिर्युक्ति का प्रामाणिक वचन 'रूव पुण पासई अपुट्ठ तु'। अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय आदि अपने विषय से सम्बद्ध हो कर साक्षात्कार को उत्पन्न करती है मगर चक्षु इन्द्रिय रूप और रूपी के साथ सम्बद्ध हुए बिना ही उन्हे देखती है। इस पारमर्ष वचन से भी यह सिद्ध होता है कि नयनेन्द्रिय स्व से असबद्ध योग्य विषय का ज्ञान कराती है। अतीन्द्रिय वस्तु के तत्त्ववेत्ता प्रामाणिक अग्रणी महर्षिओ के वचन से भी नेत्र मे अप्राप्यकारित्व मानना ही मुनासिब है। 'नेत्र अप्राप्यकारी है' इस विषय मे अधिक विचार भी किया जा सकता है। यहाँ जो बताया गया है वह तो सूचनमात्र है-दिग्दर्शनमात्र है- इस बात को सूचित करने के लिए प्रकरणकार ने 'दिक्' शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह प्रासगिक चक्षु-अप्राप्यकारित्ववाद सक्षेप मे सपूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार अपनी समवायनिराकरणरूप मूल बात का पुन विवेचन करते है।

नव्यनैयायिकास्तु रूपत्वरसत्वादिसम्बन्धितावच्छेदकभेदान्नानैव समवायः । अत एव 'द्रव्य रूपवदि'त्यनुमितेः पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्यसम्बन्धस्य ससर्गत्वे न प्रामाण्यम् रूपसमवायस्य द्रव्यत्वाऽव्यापकत्वात् इत्याहु ।

तेपा भेदाभेद एवाभ्युपगन्तु भजमानः प्रतीतेरतिप्रौढत्वात् ।

★ जयलता ★

व्यवसायस्वरूपनिर्णायकत्वात् । एतेन 'युगपद्ग्रहणमसिद्धम्, तदभिमानस्त्वन्यथासिद्ध' इति (न्या ता टी पृ १२०) न्यायतात्पर्यटीकाकारवाचस्पति-मिश्रोक्तपमास्तम् क्रमिकतदुभयजनितसस्काराभ्या जनिताया समूहालम्बनस्मृतावेवाऽनुभवत्वारोपे महागौरवात्, उपेक्षात्मकतज्ज्ञानतः तादृशस्मृत्यसम्भवात्, लौकिकसन्निकर्पजन्यज्ञानस्यैव विपयतया 'साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायजनकत्वाच्च । एतेन 'आशुभावित्वेन युगपदभिमानात्' (न्या भू पृ ९६) इति न्यायभूपणकारवचनमपि निरस्तम् सन्निहित विमुच्याऽसन्निहितसयोगानुपपत्तेश्चेति दिक् ।

पश्य पश्य सुदूर याति नेत्रप्राप्यकारिता । जयति साम्प्रतञ्चैव नेत्राऽप्राप्यकारित्वशासनम् ॥१॥

नव्यनैयायिकास्त्विति । तुविशेपणार्थः स च प्राचीननैयायिकमताऽपेक्षया वोध्यः । तमेवाचक्षते रूपत्व-रसत्वादिसम्बन्धितावच्छेदकभेदान्नानैव समवाय इति । 'तेजसि रूपस्य समवायो न रसस्ये'त्यादिप्रतीत्यनुरोधेन यो रसत्वसम्बन्धितावच्छेदकीभूतः समवायः स न रूपत्व- सम्बन्धितावच्छेदकीभूत इत्यवश्यमङ्गीकार्यम् । तथा च नानासमवायसिद्धिः निष्प्रत्यूहा । इत्थमेव 'वायुः नीरूप' इतिप्रतीतेः प्रामाण्यस्योपपत्तिः, समवायस्य रूपसम्बन्धत्वेऽपि वायौ रूपसमवायाऽनङ्गीकारात् । न च वायौ रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपात्यन्ताभावादेव तत्प्रतीतेः प्रामाण्यमिति वाच्यम् ससर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तस्य सति ससर्गेऽसम्भवात्, अन्यथा घटवत्यपि भूतले सयोगावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभावापत्तेः । तदेव द्योतयन्ति अत एव = समवायस्य नानात्वादेवेति । अन्वयश्चास्य 'न प्रामाण्यमि'त्यत्र । 'द्रव्य रूपवदि'त्यनुमितेरिति । अत्र द्रव्य पक्षः द्रव्यत्व पक्षतावच्छेदक रूपञ्च साध्यम् । पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसम्बन्धस्य = द्रव्यत्वावच्छेदेन साध्यतावच्छेदकीभूतरूपसमवायस्य, ससर्गत्वे अभ्युपगम्यमाने सति, न प्रामाण्यम् = तदभाववति तत्प्रकारकत्वम्, हेतुमुपदर्शयन्ति रूपसमवायस्य साध्यतावच्छेदकीभूतसम्बन्धस्य, द्रव्यत्वाऽव्यापकत्वात् पक्षतावच्छेदकीभूतधर्माश्रयवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् । अय भावः यथा 'वृक्षः कपिसयोगी'त्यनुमितेः शाखावच्छिन्नसाध्यसमवायस्य वृक्षत्वसमानाधि- करणसमवायस्य वा ससर्गत्वे प्रामाण्येऽपि वृक्षत्वावच्छिन्नसाध्यसमवायस्य वृक्षत्वव्यापकसाध्यससर्गरूपस्य ससर्गत्वेऽप्रामाण्य तथा 'द्रव्य रूपवदि'त्यनुमितेः द्रव्यत्वसमानाधिकरणसाध्यससर्गस्य पृथ्व्यादित्रितयाऽन्यतमत्वव्यापकरूपसमवायस्य ससर्गत्वे प्रामाण्येऽपि द्रव्यत्वव्यापकरूपसमवायस्य ससर्गत्वेऽप्रामाण्य- मेव, वाय्वादौ द्रव्यत्वसत्त्वेऽपि रूपसमवायविरहात्, यत्ससर्गावच्छिन्नो योऽभावः स तत्ससर्गविरहवत्येवेति नियमात् । ततो नानेव समवायः । समवायैकत्वप्रवादस्तु समनियतकाल-देशावच्छेदकाना सख्या-परिमाण-पृथक्त्वादीना चैक एवायमित्याशयेन, समनियताना तेपामैक्यादिति नव्याशयः ।

उत्तरपक्षपति - तेपामिति नव्यनैयायिकानामिति । भेदाभेद एवेति । सवधविधयेति शेपः । एवकारेण नानासमवायव्यवच्छेदः कृतः । भजमान = युक्तः । हेतुमाह - प्रतीतेरतिप्रौढत्वादिति । दर्शिताऽनुमानात्मकप्रतीतेरतिगूढत्वादिति । अय भावः गुणत्वावच्छेदेन गुणिस्वरूपसम्बन्धत्वकल्पनयैव तादृशप्रतीत्युपपत्तावतिरिक्तनानासम्बन्धकल्पनानौचित्यात् । 'तेजसि रूपस्य समवायो न रसस्ये'ति प्रतीतिवद् 'घटरूपयोः सम्बन्ध एव न घटरसयोरिति प्रतीतेरपि सत्त्वात्, अतिरिक्तसमवायाननुभवात् । न च ससर्गत्वेन समवायस्यैव तत्र भानमिति शङ्कनीयम् तत्स्थाने भेदाभेदस्य जात्यन्तररूपस्यैवाऽभिपेचनीयत्वात् । यदि पुनरेवमप्यनुगतधीनिर्वाहायाऽप्रामाणिकसमवायाऽभ्युपगमो न त्यज्यते तदा लाघवादभावादिसाधारण वैशिष्ट्यमेव किमिति नाऽभ्युपैपि ? किञ्च समवायत्व न जातिरिति वैशिष्ट्याऽन्यनित्यसम्बन्धत्वेनैव तन्निर्वाच्यम् । तथा च गोरवमव्याहतमेव ।

यत्तु महादेवेन 'रूपनिरूपितत्वविशिष्टसमवायनिरूपिताधिकरणताया एव रूपसम्बन्धतया तस्य च वायावभावादित्युक्त तदसत् तादृशाधिकरणत्वस्य रूपसम्बन्धत्वेऽधिकरणत्वस्य स्वरूपसम्बन्धानतिरिक्तत्वेन सिद्धसाधनार्थान्तरदोपद्वयकृतान्तकरालनेत्रद्वयकटाक्षितत्वप्रसङ्गादिति दिक् ।

● रमणीया ●

● अनेक समवायवादी नव्यनैयायिक मतप्रदर्शन ●

नव्यनैयायिक :- वस्तुत समवाय एक हो सकता नही है। इसका कारण यह है कि यदि समवाय एक ही हो तव तो रूप-रस-गध-स्पर्श आदि का समवाय एक ही होगा । तव तो जैसे तैजस द्रव्य मे रूप का समवाय है वैसे रस-गधादि का समवाय भी रहेगा, क्योकि रूपसमवाय और रस-गधादि के समवाय मे कोई भेद नहीं है-एक ही है। तव तो अग्नि मे रूप की भाँति रस-गधादि की भी प्रतीति होनी चाहिए, क्योकि प्रतियोगिसवध अधिकरण मे होने पर प्रतियोगी का अभाव नही होता है। मगर अग्नि मे रूप की प्रतीति होती है, रस-गधादि की नही । अत उसमे रस-गधादि के समवाय का अभाव मानना आवश्यक है। यदि समवाय को एक माना जाय तो रसादि के समवाय का अभाव होने पर वहि मे रूपसमवाय का भी अभाव हो जायेगा जिसके फलस्वरूप मे आग मे रूप की प्रतीति न हो सकेगी और होगी तो भ्रमात्मक होगी, प्रमात्मक नही । मगर यह इष्ट नही है। अत रूपत्व-रसत्वादि के धर्मितावच्छेदकीभूत समवाय को भी अनेक ही मानना उचित महसूस होता है । अत समवाय को एक मानना असगत ही है ।

● 'द्रव्य रूपवद्' अनुमितिविचार ●

नव्यनैयायिक :- अत० इति । रूपसमवाय, रससमवाय, गधसमवाय आदि भिन्न होने से ही 'द्रव्य रूपवद्' यह अनुमिति अप्रमात्मक हो सकती है, यदि पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसम्बन्ध को ससर्ग माना जाय। आशय यह है कि 'द्रव्य रूपवद्' इत्याकारक अनुमिति में पक्ष है द्रव्य, पक्षतावच्छेदक है द्रव्यत्व, साध्य है रूप और साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध है रूपसमवाय। यदि यहाँ पक्षतावच्छेदकीभूत द्रव्यत्वावच्छिन्न रूपसमवाय को ससर्ग माना जाय अर्थात् द्रव्यत्वव्यापकरूपसमवाय को सम्बन्ध माना जाय तव वह अनुमिति अप्रमात्मक हो जायेगी, क्योंकि रूपसमवाय द्रव्यत्व का व्यापक नहीं है। जहाँ जहाँ द्रव्यत्व रहता है, वहाँ वहाँ रूपसमवाय नहीं रहता है। वायु, आकाश आदि में द्रव्यत्व रहता है मगर रूपसमवाय नहीं रहता है, क्योंकि वायु आदि मे रूप ही नहीं रहता है। यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि- "वायु मे रूपसमवाय तो है ही, मगर रूप नहीं है। अत रूपसमवाय द्रव्यत्व का व्यापक ही है, क्योंकि द्रव्यत्वावच्छिन्न में रूपसमवाय रहता है" - क्योकि वायु में रूपसमवाय होने पर रूपाभाव नही हो सकता है, अन्यथा घटसयोगविशिष्ट भूतल में भी सयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव की प्रमिति होने लगेगी। हाँ, यदि पक्षतावच्छेदकसमानाधिकरण रूपसमवाय को प्रस्तुत अनुमिति में ससर्ग माना जाय तव तो वह प्रमात्मक हो सकती है, क्योंकि पक्षतावच्छेदकीभूत द्रव्यत्व के आश्रयीभूत पृथ्वी आदि म तो रूपसमवाय रहता ही है। इस तरह उपर्युक्त विचार-विमर्श से निरावाधरूप से सिद्ध होता है कि समवाय एक नहीं है किन्तु अनेक ही है।

एतेन समवायसम्बन्धेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति वा द्रव्यस्य कारणत्वेन समवायसिद्धिरित्यपास्तम् ।

★ जयलता ★

एतेनेति । समवायस्थानाभिषिक्तभेदाभेदसंबंधस्यैवोपगन्तुमर्हत्वेनेति । अस्य चाऽपास्तमित्यनेनाऽन्वयः । समवायसंबंधेनेति । तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वम् जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रतीति । कार्यतावच्छेदकस्यातिरिक्तवृत्तित्ववारणार्थं 'जन्ये'त्युक्तम् । ध्वंसव्यावृत्त्यर्थं पदार्थत्वं विहाय 'भावत्वो'पादानम्, ध्वंसस्य परमते समवेतत्वाऽनुपगमात् । समवायसंबंधावच्छिन्नजन्यभावत्वावच्छिन्नकार्यतावत् प्रति द्रव्यस्य तादात्म्येन कारणतया जन्यभावीयकार्यतावच्छेदकसंबंधविधया समवायस्य सिद्धिरिति नैयायिकाशयः । विशिष्टकार्यकारणभावं दर्शयति - संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति वेति । पूर्वकल्पाऽस्वरससूचनार्थो वाकारः । तद्बीजञ्चेदम् - जन्यभावत्वापेक्षया लघूभूतसंयोगत्वस्य कार्यतावच्छेदकधर्मत्वसंभवात्, लघुरूपेण तत्सिद्धौ गुरुधर्मेण तत्साधनाऽयोगात् न चैवं घटादिकं प्रति कपालादेः समवायेन कारणता न स्यादिति वाच्यम् लघुधर्मे गृह्यमाणायाः कार्यतावच्छेदकताया व्यापकधर्मे पर्यवसितत्वात् असति बाधके । एवञ्च संयोगनिष्ठायाः तादात्म्यावच्छिन्नद्रव्यवृत्तिकारणतानिरूपितकार्यताया अवच्छेदकसंबंधविधया समवायः सेत्स्यतीति यौगाभिप्रायः ।

यद्वाऽस्वरसबीजमेव भावनीयम्—→ननु जन्यभावात्मकघट-कपालद्रव्ययोः संयोग एव संभवति तयोर्द्रव्यत्वात्, क्लृप्तसंयोगातिरिक्तनानासमवायकल्पनाया अन्याय्यत्वादित्यत आह - संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति वेति । संयोगद्रव्ययोः संयोगो न संभवति, तदनुयोगिप्रतियोगिनोर्द्रव्यत्वनियमात्, तादात्म्यस्य च बाधः । अतः कार्यदेशनियमनाय संयोगीयकार्यतावच्छेदकसंबंधविधया समवायस्य सिद्धिरिति नैयायिकाभिप्रायः ।

अस्याऽपास्तत्वे भेदाभेदसंबंधाभ्युपगमस्य युक्तत्वमेव दर्शयति - लाघवादिति नानासमवायकल्पनाऽपेक्षया एकस्य भेदाभेदसंबंधस्य कल्पने लाघवादित्यर्थः। यद्यपि वस्तुतः कथञ्चिदनुवृत्तिव्यावृत्तिमद्भिः स्वरूपैरेव तत्तत्कार्यनिर्वाहः । स्वरूपाणाञ्चानेकत्वान्न नानासमवायकल्पनायाऽपेक्षया लाघवं तथापि अक्लृप्तातिरिक्तनानासमवायापेक्षया क्लृप्तनानास्वरूपेषु संसर्गताकल्पनेन लाघवमव्याहतमिति ध्येयम्। भेदाभेदसंबंधपक्षे कार्य-कारणभावं दर्शयति - भेदाभेदसंबंधेनेति । कारणतावच्छेदकसंबंधप्रदर्शनमेतत् । परिणामत्वावच्छिन्नं प्रतीति । परिणामत्वं कार्यतावच्छेदकं । परिणामिनं तत्त्वकल्पनाया एवोचितत्वादिति । मृदादिरूपस्य परिणामिनः कारणत्वकल्पनाया एव युक्तत्वादित्यर्थः । प्रकृतेरन्यथाभावः परिणामः' इति केचित् । उपादानसलक्षणत्वे सत्यन्यथाभावः परिणाम इत्यपरे । पूर्वरूपपरित्यागे सति नानाकारप्रतिभासः परिणाम इत्यन्ये । वेदान्तिनस्तु उपादानसमसत्ताकत्वे सत्यन्यथाभावः परिणामः । विवर्तवारणाय सत्यन्तम्, घटस्य तन्तुपरिणामत्ववारणाय विशेष्यमित्याहु । वयं तु ब्रूमः पूर्वावस्थाऽपाये सत्यवस्थान्तरापत्तिः

● रमणीया ●

स्याद्वादी :- तेषां इति । वाह जनाब ! नाम बडा और दरिशन छोटा ! आप 'द्रव्यं रूपवत्' इत्याकारक अनुमानात्मक प्रतीति के विषयरूप में समवाय को संबंध मानते हैं मगर यह प्रतीति अत्यंत गंभीर है । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन वह प्रतीति भ्रमात्मक है और पक्षतावच्छेदक-सामानाधिकरण्येन वह प्रमात्मक है । इसकी उपपत्ति के लिए यहाँ समवाय की अपेक्षा भेदाभेद को ही संबंध मानना मुनासिब है । अतः उक्त प्रतीति के बल से अनेक समवाय की सिद्धि का मनोरथ रखना ठीक नहीं है ।

नैयायिक :- समवाय० इति । समवाय की सिद्धि भले ही उक्त प्रतीति के बल से न हो सके मगर निम्नोक्त कार्य-कारणभाव के बल पर समवाय की सिद्धि हो सकती है। यह रहा वह कार्य-कारणभाव → समवाय संबंध से जन्य भाव मात्र के प्रति द्रव्य कारण है । यहाँ जन्यभावत्व कार्यतावच्छेदक है और द्रव्यत्व कारणतावच्छेदक है । जन्यभावत्वावच्छिन्न यानी जन्यभावत्व की व्यापक कार्यता का, जो द्रव्यत्वावच्छिन्न कारणता से निरूपित है, अवच्छेदक (नियामक) संबंध समवाय है। तादात्म्य संबंध से द्रव्य के संबंधी में समवाय संबंध से भाव कार्य उत्पन्न होता है। इस तरह जन्यभावनिष्ठ कार्यता के अवच्छेदक संबंधविधया समवाय की सिद्धि हो सकती है। अथवा कार्यकारणभाव का दूसरा प्रकार भी समवाय का साधक है। सुनिये, समवाय संबंध से संयोगमात्र की उत्पत्ति के प्रति तादात्म्य संबंध से द्रव्य कारण है। अर्थात् तादात्म्यसंबंधावच्छिन्न-द्रव्यत्वावच्छिन्न कारणता से निरूपित संयोगत्वावच्छिन्न कार्यता का अवच्छेदक संबंध समवाय है। यदि समवाय को संयोगत्वावच्छिन्न कार्यता का अवच्छेदक संबंध न माना जाय तो संयोग की उत्पत्ति का नियामक अन्य कोई भी संबंध नामुमकिन होने से देशनियम की उपपत्ति न हो सकेगी । आशय यह है कि तादात्म्य संबंध से द्रव्यात्मक कारण जहाँ रहता है वहाँ संयोगात्मक कार्य को संबंधविशेष से रखना होगा, क्योंकि जहाँ कारण रहता है वहीं कार्य की उत्पत्ति होती है, जैसे मुद्गरप्रहार कपाल में रहने के सबब घटध्वंस भी कपाल में ही उत्पन्न होता है। किन्तु संयोग गुण है और तादात्म्यसंबंध से द्रव्य की वृत्तिता द्रव्य में होती है। गुण और द्रव्य के बीच संयोग संबंध की तो संभावना ही नहीं है, क्योंकि द्रव्य-द्रव्य के बीच संयोग संबंध होता है। द्रव्य और संयोग गुण के बीच तादात्म्य संबंध भी हो सकता नहीं है, क्योंकि वे परस्पर भिन्न है-यह तो सर्वजनविदित है। वैसे स्वरूपसंबंध भी द्रव्य और गुण के बीच हो सकता नहीं है। अतः परिशेषन्याय से द्रव्य और संयोग गुण के बीच समवाय संबंध को ही मानना होगा। इस तरह दर्शित कार्य-कारणभाव के बल पर समवाय की सिद्धि हो सकती है ।

लाघवाद् भेदाभेदसबधेन परिणामत्वावच्छिन्न प्रति परिणामिनस्तत्त्वपकल्पनाया एवोचितत्वात्, भेदाभेदस्य जात्यन्तररूपत्वेऽपि सबधत्व प्रतीतिबलादेव निराबाधम् ।

ननु 'नीलोत्पल' 'प्रमेयाभिधेयमि'त्यादौ कर्मधारयेऽभेदस्यैव ससर्गतया भानान्नाऽभेदातिरिक्तभेदाभेदसिद्धिरिति चेत् ?

★ जयलता ★

परिणामः, यथा पिण्डकपालायवस्थाऽपाये सति घटावस्थाप्राप्तिः मृत्परिणामः । परिणामपरिणामिनोर्भेदाभेदस्य प्रसिद्धत्वात् अन्यथा परिणम्य-परिणामकभावभङ्गप्रसङ्गात् । किञ्च कालिकविशेषणताभिन्नवैशिष्ट्येनाऽपि दर्शितकार्यकारणभावोपपत्तेः कि समवायेन ?

यत्तु गङ्गेशेन तस्य (=वैशिष्ट्यस्य) हि समवायवदेकत्वे घटाभाववति पटवति पटाभावधीप्रसङ्गः, घटाभाववैशिष्ट्यमेव हि पटाभाववैशिष्ट्यम् । पटाभाववैशिष्ट्यसत्त्वेऽपि पटाभावो नास्ति ततः तस्य भिन्नत्वादि'ति चेत् ? न पटाभावाभावस्याऽभावत्वे सोऽपि वैशिष्ट्येन सम्बन्धेन तत्रास्ति, वैशिष्ट्यस्यैकत्वात् । पटाभावाभावस्य भावत्वे च पट एव प्रतिबन्धको वाच्यः । एव पटाभावः पटाभावधीहेतुः स्यात् । पटाभावस्य (? पटाभावः) वैशिष्ट्येन सम्बन्धेन तत्राऽस्त्येव वैशिष्ट्यस्य प्रत्यभावव्यक्तिनानात्वे चाऽभावबुद्धौ नैकः सम्बन्ध कारण विपयो वेति तदभावप्रत्यक्षेऽननुगतमेव वैशिष्ट्य विषयः कारणञ्च वाच्य'' [त चि प्र स पृ ६५४] इत्युक्त तन्न चारु तत्काल-वैशिष्ट्योभयसम्बन्धेन 'इदानीं पटाभावः' इति बुद्धिविपयस्य पटाभावस्याऽभ्युपगमात् ।

वस्तुतः रूपिनीरूपव्यवस्थानुरोधान्नानासमवायस्याऽवश्यमङ्गीकार्यत्वे वैशिष्ट्यमप्येकानेकरूपत्वेन वैश्वरूप्य विभ्रन्न प्रत्याख्यातु शक्यम् ।

ननु भेदाभेदस्य जात्यन्तरस्वरूपत्व पूर्वं भवता दर्शित साप्रतञ्च तस्य सबधत्वमिति कथ न विरोध इत्याशङ्कायामाह-भेदाभेदस्येति । प्रतीतिबलादेव निराबाधमिति अनुभवमहिम्नैव सिद्धमित्यर्थः । 'भेदाभेदसबधेन मृदि गन्धः जले रस' इत्यादिस्वारसिकप्रतीतिसामर्थ्यात् जात्यतररूपस्य भेदाभेदस्य ससर्गत्व सिद्धिसौधमध्यास्ते । जातेरससर्गत्वे कथ परस्य धूमत्वस्वरूपसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या 'इमे सर्वे धूमा' इति भान सभवेत् तदसभवे च कथ व्याप्तिग्रहः ? इति ।

धर्मातिरेके तद्धर्मे स्पर्धयैवातिरिच्यते । जात्यन्तरात्मके तत्त्वे, किमसाध्य विवक्षया ॥१॥

नैयायिकः शङ्कते - नन्विति । 'नीलोत्पलमि'ति । परेण गुणगुण्यभेदानङ्गीकारे दृष्टान्तान्तरमाह - 'प्रमेयाभिधेयमि'ति । कर्मधारये = कर्मधारयसमासे । अभेदस्यैवेति । एवकारेण भेदाभेदव्यवच्छेदः कृतः । ससर्गतया भानादिति । ससर्गविधया भाननियमादित्यर्थः । अय भावः विशेष्यवाचकपदोत्तराऽवृत्तिविभक्तिविभाजकधर्मवद्भिभक्तिरहितेन विशेष्यपदाऽव्यवहितपूर्ववर्तिना च पदेनोपस्थापितस्य विशेष्यपदार्थेऽभेदः ससर्गमर्यादया भासत इति नियमाद् स्वोत्तरसुप्पदभिन्ननिराकाक्षपदानुत्तरत्वविशिष्टस्वोत्तरत्त्वादिरूपस्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसबधेन नीलादिपदवत्सुबन्तोत्पलादिप-दत्वरूपाकाक्षावशेन नीलादिपदार्थस्योत्पलादिपदार्थेन सहाऽभेदस्यैव ससर्गमर्यादया भानान्नाऽभेदातिरिक्तस्य भेदाभेदस्य तत्ससर्गविधया सिद्धिरिति नैयायिकाशयः ।

ननु कर्मधारयस्थले त्वदभिमतोऽभेदो यदि भेदत्वावच्छिन्नाभावस्तदाऽप्रसिद्धिः, उत्पलादौ पीतादीना भेदस्य सत्त्वात्, सर्वत्र पदार्थेपु

● रमणीया ●

स्याद्वादी :- अपास्तम् लाघ० इति । जनाव ! अव पछताये होत क्या? जव चिडियाँ चुग गई खेत ! हमने पूर्व मे ही वता दिया कि अनेक अतिरिक्त समवाय की कल्पना करने की अपेक्षा लाघव से क्लृप्त भेदाभेद को ही प्रिरिणाममात्र का कार्यतावच्छेदक सवध मानना उचित है । अर्थात् तादात्म्यसवध से अवच्छिन्न परिणामिनिष्ठ कारणता से निरूपित परिणामत्वावच्छिन्न कार्यता के अवच्छेदक सबध विधया भेदाभेद को ही मानना उचित है । जन्यभावत्व की अपेक्षा परिणामत्वस्वरूप कार्यतावच्छेदक लघु है और वह सयोगत्व की अपेक्षा सग्राहक हे । परिणाम और परिणामी मे भेदाभेद सवध तो सुसभवित ही है । सयोग परिणाम है और सयोगी द्रव्य परिणामी है । अत इन दोनो की वीच न तो घट-पट की भाँति सर्वथा भेद है और न तो घट-कलश की भाँति सर्वथा अभेद है किन्तु दुग्ध-दही की भॉति भेदाभेद सवध हे । अत आपने अभी जो कहा था कि → 'सयोग और द्रव्य के वीच सयोग-तादात्म्य आदि सवध सभवित न होने के सवव अतिरिक्त समवाय की सिद्धि होती है' ← वह ठीक नही है, क्योकि भेदाभेद सवध क्लृप्त ओर सभवित है । यहाँ यह शका हो कि → 'भेदाभेद तो जात्यतरस्वरूप है ऐसा पूर्व मे कहा गया था । अव वह सवधात्मक कैसे हो सकता है?' ← तो यह ठीक नही है, क्योकि जातिरूप होने पर भी भेदाभेद मे सवधत्व अनुभव सिद्ध है । नैयायिक महाशय भी सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का स्वीकार करता ही है, जो जाति को सवध न मानने पर नामुमकिन हे । 'भेदाभेद सवध से गध मिट्टी मे रहती है, सयोग द्रव्य मे रहता है' इत्यादि अनुभव के वल से भेदाभेद मे ससर्गता सिद्ध होती है । अत अनेक अतिरिक्त समवाय सवध की कल्पना नामुनासिव है ।

नैयायिक :- ननु नीलो० इति । भेदाभेद यदि सिद्ध हो तव उसमे ससर्गता आदि की वात करना ठीक है । मगर भेदाभेद

न कथञ्चित्तस्य तदनतिरेकात् ।

वस्तुत कर्मधारयेऽभेद एवाऽभेदत्वेन समर्गतया भासते, 'नीलोत्पलमि'त्यत्र नीलपदस्य नीलवत्परत्वात् । भेदाभेदस्य

★ जयलता ★

सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । यदि च भेदप्रतियोगिकोऽभावस्तदा 'पीतः शङ्ख'इत्यादिवाक्यस्याऽपि प्रामाण्याऽऽपत्तिः , शङ्खे द्वित्वादिना पीतभेदाद्यभावस्य सत्त्वात् । नीलभेदत्वावच्छिन्नाभावस्य विभक्त्यर्थत्वे नीलादिपदार्थानन्वयप्रसङ्ग., विभक्त्यर्थभूतनीलादिविशिष्टे उत्पलादौ पुनर्नीलपदोपस्थितपदार्थस्याऽन्वयाऽयोगात् । न च भेदप्रतियोगिकाभाव एव विभक्त्यर्थ· नीलपदसमभिव्याहारान्नीलभेदत्वावच्छिन्नाभाव एव प्रतीयत इति वाच्यम् पदार्थद्वयसंसर्गभानस्यैवाकाङ्क्षानियम्यत्वात् नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाऽन्तर्भावेण वृत्ति विना भेदरूपपदार्थतावच्छेदकस्याऽभावे तादृशसम्बन्धेन भानासम्भवात्, 'प्रमेयाभिधेयमि'त्यत्राऽसम्भवाच्च । एतेन यदुक्त गदाधरेण 'भेदोऽभावश्च विशेषणविभक्तेरर्थ· विशिष्टलाभस्त्वाकाङ्क्षादिवशात्' (व्यु.वा पृ १०) इति व्युत्पत्तिवादे तदपास्तम् पृथक् खण्डशः शक्तिस्वीकारे गौरवात् विरूपोपस्थितत्वेनोत्पलादौ सर्वथा नीलादिभेदाभावबाधाच्चेत्याशयेनाह स्याद्वादी-नेति । कथञ्चित्तस्य = स्याद्भेदस्य, तदनतिरेकात् = भेदाभेदातिरिक्तत्वविरहात् । अय भाव· सर्वथा तदात्मनःविशेषण-विशेष्यभावोऽसम्भवी, स्वप्नेऽपि तयानवबोधादिति दर्शितरीत्या पुनरुक्त्यादिदोषापातेन सर्वथाऽभेदस्य बाधात् कथञ्चिदभेदस्य परेणाऽवश्यमभ्युपगन्तव्यतया संसर्गविधया भेदाभेदरूपजात्यन्तरस्य सिद्धिः, तस्य तदव्यतिरिक्तत्वात्, नाममात्रभेदात्, अर्थभेदस्य स्वरशृङ्गायमाणत्वादिति भवान् शत शिरश्छेदेऽपि न ददाति विंशतिपञ्चक तु प्रयच्छत्येवेति किमत्र ब्रूम· ?

ननु कर्मधारयस्थले भेदाभेदस्य संबंधत्वे 'दण्डरूप'मित्यत्रापि तत्प्रसङ्गो दण्डरूपयोर्भेदाभेदस्य सत्त्वादित्याशङ्कायामाह - वस्तुत इति । अभेद एवाभेदत्वेन समर्गतया भासत इति । अयञ्चाभेद· न सर्वथाऽभेदरूपः किन्तु कथञ्चिदभेदरूप· अन्यथा वैरूप्येणोपस्थित्यसम्भवापातात् । पर न स भेदाभेदत्वेन कथञ्चिदभेदरूपेण भासते 'रूपरस' इत्यस्यापि प्रसङ्गात् । किन्तु स अभेदत्वेन रूपेणैव भासते । उक्तार्थदृढीकरणार्थमेवाऽऽह-नीलोत्पलमिति अत्र = कर्मधारयसमासे नीलपदस्य = नीलरूपवाचकपदस्य नीलवत्परत्वात् = नीलरूपविशिष्टविषयकशाब्दबोधेच्छयोच्चरितत्वात्, नीलवति लक्षणेति यावत् । ततोऽभेदसम्बन्धेन 'नीलरूपविशिष्टोत्पलमि'त्याकारकशाब्दबोध· प्रकृते जायते । लक्षणा च तात्पर्यविषयस्य शक्त्या अनुपस्थितावेव प्रवर्तते । अत एव 'प्रमेयाभिधेयम्' इत्यादौ न तादृशलक्षणाऽङ्गीकार·, प्रमेयपदशक्त्युपस्थितार्थस्याऽभिधेयाऽभेदाऽबाधात्, ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनाऽयोगादित्यादिक स्वबुद्ध्या विभावनीय सुधीभि· ।

● रमणीया ●

ही असिद्ध है । इसका कारण यह है कि - 'नीलोत्पल' 'प्रमेयाभिधेय' इत्यादि कर्मधारय समास मे अभेद का ही संसर्गविधया भान होता है । अर्थात् अभेद सम्बन्ध से नीलविशिष्ट उत्पल (= कमलविशेष, जो रात मे खिलता है) तथा अभेदसंबंध से प्रमेयविशिष्ट अभिधेय इत्यादि भान होता है । इस तरह कर्मधारयसमास स्थल मे आधारतानियामकरूप मे संसर्गविधया अभेद ही सिद्ध होता है । अत अभेद संबंध से अतिरिक्त भेदाभेद की सिद्धि हो सकती नहीं है ।

स्याद्वादी ·- न० कथञ्चि० इति । जी, हजरत ! मेरी बिल्ली और मुझसे म्याऊँ ! आपने कर्मधारय समास मे जिस अभेद को संसर्गविधया सिद्ध किया है, वह सर्वथा अभेदसंबंधरूप नहीं है किन्तु कथञ्चित् अभेदस्वरूप है । सर्वथा अभेद होने पर तो 'नील' शब्द के उच्चारण से उत्पलपदार्थ का भान हो जाने से उत्पल-पद का प्रयोग निरर्थक होने से पुनरुक्ति दोष प्रसक्त होगा । अत आपको कर्मधारय समास स्थल मे पूर्वोत्तर पदार्थ के बीच कथञ्चित्अभेद को ही संसर्ग मानना होगा । कर्मधारयसमास मे संसर्गविधया जो कथंचित्अभेद सिद्ध होता है, वही भेदाभेदसंबंध है, क्योकि यहाँ कथंचित् शब्द का प्रयोग भेदवैशिष्ट्य का ज्ञापक है । अत यह तो आपने शब्दमात्र मे हल्ला मचाया, अर्थभेद तो कुछ भी नहीं है । कथंचित् कहो या भेदाभेद कहो उन दोनो ही शब्दो का वाच्यार्थ तो एक ही है । कथंचित् अभेद से अतिरिक्त भेदाभेद का स्वीकार तो हमे भी मान्य नहीं है, क्योकि क्लृप्त से ही उपपत्ति हो जाने पर अतिरिक्त की कल्पना करने मे गौरव है । अत भेदाभेद का अपलाप करना यह अपने ही पाँव मे कुल्हाड़ा मारना है ।

● कर्मधारय में अभेदससर्ग का ही अभेदत्वेन भान ●

वस्तु० इति। यह तो नीलपदार्थ और उत्पलपदार्थ मे भेदाभेद की सिद्धि के लिए प्रयास किया है कि उन दोनो के बीच भेदाभेद संबंध है । मगर वास्तविकता तो यह है कि कर्मधारय समास मे अभेद संबंध ही अभेदत्वरूप से संसर्गविधया ज्ञात होता है, न कि भेदाभेद संबंध । इसलिये तो 'नीलोत्पल' इस कर्मधारय समास मे नीलपद के नीलत्वात्मक (= नीलवर्ण = नीलरूप) शक्यार्थ का त्याग करके नीलपद की नीलवर्णविशिष्ट (नीली) मे लक्षणा की जाती है, जिससे नीलरूपवान् से अभिन्न उत्पल का

संसर्गत्वे तु घटरूपमित्यत्रापि कर्मधारयप्रसङ्गः ।

न चैव 'घटकलश' इत्यत्रापि कर्मधारयो निराबाधः स्यात्, न च अत्र'घटावि'त्यत्रेवैकशेषस्याऽवकाशान्नैवमिति वाच्यम्

★ जयलता ★

ननु कर्मधारयसमासे भेदाभेदस्य सम्बन्धत्व कथ नाङ्गीक्रियते ? इति मुग्धाशङ्कायामाह - भेदाभेदस्य ससर्गत्वे त्विति । आपादकनिर्देशानन्तरमापाद्य दर्शयति - घटरूपमित्यत्राऽपि कर्मधारयप्रसङ्ग इति । रूपभेदाभेदस्य घट इव घटभेदाभेदस्य रूपेऽपि सत्त्वेन 'नीलघट' इतिवत् 'घटरूपमि'त्यत्राऽपि कर्मधारयसमासः प्रसज्येत । न च स भवति षष्ठीतत्पुरुषसमासस्येव प्रवृत्ते' । अतः भेदाभेदस्य कर्मधारयसमासस्थले ससर्गत्व न सभवति ।

ननु कर्मधारये तादात्म्यस्यैव ससर्गत्वे कथ न 'घटरूप'मित्यत्र कर्मधारयप्रसङ्ग इति चेत् ? मैवम् पर्यायाऽविष्वग्भूतस्य द्रव्यस्यैव पर्यायाधारतास्वरूपत्वात् अनुयोगितासबधवत् तस्यैव वृत्तिनियामकत्वात्, अन्यथा 'अनीलघट' इत्यत्र कर्मधारयानुपपत्तिप्रसङ्गात्, वृत्त्यनियामकस्य सबधस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् यद्वा घटरूपयोर्द्रव्यगुणत्वेनाऽभेदविरहान्न 'घटरूपमि'त्यत्र कर्मधारय इति भावनीयम् ।

नचैवमिति । अस्य द्वितीयवाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । एव = तादात्म्यस्यैव कर्मधारयस्थले ससर्गत्वेऽभ्युपगम्यमाने । 'घटकलश' इत्यत्राऽपि कर्मधारयो निराबाध स्यादिति । मुख्यशकाकारस्याऽयमाशयः कर्मधारये भेदाभेदस्य ससर्गत्वे 'घटकलशः' इत्यत्र न कर्मधारय प्रसङ्गः कलशे घटाभेदसत्त्वेऽपि तद्भेदाभावात् परन्तु तादात्म्यस्य ससर्गत्वे उपगम्यमाने 'घटकलश' इत्यत्र कर्मधारयस्य दुर्निवारत्वम्, कलशे घटतादात्म्यस्य सत्त्वात्, सामग्रीसत्त्वे कार्याऽवश्यभावात् प्रयोजनक्षतेरकिञ्चित्करत्वात् । एतेन तयाऽप्रयोगादेव तथाऽप्रयोग इति प्रत्युक्तम् ।

अवान्तरशङ्का निरसितु दर्शयति - न चेति । अस्याऽऽदिमवाच्यमित्यनेनान्वयः । अत्र = 'घटकलश' इतिस्थले । 'घटावि'त्यत्रेव = 'घटौ' इति समासवत्, एकशेषस्याऽवकाशादिति । एकशेषसमासप्रवृत्तियोग्यतासपादकसामग्रीसत्त्वेन एकशेषप्रवृत्तेरित्यर्थः । नैवमिति न

● रमणीया ●

भान हो सके । अतएव अभेदसबध से नीलरूपवद्विशिष्ट उत्पल का शाब्दबोध 'नीलोत्पल' शब्द के श्रवण से होता है । यदि भेदाभेद सबध का भान होता तब तो गुण-गुणी मे भेदाभेद होने के सबब नीलरूपवाचक नीलपद की नीलरूपविशिष्ट मे लक्षणा करने की जरूरत ही नही होती ।

भेदाभे० इति । इसके अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि यदि कर्मधारय समास मे पूर्वोत्तर पदार्थ मे भेदाभेदसबध का भान होता है तब तो जैसे 'नीलघट' यहाँ कर्मधारय समास माना जाता हे, ठीक वेसे ही 'घटरूप' यहाँ भी कर्मधारय समास मानने का प्रसग आयेगा, क्योकि घट और रूप के बीच भेदाभेदसबध तो अबाधित ही है । मगर वास्तव मे 'घटरूप' मे षष्ठीतत्पुरुष समास होता है, जिसकी वजह 'घटरूप' शब्दश्रवण से 'घटस्य रूप' = 'घट का रूप' ऐसा शाब्दबोध श्रोता को होता है । अत कर्मधारय समास मे अभेद का ही भान मानना उचित है । अभेद सबध का कर्मधारय समास के पूर्वोत्तर पदार्थ मे भान मानने पर 'घटरूप' यहाँ कर्मधारयसमास को मानने का प्रसग उपस्थित होता नही हे, क्योकि घट और रूप मे अभेद तो नही ही है । अत कर्मधारय समास मे अभेदसबध का पूर्वोत्तर पदार्थ मे भान मानना उचित है ।

पूर्वपक्ष :- न चेव घट० इति । यदि कर्मधारय मे पूर्वोत्तर पदार्थ मे अभेद का भान माना जायेगा तब तो 'घटकलश' इत्यादि स्थल मे भी कमधारय समास की प्रवृत्ति होने लगेगी, क्योकि घटपद के अभिधेय और कलशपद के अभिधेय मे अभेद का बाध तो नही हे । अत कर्मधारय मे भेदाभेद को ही ससर्ग मानना चाहिए ।

शका :- न चात्र घटो० इति । जी हजूर, 'घटकलश' यहाँ कर्मधारय समास को अवकाश नही हे, क्योकि यहाँ एकशेष समास का अवकाश है । आशय यह है कि 'घटश्च घटश्च = घटौ' यहाँ एकशेप समास होता है, क्योकि दो घटपद के वाच्यार्थ मे सारूप्य हे । जिन दो पदो के अर्थ मे सारूप्य हो वहाँ एकशेप समास को अवकाश होता हे । प्रस्तुत मे 'घटकलश' यहाँ घटपद के अभिधेय ओर कलशपद के अभिधेय मे सारूप्य हे । अत यहाँ भी एकशेष समास का अवसर है । कर्मधारय का स्थान जब एकशेप ने छीन लिया तब 'घटश्चाऽसौ कलशश्च = 'घटकलश' इत्याकारक कर्मधारय को अवकाश ही कहाँ है ? अत कर्मधारय समास मे पूर्वोत्तर पदार्थ के बीच अभेद का भान मानने पर 'घटकलश' ऐसा कर्मधारय समास मानने
गया हे वह सिर्फ अज्ञता का सूचक है ।



एकशेषेऽर्थसारूप्यस्येव पदसारूप्यस्याऽप्यपेक्षितत्वात्, 'सरूपाणामि'त्यत्र तथाव्याख्यानादिति वाच्यम्, विग्रहवाक्ये पदयोः

★ जयलता ★

कर्मधारयप्रवृत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अथ भावः घटपदयोरर्थसारूप्येन यथा द्वन्द्वापवादभूतैकशेषः प्रवर्तते एव घटकलशपदयोरर्थसारूप्यादेकशेषस्यैवाऽवसरो न तु कर्मधारयस्येति कर्मधारये तादात्म्यस्य संसर्गत्वेऽपि न क्षतिरित्यवान्तरशङ्काकाराशयः ।

मुख्यशङ्काकारोऽवान्तरशङ्कानिरासे हेतुमाह - एकशेषे इति द्वन्द्वापवादभूतैकशेषसमासप्रवृत्तौ । अर्थसारूप्यस्येव पदसारूप्यस्याऽप्यपेक्षितत्वादिति । अर्थसारूप्यं च प्रकृत्यर्थतावच्छेदकधर्मापेक्षया बोध्यम् । तेन घटपदवाच्ययोरवयवभेदेन भिन्नत्वेऽपि न क्षतिः । एकशेषसमासे न केवलमर्थसारूप्यमपेक्षितं अपि तु पदसारूप्यमपि । पदसारूप्यञ्चात्र समानानुपूर्विकत्वरूपं ग्राह्यम् । घटकलशपदार्थतावच्छेदकञ्च घटत्वमेव न तु घटत्वकलशत्वे तुल्यत्वेन कलशत्वजातेरसंभवात् । तदुक्तं किरणावल्यामुदयनेन 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः । रूपहानिरसंबधो जातिबाधकसंग्रहः' । [कि व पृ १०२] इति । अर्थसारूप्यस्य सत्त्वेऽपि घटकलशपदयोः पदसारूप्यं नास्ति, घकारोत्तराकारोत्तरटकारोत्तराकाररूपानुपूर्व्यपेक्षया ककारोत्तराकारोत्तरलकारोत्तराकारोत्तरशकारोत्तराकाररूपानुपूर्व्या विलक्षणत्वात् । एकशेषसमासे पदार्थसारूप्ययोरपेक्षायामभियुक्तोक्तिं दर्शयति -सरूपाणामि'त्यत्र = 'सरूपाणामेकशेषः एकविभक्तौ [पा व्या १/२/६४] इत्यत्र सूत्रे तथाव्याख्यानादिति ।

तदुक्तं काशिकायां - 'सरूपाणां शब्दानां एकविभक्तौ परतः एकशेषो भवति । एकः शिष्यते इतरे निवर्तन्ते । वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षौ । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च = वृक्षाः' [पा काशि पृ ३०] इति ।

स्याद्वादी 'घटकलश' इत्यत्र कर्मधारयप्रसङ्गं निराचष्टे - विग्रहवाक्ये = घटश्चाऽसौ कलशश्चेतिस्वरूपे विग्रहवाक्ये, पदयो = घटकलशपदयोः,

● रमणीया ●

● एकशेषसमासनियामकविचार ●

समाधान :- एकशेषेऽर्थ० इति । वाह ! साहब ! 'अधजल गगरी छलकत जाय' इस लोकोक्ति को आपने सार्थक किया । आप इतना जानते है कि एकशेष समास मे अर्थसारूप्य की अपेक्षा होती है मगर यह जानते नही है कि पदसारूप्य भी एकशेष मे अपेक्षित है । घटपद और कलश-पद के अर्थ मे घटत्व की अपेक्षा साजात्य होने से अर्थसारूप्य विद्यमान होने पर भी पदसारूप्य नहीं है, क्योकि घटपद मे 'घ् + अ + ट् + अ' ऐसी आनुपूर्वी है और कलशपद मे 'क् + अ + ल् + अ + श् + अ' ऐसी आनुपूर्वी है । अत घटपद और कलशपद मे समान आनुपूर्वीस्वरूप पदसारूप्य नहीं होने के सबब एकशेष का अवकाश नहीं है । एकशेष समास मे पदसारूप्य भी अपेक्षित है - इस बात का पता तो 'सरूपाणा०' इस पाणिनीसूत्र की व्याख्या को देखने से ही लग जायेगा, जिससे आपको यह विश्वास हो जायेगा कि 'एकशेष मे पदसारूप्य भी अपेक्षित है' यह हमारी मनमानी कल्पना नहीं है, किन्तु व्याकरणशास्त्र पर आधारित प्रामाणिक मान्यता है । अत कर्मधारय मे पूर्वोत्तर पदार्थ मे अभेदसंसर्ग का भान मानने पर 'घटकलश' इत्याकारक कर्मधारय की आपत्ति आयेगी ।

उत्तरपक्ष :- विग्रह० इति । अजी, जनाब ! 'आप भी अधजल गगरी छलकत जाय' इस लोकोक्ति के अनुगामी है - यह आपके वक्तव्य मे जाना जाता है । आप 'घटकलश' इत्याकारक कर्मधारय की आपत्ति दे रहे है, मगर आपको भी सिर्फ इतना ही मालुम है कि कर्मधारय मे पूर्वोत्तर पदार्थ का अभेद अपेक्षित होता है । आप यह जानते नहीं है कि - 'कर्मधारय समास उन दो पदो के बीच हो सकता है जिनके विग्रहवाक्य मे तुल्यार्थता हो' । तुल्यार्थता का मतलब है भिन्न पदप्रवृत्तिनिमित्त होते हुए एकार्थकता । जसे 'नीलघट' यहाँ नीलपद का प्रवृत्तिनिमित्त है नीलत्व। पदप्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ है विवक्षित पद के प्रयोग का नियामक । अर्थात् एक धर्म विशेष, जो जिस पदार्थ मे रहता हो उसीमे उस विवक्षित पद का प्रयोग हो और वह जिस पदार्थ मे न रहता हो उसमे उस विवक्षित पद का प्रामाणिक प्रयोग न हो, वह धर्मविशेष पदप्रवृत्तिनिमित्त कहा जाता है । नीलपद का प्रवृत्तिनिमित्त नीलत्व है, क्योकि जहाँ जहाँ नीलत्व रहता है उसी पदार्थ मे नीलपद का प्रयोग होता है । पीत आदि मे नीलत्व न होने के सबब नीलपद का प्रामाणिक प्रयोग होता नहीं है । घटपद का प्रवृत्तिनिमित्त है घटत्व । नीलपद और घटपद के प्रवृत्तिनिमित्त नीलत्व आर घटत्व भिन्न भिन्न होते हुए भी एक ही अर्थ मे प्रवृत्त होते है, क्योकि नीलपद अलग पदार्थ मे प्रवृत्त हो और घटपद अलग पदार्थ मे प्रवृत्त हो अर्थात् घट नीलरूपवाला न हो तब 'नीलघट' ऐसा कर्मधारय समास होता नहीं है । मगर घटपद आर कलशपद मे उपर्युक्त तुल्यार्थकत्व नही है, क्योकि घटपद और कलशपद का शक्यार्थ अभिन्न होते

तुल्यार्थत्वाभावात् । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सत्येकार्थत्वं हि तुल्यार्थत्वम् । नचेदं घटकलशपदयोः सम्भवति, शक्याऽभेदेऽपि शक्यतावच्छेदकभेदाभावात् ।

★ जयलता ★

तुल्यार्थत्वाभावात् = समानार्थकत्वविरहादित्यर्थः । अयं भावः कर्मधारयसमासो हि ययोः पदयोः विग्रहवाक्ये तुल्यार्थकत्वं तयोरेव भवति । तच्च पर्यायशब्दयोः न सम्भवति, यतः भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति एकार्थकत्वं हि तुल्यार्थत्वमित्युच्यते । 'अयं घटः' इति पदप्रयोगस्य निमित्तं = कारणं घटत्वम्, 'अयं नीलः' इति पदप्रवृत्तेः निमित्तं हि घटत्वातिरिक्तं नीलत्वम् । नीलत्वघटत्वयोः नीलघटपदप्रवृत्तिनिमित्तयोः भिन्नत्वे सति एकाधिकरणवृत्तित्वरूपस्यैकार्थकत्वस्य सत्त्वात् 'नीलघटः' इति कर्मधारयो भवति । तदुक्तं मूलकारैरपि "विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च" इति सूत्रं व्याख्यानयद्भिः स्वोपज्ञश्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनलघुवृत्तौ" भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः ऐकार्थ्यं तद्वद्विशेषणवाचि विशेष्यवाचिना एकार्थ्ये समासः तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् नीलोत्पलमि' [सि हे ३/१/९६ सू ल वृ) ति ।

ननु तर्हि 'घटकलशः' इत्यत्र पूर्वोत्तरपदार्थयोः तादात्म्यसत्त्वात् कर्मधारयो हि कथं न भवतीत्याशङ्कायामाह - न चेदमिति । उपदर्शिततुल्यार्थकत्वमिति । घटकलशपदयो सम्भवति । अत्रैव हेतुमाह -शक्याभेदेऽपि शक्यतावच्छेदकाऽभेदाभावादिति । घटकलशपदनिष्ठशक्तिविषययोरैक्येऽपि उभयत्र घटत्वस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वेन शक्यतावच्छेदकतावैयधिकरण्यस्य विरहादित्यर्थः। अयं भावः भिन्नपदप्रवृत्तिनिमित्तकत्वरूपे शक्यतावच्छेदकभेदे सति शक्याऽभेदरूपमेकार्थत्वं हि पदनिष्ठं तुल्यार्थकत्वम् । घटकलशपदयो' विशेष्यसत्त्वेऽपि शक्यतावच्छेदकभेदरूपस्य विशेषणस्य विरहेण विशेषणाभावप्रयुक्तो कर्मधारयसमासनियामकस्य विशिष्टस्याऽभावो भवति । अतो न 'घटकलशः' इत्यत्र कर्मधारयसमासप्रसङ्गः, तत्सामग्रीविरहेणाऽऽपादकाभावात् । अतः कर्मधारये तादात्म्यस्य संसर्गत्वेऽभ्युपगम्यमाने न दोषलेशगन्धोऽपीति सर्वं चतुरस्रम् ।

ननु तर्हि 'घटकलशः' इत्यत्र कः समासः प्रवर्तते ? उच्यते समत्वं नाम समानत्वम् । तच्च द्विधा स्वरूपतोऽर्थतश्च । तत्राऽर्थतः समानत्वमेवैकशेषे नियामकम् । अतः 'घटकलशः' इत्यत्र 'घटावि'त्येकशेष एवाऽस्मन्नये भवति । यतः मूलकारैरेव 'समानामर्थेनैकः शेषः' [सि हे म ३/१/११८] इति सूत्रं विवृण्वद्भिः स्वोपज्ञश्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनलघुवृत्तौ "अर्थेन समाना = समानार्थाना सहोक्तौ गम्यायामेकः शिष्यते" इत्याद्युक्तम् । तद्विशेषार्थश्च तद्बृहद्वृत्तितोऽवसेयः । हेलाराजेनाऽपि वाक्यपदीयवृत्तौ वृत्तिसमुद्देशे "एकजातीयविषयाश्चाऽर्था भवन्त्येकशब्दवाच्या एकशेषे" [वा प तृ का वृ स श्लो ३४ वृ] इति प्रतिपादितम् । महाभाष्यकृतः पतञ्जलिमहर्षेरप्यत्रैव निर्भर इति तद्वचनादवगम्यते। तदुक्तं पातञ्जलमहाभाष्ये - नानार्थानामपि सरूपाणामेकशेषो वक्तव्यः एकार्थानामपि विरूपाणामेकशेषो वक्तव्यः । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च वक्रदण्डौ कुटिलदण्डाविति वा [पा भा पृ ८५] ।

वस्तुतः पाणिनेरपि नात्रकान्तः, यतः विषयभेदेन क्वचिज्जातिपदार्थता मद्रह्रदादिसिद्ध्यर्थमाश्रिता क्वचिच्च द्रव्यपदार्थता दध्युदकादिसिद्ध्यर्थम् । अत एव 'जात्याख्यायां' [पा १/२/५८] 'सरूपाणां' [पा १/२/६४] इति च योगद्वयमारब्धवान् पाणिनिरित्यादिकं सूक्ष्ममीक्षणीयं विचक्षणवैयाकरणैः ।

● रमणीया ●

हुए भी प्रवृत्तिनिमित्त, जिसको हम शक्यतावच्छेदक भी कह सकते हे, भिन्न नही है। तात्पर्य यह है कि घटपद का प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व हे आर कलशपद का प्रवृत्तिनिमित्त भी घटत्व ही हे। घटत्व ओर कलशत्व मे तुल्यता होने के सबब सिर्फ घटत्व ही जाति है, उसके अतिरिक्तरूप मे कलशत्व नही। घटपद और कलशपद एक ही अर्थ मे प्रवृत्त होने के सबब उन दोनो मे एकार्थकता होते हुए भी भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तस्वरूप विशेषण अश न होने के सबब भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति एकाधिकरणवृत्तित्वरूप तुल्यार्थकता नही है। कर्मधारय समास के लिए अपेक्षित पूर्वोत्तर पदार्थ मे अभेद की उपस्थिति होते हुए भी दर्शित तुल्यार्थकतारूप अपेक्षित कारणान्तर न होने के सबब 'घटकलश' ऐसे कर्मधारय समास की आपत्ति का कोई अनिष्ट प्रसग उपस्थित होता नही है, भले ही कर्मधारय के पूर्वोत्तर पदार्थ मे अभेद ससर्ग का भान माना जाय। वस्तुत तुल्यार्थकता का ग्रहण होने पर उसके विशेष्य अशभूत एकार्थकता का ग्रहण होने से ही पूर्वोत्तर पदार्थ मे अभेद का ग्रहण हो जाता हे। अतएव उसे अतिरिक्त कारण नही माना जाता है - इस बात पर प्रिय पाठक महाशय ध्यान दे।

शका :- आप भी कमाल करते है। पहले बताया कि नील ओर उत्पल मे भेदाभेद हे, बाद मे बताया कि इन दोनो के बीच कर्मधारय मे अभेद ज्ञात होता है। ऐसा मानने पर तो कर्मधारय-समासश्रवणजन्य शाब्दबोध भ्रमात्मक हो जायेगा, क्योकि जिन दोनो के बीच भेदाभेद सबध है वहाँ अभेदसबध का वह अवगाहन करता है।

समाधान :- इयास्तु० इति। आप पहले हमारी बात को सावधान हो कर सुनो, बाद मे इस दहशत को अवकाश ही नही होगा। हम यह कहते है कि 'नीलोत्पल' यहाँ नील धर्म बनता ह और उत्पल धर्मी। जब इन दोनो के बीच धर्मधर्मिभाव पर दृष्टि दी जाय तब इन दोनो के बीच भेदाभेद सबध होता हे, क्योकि धर्मधर्मिभाव परस्पर भेदाभेद के बिना हो नही सकता। सर्वथा भेद हो तब घट-पट की भाँति धर्मधर्मिभाव नही होता तथा सर्वथा अभेद हो तब घट-घट की भाँति धर्मधर्मिभाव नही

इयांस्तु विशेषो यद्धर्मधर्मिभावाद्यपेक्षया द्वयोर्भेदाभेदः प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेण केवलाऽभेदो, गोत्वाश्वत्वादिना तु केवलभेद इति । न चैवं एकान्तानुप्रवेशः, अभेदसम्भिन्नभेदवत्त्वेनैव तदपायात् ।

★ जयलता ★

ननु प्रथमं नीलोत्पलयोर्भेदाभेद उपदर्शितः पश्चाच्च कर्मधारये पूर्वोत्तरपदार्थयोरभेद एवाऽभेदत्वेन भासते इत्युक्तमिति कथं अनुल्लङ्घनता ? द्वयोर्भेदाभेदसत्त्वेऽप्यभेदभाने कथं न भ्रमत्वमित्याशङ्कायामाह - इयांस्तु विशेष इति । धर्मधर्मिभावाद्यपेक्षयेति । आदिशब्देन द्रव्यपर्याय-गुणगुणिभावादेर्ग्रहणम् । द्वयोर्भेदाभेद इति नीलोत्पलयोर्भिन्नाभिन्नत्वमिति । अयं भावः, द्वयोः धर्मधर्मिभावो न सर्वथा भेदे सम्भवति, अन्यथा विन्ध्यहिमाचलयोरपि तत्प्रसङ्गात्, न वा सर्वथाऽभेदे दशरथस्य रामजनकत्वेन सह तत्प्रसक्तेः । अतः परिशेषन्यायात् सर्वथा भिन्नाभिन्नयोर्निवर्तमानो धर्मधर्मिभावो जात्यन्तररूपभेदाभेदविशिष्टे पर्यवस्यति । अतो धर्मधर्मिभावाऽर्पणाया द्वयोः नीलोत्पलयोः परस्परं तृतीयकोटिस्वरूपभेदाभेदः सिद्ध्यति, नियम्यस्य स्वनियामकव्याप्यत्वात् । परन्तु द्वयोः स्वरूपार्पणाया सत्यां प्रत्येकं केवलं तादात्म्यमेव स्यादित्याशयेनाऽऽह - प्रतिस्वमिति । प्रत्येकं अत्र नीले उत्पले चेति यावत् । प्रातिस्विकरूपेणेति प्रत्येकवृत्त्यसाधारणधर्मविशेषेणेति । असाधारणत्वञ्चैकमात्रवृत्तित्वम् । तच्च स्वसामानाधिकरण्य-स्वप्रतियोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टं यत् तदन्यत्वम् । तथाहि स्व = नीलरूपव्यक्तिभेद, तत्सामानाधिकरण्यं गुणत्वे अथ च स्व = नीलरूपव्यक्तिभेदः, तत्प्रतियोगिनी = तन्नीलरूपव्यक्तिः, तद्वृत्तित्वं चापि गुणत्वे इत्युभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टं गुणत्वमेव । तदन्यत्वं तन्नीलरूपव्यक्तिवृत्तितद्व्यक्तित्वे । स्वप्रतियोगिवृत्तित्वस्यैव सत्त्वेऽपि स्वप्रतियोगि-नीलरूपव्यक्तिनिरूपितवृत्तित्वं तद्व्यक्तित्वे इत्यनेन सम्बन्धेन भेदविशिष्टमेव तद्व्यक्तित्वमतो द्वितीयसम्बन्धनिवेशः । एतदुभयसम्बन्धेन तद्व्यक्तित्वं विना भेदविशिष्टं सर्वं गुणत्वादिकं धर्मजातं भविष्यति तदन्यत्वं च तद्व्यक्तित्वं इति । एवमुत्पलेऽपि भावनीयं स्वधिया । एवञ्च तद्व्यक्तित्वापेक्षया तद्व्यक्तौ तद्व्यक्तिप्रतियोगिको भेदो नैव सम्भवतीति प्रातिस्विकरूपेण प्रत्येकं केवलो भगवान् अभेद इति स्थितम् । एवं प्रतिस्वं व्यधिकरणधर्मापेक्षया केवलो भेदो भवतीत्याशयेनाऽऽह - गोत्वाश्वत्वादिनेति । व्यधिकरणधर्मेणेति शेषः । आदिपदेन घटत्वपटत्वादेर्ग्रहः । नीलरूपं गोत्वाद्यपेक्षया न नीलमिति गोत्वाद्यपेक्षया तत्र भेद एव, अन्यथा तस्य गवादात्मकताप्रसङ्गात् । व्यधिकरणधर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वं तु पूर्वमुक्तमेव प्रकरणकृता वक्ष्यते च । 'रजतत्वेन शुक्तिं जानाति' इत्यादौ ज्ञाने रजतत्वप्रकारकत्वस्य 'घटत्वेन रक्तिर्नास्ती'त्यादौ गौडमतेऽभावे घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगितायास्तृतीयान्तार्थ्ये तृतीयान्तेनो बोधः प्रसिद्ध एव । तृतीयान्तार्थरजतत्वादिप्रकारकत्व-द्वितीयान्तार्थशुक्त्यादिविषयकत्वयोर्विशेषविशिष्ट्यबोधमर्यादया विशेषण-विशेष्यभावभान (= अवच्छेद्यावच्छेदकभावभान) 'रजतत्वेन शुक्तिं जानाती'त्यादौ नियतमेव परस्येति दिक् ।

एवञ्च कर्मधारयपूर्वोत्तरपदार्थयोर्भेदाभेदस्याऽभेदस्य भेदस्य च सत्त्वेऽपि अभेदान्वयबोधसामग्रीमहिम्ना तत्राऽभेदस्यैव भानमिति । एतेन विरोध-भ्रमत्वादिदोषसमूहः परास्तः, भयोरसमर्थवित्त्वात् क्वचित् कुत्रचित् कस्यचिदेव धर्मस्य भानात् ।

ननु नीलोत्पलयोः धर्मधर्मिभावापेक्षया भेदाभेद एव यद्वाऽभेदादिरपि ? एवं प्रातिस्विकरूपेण प्रत्येकमभेद एव यद्वा भेदादिरपि ? तथा व्यधिकरणधर्मापेक्षया भेद एव यद्वाऽभेदादिरपि ? इति विकल्पत्रयमन्तरिक्ष प्रत्यक्षीभवतीति । तत्र न तावत् सर्वत्र द्वितीयो विकल्पः, अव्यवस्थाप्रसङ्गात्, अनुपदोक्तविरोधाच्च । नापि सर्वत्र प्रथमो विकल्पः सङ्गतिमङ्गति, अनेकान्तवादभङ्गप्रसङ्गादित्याशङ्का निराकर्तुमाह - न चैवमिति । धर्मधर्मिभावार्पणाया द्वयोर्भेदाभेद एवेत्याद्यभ्युपगमे । एकान्तानुप्रवेश = एकान्तवादप्रवेशः । हेतुमाह अभेदसम्भिन्नभेदवत्त्वेनैव = अभेदानुस्यूतभेदवत्त्वोपगमेनैव, तदपायात् = एकान्तवादप्रवेशविरहात् । अयं भावः अर्हत्प्रवचने प्रतिवस्तु अनन्ता धर्मा न सर्वापेक्षया किन्तु

● रमणीया ●

होता-यह पूर्व में बताया गया है। अत परिशेष न्याय से जिनके बीच भेदाभेद हो उनमें धर्मधर्मिभाव हो सकता है - यह सिद्ध होता है। अत जिनके बीच धर्मधर्मिभाव का ज्ञान होता है। उनमें धर्मधर्मिभाव के नियामक भेदाभेद का ज्ञान अनायास ही हो जाता है। अत नील और उत्पल में धर्मधर्मिभाव की अपेक्षा भेदाभेद की सिद्धि होती है। मगर जब नील और उत्पल के प्रातिस्विक स्वरूप की ओर दृष्टि दी जाय तब उन प्रत्येक में केवल अभेद की सिद्धि होती है। अर्थात् नील नीलत्व की अपेक्षा नील से अभिन्न होने से स्वरूप की अपेक्षा नील में केवल अभेद सिद्ध होता है, क्योंकि स्व में स्व का भेद होता नहीं है। इसी तरह उत्पल भी उत्पलत्व की अपेक्षा अभिन्न होने की वजह उत्पल के स्वरूप की अपेक्षा उत्पल में सिर्फ अभेद ही रहता है। जगत में प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा अभिन्न ही होने से अपने से अपना अभेद ही रहता है, न तो भेद और न तो भेदाभेद। तथा गोत्व, अश्वत्व आदि व्यधिकरण धर्म की अपेक्षा नील और उत्पल में केवल भेद ही रहता है, क्योंकि गोत्व की अपेक्षा नील और उत्पल भिन्न है। इस तरह नील और उत्पल में भिन्न भिन्न अपेक्षा भेदाभेद, अभेद और भेद तीनो ही रहते हैं। जैसे एक ही राम में दशरथ की अपेक्षा पुत्रत्व, लक्ष्मण की अपेक्षा भ्रातृत्व, सीता की अपेक्षा पतित्व, जनक की अपेक्षा जामातृत्व लवण-अंकुश की अपेक्षा पितृत्व, रावण आदि की अपेक्षा शत्रुत्व, अयोध्यावासियो की अपेक्षा नृपत्व, हनुमान की अपेक्षा सेव्यत्व इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्म भी रहते हैं। इस तरह नील और उत्पल में भी भिन्न भिन्न अपेक्षा अनेक विरुद्धतया ज्ञानमान धर्म भी रह सकते हैं। कर्मधारय समास होने पर नील और उत्पल में प्रातिस्विकरूप से अभेद का ज्ञान होने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि स्वरूप की अपेक्षा अभेद रहता ही है। अत भ्रम, विरोध आदि दोष का उद्भावन करना सिर्फ अपनी अज्ञता का सूचक है। अपेक्षा विशेष से निश्चित धर्म का एक धर्मी में समावेश करने पर एकातवाद में प्रवेश नही होता है, क्योंकि अभेदमिश्रित -द के अभ्युपगम में एकातवादप्रवेश का निराकरण हो जाता है।

इत्थञ्चैतदवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, कथमन्यथा 'स्याद्भिन्न चाऽभिन्न चे'त्यत्र स्यात्पद नातिप्रयोजनमिति ध्येयम् ।

★ जयलता ★

प्रतिनियताधर्मापेक्षयैव भवन्ति । ते च न गुञ्जाफले रक्तत्व-कृष्णत्वयोरिव खण्डशो व्याप्त्या अवस्थिताः परन्तु परस्परानुवेधेनेव । अत एव वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकता गीयते पारमर्षवेदिभिः । यदा चानन्तधर्मात्मक वस्तु प्रतीतिपथमवतेतीर्यते तदा नास्मादृशा युगपत् सर्वधर्मज्ञान निरपेक्षतया भवितुमर्हति, इतरनयविषयावधारणे विवक्षाभेदकृतप्रतिभासभेदरूपा भजना विना स्वविषयाऽवधारणस्यैवाऽप्रवृत्तेः, प्राक् श्यामत्वेन ज्ञाते 'इदानीं' इति विनिर्मोकेण 'न श्यामोऽयमि'ति प्रतीतिवत् प्रवृत्तस्याऽपि च तस्य अन्यथाविषयत्वरूपमिथ्यात्वप्रसक्तेः । एतेन स्याद्वादः सशयवादः इति शङ्करप्रभृतीना वचन प्रत्युक्तम् वस्तुनः परस्परानुविद्धानन्तधर्मात्मकत्वेऽपि क्षयोपशमविशेषाधीनात्मलाभेनाऽपेक्षाविशेषेण प्रतिनियतधर्मपरिच्छेदस्याऽभ्युपगमात्। न हि घटः स्वरूपेण घट इवाऽघटोऽपि किन्तु पररूपेणैव। अत एव एकान्तवादप्रवेशोऽपि परास्त अनेकान्तस्य सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्। तदुक्त वादमहार्णवेऽभयदेवसूरिणा'' ''अनेकान्तस्यापि स्यात्कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्याऽनेकान्तस्वभावत्वात्'' [स त का २ गा १/पृ ५५२] इति कुमार्याः पुसयोगे गर्भ इव भेदानुविद्धाभेद एवानेकान्ते मानम् । स्निग्धत्वव्यतिमिश्रितोष्णत्वशालिदाडिमवत् धर्मिणः शबलानन्तधर्मात्मकत्वात्, वस्तुनि प्रतिनियतधर्मापेक्षया प्रतिनियतधर्मस्यैव सत्त्वेऽपि तस्याऽन्यापेक्षया तत्स्थधर्मेण सङ्कीर्णत्वोपगमात् । न हि घटे घटत्वमेकदेशेन, पृथ्वीत्वमन्यदेशेन, द्रव्यत्वमपरभागेन पदार्थत्वमितरभागेन वर्तते इत्युपेयते । माधुर्यकटुकत्वयोः परस्परानुवेधनिमित्तमेवोभयदोषनिवर्तकत्वमिति वक्ष्यते 'गुडो ही' [वी स्तो ८/६] त्यत्रेति मा उत्कण्ठीभव ।

इत्थञ्चेति । वस्तुनोऽभेदसमव्याप्तभेदवत्त्वाच्च । एतत् = नियताऽऽपेक्षिकभेदाभेदादिक, अवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । अत्रैव विपक्षबाधकतर्कं दर्शयति कथमिति । अस्यान्वयश्च 'नानतिप्रयोजनमि'त्यत्र । अन्यथेति वस्तुनि भेदाभेदादेः प्रतिनियतधर्मसापेक्षत्वानुपगमे । 'स्यद्भिन्नमिति' । अय भाव प्रतिवस्तुनि भेदाभेदसप्तभङ्गी (१) घटादि स्याद् भिन्न, (२) स्याद् अभिन्न, (३) स्याद् भिन्नश्चाऽभिन्नश्च, (४) स्याद् अवक्तव्यम्, (५) स्याद् भिन्नमवक्तव्यञ्च, (६) स्याद् अभिन्नमवक्तव्यञ्च, (७) स्याद् भिन्नमभिन्नमवक्तव्यञ्चेत्येव प्रवर्तते । यदि घटादौ भिन्नत्वादेः समावेशः निरपेक्षः स्यात्, तदा स्यात्पद अनतिप्रयोजन = निरर्थक स्यात् । न च तत् तथा, अधिकनिग्रहस्थानादिप्राप्तेः । अतः इदमवश्यमभ्युपगन्तव्य यदुत वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि स्यात्पदमपेक्षाविशेषलाभार्थमेव सर्वत्र प्रयुञ्जते प्रामाणिकाः । ततश्चात्र स्यात्पदेन प्रथमभङ्गे स्वव्यक्तित्वार्पणायाः, द्वितीयभङ्गे व्यधिकरणधर्मापेक्षाया, तृतीयभङ्गे क्रमिकतदुभयविवक्षायाः, चतुर्थभङ्गे युगपत्तदुभयप्रतिपिपादयिषायाः, पञ्चमभङ्गे व्यधिकरणधर्म-युगपत्तदुभयसापेक्षत्वस्य, षष्ठभङ्गे प्रातिस्विकरूप-युगपत्तदुभयाऽऽदेशस्य, सप्तमभङ्गे क्रमिकतदुभय-युगपत्तदुभयभजनायाश्च लाभो भवेति । एवञ्च सप्तभङ्ग्या स्यात्पदमनतिप्रयोजनमित्याशङ्का परिहृता भवति, भेदाभेदादेः प्रतिनियतधर्मसापेक्षत्वेनाऽपेक्षाविशेषलाभप्रयोजनकत्वात् स्यात्पदस्य । प्रातिस्विकधर्मेतराशेषधर्माणा न्यग्भूतत्वेन भान स्यात्पदमहिम्ना लभ्यते । यथा चैतत्तत्त्व तथा व्यक्तीभविष्यति अग्रे सप्तभङ्गीनिरूपणावसर इति धैर्यमवलम्बतु तत्रभवान् भवान् ।

● रमणीया ●

शका :- भेदाभेद, अभेद और भेद को रहने मे अपेक्षा की क्या जरूरत है ? जो कुछ चीज है वह निरपेक्ष ही होती हे, सापेक्ष नही । अत अपेक्षाभेद का अनुसरण करना ठीक नही है ।

समाधान :- इत्थ० इति । आपकी यह बात ठीक नही है । पृथक् पृथक् भेद और अभेद का एक धर्मी से समावेश करने मे अपेक्षा विशेष की आवश्यकता होती ही है । यदि अपेक्षाविशेष की कोई आवश्यकता भेद और अभेद का एक धर्मी मे समावेश करने मे न हो तब तो समस्या यह उपस्थित होगी कि 'धर्मधर्मी मे जब सप्तभगी प्रवृत्त होती है तब (१) स्याद् भिन्न (२) स्याद् अभिन्न (३) स्याद् भिन्न ओर अभिन्न (४) स्याद् अवक्तव्य (५) स्याद् भिन्न अवक्तव्य (६) स्याद् अभिन्न एव अवक्तव्य (७) स्याद् भिन्न, अभिन्न ओर अवक्तव्य - इत्याकारक सप्तभगी बताई जाती हैं । यदि अभेद, भेद आदि विरुद्धत्वेन प्रतीयमान धर्मों का एक धर्मी मे समावेश करने के लिए अपेक्षाविशेष अनावश्यक हो तब इस सप्तभगी मे 'स्यात्' पदनिवेश का कोई प्रयोजन नही होने से निरर्थक होने का प्रसग क्यो नही आयेगा ? मगर सप्तभगी मे निविष्ट 'स्यात्' पद निरर्थक (= अनतिप्रयोजन) नही हे । इसकी उपपत्ति तभी हो सकती हे यदि भेद, अभेद आदि का एक धर्मी मे समावेश करने के लिए अपेक्षाविशेष आवश्यक हो । स्यात् पद का प्रयोग निश्चित अपेक्षाविशेष के ज्ञान के लिए ही सप्तभगी मे प्रविष्ट हे । प्रतिनियत अपेक्षाविशेष के लाभार्थ स्यात् पद का प्रयोग होता है - यह माना जाय तब तो स्यात् पद निरर्थक नही होगा, क्योकि नियत अपेक्षा का ज्ञापन उसका प्रयोजक है । इस तरह स्यात् पद सप्रयोजन बनने से निरर्थक नही है । अत अपेक्षा विशेष से ही धर्मी मे भेद, अभेद आदि का समावेश हो सकता है - यह मानना आवश्यक हो जाता हे । व्यवहार मे भी देखा जाता है कि - 'राम पिता है, राम पुत्र है' इत्यादि वाक्य का जब प्रयोग होता है तब नियत व्यक्तिविशेष (भिन्न भिन्न व्यक्ति) की अपेक्षा से ही राम मे पितृत्व, पुत्रत्व आदि विरुद्धतया प्रतीयमान धर्म का समावेश होता हे । इस बात पर खूब शाति से एकात मे बेठ कर विचार करना चाहिए - ऐसी सूचना देने के लिए प्रकरणकार ने यहाँ 'ध्येय' इस पद का प्रयोग किया हे ।

अथ भेदाभेदस्यापि कथञ्चिदभेदरूपत्वात् 'कपाले घटः' इत्यादावाधाराधेयभावप्रतीतिर्न स्यादिति चेत् ? न भेदाभेदत्वेन तस्य वृत्तिनियामकत्वात् । 'घटाभावे घटो नास्ती'त्यादावपि घटाभावत्वेन धर्मधर्मिभावविवक्षयैव निस्तार इति ।

★ जयलता ★

नैयायिक शङ्कते - अथेति । 'इति चेत् ?' पर्यन्तः शङ्काग्रन्थः । भेदाभेदस्याऽपीति । किमुत तादात्म्यस्येति अपिशब्दार्थः । कथञ्चिदभेदरूपत्वात् = स्यादभेदाव्यतिरिक्तत्वात् । न स्यादिति नैव स्यादित्यर्थः, 'सर्वं वाक्यं सावधारणमि'ति न्यायात् । अयं भावः 'नीलोत्पलमि'त्यादौ कर्मधारये पूर्वोत्तरपदार्थयोः कथञ्चिदभेदो भेदाभेदानतिरिक्त इति प्रत्यज्ञायि तुल्यन्यायात् भेदाभेदोऽपि कथञ्चिदभेदात्मकः सिद्ध्यति । अनुपदमेव च धर्मधर्मिभावापेक्षया द्वयोर्भेदाभेद इत्यभ्यधायि येन भेदाभेदस्याऽऽधाराधेयभावनियामकत्वमाक्षिप्यते । परन्तु कथञ्चिदभेदरूपस्य तस्य वृत्त्यनियामकत्वात् तेन सम्बन्धेन 'घटे रूपं' 'कपाले घटः' इत्यादौ आधाराधेयभावभानं न सम्भवति, अन्यथा 'घटे घटः' इत्यस्यापि प्रमात्वादिति अथाशयः ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । भेदाभेदत्वेन रूपेण तस्य = कथञ्चिदभेदरूपस्य भेदाभेदस्य वृत्तिनियामकत्वात् = आधाराधेयभावनियामकत्वात् । अयं भावः यथैक एव रामो भूपालज्येष्ठपुत्रत्वेनैव राज्याधिकारी सीतापतित्वरूपेण तु न तद्वद् य एव भेदाभेदोऽभेदत्वेन रूपेण न वृत्तिनियामकः स एव भेदाभेदत्वेन रूपेण तु वृत्तिनियामक इति घटकपालयोः भिन्नाऽभिन्नत्वेऽपि नाधाराधेयभावानुपपत्तिः ।

परमतेऽपि तादात्म्याऽऽकलितयोः आधाराधेयभावं दर्शयति - 'घटाभावे घटो नास्ती'ति । अयं भावः परेषां मते 'घटाभावे घटो नास्ति' इति प्रतीतिबलेन सिद्धो घटात्यन्ताभावाधिकरणको घटात्यन्ताभावोऽपि लाघवाद् घटात्यन्ताभावात्मकाधिकरणस्वरूप एव न तु तदतिरिक्तः एवं 'घटध्वंसे घटो नास्ति' इति प्रतीत्या स घटात्यन्ताभावो घटध्वंसात्मक एव, परन्तु 'घटाभावे घटो ध्वस्तः' इत्यप्रत्ययात् घटात्यन्ताभावस्य घटात्यन्ताभावत्वेन रूपेण स्वात्मनि सत्त्वेऽपि घटध्वंसत्वेनाऽसत्त्वात् तयोरभिन्नत्वेऽपि घटाभावत्वे घटात्यन्ताभावत्वविशिष्टाधारतायाः अवच्छेदकत्वं स्वीक्रियते । इत्थञ्चाभेदे सत्यपि घटात्यन्ताभावत्वेन रूपेण धर्मधर्मिभावस्याऽऽधाराधेयभावापराभिधानस्य परैरभ्युपगमात् कथं प्रकृते घटकपालयोः कथञ्चिदभिन्नत्वेऽप्याधाराधेयभावानुपपत्तिरुद्भावयितुं परैः शक्यते ? 'घटध्वंसे घटो नास्ती'ति प्रतीत्या घटध्वंसात्मकस्य घटात्यन्ताभावस्य 'घटाभावे घटो ध्वस्तः' इत्यप्रत्ययात् घटात्यन्ताभावत्वेन रूपेण तस्य तद्वृत्तित्ववत् 'कपालमेव घटीभूतमि'ति प्रतीत्या कपालाभिन्नस्य घटस्य स्वाऽभिन्नत्वेन रूपेण कपालेऽसत्त्वेऽपि स्वभिन्नाभिन्नत्वरूपेण तस्य तद्वृत्तित्वमुपपत्स्यते अन्यत्र द्वेषमात्रात् ।

● रमणीया ●

नैयायिक :- अथ भेदा० इति । आपने धर्मधर्मिभाव की अपेक्षा भेदाभेद को बताया है । इसका अर्थ यह है कि जिनके बीच धर्म-धर्मिभाव - आधाराधेयभाव - आश्रयआश्रयिभाव हो उन दोनो के बीच भेदाभेद होता है । मगर आपने पूर्व मे ही बता दिया है कि 'नीलोत्पल' इत्यादि कर्मधारय समास के पूर्वोत्तर पदार्थ मे जो कथचित् अभेद सिद्ध है, वही भेदाभेद है । अतः आप के ही वचन मे यह सिद्ध होता है कि धर्मधर्मिभाव जिनके बीच होता है, उनके बीच भेदाभेद होता है, जो जात्यन्तररूप होने पर भी सबंध का कार्य करता है, वह कथचित् अभेदात्मक ही है, उससे विलक्षण सबंध नही । मगर ऐसा होने पर 'कपाले घट' अर्थात् 'कपाल मे घट है' इत्यादि प्रतीति न हो सकेगी, क्योकि जिनके बीच अभेद होता है उनमे आधार-आधेयभाव की प्रतीति होती नही है, अन्यथा 'घटे घट' अर्थात् 'घट मे घट है' ऐसी प्रतीति भी होने लगेगी । मगर भूतल मे जब एक ही घट होता है, तब 'घट मे घट है' ऐसी प्रतीति होती नही है, क्योकि अभेदसबंध वृत्तिनियामक नही है । अतः स्याद्वादी के मत मे आधार-आधेयभाव की प्रतीति उपपन्न हो सकती नही है ।

स्याद्वादी :- न, भेदा० इति । आपकी बात ठीक नही है, क्योकि भेदाभेद, जो कि धर्मधर्मिभाव का नियामक है, कथञ्चिदभेदरूप से भले ही वृत्तिनियामक न हो परतु भेदाभेदत्वरूप से तो वह वृत्तिनियामक ही है । अतः घट भले ही स्वाभिन्नत्वरूप से कपाल मे न रहे मगर स्वभिन्नाभिन्नत्वरूप से तो रह सकता ही है । इस तरह भेदाभेदत्वरूप से भेदाभेद मे आधाराधेयभावनियामकता होने से'कपाले घट' 'घटे रूप' इत्यादि आधाराधेयभावप्रतीति की उपपत्ति हो सकती है । आपके मत मे भी 'घटाभावे घटो नास्ति' = 'घटाभाव मे घट नही है' इस प्रतीति से घटाभाव मे जो घटाभाव रहता है वह लाघव से घटाभावात्मक अधिकरणस्वरूप ही है । अर्थात् घटाभाव मे रहनेवाला घटाभाव अपने अधिकरण घटाभाव से अभिन्न है । फिर भी उन दोनो के बीच आधाराधेयभाव न्यायदर्शन मे स्वीकृत है । इसका स्वीकार तभी हो सकता है यदि घटाभाव और घटाभाव के बीच घटाभावत्व की अपेक्षा से आधाराधेयभाव को मान्यता दी जाय । जब आप भी अभिन्न पदार्थ मे विशेषरूप से धर्मधर्मिभाव का स्वीकार करते है । तब घट ओर कपाल कथचित् अभिन्न होने पर भी भेदाभेद से उन दोनो के बीच आधाराधेयभाव की प्रतीति को अप्रामाणिक कैसे कह सकते है ?

वस्तुत० इति । वास्तव मे तो अनुभव के अनुसार तत् तत् प्रतियोगिताकत्वविशिष्ट तत् तत् सबंध ही आधारता है - ऐसा माना जाता है । जैसे जल मे रूप रहता है ओर रस भी । मगर रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेद सबंध रूपाधारतात्व का नियामक है और रसप्रतियोगिक भेदाभेदसबंध रसाधारतात्व का नियामक है । अतः रूपप्रतियोगिक भेदाभेदस्वरूप आधारतासबंध से रूपविशिष्ट जल होता है ओर रसप्रतियोगिकभेदाभेदात्मक आधारतासबंध से रसविशिष्ट जल होता है । अर्थात् आधारता भेदाभेद से अतिरिक्त नही है।

वस्तुत· तत्तत्प्रतीतिमनुसृत्य तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्सबधस्याऽऽधारतात्वं कल्प्यते । अस्तु वा धर्मान्तरमेव आधारता, तेन ''घटरूपयोर्भेदाभेदाऽविशेषेऽपि घट एव रूपस्याऽऽधारता न तु रूपे घटस्य'' इत्यत्र न नियामकानुसरणवैयग्र्य, न वा तन्तुपटयोरन्योन्याधारत्वप्रतीतिसमाधिर्दुःशका ।

★ जयलता ★

ननु भेदाभेदत्वेन रूपेण भेदाभेदस्य वृत्तिनियामकससर्गत्वोपगमे रूपरसयोरपि भेदाभेदसभवेनाऽऽधाराधेयभावप्रसङ्ग इत्याशङ्कायामाह - वस्तुत इति । तत्तत्प्रतीतिमनुसृत्येति । 'पृथिव्या रूप पृथिव्या च रसो न तु रूपे रसो न वा रसे रूप' इत्यादिस्वरसवाह्यनुभवबलेन । तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्सवधस्याऽऽधारतात्व कल्प्यत इति । रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टपृथिवीभेदाभेदसवन्धस्य रूपाधारतात्व, रसप्रतियोगिकत्वविशिष्ट-भेदाभेदसवन्धस्य रसाधारतात्वमित्येव विशिष्याऽऽधारता कल्प्यते । तेन न 'रूपे रस' इति प्रतीत्यापत्तिः, उक्तरसाधारताया रूपे विरहात् । एवञ्चातिरिक्ताधारताकल्पनागौरवमपि परिहृत भवति । यत्र धर्मधर्मिभावो नास्ति तत्स्याऽभेदो नाधारतानियामकः यथा तद्घटत्वावच्छिन्नाऽभेदः न तद्घटाधारतानियामकः । यत्र तु धर्मधर्मिभावोऽस्ति तदभेदस्त्वाधारतानियामको यथा 'तद्घटः तद्रूपवानि'ति । तादृशोऽभेदस्तु भेदानुविद्ध एव, यद्वा जात्यन्तररूपो भेदाभेद इत्यन्यदेतत् ।

ननु तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्सवन्धस्तदाधारतेत्युपगमे तु एकस्मिन्नेव भूतलादा घटपटादिप्रतियोगिभेदेनाव्याप्यवृत्तिनानाधारतापत्तिरित्या-शङ्काया कल्पान्तर दर्शयितुमाह अस्तु वेति । धर्मान्तरमेवाऽऽधारतेति । अन्वयितावच्छेदकसमव्याप्यातिरिक्तधर्मविशेष एव आधारतेत्यर्थः । तत्फलमाह - तेनेति अतिरिक्ताधारतोपगमेनेति । अयमाशयः यदि धर्मधर्मिणो· भेदाभेदस्येव वृत्तिनियामकससर्गत्वोपगमे यथा रूपस्य भेदाभेदो घटे तथा घटस्य भेदाभेदो रूपेऽपि वर्तत इति 'घटे रूपमि'तिवत् 'रूपे घट' इत्यस्याऽपि प्रसङ्गो दुर्निवारः, घटे रूपाधारताया इव रूपेऽपि घटाधारताया निराकर्तुमशक्यत्वात् । यदि चान्वयितावच्छेदकसमव्याप्यधर्मविशेषस्यैवाऽऽधारतात्वमङ्गीक्रियते तदा 'घट एव रूपस्याऽऽधारता न तु रूपे घटस्ये'ति वक्तु युज्यते, प्रकृते घटत्वसमनियतधर्मविशेषरूपत्वात् तस्याः । एवञ्चातिरिक्ताधारतास्वीकारे 'द्रव्ये पर्यायस्याऽऽधारता न तु पर्याये द्रव्यस्य' इति नियामकयाञ्चाप्रयासायासो न भवति । न चेव गौरवप्रसङ्गः, विशदतरप्रतीतिवलोन्नेयत्वात् तस्याः । विशदतरकार्यसिद्धा चाऽप्रतीयमानमपि कारण कल्पनीय प्रतीयमानकल्पनाभयात्कार्यवैशद्यस्यापह्नोतुमनर्हत्वात्, अन्यथाऽद्वैतमतसाम्राज्यापत्तेः ।

अतिरिक्ताधारतायाः फलान्तर दर्शयति - न वेति । अय भावः 'अस्मिन् पटे वहव· तन्तवः' इति लौकिकप्रतीतेः 'इह तन्तुपु पटः' इति गोतमीयाऽलौकिकप्रतीतेश्चानुसारेण तन्तुपटयोरन्योन्याऽऽधारत्व प्रतीयते । किन्तु प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्सवन्धस्याऽऽधारतात्वोपगमे द्विविधप्रतीत्युपपत्तिर्न स्यात् । अतोऽतिरिक्ताधारतोपेयते येनोभयविधाधारतप्रतीति· समाधीयते । यथाश्रुतग्रन्थोपपादनञ्चैतन्मया कृतम् ।

● धर्मान्तर ही आधारता है - स्याद्वादी ●

अस्तु० इति । अथवा हम यह भी कह सकते है कि आधारता तत्तत्प्रतियोगिक भेदाभेदात्मक नही किन्तु उससे अतिरिक्त धर्मविशेषात्मक ही भले हो । आशय यह हे कि विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नही हे किन्तु शुद्ध मे अभिन्न ही हे-उस अभिप्राय से भेदाभेद से अनतिरिक्त तत्तत्प्रतियोगिक भेदाभेद ही तत् तत् धर्म की आधारता हे जो कि यहाँ सवधरूप हे । वेसे अन्य दृष्टिकोण से यानी पर्यायार्थिक नय से आधारता को अतिरिक्त धर्मविशेषात्मक भी मान सकते हे ओर ऐसा मानना युक्त भी हे । इसका कारण यह हे कि 'घट और रूप मे भेदाभेद तो समानरूप से विद्यमान होने से घट मे ही रूप की आधारता हे, न कि रूप मे घट की आधारता-इसका नियामक मिलना मुश्किल है । आशय यह हे कि यदि भेदाभेद को ही आधाराधेयभाव का नियामक माना जाय तब तो जैसे घट मे रूपभेदाभेद होने से वह रूपाधिकरण है ठीक वेसे ही रूप घटभिन्नाभिन्न होने की वजह घटआधार हो सकता है, भेदाभेद तो दोनो मे समान ही हे । मगर वस्तुस्थिति यह हे कि घट ही रूप का आधार हे, न कि रूप घट का । इसकी उपपत्ति करने के लिए आधारता अतिरिक्त हे जो यहाँ घटत्वसमनियत धर्मविशेषस्वरूप हे - यही मानना मुनासिब है । अतिरिक्त आधारता का स्वीकार करने पर उपर्युक्त दोष को अवकाश नही है, क्योकि धर्मविशेषात्मक आधारता सिर्फ घट मे ही है न कि रूप मे भी - ऐसा हम सार्वजनीन स्वरसवाही प्रतीति एव शिष्टव्यवहार के बल से मानते हे ।

● ततु-पट मे अन्योन्य आधारताप्रतीति ●

न वा ततु० इति । इसके अतिरिक्त यह भी ध्यातव्य है कि तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद को ही आधारतास्वरूप मानने पर 'घट मे ततु है' और 'ततु मे पट है' ऐसी ततु-पट मे अन्योन्य आधारता की द्विविध प्रतीति का समाधान न हो सकेगा, सिर्फ एक प्रतीति का ही उपपादन हो सकेगा। मगर अनुभव तो दोनो रूप से होता है । इसकी उपपत्ति करने के लिए अतिरिक्त धर्मविशेषरूप आधारता की कल्पना करनी आवश्यक है । आशय यह है कि 'विशाल पट मे छोटे छोटे ततु रहे हैं' इस प्रतीति से पट मे आधारता और ततु में आधेयता का भान होता है । तथा कारण पूर्ववृत्ति होने से आधार होता है और कार्य पश्चात्कालवर्ती होने से आधेय होता है-इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो 'इन ततुओ मे पट रहा हुआ है' ऐसी प्रतीति होती है, जिससे पट मे आधेयता और ततु मे आधारता का भान होता है । यदि धर्मविशेषात्मक आधारता का स्वीकार किया जाय तब तो उभयविध प्रतीति का समाधान मुमकिन है । इस विषय में आगे भी विचार किया जा सकता है । जिज्ञासु पाठक महाशय जयलता टीका का अवगाहन कर सकते है ।

ननु एवमपि भवतु भेदाभेदो जात्यन्तररूपः, तथाप्यसावेकत्रान्योन्याभावतदभावव्यङ्ग्यः तयोश्चैकत्रावच्छेदकभेदं विना प्रतीत्यनुपपत्तिरित्युक्तमेवेति चेत् ? न, घटत्वद्रव्यत्वयोरेव तदवच्छेदकत्वसंभवात् । यदवदाम स्तुतौ

★ जयलता ★

वस्तुतः बृहत्स्याद्वादरहस्योक्तदिशा धर्मोऽविष्वग्भूतो धर्म्येव तदाधारता, तेन न धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदाऽविशेषेऽपि 'धर्म्येव धर्माधारो न तु धर्मास्तथा' इत्यत्र नियामकानुसरणव्यग्रता । धर्मिणश्चाऽनाधारत्वे धर्मा एव वस्त्विति सुगतमतसाम्राज्यापत्तेः । किञ्चैवं धर्म्यसिद्धेरपि दुर्निवारत्वम्, धर्माधारतयैवातिरिक्तधर्मिणः परेण कल्पनात् । एवञ्च गौरवमपि परिहृतं भवति, क्लृप्तेनैवोपपत्तावतिरिक्तकल्पनाया अयोगात् । यदा 'पटे तन्तवः' इति प्रतीयते तदा पटस्याऽऽधारत्वं, अधिकदेशवृत्तित्वात्, तन्तूनाञ्चाऽऽधेयत्वं न्यूनदेशवृत्तित्वात् । यदा च 'कारणस्य पूर्ववृत्तित्वेन धर्मित्वमि'ति नयमते दृष्टिर्दीयते तदा 'तन्तुषु पटः' इति प्रतीत्या तन्तूनामाधारत्वं पटस्य चाधेयत्वमित्यन्योन्याधारत्वप्रतीत्युपपत्तिरिति । एवञ्च रूपरसयोः परस्परं भिन्नाभिन्नत्वेऽपि नाधाराधेयभावापत्तिः, धर्मस्य धर्मानाधारत्वात् । तदुक्तं प्रकरणकृद्भिरपि स्याद्वादकल्पलतायां 'आधाराधेयाभ्यां कथञ्चिदपृथग्भूतस्याऽऽधाराधेयभावस्याऽबाधितानुभवसिद्धत्वेन' [स्या.क. स्त.५ श्लो.१२ वृ.] इति ।

यत्तु न्यायभूषणकारेण "अवयवानां त्वाश्रयत्वं तेषु सत्स्वेवाऽवयविनोऽवस्थितिरसत्सु चाभाव एवेति" [न्या.भू.पृ.१२४] इत्युक्तं तदपि न सम्यगेकान्तगर्भितम्, घटत्व-पृथ्वीत्व-द्रव्यत्वादीनामपि घटाद्याश्रयत्वप्रसङ्गात्, तेषु सत्स्वेव घटाद्यवस्थितेः सम्भवात् । न च व्यतिरेकविरहान्न घटत्वादीनां घटाद्याश्रयत्वम्, न हि नित्यानां तेषां कदाचिदभावोऽस्ति येन तदभावे घटाद्यभाव इति वक्तुं युज्येतेति वक्तव्यम्, एवं सति आकाशादीनामपि शब्दाद्यनाश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च शब्दादीनामाकाशादिजन्यत्वात्तदाश्रितत्वमिति साम्प्रतम्, तादृशनियमस्याऽद्यावधि विवादग्रस्तत्वात् घटादेः घटत्वाद्यनाश्रयत्वप्रसङ्गाच्च । न च घटत्वादीनां नित्यानामपि पिण्डेष्वेवोपलम्भात्तदाश्रितत्वं व्यवह्रियत इति वाच्यम् तर्हि शाखाशृङ्गादीनामपि वृक्षबलिवर्दादिष्वेवोपलम्भात्तदाश्रितत्वं वदतो मुखं किं पाणिना पिधेयम् ? समकालीनकार्यकारणभावनयाऽवतारे तु कान्दिशिकः भासर्वज्ञः कां दिशामाश्रयतु ? इत्यलं पलायमानेन तेन सह विवादेन । तस्मात् यथानुभवमेवाधाराधेयभाव आस्थेय इति न कोऽप्यतिप्रसङ्गः ।

नैयायिकः सिंहावलोकनन्यायेन शङ्कते - नन्विति । वादिबलनिरीक्षणार्थमनिष्टस्याऽपि भगवतो भेदाभेदस्याऽभ्युपगमवादेन स्वीकारं कर्तुमाह - एवमपि भवत्विति । जात्यन्तररूप इति । भेदविशिष्टाभेदस्याऽभेदविशिष्टभेदस्य वा तत्त्वे विनिगमकाभावात् जात्यन्तररूप एव भेदाभेद इति [१]पूर्वमुक्तम् । अभ्युपगमपूर्वकविशेषाविष्करणार्थमाह - तथापीति । असौ = भेदाभेदः, एकत्र = एकस्मिन् वस्तुनि, अन्योन्याभावतदभावव्यङ्ग्य = अन्योन्याभाव-तदत्यन्ताभावज्ञानजन्याभिव्यक्तिविषयः । तयोश्च = अन्योन्याभाव-तदत्यन्ताभावयोश्च एकत्र = एकस्मिन् पदार्थे अवच्छेदकभेदं विना = अवच्छित्त्यन्यूनानतिरिक्तवृत्तिधर्मविशेषमृते, प्रतीत्यनुपपत्तिः = प्रमाणजन्यप्रतीतिविषयताविरहः, इत्युक्तमेवेति । 'नीलस्याऽन्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलात् घटस्य भेदोऽस्तु, अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाभावरूपो घटे न घटत्वावच्छेदेनैव, विरोधात्, एकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्राऽवृत्तेरज्ञानाच्च नाप्यवच्छेदकान्तरेण, घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावात्,' इति पूर्वं[२] तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थसंवादप्रदर्शने प्रतिपादितमेवेति । भिन्नावच्छेदकोपगमे त्वन्योन्याभावतदभावयोरेकत्रास्तु वृत्तिता ज्ञानञ्च किन्तु प्रकृतेऽवच्छेदकस्य भिन्नत्वमेव न संभवतीति न भगवान् भेदाभेद एकत्र वस्तुनीति नैयायिकाशयः ।

स्याद्वादी तदपाकरोति - नेति । घटत्व-द्रव्यत्वयोरेवेति । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः । तदवच्छेदकत्वसंभवात् = अन्योन्याभाव-तदभावावच्छेदकत्वसंभवात् । अयं भावः 'नीलो घटः' इत्यत्र घटे नीलान्योन्याभावः नीलान्योन्याभावाभावश्च वर्तेते परन्तु नीलान्योन्याभावो घटत्वपर्यायावच्छेदेन वर्तते । न च घटत्वं तु नीलघटेऽपि वर्तते न च तत्र नीलभेदो तदच्छेदेन वक्तुं पार्यते, नीलघटेऽपि 'अनीलोऽयमि'ति व्यवहाराप्रामाण्यप्रसङ्गादिति वाच्यम् नीलभेदाभावाभावरूपस्य नीलभेदस्य प्रामाणिकत्वात्, अन्योन्याभावस्य न स्वप्रतियोगितावच्छेदकसमानाधिकरणेन

● रमणीया ●

नैयायिक :- नन्वेवमपि० इति । आपने जात्यंतरात्मक भेदाभेद का निरूपण किया है । हम एक बार मान लेते हैं कि भेदाभेद जात्यंतररूप है । मगर जात्यन्तरात्मक भेदाभेद का ज्ञान एक ही धर्मी में अन्योन्याभाव और अन्योन्याभाव का अभाव होने पर ही हो सकता है । किन्तु वह नामुमकिन है, क्योंकि अवच्छेदक भेद के बिना अन्योन्याभाव और उसके अभाव की एक धर्मी में प्रतीति नहीं हो सकती है-यह तो[१] पूर्व में बताया गया ही है । व्यंजक नहीं है तो व्यंग्य की व्यक्ति(=ज्ञान) कैसे होगी ? न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसूरी । मतलब भेदाभेद के स्वीकार में कोई प्रमाण नहीं है ।

स्याद्वादी :- न घटत्व० इति । भला अंधा पत्थर को न देखे इसमें पत्थर का क्या दोष है ? अवच्छेदकभेद तो सुस्पष्ट ज्ञायमान ही है । घट में नीलभेद का अवच्छेदक घटत्व और नीलभेदाभाव का अवच्छेदक एकद्रव्यत्व मुमकिन ही है । अर्थात् घट में घटत्वावच्छेदेन नीलभेद और एकमात्रवृत्तिताविशिष्टद्रव्यत्वावच्छेदेन नीलभेदाभाव रह सकता है । दोनों की वृत्तिता का अवच्छेदक भिन्न भिन्न होने से एक धर्मी में उनका समावेश करने में कोई दोष नहीं है । हमने (प्रकरणकार महामहोपाध्यायजी ने) श्रीशंखेश्वर पार्श्वनाथ

१- दृश्यतां ३६ तमे पृष्ठे २- दृश्यतां ३७ तमे पृष्ठे

[१]एकत्र वृत्तौ हि विरोधभाजोः येषामवच्छेदकभेदयाञ्चा ।

द्रव्यत्वपर्यायतयोर्विभेदं विजानता सा कथमस्तु वस्तु ॥ [श पा स्तो श्लो ४०] इति ।

नीलभेदो घटत्वावच्छेदेन नीलाभेदस्तु नीलवद्भिन्नभेदावच्छेदेन । न च तदज्ञानेऽपि 'नीलो घट' इत्यनुभवान्न तस्य तदवच्छेदकत्वम्,

★ जयलता ★

स्ववृत्तित्वेन सह विरोधोऽपि तु स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छेदेन स्ववृत्तितया सह । इत्थमेव तात्पर्यभेदेन 'द्रव्य न घट' इति वाक्यस्य प्रामाण्याऽप्रामाण्योपपत्तेः । नीलान्योन्याभावाभावस्तु द्रव्यत्वावच्छेदेन घटे सभवति । यद्यपि द्रव्यमात्र न नीलमेव, अनीलद्रव्यस्याऽपि सत्त्वात् भेदाभावस्य स्वप्रतियोगिना सह विरोधात् तथापि प्रकृते एकद्रव्यत्वस्य तदवच्छेदकत्वतात्पर्येण न दोषः । एकद्रव्यत्वञ्च एकमात्रवृत्तित्वविशिष्टद्रव्यत्वम् । एकपदेन एकत्वसख्याविशिष्टस्वद्रव्यग्रहणमभिप्रेतम् । तेन 'नीलघट' इत्यत्र अनीलद्रव्यत्वावच्छेदेन नीलभेदाभावस्य विरहेऽपि न क्षतिः, अनीलघट-पटादेरस्वद्रव्यात्मकत्वात् एकत्वविशिष्टस्वद्रव्यात्मकघटनिरूपितवृत्तिताविशिष्ट-द्रव्यत्वत्वावच्छेदेन नीलान्योन्याभावाभावस्याऽबाधितत्वात् । अत एव द्रव्यत्वस्याऽतिरिक्तवृत्तित्वेनाऽनवच्छेदकत्वम्, अन्यथा शाखाया कपिसयोगसत्त्वदशायामपि वृक्षत्वस्य तदवच्छेदकत्वप्रसङ्गादित्युक्तावपि न क्षति शुद्धद्रव्यत्वातिरिक्तस्य विशिष्टद्रव्यत्वस्यानतिरिक्तवृत्तित्वात्, विशिष्ट कथञ्चिच्छुद्धादतिरिच्यत इति तु पूर्वं भावितत्वान्नेह भाव्यते ।

अत्रैव स्वोक्तसवादमाह - यदवदाम इति । स्तुताविति । बृहच्छ्रीशखेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्रे इति । अय कारिकाव्याख्यालेशः येषा = भगवता, यच्छब्दस्य वक्तृबुद्धिविशेषविषयत्वावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नार्थवाचित्वात् । द्रव्यत्वपर्यायतयो विभेद = विशेष विजानता = अस्मादृशापेक्षया विशिष्य जानानाना, विरोधभाजो भेदाभेदयोः एकत्र = एकस्मिन् धर्मिणि वृत्तो = वृत्तित्वे भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य, या अवच्छेदकभेदयाञ्चा = उपाधिविशेषानुसरणव्यग्रता सा हि व = युष्माक तु कथमस्तु ? नैव स्यादित्यर्थः । क्वचित्तु 'नः' इति पाठः । तदनुसारेण च सा अवच्छेदकभेदयाञ्चा अस्माक तु कथमस्त्वित्यर्थः । नैयायिकादिभिस्तु तदवच्छेदकभेदौ न लब्धाविति ते नः उपालब्धवन्तः परन्त्वस्माभिस्तु तौ लब्धाविति न वयमुपालब्धुमर्हाम इति भावः ।

'नीलो घट' इत्यत्र नीलघटयोर्भेदाभेदनवच्छेदकभेदेन व्यवस्थापयति- नीलभेदो घटत्वावच्छेनेति । अनुपदमेव भावितमेतत् । नीलाभेदस्तु = नीलप्रतियोगिकान्योन्याभावाभावस्तु, नीलवद्भिन्नभेदावच्छेदेन = नीलरूपविशिष्टप्रतियोगिकभेदविशिष्टत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदावच्छेदेन । अय भावः विवक्षितनीलरूपविशिष्टो यः तत्प्रतियोगिकभेदवन्तो यावन्तोऽनीलघट-पटादयः तावत्प्रतियोगिकभेदविशिष्टे विवक्षितनीलघटे तावत्प्रतियोगिकभेदात्म कावच्छेदकावच्छेदेन विवक्षितनीलान्योन्याभावाभावो वर्तते ज्ञायते च । एतेन अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाभावरूपो घटे न घटत्वावच्छेदेनैव, विरोधात्, एकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्राऽवृत्तेरज्ञानाच्च । नाप्यवच्छेदकान्तरेण, घटत्वावच्छिन्ने घटे तदभावात् । [त चि प्र ख पृ ६६१] इति गङ्गेशवचनमपहस्तितम् ।

नन्वनुपदमेव नीलभेदाभावावच्छेदकत्वमेकद्रव्यत्वे उक्त साम्प्रतञ्च नीलरूपवद्भिन्नभेदे इति कथ न पूर्वापरविरोधः इति चेत्? मेवम्, सति सभवे ज्ञाने च तत्त्यागायोगात् प्रमाणसमाहारे प्रमेयसमाहारविरोधविरहात्, प्रमायाः प्रमान्तराऽदूषकत्वात्, अन्यथा प्रमात्वव्याहतः । वस्तुतो नीलवद्भिन्नभेदस्याऽपि तत्समनियतैकमात्रवृत्तितद्व्यक्तित्वादेरुपलक्षणत्वमिति विभानीय कोविदैः ।

ननु नीलवदन्यभेदस्य नीलाभेदावच्छेदकत्व न सम्भवति, घटे नीलरूपविशिष्टभिन्नभेदस्याऽनववोधेऽपि नीलतादात्म्याऽवगाहिन्या 'नीलो घट' इति समानाधिकरणप्रतीतेरुदयात्। न हि अवच्छेदकाज्ञानेऽवच्छेद्यज्ञान सम्भवति, तद्व्यङ्ग्यत्वात् तस्य, अन्यथा शाखानववोधेऽपि 'वृक्ष' नीलभेदो घटत्वावच्छेदेन कपिसयोगी' इति प्रतीतिप्रसङ्गादित्याशङ्का निराकर्तुमाह - न चेति । तदज्ञानेऽपि = नीलिभिन्नभेदाऽपरिच्छेदेऽपि, एकविभक्त्यन्तत्वे सति भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति एकार्थप्रतिपादकत्वरूपस्य सामानाधिकरण्यस्याऽवगाहकात् 'नीलो घट' इत्यनुभवात् न तस्य = नीलवद्भिन्नभेदस्य

● रमणीया ●

के स्तोत्र मे भगवान की स्तुति करते हुए कहा है कि - द्रव्यत्व और पर्यायत्व मे विशेषता को जानने वाले आपको एक धर्मी मे विरुद्धतया प्रतीयमान धर्मों का समावेश करने के लिए अवच्छेदकभेद के अनुसरण की व्यग्रता, जो अज्ञ एकातवादी जीवो को होती हे, कैसे होगी ? अर्थात् तादृश व्यग्रता नही होगी, क्योकि द्रव्यत्व अभेद की वृत्तिता का और पर्यायत्व भेदवृत्तिता का अवच्छेदक बन सकते हे । अत 'नीलो घट' इस स्थल मे घटात्मक धर्मी मे नीलरूप का भेद घटत्वावच्छेदेन रहेगा, क्योकि घटमात्र (= सब घट) नील होते नही है । तथा नीलाभेद नीलरूपवद्भिन्नभेदावच्छेदेन रहेगा । आशय यह है कि जो विवक्षित नील घट हे, उसीसे नील अभिन्न है, अन्य पीतादि घट या पट आदि से नही । अत एकमात्र उस नील घट मे रहनेवाला धर्मविशेष, जो कि उस विवक्षित नील घट मे ही रहे और उससे अन्यत्र न रहे, नीलाभेद अवच्छेदक बन सकेगा । वह धर्मविशेष है नीलवद्भिन्नभेद अर्थात् जो नीलरूप से विशिष्ट है ऐसे विवक्षित नील घट से भिन्न अनील घट-पट आदि का भेद ही नीलाभेद की वृत्तिता का अवच्छेदक हो सकता है, जो सिर्फ विवक्षित नील घट मे ही रहेगा, क्योकि स्वेतर सकल अनील घट-पट आदि का भेद स्व मे ही रह सकता है । इस तरह एक ही घट मे घटत्वावच्छेदेन नीलान्योन्याभाव और नीलरूपवद्भिन्नव्यक्तिभिन्नत्वावच्छेदेन नीलान्योन्याभावाभाव

१-इय कारिका अष्टानवतिश्लोकप्रमिते प्रकृतप्रकरणकृद्विनिर्मिते श्रीशखेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्रे वर्तते । २-द्रष्टव्यता ३७ तमे पृष्ठे

घटत्ववत्तस्य योग्यत्वान्नियमतस्तत्पूर्वं तद्ग्रहात् ।

★ जयलता ★

तदवच्छेदकत्व = नीलभेदाभावावच्छेदकत्वम् । अवच्छेद्यस्याऽवच्छेदकज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वेनाऽवच्छित्तिसमानवित्तिवेद्यत्वादवच्छेदकस्येति परस्याशयः ।

स्याद्वादी तन्निरासे हेतुमाह - घटत्ववदिति । तस्य = नीलरूपवद्भिन्नप्रतियोगिकभेदस्य, योग्यत्वात् = ज्ञानविषयत्वार्हत्वात् नियमत = अवश्य, तत्पूर्वं = अवच्छित्तिपूर्वकाले, तद्ग्रहात् =नीलवद्भिन्नभेदज्ञानात् । अय भावः यथा परेण नीलस्याऽन्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेत्युपगन्तव्ये प्रत्यक्षयोग्यत्वेन तद्भेदग्रहाऽव्यवहितपूर्वसमये घटत्वज्ञान भवति तथव तद्वद्भिन्नभेदाऽवच्छेदेन तद्भेदाभावस्योपगमे ममापि तद्भेदाभावग्रहाव्यवहितपूर्वक्षणे योग्यत्वेन तद्वद्भिन्नभेदस्य ग्रहो भवति, योग्याऽवच्छेदकज्ञानस्याऽवच्छिन्नत्वधीजनकत्वेन फलबलोन्नेयत्वात्, अन्यथा कथ परस्य 'घट-घटत्वे' इति निर्विकल्पकधीसिद्धिस्स्यात् ? एतेन नियमतः तत्पूर्वं तद्ग्रहो न प्रामाणिकः व्यवसायविषयत्वव्यवस्थापकस्याऽनुव्यवसायस्य तथात्वावगाहित्वविरहादिति प्रत्युक्तम् निर्विकल्पकेऽपि समानत्वात् ।

वस्तुत सर्वज्ञशासने सर्ववित्तीनामवश्यवेद्यत्व नोपगम्यते, गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानादौ तथात्वाप्रसिद्धेः । इत्थमेव अवग्रहेहादीना स्वभ्यस्तविषये स्फुटतयाऽननुभवेऽपि उत्पलशतपत्रव्यतिवेधवत् क्रमिकत्वमुपपद्यत इति विभावनीय समाकलितसमयरहस्यैः ।

● रमणीया ●

(=नीलतादात्म्य) रह सकते ह, जिसकी वजह जात्यतररूप नीलभेदाभेद का घट मे ज्ञान होने मे कोई दोष प्रसक्त होता नही है ।

नैयायिक :- न च तद० इति । आपने नीलभेद का अवच्छेदक घटत्व माना वह तो ठीक ह मगर नीलाभेद का अवच्छेदक नीलरूपवद्विशिष्टभिन्नभेद को माना है वह ठीक नही ह । इसका कारण यह है कि अवच्छेद्य की वृत्तिता के ज्ञान के लिए अवच्छेदक का ज्ञान आवश्यक होता है । जब तक अवच्छेदक का ज्ञान होता नही है तब तक अवच्छिन्न वृत्तिता का ज्ञान धर्मी मे नही हो सकता है । जसे शाखा का ज्ञान न हो तब तक शाखावच्छिन्न कपिसयोग का ज्ञान हो सकता नही है । यहाँ नीलाभेद के अवच्छेदकीभूत नीलरूपवद्भिन्नप्रतियोगिकभेद का ज्ञान न होने पर भी 'नीलो घट' ऐसी रूप-रूपी मे सामानाधिकरण्यअवगाही प्रतीति होती ह, जो आपके मतानुसार गुण-गुणी मे अभेद का अवगाहन करती है । नीलाभेद का उक्त प्रतीति से घट मे भान होने पर भी उपर्युक्त अवच्छेदक के ज्ञान का अनुभव तो होता नही ह । तब भला उसे अवच्छेदक कैसे माना जाय ? व्यजक के विना व्यग्य का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

● नीलाभेद की वृत्तिता का अवच्छेदक नीलवदन्यभेद - स्याद्वादी ●

स्याद्वादी :- घटत्ववत् इति । आपका यह कथन ठीक नही है । इसका कारण यह है कि जैसे घट मे घटत्वावच्छेदेन नील के भेद का बोध करने के पूर्व योग्य होने से घटत्व का बोध होता है ठीक वैसे ही नीलरूपवद्भिन्नभेद भी योग्य होने से घट मे नीलाभेद का भान होने के पूर्व मे अवश्य ज्ञात होता है । यदि योग्य होने पर भी घट मे नीलवदन्यभेद का ज्ञान नीलाभेद की वृत्तिता के ज्ञान के पूर्व न हो तब तो घट मे नीलभेद की वृत्तिता के ज्ञान की पूर्व क्षण मे घटत्वात्मक अवच्छेदक का ज्ञान न हो सकेगा, भले ही वह प्रत्यक्ष योग्य हो । मगर ऐसा होता नही है । योग्य आवश्यक धर्म का ज्ञान होने मे क्या बाधा ह ? कुछ नही । अत यह मानना उचित ही ह कि घट मे नीलाभेदज्ञान के पूर्व मे नीलवदन्यभेदात्मक अवच्छेदक का ज्ञान होता ह ।

● नयान्तर से अभेद की निरवच्छिन्न वृत्तिता-स्याद्वादी ●

अस्तु वा० इति । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि घट मे नीलभेद का घटत्वात्मकअवच्छेदकअवगाही ज्ञान होता है और नीलाभेद का ज्ञान अवच्छेदकानवगाही ही होता है । अर्थात् घट मे सावच्छिन्न नीलभेद और निरवच्छिन्न नीलाभेद की प्रतीति होती ह । यहाँ यह शका करना कि → 'घटत्वावच्छेदेन घट मे नीलभेद का ज्ञान होने पर घट मे नीलाभेद का ज्ञान हो सकता नहीं है क्योंकि घटत्व मे घटत्वावच्छेदेन नीलभेद का ज्ञान घट मे नीलाभेदज्ञान का विरोधी ह ← ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि यद्धर्मावच्छेदेन यद्धर्म का ज्ञान हुआ हो वह तद्धर्मावच्छेदेन ही तद्धर्माभावज्ञान का विरोधी होता है । जैसे वृक्ष मे शाखावच्छेदेन कपिसयोगज्ञान शाखावच्छेदेन ही कपिसयोगाभावज्ञान का विरोधी है, क्योंकि शाखावच्छेदेन कपिसयोग का ज्ञान होने पर भी मूलावच्छेदेन वृक्ष मे कपिसयोगाभाव का ज्ञान हो सकता है। इस तरह प्रस्तुत मे घट मे घटत्वावच्छेदेन नीलभेद का ज्ञान घटत्वावच्छेदेन नीलाभेदविषयक ज्ञान का विरोधी होने पर भी घट मे घटत्वानवच्छेदेन नीलाभेद का ज्ञान हो सकता ही है। तद्वत्ता का ज्ञान तदभाववत्ता के ज्ञान का विरोधी तभी हो सकता है यदि दोनो का धर्मी, सबध, अवच्छेदक आदि समान हो । प्रस्तुत मे नीलभेदज्ञान अवच्छेदकावगाही ह और नीलाभेदज्ञान अवच्छेदकअनवगाही है । अत दोनो मे प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना नही की जा सकती । अत एक धर्मी मे भेद और अभेद का समावेश अनायास ही हो सकता है। इस तरह भेदाभेद के व्यजकरूप भेद और अभेद

अस्तु वाऽवच्छेदकौदासीन्येनैव नीलाभेदधीः । न मा घटत्वावच्छेदेन नीलभेदग्रहप्रतिवध्या, तद्धर्मावच्छेदेन तद्वत्ताधियः तद्धर्मावच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीविरोधित्वात् । 'तद्धर्मातिरिक्तधर्मानवच्छेदेन' इत्यस्य प्रवेशे गौरवात् इति तु यौक्तिकाः ।

★ जयलता ★

नयान्तरेण कल्पान्तरमाह - अस्तु वेति । अवच्छेदकौदासीन्येनैव = अवच्छेदकानवगाहित्वेनैव नीलाभेदधी = नीलभेदाभावधीः । अय भावः घटे नीलभेदस्य घटत्वावच्छेदेनोपगमेऽवच्छेदकान्तरेण घटे नीलभेदाभावस्यवृत्तित्वेऽज्ञातेऽपि च न क्षतिः, घटे निरवच्छिन्ननीलभेदाभावस्य वृत्तित्वज्ञानयोः सभवात् निरवच्छिन्नवृत्तित्वज्ञानेऽवच्छेदकज्ञानस्याऽनपेक्षणात् ।

ननु घटे घटत्वावच्छेदेन नीलभेदग्रहे न घट एवावच्छेदकभेद विना नीलाभेदधीः सभवति, तद्वति तदभावस्याऽवृत्तेरज्ञानाच्च ज्ञाने वा भ्रमत्वप्रसङ्गादित्याशङ्का निराकर्तुमाह नेति । सेति नीलाभेदवत्तावगाहिधीः । नीलभेदग्रहप्रतिवध्येति । यथा तन्तुतलत्वावच्छेदेन घटाभाववत्ताग्रहे घटवत्ताग्रहो न सभवति, तेन तस्य प्रतिवध्यत्वात् तथा घटत्वावच्छेदेन नीलभेदग्रहे सति घटे नीलभेदाभाववत्ताग्रहो न सभवति, नीलभेदग्रहस्य नीलभेदाभावधीप्रतिवन्धकत्वात् सति प्रतिवन्धके कार्योदयस्याऽसभवादिति । अर्पितदृष्ट्याऽवच्छिन्नेऽपि अनर्पितदृष्ट्याऽनवच्छिन्नप्रतीतेः सार्वजनीनत्वादिति वक्ष्यतेऽग्रे पञ्चमकारिकाव्याख्याने मोत्कठीभव ।

स्याद्वादी तन्निरासे हेतुमाह - तद्धर्मावच्छेदेनेति । अय भावः पर्वते सयोगेन वह्निमत्ताऽवगाहनेऽपि समवायेन वह्न्यभाववत्ताज्ञान भवति सयोगसवधेन वह्निमत्त्वज्ञानस्य सयोगसवन्धेनैवानलाभावधीप्रतिवन्धकत्व न तु समवायेनाऽपि, ज्ञानाकारभेदेन विरोधाभावात् तथैव यत्र यदवच्छेदेन यद्वत्ताधीस्तस्याः तत्रैव तदवच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीप्रतिवन्धकत्व न त्वन्यावच्छेदेनाऽपि समानाकारविरहेण विरोधप्रच्यवात् । न हि वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसयोगवत्ताज्ञाने मूलावच्छेदेन तदभाववत्ताज्ञाने सति विरोध प्रतियन्ति विद्वासः किन्तु शाखावच्छेदेनैव । एव च प्रकृतेऽपि घटे घटत्वावच्छेदेन नीलभेदवत्ताधियः घटत्वावच्छेदेनैव नीलभेदाभावत्ताधीविरोधीत्व न तु निरवच्छिन्ननीलभेदाभावधीविरोधित्व समानाकारविरहात् । ततो घटे घटत्वावच्छिन्नवृत्तित्वविशिष्टनीलभेदस्य निरवच्छिन्नवृत्तित्वसमाकलितनीलभेदाभावस्य च सत्त्वेनैकत्र ताभ्या व्यङ्ग्यस्य जात्यतररूपस्य नीलभेदाभेदस्योपगमे नैयायिकश्रोत्रियस्य दोपपङ्कलेशोऽपि न भवतीति भगवान् भेदाभेद एव स्याद्वादसाधकः ।

ननु यत्र यदवच्छेदेन यद्वत्ताधीः सा न तत्र तदवच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीविरोधिनी किन्तु तदतिरिक्तधर्मानवच्छेनैव । युक्तश्चाय प्रतिवध्य-प्रतिवन्धकभावः यतो शाखावच्छेदेन कपिसयोगवत्ताग्रहे शाखातिरिक्तमूलाद्यनवच्छेदेन कपिसयोगाभावस्याऽग्रहात् । न हि शाखाया कपिसयोगधीसत्त्वे मूलाद्यनवच्छिन्नवृत्तित्वविशिष्टकपिसयोगाभाववत्ताधीः सभवति । एवञ्च प्रकृते घटे घटत्वावच्छेदेन नीलभेदधीः घटत्वातिरिक्तानवच्छेदेनैव नीलभेदाभावधीविरोधिनी न तु तदवच्छेदेनव। तत' घटे घटत्वावच्छेदेन नीलान्योन्याभावग्रहे सति निरवच्छिन्ननीलभेदाभावग्रहो न सभवति घटत्वातिरिक्तावच्छेदकानवच्छिन्नत्वेन प्रतिवध्यताक्रान्तत्वादित्याशङ्का निराकर्तुमाह - 'तद्धर्मातिरिक्तानवच्छेदेने'त्यस्य प्रवेशे गौरवादिति । तदवच्छेदेन तद्धर्मवत्ताधियः तद्धर्मातिरिक्तधर्मानवच्छेदेनेव तदभाववत्ताधीप्रतिवन्धकत्वोपगमे तदवच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीप्रतिवन्धकत्वकल्पनाऽपेक्षया गौरवान्न तादृशः प्रतिवध्य-प्रतिवन्धकाभाव उपगन्तुमर्हतीत्यर्थः । अयमाशयः परमते तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिताविशिष्टतद्ग्रहात्मकप्रतिवन्धकस्य यः प्रतिवध्यतावच्छे-

● रमणीया ●

का एक धर्मी मे समावेश होने से एक ही धर्मी मे जात्यन्तरात्मक भेदाभेद की अभिव्यक्ति (=ज्ञान) होने मे कोई क्षति नही है - यह फलित होता हे ।

शका :- 'तद्धर्मावच्छेदेन तद्वत्ता का ज्ञान तदवच्छेदेन ही तदभाववत्ताज्ञान का प्रतिवधक है' - ऐसा प्रतिवध्य-प्रतिवन्धकभाव हमे मान्य नही हे । हम तो यह कहते है कि तद्धर्मावच्छेदेन तद्वत्ता का ज्ञान तद्धर्म से अतिरिक्त धर्म अनवच्छेदेन तदभाववत्ता ज्ञान का प्रतिवधक है । जेसे वृक्ष मे शाखावच्छेदेन कपिसयोग का ज्ञान शाखा से भिन्न धर्मानवच्छेदेन ही कपिसयोगाभाव के ज्ञान का विरोधी है, क्योकि वृक्ष मे शाखावच्छेदेन कपिसयोग का ज्ञान होने पर 'वृक्ष कपिसयोगाभाववान्' ऐसा निरवच्छिन्न वृत्तिताऽवगाही ज्ञान होता नही है । इस तरह प्रस्तुत मे घट मे घटत्वावच्छेदेन नीलभेद का ज्ञान घटत्वातिरिक्तधर्मानवच्छेदेन नीलाभेदज्ञान का प्रतिवन्धक होने के सबब घट मे निरवच्छिन्नवृत्ति नीलाभेद का ज्ञान हो सकता नही है । जात्यतररूप भेदाभेद के, भेद और अभेदात्मक दो व्यजको मे से एक व्यजक का धर्मी मे समावेश न होने के सबब जात्यन्तरात्मक भेदाभेद की अभिव्यक्ति हो सकती नही है ।

● तद्धर्मान्यधर्मानवच्छेदेन प्रतिवधकता मानने पर गौरव ●

समाधान :- तद्धर्मातिरि० इति । यह प्रतिवध्यप्रतिवन्धकभाव ठीक नही है । इसका कारण यह है कि प्रतिवध्य कुक्षि मे तद्धर्मावच्छेदेन तदभाववत्ताज्ञान के प्रवेश की अपेक्षा तद्धर्मातिरिक्तधर्मानवच्छेदेन तदभाववत्ताज्ञान का प्रवेश करने पर गौरव है । प्रतिवध्यतावच्छेदक गौरव तो दोपरूप कहा जाता हे, क्योकि जो प्रतिवध्यतावच्छेदक होता है वह प्रतिवधकाभाव का कार्यतावच्छेदक होने से प्रतिवन्धकाभावनिष्ठ कारणता की, जो कार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिअभावप्रतियोगित्वाभावस्वरूप हे, प्रतिवध्यतावच्छेदक कोटि मे गुरुतर प्रतिवध्यतावच्छेदकरूप प्रतिवन्धकाभावनिरूपितकार्यतावच्छेदक का प्रवेश करने से कारणता के शरीर मे गौरव होता हे । आपके प्रतिवध्य-प्रतिवन्धक-भाव के अनुसार प्रतिवध्यतावच्छेदक तद्धर्मातिरिक्तधर्मानवच्छिन्नवृत्तित्वविशिष्ट तदभावविषयक ज्ञानत्व होगा, जो प्रतिवधकाभावनिष्ठकारणतानिरूपित

केचित्तु ''भेदोऽन्योन्याभावः अभेदस्तु धर्मान्तरमि''त्यभ्युपगच्छन्ति । अत्र तादृशाभेदस्य व्यवहारानौपयिकत्व यदाविश्क्रे मणिकृता, तदसत् 'प्रमेयमभिधेयमि'त्यादौ तस्यैव शरणीकरणीयत्वात् ।

★ जयलता ★

दक' तद्धर्मातिरिक्तधर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तित्वाभावविशिष्टतदभावविषयकबुद्धित्वात्मकः स एव तादृशप्रतिबन्धकीयाभावनिरूपितकार्यतावच्छेदक' मन्मते च तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तित्वविशिष्टतदभावगोचरग्रहत्वात्मकः यः प्रतिवध्यतावच्छेदकः स एव तादृशप्रतिबन्धकीयाभावकार्यतावच्छेदकः। एव च परमतोपगमे प्रतिवन्धकाभावनिष्ठकारणाताया कार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगित्वाभावरूपाया गुरुतरकार्यतावच्छेदकप्रवेशेन गौरवम् । प्रतिवध्यतावच्छेदकगौरवप्रयुक्तकारणतागौरवपरिहाराय तद्धर्मावच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीप्रतिबन्धकता कल्पनीया न तु तद्धर्मातिरिक्तानवच्छेदेन । तथा च घटे घटत्वावच्छेदेन नीलभेदधियो न तत्र निरवच्छिन्नवृत्तिताविशिष्टतदभावधीप्रतिबन्धकत्वमिति सिद्धो घटे नीलभेदाभेद इत्यल चसूर्या ।

भेदाभेदयो'स्वरूप केषाञ्चिन्मतेन दर्शयति केचित्त्विति । भेद = अन्योन्याभाव इति तादात्म्यसबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः । विशेष दर्शयति - अभेदस्तु धर्मान्तरमिति । अभेदो न भेदाभावरूपः परन्तु तदतिरिक्तधर्मविशेष एव । स च धर्मः तादात्म्यरूपः तत्समनियतोऽन्यो वेत्यन्यदेतत् ।

गङ्गेशेनेतन्मत निराकृतमित्याह - अत्रेति दर्शितकेचित्तुमते । तादृशाभेदस्य = भेदाभावातिरिक्तधर्मविशेषरूपाभेदस्य, व्यवहारानौपयिकत्व = अभेदबोधनानुपायभूतत्व यदाविश्क्रे इति । यत्तदोर्नित्यसवधादस्य तदित्यनेनाऽन्वयः मणिकृता = तत्त्वचिन्तामणिकारेण । तदुक्त चिन्तामणौ समवायवादे ''न चाऽन्योऽन्याभावरूपो भेदोऽस्तु, अभेदस्तु न भेदाऽभावः किन्तु अन्य एवेति वाच्यम् अभेदव्यवहारे तस्याऽहेतुत्वात्'' [त चि.प्र स पृ ६६१] इति ।

केचित्तुमतविषयकस्य मणिकृत्कृतनिराकरणस्याऽश्रद्धेयत्वमाविष्करोति - तदसदिति । 'प्रमेयमभिधेयमि'त्यादाविति । आदिशब्देन 'ज्ञेयः पदार्थ'

● रमणीया ●

कार्यता का अवच्छेदक होता है, जब कि हमारे मत मे प्रतिवध्यतावच्छेदक तद्धर्मावच्छिन्नवृत्तित्वविशिष्टतदभावविषयकज्ञानत्व होगा । आपके मत मे कार्यतावच्छेदक गुरुतर होने के सबब कारणता के शरीर मे गौरव होता है । जब कि लघु-सरल मार्ग विद्यमान है तब गुरुतर वक्र मार्ग का स्वीकार कैसे हो सकता है ? अत तद्धर्मावच्छेदेन तद्वत्ता के ज्ञान को तद्धर्मावच्छेदेन ही तदभाववत्तावगाही ज्ञान का प्रतिबन्धक मानना ठीक है । अत घट मे घटत्वावच्छेदेन नीलभेद का ज्ञान घटत्वावच्छेदेन ही नीलाभेदज्ञान का प्रतिबन्धक हो सकता है न कि तदन्यावच्छेदेन या निरवच्छिन्न नीलाभेदज्ञान का भी । अत घट मे घटत्वावच्छेदेन नीलभेदज्ञान होने पर भी निरवच्छिन्नवृत्तिनीलाभेदज्ञान हो सकता है, जिसके सबब जात्यतरस्वरूप नीलभेदाभेद एक ही घट मे अभिव्यक्त हो सकता है । अत घट मे नीलभेदाभेद मानने मे कोई क्षति नही है । इस तरह सर्वत्र गुणी में गुण के भेदाभेद को मान्यता दी जा सकती है । इस तरह युक्तिवादी के मत से भी एकत्र भेद-अभेद का समावेश सिद्ध हो सकता है ।

● अभेद, भेदाभाव से अतिरिक्त धर्मविशेषात्मक है - अन्यमत ●

केचित्तु० इति । व्याख्याकार यहाँ भेद और अभेद के स्वरूप मे अन्य विद्वानों के मत का प्रदर्शन करते हैं । उन विद्वानो का कहना है कि भेद तो अन्योन्याभावात्मक ही है, जो तादात्म्यसबधावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावस्वरूप है और ससर्गाभाव से भिन्न होता है । मगर अभेद अन्योन्याभाव के अभावस्वरूप यानी तादात्म्यसबधावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव के अत्यताभावात्मक नहीं है किन्तु उससे अतिरिक्त धर्मविशेषात्मक ही है । अर्थात् घट का घट मे जो अभेद होता है, वह स्वभिन्नत्वविरहात्मक नहीं है किन्तु एक अतिरिक्त धर्मविशेषस्वरूप ही है ।

● अभेद भेदाभावात्मक ही है - चितामणिकार ●

अत्र० इति । अभेद को भेदाभावात्मक न मान कर एक धर्मविशेषस्वरूप मानने वाले उन विद्वानों के मत के सम्बन्ध मे रहस्यकार श्रीमद्जी तत्त्वचितामणिकार का मत बतलाते हैं । मणिकार गगेशजी का कहना है कि→अभेद को धर्मविशेषात्मक मानना ठीक नही है, क्योकि धर्मविशेषात्मक अभेद अभिन्नत्वप्रकारक व्यवहार का उपायभूत नहीं है । जो अभेद पदार्थ स्वविषयकबोधजनक शब्दप्रयोग आदिस्वरूप व्यवहार का उपाय ही नही है, उसे मानो या न मानो, कोई फर्क पडता नही है । जिसका स्वीकार न करने पर किसी चीज की अनुपपत्ति हो उसीका स्वीकार प्रामाणिक है । धर्मविशेषात्मक अभेद तो किसी कार्यविशेष (व्यवहार आदि स्वरूप) का साधक नहीं है । तब उसके अस्वीकार मे कोई अनुपपत्ति उपस्थित नहीं है, प्रत्युत उसका अप्रामाणिक स्वीकार करने मे गौरव है । अत अभेद को क्लृप्त भेदाभावात्मक यानी अन्योन्याभावप्रतियोगिक अत्यताभावात्मक ही मानना ठीक है, न कि उससे अतिरिक्त अक्लृप्त धर्मविशेषस्वरूप । ←

● अभेद को भेदाभावात्मक ही मानने में विपदा - स्याद्वादी ●

तदसत्० इति । मणिकार के उपर्युक्त वक्तव्य के प्रतिवाद मे श्रीमद् महोपाध्यायजी अपनी ओर से कहते है कि → अभेद

दिगम्बरमतानुयायिन तु ''भेदाभेदो भेदविशिष्टाभेद एव, सबन्धता तु तयोरुभयत्वेन रूपेण । न चोभयत्वमप्ये-

★ जयलता ★

इत्यादेर्ग्रहणम् । तस्यैवेति । धर्मविशेषात्मकाभेदस्यैव एवकारेण भेदाभावस्य व्यवच्छेदः कृतः । शरणीकरणीयत्वादिति उपादेयत्वादित्यर्थः। गङ्गेशेनापी'ति शेषः । अय भावः प्रमेयस्य प्रमाविषयस्वरूपत्वेन केवलान्वयित्वात्, अन्यथा शिवस्याऽज्ञानित्व-भ्रान्तत्वासर्वज्ञत्वादिप्रसक्तेः । तादात्म्यसबन्धावच्छिन्नप्रमेयत्वावच्छिन्नाभावस्यैवाऽप्रसिद्धौ कुतः तदभावरूपस्य गङ्गेशाभिमतस्याऽभेदस्य सिद्धिः, अप्रसिद्धप्रतियोगिकनिषेधस्य तन्मतेऽपि विरहात् । अत एव तेन चिन्तामणौ व्यधिकरणप्रकरणे ''शशशृङ्ग नास्तीति च शशे शृङ्गाभाव इत्यर्थः'' [व्यधि पृ २७६] इत्युक्तम् ।

एव 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' इत्यादावपि लघुधर्मसमनियतगुरुधर्मस्य तन्मतेऽभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकभेदाऽप्रसिद्ध्या तदभावरूपाऽभेदान्वयबोधोऽपि न शक्यः । अतः केवलान्वयिप्रतियोगिकाद्यभेदान्वयबोधानुरोधेन तेनाऽपि भेदाभावातिरिक्त एवाभेद इत्यास्थेयमिति फलितार्थः ।

प्रकरणकृतोऽयमाशयः प्रतिभाति - द्रव्यत्वस्य द्रव्यत्वाभावेन सहेव भेदस्य भेदाभावेन सहैव विरोधो न तु तदतिरिक्ताभेदेनाऽपि समम् । अत एव भेदाभेदयोरेकत्र समावेशकृतेऽवच्छेदकभेदानुसरणकल्पना प्रत्युक्ता घटत्व - पृथ्वीत्व-द्रव्यत्व-सत्त्वादेरिव भेदाभेदयोरेकत्र समावेशार्थमवच्छेदकभेदस्याऽनतिप्रयोजनत्वात् ।

अथैव विन्ध्यहिमाचलयोर्भेदावबोधेऽप्यभेदप्रतीतिः स्यात्, अविरोधादिति चेत् ? सा यदि स्वरसवाहिनी तदा लोकयात्रामात्रोच्छेदकतया न दोषाय । यदि च द्रव्यत्वादिसाधारणधर्मदर्शनजन्या तदा सङ्ग्रहनयमतेन तथात्वेनेष्टापत्तेः । व्यवहारस्तु व्यवहारनयानुरोधेनैवेति न कोऽप्यतिप्रसङ्ग इति जात्यन्तरत्वकल्पनावत् दर्शितकल्पनाऽपि नयविशेषानुरोधेन शुद्धेत्यनुजानीमः । इत्थमेव सम्यगेकान्तगर्भिताऽसङ्कीर्णप्रतीत्युपपत्तेः, अन्यथा नयगोचरापेक्षया वस्तुन एकान्तात्मकत्वप्रच्यवेनाऽनेकान्तभङ्गप्रसङ्गादिति सूक्ष्मेक्षिकया निभालनीयः कोविदैरय पन्थाः ।

स्वसम्प्रदायानुसारेण जात्यन्तरात्मक भेदाभेदस्वरूपमुक्त्वा साम्प्रत नग्नाटमत दर्शयति- दिगम्वरमतानुयायिन इति । कुन्दकुन्दामृतचन्द्र-जयदेवप्रभृतयः । तुपद विशेपद्योतनार्थम् । भेदाभेदो भेदविशिष्टाभेद एवेति । एवकारेण जात्यन्तरात्मकत्व व्यवच्छिन्नम् । नन्वेव सति पूर्वं सबन्धत्वे विनिगमनाविरह उक्तः किं विस्मर्यते ? इत्याशङ्कायामाह - सबन्धता त्विति । तयो = भेदाभेदयोः, उभयत्वेन रूपेण

● रमणीया ●

को धर्मविशेषात्मक मानने वाले अन्य विद्वान मनीषियो के मत का मणिकार गगेशजी ने जो निराकरण किया है वह ठीक नही है, क्योकि गगेशजी के लिए भी 'प्रमेय अभिधेय' इत्यादि स्थल मे अभेद को धर्मविशेषात्मक ही मानना आवश्यक हे । आशय यह है कि - प्रमेय, अभिधेय आदि पदार्थ केवलान्वयी होते हैं । जिसका कहाँ पर भी अभाव सुलभ न हो उसे केवलान्वयी कहते हे । सब पदार्थ सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय होने से प्रमेय (= प्रमात्मक ज्ञान का विषय) हैं । अत प्रमेय का भेद कही भी रहता नही हैं । यदि अभेद को भेदाभाव स्वरूप माना जाय तव तो तादात्म्यसबधावच्छिन्न-प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव ही अप्रसिद्ध होने से उसके निषेधात्मक भेदाभाव कैसे सिद्ध होगा ? क्योकि अप्रसिद्धप्रतियोगिक निषेध होता नही है । कोई ऐसा कहता नही है कि-यहाँ नरशृग नही है, क्योकि नरशृग कहाँ पर भी होता ही नही है । निषेध तो एकत्र रहनेवाली चीज का अन्यत्र हो सकता हे । प्रस्तुत मे अभेद को भेदाभावात्मक मानने पर प्रमेयभेद अप्रसिद्ध होने से प्रमेयभेदाभाव भी अप्रसिद्ध हो जायेगा । अत केवलान्वयी पदार्थ प्रतियोगिक अभेदान्वयबोध की उपपत्ति करने के लिए मणिकार को भी अभेद को धर्मविशेषात्मक ही मानना मुनासिव है ।

ऐसा कहने के पीछे व्याख्याकार का आशय यह प्रतीत होता हे कि - भेद ओर अभेद का एक धर्मी मे विरोध नही हो सकता हे, क्योकि जैसे द्रव्यत्व का द्रव्यत्वाभाव के साथ विरोध हे ठीक वैसे ही भेद का विरोध भेदाभाव के साथ ही हो सकता है न कि एक अतिरिक्त धर्मविशेषात्मक अभेद के साथ । अतएव भेद और अभेद का एक धर्मी मे समावेश करने के लिए अवच्छेदकभेद के अनुसरण की आवश्यकता नही है, क्योकि जो धर्म परस्पर विरुद्ध हो उनका एक धर्मी मे समावेश करने के लिए अवच्छेदकभेद के अनुसरण की आवश्यकता होती है जैसे कपिसयोग और कपिसयोगाभाव का एक वृक्ष मे समावेश करने के लिए शाखा ओर मूलरूप भिन्न भिन्न अवच्छेदक का होना आवश्यक होता है । मगर भेद और अभेद के समावेशार्थ अवच्छेदकभेद के अनुसरण की आवश्यकता नही है, क्योकि जैसे एक ही घट मे घटत्व, पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व, प्रमेयत्व आदि धर्म एक-दूसरे से समिलित रहते हैं वैसे भेद और धर्मान्तरस्वरूप अभेद भी एक धर्मी मे रह सकते हे । अत एक ही घट मे नीलभेद और नीलाभेद का समावेश करने पर विरोध का उद्भावन करना सिर्फ अपनी अज्ञता का ही प्रदर्शन करना हे । इस तरह नीलभेद और नीलाभेद का एक ही घट मे समावेश होने से जात्यतरात्मक नीलभेदाभेद की एक घट मे वृत्तिता और बुद्धि हो सकती है । इस तरह गुण-गुणी आदि मे जात्यतरात्मक भेदाभेद होने से स्याद्वाद चक्रवर्ती का अप्रतिहत सर्वव्यापी त्रिकालिक सार्वभोम साम्राज्य सिद्ध होता हे।

● भेदाभेद भेदविशिष्टाभेदस्वरूप - दिगम्वर ●

दिगम्ब० इति । व्याख्याकार श्वेताम्वर आम्नाय की ओर से- 'भेदाभेद जात्यतरात्मक है' - यह वताने के वाद अव दिगम्वर सम्प्रदाय के अनुसार भेदाभेद का निरूपण करते हे । दिगम्वरमत के अनुगामी विद्वानो का यह वक्तव्य हे कि - भेदाभेद भेदविशिष्टाभेदात्मक ही हे । अर्थात् गुण-गुणी के वीच, द्रव्य-पर्याय के वीच जो भेदाभेद है वह भेदविशिष्टाभेदस्वरूप ही है । अत भेदविशिष्टाभेदरूप

कविशिष्टापरत्वमिति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहः, अविशिष्टयोरपि गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात् तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वात् ।

युक्तञ्चैतत्-अतिरिक्तभेदाभेदस्य भेदविशिष्टाभेदस्य च तद्व्यञ्जकत्वकल्पनाया गौरवात्। न च भेदाभेदयोरेकत्र विरोधः

★ जयलता ★

भेदविशिष्टाभेदत्वरूपेणेवाऽभेदविशिष्टभेदत्वरूपेणाऽपि । न चेव गौरवमिति वाच्यम् सबन्धाननुगमस्याऽदोपत्वात् ।

ननूभयत्वस्याऽपि ससर्गतावच्छेदकस्यैकविशिष्टापररूपत्वेन विनिगमनाविरह' तदवस्थ एवेति शङ्का निराकर्तुं दर्शयति - न चेति । विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनविरह इति भेदविशिष्टाऽभेदत्व ससर्गतावच्छेदक यदुत अभेदविशिष्टभेदत्व तथेत्यत्र नियामकाभावेन । द्विधा ससर्गता कल्पनीयेति ससर्गतावच्छेदकद्वैविध्यापातेन ससर्गतावच्छेदकगौरवमपरिहार्यमिति शङ्काकृत्तात्पर्यम् ।

तन्निराकरणे हेतुमाह - अविशिष्टयोरपि = असवद्धयोरपि, व्यधिकरणयोरपीति यावत् । गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्तस्याऽतिरिक्तधर्मत्वादिति । अय भावः उभयत्व हि द्विविध विशिष्टमविशिष्टञ्च । तत्र विशिष्ट हि तत् घटभूतलयो' अविशिष्टञ्च नैकविशिष्टाऽपरत्वरूप किन्तु तदतिरिक्तमेव । यदि चेकविशिष्टापरस्योभयत्वमुच्यते तदा व्यधिकरणयोर्गोत्वाश्वत्वयो' कदापि उभयत्वावगाहिनी प्रतीति' न स्यात् एकाधिकरणावृत्तित्वेन गोत्वविशिष्टाश्वत्वस्य अश्वत्वविशिष्टगोत्वस्य चाऽसभवात् । प्रतीतौ वा सत्या भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । न चैवमस्ति, 'अनयोर्गोत्वाश्वत्वमुभयमि'ति प्रमाया उभयत्वावगाहिन्याः प्रसिद्धत्वात् । अतः उभयत्वमतिरिक्तमेवाऽऽस्थेयम् । तच्चाऽपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूप उभयपदवाच्यत्वरूपमन्यस्वरूप वेत्यन्यदेतत् । तदुक्त सिद्धान्तलक्षणदीधितावपि - "उभयत्व हि न विशिष्टत्वादनतिरिक्तम्, न वा तदवच्छिन्नाभावस्तदवच्छिन्नाभावात्, वैशिष्ट्यविरहेऽपि घटत्व-पटत्वयोरुभयत्वस्य, उभयत्वेन तदभावस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात्" [सि ल दी पृ ८४] इति ।

नन्वेवमतिरिक्तोभयत्वकल्पनागौरवमनिवार्यं स्यादित्याशङ्कानिरासकृते आह - युक्तञ्चैतदिति। समीचीनश्चातिरिक्तोभयत्वकल्पनमित्यर्थः। अत्रैव हेतुमाह अतिरिक्तभेदाभेदस्य = भेदविशिष्टाभेदव्यतिरिक्तस्याऽक्लृप्तस्य जात्यन्तररूपस्य भेदाभेदस्य । भेदविशिष्टाभेदस्य चेति । चकारेणाऽनुक्तस्याऽप्यभेदविशिष्टभेदस्य समुच्चय' कृत' । तद्व्यञ्जकत्वकल्पनाया = एकविशिष्टापरत्वात्मकोभयत्वाभिव्यक्तिजनकत्वोद्भावने गौरवादिति अतिरिक्तोभयत्वकल्पना-

● रमणीया ●

भेदाभेद सबध से गुण आदि गुणी आदि मे रहते ह । मगर गुणगुणिसबध मे सबधता उभयरूप से है । मतलब कि भेद और अभेद मे भेदविशिष्टाभेदत्वरूप से या अभेदविशिष्टभेदत्वरूप से गुणगुणिससर्गता है । इसमे कोई आग्रह नही है । उभय प्रकार से उनमे ससर्गता को मान्यता दी जा सकती है ।

शका :- न चोभ० इति । महाशय ! आप भेदाभेद मे ससर्गता का उभयत्वरूप से अगीकार करते है मगर उभयत्व तो एकविशिष्ट अपरात्मक है । जैसे 'यहाँ जल-घट उभय है', इस वाक्य का मतलब यह है कि - 'जलविशिष्टघट यहाँ है' एव 'घटविशिष्टजल यहाँ है' । इस तरह भेदविशिष्टाभेदात्मक भेदाभेद मे उभयरूप से ससर्गता मानने पर समस्या यह खडी होगी कि भेदविशिष्टाऽभेद मे ससर्गता भेदविशिष्टाभेदत्वरूप से है या अभेदविशिष्टभेदत्वरूप से ? क्योकि उभयत्व तो एकविशिष्टापरत्वस्वरूप ही है । यहाँ एक शब्द से किसका ग्रहण करना एव अपर शब्द से किसका ग्रहण करना ? इस विषय मे कोई नियामक नही है । अत उभय धर्म मे ससर्गतावच्छेदकता की कल्पना करने का गौरव उपस्थित होगा । इस गौरव दोष के कारण उभयत्वरूप से भेदविशिष्टाभेद मे ससर्गता का स्वीकार नही किया जा सकता ।

● उभयत्व एकविशिष्टापरात्मक नही, किन्तु अतिरिक्त है ●

समाधान :- अविशि० इति । अजी, जनाब ! उभयत्व किस चिडिया का नाम है ? यह भी आप पहचानते नही है और लम्बा लेक्चर देने लगे ! वस्तुस्थिति यह है कि- उभयत्व एकविशिष्ट अपर स्वरूप नहीं है किन्तु उससे अतिरिक्त है । इसका कारण यह है कि परस्पर असबद्ध ऐसे गोत्व और अश्वत्व मे भी उभयत्व की प्रतीति होती है । यदि उभयत्व एकविशिष्ट अपररूप होता तब तो गोत्व-अश्वत्व मे उभयत्व की प्रतीति ही हो नही सकती, क्योकि गोत्व रहता है गाय मे और अश्वत्व रहता है अश्व मे । परस्पर व्यधिकरण [समानअधिकरण मे न रहनेवाले] होने की वजह न तो गोत्वविशिष्ट अश्वत्व है और न तो अश्वत्वविशिष्ट गोत्व है । फिर भी गाय और अश्व को देख कर 'इन दोनो मे गोत्व-अश्वत्व उभय है' ऐसी प्रमात्मक सार्वजनिक प्रतीति होती है । एकविशिष्ट अपर न होने पर भी उभयत्वावगाही प्रतीति होने की वजह उभयत्व एकविशिष्टपरत्वात्मक नहीं है किन्तु उससे अतिरिक्त ही है - यह सिद्ध होता है । जब उभयत्व एकविशिष्टापरात्मक नही है तब विशेषण-विशेष्यभाव मे विनिगमनाविरह दोष को अवकाश ही कहाँ है ? क्योकि अतिरिक्त उभयत्व मे न तो कोई विशेषण है और न तो कोई विशेष्य है । इस तरह भेदाभेद मे उभयत्वरूप से ससर्गता के स्वीकार मे कोई दोष प्रसक्त नही है, क्योकि उभयत्व एकविशिष्टापररूप नही है । न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसूरी ।

युक्तञ्चै० इति । उभयत्व को एकविशिष्टापरत्व से अतिरिक्त मानना तर्कसगत भी है । इसका कारण यह है कि 'एकविशिष्टापरत्वात्मक उभयत्व है' ऐसा मानने पर उभयत्व के घटकीभूत विशेषण और विशेष्य को परस्पर भिन्न (=अतिरिक्त) मानना होगा, क्योकि

यतो न हि वय यत्र यस्य यो भेदस्तत्र तस्य तदभावमेव वदामः किन्त्वन्यमेवेति । तथाहि भेदो द्विविधः पृथक्त्वरूपोऽन्यत्वरूपश्च तत्र पृथकृत्व प्रविभक्तप्रदेशत्वरूप, अन्यत्व पुनरतद्भाव इति । यदुक्तम् ।

★ जयलता ★

ऽपेक्षया एकविशिष्टापरत्वरूपोभयत्वाङ्गीकारेऽधिकगौरवादित्यर्थः । अय भावः उभयत्वस्यैकविशिष्टापररूपत्वाङ्गीकारे तज्ज्ञानकृते एकापरयोः परस्पर भेदः आवश्यकः, अन्यथा वैशिष्ट्यानुपपत्तेः । अतः प्रकृते भेदाभेदयोर्व्यतिरिक्तत्वे दर्शितोभयत्वज्ञानजनकता कल्पनीया । अपरञ्च, विनिगमकाभावेन भेदविशिष्टाभेदस्याऽभेदविशिष्टभेदस्याऽपि तत्त्वकल्पनाऽऽवश्यकी । यद्यपि भेदाभेदातिरिक्तत्वभेदविशिष्टाभेदाऽभेदविशिष्टभेदज्ञानानामत्रैकविशिष्टाऽपरत्वलक्षणोभयत्वविषयकज्ञानकारणत्वकल्पना तथापि विषयविषयिणोरभेदोपचारेण विषयेषु कारण- त्वमुक्तम् यद्वा तादात्म्येन तदभिव्यक्ति प्रति विषयितासवन्धेन विषयाणामेव कारणत्वमुपपद्यते । अतिरिक्तोभयत्वोपगमे नैतत्त्रितयकारणत्वकल्पनमित्ये- कविशिष्टापरत्वलक्षणोभयत्वपक्षे प्रत्युत गारवमिति युक्तिमती अतिरिक्तोभयत्वकल्पनेति तात्पर्यम् ।

नन्वतिरिक्तोभयत्वोपगमेऽपि तद्रूपेण ससर्गताकृते भेदाभेदयोरेकस्मिन् प्रवेशोऽपेक्षितः । स च न सभवति, तयोरेकत्र विरोधादित्याशय निराकर्तुं प्रदर्शयति - न चेति । अस्य विरोध इत्यनेनाऽन्वय' । विराधाभावे हेतुमाह - यत इति । यस्मात्कारणादित्यर्थः । न हीति । वदाम इत्यनेनाऽन्वीयते । वय = आशाम्वराः । तदभावमेव = भेदाभावमेवेति । यदि यस्मिन् धर्मिणि यत्प्रतियोगिको यादृशोऽन्योन्याभाव' तत्रैव तत्प्रतियोगिकः तादृशान्योन्याभावस्याऽभावोऽङ्गीक्रियेत तदा विरोधः स्यादेव । न हि वृक्षे मूलावच्छिन्नवृत्तित्वविशिष्ट-तादात्म्यसवन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताककपिसयोगिभेदज्ञाने सति तत्रैव तादृशभेदस्याऽभाव प्रतियन्ति विद्वासो न वा तदभ्युपगम्यतेऽस्माभिः । तर्हि किमभ्युपगम्यते ? इत्याशङ्कायामाह - किन्त्वन्यमेवेति भेदाभावातिरिक्तमेवेति । उक्तार्थदृढीकरणार्थमाह - तथाहीति । भेद इति भेदपदवाच्य' । तत्र = द्विविधभेदे पृथक्त्व प्रविभक्तप्रदेशत्वरूप = विष्वक्प्रदेशत्वस्वरूप यथा घटपटयोः, तयोरभिन्नप्रदेशत्वाभावात् । घटीयरूपरसयोर्न पृथक्त्वरूपभेदः, अविभक्तप्रदेशत्वात्तयोः । किन्तु अन्यत्वरूप एव तयोः भेदः । अन्यत्व किरूपमित्याशङ्कायामाह - अन्यत्व पुनरतद्भाव इति । तत्त्वेनाऽप्रतीयमानत्वम्, तदवृत्तिधर्मवत्त्वमिति यावत् । न चाऽतद्भावातिरिक्तोऽन्योन्याभावोऽस्ति, तस्य तुच्छत्वात्, अतिरिक्ताभावसम्वन्धस्य स्वय सवद्धत्वस्वभावावश्यकत्वे द्रव्येण सममभावादेरेव स्वतः सम्वन्धौचित्यादिति । अत एवैकत्र न तयोर्विरोध इति भावः ।

● रमणीया ●

परस्पर अभिन्न मे विशेषणविशेष्यभाव हो सकता नही है । अत स्वतत्र भेदाभेद मे विद्यमान अतिरिक्तत्व को एकविशिष्टापररूप उभयत्व का व्यजक मानना आवश्यक हे । इसी तरह भेदविशिष्टाभेद को भी उभयत्व का व्यजक मानना होगा, क्योकि घटक का ज्ञान घटितविषयक ज्ञान के लिए आवश्यक होता है । यहॉ भेदविशिष्टाभेदत्वरूप या अभेदविशिष्टभेदत्वरूप उभयत्व के, जो गुणगुणिससर्गतावच्छेदक हे, ज्ञान की कारणता अतिरिक्त भेदाभेद, भेदविशिष्टाभेद ओर अभेदविशिष्टभेद मे माननी होगी, जो अतिरिक्त उभयत्व के अगीकार मे आवश्यक नही हे । इस तरह एकविशिष्टापरत्वात्मक उभयत्व का अगीकार करने पर यहॉ उक्त त्रितय मे उभयत्व की व्यजकता = ज्ञानकारणता की कल्पना का गोरव उपस्थित होता हे । इसकी अपेक्षा अच्छा यही है कि उभयत्व को एकविशिष्टअपरत्वरूप न मान कर उससे अतिरिक्त धर्मविशेषात्मक ही माना जाय। हॉ, अतिरिक्त उभयत्व की कल्पना का गौरव अवश्य है मगर अनेक कारणता की कल्पना मे जो गोरव है, उसकी अपेक्षा यह गौरव नगण्य हे, लाघवरूप ही हे ।

शका :- न च भे० इति । अतिरिक्त उभयत्व मानने पर भी आपको एक धर्मी मे भेद ओर अभेद का समावेश करना तो आवश्यक ही हे, क्योकि उसके विना भेदाभेद मे उभयत्वरूप से समर्गता असगत होती है । मगर एक धर्मी मे भेद ओर अभेद का समावेश होता नही है, क्योकि भेद और अभेद परस्पर विरोधी हे । विरोधग्रस्त होने से भेद ओर अभेद का एक धर्मी मे समावेश ही हो सकता नही है, तव उन दोनो मे उभयत्वरूप से ससर्गता का निरूपण करना-यह वन्ध्यापुत्रनामोत्कीर्तनतुल्य हे ।

● भेद के दो भेद - पृथक्त्व और अन्यत्व - दिगम्वर ●

समाधान :- यतो न० इति । अजी, जनाव ! विरोध तव प्रसक्त होता यदि जिस धर्मी मे जिसका जो भेद हो उसीका उस धर्मी मे अभाव वताया जाय । मगर ऐसा हम कहते ही नही हे । हम तो दूसरा ही कुछ कहते हे, जो आपने स्वप्न मे भी सोचा नही होगा । हमारा वक्तव्य कान खोल कर सुनो । हम मानते है कि भेद के दो प्रकार हे। पहला भेद है पृथक्त्वस्वरूप और दूसरा भेद है अन्यत्वरूप । पृथक्त्व का मतलव हे प्रविभक्तप्रदेशत्व । मतलव जिनके प्रदेश विभक्त होते हे वे परस्पर पृथक् कहे जाते हे । उनमे परस्परसापेक्ष पृथक्त्व रहता है । जैसे घट भूतल मे रहता हे ओर पट उससे अन्यत्र टोरी पर रहता है । घट ओर पट के प्रदेश विभक्त होने से घट से पट पृथक् है और पट से घट पृथक् है । घटपृथक्त्व पट मे रहता हे ओर पटपृथक्त्व घट मे रहता हे । मगर गुण-गुणी मे प्रदेशविभाग होता नही हे । दोनो के प्रदेश एक (समान) ही होते है । रूप ओर घट के प्रदेश विभक्त होते नही हे । जिन प्रदेशो मे घट का रूप रहता है उन्ही प्रदेशो मे घट रहता हे । अत गुण-गुणी

'पविभत्तपदेसत्त पुढत्तमिति सासण हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भव भवति कथमेग ॥[प्र सा अ २ गा १४] इति ।

यत्तु 'पृथक्त्वमप्यन्योन्याभाव एव' इत्यभिदधे दीधितिकृता तन्न, एव सति 'घटः पटात् पृथगि'तिवत् 'रूपात् पृथगि'त्यपि

★ जयलता ★

अत्रैव प्रवचनसारसवादमाह -'पविभत्तं'ति । अत्रामृतचन्द्रीयव्याख्येय→"प्रविभक्तप्रदेशत्व हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न सभाव्यते, गुणगुणिनो' प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत्। तथाहि - यथा य एव गुणस्य प्रदेशा' न एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभाग' । एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति, तल्लक्षणसद्भावात् । अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याऽभावात्, शुक्लोत्तरीयवदेव । तथाहि - यथा य' किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमान' समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्त' शुक्लो गुणो भवति । न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीय भवति । यच्च किलाऽखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीय भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्त' शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याऽभावः । तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषण विधायिका वृत्तिस्वरूपा सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदित विशेष्य विधीयमान वृत्तिमत्स्वरूपश्च द्रव्य भवति । यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदित विशेष्य विधीयमान वृत्तिमत्स्वरूपश्च द्रव्य भवति न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषण विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याऽभाव । अत एव च सत्ताद्रव्ययो' कथञ्चिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्व न शङ्कनीय, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम् । यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेक स्यात् । अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थ'" [प्र सा अ वृ २/१४] इति ।

जयसेनस्तु "पृथक्त्व भवति पृथक्त्वाभिधानो भवति । कि विशिष्ट ? प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्व भिन्नप्रदेशत्वम् । किवत् ? दण्डदण्डिवत् । इत्थभूत पृथक्त्व शुद्धात्मद्रव्य-शुद्धसत्तागुणयोर्न घटते । कस्माद्धेतो ? भिन्नप्रदेशाऽभावात् । कयोरिव ? शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव । इदि सासण हि वीरस्स इति । शासन = उपदेश आज्ञेति । कस्य ? वीरस्य, वीराभिधानान्तिमतीर्थकरपरमदेवस्य । अण्णत्त तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्व = भिन्नत्व भवति । कथभूत ? अतब्भावो अतद्भावस्य सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदस्वभावम् । 'यथा प्रदेशरूपेणाऽभेदस्तथा सज्ञादिलक्षणरूपेणाऽप्यभेदो भवतु को दोष' इति चेत् ? नैवम् । तब्भव होदि । तन्मुक्तात्मद्रव्य शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाऽभेदेऽपि सज्ञादिरूपेण तन्मय न भवति । कथमेग ? तन्मयत्व हि किलैकत्वलक्षण सज्ञादिरूपेण तन्मय त्वभावमेकत्व किन्तु नानात्वमेव । यथेद मुक्तात्मद्रव्ये प्रदेशाऽभेदेऽपि सज्ञात्वरूपेण नानात्व कथित तथैव सर्वद्रव्याणा स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थ'" [प्र सा २/१४ ज वृ] इति व्याख्यातवान् ।

प्रसङ्गात् शिरोमणिमत निराकरणार्थमाह - यत्त्विति । पृथक्त्वमपीति । अपिशब्देन भेदग्रहणम् । अन्योन्याभाव एवेति । एवकारेण तदतिरिक्तत्व व्यवच्छिन्नम् । दीधितिकृतेति । तत्त्वचिन्तामणिदीधितिवृत्तिकारेण रघुनाथशिरोमणिना । अय रघुनाथाशय , क्लृप्तेनाऽन्योन्याभावेनैव पृथक्त्वप्रतीतिव्यवहारयोरुपपत्तौ किमतिरिक्तपृथक्त्वकल्पनया ? 'घट' पटादन्य' इत्यादौ सर्वत्र 'घटः पटात् पृथक्' इत्यादिप्रतीत्यादेर्बाधविरहादन्ततो गत्वा समनियतत्वेनाप्यैक्य घटत्व-घटभेदाभाववत् सिद्ध्यति । एवञ्चाऽवैलक्षण्येन केवल वाचकभेद एव न तु वाच्यभेदोऽपि घट-कुम्भवदिति स्थितम् ।

प्रकरणकारोऽधुना तन्मतमपहस्तयति - तन्नेति । एव सति = पृथक्त्वान्योन्याभावपदवाच्यार्थतादात्म्योपगमे सति, 'घट' पटादन्य'

● रमणीया ●

से अन्यत्वस्वरूप भेद होता है, जो अतद्भावात्मक होता है। यह भेद का दूसरा प्रकार है। अतद्भाव का मतलब है उस रूप से न होना। घट का रूप चक्षुइन्द्रियग्राह्य है और घट त्वगिन्द्रिय से भी ग्राह्य है। चक्षुइन्द्रियग्राह्य घट का नीलरूप चक्षु-स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य घटात्मक नहीं है। अत नीलरूप का घट मे अतद्भाव है। अत रूपान्यत्व घट मे और घटान्यत्व नीलवर्ण मे रहता है। इस तरह गुण-गुणी, द्रव्य-पर्याय आदि मे अन्यत्वस्वरूप द्वितीय भेद रहता है और विजातीय द्रव्य द्रव्य मे पृथक्त्वात्मक, जो प्रथम प्रकार का भेद है, वह रहता है। कहा भी गया है कि - "प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व है - यह वीर का उपदेश है। अन्यत्व अतद्भावात्मक है। जो जिस स्वरूप से नहीं है वह एक कैसे हो सकता है ?" कुदकुद ने प्रवचनसार मे जो उपर्युक्त कथन किया है वह द्रव्य और सत्ता मे ऐक्य का परिहार करने के लिए कहा है, जिसका तात्पर्य है सत्ता द्रव्यस्वरूप नहीं और द्रव्य सत्तास्वरूप नहीं है। अत द्रव्य और सत्ता एक नहीं है। मुख्य विषय का निरूपण करते करते भेद के द्वैविध्य का भी उसी गाथा मे निरूपण किया गया है।

● पृथक्त्व और अन्योन्याभाव एक ही है - दीधितिकार ●

यत्तु० इति । व्याख्याकार श्रीमद् महामहोपाध्याय दिगम्बर के अनुसार भेदाभेद के स्वरूपनिरूपण के प्रसग म पृथक्त्व के विषय मे तत्त्वचितामणि ग्रथ की दीधिति नाम की प्रौढ व्याख्या के रचयिता श्री रघुनाथशिरोमणि का मत बताते है। दीधितिकार का

१-प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्वमिति शासन हि वीरस्य । अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवद्भवति कथमेकम् ॥ [प्र सा २/१४]

प्रमीयेत । न चैव, यदवोचामः श्रीपूज्यलेखे

[1]अण्ण घडाउ रूव, ण पुढो त्ति विसारदाण ववहारो ।
भेदा उणो पुढत्त भिज्जइ ववहारबाधेण ॥१॥ ति ।

तथा च पृथक्त्वस्य भेदत्वेऽप्यन्योन्याभावाद्वैलक्षण्यमेवेति तत्त्वम् । तत्र घटपटादीना नैतदन्यतराभाव इति केवलभेदः

★ जयलता ★

इत्येतत्स्थाने 'घट पटात् पृथगि'तिवत्, 'घटः घटरूपादन्य' इत्यत्राऽपि 'घटः घटरूपात् पृथगि'त्यपि प्रमीयेत। इदञ्चोपलक्षण तादृशाभ्रान्तशाब्दव्यवहार-स्याऽपि, तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थप्रतिपादनेऽविरोधात् । न चेवमिति । न च 'घटः घटरूपात् पृथगि'ति प्रमीयते प्रामाणिकैः व्यवह्रियते वा। समाधानकृते स्वोक्तसवादमाह - यदवोचाम श्रीपूज्यलेखे इति । नाऽय लेखः प्रमारहस्यादिवत् साम्प्रतमुपलभ्यते । अण्णति । व्याख्यालेशस्त्वयम् - 'घटात् रूपमन्यत् न पृथगि'ति विशारदाना = विशेषाभिज्ञाना, व्यवहार इति । परकीयबोधानुकूलव्यापारविशेषो यद्वा परकीयसदेहभ्रमाज्ञाननिराकरणानुकूलव्यापारविशेषो व्यवहारः, तदुक्त वि = नानार्थे, अव = सदेहे हरण = हार उच्यते । नानासदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः'' ॥ व्यवहारश्चात्रोपलक्षण प्रतीतेः । 'घटात् रूप न पृथगि'ति व्यवहारबाधेन भेदात् पुन पृथक्त्व भिद्यते = अतिरिच्यते । 'घटाद्रूप भिन्न न पृथगि'ति स्वरसवाहिप्रत्ययेन भेदपृथक्त्वयोर्वैलक्षण्य नास्तीति भावः । एतेन पृथक्त्वान्योन्याभावयोः समनियतत्वमपि प्रत्युक्तम् । अत एव पृथक्त्वान्योन्याभावपदवाच्ययोः समभिरुढनयेनैव भेदो न पुनः व्यवहारेणाऽपीति प्रलापः परास्त लौकिकसमव्यवहारेणापि तयोर्वैलक्षण्यस्य प्रसिद्धत्वात् । निगमयति - तथा चेति । भेदत्वेऽपीति । भेदप्रथमप्रकारान्तर्भवेऽपि ।

स्याद्वादवाद व्यवस्थापयति- तत्रेति पृथक्त्वाऽन्यत्वरूपभेदद्वैविध्याङ्गीकारे । घटपटादीना नैतदन्यतगभाव इति पृथक्त्वान्योन्याभावाऽन्यतराभावविरह

● रमणीया ●

कहना है कि ⟶ ''पृथक्त्व, जिसे प्राचीन नैयायिक आदि ने गुणस्वरूप वताया है, भी अन्योन्याभाव ही है । अन्योन्याभाव से अतिरिक्त पृथक्त्व नाम की कोई भी चीज नही है । इसका कारण यह है जहाँ अन्योन्याभाव का व्यवहार होता है, वहाँ पृथक्त्व का व्यवहार होता हे और जहाँ पृथक्त्व का व्यवहार होता हे वहाँ अन्योन्याभाव का व्यवहार होता हे । जैसे 'घट पटात् अन्य' अर्थात् 'घट पट से भिन्न हे' ऐसा व्यवहार होता है ठीक वैसे ही 'घट पटात् पृथक्' = 'घट पट से पृथक् हे' यह व्यवहार भी होता है । पृथक्त्व ओर अन्योन्याभाव परस्पर समनियत है, तो दोनो को भिन्न मानने की आवश्यकता क्या है ? किसी एक को मानने से ही दूसरे का ज्ञान, शब्दव्यवहार आदि हो सकता हे । अत जेसे घट ओर कुभ मे सिर्फ नामभेद है, अर्थभेद नही ठीक वैसे ही पृथकत्व और अन्योन्याभाव मे केवल नामभेद है, अर्थभेद नही'' । ⟵

● दीधितिकार मत निरास ●

तन्न एव० इति । उक्त दीधितिकारमत के प्रतिवाद मे व्याख्याकार श्रीमद्जी का अपनी ओर से यह कहना हे कि - पृथक्त्व को अन्योन्याभावात्मक मानने पर जहाँ जहाँ अन्योन्याभाव का व्यवहार एव प्रतीति होती है वहाँ वहाँ पृथक्त्व का व्यवहार एव प्रतीति का स्वीकार करना पडेगा । जेसे 'घट पटात् अन्य' ऐसी प्रतीति के स्थान मे 'घट पटात् पृथक्' ऐसी प्रतीति भी होती है ठीक वैसे ही 'घटरूपात् घट अन्य' ऐसी प्रतीति, जो सर्वजनप्रतीत होने से प्रामाणिक हे, के स्थान मे 'घट घटरूपात् पृथक्' यह प्रतीति भी होनी चाहिए । मगर गुण-गुणिस्थल मे अन्योन्याभाव का व्यवहार होने पर भी पृथकत्व का व्यवहार होता नही है । अर्थात्, 'घट घटरूपात् अन्य' ऐसी प्रतीति होने पर भी 'घट घटरूपात् पृथक्' ऐसी प्रतीति होती नही हे । इस विषय का निरूपण हमने (महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजा ने) श्रीपूज्यलेख मे इस तरह किया है कि - ''विद्वानो का ऐसा व्यवहार होता हे कि 'घटरूप घट से अन्य हे मगर पृथक् नही है' । इस तरह व्यवहार के वाध से भेद (= अन्योन्याभाव) से पृथक्त्व अतिरिक्त है'' । तात्पर्य यह है कि पृथक्त्व भी भेद है (प्रथम प्रकार) एव अन्योन्याभाव भी भेद ही है (द्वितीय प्रकार) फिर भी पृथक्त्व अन्योन्याभाव से विलक्षण ही है । अतएव 'घट रूपात् अन्य' ऐसा व्यवहार एव प्रतीति होने पर भी 'घट रूप से पृथक् है' ऐसा व्यवहार या प्रतीति अनुभूत नही है ।

● भेद, अभेद और भेदाभेद की व्यवस्था ●

तत्र घट० इति। भेद के दो प्रकार, पृथक्त्व और अन्यत्व, मे से एक का भी अभाव जिनमे न हो उन दोनो मे परस्पर की अपेक्षा केवल भेद ही रहता है, जैसे घट-पट आदि। घट मे पट (=वस्त्र) की अपेक्षा न तो पृथक्त्व का अभाव है ओर न तो अन्यत्व का अभाव हे, क्योकि घटप्रदेश पट के प्रदेश से विभक्त हे एव घट की पटरूपेण प्रतीति भी होती नही हे। घट मे पटावधिक पृथक्त्व ओर अन्यत्व रहने से घट पटभेदत्वावच्छिन्नअत्यताभाव से विशिष्ट नही है। जैसे नील घट एव अनील घट भूतल मे होने पर घटत्वावच्छिन्न का अत्यताभाव भूतल मे नही रहता, ठीक वैसे ही पटावधिक द्विविध भेद घटवृत्ति होने से भेदत्वात्मक सामान्य धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अत्यताभाव घट से सवद्ध होता नही हे। पटावधिक एक भी भेद का अभाव

[1] अन्यद् घटाद्रूप न पृथगिति विशारदाना व्यवहार । भेदात्पुन पृथक्त्व भिद्यते व्यवहारबाधेन ॥

तेषां तद्भेदत्वावच्छिन्नाभावाऽसंवलितत्वात् । प्रतिस्वं प्रातिस्विकरूपेणोभयाभावात् केवलाभेदः । अवयवाऽवयव्यादीनां त्वतद्भावत्वेऽपि पार्थक्याभावाद् भेदाभेद इति ।

यत्तु 'अतद्भावातिरिक्तमभावस्वभावं पदार्थान्तरमेवान्योन्याभावमभ्युपैति योगः', स न सम्यग्वादी, तादृशान्योन्याभावव्यावृ

★ जयलता ★

इति केवलभेद इति । केवलपदेनाऽभेदव्यवच्छेदः । अन्यतराभावविरहे हेतुमाह - तेषामिति घटादीनाम् । तद्भेदत्वावच्छिन्नाभावाऽसंवलितत्वादिति । पटादिप्रतियोगिकभेदप्रतियोगिकेन पृथक्त्वान्योन्याभावलक्षणभेदद्वयसाधारणभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकेनाऽत्यन्ताभावेनाऽसम्बद्धत्वादित्यर्थः । अयं भावः घटादिषु पटाद्यवधिकं पृथक्त्वमस्ति, तत्प्रविभक्तप्रदेशत्वात् एवं पटादिरूपेणाऽप्रतीयमानत्वेनाऽतद्भावलक्षणं पटान्यत्वमप्यस्ति । पटाद्यवधिक-द्विविधभेदसत्त्वेन घटादिषु पटाद्यपेक्षया केवलभेद एव । यदि चाऽन्यतरभेदस्याऽप्यभावः स्यात्तदा तत्र केवलतद्भेदो न स्यात् । न चैवमस्तीति तत्र केवलभेद इति भावः ।

प्रतिस्वं = प्रत्येकं प्रातिस्विकरूपेण =१ पूर्वोक्तस्वरूपेण उभयाभावात् = पृथक्त्वाऽन्यत्वोभयविधभेदविरहात् केवलाभेदः = अभेदमात्रमित्यर्थः । अयं भावः तद्व्यक्तित्वाऽपेक्षया तद्व्यक्तौ पार्थक्यं न सम्भवति । न हि स्वं स्वरूपेण स्वस्मात् पृथग् भवति, अविभक्तप्रदेशत्वात् । एवं तद्व्यक्तित्वापेक्षया तद्व्यक्तौ नाऽन्यत्वमतद्भावलक्षणं सम्भवति, तत्त्वेन प्रतीयमानत्वात् । न हि स्वस्मिन् स्वाऽवृत्तिधर्मसत्त्वं वर्तते प्रतीयते वा । यदि तद्व्यक्तित्वरूपेण तद्व्यक्तौ उभयविधभेदः स्यात् तदा केवलभेदः स्यात्, अन्यतरभेदस्य सत्त्वे सत्यन्यतरभेदस्याऽभावः स्यात् तदा च भेदाभेदः स्यात् । न चैवमस्ति । अतो द्विविधभेदव्यावृत्त्या प्रत्येकं तद्व्यक्तित्वरूपेण केवलाभेद एवेति स्थितम् ।

अवयवावयव्यादीनामिति । आदिपदेन द्रव्यपर्यायादेर्ग्रहणम् । तुशब्दो विशेषद्योतनार्थः । अतद्भावसत्त्वेऽपि = तदवृत्तिधर्मसत्त्वेऽपि, पार्थक्याभावात् = प्रविभक्तप्रदेशत्वविरहात् भेदाभेद इति । अयं भावः तन्तुषु पटत्वं स्वसमवेतपटे च तन्तुत्वं न स्तः परस्परमवृत्तिधर्मवत्त्वलक्षणाऽतद्भावः पटस्य तन्तुषु तन्तूनाञ्च पटे वर्तते इति तन्तुपटयोर्भेदः । परन्तु तयोः प्रविभक्तप्रदेशत्वलक्षणः पृथक्त्वरूपो भेदो नास्ति । न हि 'पटः स्वसमवायितन्तुभ्यः पृथक्' इति विद्वांसः प्रतियन्ति । एतेन गुण-गुणिनोर्भेदाभेदो ध्वनितः तत्त्वेनाऽप्रतीयमानत्वेऽपि पृथग्भावाप्रतीतेः । अत एवैकत्र भेदाभेदयोर्विरोध इत्यपि समाहितम्, अन्यत्वरूपभेदस्य पृथक्त्वस्वरूपभेदाऽभावात्मकेनाऽभेदेन सह विरोधस्य वदतद्व्याघातप्रसिद्धेः ।

अन्योन्याभावे नैयायिकमतं दर्शयति - यत्त्विति । अतद्भावातिरिक्तं = भावान्तरस्वभावव्यतिरिक्तं, अभावस्वभावं = भावातिरिक्तस्वरूपं पदार्थान्तरमेव = क्लृप्तभावपदार्थषट्कविलक्षणमेव, एवकारेण क्लृप्तभावपदार्थान्तर्भावस्य व्यवच्छेदः कृतः, अन्योन्याभावं = अन्योन्याभावपदप्रतिपाद्यं, अभ्युपैति योगः । तन्मतं स्याद्वादी निराचष्टे - स न सम्यग्वादीति । तादृशान्योन्याभावव्यावृत्तेरपीति अन्योन्याभावव्यवच्छेदस्य, अपिशब्देनाऽन्योन्याभावम

● रमणीया ●

घट मे न होने से पटावधिक केवलभेद रहता है । मगर प्रत्येक में स्ववृत्ति असाधारण धर्म की अपेक्षा से तो केवल अभेद ही रहता है, क्योंकि घट चाहे पट, मठ आदि अनंत पदार्थों से विभक्तप्रदेशवाला हो या अन्य हो मगर स्वनिष्ठ असाधारण धर्म की अपेक्षा घट अपने से न तो पृथक् है और न तो अन्य है, क्योंकि कोई भी चीज अपने स्वरूप की दृष्टि से न तो विभक्तप्रदेशवाली होती है और न तो अतद्भावरूप से प्रमीयमाण (=प्रमाविषय) होती है । अतः एक ही धर्मी में केवल भेद भी रहता है और केवल अभेद भी रहता है । मगर अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि में ऐसा नहीं है । उनमें परस्पर की अपेक्षा भेदाभेद रहता है । अवयवरूप से अवयवी का या अवयवीरूप से अवयव का भान होता नहि है । पट का तंतुरूप से या तंतु का पटरूप से ज्ञान शिष्ट पुरुषों को होता नहि है । इस तरह अवयव-अवयवी में परस्पर की अपेक्षा अतद्भाव होने से अन्यत्वस्वरूप भेद रहता है मगर पृथक्त्वस्वरूप भेद रहता नहि है, क्योंकि उन दोनों के प्रदेश एक ही होने से विभक्त नहीं है । इस तरह अवयव-अवयवी में परस्पर की अपेक्षा अन्यत्वस्वरूप भेद के रहने से और पृथक्त्वस्वरूप भेद के न रहने से भेदाभेद होता है । यदि अवयव-अवयवी में दोनों प्रकार के भेद रह जाते तब तो उनमें केवल भेद ही होता और एक भी न रहता तब तो केवल अभेद ही होता । मगर ऐसा नहीं है । एक भेद (अन्यत्व) है और एक भेद (पृथक्त्व) नहीं है । अतः उनमें परस्पर भेदाभेद है । इस तरह गुण-गुणि में भी भेदाभेद का विचार किया जा सकता है ।

● अन्योन्याभाव अतिरिक्त है - नैयायिक ●

यत्तु० इति । व्याख्याकार यहाँ प्रासंगिकरूप से नैयायिक मतानुसार अन्यत्व=अन्योन्याभाव का निरूपण करते हैं । नैयायिक मनीषियों का यह मंतव्य है कि - अन्योन्याभाव अतद्भावस्वरूप अर्थात् भावान्तरस्वरूप नहीं है । किन्तु अभावस्वरूप ही है यानी वंध्यापुत्र आदि की भाँति तुच्छस्वरूप नहीं है किन्तु भावभिन्न अतिरिक्त सातवाँ पदार्थ है । द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायात्मक भावस्वरूप पदार्थषट्क में अन्योन्याभाव अतिरिक्त है । द्रव्यादि छ पदार्थ में उसका अंतर्भाव होता नहीं है । जैसे 'घटः पटान्यः' अर्थात् 'घट पट से भिन्न है' इस वाक्य से घटात्मक अनुयोगी में जो पटप्रतियोगिक भेद का भान होता है वह भेद, जो अन्योन्याभावपद से भी व्यवहर्तव्य है, घटस्वरूप नहीं है किन्तु उससे विलक्षण पदार्थान्तर (सप्तम पदार्थ) है । जिसकी अभावरूप से प्रतीति होती

१ दृश्यतां ८० तमे पृष्ठे ।

त्तेरप्यसाधारणधर्माधीनत्वात्, तत्राऽप्यन्योन्याभावान्तराश्रयणेऽनिष्टापातात् तस्यैव तत्त्वौचित्यात् । घटादेः कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप हि पटादिस्वरूपव्यावृत्तिरूपत्वात् पटादिभेदस्वरूप गीयते इति ।

न च बहुपु धर्मेपु भेदत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तस्यैव तस्य कल्पना लाघवादुचिता तथापि प्रत्येक विनिगमनाविरहात्

● जयलता ●

मुक्तयः । असाधारणधर्माधीनत्वादिति । अतद्भावव्यावृत्त्यधीनत्वादित्यर्थः। एव च तदुपजीव्यतयाऽतद्भावरूपतासिद्धिः ।

नन्वसाधारणधर्मोऽतद्भावव्यावृत्तिरूपो नोपेयते किन्तु स्वाश्रयभिन्नाऽवृत्तित्वरूपः । ततो न तदुपजीव्यतया तत्सिद्धिरित्याशङ्कायामाह - तत्राऽपीति । यदि चाऽसाधारणधर्मेऽपीत्यर्थः । अन्योन्याभावान्तराश्रयणेऽनिष्टापातादिति । आत्माश्रयदोपपरिजिहीर्पया तस्यैवाऽन्योन्याभावस्याऽवलम्बन विहाय तदन्यस्याऽन्योन्याभावस्याऽऽश्रयणेऽनवस्थादोपापातः इत्यजा निष्काशयतः क्रमेलकापातः । यदि च प्रथमान्योन्याभावोपजीव्यघटकतया द्वितीयस्याऽन्योन्याभावस्याश्रयण तत्र च प्रथमस्य तदा परस्पराश्रयकवलितत्वम् । प्रथमे द्वितीयस्य, तत्र तृतीयस्य, तत्र च प्रथमस्याऽवलम्बने धारालकरालचक्रकक्रकचपाटितत्वस्य दुर्निवार्यत्व सुरगुरुणाऽपीति प्राह तस्यैव तत्त्वौचित्यात् । अतद्भावस्यैवाऽन्योन्याभावत्वन्याय्यत्वादिति । अय भावः, अतिरिक्तमन्योन्याभाव प्रकल्प्य तत्र च भेदत्व, क्लृप्तानन्तभावभिन्नत्व, नानाधिकरणवृत्तित्वमित्यादिगुरुतरकल्पनाऽपेक्षया धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायात् क्लृप्तेष्वधिकरणासाधारणस्वरूपेष्वेव वरमेकोऽन्यत्वपरिणामोऽनुभूयमानः श्रद्धीयताम्। एतेन अन्योन्याभावोऽतिरिक्त एव अधिकरणस्याऽप्रतियोगिकत्वात् तस्य च सप्रतियोगिकतयाऽनुभूयमानत्वेन तद्रूपत्वाऽयोगादिति नैयायिकवचन निराकृतम् लाघवादन्योऽन्याभावस्य क्लृप्ताधिकरणस्वभावत्वे सिद्धे तत्र सप्रतियोगिकत्व कल्प्यमान परस्याऽभावाधिकरणकाभावेऽन्यप्रतियोगिकत्वमिव तत्काले तद्बुद्धिजनितव्यवहारविपयत्वादिरूप न बाधकम् । न च भेदस्याऽधिकरणरूपत्वेऽननुगमो बाधक इति वाच्यम् एवञ्च तवाऽभावाभावस्याऽपि प्रतियोग्यात्मकत्वविलयेऽपसिद्धान्तापातेन ममाऽपर्यनुयोज्यत्वात्, अतिरिक्तान्योन्याभावसबन्धस्य स्वय सम्बद्धत्वस्वभावकल्पनावश्यकत्वे द्रव्येण साकमभावादेरेव स्वतः सवन्धौचित्याचेति दिक् ।

ननु घटादो कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूपस्य पटादिभेदत्वोपगमे तव कम्बुग्रीवत्वसमनियतानन्तधर्मेपु भेदत्वपरिणामकल्पनापत्ति॰ अन्यथा अर्धजरतीयप्रसङ्गा- दिति तदपेक्षया लाघवादतिरिक्तोऽन्योन्याभावोऽभ्युपगन्तुमर्ह इत्याशय निराकरणकृते दर्शयति - न चेति । तन्निराकरणे हेतुद्वयमाह - तथापीति । प्रत्येक विनिगमनाविरहादिति अतिरिक्तान्योन्याभावकल्पने क्लृप्तधर्मानुयोगिकभेदत्वकल्पने चैकतरपक्षपातियुक्तिविरहादित्यर्थः ।

● रमणीया ●

है उसे भावान्तरस्वरूप कैसे माना जा सकता है ? अत अन्योन्याभाव अतद्भावस्वरूप नही है किन्तु अतिरिक्त पदार्थ ही है - यही मानना मुनासिब है ।

● अन्योन्याभाव भावान्तरस्वरूप है, अतिरिक्त नही - स्याद्वादी ●

स न सम्य० इति । अतिरिक्त अन्योन्याभाववादी नैयायिक के मत के प्रतिवाद मे व्याख्याकार कहते ह कि नैयायिक सोच समझ कर बोलता नही है । इसका कारण यह है कि अन्योन्याभाव की व्यावृत्ति असाधारण धर्म के अधीन है । आशय यह है कि यदि अन्योन्याभाव सर्वथा तुच्छ ही होता, तव उसे किसीकी अपेक्षा न होती । क्या वन्ध्यापुत्र को किसीकी अपेक्षा होती है ? मगर अन्योन्याभाव का अभाव भी असाधारण धर्म के अधीन होता है । घटान्योन्याभाव का अभाव घट मे ही रहता है, क्योंकि घटासाधारणधर्म कम्बुग्रीवत्व आदि घट मे ही रहता है, पटादि मे नही । अन्योन्याभाव का अभाव भी भावधर्मसापेक्ष होने से अन्योन्याभाव भावान्तरस्वरूप ही है । यदि अन्योन्याभावाभाव के उपजीव्यरूप मे भावात्मक असाधारण धर्म का स्वीकार करना ही है, तव उससे अच्छा तो यही है कि अतद्भावरूप अन्यत्व का ही स्वीकार किया जाय ।

तत्राऽप्य० इति । यदि असाधारण धर्म भी अन्य अन्योन्याभाव की अपेक्षा करेगा तो अनवस्था दोप प्रसक्त होगा । अर्थात् असाधारण धर्म को स्वाश्रयभिन्नाऽवृत्तित्वस्वरूप माना जाय तव उसकी व्याख्या मे जो 'भिन्न' पद है, जिसका अर्थ भेदवान् है, वह भेद यदि प्रथम भेद से भिन्न होगा तो उसके लिए भी अन्य तीसरे भेद की अपेक्षा होगी । इस तरह तीसरे भेद के लिए चतुर्थ भेद का अवलम्बन करना होगा । इस परम्परा का कभी भी अत नही आयेगा । यही अनवस्था दोप है, जो अप्रामाणिक अनन्तपदार्थकल्पनास्वरूप होने से त्याज्य है । अत अन्योन्याभाव को अन्यत्वरूप यानी अतद्भावस्वरूप ही मानना चाहिए । घट मे जो पटादि का भेद है, वह दूसरा कुछ न हो कर कम्बुग्रीवादिस्वरूप ही है, क्योकि कम्बुग्रीवादिस्वरूप पटादिस्वरूप से व्यावृत्त होता है - ऐसा स्याद्वादी द्वारा कहा जाता है । मतलव यह है कि अन्योन्याभाव सर्वथा तुच्छ नही है किन्तु अन्य द्रव्य से व्यावृत्त ऐसा अपना निजी स्वरूप ही अन्यद्रव्य का भेद है । अत अन्योन्याभाव भावान्तर के असाधारण धर्मस्वरूप सिद्ध होता है ।

नैयायिक :- न च बहु० इति । अन्योन्याभाव को भावान्तर के असाधारण धर्मस्वरूप मानना ठीक नहीं है, क्योंकि तव वस्तु के असाधारण धर्म अनेक होने से अविशेषरूप से उन सव मे भेदत्व की कल्पना करनी होगी । इसकी अपेक्षा तो अच्छा यह है कि एक अन्योन्याभाव को ही अतिरिक्त माना जाय । एक अन्योन्याभाव को अतिरिक्त मानने पर अनत धर्म मे भेदत्व

क्लृप्तकल्पनातोऽक्लृप्तकल्पनाया गुरुत्वाचेत्यधिकमाकरे ।

अत्रेदमस्माकमाभाति । 'प्रविभक्तप्रदेशत्वमि'त्यत्र बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणवः कुतोऽपि न पृथग्भवेयुः । एव कर्मधारयाश्रयणे

★ जयलता ★

विनिगमनाविरहणैव क्लृप्तधर्मेषु भेदत्व सेत्स्यतीत्याशयः । न चातिरिक्तान्योन्याभावकल्पने लाघवमिति विनिगमकस्य प्रदर्शितत्वादिति वाच्यम् तवाऽपि क्लृप्तातिरिक्तान्योन्याभाव कल्पयित्वा तत्र भेदत्व-क्लृप्तानन्तभावभेद-सप्रतियोगिकत्वानन्ताधिकरणनिरूपितनानावृत्तित्वादिकल्पनावश्यकत्वेन लाघवविर- हस्यानुपदमेव दर्शितत्वात् प्रत्युत तव मते क्लृप्तकल्पनातोऽक्लृप्तकल्पनाया गुरुत्वाच्च = क्लृप्तधर्मिस्वरूपेष्वेव भेदत्वपरिणामकल्पनाऽपेक्षयाऽक्लृप्तस्याऽतिरिक्तस्य धर्मिण॰ कल्पनाया अतिगौरवाचेत्यर्थः । एतेन विनिगमनाविरहेणाऽप्यतिरिक्तान्योन्याभावसिद्धिरित्यपास्तम् क्लृप्तकल्पने लाघवस्यैव विनिगमकत्वात् ।

दिगम्बरमत समालोचयति- अत्रेति । अस्माक = प्रकरणकृताम् । ननु 'प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्वमित्यत्र प्रविभक्तप्रदेशत्वपद किं बहुव्रीहिसमासगर्भित कर्मधारयगुम्फित यद्वा द्वन्द्वघटितमिति विकल्पत्रियपी तरलाक्षीणा त्रिवलीवलयमिव ढौकते । तत्र प्रथमविकल्पे दूषणमाविर्भावयति बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणव कुतोऽपि न पृथग्भवेयुरिति । अय भावः प्रविभक्ताः प्रदेशाः येषा ते प्रविभक्तप्रदेशाः, तेषा भावः प्रविभक्तप्रदेशत्वमित्येव बहुव्रीहिसमाससमाश्रयणे परमाणूना पृथक्त्व न स्यात्, यतो द्विविधा हि निरवयवा अणवः स्कन्धाश्रिताः स्कन्धानाश्रिताश्च । तत्र ये स्कन्धाश्रितास्ते

● रमणीया ●

की कल्पना करने की आवश्यक्ता रहती नही है, क्योकि पटेतर सब पदार्थ मे रहनेवाला पटभेद एक ही है जब कि घट मे रहनेवाला कम्बुग्रीवादिस्वरूप, जो कि पटादि के स्वरूप मे व्यावृत्त होने से पटभेदरूप है, गाय मे रहता नही है और गाय मे रहनेवाला सास्नादिमत्त्वस्वरूप, जो पटादि के स्वरूप मे व्यावृत्त होने से पटादिभेदात्मक है, घट मे रहता नहीं है। अत कम्बुग्रीवादिमत्त्व, सास्नादिमत्त्व इत्यादि अनेक मे पटादिभेदत्व की कल्पना करनी होगी। इस तरह घट के अन्य असाधारण धर्म मे भी पटभेदत्व की कल्पना स्याद्वादी को करनी होगी। यह तो बडा भारी गौरव है। इससे तो अच्छा यह है कि घटादि मे रहनेवाले पटादिभेद को अतिरिक्त माना जाय। ऐसा मानने मे लाघव है। अत लाघव के सहकार से अन्योन्याभाव को भावान्तरस्वरूप नहीं, बल्कि अतिरिक्त सप्तम पदार्थस्वरूप ही मानना मुनासिब है।

स्याद्वादी :- तथापि प्रत्ये॰ इति। जी, हजरत! दूध के दाँत भी अभी तक टूटे नही है और बडी बडी बात करते है! अन्योन्याभाव को क्लृप्त धर्म स्वरूप मानना या अतिरिक्त मानना? इन दो पक्ष मे से एक भी पक्ष मे बलवान् युक्ति न होने से जैसे अन्योन्याभाव को अतिरिक्त माना जा सकता है ठीक वैसे ही क्लृप्त धर्मस्वरूप भी माना जा सकता है। यहाँ यह शका करनी नही चाहिए कि→"अन्योन्याभाव को धर्मस्वरूप मानने पर अनेक धर्म मे भेदत्व की कल्पना करने का गौरव है। जब कि अतिरिक्त भेद का स्वीकार करने पर अनेक धर्म मे भेदत्व की कल्पना का गौरव नहीं है। बल्कि एक भेद मे भेदत्व की कल्पना करने मे लाघव है। यही अन्योन्याभाव को अतिरिक्त मानने मे प्रमाण है। यद्यपि घटभेद, पटभेद, मठभेद इत्यादि भेद तो अनत है ही तथापि पटभेद नैयायिक मत मे घटादि अनत अधिकरण मे रहनेवाला एक ही है जब कि स्याद्वादी के मत मे घटभेद एक नहीं है, किन्तु घट मे रहनेवाला पटभेद कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्वरूप है, गाय मे रहनेवाला पटभेद सास्नादिमत्त्व स्वरूप है। अत कम्बुग्रीवादिमत्त्व, सास्नादिमत्त्व आदि स्वरूप मे पटभेदत्व की कल्पना स्याद्वादी के मत मे अधिक है। अत अन्योन्याभाव को एक अतिरिक्त ही मानना चाहिए। भावपदार्थ मे उसका अन्तर्भाव करना नामुनासिब है।"←इसका कारण यह है कि नैयायिक के मत मे सब मे बडा गौरव अक्लृप्त (अनावश्यक) अतिरिक्त भेद नाम के धर्मी की कल्पना करने मे ही है। क्लृप्त ऐसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व स्वरूप आदि मे ही पटभेदत्व धर्म की कल्पना करने की अपेक्षा अक्लृप्त अतिरिक्त भेद नाम के धर्मी की कल्पना करने मे गौरव है, क्योकि अतिरिक्त अन्योन्याभाव नाम के धर्मी की कल्पना करने के बावजूद भी उसमे भेदत्व, अनतभावभेद, अनताधिकरणनिरूपितवृत्तित्व, सप्रतियोगिकत्व आदि अनत धर्म की कल्पना तो नैयायिक महाशय को भी आवश्यक ही है। एक धर्मी की कल्पना के पीछे कितनी लबी-चौडी सेना अपने गले पर आ पडती है! वह दूर की सोचता नहीं है। बिल्ली दूध को देखती डंडा को नही। इस विषय का अधिक विस्तार के लिए आकर ग्रथ देखने की प्रकरणकार सूचना देते है।

● दिगम्बरमत समालोचना ●

अत्रेद॰ इति। पृथक्त्व और अन्यत्वस्वरूप दो भेद को मान्यता देनेवाले दिगम्बर के मत की समालोचना करते हुए व्याख्याकार श्रीमद् महामहोपाध्यायजी कहते है कि-यहाँ हमे (प्रकरणकार को) यह प्रतीत होता है कि पृथक्त्व नाम का जो भेद (प्रथम प्रकार)

देशस्कन्धयोरपि स एव दोपः । स्कन्धाश्रितपरमाणूनामेव च प्रदेशत्वसञ्ज्ञया तदानाश्रितपरमाणूनाञ्च पृथक्त्व कुतोऽपि न घटेत ।

★ जयलता ★

प्रदेशप्रातिपदिकेन प्रतिपाद्यन्ते तदितरे च परमाणुनाम्नेव । स्कन्धाश्रिताना स्वय प्रदेशत्वेऽपि तेपु प्रदेशा न सन्ति । असयुक्तपरमाणूनाञ्च न स्वय प्रदेशत्व न वा तेपु प्रदेशाः । अतः प्रदेशाः परमाणवश्च न प्रदेशवन्तः कुतः प्रविभक्तप्रदेशाः ? न ह्यघटो नीलघटो भवति । प्रविभिक्तप्रदेशत्वविरहान्न तत्र पृथकृत्व न वा पृथक्त्वज्ञान न वा तद्व्यवहारः स्यात् । न चैवमस्ति, 'अय परमाणु' ततः पृथगि'ति योगिज्ञानादेः सत्त्वात् ।

नन्वस्तु कर्मधारय एवात्र । इत्थमेव स्कन्धाश्रिताना पृथक्त्वोपपत्तेरिति द्वितीयविकल्प निराचष्टे - एवमिति । कर्मधारयाश्रयणे इति । प्रविभक्ताश्च ते प्रदेशाश्चेति प्रविभक्तप्रदेशाः, तेपा भावः तत्त्वमिति रीत्या कर्मधारयसमासावलम्बने । देश-स्कन्धयोरपीति । किमुत स्कन्धानाश्रिताना परमाणूनामित्यपि शब्दार्थः । स एव दोप इति । देशादयः न कुतोऽपि पृथग्भवेयुरिति । अय भावः, कर्मधारयस्य समानाधिकरणसमाससरूपत्वेन ये स्कन्धाश्रिता अन्त्यावयवाः प्रदेशाभिधानास्ते एव कुतश्चित् पृथग्भवेयुः कर्मधारयोपगमे, किन्तु देशस्कन्धयोरप्रदेशत्वान्न तत्र प्रविभक्तप्रदेशत्व सभवति, अन्यथा अपटेऽपि 'नीलपटोऽयमि'ति प्रत्ययप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न च देशादिपु पृथक्त्वविरहः स्कन्धैकभागात्मके स्कन्धसबद्धत्वालिङ्गिते भेदनयार्पितातिरेके देशे देशसमूहात्मकस्कन्धे चाऽबाधितपार्थक्यप्रतीतेः सद्भावात् । अपिशब्दार्थं कण्ठत आह - स्कन्धाश्रितेति । कुतोऽपि न घटेतेति । 'तसिल्' अवध्यर्थे । अतः किञ्चिदवधिक पृथक्त्व स्कन्धानाश्रितपरमाणूना न घटाकोटिमाटीकेतेत्यर्थः । स्वतन्त्राणा परमाणूना स्वयमप्रदेशात्मकत्वात्कर्मधारयाङ्गीकारे प्रविभक्तप्रदेशत्व न स्यात् सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताका- भावस्य यावद्विशेपधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव व्याप्यत्वात् । न हि घटशून्य भूतल नीलघटवद् भवति । अत एव तृतीयोऽपि विकल्पः प्रत्युक्त द्विग्वव्ययीभावादयस्त्वप्रसक्ताः । सम्यग्निर्वचनाभावात् प्रविभक्तप्रदेशत्वलक्षण पृथक्त्व न घटामञ्चतीत्याशयः ।

● रमणीया ●

हे जिसका दिगम्बर मनीपियो ने 'प्रविभक्तप्रदेशत्व' ऐसा निर्वचन किया हैं, वह यदि बहुव्रीहिसमासघटित होगा तव तो परमाणु कभी भी किसीसे पृथक् न हो सकेगे । आशय यह है कि 'प्रविभक्तप्रदेशत्व' पद बहुव्रीहि समास से गर्भित माना जाय तव उसका सस्कृत भापा मे विग्रह यह होगा कि 'प्रविभक्ता प्रदेशा येपा ते प्रविभक्तप्रदेशा , तेपा भाव = प्रविभक्तप्रदेशत्वम्' अर्थात् जिनके प्रदेश सर्वथा विभक्त हैं वे प्रविभक्त प्रदेशवाले है । उनका असाधारणस्वरूप प्रविभक्तप्रदेशत्व हे । इस तरह बहुव्रीहि समास का अवलम्बन करने पर परमाणु पृथक् नही कहे जा सकते । इसका कारण यह है कि जैसे पट के प्रदेश (=अवयव) होते है वेसे परमाणुओ के कोई प्रदेश (=अवयव) होते नही है, क्योकि परमाणु निरवयव है । वास्तव मे स्कध मे रहे हुए परमाणु ही जेनदर्शन के अनुसार प्रदेश माने जाते है यह तो नवतत्त्व प्रकरण के अभ्यासी को भी मालुम होता है । अत स्कधाश्रित परमाणु स्वय ही प्रदेशात्मक होते हैं, उनका कोई प्रदेश होता नही हे । जो स्कध होता है, उसके देश, प्रदेश होते है । परमाणु तो स्कध ही नही हे तव उनके प्रदेश केसे होगे ? परमाणु के प्रदेश ही नही है तव वे प्रविभक्तप्रदेशवाले कैसे वन सकते हे । अत जिनके प्रदेश प्रविभक्त हो वे पृथक् हे तथा उनमे प्रविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप पृथक्त्व रहता है - ऐसा मानने पर परमाणु सर्वदा सर्वत्र सर्वथा (सव की अपेक्षा - सव प्रकार से) अपृथग् ही रहेगे । मगर वस्तुस्थिति यह नही हैं । एक परमाणु दूसरे परमाणु से पृथक् ही होता हैं - यह वस्तुस्थिति हे, जो दिगम्बर मनीपियो को भी अमान्य नही हे । अत प्रविभक्तप्रदेशत्व पद बहुव्रीहि समासगर्भित तो माना जा सकता नही है ।

• शका :- प्रविभक्तप्रदेशत्वपद बहुव्रीहिसमासगर्भित भले न हो, मगर वह कर्मधारयसमासगर्भित तो हो सकता हे । प्रविभक्तप्रदेशत्व को कर्मधारय समास गर्भित मानने पर कोई दोप नही हे, क्योकि कर्मधारयसमास का अगीकार करने पर सस्कृत भापा मे विग्रह ऐसा होगा कि 'प्रविभक्ताश्च ते प्रदेशाश्चेति प्रविभक्तप्रदेशा तेपा भाव तत्त्व (=प्रविभक्तप्रदेशत्वम्)' जिसका अर्थ हैं प्रविभक्त ऐसे जो प्रदेश होते हैं उनमे प्रविभक्तप्रदेशत्व रहता है । स्कधाश्रित जो परमाणु हैं वे प्रदेशात्मक ही है ओर परस्पर प्रविभक्त भी हे । इस तरह उनमे प्रविभक्तप्रदेशत्व रहने से पृथक्त्व का व्यवहार हो सकता है । अत स्कधाश्रित परमाणु मे परस्पर की अपेक्षा पृथक्त्व की प्रतीति एव शाब्द व्यवहार की कोई भी अनुपपत्ति प्रसक्त नही है, यदि प्रविभक्तप्रदेशत्व शब्द को कर्मधारय समास से गर्भित माना जाय।

● कर्मधारय समास भी प्रविभक्तप्रदेशत्वपद मे नामुमकिन : श्वेतावर ●

समाधान :- एव कर्म० इति । अजी, हजरत ! प्रविभक्तप्रदेशत्व पद को कर्मधारयसमासगर्भित मानने पर देश, स्कध मे भी वही दोप आयेगा जो बहुव्रीहि समास का अवलवन करने पर परमाणु मे प्रसक्त था । आशय यह हे कि प्रविभक्तप्रदेश का 'प्रविभक्तप्रदेशवाले' ऐसा अर्थ न कर के 'प्रविभक्त ऐसे प्रदेश' ऐसा अर्थ करने पर प्रदेश से भिन्न देश ओर स्कध मे पृथक्त्व नही

किञ्च प्रदेशेषु किं प्रविभक्तत्वं ? न तावदन्यत्वं, एकद्रव्यस्यैव प्रदेशानां तादृशत्वात् । नापि पृथक्त्वं तस्य प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपतयाऽन्योन्याश्रयात् । तथाहि - प्रदेशानां प्रविभक्तत्वसिद्धौ प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं स्कन्धानां पार्थक्यं सिध्यति, सिद्धे च स्कन्धानां प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपं प्रदेशानां पार्थक्यं सिध्यतीति ।

★ जयलता ★

ननु प्रदेशपदस्याऽविभाज्यद्रव्यांशपरत्वे 'श्वेतो धावती'त्यादाविवाऽऽवृत्योभयसमासाश्रयणेनोभयथाऽन्वयात् तदन्यतरत्वस्य तल्लक्षणया पर्यवसानमिति चेत् ? नैतच्चारु, यतः प्रदेशनिष्ठं प्रविभक्तत्वं किमन्यत्वरूपं, पृथक्त्वात्मकं विभागाश्रयत्वरूपं वा ? इति पक्षत्रितयी त्रिलोचनत्रिपथगावगाहीव त्रैलोक्याऽप्रतिहतप्रवेशा विपरिवर्तत इत्याशयेन श्वेतपटाग्रणीः प्रकरणकारः आशाम्बरं प्रति दुर्धरपक्षजालावल्यस्त्रं प्रतिक्षिपति- किञ्चेति । प्रथमे आह - न तावदन्यत्वमिति । तन्निरासे हेतुमाह - एकद्रव्यस्यैवेति स्वद्रव्यस्यैवेत्यर्थः, एवकारेणाऽयोगव्यवच्छेदः कृतः । प्रदेशानां = स्कन्धाश्रितनिरवयवद्रव्यांशानां, तादृशत्वात् = अन्यत्वरूपप्रविभक्तत्वविशिष्टत्वादिति । अयमाशयः, पटात्मकस्कन्धाश्रितपरमाणूनां प्रदेशाभिधानानामऽपटस्वरूपत्वेन पटाऽन्यत्वरूपत्वात् पटादपि पृथक्त्वं प्रसज्येत । एवं सर्वत्र सूक्ष्मावयवानामवयविपृथक्त्वप्रसङ्गो भावनीयः ।

द्वितीयपक्षं निराकुरुते - नाऽपि पृथक्त्वमिति । ननु पृथक्त्वरूपं प्रदेशनिष्ठं प्रविभक्तत्वं किं प्रविभक्तप्रदेशकत्वरूपमङ्गीक्रियते यदुत प्रविभक्तस्कन्धत्वरूपं ? इत्यत्रापि विकल्पयुगली विमलीभावमाबिभ्रती समवतेतीर्यते । तत्राऽऽद्यो विकल्पो नाऽनवद्यः, असंभवकृतान्तकवलितत्वात् । नाऽपि द्वितीयः, अन्योन्याश्रयदृष्टिविषभुजङ्गमाकलितत्वात् । तदेव व्याचष्टे - तस्येति द्वितीयविकल्पकक्षीकृतस्य प्रदेशवृत्तिपृथक्त्वस्य प्रविभक्तस्कन्धकत्व- रूपतयेति । प्रविभक्ताः स्कन्धा येषां ते प्रदेशाः प्रविभक्तस्कन्धकाः तद्भावः तत्त्वम् तदात्मतयेत्यर्थः । अन्योन्याश्रयादिति ज्ञप्तौ परस्पराश्रयादिति, स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वात् इति यावत् । यथा गोभिन्नत्वं महिषत्वं महिषभिन्नत्वं च गोत्वमित्येवं लक्षणे गोत्वज्ञानाय महिषत्वज्ञानापेक्षा, महिषत्वज्ञानाय च गोत्वज्ञानापेक्षेति । एवं प्रकृते भावयति- तथाहीति । प्रदेशानां = स्कन्धाश्रिताविभागिद्रव्यांशानां प्रविभक्तत्वसिद्धौ = प्रविभक्तत्वे ज्ञाते सति, प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं = प्रविभक्तप्रदेशकत्वरूपं स्कन्धानां पार्थक्यं = पृथक्त्वं सिध्यति = ज्ञायते, सिद्धे च = ज्ञाते च, स्कन्धानां प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपं प्रदेशानां पार्थक्यं = पृथक्त्वं सिध्यति = ज्ञायते इति । एवमन्योन्यज्ञानस्याऽव्यवहितान्योन्यापेक्षि- तत्वाज्ज्ञप्तावन्योन्याश्रयग्रस्तत्वम् ।

नापि तृतीयः पक्षः समीचीनः 'रूपं रसात् पृथगि'ति प्रतीत्यनुपपत्तेः । रूपाश्रयप्रदेशानां रसाश्रयप्रदेशविभागानाश्रयत्वादिति । एवं घटकानिर्वचनेनाऽपि घटितनिर्वचनानुपपत्तिरिति प्रकरणकृदाशयः ।

● रमणीया ●

रहेगा, चूँकि वे प्रदेश ही नहीं है तब प्रविभक्त ऐसे प्रदेश कैसे हो सकेंगे ? यहाँ पाठक वर्ग की सुगमता के लिए स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु का स्वरूप बताया जाता है । परमाणुओं के विलक्षण संयोग से निष्पन्न अवयवी को स्कंध कहते हैं, जैसे पट । स्कंध में संलग्न एक छोटे भाग को देश कहा जाता है, जैसे तंतु । स्कंध में आश्रित निरवयव अंश को प्रदेश कहते हैं, जैसे पट का निरंश अतीन्द्रिय अंश । जब प्रदेश ही स्कंध से अलग होता है तब उन्हें परमाणु कहते हैं । अतः प्रविभक्तप्रदेश का प्रविभक्त ऐसे प्रदेश - यह अर्थ करने पर स्कंधनिष्ठ परमाणु में, जिन्हें प्रदेश कहते है, पृथक्त्व रहेगा मगर स्कंध में न रहे हुए निरवयव द्रव्य में, जो परमाणुशब्द से व्यवहृत होते हैं, पृथक्त्व नहीं रह सकेगा, क्योंकि वे प्रदेश से भिन्न होते हैं । जो प्रदेश ही नहीं हैं वे प्रविभक्त प्रदेश कैसे बनेंगे ? क्या अघट (=घटभिन्न) नीलघट बन सकता है ? अतः प्रदेश से भिन्न स्कंध, देश और परमाणु में [1]प्रविभक्तप्रदेशत्वात्मक पृथक्त्व, उसका [2]ज्ञान एवं [3]व्यवहार तीनों अनुपपन्न बनेंगे, यदि प्रविभक्तप्रदेशत्व में कर्मधारय समास का आलंबन किया जाय ।

● प्रविभक्तत्व का सम्यक् निर्वचन नामुमकिन - श्वेतांबर ●

किं च प्रदे० इति । इसके अतिरिक्त यह भी सोचने योग्य है कि 'प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वम्' ऐसा मानने पर पृथक्त्व के घटकीभूत प्रदेश में प्रविभक्तत्व का क्या स्वरूप है ? अर्थात् कैसे प्रदेश को, जो स्कंध में रहे हुए परमाणुस्वरूप है, प्रविभक्त कहना ? प्रदेश में रहे हुए प्रविभक्तत्व को अन्यत्वस्वरूप माना जाय तब प्रविभक्त प्रदेश का अर्थ यह प्राप्त होता है 'अन्य प्रदेश' तथा अन्य ऐसे प्रदेश जिसमें हो उसमें प्रविभक्तप्रदेशत्वरूप पृथक्त्व रहेगा । मगर यह माना जा नहीं सकता, क्योंकि घट के प्रदेश भी घट से तो अन्य होने के सबब घट से भी घट के प्रदेश पृथक् हो जायेंगे । इस तरह प्रत्येक स्कंध से उसके प्रदेश को भी पृथक् होने की आपत्ति आयेगी । मगर वस्तुस्थिति यह है कि कोई भी प्रदेश अपने आश्रयभूत स्कंध से पृथक् होता नहीं है । अतः प्रदेशनिष्ठ प्रविभक्तत्व को अन्यत्वात्मक तो माना जा नहीं सकता ।

नापि पृ० इति । यदि दिगम्बर मनीषिओं की ओर से ऐसा कहा जाय कि → 'प्रदेशनिष्ठ प्रविभक्तत्व अन्यत्वरूप (=अतद्भावरूप) नहीं है किन्तु पृथक्त्वस्वरूप है । तब प्रविभक्तप्रदेशत्व का अर्थ होगा 'पृथक्प्रदेशत्व'। घट के प्रदेश घट से अन्य है मगर पृथक् नहीं है । अतः घट से घट के प्रदेश में पृथक्त्व होने की आपत्ति नहीं है' ← तो यह भी ठीक नहीं है । गधे को दूसरे

अथ पृथक्त्व जात्यन्तररूपमेवेति चेत् ? तर्हि भेदाभेद एव तादृशः किमिति नास्थीयते ? धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तद्भासकत्वेन व्यञ्जकगवेषणविश्रामात् ।

★ जयलता ★

अथेति । पृथक्त्व जात्यन्तररूपमेवेति । एवकारेण प्रविभक्तप्रदेशत्वव्यवच्छेदः कृतः । 'रूप रसात् पृथगि'त्यादिप्रमानुरोधेन द्रव्य-गुण-पर्यायानुगतजातिविशेषरूपमेव पृथक्त्वम् । इत्यमेव 'मनुष्यपर्यायो देवपर्यायात्पृथगि'त्यादि प्रतीत्युपपत्तेरिति दिगम्बराशयः प्रतिभाति ।

ननु भेदाभेदो भेदविशिष्टाभेदरूप इत्यभ्युपगम्याऽपि पृथक्त्वस्वरूपभेदविशेषकृते जात्यन्तराश्रयण कर्तव्यमेव तदा 'तद्धेतोरस्तु कि तेने'ति न्यायात् भेदाभेद एव जात्यन्तरूप इत्यभ्युपगन्तुमर्हतीत्याशयेन शुक्लाम्बरमुर्धन्यः प्रकरणकृदाशापटमत प्रतिविधत्ते तर्हीति । भेदाभेद एवेति एवकारेण पृथक्त्वव्यवच्छेदः कृतः । तादृश = जात्यन्तररूपः किमिति = कस्मात् नास्थीयते, = नाश्रीयते ?

किञ्चैव पृथक्त्वस्य जात्यन्तररूपत्वोपगमे तु त्वया धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या व्यतिरिक्तमेव व्यञ्जक जात्यन्तररूपपृथक्त्वाववोधार्थं याचनीयम् । तदपेक्षया जात्यन्तरात्मकस्य भेदाभेदस्य स्वीकारः श्रेयान् व्यञ्जकान्तरगवेषणव्यग्रत्वविरहात्, धर्मिधर्मोभयोपलम्भकसामग्र्या एव भेदाभेदात्मकतत्सवन्ध-भासकत्वादित्याशयेन सिताम्बरशेखरः प्रकरणकारः ककुप्पट प्रत्याह - धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव = गुणिगुण-द्रव्यपर्यायोभयद्योतकसामग्र्याः । एवकारेण तदतिरिक्तकारणघटितसामग्रीव्यवच्छेदः कृतः । तद्भासकत्वेन = जात्यन्तरात्मकभेदाभेदसवन्धधीजनकत्वेन, व्यञ्जकगवेषणविश्रामात् = धर्मिधर्मोभयज्ञापकसामग्रीव्यतिरिक्तव्यञ्जकान्वेषणव्यग्रत्वविरहादिति । न च मन्मतेऽपि धर्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तदवबोधकत्व सभवतीति

● रमणीया ●

● दिगम्बर मत मे अन्योन्याश्रय दोष ●

गाँव मे जाने पर भी धोबी से छूट्टी नही मिलती, वहाँ भी दूसरा धोबी मिल जाता है । प्रविभक्तत्व को मान्यता देने पर जो दोष प्रसक्त होता था वह दोष भले ही पृथक्त्वस्वरूप प्रविभक्तत्व को मान्यता देने पर प्रसक्त न हो मगर यहाँ अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा, सर्वदोषमुक्ति नामुमकिन है । अन्योन्याश्रय दोष तव कहा जाता है जव एक की सिद्धि मे दूसरे की अपेक्षा हो और दूसरे की सिद्धि मे प्रथम की अपेक्षा हो । जेसे आधुनिक युग मे ऑटोमेटिक वद हो जाने वाले दरवाजे के ताले की कुजी को घर मे छोड कर घर के सभी सदस्यो के वाहर निकल जाने पर दरवाजा वद हो जाता है तव दरवाजे को खोलने का कार्य अन्योन्याश्रय दोष से नामुमकिन बन जाता है, क्योकि दरवाजा तव खुलेगा जब चावी हाथ मे आयेगी और चावी तव हाथ मे आयेगी जब दरवाजा खुलेगा । इस परिस्थिति मे दरवाजा खुलना मुश्किल है । इस तरह प्रस्तुत मे भी अन्योन्याभाव दोष होगा । देखिये, स्कध मे जो पृथक्त्व रहता है वह प्रविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप होता है अर्थात् प्रविभक्त प्रदेशो मे रहना । तथा प्रदेश मे जो पृथक्त्व रहता है वह प्रविभक्तस्कधत्वस्वरूप होता है अर्थात् प्रविभक्त स्कध मे रहना-यह प्रदेशनिष्ठ पृथक्त्व है । स्पष्ट ही है कि स्कध के प्रदेश मे प्रविभक्तत्व सिद्ध होने पर ही स्कध मे प्रविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप पृथक्त्व सिद्ध होगा, क्योकि घटित की सिद्धि के लिए घटक की सिद्धि आवश्यक होती है । मगर स्कधनिष्ठ पृथक्त्व की सिद्धि के लिए अपेक्षित प्रदेशनिष्ठ प्रविभक्तत्व की, जो पृथक्त्वस्वरूप है, सिद्धि मे पुन स्कध मे प्रविभक्तत्व (=पृथक्त्व) की सिद्धि अपेक्षित है । अत जव तक प्रदेश मे प्रविभक्तत्व सिद्ध न हो तब तक प्रविभक्तप्रदेशकत्वरूप पृथक्त्व स्कध मे असिद्ध रहेगा और जब तक स्कध मे प्रविभक्तत्व सिद्ध न हो तव तक प्रविभक्तस्कधवृत्तित्वस्वरूप पृथक्त्व प्रदेश मे सिद्ध न होगा । एक-दूसरे की सिद्धि (=ज्ञान) के लिए एक-दूसरे की सिद्धि (=ज्ञान) अपेक्षित होने से अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है । अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होने के सबब न तो स्कध मे पृथक्त्व की सिद्धि होगी, न तो प्रदेश मे । इस तरह प्रदेश मे प्रविभक्तत्व का सम्यक् निरूपण न होने के सबब पृथक्त्व को प्रविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप माना जा नही सकता । घटक असिद्ध होने पर घटित कैसे सिद्ध हो सकेगा ? क्या वध्यापुत्र असिद्ध होने पर वध्यापुत्र का नाम प्रसिद्ध हो सकेगा ?

● पृथक्त्व जातिविशेषरूप न होकर भेदाभेदस्वरूप- श्वेताम्वर ●

अथ पृ० इति । पृथक्त्व प्रविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप भले न हो मगर जातिविशेषस्वरूप तो वह हो सकता है - ऐसा यदि दिगम्वर मनीषिओ की ओर से कहा जाय तो वह भी ठीक नही है । इसका कारण यह है कि भेदाभेद को भेदविशिष्टाभेदरूप मानना तथा उसमे उभयरूप से ससर्गता मानना । इसके बावजूद भी जात्यतररूप 'पृथक्त्व' नाम के भेद का अगीकार करना-इसकी अपेक्षा तो अच्छा यही है कि भेदाभेद को ही जात्यतरस्वरूप माना जाय । भेदाभेद को ही जात्यतरात्मक मानने का दूसरा लाभ यह भी है कि भेदाभेद के ज्ञान के लिए अन्य सामग्री की गवेषणा करने की भी जरूरत होती नही है, क्योकि धर्म और धर्मी के ज्ञान की जनक सामग्री ही 'जात्यतरात्मक भेदाभेद सवध की व्यञ्जक होती है । मगर भेदाभेद को भेदविशिष्टाभेदस्वरूप मानने

एतेन पृथक्त्वव्यवहाराऽसाधारणकारण तदित्यप्युपेक्षितम्, कारणतावच्छेदकरूपरिचय विना तादृशनिर्वचनाऽसभवाच्च ।

★ जयलता ★

वाच्यम् धर्मधर्मिभावशून्येष्वपि 'घटः पटात् पृथक्, पटः शकटात् पृथगि'त्यादिव्यवहारोपलब्धेः, तत्र धर्मधर्मिभावस्यैवाऽसत्त्वे कुतः तस्य पृथक्त्वव्यञ्जकत्व सम्भवेत् ? एवमेव अन्यत्वलक्षणभेदभानार्थमपि धर्मधर्मिभावातिरिक्तव्यञ्जकापेक्षणात् गोरव स्वयमेव भावनीयम् । तदस्तु जात्यन्तररूप एव भगवान् भेदाभेद इत्याशयः ।

प्रसङ्गात् प्राचीननैयायिकमत दर्श्यते । तथाहि - तन्मते भेदः त्रिविधः स्वरूपेतरेतरवैधर्म्यभेदात् । घटस्य पटाद्यात्मनाऽप्रतीतिः अपटाद्यात्मना च प्रतीतिः स्वरूपभेदः । घटोऽयमपट इतीतरेतराभावप्रतीतिः । गुणादिषु गुणायसम्भव', अनवस्था-सम्बन्धाभाव-विरोधेभ्य इति वैधर्म्यप्रतीतिः । तदुक्त उदयनेन आत्मतत्त्वविवेके'' लक्षणञ्च स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाऽप्रतीतो प्रतीतिः इतरेतराभावस्य त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः, वैधर्म्यस्य तु विरोधः, स चैकधर्म्यसमावेश'' [आ त वि परि द्वि पृ २५५] इति दिक् ।

एतेन = भेदाभेदस्य भेदविशिष्टाभेदात्मकत्वाङ्गीकारे व्यञ्जकभेदयाश्वासद्भावेन । अस्य च 'इत्यप्युपेक्षितमि'त्यनेनाऽन्वयः । पृथक्त्वव्यवहारामाधारणकारण = 'अयमस्मात् पृथगि'ति शाब्दव्यवहारप्रधानाङ्ग, तत् = पृथक्त्वपदप्रतिपाद्यम् । प्रविभक्तप्रदेशत्व जात्यन्तर वा विहाय 'तादृशव्यवहारासाधारणनिमित्तरूप पृथक्त्वमि'त्युपगमोऽपि श्रेयान्, तस्य धर्मिधर्मोभयातिरिक्तत्वेन तज्ज्ञानार्थमधिकापेक्षणादिति तन्निराकरणाशयः । हेत्वन्तरमपि दर्शयति - कारणतावच्छेदकरूपपरिचय विनेति । पृथक्त्वव्यवहारासाधारणकारण पृथक्त्वपदाभिधेयमिति पृथक्त्वस्वरूपविषयकव्याख्याऽसभवाच्चेत्यर्थः । अय भावः अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन यद्धर्मस्य ज्ञान भवति तद्धर्मविशिष्टे कारणत्वग्रहः सभवति यथा घटोत्पादप्राक्क्षणावच्छिन्नघटाधिकरणवृत्तित्वविशिष्टाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन चक्रत्वस्य ज्ञाने सत्येव 'चक्र घटकारणमि'त्यभिधातु शक्यते । परतु पृथक्त्वव्यवहाराव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन तदधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेद- कीभूतकारणतावच्छेदकस्य कस्यचिद्धर्मस्य ज्ञानविरहात् पृथक्त्वपदवाच्ये पृथक्त्वव्यवहारकारणता प्रतिपादयितुमशक्या ।

एतेन 'इदमस्मात् पृथक्' इति व्यवहारकारण पृथक्त्व [त स दी] इति तत्त्वसग्रहदीपिकाकारवचन प्रत्युक्त समवसेयम् ।

● रमणीया ●

पर धर्म-धर्मीभासक सामग्री से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा होती है, क्योकि जात्यतरस्वरूप पृथक्त्वात्मक भेद का अभाव तो घट, पट आदि मे रहता हे । मगर उनमे धर्मधर्मिभाव होता नही है । अत धर्मधर्मिभाव की ज्ञापक सामग्री से तो पृथक्त्व जाति का ज्ञान हो सकता नही है । अत पृथक्त्वज्ञान के लिए दिगम्बर महाशय को उससे अतिरिक्त व्यजक की तलाश करनी होगी । इसकी अपेक्षा तो यही मुनासिव है कि भेदाभेद को ही जात्यतररूप = जातिविशेषात्मक माना जाय, जिसका ज्ञान धर्मधर्मिभाव की भासक इन्द्रियादिसामग्री से होने से अतिरिक्त व्यजक की तलाश करने का प्रयास भी अनावश्यक है ।

शका :- एतेन पृथ० इति । पृथक्त्व भले ही प्रविभक्तप्रदेशत्वरूप या जात्यतररूप न हो मगर 'यह इससे पृथक हैं' ऐसे पृथक्त्वविपयक व्यवहार का असाधारण कारण तो वह हो सकता हे । वह द्रव्य हो, गुण हो या क्रियारूप हो, इसमे हमारा कोई आग्रह नही हे, मगर पृथक्त्वविपयक व्यवहार का असाधारण निमित्त जो है वही पृथक्त्व है । प्रविभक्तप्रदेशत्वादिस्वरूप पृथक्त्व पूर्व मे कहा है, वह भूल हो गई ।

● पृथक्त्व व्यवहार का असाधारण कारण पृथक्त्व नही है ●

समाधान :- इत्यप्युपेक्षित कार० इति । अव पछताये होत क्या जब चिडियाँ चुग गई खेत । अभी वता दिया कि - 'भेदाभेद को जात्यतरस्वरूप मानने मे भिन्न व्यजक की अपेक्षा नही है जब कि भेदविशिष्ट अभेदस्वरूप भेदाभेद के स्वीकारपक्ष मे अतिरिक्त व्यजक की अपेक्षा का गोरव है' । अव क्यो आप पृथक्त्वविपयक व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहने का प्रयास करते हे ? पृथक्त्वस्वरूप भेद को पृथग्व्यवहारासाधारण कारण मानने पर भी आप दिगम्बर महाशय भेदाभेद को जात्यतरस्वरूप मानने को तो तेयार नही है, तव पूर्वोपदर्शित गौरव दोप का कैसे परिहार होगा ? इतना ही नही अब तो दूसरा भी दोष आपके मत मे प्रसक्त होगा । पृथक्त्व को तादृशव्यवहार के असाधारणकारणस्वरूप माननेवाले आप तादृश पृथक्त्व द्रव्य हे या गुण हे या कर्म हे या अन्य ही कुछ है ?' यह भी जानते नही हे तव तादृशव्यवहार की कारणता का उसमे प्रतिपादन कैसे हो सकेगा ? कारणतावच्छेदक धर्म का ही जव तक परिचय न हो तव तक 'यह उसका कारण है और वह इसका कार्य है' ऐसा निरूपण भी कैसे हो सकेगा ? जिसको दडत्व का ज्ञान नही है वह पुरुप क्या 'दड घटकारण है' ऐसा वोल सकता है ? आप को भी पृथक्त्वगोचर व्यवहाररूप कार्य का कारणतावच्छेदक धर्म क्या हे ? यह ज्ञान न होने से 'पृथक्त्वविपयक शाब्द व्यवहार का असाधारण (!?) कारण पृथक्त्व हे'- ऐसा निरूपण करना आपके लिए नामुमकिन हे । अत भेदाभेद को भेदविशिष्टअभेदात्मक न मान कर जात्यतरात्मक (जातिविशेपस्वरूप) ही मानना मुनासिव हे - ऐसा सोचने पर लगता है ।

यत्तु "विभिन्नाश्रयाश्रितत्वमेव पार्थक्य, विभिन्नाश्राश्रयाः स्कन्धाना देशा इव देशाना स्कन्धा अपि सभवन्ति, 'तन्तौ पट' इनिवत् 'पटे तन्तव' इति प्रतीतेरप्यबाधितत्वात् । अन्यत्र रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याऽऽधारतात्वेऽपि

★ जयलता ★

मतान्तरेण पृथक्त्वमुपपादयति - यत्त्विति । अस्य तच्चिन्त्यमित्यनेनाऽन्वयः । विभिन्नाश्रयाश्रितत्वमेव पार्थक्यमिति । विभिन्नेषु आश्रयेषु वृत्तित्वमेव पृथक्त्वपदार्थ इत्यर्थः । एवकारेण तदन्यव्यवच्छेदः कृतः ।

नन्वेव सति पटात्तन्तूना पृथक्त्व न स्यात् विभिन्नाश्रयानाश्रितत्वादित्याशङ्कायामाह - विभिन्नाश्राश्रया इति । अबाधितत्वादिति । अवयवावयविना परस्पराश्रयत्वप्रतीतेरसङ्गतिविरहादिति ।

ननु देशस्कन्धयोरिव रूपरसयोरपि भिन्नाभिन्नत्वेन परस्पराधारता स्यादित्याशङ्कायामाह - अन्यत्रेति । रूपरसादिस्थले । रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याऽऽधारतात्वेऽपीति । एतेन 'रूपे घटः' इति प्रतीतेः प्रामाण्य प्रत्युक्तम् । विशेष द्योतयति - अत्रेति । अवयवावयविस्थले ।

● रमणीया ●

● विभिन्नाश्रयाश्रितत्व ही पृथक्त्व है - पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्ष :- यत्तु विभि० इति । पृथक्त्व विभिन्नाश्रयाश्रितत्व ही है - यह मानना सुसगत है । अर्थात् अलग अलग आश्रय मे रहना-यही पृथक्त्व है । जैसे घट मिट्टी मे रहता है और पट ततु मे रहता है । अलग अलग आश्रय मे रहने के सबब ही घट पट से पृथक् है और पट घट से पृथक् है । ऐसा मानने पर देश और स्कध मे भी पृथक्त्व सिद्ध हो सकता हे । इसका कारण यह है कि जैसे स्कध का आश्रय देश है वैसे देश का आश्रय स्कध है । देश और स्कध भिन्न होने से क्रमश उसमे रहनेवाले स्कध और देश भी परस्पर पृथक् सिद्ध होते हैं । स्कध और देश मे परस्पर आश्रयता तो सर्वजनविदित ही है, क्योकि जेसे 'पट ततु मे है' यह प्रतीति होती है ठीक वैसे ही 'ततु पट मे हैं' यह प्रतीति भी सब लोगो को होती हैं । पट ही तो स्कध हे और ततु ही देश है । इस तरह स्कध और देश मे परस्पराश्रयता सिद्ध होने से विभिन्नाश्रय मे आवासस्वरूप पृथक्त्व स्कध और देश मे अनायास सिद्ध होता है ।

शका :- स्कध और देश मे भेदाभेद है । मगर भेदाभेद सामान्यत आधारतास्वरूप नही है । किन्तु विशेषरूप से आधारता का नियामक हो सकता है । इसका कारण यह है कि यदि भेदाभेद को अविशेषरूप से वृत्तितानियामकसबध माना जाय तब तो जैसे 'घटे रूप' 'घट मे रूप है' यह प्रतीति होती है ठीक वैसे ही 'रूपे रस' 'रूप मे रस है' यह प्रतीति भी होने लगेगी, क्योकि घट और घटरूप की भाँति रूप और रस मे भी भेदाभेद तो है ही । मगर वस्तुस्थिति यह है कि 'घटे रूप' यह प्रतीति होती है मगर 'रूपे रस' ऐसी प्रतीति होती नही है, क्योकि गुण मे अन्य गुण रहते नही है । इसलिए रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्टरूपेण ही भेदाभेद को आधारतानियामक मानना होगा । ऐसा मानने पर 'रूपे रस' इत्यादि प्रतीति की आपत्ति नही होगी, क्योकि रूप मे रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद सबध नही है किन्तु रूपानुयोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद सबध है । 'घटे रूप' यह प्रतीति हो सकती है, क्योकि घट मे रूपप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद सबध रहता हैं । इस तरह प्रकृत मे भी देश को स्कध मे और स्कध को देश मे सामान्यरूप से भेदाभेद सबध के द्वारा रखा जा नही सकता किन्तु विशेषरूप से ही । जैसे स्कधप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद सबध को देश मे स्कध की वृत्तिता (आधारता) का नियामक माना जा सकता हैं । इस सबध से 'स्कधो देशे' अर्थात् 'स्कध देश मे रहता है' यह प्रतीति निराबाधरूप से हो सकती है, क्योकि यहाँ भेदाभेद का प्रतियोगी (=आधेय) स्कध हैं । मगर उपर्युक्त सबध को वृत्तितानियामक माना जायेगा तब 'स्कधे देश' अर्थात् 'स्कध मे देश रहता है' यह प्रतीति प्रामाणिक न हो सकेगी । इसका कारण यह है कि अधिकरणभूत स्कध मे स्कधप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद सबध रहता नही है । स्कध तो उक्त प्रतीति मे अधिकरणविधया ज्ञायमान होने के सबब भेदाभेद का अनुयोगी है, प्रतियोगी नही । इस स्थिति मे स्कध मे स्कधानुयोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद रह सकता है, मगर स्कधप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद ससर्ग नही । अत उस सबध को वृत्तितानियामक मानने पर 'स्कधे देश' यह प्रतीति अप्रामाणिक बन जायेगी । यदि देशप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद सबध को वृत्तितानियामक माना जाय तब 'स्कधे देश' यह प्रतीति हो सकती है । मगर उस सबध को वृत्तितानियामक मानने पर 'देशे स्कध' यह प्रतीति अप्रामाणिक बन जायेगी, क्योकि स्कधाधिकरणीभूत देश मे देशप्रतियोगित्वविशिष्ट भेदाभेद सबध रहता नही हे किन्तु स्कधप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद सबध रहता है । इस तरह स्कधप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद को वृत्तितानियामक मानने पर 'देशे स्कध' यह प्रतीति सगत होने पर भी 'स्कधे देश' इस प्रतीति की असगति होगी और देशप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद ससर्ग को वृत्तितानियामक मानने पर 'स्कधे देश' इस प्रतीति की उपपत्ति होने पर भी 'देशे स्कध' यह प्रतीति अनुपपन्न बन जायेगी । एक को मनाओ तो दूजा रूठ जाता है । आखिर मे वह सबध टूट जाता है ।

अत्राऽन्यतरीयत्वविशिष्टस्यैव तस्य प्रतीतिबलेन तथात्वकल्पनात् । तदुक्तं उदयनेनापि 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणमिति' [न्या कु] ।

परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्वं, भाविभूताश्रयसम्भवेन वा तदाश्रितत्वमक्षतम्, अन्यथा द्रव्यादिचतुष्टयस्य

★ जयलता ★

अन्यतरीयत्वविशिष्टस्यैव = अवयवावयव्यन्यतरप्रतियोगिकत्वविशिष्टस्यैव तस्य - भेदाभेदस्य, आधारतानियामकत्वमाऽभ्युपगम्यते । हेतुमाह - प्रतीतिबलेन तथात्वकल्पनादिति अन्योन्यधर्मधर्मिभावानुभवमहिम्ना अन्यतरप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याऽऽश्रयतानियामकत्वकल्पनादिति । स्कन्धप्रतियोगिकत्व-विशिष्टभेदाभेदस्य वृत्तितानियामकत्वोपगमे 'स्कन्धे देशः' इति प्रतीतिप्रामाण्यं देशप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदस्याश्रयतानियामकत्वे च 'देशे स्कन्धः' इति प्रतीतिप्रामाण्यमिति प्रत्युतस्य प्रत्यक्षस्य स्वेतरप्रमाणोपजीव्यत्वेन सर्वथा बलवत्त्वात्तदनुरोधेन वस्तु कल्पनामर्हतीति । अत प्रकृतेऽन्यतरप्रतियोगिकत्वविशिष्ट-धर्मभावस्याऽऽश्रयतानियामकत्वकल्पने न कोऽपि दोषः । अत एव 'रूपे घटः' इत्यस्माभिर्न मन्यते, तथाप्रतीतिविरहात् । न्यायकुसुमाञ्जलिकृत् संवाद दर्शयति - तदुक्तमिति । एवञ्च स्कन्धप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदसम्बन्धेन स्कन्धाश्रयत्वस्य देशे तथा देशप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेदसम्बन्धेन देशाश्रयत्वस्य च स्कन्धे सत्त्वेन विभिन्नाश्रयाश्रितत्वाबाधात् स्कन्धात् देशे पृथक्त्वं देशाच्च स्कन्धे पृथक्त्वं निराबाधमिति तात्पर्यम् ।

ननु 'परमाणवः कुतोऽपि न पृथग् भवेयुः' तेषां निराश्रयत्वादित्याशङ्कायामाह - परमाणूनामपि, अपिना स्कन्धादीनामित्यस्य समुच्चयः । शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्वमिति । अयं भावः विवक्षितपर्यायापृथग्भूतः शुद्धः परमाणुरेव तत्पर्यायाश्रितस्य स्वस्याश्रयः । एवञ्च शुद्धपरमाणु-पर्यायोपेतपरमाण्वोः कथञ्चिद्व्यतिरिक्तत्वेन विभिन्नाश्रयाश्रितत्वं परमाणुष्वपि निराबाधम् ।

ननु कल्पनया परमाणोः पर्यायात्पृथक्करणेऽपि वस्तुतः पर्यायविनिर्मुक्तपरमाणुर्विरहात् कुतः शुद्धपरमाणोः पर्यायवत्परमाण्वाश्रयत्वम् ? सता गुणपर्यायाणां बुद्ध्याऽपनयनस्य स्वतुंमशक्यत्वात् । न हि यावत्स्थितिकल्पनापनाऽर्थक्रियाकारितास्तीत्याशङ्कायां सत्या नयान्तरेण तत्र पृथक्त्वासम्भवनिराकरणार्थमाह - भाविभूताश्रयसम्भवेन वा तदाश्रितत्वमक्षतमिति भाविनः कार्यस्य तत्तत्पर्यायरूपस्य तत्तत्पर्यायविशिष्टद्रव्यस्वरूपस्य वा भूताश्रयत्वसम्भवेन अतीतपर्यायविशिष्टपरमाणुद्रव्याश्रयत्वसम्भवेनेति यावत्, तदाश्रितत्वं निराबाधम् । अयं भावः पर्यायार्थिकनयेन पूर्वक्षणस्योत्तरक्षणकारणत्वं, उत्तरक्षणस्य च पूर्वक्षणकार्यत्वमुच्यते । द्रव्यार्थिकनयानुगृहीतपर्यायार्थिकनयेन पूर्वतनपर्यायविशिष्टद्रव्यस्योत्तरपर्यायविशिष्टद्रव्यकारणत्वं उत्तरपर्यायविशिष्टद्रव्यस्य च पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्यकार्यत्वं भवति । कारणं हि द्रव्यमुच्यते । अतः पूर्वक्षणविशिष्टपरमाणुः द्रव्यपरमाणुरुत्तरक्षणविशिष्टपरमाणुर्भावपरमाणुरिति व्यवह्रियते तान्त्रिकैः । कार्यस्य कारणोत्तरवर्तित्वेन कारणाश्रितत्वात् भाविनः भावपरमाणोः द्रव्यपरमाण्वाश्रयत्वं नयमतविशेषेण सम्भवति । एवञ्च परमाणुषु स्वेतरपरमाणु-घटाद्यपेक्षया विभिन्नाश्रयाश्रितत्वरूपं पृथक्त्वमव्याहतम् ।

ननु परमाणोर्नित्यत्वेनाऽकार्यत्वात्कुत्र द्रव्यपरमाणुत्वं सम्भवेत् ? परमाणोः स्वस्य द्रव्यत्वेऽपि कारणत्वार्थकद्रव्यपदप्रयोगो नैव कस्यचित्परमाणोः सम्भवति । भाविनः परमाणोरसम्भवात् 'भाविभूताश्रयसम्भवेन वा तदाश्रितत्वमक्षत'मिति वचनमेवाऽसम्भवग्रस्तमित्याशङ्कायामाह - अन्यथेति कार्यात्मकपरमाण्वनङ्गीकारे इत्यर्थः । द्रव्यादिचतुष्टयस्येति । आदिपदेन नामस्थापनाभावग्रहणम् । यद्यपि 'नामादिचतुष्टयस्ये'त्येव वक्तु युज्यते,

● रमणीया ●

● अन्यतरप्रतियोगिक भेदाभेद आधारता ●

समाधान :- अन्यत्र० इति । जी, हजरत ! रूपादिस्थल मे रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद वृत्तितानियामक सबंध है मगर इसका मतलब यह नहीं है कि सर्वत्र विशेषरूप से ही भेदाभेद वृत्तितानियामक सबंध बने । गुण-गुणिभाव स्थल मे गुणी मे ही गुणवृत्तिता का भान होता है, न कि गुण मे गुणवृत्तिता का या गुण मे गुणिवृत्तिता का । अतः गुणगुणिस्थल मे विशेषरूप से भेदाभेद को आधारतानियामक माना जाय यह उचित है । मगर अवयवावयवी स्थल मे अवयवप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेद सबंध या अवयविप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद ससर्ग आश्रयतानियामक माना जा नहीं सकता किन्तु अवयव-अवयवीअन्यतरप्रतियोगिकत्वविशिष्ट भेदाभेद ससर्ग को ही वृत्तितानियामक माना जा सकता है । इसका कारण यह है कि अवयव मे अवयवी का जैसे भान होता है ठीक वैसे ही अवयवी मे अवयव का ज्ञान भी अबाधितरूप से लोगों को होता है । किसी भी चीज की कल्पना करनी हो तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार ही होनी चाहिए । उदयन महाशय ने भी न्यायकुसुमाजलि ग्रथ मे यही कहा है कि→'भगवती बुद्धि ही वस्तु के अगीकार मे हमारा शरण है' । अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण का उल्लघन कर के वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण के अनुसार ही । प्रत्यक्ष प्रमाण के सहकार से प्रस्तुत मे अवयव-अवयवीअन्यतरप्रतियोगिक भेदाभेद को आधारता मानना ठीक ही है । अतः यहाँ स्कध की देश मे वृत्तिता (=रहना) और देश की स्कध में वृत्तिता असगत नहीं है । इसका कारण यह है कि स्कध मे जो भेदाभेद सबध रहता है वह देशप्रतियोगिक होने के सबब अवयव-अवयवी (=देशस्कध) अन्यतरप्रतियोगिक होने से वृत्तितानियामक होने से 'स्कध मे देश है' यह प्रतीति सगत होती है । तथा देश मे जो भेदाभेद ससर्ग है वह स्कधप्रतियोगिक

सार्वत्रिकत्ववचनव्याघातापातादिति'' ।

तच्चिन्त्यम् अत्यन्तविभिन्नानामप्याकाशादिरूपैकाश्रयसम्भवेन भेदाभेदसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयताविवक्षणे स्फुटदोषात् ।

★ जयलता ★

'नाम ठवणा दव्व भावो अ' इति निक्षेपक्रमस्य पारमर्षप्रसिद्धत्वात् तथापि प्रकृते द्रव्यपरमाणुनिक्षेपस्यैवोपयोगित्वेन प्राधान्यात् प्रथम तदुपादान न दोषाय । सार्वत्रिकत्ववचनव्याघातापातादिति । निक्षेपचतुष्टयस्य सर्वव्यापित्वप्रतिपादकागमवचनव्याहतिप्रसङ्गादित्यर्थः । अय भावः परमाणौ कार्यत्वानङ्गीकारस्य द्रव्यपरमाण्वनङ्गीकाराक्षेपकतया 'जत्थ वि य न जाणिज्जा चउक्कय निक्खिवे तत्थ' इति [ ] अनुयोगद्वारवचनविरोधप्रसङ्गात् दर्शितरीत्या द्रव्यपरमाण्वङ्गीकरणाय परमाणौ कार्यत्वमवश्यमुपगन्तव्यम्, येन भाविनो भावपरमाणोः द्रव्यपरमाण्वाश्रितत्वसिद्धिरिति यत्तुमततात्पर्यम् ।

प्रकरणकृताऽऽत्मनो न यत्तुमतेऽपि निर्भर इति सूचनार्थं तच्चिन्त्यमित्युक्तम् । तद्बीजमाह - अत्यन्तविभिन्नाना पृथ्वीजलादिरूपाणा अपि आकाशादिरूपैकाश्रयसम्भवेन = आकाशधर्माधर्मास्तिकायादिरूपसमानाश्रयाश्रितत्वसम्भवेन भेदाभेदसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयताविवक्षणे स्फुटदोषादिति । अविष्वग्भावलक्षणससर्गावच्छिन्नाधारतात्वकल्पने दोषस्य स्फुटत्वात् न यत्तुमत रमणीयमित्यर्थः । अय भावः विभिन्नाश्रयाश्रितत्व

● रमणीया ●

होने की वजह अवयव-अवयवीअन्यतरप्रतियोगिक होता हे । इस तरह स्कधाधिकरणीभूत देश मे दर्शित वृत्तितानियामक ससर्ग होने से 'देश मे स्कध है' यह प्रतीति भी निराबाध सिद्ध होती है । अत न तो 'स्कधे देश ' यह प्रतीति अप्रामाणिक है ओर न तो 'देशे स्कध ' यह प्रतीति-यह फलित होता है ।

● परमाणु भी विलक्षण स्वाश्रित होने से घटादि से पृथक् है - दिगम्बर ●

परमा० इति । 'विभिन्नाश्रय मे आश्रितत्व' को पृथक्त्वरूप मानने पर परमाणु अपने से पृथक् होने का कोई अतिप्रसग भी नही है तथा एक परमाणु मे अन्य परमाणु की अपेक्षा पृथक्त्व रहने मे कोई क्षति भी नही है । इसका कारण यह है कि परमाणु स्वाश्रित होता है । मतलव यह है कि परमाणु यद्यपि पर्याय से रहित होता नही है किन्तु अपनी बुद्धि से तत् तत् विद्यमान पर्यायो को दूर करने पर परमाणु शुद्ध कहा जाता है । वह शुद्ध परमाणु तत् तत् पर्यायविशिष्ट परमाणु का आधार होता हे । इसको दृष्टात से इस तरह समझा जा सकता है । A नाम के परमाणु मे B और C पर्याय रहते हैं । मगर जव B, C पर्याय से विनिर्मुक्त शुद्ध A परमाणु की कल्पना की जाती है तव वह शुद्ध A परमाणु ही वर्तमान B, C पर्याय से विशिष्ट A परमाणु का आधार कहा जाता हे । इस तरह X नामक परमाणु भी विद्यमान Y, Z पर्याय से विशिष्ट X परमाणु का आधार होता है । A नामक परमाणु कपाल से विभिन्न होने से घटापेक्षया विभिन्न = अपने से अतिरिक्त आश्रय मे आश्रितत्वरूप पृथक्त्व B, C पर्याय से विशिष्ट परमाणु मे अवाधित ही है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि A परमाणु, जिसमे B, C पर्याय विद्यमान हैं, भावी D, E पर्याय से विशिष्ट A परमाणु का कारण कहा जाता है । वर्तमान क्षण मे A परमाणु मे D,E पर्याय अनुत्पन्न हैं, मगर उत्पन्न होनेवाले हैं । अत D, E, पर्याय से विशिष्ट A परमाणु भावी (=होनेवाला) कहा जा है और उसकी अपेक्षा B, C पर्याय से विशिष्ट A परमाणु अतीत कहा जा सकता है । कारण कार्य के पूर्व मे विद्यमान होने से आश्रय होता है । अत D, E पर्याय से विशिष्ट भावी A परमाणु का आश्रय B, C पर्यायविशिष्ट अतीत A परमाणु हो सकता हे । अत घटादि की अपेक्षा परमाणु मे विभिन्नाश्रयाश्रितत्वस्वरूप पृथक्त्व अबाधित ही है । मगर शुद्ध परमाणु की अपेक्षा शुद्ध परमाणु मे पृथक्त्व प्रसक्त नही होगा, क्योकि वह विभिन्न आश्रय मे आश्रित नही है ।

अन्यथा० इति । यहाँ यह शका करना कि → ''परमाणु तो नित्य होने से कार्य की नही वन पाता तव D, E पर्याय विशिष्ट A परमाणु का कारण B, C पर्याय से विशिष्ट A परमाणु हे, यह कहना कैसे सगत होगा ?''←ठीक नही है । इसका कारण यह हे कि नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव ये चार निक्षेप सर्वव्यापी हैं । अर्थात् शुद्ध शब्दमात्र के ये चार अर्थ होते हैं । यदि परमाणु को कार्य न माना जाय तब नामपरमाणु-स्थापनापरमाणु-भावपरमाणु प्रसिद्ध होने पर भी द्रव्यपरमाणु प्रसिद्ध वन नही पायेगा, क्योकि द्रव्यपद का प्रयोग कारण मे होता है, जैसे 'मिट्टी द्रव्यघट है' इत्यादि । निक्षेपचतुष्टय की सार्वत्रिकता के प्रतिपादक आगमवचन का व्याघात न हो इसलिए परमाणु मे भी उपर्युक्त रीति से कार्यत्व मानना मुनासिव है । जब ऐसा माना जाय तभी द्रव्यपरमाणुनिक्षेप की सिद्धि हो सकेगी । अत D, E पर्यायविशिष्ट A परमाणु को अपने कारणभूत B, C पर्यायविशिष्ट A परमाणु मे आश्रित मानना सुसगत ही है । तथा A परमाणु ओर X परमाणु मे परस्पर अपृथक्त्व की आपत्ति भी हो सकती नही है, क्योकि B-C पर्यायविशिष्ट A परमाणु का आधार शुद्ध A परमाणु है और Y-Z पर्यायविशिष्ट X परमाणु का आधार शुद्ध X परमाणु है । विभिन्नाश्रय मे आश्रित होने के सबब उन दोनो मे पृथक्त्व की उपपत्ति हो सकती है ।

ऋजवस्तु 'सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाभेदयोरवच्छेदकभेद विनापि न विरोधः । यथाहि सामान्यतोऽभावस्य

★ जयलता ★

पृथक्त्वमिति मते आश्रयताया भेदाभेदसवन्धावच्छिन्नत्वोपगमात् अतिविलक्षणघटपटादीनामेकगगनाश्रितत्वेन पृथक्त्व न स्यात्, आधाराधेययोर्भिन्ना-भिन्नत्वस्य तेनाऽभ्युपगमात् । एतेन घटपटादि-गगनयोः सर्वथा भिन्नत्वेन न भेदाभेद इति प्रत्युक्तम् ।

यत्तु 'विभिन्नाश्रयाः स्कन्धाना देशा इव देशाना स्कन्धा अपि सभवन्ति' [दृश्यता पृ १०१] इत्युक्त तन्न चारु, अवयवाऽवयव्यादीना पृथक्त्वस्याऽनुपगमात्, घटपटादिवत् तत्र सर्वथा पृथक्त्वप्रतीतेरनुदयात् । तेन देशस्कन्धादीना पार्थक्यकल्पना न युक्तिमती ।

यद्यपि 'परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्यैव स्वाश्रयत्व भाविभूताश्रयसभवेनैव वा तदाश्रितत्वमक्षतम् अन्यथा द्रव्यादिचतुष्टयस्य सार्वत्रिकत्वचनव्याघा-तापातात्' [दृश्यता १०२ पृष्ठे] इत्युक्त तदपि न मनोरमम् तत्तद्व्यभिचारस्यानान्यत्वविशेषणात् न निश्शेषचतुष्कसर्वव्याप्तिभङ्ग', सभवद्व्याप्त्यभिप्रायेणैव 'यत्र तत्र' इत्युक्तेः । इत्यमेव सिद्धान्तोक्त द्रव्यजीवनिक्षेपशून्यत्व सङ्गच्छते । तदुक्त श्रीसिद्धसेनसूरिणा तत्त्वार्थटीकाया 'यदि अनेकस्मिन्न सभवति नैतावता भवत्यव्यापिता' [त सू १/५ सिद्ध वृ] इति । न च पूर्वपर्यायविशिष्टपरमाणुरेव द्रव्यपरमाणु आदिष्टपरमाणुत्वाना परमाणूत्तरपर्यायाणा हेतुत्वादिति वाच्यम् आदिष्टपरमाणुहेतोर्द्रव्यपरमाणुत्वोपगमे भावपरमाणूच्छेदप्रसङ्गात् यत' तादृश आदिष्टपरमाणुरेव नास्ति य औपचारिकपरमाण्वन्तरस्य हेतुर्न भवति । एतेन द्रव्यजीवव्यवस्थापनेऽकलङ्केन 'मनुष्यजीवादिविशेषापेक्षया स व्यपदेशो वेदितव्य'' [त राज १/५] इति राजवर्तिके प्रतिपादित तत्प्रत्युक्तम् सिद्धेतरस्य भावजीवत्वप्रच्यवप्रसङ्गात् । प्रथमाप्रथमाद्यादेशाश्रयणे सिद्धोऽपि भावजीवो न स्यात् प्रथमसिद्धद्रव्याणामप्रथमसिद्धद्रव्य कारणत्वात् ।

अथ 'तत्प्रदेशै' सहैकत्वपरिणत्यनापन्नत्वमेव पृथक्त्वमस्तु,' नैवम् एकत्वस्याऽपृथक्त्वपर्यवसायित्वेनाऽन्त्याश्रयकल्पितत्वात् । एतेन 'एकप्रदेशभावेनाऽनवगाहित्वमेव पृथक्त्वमित्यपि निराकृतम् एकप्रदेशभावेनाऽवगाहित्वस्याऽपृथक्त्वपर्यवसायित्वेन । स्वाश्रयदोषस्याऽनिराकार्यत्वात्, 'रूप रसात् पृथक्' इत्यादिप्रतीतेरप्रामाण्यप्रसङ्गाच्चेति दिक् ।

भेदाभेदस्य जात्यन्तरत्वमभिनवोन्मेषशालिस्वप्रज्ञया निरूप्य साम्प्रत प्राचीनमतेन भेदाभेदाऽविरोध निरूपयति - ऋजव इति पूर्वोक्तमतापेक्षया विशेषद्योतनार्थम् । सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेवेति 'मृदो घटः स्याद् भिन्न. स्यादभिन्न' इति सार्वलौकिकस्वरसवाहिप्रतीतिबलादेव, भेदाभेदयो स्वतन्त्रयोः विरुद्धत्वेन पराभिमतयो' अवच्छेदकभेद विनापि = भिन्नावच्छेदकत्वमृतेऽपि । किमुत' अवच्छेदकभेदे इत्यपिशब्दार्थ' । न विरोध = सहानवस्थानलक्षणो विरोधो नास्तीत्यर्थ ।

नन्वभावत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मवत्त्वादत्यन्ताभाववदन्योन्याभावस्य स्वाभावेन सहैकत्र वृत्तित्व न स्यात् घटत्व-तदभावयोः तथादृष्टत्वात् घटत्वस्य स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावाभावरूपस्य घटभेदात्मकेन घटत्वाभावेन सह सामानाधिकरण्यविरहात् । कपिसयोग-तदभावयोरिव वा भेदाभेदयोरेकत्र समावेशेऽवच्छेदकभेदगवेषणप्रसङ्गान्न तयोरवच्छेदकभेद विना विरोधप्रच्यव इत्याशङ्कायामाह - यथाहीति । सामान्यतोऽभावस्य = अत्यन्ताभावस्य

● रमणीया ●

● भेदाभेद सबधपक्ष में विलक्षण पदार्थो में अपृथक्त्वापत्ति - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष : तच्चिन्त्यम् । अत्य० इति । जी, हजुर ! विभिन्नाश्रयाश्रितत्व भी पृथक्त्व हो सकता नहीं है । इसका कारण यह है कि विभिन्न आश्रय मे आश्रयता का भेदाभेद सबध से ग्रहण करने पर अत्यत विलक्षण घट-पट आदि भी एक गगनात्मक आश्रय मे आश्रित होने से परस्पर अपृथक् हो जायेंगे । मतलब यह है कि गगन सर्व द्रव्य का आधार है । अत घट, पट, पृथ्वी, जल, आदि विजातीय द्रव्य भी एक आकाश मे रहते है । आधार आधेय मे कथचित् भेद और कथचित् अभेद होता है । अत घट, पट, पृथ्वी, जल, इत्यादि सब द्रव्यो से गगन भिन्नाभिन्न है । अत भेदाभेदसबध से घट का अधिकरण जैसे गगन होता है वैसे पटादि का अधिकरण भी गगन ही होता है । घटप्रतियोगिकभेदाभेदसबधावच्छिन्न आधारता की भाँति पट-पृथ्वी जल आदि विजातीयद्रव्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टभेदाभेदसबधावच्छिन्न आश्रयता एक ही गगन मे रहने से उक्तसबध से घट, पट, पृथ्वी, जल आदि एकाश्रय मे आश्रित हो जाने से विभिन्न आश्रय मे आश्रित हो सकते नहीं है । अत विभिन्नाश्रयाश्रितत्वलक्षण पृथक्त्व के न होने से घट, पट, पृथ्वी, जल आदि विलक्षण पदार्थ भी परस्पर अपृथक् हो जायेंगे । इस अतिप्रसग की वजह भेदाभेद नाम के वृत्तितानियामक सबध से विभिन्न आश्रय मे आश्रय करना यह पृथक्त्व हो सकता नहीं है ।

● भेद और अभेद मे विरोधाभाव - ऋजुमत ●

ऋजवस्तु । भेद और अभेद का एक धर्मी मे समावेश करने के विषय मे व्याख्याकार श्रीमद्जी अन्य प्राचीन विद्वानो का मत बताते है । इन विद्वान् मनीषियो का यह कथन है कि भेद और अभेद मे वस्तुत विरोध ही नहीं है, भले ही एक धर्मी

प्रतियोगिव्यधिकरणत्वे क्लृप्तेऽपि सयोगाद्यभावेऽतथात्वप्रतीतेः स नियमः त्यज्यते तथा भावाभावयोरेकत्र वृत्तावच्छेदकभेदनियमोऽप्येकत्र भेदाभेदयोरबाधितानुभवबलादत्र त्यज्यते । अत एव न सकर-व्यतिकर-सशयानवस्था-दृष्टहान्यदृष्टकल्पनाः ।

★ जयलता ★

प्रतियोगिव्यधिकरणत्वे = स्वप्रतियोग्यधिकरणनिरूपितवृत्तित्वविरहे, क्लृप्तेऽपि = सिद्धे सत्यपि, सयोगाद्यभावे = कपिसयोगाद्यभावे अतथात्वप्रतीते = प्रतियोगिवैयधिकरण्यानात्मकप्रतीतिबलात् स नियम = अत्यन्ताभावस्य स्वप्रतियोगिवैयधिकरण्यप्रतिबन्धः त्यज्यते तथा भावाभावयो = भावात्मकाभेद-भेदयोः एकत्र वृत्तौ = एकाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वे अवच्छेदकभेदनियमोऽपीति भिन्नावच्छेदकावच्छिन्नत्वव्याप्यत्व, अपिशब्देनाऽत्यन्ताभाव-प्रतियोगिवैयधिकरण्यव्याप्तिसमुच्चयः । एकत्र भेदाभेदयोरबाधितानुभवबलात् = समानाधिकरणानुयोगिक - भेदाभेदोभयप्रतियोगिकनिरवच्छिन्नवृत्तित्वाव-गाहिस्वारसिकप्रतीतिमहिम्ना अत्र = धर्मधर्मिभावस्थले, त्यज्यते, अवच्छेदकभेदनियम इत्यत्रान्वीयते । अत एवाऽन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वमित्युक्तावपि न क्षति , नव्यमते घटाभावाभावघटयोरिवाऽन्योन्याभाव-तदभावयोरपि गुण-गुण्यादौ निरवच्छिन्नवृत्तित्वसभवात् ।

अन्योन्यानुविद्धभेदाभेदात्मक वस्तु इति उपन्यस्ते परे उपालब्धारो भवन्ति । तथाहि वस्तु येन स्वभावेन भेदस्याऽधिकरण तेनाऽभेदस्याधिकरण येन च स्वभावेनाऽभेदस्याधिकरण तेन भेदस्याऽपीति सकरदोष 'येन रूपेण यद् यदधिकरण तेनैव रूपेण तस्य तदभावाधिकरणत्वप्रसङ्गः सकर' इति वचनात् । 'सर्वेषा युगप्रत्प्राप्तिः सकर' इत्यन्ये । 'परस्परासमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशः सकर' इतीतरे । तथा येन स्वभावेन भेदस्तेनैवाऽभेदः येन चाऽभेदस्तेनैव भेद इति व्यतिकर , परस्परविषयगमनस्यैव व्यतिकरलक्षणत्वात् । ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्यत्वात् केन रूपेण भेदः केन चाऽभेद इति सशय । यद्वा वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वे भेदात्मकमिदमाहोस्वित् अभेदात्मकमिति निर्णयाभावात् सशयः । 'येन स्वभावेन भेदस्तेनैवाऽभेद' इत्युक्तौ विरोधात् भिन्नाभ्या स्वभावाभ्या तदङ्गीकारे तयोरपि तत्र वृत्तौ स्वभावभेदगवेषणायामनवस्था, अप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रान्त्यभावस्याऽनवस्थापदार्थत्वात् । एव ताभ्या स्वभावाभ्या भेदाभेदस्वभावयोः भेदाभेदस्वभावाभ्यां च तयोः स्वभावयोः वृत्तित्वे परस्पराश्रय॰, स्वापेक्षितापेक्षितापेक्षाया चक्रक, स्वापेक्षायाञ्चाऽऽत्माश्रय॰ । पर्यायेभ्यो द्रव्यस्य

● रमणीया ●

मे भिन्न भिन्न अवच्छेदक का अवलम्बन किया न जाय । इसका कारण यह हे कि 'घट मिट्टी से कथचित् भिन्न है ओर कथचित् अभिन्न है' ऐसी सब लोगो को स्वारसिक प्रतीति होती है । जब सब लोगो को स्वरसत धर्म-धर्मी मे भेदाभेद की प्रतीति होती है, तव भेद और अभेद मे विरोध मानना और उनका एक धर्मी मे समावेश करने पर विरोधपरिहार के लिए अवच्छेदक भेद की याचना करना - यह नामुनासिव है । अत धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी, स्कध-देश, ततु-पटआदि मे निरवच्छिन्नवृत्तित्वविशिष्ट भेद ओर अभेद का समावेश हो सकता है ।

शका : भाव और अभाव का विरोध तो अनादि काल से प्रसिद्ध ही हे । घटत्व और घटत्वाभाव कभी एक अधिकरण मे रहता हो- ऐसा न तो देखा गया है ओर न तो सुना गया है । हाँ, यह सकता हे कि अव्याप्यवृत्ति प्रतियोगिक अभाव हो तो उसका एक धर्मी मे समावेश भिन्न भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा हो सकता है । जैसे एक ही वृक्ष मे अव्याप्यवृत्ति कपिसयोग और उसका अभाव क्रमश शाखा और मूलात्मक अवच्छेकभेदेन रह सकते हैं । वैसे यदि भेद और अभेद का एक धर्मी मे समावेश करना हो तो अवच्छेदकभेद का अनुसरण करना ही होगा । अन्यथा अवच्छेदकभेद का अनुसरण किये विना ही 'वृक्ष कपिसयोगी कपिसयोगाभाववाश्च' इस प्रतीति को प्रामाणिक माननी होगी ।

समाधान : यथाहि सा॰ इति । अजी, हजरत ! आपने घाट घाट का पानी कहाँ पिया है ? देखिये, जेसे भाव और अभाव का सामान्यतो विरोध घटत्वाभाव और घटत्व आदि स्थल मे प्रसिद्ध होने से अभाव मे प्रतियोगिवैयधिकरण्य (= अपने प्रतियोगी के अधिकरण मे न रहने) की व्याप्ति आवश्यक होती है फिर भी अभावत्वावच्छेदेन प्रतियोगिवैयधिकरण्यव्याप्यत्व माना गया नही है, क्योकि कपिसयोग और कपिसयोगाभाव का वृक्षात्मक एकाधिकरण मे रहना तो सर्वजनविदित है । ऐसा कभी होता नही है कि वृक्ष की एक शाखा मे वदर का सयोग होने पर वृक्ष की सव शाखा, प्रशाखा, पर्ण, फल, फूल, मूल आदि सव भाग मे भी वदर का सयोग हो जाय या मूलादि मे वदर का सयोग न होने पर जिस शाखा पर वदर बैठा है उस शाखा मे भी वदर का सयोग नौ-दो ग्यारह हो जाय । मतलव सार्वजनिक प्रतीति के बल पर जैसे अभाव मे स्वप्रतियोगिवेयधिकरण्य के नियम (= व्याप्ति) का त्याग किया जाता है ठीक वैसे ही भाव ओर अभाव मे एकाधिकरणनिरूपित-भिन्नावच्छेदकावच्छिन्न वृत्तिता के नियम का भी सार्वलौकिक प्रतीति के वल पर त्याग किया जाता है, क्योकि धर्म-धर्मी मे, अवयव-अवयवी मे भेद और अभेद का अवाधितानुभव होता है । यदि भेद और अभेद का एक धर्मी मे समावेश होने मे वाधा होती तव तो ठीक है उस वाधा (विरोध) को दूर करने के लिए अवच्छेदकभेद का अनुसरण किया जाय । मगर यहॉ तो अवाधितरूप से धर्मभेदाभेद का धर्मी मे भान हो रहा हे । अत भेदाभेद का एक धर्मी मे समावेश (=वृत्तिता) भिन्नावच्छेदकावच्छिन्नत्व का व्याप्य है - यह नियम (=व्याप्ति) धर्म-धर्मिभाव स्थल मे छोड दिया जाता है । भले 'वृक्ष शाखावच्छेदेन कपिसयोगी, मूलावच्छेदेन न कपिसयोगी' इत्यादि स्थल मे वृक्षात्मक एक धर्मी मे भिन्न भिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा भेद और अभेद का समावेश प्रसिद्ध हो ।

★ जयलता ★

सर्वथाभिन्नत्वात् तद्भेदाऽभेदकल्पने दृष्टस्य = सर्वथाभेदस्य हानि अदृष्टस्य = भेदानुविद्धाऽभेदस्य च कल्पनमित्याह - अत एवेति । अबाधिताऽनुभवबलादेवेत्यर्थः । नेति । अय भावः अनुभवानुपातिस्वभावाबहिर्भूतस्य एकान्तवादिपरिकल्पितस्य भेदादेः असम्भवात् न सकरः, भेदाभेदवस्तुनः स्वभावनियतत्वात् न व्यतिकरादिप्रसङ्गः । एतेन वैयधिकरण्याऽप्रतिप्रत्ति-विषयव्यवस्थाहानि-रूपान्तरप्रसङ्ग-छल-मिथ्यात्वादिदोषा एकान्तवादिभिरापादिता[1] प्रत्युक्ता । अनुभवस्यैव नः शरणत्वात् ।

वस्तुतस्तु परैः प्रसङ्गः एव कर्तुं न शक्यते, केवलभेदादेरदर्शनात् तत्र भेदादिपदशक्तिग्रहाऽसम्भवात् तत्प्रयोगाऽनुपपत्तेः । तदुक्त शास्त्रवार्तासमुच्चये 'नाऽभेदो भेदरहितो भेदो वाऽभेदवर्जितः । केवलोऽस्ति यतस्तेन कुतस्तत्र विकल्पनम् ? ॥ [शा स स्त ७/३९] एतेन दृष्टहान्यदृष्टकल्पनादूषणयामलवज्रप्रहारोऽपि एकान्तवादाचलपतित' प्रदर्शित ।

अत एव 'यदि चाऽन्येन स्वभावेन भेदोऽन्येन च स्वभावेनाऽभेद इत्यभ्युपगम्यते तदाऽन्यद्द्रव्यपर्यायाख्यमेक वस्तु तयोरन्ये एव चाऽन्योन्यभिन्ना द्रव्यपर्याया इति नैकमनेकात्मक वस्तु वस्तुतः समर्थित स्यात्' [अने नि पृ ३] इति जितारिणा अनेकान्तवादनिरासे उक्त तन्निरस्तम् । अत्रत्या' शङ्करवाचस्पतिमिश्रधर्मकीर्त-श्रीनिवासरामानुजप्रमुखवचननिरासपराः तर्कास्तु मत्कृतमोदरत्नाभिधानाया' भाषारहस्यविवरणटीकायाः समवसेयाः ।

परेषामपि धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदावभिमतौ, तदुक्त तत्त्ववैशारद्या मुक्ताग्रहेण वाचस्पतिमिश्रेणाऽपि 'अनुभव एव हि धर्मिणो धर्मादीना भेदाभेदौ व्यवस्थापयति । न ह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीना धर्मिणो धर्मिरूपवद् धर्मादित्वम् । नाऽप्यैकान्तिके भेदे, गवाश्ववद् धर्मादित्वम् । स चाऽनुभवोऽनैकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजननाऽपायधर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्मांश्च परस्परतो व्यावर्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयते इति । तदनुसारिणो वय, न तदतिवर्त्य स्वेच्छया व्यवस्थापयितुमीश्महे ''[त वै] इति । भोजदेवेनाऽपि राजमार्तण्डे उक्तम् - ' धर्मिणश्च भिन्नाऽभिन्नरूपतया सर्वत्राऽनुगम'' [रा मा पा यो समा पा सू १३] इति । पार्थसारमिश्रेणाऽपि शास्त्रदीपिकायामभिहितम् - ''धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदो द्रव्यरूपेण चाऽभेद' । तथाऽवयविनः स्वरूपेणाऽवयवैरभेदोऽवयवान्तररूपेण त्ववयवान्तरैः भेद इत्यूहनीयम्'' [शा दी पृ ३०५] इति कियन्ति परसवादवचनानि दर्शयामः ? तथापि न ते एतावता परितोषस्तर्हि अग्रे[2] तानि प्रदर्शयाम' । मोत्कण्ठीभव ।

● रमणीया ●

● भेदाभेदपक्ष में दोषषट्क का उद्भावन ●

यहाँ एकातवादी स्याद्वादी के प्रति आक्षेप करते हैं कि → ''द्रव्य को पर्याय से भिन्नाऽभिन्न मानने पर सकर आदि ६ दोष प्रसक्त होते हैं । वे इस तरह (१) जिस स्वरूप से द्रव्य पर्यायप्रतियोगिक भेद का अधिकरण होता है - उसी रूप से पर्यायाऽभेद का अधिकरण होने से, एव जिस स्वरूप से द्रव्य पर्यायाऽभेद का अधिकरण होता है उसी स्वरूप मे पर्यायभेद का अधिकरण होने से सकर दोष आता है । अर्थात् जिस रूप मे द्रव्य मे भेद होता है उसी रूप से अभेद (भेदाभाव) होने का प्रसग उपस्थित होता है । (२) जिस स्वरूप से द्रव्य मे भेद का सद्भाव होता है, उसी रूप से उसी द्रव्य मे अभेद का सद्भाव होने से व्यतिकर दोष प्रसक्त होता है (३) व्यतिकर दोष की वजह वस्तु का भेदरूप या अभेदरूप असाधारण धर्म के द्वारा निश्चय करने की शक्ति का अभाव होने के कारण सशय नाम का दोष उपस्थित होता है । (४) तथा जिस स्वभाव से जहाँ भेद का अस्तित्व होगा उसी स्वभाव से वहाँ अभेद का भी अस्तित्व माना जायेगा तो दोनो मे अभेद प्रसक्त होगा । इसलिए भिन्न स्वभावो के द्वारा भेद, अभेद का अभ्युपगम करना होगा । फिर जिन भिन्न स्वभावों का स्वीकार किया जायेगा उनका भी एक स्वभाव से अस्तित्व मानने पर विरोध की आपत्ति आयेगी । अतएव उन भिन्न स्वभावो का भी एकत्र अस्तित्व उपपन्न करने के लिए अन्य भिन्न स्वभावो की कल्पना करनी होगी और यही स्थिति अन्य भिन्न स्वभावों के सम्बन्ध मे भी उपस्थित होगी । फलत अनन्त स्वभावभेद की कल्पना आवश्यक होने से अनवस्था होगी (५) एव द्रव्यपर्यायभेदाभेद पक्ष मे द्रव्य-पर्याय के बीच दृष्ट भेद का त्याग होने से दृष्टहानि नाम का दोष होता हे । (६) द्रव्य-पर्याय मे भेदाऽभेद तो कभी दृष्टिगोचर या श्रवणगोचर भी हुआ नही है, जिसकी कल्पना स्याद्वादी करते हैं । अत अदृष्टकल्पना नाम का दोष भी स्याद्वादी के मत्थे पर मढा जाता है ।'' ←

● भेदाभेदपक्ष मे दोष निरवकाश - स्याद्वादी ●

अत एव० इति । मगर एकान्तवादी की ओर से बताये गये ये सारे दोष परस्पराऽनुविद्ध भेद-अभेद पक्ष का स्वीकार करने पर उपस्थित नही होते । द्रव्य-गुण-पर्याय में भेद एव अभेद अनुभव से सिद्ध होने से उपर्युक्त दोषो को अवकाश नही है । किसी एक ही रूप से वस्तु मे भेद-अभेद मान्य न होने से भेदाभेद मे सकर दोष की प्रसक्ति होती नही है । अत एव व्यतिकर दोष का भी अवकाश नही हे, क्योकि भेद जिस रूप से द्रव्य मे रहता है, उसी रूप से अभेद रहता नही है और द्रव्य मे

[1]-विस्तरत एतद्दोषापादाननिराकरणार्थमत्र द्वितीयखण्डे पञ्चमकारिकादौ दर्शित श्रीप्रभानन्दसूरिकृतविवरणमालोकयन्तु तदर्थिन । २-दृश्यता १४५ तमे पृष्ठे ।

भेदश्च 'इदमस्माद्भिन्नमि'ति व्यपदेशनियामको व्यावृत्तिविशेषः । स चैकद्रव्यगुणपर्यायेष्वपि सभवति । अय भावः - यथाहिः सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व हारत्व सूत्रमुक्ताफलाधारतावच्छेदक तथा गुणपर्यायाणा तादृश द्रव्यत्वमपि द्रव्यत्वमपि तथा । यथा च हारत्व-सूत्रत्व-मुक्ताफलत्वाच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीतिस्तथा द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीतिरपि ।

★ जयलता ★

साम्प्रत भेदलक्षण दर्शयति - भेदश्चेति । 'इद अस्माद्भिन्नमि'ति 'घटादिक पदादेर्भिन्नमि'ति व्यपदेशनियामक = शब्दप्रयोगनियामकः, व्यपदेशश्चोपलक्षणमवबोधस्य । व्यावृत्तिविशेष· इत्येव भेदलक्षण शेषभागश्च परिचायकः पूर्वभागस्य भेदलक्षणप्रविष्टत्वोपगमेऽन्योन्याश्रयो ज्ञप्तौ दुर्निवारः स्यात् । स चेति व्यावृत्तिविशेषश्च, एकद्रव्यगुणपर्यायेष्वपि = एकस्य द्रव्यस्याऽपि गुणेषु पर्यायेषु च सभवति । अपिशब्देनाऽनेकद्रव्यगुणपर्यायसमुच्चयः । 'इदमेव दृष्टान्तेन दृढयति - अय भाव इति । सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व हारत्वमिति । षष्ठ्यर्थो वृत्तित्व यथा 'घटस्य रूपमि'त्यत्र घटवृत्तिरूपमितिबोधस्तद्वत्प्रकृते सूत्रग्रथितमुक्ताफलवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वमेव हारत्वमित्यर्थः । 'अय मुक्ताफलवान्' इत्याकारिका या सूत्रग्रथितमुक्ताफलविषयिणी अपेक्षाबुद्धिः तद्विषयत्व सूत्रग्रथितमुक्ताफलनिष्ठ हारत्वम् । इद च नैयायिकराद्धान्तमनुसृत्योक्तम्, तैर्नियतारम्भवादिभिः तन्तुकपालाभ्यामिव सूत्रमुक्ताफलैरारब्धमतिरिक्त हारद्रव्य विजातीयसयोगविरहात् नाऽभ्युपगम्यते, यत्र हारत्वजातिः समवेयात् । अतः हारत्व न जातिरूप किन्तूपदर्शितसखण्डोपाधिस्वरूपमेव तैर्जातेर्व्यासज्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् । प्रकृते सूत्रग्रथितमुक्ताफलात्मकहारस्यैव सूत्रमुक्ताफलानामाधारत्वमिति हारत्वमाधारतावच्छेदक सूत्रत्वमुक्ताफलत्वे आधेयतावच्छेदके । तथा = तद्वत् द्रव्य गुणपर्यायाधिकरणमिति गुणपर्यायाणा तादृश = गुणपर्यायवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्वरूप द्रव्यत्वमपि तथा = गुणपर्यायाधारतावच्छेदकम् । एतेन द्रव्यत्वस्याऽतिरिक्तजातित्वकल्पना प्रत्युक्ता गुणपर्यायातिरिक्तद्रव्यानुपलम्भात् । न हि नीलादिगुण-पिण्डशरावघटादिपर्यायवियुत मृद्द्रव्य दृग्गोचरीभूतम् । वस्तुतस्तु मृत्त्वस्याऽपि पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वमिति ध्येयम् ।

शुक्लसूत्रग्रथितमुक्ताफलस्थले शुक्लत्व हारत्वादिव्यापक हारत्वादि शुक्लत्वव्याप्यमिति हारत्व-सूत्रत्व-मुक्ताफलात्वावच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीति = शुक्लवर्णविषयिणी बुद्धिः भवति तथा द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीति = 'सद् द्रव्य सन् गुणः सन् पर्यायः' इत्याकारिका

● रमणीया ●

पर्याय का अभेद जिस रूप से रहता है, उसी रूप से भेद रहता नही है । अतएव सशय भी निरवकाश है, क्योकि वस्तु भेदाभेद उभयात्मक ही है । इस तरह अनवस्थादोष भी भेदाऽभेद पक्ष मे सभव नही है । भेद और अभेद दोनो अन्य निरपेक्ष अपने स्वरूप से ही एकत्र अवस्थित होते हैं । यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने से विशेषत निरूपण की आवश्यकता नही है । हाथ कगन को आरसी क्या ? इसी तरह दृष्टहानि दोष भी भेदाभेद पक्ष मे नामुमकिन है, क्योकि एकान्तभेद या एकान्ताऽभेद इस जगत मे है ही नही । जो चीज नही है, उसका अस्वीकार करना दोषात्मक नही है । विद्यमान पदार्थ का अपलाप करना ही दृष्टहानिरूप दोष हैं । तथा अदृष्टकल्पना दोष भी गुण-गुणी आदि के भेदाभेद पक्ष मे अप्रसक्त हे, क्योकि इन दोनो का भेदाभेद दृष्ट है - प्रत्यक्षत प्रतीत है । प्रमाणसिद्ध का इकरार करने मे (गौरवादि) दोष होता नही हे, किन्तु इन्कार करने मे ही-यह तो सर्वजनविदित ही हे । अत· भेदाभेदपक्ष मे कोई दूषण नही है । इस तरह प्रत्यक्ष के सहकार से द्रव्य मे भेद और अभेद अवच्छेदकभेद के बिना भी रह सकते है - यह निर्विवादरूप से माना जा सकता है ।

● एक द्रव्य के गुण-पर्याय मे भेद सभव ●

भेदश्च० इति । वस्तुत भेद दूसरा कुछ न हो कर 'इद अस्मात् भिन्न' अर्थात्' यह इससे भिन्न है' इस व्यवहार का नियामक व्यावृत्तिविशेष ही है । यह व्यावृत्तिविशेषस्वरूप भेद तो एक द्रव्य के गुण और पर्याय मे भी मुमकिन है । इसको समझने के लिए हार का दृष्टात उपयोगी होगा । देखिए, सूत्र से गूथा हुआ मोती का हार ही मोती और सूत्र (सूत का धागा) दोनो का आधार होता है । हार मे सूत्र और मोती की जो आधारता है उसका अवच्छेदक हारत्व, जो कि सूत्र से ग्रथित मोतीओ मे अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयता स्वरूप है, होता है । हारत्व जातिरूप नही बल्कि उक्त विषयताविशेषस्वरूप है। इसका कारण यह हे कि हार के घटक सूत्र ओर मोती विजातीय द्रव्य होने से हारत्व को जाति मानने पर सूत्रत्व और मुक्ताफलत्व जाति का हार मे साकर्य होगा अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सूत्र से ग्रथित मोती ही जब विलक्षण अपेक्षाबुद्धि के विषय वनते है तव हार शब्द से व्यवहृत होते हैं । सूत्र और मोती से अतिरिक्त कोई हार नाम की चीज नही है । अत हारत्व अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्वरूप होता हे-ऐसा माना जाता हे । (यह बात विजातीय द्रव्य मे कार्य-कारणभाव को मान्यता नही देनेवाले नियतारभवादी नैयायिक दर्शन के अनुसार यहाँ बताई गई है-यह ध्यान मे रहे) प्रस्तुत मे जैसे अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्वरूप हारत्व सूत्र और मोती की आधारता का अवच्छेदक होता है । ठीक वैसे ही अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्वरूप द्रव्यत्व भी गुण और पर्याय की आधारता का अवच्छेदक होता है । जैसे श्वेत सूत से निर्मित शुक्ल मोती के हार मे सूत्रत्व, मोतीत्व (मुक्ताफलत्व) और हारत्व अवच्छेदन शुक्ल वर्ण की प्रतीति होती है । ठीक वैसे ही द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व अवच्छेदेन सत्ता की प्रतीति होती है । यद्यपि सूत्रत्व आदि धर्म त्रय अवच्छेदेन

यथा च शुक्लत्वाद्यवच्छिन्ने हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्तथा सत्त्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेद इति । तदुक्तम् —

"सद्दव्व सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जाओत्ति वित्थारो ।
जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो ॥ [प्र सा अ २/गा १५]त्ति ।

विस्तार = तत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताः प्रकारताः ।

★ जयलता ★

बुद्धिरपि भवितुमर्हति, शुक्लगुणस्थानीयसत्तागुणस्य हारत्वादिस्थानीयद्रव्यत्वादिव्यापकत्वादिति गम्यते । यथा च शुक्लत्वावच्छिन्ने = शुक्लगुणविशिष्टे सूत्रादौ हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदः = हारत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः, तथा सत्त्वावच्छिन्ने = सत्त्वविशिष्टे = सत्तागुणे द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेदः = द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः, 'यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफल'मिति प्रतीतिवत् 'एकत्र द्रव्ये यः सत्तागुणः स न द्रव्यं न सत्त्वाऽन्यो गुणो न पर्याय'इतिप्रतीतेरव्याहतत्वात् ।

अत्रैव प्रवचनसारगाथा सवादार्थं प्रदर्शयति - तदुक्तमिति । कुन्दकुन्दस्वामिना इति गम्यते । सद्दव्वेति । अत्र अमृतचन्द्रस्वामिना एवं→"यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, 'हार इति सूत्रमिति मुक्ताफल'मिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्यं 'द्रव्यमिति गुण इति पर्याय' इति त्रेधा विस्तार्यते । यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः 'शुक्लो हारः, शुक्लं सूत्रं, शुक्लं मुक्ताफल'मिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुणः 'सद्द्रव्यं, सद्गुणः, सत्पर्याय' इति त्रेधा विस्तार्यते । यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याऽभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः । तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणः तन्न द्रव्यं नाऽन्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याऽभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः" [प्र सा अ व्या २/१५]

जयसेनस्तु "सद् द्रव्यं सच्च गुणः सच्चैव पर्यायः इति सत्तागुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तारः । तथाहि - यथा मुक्ताफलहारे सत्तागुणस्थानीयो योऽसौ शुक्लगुणः स प्रदेशाऽभेदेन किं किं भण्यते - शुक्लो हार इति शुक्लं सूत्रमिति शुक्लं मुक्ताफलमिति भण्यते । यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा तैः त्रिभिः प्रदेशाऽभेदेन शुक्लो गुणो भण्यते इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् । तद्भाव इति कोऽर्थः ? हारसूत्रमुक्ताफलानां शुक्लगुणेन सह तन्मयत्वं प्रदेशाऽभिन्नत्वमिति तथा मुक्ताऽऽत्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुणः स प्रदेशाऽभेदेन किं किं भण्यते ? सत्तालक्षणः परमात्मपदार्थ इति, सत्तालक्षणः केवलज्ञानादिगुण इति, सत्तालक्षणः सिद्धपर्याय इति भण्यते । यश्च परमात्मपदार्थः केवलज्ञानादिगुणः सिद्धत्वपर्याय इति तैश्च त्रिभिः शुद्धसत्तागुणो भण्यते इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् । तद्भावस्येति कोऽर्थः । परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुण-सिद्धत्वपर्यायाणां शुद्धसत्तागुणेन सहादिभेदेऽपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमपि । जो खलु तस्स अभावो = यस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुटं सत्तादिभेदविवक्षायामभावः सो तदभावो= स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभाव इति भण्यते । स च तदभावः किं भण्यते ? अतब्भावो = तदभावस्तन्मयत्वम् । किं चाऽतद्भावः ? सत्तालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः । तद्यथा- यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्रं मुक्ताफलं वा । हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति । एवं परस्परं प्रदेशाऽभेदेऽपि योऽसौ सत्तादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याऽभावस्तद्भावो भण्यते । स च तद्भावः पुनरपि किं भण्यते ? अतद्भावः सत्तालक्षणप्रयोजनादिभेद इति । तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा मुक्तजीवकेवलज्ञानादिगुणसिद्धपर्यायैश्च शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति । इत्येवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ सत्तादिभेदः सस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याऽभावस्तद्भावो भण्यते । स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते ? अतद्भावः = सत्तालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः । यथाऽत्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाऽभेदः स्थापितस्तथा यथासम्भवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्रायः" [प्र सा ज वृ २/१५] इति व्याख्यातवान् ।

विस्तार इति । तत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिता प्रकारता इति । भेदनयार्पितप्रातिस्विकतत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिताः विशेषणता इत्यर्थः । अत्र सद्दव्व इति श्लोकस्थस्य 'वित्थारो' इति पदस्यानुकरणेन विस्तारः इति प्रतीकं विहितम्, अन्यथा 'विस्तारः प्रथने' [सि हे.५/३/६०]

● रमणीया ●

शुक्ल वर्ण की प्रतीति होती है। मगर शुक्ल वर्णावच्छेदेन हार का अभेद नहीं है, क्योंकि शुक्लरूप तो सूत्र और मोती मे भी रहता है, जो हार से अभिन्न नहीं है। अत शुक्लवर्ण (=शुक्लत्व) अवच्छेदेन हारत्वावच्छिन्नप्रतियोगिक भेद रहेगा। शुक्लवर्ण से अवच्छिन्न (विशिष्ट) केवल हार नहीं है किन्तु सूत्र, मोती और हार है। समुदित सूत्र, मोती और हार मे तो हारत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक भेद अबाधित ही है। इस तरह सत्तात्वावच्छिन्न मे द्रव्यत्वावच्छिन्न का भेद रहता है। प्रवचनसार मे कहा भी गया है कि 'सत् द्रव्य, सत् गुण सत् पर्याय -यह सब विस्तार है। वस्तुत जो उसका अभाव होता है। वह ही तदभाव है जो अतद्भाव कहा जाता है'। यहाँ गाथा मे जो 'विस्तार' शब्द है उसका अर्थ है तत् तत् धर्म से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित

नन्वेव 'वृक्षो वनमि'तिवत् 'सद्द्रव्यमि'ति प्रयोगो न स्यात् । 'यत्र हि यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकापेक्षाबुद्धिविषयत्व व्यवहारौपयिक

★ जयलता ★

इति श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनसूत्रेण 'विस्तर' इत्येव कर्तव्य स्यादिति ज्ञेयम् ।

प्रसगाच्छिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं विषयादिपदार्थो दर्श्यते । तथाहि विषयाः त्रिविधाः प्रकारससर्गविशेष्यभेदाद् । विषयताऽपि त्रिधा - प्रकारता-ससर्गता-विशेष्यताभेदात् । प्रकारात्मके विषये ज्ञानस्य सबन्धः प्रकारता । ससर्गलक्षणे विषये ज्ञानस्य सबन्धः ससर्गता । विशेष्यरूपे विषये ज्ञानस्य सबन्धो विशेष्यता । ज्ञाने विषयस्य सम्बन्धो विषयिता । साऽपि त्रिधा प्रकारिता-ससर्गिता-विशेष्यिताभेदात् । प्रकाराख्यस्य विषयस्य ज्ञाने सबधः प्रकारिता, ससर्गाभिधानस्य विषयस्य बोधे सम्बन्धः ससर्गिता, विशेष्यनाम्नो विषयस्य च विज्ञाने सम्बन्धो विशेष्यिता । यद्धर्मविशिष्टस्य यत्र येन सबन्धेनाऽन्वयः तन्निष्ठप्रकारतायाः स धर्मः स च सम्बन्धोऽवच्छेदको भवति, यथा 'नीलो घट' इत्यत्र नीलपदार्थनिष्ठप्रकारताया धर्मविधयाऽवच्छेदक नीलत्व सम्बन्धविधयाऽवच्छेदकः अभेदससर्गः । यद्धर्मविशिष्टेऽन्वयो भवति स धर्मो विशेष्यताऽवच्छेदको भवति । तथा च 'नीलो घट' इतिवाक्यात् नीलत्वावच्छिन्नाऽभेदाससर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेष्यताको बोधो जायते । एव प्रकृते 'सद् द्रव्य सश्च गुणः सश्च पर्याय' इत्यत्र भेदनयात् द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्वाच्छिन्ना या विशेष्यताः तन्निरूपिता सत्त्वत्वाऽवच्छिन्नप्रकारता एव विषयनिष्ठो विस्तारः । तादृशप्रकारतानिरूपितप्रकारिता एव ज्ञाननिष्ठो विस्तारः ।

समव्याप्ययोरेवाभेदान्वयबोधाभ्युपगन्ता नव्यनैयायिकोऽधुना शङ्कते - नन्विति । एव = द्रव्यत्वस्य सत्त्वाऽव्यापकत्वे सत्त्वाऽसमनियतत्वे वा । 'वृक्षो वनमि'तिवत् 'सद् द्रव्यमि'ति प्रयोगो न स्यादिति । सामानाधिकरण्येन एकत्वविशिष्टवृक्षत्वस्य वृक्षसमूहवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपवनत्वा-ऽसमनियतत्वात् यथा 'वृक्षो वनमि'ति शब्दप्रयोगो न भवति तथैव द्रव्यत्वस्य सत्त्वाऽसमनियतत्वात् 'सद् द्रव्यमि'त्यपि भाषाप्रयोगो न स्यात् । न चेष्टापत्तिः कर्तुं शक्या, अपसिद्धान्त-प्रसिद्धव्यवहारापलापादिप्रसङ्गात् । तर्ह्यभेदेनाऽन्वयबोधः कुत्र कस्य भवतीत्याशङ्कायां नव्यनैयायिक आह - यत्र = प्रमेयादौ धर्मिणि हि यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकापेक्षाबुद्धिविषयत्व = अभिधेयत्वादिधर्मावच्छिन्नाऽभिधेयादिनिष्ठप्रकारताकापेक्षाबुद्धिनिष्ठविशेष्यि-

● रमणीया ●

प्रकारता । आशय यह है कि - 'मिट्टी घट है, मिट्टी कपाल है ओर मिट्टी ही शराव हे' इत्याकारक प्रतीति विस्तार अवगाही कही जा सकती है, क्योकि यहाँ घटत्व, कपालत्व, शरावत्व धर्म से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित भिन्न भिन्न प्रकारता का भान होता है । घटत्व आदि विशेष्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित तीन प्रकारता, जो कि मिट्टी मे रहती हैं, ही विस्तारशब्द से अभिमत है । ऐसे प्रस्तुत मे 'सत्तावत् द्रव्य, सत्तावान् गुण , सत्तावान् पर्याय ' यह प्रतीति सत्तात्मक एक ही प्रकार में द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्वस्वरूप विशेष्यतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित अनेक प्रकारता का अवगाहन करती हैं । अनेक विशेष्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित भिन्न भिन्न प्रकारता, जो एक ही प्रकारतावच्छेदकावच्छिन्न मे भासमान होती हैं, ही यहाँ विस्तारशब्द से प्रतिपाद्य है ।

नैयायिक :- नन्वेव० इति । यदि आप गुणपर्यायापेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व को ही द्रव्य मानते हे तब तो जेसे 'वृक्ष वनम्' यह प्रतीति नही होती ठीक वेसे ही 'सत् द्रव्य' यह प्रतीति भी न होगी, क्योकि यह एक नियम है कि जिस धर्मी मे यत्धर्मावच्छिन्नप्रकारक अपेक्षाबुद्धि की विषयता लोकप्रसिद्ध शाब्दव्यवहार की उपायभूत होती है वह विषयता तद्धर्म अवच्छेदेन अभिन्नतया अन्वित (सबद्ध) होती है । आशय यह है कि 'वृक्षसमुदायो वनम्' यह प्रसिद्ध प्रयोग हे । वृक्षसमूह से अतिरिक्त कोई चीज वन नही है किन्तु वृक्षसमुदाय की वन है । समूह भी प्रत्येक से अतिरिक्त होता नही हैं किन्तु प्रत्येकस्वरूप ही होता हे । फिर भी एक व्यक्ति मे समुदाय या एक वृक्ष मे वन का व्यवहार होता नही है । अत अनेक व्यक्तिविषयक अपेक्षावृद्धि की विषयता ही समुदाय कही जाती है एव नानाविध वृक्ष मे अपेक्षाबुद्धिविशेष की जो विषयता होती हे वही वन कही जाती है । यह विषयता ही लोकप्रसिद्ध तादृश शाब्दिक व्यवहार मे निमित्त होती है । शाब्दबोध मे यह विषयताविशेष जिस धर्मी मे रहती हे वह उस धर्मी मे अपेक्षा बुद्धि विशेषप्रकारतावच्छेदक तद्धर्मावच्छेदेन ही अभेदसबध से अन्वित होती हे । अर्थात् शाब्दिक व्यवहार की उपायभूत विषयता का अवगाहन करनेवाली अपेक्षाबुद्धिविशेष की प्रकारताख्यविषयता के अवच्छेदकीभूत धर्मावच्छेदेन तादृशअपेक्षाबुद्धि के विशेष्य मे तादृश अपेक्षाबुद्धिविषयता का तादात्म्यसबध से अन्वय होता है - यह शाब्दबोधस्थलीय व्युत्पत्ति है । जेसे 'वृक्षा वन' यहाँ वृक्षनिष्ठबहुत्वधर्मावच्छिन्नप्रकारक अपेक्षाबुद्धिविशेष का विषयत्व 'वन' पदप्रयोग का उपायभूत होने से तादृशविषयताविशेषस्वरूप वन उस अपेक्षाबुद्धि के विशेष्यभूत वृक्ष मे बहुत्वधर्मावच्छेदेन, जो कि तादृश अपेक्षाबुद्धिविशेष की प्रकारताभिधान विषयता का अवच्छेदक है, अभेद सबध मे अन्वित (=सबद्ध) होता हैं । अतएव 'वृक्ष वन' ऐसा प्रयोग होता नही है, क्योकि यहाँ वनपदप्रयोगात्मक व्यवहार के उपायभूत अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व का, जो वनस्वरूप है, अवच्छेदकीभूत बहुत्व शब्द से उपस्थापित नही हे । यहाँ तो शब्दत केवल एकत्व ही उपस्थित हैं । शाब्दबोध मे यह मर्यादा है कि शब्द से अनुपस्थापित धर्म या धर्मी का शाब्दबोध मे भान होता नही है । इस तरह 'वृक्ष वन' ऐसा एकवचनान्त वृक्षपद से घटित शब्दप्रयोग व्यवहार मे अप्रामाणिक कहा जाता है, क्योकि अन्वयितावच्छेदकीभूत धर्म की शब्दत अनुपस्थिति होने से

तत् तद्धर्मावच्छेदेनैवाऽभेदेनाऽन्वेती'ति व्युत्पत्तेरिति चेत् ? न, एतन्नियमस्य विशिष्य विश्रामादिति दिक् ।

★ जयलता ★

तानिरूपितविशेष्यत्व, व्यवहारौपयिक = अभेदव्यवहारोपायभूत, भवति, तत् = प्रमेयादिक, तद्धर्मावच्छेदेन = अभिधेयत्वादिरूपावच्छेदकावच्छेदेन, एव अभेदेन = तादात्म्यसबन्धेन, अन्वेति = अन्वययोग्य भवति, इति व्युत्पत्ते = एवविधार्थबोधकशब्दशक्तिनियमात् । नव्यनैयायिकानामयमभिप्रायः अभेदेन विशेष्यसमव्यापकमेवाऽभेदसबन्धेन तद्विशेपण भवति यथा प्रदर्शितरीत्या प्रमेयमभिधेयमित्यादौ । विशेष्यातिरिक्तवृत्ति तु न विशेषण भवितुमर्हति विशेषणविशेष्यभावे कामचाराद् विपरीतविशेषणविशेष्यभावे विशेषणस्य विशेष्यन्यूनवृत्तित्वाऽऽपातेन तस्य विशेषणत्वाऽयोगात् । तथाहि 'सद् द्रव्यमि'त्यत्र द्रव्य विशेष्य सच विशेषणम् । अतो विपरीतविशेषणविशेष्यभावे 'द्रव्य सदि'ति स्यात् । अत्र द्रव्य विशेषण सच विशेष्यम् । अतोऽत्र सत्त्वाऽवच्छेदेनाभेदसम्बन्धेन द्रव्यस्य विधेयत्व स्यात् । तच न सम्भवति, सत्त्वावच्छिन्नत्वस्य = सत्त्वविशिष्टत्वस्य द्रव्यभिन्नेषु गुणपर्यायेष्वपि सत्त्वात् । अत एव 'द्रव्य सदि'त्यस्याऽप्रमात्वम्; सत्ताविशिष्टे द्रव्यत्वाच्छिन्नप्रकारताकापेक्षाबुद्धिविशेष्यत्वस्याऽभेदव्यवहारानौपयिकत्वात् । अत एव 'सद् द्रव्यमि'त्यपि प्रयोगो न शिष्टसम्मतः स्यात् । विशेषणविशेष्यभावे कामचारबोधनार्थमेव प्रकृते न यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकबुद्धिविषयत्वमुक्त न वा यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकापेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व गृहीत किन्तु 'यद्धर्मावच्छिन्नप्रकारकापेक्षाबुद्धिविषयत्वमि'त्येव प्रतिपादितम् । अत एव व्युत्पत्तिपश्चाद्भागे 'तत्रैव तद्धर्मावच्छिन्नमभेदेनाऽन्वेती'ति नोक्त किन्तु 'तत् तद्धर्मावच्छेदेनैवाभेदेनाऽन्वेती'त्युपादत्तम् । पूर्वभागे विशेष्यस्यैव पश्चाद् विशेषणत्वसूचनमनेनाऽकारि । अत' 'वृक्षा वनमि'तिवद् 'सन्तो द्रव्यगुणपर्याया' इत्येव प्रयोगः स्यात् न तु 'सद् द्रव्यमि'ति ।

स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । एतन्नियमस्य = दर्शितव्युत्पत्तेः विशिष्य विश्रामात् = विशेषरूपणैव पर्यवसानात्, "सर्वं वाक्य सावधारण" 'इष्टतोऽवधारणमि'तिन्यायाभ्यामेवकारग्रहणम्। अय समाधानाशयः प्रदर्शितनियमो सामान्यतः सर्वत्र न प्रवर्तते किन्तु स्थलविशेषे एव । न च तादृशव्युत्पत्तौ सङ्कोचे मानाभाव इति वाच्यम् 'नीलमुत्पलमि'त्यादौ 'नीलाऽभिन्नोत्पलमि'त्याद्याकारकबोधस्य तवाऽप्यभिमतत्वात् । न च तत्र तादृशनियमः प्रवर्तते, अनीलोत्पल-नीलघटादीना सद्भावेन नीलोत्पलसमनैयत्यस्य बाधितत्वात् । 'तादृशदृष्टान्तस्यापवादिकत्वमि'ति चेत् अहो ! वक्रेण पथा समागतोऽसि मयाऽपि । तादृशव्युत्पत्तेः सार्वत्रिकत्वमेव निराक्रियते इत्यङ्गीकुरु । 'सद् द्रव्यमि'त्यस्य च तादृशनियमसाम्राज्यबहिर्भूतत्वमिति सर्वं चतुरस्रम् ।

● रमणीया ●

अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतास्वरूप वन के अनन्वय का प्रसग उपस्थित होता है। इस तरह 'सद् द्रव्य' यह प्रयोग भी, जो व्यवहार मे प्रसिद्ध है, अप्रामाणिक होने से शिष्ट पुरुष से अव्यवहर्तव्य हो जायेगा । इसका कारण यह है कि द्रव्यत्व तो गुण-पर्यायनिष्ठ अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वस्वरूप हे । इस अपेक्षाबुद्धिविशेष की प्रकारताख्य विषयता का अवच्छेदक गुणपर्यायनिष्ठ उभयत्व है । 'सत् द्रव्य' इस वाक्य मे शाब्दबोधीय सामग्रीमहिम्ना गुणपर्यायनिष्ठ उभयत्व अनुपस्थित है । द्रव्यपदप्रयोग मे उपायभूत अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयता के अन्वयितावच्छेदकीभूत धर्म की अनुपस्थिति होने की वजह तादृशविषयतारूप द्रव्यत्व का अपेक्षाबुद्धिविशेष के विशेष्य में तादात्म्य सबध से अनन्वय होने का प्रसग आयेगा । अत 'गुणपर्यायवत् द्रव्य' इस प्रयोग की उपपत्ति होने पर भी 'सद् द्रव्य' यह प्रयोग अनुपपन्न होगा । वास्तव मे तो 'गुणपर्यायवत् द्रव्य' प्रयोग की भाँति 'सत् द्रव्य' यह प्रयोग भी शिष्ट जन मे प्रसिद्ध है । मगर आपके मत मे 'सत् द्रव्य' प्रयोग अप्रामाणिक होने से अव्यवहार्य बन जायेगा ।

स्याद्वादी '- न, एत० इति । वाह ! दूध का जला छाछ को भी फूँक फूँक कर पीता है । 'वृक्ष वन' यह प्रयोग अप्रामाण्य से कलकित होने पर आप जनाब 'सद् द्रव्य' इस प्रयोग मे भी अप्रामाण्य का आपादन करने को तैयार हो गये । मगर आपसे प्रदर्शित व्युत्पत्ति तो स्थल विशेष मे ही विश्रान्त होती है । आशय यह हे कि आपने जिस व्युत्पत्ति के बल पर 'वृक्षो वन' इस शब्दप्रयोग को अप्रामाणिक यानी प्रयोगानर्ह बताया है वह व्युत्पत्ति (=नियम) सार्वत्रिक नहीं है किन्तु स्थलविशेष मे ही है । अर्थात् सर्वसाधारणत वह व्युत्पत्ति सब शब्द प्रयोग मे नियामक होती नही हे किन्तु विशेष शब्दप्रयोग मे ही उस व्युत्पत्ति का साम्राज्य चलता है । इसका कारण यह है कि 'नीलमुत्पल' यह शब्दप्रयोग तो आपको भी मजूर है, जिससे नीलाभेदप्रकारक उत्पलविशेष्यकबोध होता हे । मगर नील और उत्पल समव्यापक नहीं है । नील तो उत्पल की भाँति घट, पट, भी होता है और उत्पल भी नील की भाँति श्वेतादि भी होते हे । अत उन दोनो मे समव्यापकभाव नही होने से तादृश विशेष्यता भी अभेदव्यवहार की उपाय हो सकती नही हे । अत 'नीलमुत्पल' स्थल के समावेशार्थ तादृश व्युत्पत्ति मे सकोच आवश्यक है । अत 'नीलमुत्पल' की भाँति 'सद्द्रव्य' प्रयोग भी तादृश व्युत्पत्ति के अपवादस्थानीय हो जायेगा । अत 'सद् द्रव्य' आदि स्थल तादृश नियम के विषय ही नहा है । इस परिस्थिति मे तादृश व्युत्पत्ति का पुरस्कार कर के 'सद् द्रव्य' प्रयोग को अप्रामाणिक कहना असगत ही है । अत 'सद् द्रव्य' ऐसा शब्दप्रयोग करने मे कोई दोष नही है । इस सबध मे अधिक विचार भी किया जा सकता है, जिसकी सूचना देने के लिए प्रकरणकार ने 'दिग्' शब्द का प्रयोग किया है - यह पाठकवर्ग के लिए ध्यातव्य हे ।

यद्वा कृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्नस्य, नाश· = उपधानाऽव्याप्यत्व, अकृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावस्य, आगम· = अनुपधानाऽव्याप्यत्वञ्च स्याता, वस्तुनः सर्वथानित्यत्वात्, तथा च व्यवहारबाध इति भावः ।

अत्रेद विभाव्यते - साङ्ख्यैर्हि सदेव वस्त्वनुमन्यते । तदुक्त "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसभवाभावात् । शक्तस्य

★ जयलता ★

प्रथमश्लोकीयद्वितीयपादस्य व्याख्यान्तरमाह - यद्वेति आपादकांशोऽत्र पूर्ववद् बोध्यः । कृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्नस्येति । दण्डचक्रादिसामग्रीसमवधानकालीनकुम्भकारादिकृतप्रयत्नस्येत्यर्थः । नाश = उपधानाऽव्याप्यत्वमिति । उपधान नाम फलोत्पत्तिः, तदव्याप्यत्वम् । सत्त्वेन = पदार्थत्वेनाऽभिमतस्य घटादिवस्तुनो नित्यत्वात् कुम्भकारादिप्रयत्नस्य वैफल्यमेव स्यात् न नु फलनिष्पत्तिव्याप्यत्वम् । तत· प्राज्ञः कुलालादिः प्रयत्नमेव न कुर्यात् ।

ननु कुलालादिः मा कुरुता प्रयत्न कि नश्छिन्नमित्यतः दोषान्तरघटनामुपदर्शयति - अकृतस्य = कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावस्येति । आगम = अनुपधानाऽव्याप्यत्वमिति । कुम्भकारादिकृत्यभावस्य फलानुत्पादाऽव्याप्यत्वमिति । आपादकमाह - वस्तुन = पदार्थत्वावच्छिन्नस्य सर्वथानित्यत्वात् अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात् । परेणाऽऽपत्त्या इष्टापत्तित्वेनाऽङ्गीकारे आह - तथा चेति । अविकलकृतेः फलोपधानाऽव्याप्यत्वे कृत्यभावस्य चानुपधानाऽव्यापित्वेऽभ्युपगम्यमाने तु व्यवहारबाध इति । सर्वानुभवसिद्धव्यवहारो हि एव व्यवस्थितः यदुत कर्तृभिन्नसकलकारणसमवधान-कालिककर्तृप्रयत्नः स्वाऽव्यवहितोत्तरत्व-स्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन फलोत्पादव्याप्यः प्रयत्नाऽभावश्च दर्शितोभयसम्बन्धेन फलासन्निधानव्याप्य इति । नित्यस्य सतो घटादेरनुत्पाद्यत्वेन क्लृप्तसामग्रीकालीनकर्तृकृतेः घटाद्युत्पादाऽव्याप्यत्वाऽऽपातेन यथोक्तव्यवहाराऽपलापः प्रसज्येत । एव नित्यस्य सतो घटादेः सर्वदा सन्निहितत्वे कुलालादिकृत्यभावस्य घटायसन्निधानव्याप्यत्व न स्यादित्युत्तरव्यवहारस्याऽप्यपलापकलङ्कपङ्कप्रक्षालनमेकान्तनित्य वादिश्रोत्रियेणाऽप्य- शक्यमिति कूटस्थनित्यत्वाऽसदभिनिवेशस्त्याज्य एव प्रसिद्धप्रामाणिकव्यवहारानुरोधिनेति तात्पर्यम् ।

"ध्रौव्य न पारमार्थिक, द्रव्यस्य प्रतिक्षण परिवर्तमानत्वेन द्रव्यास्तित्वमपि शकास्पद भवति" इति वदतो ग्रीकजनपदीयस्य हेरक्लाइट्सनाम्न आधुनिकचिन्तकस्य तु स्वास्तित्वमपि शङ्कित स्यादिति कुतो वक्तुमपि स शक्नुयात् ? इत्यल तेन सह कथाप्रबन्धेन ।

कार्योत्पत्तिप्रकारा मतभेदेनैवम्→सतः सज्जायत इति साङ्ख्या (१), सतोऽसज्जायत इति नैयायिका सौगताश्च (२) सतो विवर्तं अधिष्ठानज्ञानेन निवर्त्यं कार्यजात न तु वस्तुसदिति मायावादिनो वेदान्तिन (३) कारणात्कार्यं कथञ्चित्सदसदिति तु वय स्याद्वादिन (४) ।

तत्र प्रथम निराचिकीर्षित साङ्ख्याभिमतमेकान्तसत्कार्यवादमाह - साङ्ख्यैरिति । सदेव वस्तु = कुलालादिव्यापारादथ प्रागपि मृदादिकारणे सदेव घटादिकार्यमित्यर्थः । तेन न सिद्धसाधन सौगतादितनयैरुद्भावनीयम् । अत्र सवादमाह- तदुक्तमिति साङ्ख्यकारिकाया ईश्वरकृष्णेनेतिशेष । असदकरणादिति । अत्र गोडपादभाष्यमित्थ वर्तते - "न सत् = असत् । असतोऽकरण,[१] तस्मात् सत्कार्यम् । इह लोकेऽसत्करण नास्ति,

● रमणीया ●

● प्रथमश्लोक पूर्वार्ध की अन्य व्याख्या ●

यद्वा० इति । व्याख्याकार आद्य श्लोक के पूर्वार्ध की नयविशेष से व्याख्या करने के बाद नयान्तर मे उसीकी अन्य व्याख्या करते है । दूसरी व्याख्या (= विवरण) मे आपादकअंशनिरूपण तो पूर्ववत् ही है सिर्फ आपाद्य अंश मे विशेषता है । वह इस तरह है कि यदि सत्त्व (=पर्याय) रूप से वादी प्रतिवादी को समत पदार्थ एकान्त नित्य होगा तो कृत का नाश होगा । यहाँ कृत का अर्थ हे कुभकार आदि का प्रयत्न, जो किया जाता हे या किया गया हे । नाश का अर्थ हे उपधान अव्याप्यत्व । उपधान का अर्थ है फलोत्पत्ति । अत यदि पदार्थमात्र यदि नित्य होगा तव कुभकारादि का प्रयत्न फलोत्पाद का व्याप्य नही होगा अर्थात् वह प्रयत्न निष्फल होगा - यह आपाद्य-आपादक भाव है । आशय यह है कि पदार्थ होने के सबब घटादि नित्य होगा । तथा उसके नित्य होने से कुभकार आदि का प्रयत्न निष्फल (=फलोत्पाद का अविनाभावी न हो ऐसा) होगा । नित्य वस्तु की उत्पत्ति होती नही हे । अतएव उसकी उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना वह-बगल मे बचा और गाँव मे ढूढना - ऐसा होगा । जो सदा विद्यमान है, उसके जन्म के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ ही कहा जाता है । SSC मे पास होने के बाद वापस SSC की परीक्षा देने का प्रयत्न वह विद्यार्थी करता नही है । इस तरह अकृत का आगम यानी कुभकारादि के प्रयत्न के अभाव मे अनुपधानअव्याप्यत्व होने का प्रसग आयेगा यदि पदार्थ मात्र को नित्य माना जाय । आशय यह हे कि सामग्री न होने पर कार्य की अनुत्पत्ति ही रहती है । मगर पदार्थ मात्र नित्य होने पर तो कुभकारादि के प्रयत्न विना ही घट की उपलब्धि हो जायेगी अर्थात् कुभकारादिकर्तृक प्रयत्नअभाव घटानुपधान का अविनाभावी न होगा । मगर ऐसा मानने पर व्यवहार का बाध होगा, क्योकि प्रयत्न मे उपधानव्याप्यता और प्रयत्नाभाव मे अनुपधानव्याप्यता प्रसिद्ध है । इस तरह कृतनाश और अकृतागम दोष की, जो पदार्थमात्र नित्य होने पर प्रसक्त होते है, नयान्तर से व्याख्या की गई है ।

शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्'' ॥ [सा का ९] इति (१) असतः = शशविषाणादेः कर्तुमशक्यत्वात्, सत एव सत्करणस्वाभाव्यात् ।

★ जयलता ★

यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः । तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम् । अत' सत् कार्यम् । किञ्चाऽन्यत् उपादानग्रहणात्[२] उपादान = कारण, तस्य ग्रहणात् । इह लोके यो येनाऽर्थी, स तदुपादानग्रहण करोति । दध्यर्थी क्षीरस्य, न तु जलस्य । तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च-[३] सर्वसम्भवाऽभावात् । सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति । यथा सुवर्णस्य रजतादा, तृणपाशुसिकतासु । तस्मात् सर्वसम्भवाऽभावात् सत्कार्यम् । इतश्च[४] शक्तस्य शक्यकरणात् । इह कुलाल' शक्तो मृद्दण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणम्, उपकरण वा शक्यमेव घट मृत्पिण्डादुत्पादयति । तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च[५] कारणभावाच्च सत्कार्यम् । कारण यल्लक्षणमेव तल्लक्षणमेव कार्यमपि यथा यवेभ्यो यवा व्रीहिभ्यो व्रीहय' । यदाऽसत्कार्यं स्यात् तत' कोद्रवेभ्यः शालय' स्युः । न च सन्तीति । तस्मात् सत्कार्यम्'' [गा भा पृ २३] इति ।

साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीव्याख्यालेशस्त्वेवम्'' - असच्चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यं नाऽस्य सत्त्व कर्तुं केनाऽपि शक्यम् । न हि नील शिल्पिसहस्रेणाऽपि पीत कर्तुं शक्यते । 'सदसत्त्वे घटस्य धर्मा' इति चेत् ? तथापि असति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्त्व तदवस्थमेव, तथा च नाऽसत्त्वम् । असम्बद्धेनाऽतदात्मना चाऽसत्त्वेन कथमसन् घट' । तस्मात् कारणव्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति । कारणाच्चाऽस्य सतोऽभिव्यक्तिरेवाऽवशिष्यते । सतश्चाऽभिव्यक्तिरुपपन्ना । यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, अवघातेन धान्येषु तण्डुलाना, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः । असतः करणे तु न निदर्शन किञ्चिदस्ति । न खल्वभिव्यज्यमान क्वचिदसत् दृष्टम् । इतश्च कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यं - (२) उपादानग्रहणात् । उपादानानि = कारणानि, तेषा ग्रहण = कार्येण सम्बन्धः उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धादिति यावत् । एतदुक्त भवति कार्येण सम्बद्ध कारण कार्यस्य जनकम् । सम्बन्धश्च कार्यस्याऽसतो न सम्भवति । तस्मादिति । स्यादेतत् 'असम्बद्धमेव कारणै' कार्यं कस्मान्न जायते ? तथा चाऽसदेवोत्पत्स्यते - आह 'सर्वसम्भवाऽभावात्' इति । असम्बद्धस्य जन्यत्वे असम्बद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजात सर्वस्माद् भवेत् । न चैतदस्ति । तस्मान्नाऽसम्बद्धेन जन्यते, अपि तु सम्बद्धेन जन्यत इति । यथाहु' साङ्ख्यवृद्धा 'असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभि' । असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थिति' ॥ इति।

स्यादेतत् - असम्बद्धमपि सत् तदेव करोति यत्र यत्कारण शक्त, शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते । तेन नाऽव्यवस्थेत्यत आह - 'शक्तस्य शक्यकरणादि'ति । सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया सर्वत्र वा स्यात् शक्य एव वा ? सर्वत्र चेत् ? तदवस्थैवाऽव्यवस्था । शक्ये चेत् ? कथमसति शक्ये 'तत्र' इति वक्तव्यम् । 'शक्तिभेद एवेतादृशो यतः किञ्चिदेव कार्यं जनयेत् न सर्वमि'ति चेत् ? हन्त भो ! शक्तिविशेष कार्यसम्बद्धो वाऽसम्बद्धो वा ? सम्बद्धत्वे नाऽसता सम्बन्ध इति सत् कार्यम् । असम्बद्धत्वे सैवाऽव्यवस्था इति सुष्ठूक्त 'शक्तस्य शक्यकरणादि'ति । इतश्च सत्कार्यमित्याह - [५]कारणभावाच्च । कार्यस्य कारणात्मकत्वात् । न हि कारणाद्भिन्न कार्यं कारण च सदिति कथ तदभिन्न कार्यमसद् भवेत् ।'' [सा त कौ पृ १४०] इति ।

महामहोपाध्यायः साख्यतत्त्वकौमुदीकारवचनमनुरुध्य साङ्ख्यमत व्याचष्टे असत शशविषाणादे कर्तुमशक्यत्वात् सत एव सत्करणस्वाभाव्यादिति ।

● रमणीया ●

● सत्कार्यवादी साख्य के मत का निरूपण ●

अत्रेद० इति । प्रकरणकार यहाँ पदार्थ मात्र को सत् मानने वाले साख्य के मत का निरूपण करते है । साख्य मनीषियो का यह कथन हे कि कार्यमात्र अपनी उत्पत्ति के पूर्व मे भी अपने कारण मे विद्यमान ही रहता है । यही सत्कार्यवाद कहा जाता है जिसकी सिद्धि के लिए साख्य विद्वानो की ओर से पाँच हेतु बताये जाते हैं । ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका मे कहा हे कि (i) असत् कार्य की अनुत्पत्ति से (ii) नियत उपादानकारण के साथ सबध से (iii) सब वस्तु से सभी वस्तु की उत्पत्ति (=सभव) न होने से (iv) शक्त कारण से शक्य की ही उत्पत्ति मे एव (v) कार्य की विद्यमानता मे भी कारण विद्यमान होने की वजह दोनो मे तादात्म्य होने से कार्य सद् (= अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कारण मे विद्यमान) है । इन पाँच हेतुओ को बताने का आशय यह हे कि कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्य यदि कारण मे असत् (=अविद्यमान) है तब तो कार्य की भाँति असत् शशशृग की भी कारण से उत्पत्ति होनी चाहिए । उदाहरण के लिए घी को लीजिये । यदि ऐसा माना जाय की घी की उत्पत्ति के पूर्व घी छाछ मे रहता नही हे । तब उसमे जैसे घी अविद्यमान है ठीक वेसे ही नरसींग भी अविद्यमान (=असत्) हे । अत उससे घी की भाँति नरसींग आदि सतत् पदार्थ की भी उत्पत्ति होनी चाहिए । मगर छाछ से घी की उत्पत्ति होती है न कि नरसींग की - यह सर्वजनविदित हे । इससे यह सिद्ध होता है कि घी की उत्पत्ति के पूर्व भी छाछ मे घी विद्यमान रहता है और नरसींग अविद्यमान रहता हे । अत छाछ मे से घी का ही आविर्भाव होता है न कि नरसींग आदि का । क्या गृह मे चैत्र विद्यमान होने पर दीप से उसका आविर्भाव होता है या अविद्यमान होने पर भी ? इस तरह असत् = अविद्यमान = तुच्छ

(२) उपादानेन ग्रहणात् = सवन्धात्, न ह्यसतः सवन्धोऽस्ति । असवद्धस्यैव करणमस्त्विति चेत् ? न (३) सर्वसभवाभावात् । असवद्धत्वऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद् भर्वयुः । न चैवमिष्टमिति ।

★ जयलता ★

अयमभिप्रायः यदसत्तन्न क्रियते यथा शशविपाणम् । असच्चेत्कारणव्यापारात्प्राक् कारणे कार्यं तदपि न क्रियेत, असत्त्वात् । क्रियते च, तस्मात् सत् । तथाहि - क्रियमाणत्व भवनकर्तृतया व्याप्तम् । सा चाऽसतो व्यावर्तमाना स्वव्याप्य क्रियमाणत्व व्यावर्तयन्ती सत्येव व्यवस्थापयतीति प्रतिवन्धसिद्धिरिति । एतेन 'यथैव हि शशविपाणादेरसत्त्वमक्रियमाणत्वञ्च सर्वलोकाऽविसवादिना प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन सिद्ध, तथैव प्रागसत्त्व क्रियमाणत्वञ्च सिद्ध कि नेष्यते ?' [न्या भू पृ ५६८] इति भासर्वज्ञवचन प्रत्युक्तम् ।

द्वितीय हेतु व्याचष्टे- उपादानेन ग्रहणात्=सम्वन्धादिति । उपादानसम्वद्धत्वादुपादेय सदित्यर्थः उपादेयस्योपादानसम्वद्धत्वेऽपि कुलालादिव्यापारात्प्रागसत्त्वमेवाऽस्त्वित्याशङ्कायामाह - न ह्यसत सम्वन्धोऽस्तीति । सता उपादानेनेति शेषः ।

तर्ह्युपादानेन सह असम्वद्धस्यैव उपादेयस्य करण = जन्म अस्त्विति चेन्न, सर्वसम्भवाऽभावादिति । यदि तन्त्वादिष्वसन्तः एव पटादयः कस्मात्तन्त्वादिभ्य एव भवन्ति, न तु कुपालादिभ्यः ? पट एव वा तन्तुभ्यः कस्माज्जायते, न जायन्ते घटादयः ? न खल्वसत्त्वे कश्चिद् विशेषः । असम्वद्धत्वाऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद् भवेयु । न चैवमिष्टमिति ।

● रमणीया ●

वस्तु की कारण से अभिव्यक्ति न होने से कार्य स्वोत्पत्ति के पूर्व मे भी अपने कारण मे सत् = विद्यमान होता है - यह सिद्ध होता है ।१। इसके अतिरिक्त यह वात भी सत्कार्यवाद की सूचक है कि - उपादान कारण के साथ कार्य का सवध होता है। जेमे, घट मिट्टी से सवद्ध होता है। सवद्ध वही हो सकता है जो वहाँ विद्यमान हो। अविद्यमान का सवध मानने पर तो प्रपितामह आदि का भी सयोग होने लगेगा। घट अपने उपादानकारणदभूत मिट्टी द्रव्य से स्वोत्पत्ति के पूर्व भी सवद्ध होता हे-इससे यह सिद्ध होता है कि स्वोत्पत्ति के पूर्व भी घट स्वोपादानकारण मे सत् = विद्यमान होता हैं। इसी तरह कार्य मात्र का स्वजन्मपूर्व मे स्व-उपादानकारण से सवध होने की वजह उपादानकारण मे स्वोत्पादपूर्व कालमे भी कार्य विद्यमान होता हे-यह सिद्ध होता है। यदि कार्य स्वजन्मपूर्वकाल मे कारण से असवद्ध हो तव तो स्वजन्म के पश्चात् काल मे भी केसे उपादानकारण से सवद्ध होगा ? अत पूर्व मे भी कार्य का कारणसवध सिद्ध होता है। (२)

शका : अस० इति। जनाव, यहाँ आप भूलते है। कार्य स्वजन्मपूर्व भी अपने कारण से सवद्ध होता है। अत स्वोत्पादपूर्व काल मे भी स्वोपादानकारण मे विद्यमान है - ऐसा मानने की जरूरत क्या है ? कार्य स्वोत्पत्ति के पूर्व मे स्वोपादानकारण से भले असवद्ध हो, अपने जन्म के वाद तो वह स्वोपादानकारण से सवद्ध हो सकता ही है। अत उपादेयजन्मपूर्व काल मे उपादेय (=कार्य) का उपादानकारण से सवध मानना अप्रामाणिक है। जव कार्य का स्वजन्मपूर्वकाल मे स्वोपादानकारण से सवध ही असिद्ध है तव उससे सत्कार्यवाद की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? असिद्ध से असिद्ध की सिद्धि होती नही है। क्या वध्यापुत्र से धनार्जन हो सकता है ?

● कार्य उपादान से असवद्ध होने पर आपत्ति-साख्य ●

समाधान : सर्व० इति। उस्ताद ! विल्ली की निगाह दूध पर होती है, लाठी पर नही। आप सिर्फ इतना सोचते हैं कि → 'कार्य भले ही स्वजन्मपूर्वक्षण मे स्वोपादानकारण से असवद्ध हो, स्वजन्ममहोत्सवोत्तरकाल मे तो वह उससे सवद्ध हो सकता हे'। ← मगर आप इतना आगे सोचते नही हैं कि यदि कार्य स्वजन्मपूर्वकाल मे कारण से असवद्ध है तव तो विवक्षित कार्य की भाँति नरपुच्छ आदि भी उस काल मे विवक्षित उपादान कारण से असवद्ध ही हे। अत विवक्षित उपादान कारण से विवक्षित कार्य की भाँति नरपुच्छ आदि की भी उत्पत्ति होनी चाहिए। जैसे मिट्टी से घट असवद्ध है वैसे नरपुच्छ भी असवद्ध होने से मिट्टि से घट की भाँति नरपुच्छ की भी उत्पत्ति होनी चाहिए या नरपुच्छ की भाँति घट की भी अनुत्पत्ति होनी चाहिए। इस तरह असवद्धत्व समान होने से मिट्टी से पट आदि कार्य भी उत्पन्न होने चाहिए। तात्पर्य यह है कि कार्य स्वजन्म के पूर्वकाल मे स्वोपादान कारण से असवद्ध हो तव तो सव उपादान कारण से सव कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी। मिट्टी से घट की भाँति पट, मकान आदि कार्य तथा ततु से भी पट की भाँति घट, गृह आदि कार्य उत्पन्न होने लगेंगे, क्योकि वे सव समानरूप से स्वजन्मपूर्वकाल मे उपादानकारण से असवद्ध हे। मगर ऐसा होता नहीं है। व्यवहार मे तो देखा जाता हे कि

तथा (४) अशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, शक्तस्य जनकत्व वाच्यम् । शक्तिश्च कार्यस्य प्रागसत्त्वे नियता न स्यात्, इतोऽपि कारणात्, प्राक्कार्यस्य सत्त्वमुपेयम् । तथा (५) कारणभावात् = तादात्म्यात् अपि सत्कार्यम्, अवयविनोऽवयवभेदाऽप्रतीतेरिति ।

★ जयलता ★

चतुर्थहेतुमाह-तथेति। उपादेयोत्पादकृतेऽशक्तस्य उपादानस्य उपादेयजनकत्वे अतिप्रसङ्गात् = जलादेरपि घृतादिजनकत्वापातात् । न चैतद् दृष्टमिष्ट वा भवतोऽपीति शक्तस्य कारणस्य जनकत्व = स्वशक्यजनकत्व वाच्य = प्रतिपादनीयम् । तस्मात् शक्तादेव कारणात् कार्येण शक्येनोत्पत्तव्यम् । शक्तियुक्तःशक्तः शक्तिविषयश्च शक्यः । शक्तिश्च सबन्धविशेषरूपा सयोगवदुभयाश्रया शक्याऽभावे न भवतीति कुलालादिव्यापारात्प्राक् कालेऽपि शक्तेः शक्यसद्भावोऽभ्युपेयः । एतेन 'शक्तेः कारणधर्मत्वात् ततः पश्चाद् भवत्कार्यं कथ तदात्मक स्यात् ?' [न्या भू पृ ५६८] इति न्यायभूषणकृतो भामर्वज्ञस्य वचनमपास्तम् शक्तेः द्विष्ठत्वोपगमात् । कार्यशून्योपादाने शक्तेरुपगमे सा कथ नियता स्यादित्याशयेनाऽऽह शक्तिश्चेति । कार्यस्य उपादानकारणे कुलालादिव्यापारात्प्राक् असत्त्वे नियता न स्यात् घटपटकटशकटादिसकलविषयिणी स्यादित्यर्थः । इतोऽपि हेतोः कारणात् = कुलालादिव्यापारात् प्राक् अपि कार्यस्य स्वोपादानकारणे सत्त्व उपेय = स्वीकर्तव्यम् ।

पञ्चमहेतुमाह - तथेति । कारणभावात् = तादात्म्यात् = उपादेयस्य स्वोपादानतादात्म्यात्, अपि किंपुनः पूर्वोक्तहेतुभ्यः, कुलालादिव्यापारपूर्वं मृदादावुपादानकारणे सत् = विद्यमान घटादिलक्षण कार्यम् । उपादानोपादेययोः तादात्म्यमेव कथमित्याशङ्कायामाह - अवयविनोऽवयवभेदाऽप्रतीतेरिति कपालाद्यात्मका घटादयः। तन्त्वाद्यात्मानः च पटादय उपलभ्यन्ते । तस्मात् तन्त्वादिसत्तासमकालभाविनी पटादिसत्ता, अन्यथा कारकत्वाऽविशेषेऽपि कस्मात् तन्त्वाद्यात्मका एव पटादयो न तु कुविन्दाद्यात्मकाः ? न ह्यसत्त्वे कश्चिद् विशेषः । तस्मात् कुविन्दादिव्यापारात् प्रागपि उपादानकारणे पटादिलक्षणमुपादेय सदेवेति स्वीकर्तव्यम् । अतः सिद्ध सत एव सदेव जायते । एतेन सतोऽसज्जायत इति योगमत तायागतमतञ्च प्रत्युक्तम् इति ।

● रमणीया ●

सभी कार्य की सभी कारण से उत्पत्ति होती नहीं है । इसीसे सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व मे भी उपादान कारण से सबद्ध होता है । जो कार्य जिससे सबद्ध होगा उस कार्य की उससे अभिव्यक्ति होगी, सब कार्यों की नहीं । यह सत्कार्यवाद की सिद्धि का तीसरा हेतु हे ।३।

● शक्त उपादान ही शक्य का जनक - साख्य ●

तथाऽश० इति। सत्कार्यवाद का साधक चतुर्थ हेतु है 'शक्तस्य शक्यकारणात्'। अर्थात् शक्त कारण से शक्य कार्य की ही उत्पत्ति होती हे। यदि अशक्त कारण भी कार्य को उत्पन्न करेगा तब तो पट को उत्पन्न करने मे असमर्थ मिट्टी से भी पट की उत्पत्ति होने लगेगी। मगर ऐसा होता नही हे। मिट्टी से घट उत्पन्न होता है-पट, मठ आदि नही। अत शक्त कारण ही शक्य कार्य को उत्पन्न करता है-यह मानना जरूरी हो जाता हे। शक्त का अर्थ है शक्तिमान्। जिस उपादान कारण मे जिस कार्य की शक्ति होगी उस उपादान से उस कार्य की ही उत्पत्ति होगी, अन्य कार्य की नही। मिट्टी मे घटोत्पादक शक्ति होने से मिट्टी से घट का जन्म होता है, पटादि का नही। मगर मिट्टी मे घट की शक्ति है- यह तभी कहा जा सकता है यदि मिट्टी मे घट रहता हो। घट मिट्टी मे न रहता हो फिर भी मिट्टी मे घट की ही शक्ति है, पटादि की नही - यह नही कहा जा सकता, क्योंकि मिट्टी मे जैसे घट असत् है ठीक वैसे ही पट भी असत् होने से या तो मिट्टी मे घट की भाँति पट की भी शक्ति होगी या तो पट की भाँति घट की भी शक्ति नही होगी, अन्यथा अर्धजरतीयन्याय प्रसक्त होगा। इसलिए शक्तिनियमन के लिए उपादान कारण मे शक्यजन्मपूर्वकाल मे भी कार्य रहता है-यह मानना आवश्यक है। यही सत्कार्यवाद का स्वरूप हे।

● उपादेय - उपादान के अभेद से सत्कार्यवादसिद्धि - साख्य ●

तथा कार० इति। सत्कार्यवाद सिद्धि का पाँचवाँ और अतिम हेतु है - कारणभाव यानी कारणतादात्म्य। कार्य और कारण मे अभेद होने से कुम्हार आदि के प्रयत्न के पूर्व मे भी मिट्टीरूप उपादान मे घटात्मक उपादेय=कार्य की सिद्धि होती हे । यहाँ यह शका हो कि→'कार्य और कारण मे तो भेद होता है। अत उन दोनो मे अभेद का प्रतिपादन करना कैसे उचित होगा?'←

तदयुक्तम्- यतो घटश्चेत् कारणव्यापारात्प्रागप्यस्ति, तर्हि तदानीमुपलम्भप्रसङ्गः । अथाऽनाविर्भावान्नोपलभ्यत इति चेत्?

★ जयलता ★

तदुक्त - 'यदि त्वसद्भवेत्कार्य कारणात्मनि शक्तित· । कर्तु तन्नैव शक्यते नैरूप्याद् वियदब्जवत् ॥१॥
कस्माच्च नियतान्येव शालिवीजादिभेदत· । उपादानानि गृह्णन्ति तुल्येऽसत्त्वेऽपर न तु ॥२॥
सर्वश्च सर्वतो भावात् भवेदुत्पत्तिधर्मकम्। तादात्म्यविगमस्येह सर्वस्मिन्नविशेषत· ॥३॥
शक्तीना नियमादेषा नैवमित्यप्यनुत्तरम्। शक्यमेव यत· कार्य शक्ता कुर्वन्ति हेतव ॥४॥
अकार्यातिशय यत्तु नीरूपमविकारि च। विकृतावात्महान्याप्तेस्तत्क्रियेत कथ नु तै ? ॥५॥
कार्यस्यैवमयोगाच्च कि कुर्वत्कारण भवेत् ?। तत· कारणभावेऽपि बीजादेर्नावकल्पते ॥६॥
सुखाद्यन्वितमेतच्च व्यक्त व्यक्त समीक्ष्यते । प्रसादतापदैन्यादिकार्यस्येहोपलब्धित· ॥७॥
ततस्तन्मयसम्भूत, तज्जात्यन्वयदर्शनात्। कुटादिभेदवत्तच्च प्रधानमिति कापिलाः ॥८॥
[तत्त्वसग्रह - ८/१५ श्लो]

ततः कारणव्यापारात् प्राक् उपादानकारणे उपादेय सदेवेति सिद्धमिति साख्याशयः।

[इति सत्कार्यवादनिरूपणम्]

'सतोऽसदुत्पद्यत' इत्यभ्युपगन्तारो नैयायिकाः 'सतः सदुपजायत' इति प्रदर्शितसाङ्ख्यमत न सहन्ते। अतस्ते तत्प्रत्याचक्षते - तदयुक्तमिति। कुलालादिव्यापारात् प्राक् कालेऽपि कपालादावुपादानकारणे घटादिलक्षणमुपादेय सदेवेति साङ्ख्यमतमुक्त न युक्तमित्यर्थः। अत्रैव तद्धेतु प्रदर्शयन्ति - यत इति। विप्रतिपत्तिवत् आपायाऽऽपादनभावे नाऽऽपादकस्य वादिप्रतिवाद्युभयसिद्धत्वमावश्यकम्। वादिना स्वमताऽप्रसिद्धमपि प्रतिवादिमतप्रसिद्धमेवाऽभ्युपगमवादेनाऽङ्गीकृत्याऽऽपादकत्वेन प्रदर्श्यते। अतो न सिद्ध्यसिद्धिभ्या व्याघात उद्भावनीयः। आपादकमुपदर्श्याऽधुनाऽऽपाद्यमाविष्कुर्वन्ति- तर्हीति। तदानी = कुलालव्यापारात् पश्चादिव ततः प्राक्कालेऽपि, घटस्य उपलम्भप्रसङ्ग । न च तदानी सत्स्वपि घटोपलब्धिकारणेषु सत्यामपि जिज्ञासाया घट उपलभ्यते। ततो न कुलालव्यापारात् प्राक् घटः सन्। प्रयोगस्त्वेव कुलालव्यापारात् प्राक् घटः न सन् उपलब्धिकारणेषु सत्स्वपि अनुपलभ्यमानत्वात्। यत् यदा उपलब्धिकारणेषु सत्स्वपि नोपलभ्यते तदा तत्र सद् भवति यथा नरशृङ्गम्। तथा च कुलालव्यापारात्प्राक् घटः, तस्मात् तदानी न स सन् इति सिद्ध घटस्य कुलालव्यापारात् प्रागसत्त्वम्। एवमेव घटादिष्वपि स्वयमेव भावनीयम् । न हि प्रत्यक्षयोग्यः चक्षुःसन्निकर्षादिसामग्रीसत्त्वेऽपि नोपलभ्यते । अत एव कुमारिलभट्टेनाऽपि 'सम्बद्ध वर्तमानश्च, गृह्यते चक्षुरादिना' [श्लो वा प्रत्यक्ष०-८४] इत्युक्तम् । प्रत्यक्षयोग्यस्य चक्षुरादिनाऽग्रहणेऽपि स्वीकारेऽतिप्रसङ्गात् ।

साङ्ख्यः शङ्कते अथेति । तदानी घटः अनाविर्भावात् नोपलभ्यते । न ह्यय नियमो यदुत सम्बद्ध वर्तमान सत् चक्षुरादिना

● रमणीया ●

तो यह ठीक नही है। इसका कारण यह है कि अवयवात्मक उपादान कारण और अवयवीस्वरूप उपादेय मे भेद की प्रतीति ही होती नही है। ततु और पट मे भेद है - ऐसी प्रतीति पट को देखने पर होती नही है। पट अलग देश मे और उसके उपादानकारणीभूत ततु अलग देश मे दिखाई नही पडते। इस तरह घट का दर्शन अपने उपादान कारणीभूत मिट्टी के अभाव मे होता नहीं है। अत अवयव-अवयवी = उपादान-उपादेय मे तादात्म्य की सिद्धि होती है। अत कार्य की सत्ता उपादान कारण मे कर्तृव्यापार के पूर्व काल मे भी सिद्ध होती है।

● एकात सत्कार्यवादी साख्यमत का निराकरण ●

तदयुक्त यत० इति। सत्कार्यवादी साख्य के मत के प्रतिवाद मे नेयायिक कहते है कि → साख्य मनीपियो का यह कथन सगत नही है। इसका कारण यह है कि यदि कर्ता का उपादान कारण मे व्यापार होने के पूर्व भी यदि कार्य स्वोपादान मे विद्यमान ही है तब तो उस कार्य का पूर्व काल मे भी दर्शन होना ही चाहिए। अर्थात् कुम्भकार मृत्पिण्ड मे जव घटोत्पादानुकूल व्यापार करता है, उसके पूर्व मे भी घट का दर्शन होना चाहिए। जैसे चैत्र गृह मे विद्यमान होता है तव तो गृहप्रवेश करने पर गौर से चारो ओर निगाह डालने से जरूर दिखाई पडता हे। मगर कुम्हार के प्रयत्न के पूर्व मृत्पिड मे घट का दर्शन नही होता है। इसीसे सिद्ध होता है कि घट कुभकारप्रयत्न के पूर्व काल मे मिट्टी मे होता नही है वल्कि वाद मे पैदा होता है।

साख्यः- अथाना० इति । जी, हजूर' आपकी यह वात ठीक नही हे । कुम्भकार के व्यापार के पूर्व मे भी घट तो मिट्टी

कोऽयमनाविर्भावः ? (१) उपलब्ध्यभावो वा (२) अर्थक्रियाकारिरूपाभावो वा (३) व्यञ्जकाभावो वा, (४) योग्यत्वाभावो वा, (५) कालविशेषविशिष्टत्वभावो वा, (६) जिज्ञासाऽभावो वा, (७) तिरोधानं वा, (८) अन्यद्वा ?

★ जयलता ★

गृह्यते, अन्यथा पिशाचादेरपि चक्षुरादिसन्निकृष्टस्योपलम्भापातः । परन्तु आविर्भूतं सम्बद्धं सत् चक्षुरादिना गृह्यते इत्येव नियमः । तदानीं घटस्याऽनाविर्भूतत्वेनाऽऽपादकाऽभावान्नाऽऽपादनं प्रदर्शितं युक्तम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अतः कुलालादिव्यापारात्प्राक् घटादेः स्वोपादानकारणे सत्त्वाङ्गीकारे न कश्चिद् दोष इति । कुलालादेस्तु घटाविर्भाव एव व्यापारान्न तद्व्यापारवैफल्यप्रसङ्गोऽपि । तदुक्तं साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यां वाचस्पतिमिश्रेण - "यथा हि कूर्मस्याऽङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाऽऽविर्भवन्ति, न तु कूर्मतस्तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा । एवमेकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यते । निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यते । न पुनरसतामुत्पादः, सतां वा निरोधः [सां. त. कौ. पृ. १५४] इति । तस्मात् सत्कार्यवाद एव श्रेयानिति साङ्ख्याऽऽशय" ।

नैयायिकः अनाविर्भावं विकल्पाऽष्टकमाविर्भाव्य प्रतिविदधते कोऽयमनाविर्भाव इति । अनाविर्भावपदप्रतिपाद्यः क इति नैयायिकपर्यनुयोगः । स्वयमेव तत्प्रतिपाद्यमष्टधा विकल्पयन्ति- उपलब्ध्यभावो वेत्यादिना ।

● रमणीया ●

मे रहता ही है मगर हमे तब उसका प्रत्यक्ष न होने का कारण यह है कि तब घट का अनाविर्भाव होता है । कुंभकार प्रयत्न के पूर्व काल मे अनाविर्भूत होने की वजह घट प्रत्यक्ष का विषय उस अवस्था मे नहीं होता । यह ठीक उस तरह संगत हो सकता है जैसे गर्भावस्था मे बच्चे का अदर्शन । बच्चा माँ के पेट मे रहने पर भी आविर्भूत (=प्रकट) न होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय होता नहीं है । मगर गर्भावस्था मे बालक का अदर्शन होने के कारण यह नहीं माना जा सकता कि 'अस्पताल जाने के पूर्व मे बच्चा माँ के पेट मे था ही नहीं किन्तु डॉक्टर साहब ने ही बच्चा पैदा किया' । ऐसा होने पर तो सारे जहाँ मे कोई भी स्त्री वन्ध्या नहीं रहेगी । मगर वस्तुस्थिति यह है कि डॉक्टर साहब, वैद्य वगैरह माँ के पेट मे प्रच्छन्न रहे हुए बालक को प्रकट करते है ठीक वैसे ही कुम्हार भी मिट्टी मे प्रच्छन्न (=अनाविर्भूत) घट को अपने प्रयत्न से प्रकट करता है । अतएव घट पूर्व अवस्था मे अनाविर्भूत होने से प्रत्यक्ष का विषय होता नहीं है न कि अविद्यमान होने से- यही मानना उचित है ।

● विकल्पाष्टक से कार्यानाविर्भाव का निराकरण- नैयायिक ●

नैयायिकः- कोऽय० इति । वाह जनाब ! बच्चे की भाँति घट की भी गर्भावस्था को सिद्ध करने को आप चल पडे !!! मगर यह समाधान ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि आपके मतानुसार कुम्हार के व्यापार के पूर्व मे मिट्टी मे घट का अनाविर्भाव होता है-वह क्या है ? इसके उपर आठ विकल्प उपस्थित होते है । क्या अनाविर्भाव (१) उपलब्धि का अभाव है ? या (२) अर्थक्रियाकारि स्वरूप का अभाव है ? या (३) व्यंजक का अभाव है ? या (४) योग्यता का अभाव है ? या (५) कालविशेषविशिष्टता का अभाव है ? या (६) जिज्ञासा का अभाव है ? या (७) तिरोधान है ? या (८) अन्य ही कुछ है ?

● प्रथम विकल्प मे घट्टकुटीप्रभात न्याय का प्रसंग ●

नाद्य इति । आठ विकल्पो मे से प्रथम विकल्प तो युक्त हो नहीं सकता, क्योंकि अनाविर्भाव क्या है ? इसके प्रत्युत्तर मे 'अनाविर्भाव अनुपलब्धि है'-यह जवाब तो प्रश्न के समान ही हो जाने से घट्टकुटीप्रभातन्याय का अनुसरण करता है । इस न्याय का अर्थ यह है कि (शुल्क) चुंगी (tex) बचाने के लिए पूर्वकाल में एक गाडीवाला रात के समय मे शुल्क लेनेवाली ऑफिस के पास से गुजरना चाहता है, क्योंकि रात को वह ओफिस बंध रहती थी । मगर वह जिस रास्ते से जा रहा था वह ऐसा सीधा



नाऽऽद्य , यस्यैवाऽऽक्षेपस्तस्यैवोत्तरे घट्टकुटीप्रभातापातात्[१] । अथ घटानुपलब्ध्याक्षेपे सस्थानाद्यनुपलम्भस्योत्तरत्वमिति चेत् ?

★ जयलता ★

'अनाविर्भाव उपलब्ध्यभाव' इति प्रथमविकल्पो न घटामञ्चति । कथम् ? शृणु - यस्यैवाऽऽक्षेपस्तस्यैवोत्तरे घट्टकुटीप्रभातापातादिति । अथ भावः तदानी घटोपलब्धिः कथ न भवति ? इति आक्षेपे 'अनाविर्भावादि'ति प्रत्युत्तरो दत्तः साङ्ख्येन । 'स चाऽनाविर्भाव' कः' इति पुनरपि प्रश्ने 'उपलब्ध्यभावोऽनाविर्भाव' इति साङ्ख्योत्तरः । ततः तदानीं कथ न घटोपलब्धिरिति पर्यनुयोगस्य 'घटोपलब्ध्यभावादि'ति समाधानमिति प्राप्तम् । ततः चालना-प्रत्यवस्थानयोः साम्यात् घट्टकुटीप्रभातापातात् । घट्टपदेन नद्यवतरणस्थान तीर्थापराऽभिधानमुच्यते । कुटीशब्देनाऽत्र शुल्ककुटीरग्रहणम् । नद्यवतारस्थानस्थशुल्ककुटीरे एव प्रभात यस्मिन् न्याये = दृष्टान्ते स घट्टकुटीप्रभातन्याय उच्यते । केनचिद् वणिजा शुल्काऽदित्सुना रात्रौ घट्टकुटीप्रापणाय दीर्घमार्गतो जिगमिषुणा तत्पथोऽतिवक्रत्वेन प्रभातसमये एव घट्टकुटी शुल्कग्राहकराजपुरुषोद्घाटिता प्राप्ता करश्चाऽकामेनाऽपि दत्तः । एव यत्रोद्देश्याऽसिद्धिस्तत्रैतन्न्यायप्रवृत्तिः । भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरित्यादयो न्याया अप्येतत्समानार्थकाः । प्रकृते कुलालव्यापारप्राक्कालीनघटानुपलब्धिविषयपृच्छासमाधानार्थं 'अनाविर्भावादि'ति प्रत्युत्तरितवतः पुनरपि 'कोऽयमनाविर्भावः ?' इति पृष्टस्य 'अनुलब्धिरनाविर्भाव' इति कथयतः साङ्ख्यस्य नानुपलब्ध्यतिरिक्तोत्तरप्रदानरूपस्योद्देश्यस्य सिद्धि' सञ्जाता प्रश्नोत्तरयोस्तुल्यत्वादिति प्रकृते दर्शितन्यायप्रवृत्ति' ।

साङ्ख्य आह - अथेति । चेदित्यनेनाऽस्याऽन्वयः । घटानुपलब्ध्याक्षेपे = कुलालव्यापारात् प्राक् सन् घटः सत्स्वप्युपलब्धिकारणेषु सत्यामपि जिज्ञासाया कथ नोपलभ्यते ? इति परपर्यनुयोगे सति, सस्थानाद्यनुपलम्भस्य = घटसस्थानाद्यनुपलब्धेः, उत्तरत्वमिति न पर्यनुयोगप्रत्युत्तरयोः तुल्यत्वम् तदनुपलब्धिविषययोर्भिन्नत्वात् । प्राक् घटः सन्नेव किन्तु तत्सस्थानानुपलम्भात् स नोपलभ्यते । अतो नात्माश्रय इति साङ्ख्याशयः ।

● रमणीया ●

(short cut) था जिसके जरिये गुजरने पर वह दिन मे ही शुल्कगृह के पास पहुँच जाता-ऐसी सभावना थी । ऐसा हो जाए तब तो उसे माल की चूगी (tex) देनी ही पडे । इसलिए कर बचाने के लिए वह गाडीवाला दूसरे टेढे रास्ते के द्वारा जाने को तैयार होता है, जो लम्बा होने से ठीक रात के समय पर ही गाडीवाले को शुल्कगृह के पास पहुँचाए । मगर हुआ ऐसा कि वह टेढा मार्ग इतना लम्बा निकला कि उसको पसार करते करते सुबह हो गई और शुल्कगृह (चूगीनाका) खुल गया था । लबे रस्ते पर रात भर मुसाफरी करने पर भी अत मे वही हुआ जो सरल रास्ते के द्वारा मुसाफरी परने पर होनेवाला था - अर्थात् लबी मजिल पसार करने के बावजूद भी गाडीवाले को कर देना ही पडा । इस तरह प्रस्तुत मे कुम्हारव्यापार के पूर्व मिट्टी मे विद्यमान घट की उपलब्धि (=ज्ञान) क्यो होती नही है ? इसके जवाब मे साख्य मनीषियो ने 'तब घटअनाविर्भाव होने से' यह जवाब दिया और 'अनाविर्भाव क्या है ?' इसके जवाब मे 'उपलब्धि (ज्ञान) का अभाव' ऐसे प्रथम विकल्प का स्वीकार करने पर तो 'कुम्हारव्यापार के पूर्व मे घट की उपलब्धि क्यो नही होती है?' इस समस्या का समाधान यह होगा 'कुम्हार के व्यापार के पूर्व काल मे घट की उपलब्धि (=ज्ञान) न होने से' । इस रीति से तो प्रश्न ओर प्रत्युत्तर एक ही हो गए । अत फिर से वही समस्या खडी हुई कि 'कुम्हार के व्यापार के पूर्व घट की उपलब्धि क्यो नही होती है ?' अत अनाविर्भाव का अर्थ उपलब्धि का अभाव ऐसा करना ठीक नही है ।

साख्य : - अथ घ० इति । कुम्हार व्यापार के पूर्व घट की, जो मिट्टी मे विद्यमान ही है, अनुपलब्धि क्यो होती है ? इस प्रश्न का जवाब 'घट की उपलब्धि नही होने से' यह नही है किन्तु 'घट सस्थान की अनुपलब्धि होने से' यह है । अर्थात् कुम्हार के व्यापार के पूर्व काल मे मिट्टी मे विद्यमान घट के सस्थान (=आकार) की अनुपलब्धि होने से उस काल मे घट की उपलब्धि होती नही है । यदि घटसस्थान की उपलब्धि होती तब तो उस अवस्था मे भी घटसाक्षात्कार होता । मगर उस दशा मे घटसस्थान का प्रत्यक्ष होता नही है । अतएव विद्यमान घट का भी ज्ञान लोगो को तब होता नही है ।

[१] 'The maxim of day-break in the vicinity of the toll-collector's hut A man, anxiours to avoid paying told, takes another road, but losing his way in the dark, finds himself at day-break in the vicinity of the very toll-gate' - From A handful of popular maxims

न, सस्थानज्ञानस्य सस्थानिज्ञानात्पूर्वं नियतमनपेक्षणात्तस्याऽपि प्राक्सत्त्वे उपलब्धेरापाद्यत्वात् असत्त्वे वक्ष्यमाणदोषानुषङ्गाच ॥१॥
न द्वितीय , अर्थक्रियाकारिरूपस्य प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यवादापातात् ॥२॥

★ जयलता ★

नैयायिका· तन्निराकुर्वन्ति - नेति । सस्थानज्ञानस्य सस्थानिज्ञानात्पूर्वं नियत = अवश्य, अनपेक्षणात् = अपेक्षाऽभावात्, आत्मसाक्षात्कारे सत्यपि तत्परिमाणाऽनुपलम्भात्, अन्यथाऽऽत्मपरिमाणविषयकविवादानुत्थानप्रसङ्गात् । न च बहिरिन्द्रियजन्यसस्थानिप्रत्यक्षे सस्थानज्ञानस्य कारणत्वमिति वाच्यम् पटपरिमाणानुपलम्भेऽपि तत्स्पर्शनोदयस्याऽनुभवसिद्धत्वात् । न च सस्थानिचाक्षुष प्रति संस्थानचाक्षुषस्य हेतुत्वमित्यपि वक्तव्यम् हिमालयादिसस्थानचाक्षुषाभावेऽपि तदवयवसस्थानचाक्षुषेण तच्चाक्षुषोदयादिति न सस्थानचाक्षुषस्य सस्थानिचाक्षुषकारणत्वमुच्यमान घटाकोटिमाटीकते । अतो न सस्थानिचाक्षुषे स्वसस्थानज्ञानाऽपेक्षा भवितुमर्हति । न ह्यकारण कार्यमपेक्षते, अतिप्रसङ्गात् । किञ्च घटसस्थानमपि कुलालव्यापारात् प्राक् सदसद् वेति विकल्पयुगलमत्र समुपतिष्ठत इत्याशयेन तत्प्रथमविकल्प दर्शयति -तस्यापि = घटसस्थानस्यापि, कुलालव्यापारात् प्राक् सत्त्वे घटसस्थानविषयिण्या उपलब्धे आपाद्यत्वात् । कुलालव्यापारात् प्राक् घटसस्थान सच्चेत् सत्स्वुपलब्धिकारणेषु मृदादिवदुपलभ्येत- इति आपाद्यापादकभाव· । न चोपलभ्यत इति तदा तन्न सदिति । द्वितीये विकल्पे कक्षीक्रियमाणे त्वपसिद्धान्तदोष इत्याशयेन यौगाः सङ्गिरन्ते - असत्त्वे = कुलालव्यापारात् प्राक् घटसस्थानस्याविद्यमानत्वे, वक्ष्यमाणदोषानुषङ्गाच्च = विकल्पाऽष्टकान्तर्गतमौलद्वितीयविकल्पे वक्ष्यमाणस्य 'असत्कार्यवादापातादि'ति दोषस्याऽऽपाताच्चेत्यर्थ· । तस्मान्न प्रथमो विकल्प· सश्रीकृतपार्श्वस्द्वातिप्रौढतममनीषिमान्यतामधिगच्छतीति अक्षपादतनया- ऽभिप्राय· ।

अथोपलब्धियोग्यस्य जलाहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमस्य रूपस्य विरह एव घटानाविर्भाव इत्यस्तु मौलद्वितीयविकल्प इति साख्याऽऽशङ्का शैवा प्रत्याचक्षते - न द्वितीय इति । अत्राऽपि तादृशाऽर्थक्रियाकारिघटस्वरूप कुलालव्यापारात् पूर्वं सदसद्वेति कल्पद्वय प्रचरति, प्रथमे तदानीं जलाहरणाद्यर्थक्रियाकारिरूपोपलम्भापात·, द्वितीयकल्पे त्वपसिद्धान्तरहतुङ्गमातङ्गसङ्गमाभिलाषो भवत इत्याशयेन नैयायिका वदन्ति - अर्थक्रियाकारि- रूपस्य कुलालव्यापारात् प्राक् असत्त्वे असत्कार्यवादापातादिति तथाभूतस्य रूपस्य प्रागभावे पश्चाद्भावादिति हेतो· ।

● रमणीया ●

● सस्थानिज्ञान मे सस्थानज्ञान अनपेक्षित - नैयायिक ●

नैयायिक :- न स० इति । आपकी यह बात भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि सस्थानी के ज्ञान के लिए सस्थानज्ञान की अवश्य अपेक्षा हो- ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है । आत्मा का ज्ञान होता है तब भी आत्मा के सस्थान का प्रत्यक्ष होना नहीं है, अन्यथा आत्मपरिमाण के सबध मे विवाद को स्थान ही न रहता । पट का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है उसमे पट के सस्थान के ज्ञान की कोई आवश्यकता होती नहीं है । हिमालय के सपूर्ण सस्थान का ज्ञान न होने पर भी हिमालय का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है - यह बात सर्व ननविदित है । अत 'घटसस्थान का ज्ञान न होने से मृत्पिडस्थ घट का ज्ञान कुम्हार के प्रयत्न के पूर्व काल मे होता नहीं है' यह समाधान भी समीचीन नहीं है । जिसको जिसकी अपेक्षा अवश्य हो उस अपेक्षणीय के विना उसका न होना प्रामाणिक है । मगर जो अनपेक्षणीय है उसके अभाव मे क्यो विवक्षित कार्य न हो? प्रस्तुत मे घटसस्थानज्ञान घटज्ञान मे अपेक्षित न होने से उसके विना भी पूर्व काल मे मृत्पिडवृत्ति घट का बोध होना न्याय्य है।

तस्यापि० इति । वस्तुत साख्यदर्शन के सिद्धातानुसार कार्यमात्र उपादान कारण मे रहता ही है । अत सस्थानज्ञान भी अवश्य स्वोत्पाद के पूर्व सत् = सिद्ध ही होगा । जब साख्यदर्शनानुसार घटसस्थानज्ञान पूर्व मे विद्यमान है तब घट की भाँति उसकी उपलब्धि भी अवश्य होनी चाहिए । यहाँ यही आपाद्य है कि कर्तृव्यापार के पूर्व मे विद्यमान घट की भाँति सस्थानोपलब्धि की उपलब्धि जरूर होनी चाहिए । यदि घटसस्थानोपलब्धि स्वविषयक ज्ञान के पूर्व मे असत् होगी और बाद मे उत्पन्न होगी तब तो आगे (दूसरे विकल्प मे) बताये जानेवाले दोष का प्रसंग होगा यानी असत्कार्यवाद का प्रसग होगा । अर्थात् जेसे घटसस्थानविषयक उपलब्धि पूर्व मे अविद्यमान होते हुए भी बाद मे उत्पन्न होती है वैसे घट कुम्हारव्यापार के पूर्व अविद्यमान होते हुए भी बाद मे उत्पन्न होता हे-यह माना जा सकता है । तब तो सत्कार्यवाद को तिलाजलि देना होगा ।

● अर्थक्रियाकारिस्वरूपाभाव अनाविर्भाव नहीं है ●

न द्वि० इति । अनाविर्भाव = अर्थक्रियाकारी स्वरूप का अभाव-यह दूसरा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है । इसका कारण यह हे कि - 'कुम्हार के व्यापार के पूर्व मृत्पिण्डवृत्ति घट की उपलब्धि न होने का कारण यह है कि उस दशा मे घट मे अर्थक्रियाकारी स्वरूप होता नहीं हे'- ऐसा मानने पर यही प्रश्न उपस्थित होता है कि जलाहरण आदि अर्थक्रिया को करनेवाला स्वरूप घट मे पूर्व विद्यमान हे या अविद्यमान है? यदि वह विद्यमान होगा तब तो अवश्य घट की उपलब्धि उस अवस्था मे होनी चाहिए । यदि जलाहरण आदि अर्थक्रिया को करनेवाला स्वरूप घट में कुम्हार के व्यापार के पूर्व मे नहीं होता किन्तु बाद मे आता

अत एव न तृतीयोऽपि, प्राथमिकोपलब्धौ कुविन्दादि(? कुलालादि)समुदायस्योपलब्धिमात्रे वा विजातीयसयोगस्य कारणत्वेऽपि तयोः प्राक्सत्त्वाऽऽवश्यकत्वात् ।

आविर्भूतयोरेव तयोस्तथात्वमिति चेत्? न, आविर्भावस्याऽपि सदसद्विकल्पग्रासात् ।

★ जयलता ★

अथ घटस्य प्राथमिकाभिव्यक्तौ कुलालादिव्यापारसमुदायस्य कारणत्वमभिव्यक्तिसामान्ये च चक्षुरादिवत् कपालद्वयविजातीयसयोगस्य कारणत्वम् । कुलालादिव्यापारात् प्राक् तदभावादेव सतोऽपि घटस्याऽनभिव्यक्तिरित्यस्तु मौलतृतीयविकल्पाऽङ्गीकार इति साङ्ख्याऽऽशङ्कामसत्कार्यवादिनो ऽपहस्तयन्ति- अत एवेति प्राक् तदसत्त्वेऽपि पश्चाद्भवने सत्कार्यवादत्यागपूर्वकमसत्कार्यवादापातादेव न तृतीयोऽपि अनुपलब्धेः व्यञ्जकाभावत्वरूपविकल्प' युक्तः । असत्कार्यवादाऽप्रवेशकृते घटस्य प्राथमिकोपलब्धौ कुलालादिसमुदायस्येति । कारणत्व इति अत्राऽनुपज्यते । यद्यपि प्रकृतप्रकरणकारीयहस्तादर्शेऽत्र 'कुविन्दादिसमुदायस्य'ति श्रीधरकृतन्यायकन्दल्यनुवादरूपेणोक्त तथापि प्रकृते उपक्रमोपसहारविरोधात् स पाठोऽस्माभि' त्यक्तः 'कुलालादिसमुदायस्ये'ति पाठो गृहीत इति नोपक्रमोपसहारविरोध इति विमुक्तशब्दाऽऽग्रहैः पर्यालोचितार्थसाङ्गत्यै' विबुधैर्विभावनीयम् । उपलब्धिमात्रे = उपलब्धित्वाऽवच्छिन्ने वा कपालद्वयविजातीयसयोगस्य कारणत्वेऽपि तयो कुलालादिसमुदाय-विजातीयसयोगयोः व्यापारात् प्राक्सत्त्वाऽऽवश्यकत्वात्, अन्यथाऽपसिद्धान्तापातादिति । ततश्च तयोः सर्वदा तत्र सत्त्वात् तदुपलब्धिप्रसङ्गकालुष्याऽदयकत्वर्थनातादवस्य्य गीर्वाणगुरुणाऽपि पराणेतुमशक्यमित्यत्र नैयायिकतात्पर्यम् ।

ननु कुलालादिव्यापार-विजातीयसयोगौ अभिव्यक्ताऽनभिव्यक्तभेदात् द्विविधौ । तत्र यौ अभिव्यक्तौ तयोरेव घटाऽभिव्यञ्जकत्व न त्वनभिव्यक्तयोरित्याशयेन साख्य आह आविर्भूतयोरेवेति । एवकारेणाऽनाविर्भूतत्वव्यवच्छेदः कृतः । तयो = कुलालादिसमुदाय - विजातीयसयोगयोः तथात्व = घटोपलम्भकत्वम् । पूर्वमनाविर्भूतो सम्प्रति कारणैरभिव्यज्यमानौ घटमभिव्यनक्त इति साख्याशयः ।

ननु तदाविर्भावोऽपि प्राक् सदऽसद्वेति विकल्पयुगल कुञ्जरस्थूलविमलदन्तयुगलमिव प्रतीतिपथाऽतिथिभाव भजतीत्याशयेन नैयायिकास्तदपवदन्ति - नेति । आविर्भावस्यापि = कुलालादिसमुदाय-विजातीयसयोगविषयकाभिव्यक्तेरपि, सदसद्विकल्पग्रासादिति । तदाविर्भावश्चेत् प्राक् सन् तदा

● रमणीया ●

ह-ऐसा माना जायेगा तब तो असत्कार्यवाद का प्रसग होगा, क्योंकि घट मे पहले से अविद्यमान अर्थक्रियाकारिस्वरूप बाद मे उत्पन्न होता है-यह मानना असत्कार्यवाद का ही स्वरूप हे ।

● तृतीय विकल्प की असगति ●

अत एव न० इति । दूसरे विकल्प के स्वीकार मे जैसे असत्कार्यवादमतप्रवेशस्वरूप अनिष्ट प्रसग आता हे ठीक वैसे तृतीय विकल्प मे भी यह दोष लागु पडता है । अत तृतीय विकल्प भी मान्य नही हो सकता। तृतीय विकल्प था - 'अनाविर्भाव = व्यजकाभाव' । अर्थात् 'कुम्हारादि के प्रयत्न के पूर्व मे घट की अनुपलब्धि का कारण है घटव्यजक का अभाव'। इस तृतीय विकल्प मे भी यही प्रश्न होगा कि-व्यजक पूर्व मे अविद्यमान है या विद्यमान हे? यदि व्यजक पूर्व मे अविद्यमान हैं और बाद मे उत्पन्न होता है- यह माना जाय तो असत् कार्य वादी के मत मे प्रवेश होगा जायेगा ।

यदि साख्यदर्शनविशारदो की ओर से ऐसा कहा जाय कि→घटादि की उपलब्धि द्विविध होती हैं । एक तो प्राथमिक उपलब्धि और दूसरी सामान्य उपलब्धि । घटात्मक कार्य के प्रथम ज्ञान का कारण होता हैं कुलाल आदि का समुदाय ओर घटविषयक ज्ञान सामान्य का कारण होता है विजातीयसयोग । विजातीयसयोग प्रथम-अप्रथम सब घटज्ञान का कारण हैं । जब कुम्हार आदि का समुदाय अनुपस्थित होता है तब कपाल मे विद्यमान घट का भी प्रथम ज्ञान होता नही है, क्योंकि प्राथमिक व्यजक न होने पर प्रथम अभिव्यकित कौन करेगा ? तथा जिस कपाल मे कुम्हार ने प्रयत्न ही कभी किया नहीं हे उस कपाल मे विद्यमान घट का भी ज्ञान नही होने का कारण यह है कि उस अवस्था मे घटविषयक ज्ञानसामान्य का कारण विजातीयसयोग होता नहीं हे । अत अनाविर्भाव का अर्थ व्यजकाभाव करना ही ठीक है'←तो यह भी ठीक नहीं है इसका कारण यह ह कि प्रथम ज्ञान के कारण और प्रथमाप्रथम ज्ञान के कारण को भी पूर्व मे विद्यमान मानना आवश्यक हे । यदि घटादि कार्य विषयक प्राथमिक ज्ञान ओर ज्ञान सामान्य के कारण (= व्यजक), दोनो को पूर्व अवस्था मे अविद्यमान माना जाय ओर बाद मे (= घटविषयक प्रथम ज्ञान और ज्ञान सामान्य की उत्पत्ति के पश्चात् काल मे) विद्यमान माना जाय तब तो असत्कार्यवाद का प्रसग होगा । असत्कार्यवाद प्रसग को दूर करने के लिए पूर्व अवस्था (= व्यापार के पूर्व काल) मे भी उपर्युक्त दोनो कारणो को विद्यमान मानना साख्यविशारदो के लिए जरूरी है । जब दोनों ही कारण यानी कुम्हार आदि का समूह और विजातीयसयोग विद्यमान हैं - ऐसा साख्यशास्त्रानुसार सिद्ध होता है तब तो उस अवस्था मे घटविषयक प्रथम और अप्रथम ज्ञान जरूर होगा। बाधक की अनुपस्थिति हे और साधक की उपस्थिति है तब सिद्धि (= ज्ञान) मे विलम्ब क्यो होगा? मगर उस अवस्था मे न तो घटविषयक प्राथमिक ज्ञान होता

'विजातीयसंयोगाद्याविर्भावस्य प्राक्सत्त्वेऽपि विजातीयसंयोगेन सम तस्य सबंधो नाऽऽसीत्' इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तद्दोषानतिवृत्तेः ।

★ जयलता ★

घटोपलम्भप्रसङ्गस्तदवस्थ एव । चेदाविर्भावः प्राक् असन्, कथं घटोपलब्धेः कारणम् ? अन्यथा पश्चाननशृङ्गमपि तत्कारणं स्यात्, प्रागसतः आविर्भावस्य पश्चाद्भावेऽसत्कार्यवादप्रवेशश्चेति यौगाशयः ।

साङ्ख्य आह - विजातीयसंयोगाद्याविर्भावस्येति। आदिशब्देन कुलालादिसमुदायग्रहणम्। व्यापारात् प्राक् सत्त्वेऽपि विजातीयसंयोगेन समसिति। विजातीयसंयोगस्योपलक्षणत्वात्कुलालादिसमुदायस्याऽपि ग्रहणम्। तस्य = विजातीयसंयोगाद्याविर्भावस्य सबन्धो नासीदिति। यथा विशकलितघटजलयोः सत्त्वेऽप्यसम्बद्धत्वेन 'जलवान् घट' इत्युपलम्भो न भवति तथैव विजातीयसंयोगादि-तदाविर्भावयोः प्राक् सत्त्वेऽप्यसम्बद्धत्वेन विशिष्टोपलम्भो न भवति। विशिष्टोपलम्भस्यैव घटत्वप्रकारत्वान्न तदा घटोपलम्भोऽपीति कापिलाभिप्राय ।

नैयायिकास्तमपाकुर्वन्ति - 'इत्यप्यसमीक्षिताभिधानमि'ति। कथ? तद्दोषानतिवृत्तेरिति। तथा हि - विजातीयसंयोगादि-तदाविर्भावयोः सम्बन्धः प्राक् सन् असन् वा? इति द्विपक्षीराक्षसी प्रत्यक्षीभवतीति। तस्य प्राक् सत्त्वे उपलब्धिप्रसङ्गस्तदवस्थ, प्रागसतः तस्य पश्चाद्भावे चाऽसत्कार्यवादप्रवेशप्रसङ्ग' पूर्ववदस्थ एवेति।

★ रमणीया ★

ह और न तो द्वितीयादि ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि उपरम्भक सामग्री विद्यमान होने पर भी घट का उपलम्भ न होने से व्यापार के पूर्व काल में घट अपने उपादानकारणभूत कपाल में अविद्यमान होता है ।

साङ्ख्य :- आवि० इति । आप बिना सोचे दोषारोपण कर रहे हैं । हम ऐसा मानते नहीं हैं कि→'घटविषयक प्रथम ज्ञान का कारण कुलालादि का समुदाय है और घटविषयक बोधसामान्य के प्रति विजातीयसंयोग कारण है'←। इसका कारण यह है कि कुम्हारादिसमुदाय और विजातीयसंयोग के दो प्रकार होते हैं-आविर्भूत और अनाविर्भूत । इनमें से अनाविर्भूत कुम्हारादिवृन्द और विजातीयसंयोग तो व्यापार के पूर्व में भी होते हैं, मगर वे घट के प्रथम-अप्रथम ज्ञान के कारण नहीं हैं, किन्तु आविर्भूत कुलालादिसमूह घटविषयक प्रथम ज्ञान का कारण है और आविर्भूत विजातीयसंयोग घटगोचर ज्ञानमात्र का कारण है। अत कुम्हारादि का कपाल आदि में प्रयास न होने के पूर्व काल में घटादि के प्राथमिक-द्वितीय आदि ज्ञान होते नहीं हैं ।

● आविर्भाव सत्-असत्विकल्पयुगलात्मक ब्रह्मास्त्र से परास्त - नैयायिक ●

नैयायिक :- न आवि० इति । वाह, साङ्ख्यविद्वान ! जैसे बौद्ध सतान-सतानी की मायाजाल बिछाते हैं, वेदान्ती व्यावहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता की बार बार धून लगाते हैं, प्राभाकर भेदाग्रह और भेदग्रह को अपना गुरुमन्त्र बनाते हैं, ठीक उसे ही आप भी आविर्भाव-अनाविर्भाव का षड्यन्त्र रचते हैं । मगर हमने धूप में पका कर बाल सफेद किये नहीं हैं । आपका मनोवाञ्छितपूरण सुरतरु आविर्भाव भी सत्-असत्विकल्प-युगलरूप ब्रह्मास्त्र से परास्त हो जाता है। हम आप से यह प्रश्न करते हैं कि - 'घटविषयक प्राथमिक ज्ञान के जनक आविर्भूत कुलालादिवृन्द और ज्ञानमात्र के कारण आविर्भूत विजातीयसंयोग में कुलालादि प्रयास के पूर्व काल में आविर्भाव सत् (=विद्यमान) होता या अविद्यमान ?' यदि आविर्भाव विद्यमान है तब तो उस अवस्था में घटादि का प्राथमिक-अप्राथमिक ज्ञान अवश्य ही उत्पन्न होना चाहिए । मगर कुलालादिवृन्दव्यापार के पूर्व काल में घटादि की उपलब्धि होती नहीं है । तब वह आविर्भाव असत् होता है - यह तो साङ्ख्य महाशय स्वप्न में भी कह नहीं सकते, क्योंकि प्राक् असत् आविर्भाव की पश्चात् सत्ता सिद्ध होने से असत्कार्यवादी नैयायिक के मत में प्रवेश हो जायेगा, जो कि अपने जान की कुरबानी देने पर भी साङ्ख्यमनीषियों को नामजूर है ।

साङ्ख्य : विजा० इति । नहीं, नहीं, नहीं, आविर्भाव तो कुम्हार आदि के व्यापार के पूर्व काल में भी कुलालादिवृन्द और विजातीयसंयोग में रहता ही है । फिर भी उस अवस्था में घटगोचर बोध न होने का कारण यह है कि विजातीयसंयोगाविर्भाव का विजातीयसंयोग के साथ और कुलालादिवृन्दाविर्भाव का कुलालादिसमूह के साथ सबंध कुलालादि के प्रयास के पूर्व में नहीं था। अत उस काल में घटादिविषयक ज्ञान होता नहीं है । कुलाल आदि जब कपाल आदि में अपनी करामत का उपयोग करते हैं तब विजातीयसंयोगविषयक आविर्भाव का विजातीयसंयोग के साथ एवं कुलालादिसमुदायविषयक आविर्भाव का कुलालादिसमूह के साथ सबंध होता है । अत उस काल में घटादिगोचर प्रथम-अप्रथम ज्ञान का आविर्भाव होता है, उसके पूर्व काल में नहीं ।

● आविर्भाव का सबंध भी अनुत्थानपराहत - नैयायिक ●

नैयायिक : इत्यपि असमी० इति । आपका यह कथन भी अविचारित रमणीय है । इसका कारण यह है कि यहाँ आविर्भाव का सबंध भी सत्-असत्विकल्प से ग्रस्त हो जाता है। आशय यह है कि विजातीयसंयोगविषयक आविर्भाव का विजातीयसंयोग से सबंध कुलालादि के व्यापार के पूर्व काल में विद्यमान है या अविद्यमान है ? यदि विद्यमान है तो पुन उस काल में भी घटादिगोचर ज्ञानोत्पाद की अनिष्ट आपत्ति आयेगी। 'तब वह सबंध अविद्यमान है और कुलालादि के व्यापार के पश्चात् काल

एतेन विषयिताविशेषसंबंध एव घटत्वादेर्विजातीयसंयोगजन्यतावच्छेदकतावच्छेदकोऽस्तु अनन्तप्रागभावप्रध्वंसाद्यकल्पनलाघवा-

★ जयलता ★

एतेनेति। सदसद्विकल्पग्रासेणेति। अन्वयश्चाऽस्य 'परास्तमि'त्यनेन। पूर्वं तावत् नव्यसांख्यमतमुपदर्श्यते। नवीनसांख्यमते कपालद्वयविजातीयसंयोगकार्यं न घटः किन्तु घटसाक्षात्कारः। विजातीयसंयोगनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावति घटसाक्षात्कारे समवायेन स्वरूपेण वा घटसाक्षात्कारत्व स्वनिष्ठविशेष्यताख्यविषयतानिरूपितविशेष्यिताभिधानविषयितासंबन्धेन घटः, स्वनिष्ठप्रकारताख्यविषयतानिरूपितप्रकारिताभिधानविष- यितासंबन्धेन च घटत्व वर्तते। किन्तु घटसाक्षात्कारत्वस्य विजातीयसंयोगजन्यतावच्छेदकत्वे गौरवम्। घटस्याऽननुगतत्वेन सत्त्वोपगमे च व्यभिचारः। अतः तादृशसंबन्धेन घटत्वस्यैव तत्त्वम्। दर्शितपरंपरासंबंधेन घटत्वस्य कार्यवृत्तित्वात् तादृशसम्बन्धस्य कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्वम् 'येन सम्बन्धेन कार्यतावच्छेदकस्य कार्यवृत्तित्व सः सम्बन्धः कार्यतावच्छेकतावच्छेदको भवती'ति नियमात्। अतो विजातीयसंयोगनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकी-भूतघटत्वनिष्ठाया अवच्छेदकताया अवच्छेदको दर्शितविषयिताविशेष एवेत्यत आह - विषयिताविशेषसम्बन्ध एवेति स्वनिष्ठप्रकारताख्यविषयता-निरूपितप्रकारिताभिधानविषयितात्मकससर्ग इत्यर्थः। एवकारेण समवायस्य व्यवच्छेदः कृतः। घटत्वादेरिति। आदिशब्देन पटत्वादेर्ग्रहण न तु घटस्य, कारणस्य प्रागुक्तत्वात्। विजातीयसंयोगजन्यतावच्छेदकतावच्छेदकोऽस्त्विति कपालद्वयादिविलक्षणसंयोगनिष्ठजनकतानिरूपिताया घटसाक्षा-त्काराभिधानकार्यनिष्ठकार्यताया घटत्वनिष्ठावच्छेदकत्वस्याऽवच्छेदकः = नियामको भवत्वित्यर्थः। 'कथ न घटत्वादिनिष्ठायाः विजातीयसंयोगनिरूपितज-न्यतावच्छेदकताया अवच्छेदकत्व समवाये एवे'ति नैयायिकाशङ्काया नव्यसांख्य आह - अनन्तप्रागभावप्रध्वंसाद्यकल्पनलाघवादिति। आदिशब्देन कारणत्वकार्यत्वादिग्रहणम्। समवाय एव घटत्वादेः विजातीयसंयोगजन्यतावच्छेदकतावच्छेदक इत्यङ्गीकारे घटस्यैव कार्यत्व स्यात्, 'कार्यतावच्छेदकताऽव-च्छेदकसम्बन्धेन कार्यतावच्छेदकाश्रयस्यैव कार्यत्वमि'ति नियमात्। ततश्चाऽनन्ताना घटादिप्रतियोगिकप्रागभावाना, जन्यभावस्याऽनित्यत्वात् तत्प्रध्वंसाना, तत्तत्प्रागभावप्रतियोगित्वरूपाणा घटादिनिष्ठकार्यताना घटादिनिरूपिततत्तत्कारणताना कामिनीजिज्ञासादिनिरूपितप्रतिबन्धकताना घटादिनिरूपिततत्तत्प्र-तिबध्यताना चाऽवश्यकल्पनीयत्वेन नैयायिकमते स्फुट गौरवम्। न च नूतनसांख्यमतेऽपि घटाद्युपलब्धिप्रतियोगिकाऽनन्तप्रागभावप्रध्वंसादिकल्पनाया आवश्यकत्वेन तुल्यगौरवमिति वाच्यम् तेषा तु नैयायिकेनाऽप्यवश्यकल्पनीयत्वात्। न च तथापि घटाद्युपलब्धिमात्रस्य यानि कारणानि तदतिरिक्तकारणाना घटादिप्राथमिकोपलब्ध्यनुरोधेनाऽवश्यकल्पनीयत्वेन गौरव तदवस्थमेति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरिति न्यायागम इति वाच्यम् तथापि घटादिप्रतियोगिकाऽनन्तप्रागभावप्रध्वंसप्रतिबन्धकताप्रभृत्यकल्पनेन लाघवात्। एतेन यानि च त्वया प्राथमिकघटाद्युपलब्धिकारणानि कल्प्यन्ते तान्येव मया घटादिकारणानीत्यङ्गीक्रियते इति तुल्य कारणत्वकल्पनागौरवमित्यपि निराकृतमिति।

● रमणीया ●

पश्चात् काल मे वह उत्पन्न होता है' ऐसा तो सांख्य लोग मान सकते नहीं ह, क्योंकि तब तो असत्कार्यवाद को मान्य करना होगा। इस तरह कुलालादिसमूहविषयक आविर्भाव का कुलालादिसमूह के साथ संबंध भी पूर्वकाल मे सत्-असत् विकल्प से ग्रस्त हो जाता है। अत तादृश आविर्भाव के संबंध को मान्यता दी जा नहीं सकती, जिसकी बुनियाद पर सत्कार्यवाद का झंडा लहराये।

● असत्कार्यवाद की अपेक्षा सत्कार्यवाद मे लाघव है - नव्यसांख्य ●

नव्यसांख्य : विषयिता० इति। उस्ताद ' असत् कार्यवाद की अपेक्षा सत्कार्यवाद के स्वीकार मे लाघव ह। घट के दृष्टात से यह स्पष्ट हो जायेगा। सत्कार्यवादी के मत मे कपाल मे घट रहा हुआ ही है। अत कपालद्वय के विजातीय संयोग मे घटकारणता मानी जाती नहीं है, किन्तु ज्ञानजनकता मानी जाती है। अत कपालद्वय के विजातीयसंयोग का विषयितासंबंध से कार्यतावच्छेदक होगा घट और तथा विषयिताविशेष संबंध से अर्थात् प्रकारताख्यविषयतानिरूपितविषयिता संबंध मे कपालद्वय के विजातीयसंयोग का कार्यतावच्छेदकतावच्छेदक होगा घटत्व। तात्पर्य यह है कि कपालद्वय का विलक्षण संयोग घटज्ञान का कारण है, घटज्ञान उसका कार्य है। कार्य मे रहनेवाला धर्म कार्यतावच्छेदक होता है। यहाँ घट विषय है और ज्ञान विषयी है। अत घट स्वनिष्ठविषयतानिरूपित विषयिता संबंध से ज्ञान मे रहेगा। यहाँ घट तो अननुगत है। अत अननुगत घट को कार्यतावच्छेदक मानने पर व्यतिरेकव्यभिचार प्रसक्त होगा। अत अनुगत एक घटत्व धर्म को कपालद्वयविलक्षणसंयोग का कार्यतावच्छेदकतावच्छेदक मानना होगा। घटज्ञानात्मक कार्य मे प्रकार है घटत्व और विशेष्य है घट। अत घट मे विशेष्यताख्य विषयता रहती है और घटत्व मे विशेषणताख्यविषयता रहती है। अत ज्ञान मे घट (A) स्वनिष्ठविशेष्यताविषयतानिरूपित विषयिता संबंध से रहेगा और घटत्व (B) स्वनिष्ठप्रकारताख्यविषयतानिरूपित विषयिता संबंध से रहेगा। अत उक्त विषयिताविशेष कपालद्वयविलक्षणसंयोगनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकता का अवच्छेदक संबंध होगा। तादृश कार्यतावच्छेदकता घटत्व मे स्वरूपसंबंध से रहती है। वस्तुत यहाँ स्वनिष्ठप्रकारताख्यविषयतानिरूपित विषयितासंबंध से घटत्व ही कपालद्वयविजातीयसंयोगनिष्ठकारणता निरूपित कार्यता का अवच्छेदक है - यह ध्यान मे रहे। अत यहाँ तत् तत् अनंत प्रागभाव की और उसमे तत् तत् कार्य की कारणता की कल्पना करनी आवश्यक नहीं है। इसका कारण यह है कि कार्य का प्राक् = कर्तृव्यापारपूर्वकाल मे अभाव ही होता नहीं ह। जब कि असत् कार्यवादी के मत मे तो सब कार्य की सब कारण से उत्पत्ति

दित्यपि परास्तम् तदभावेऽपि घटत्वविनिर्मुक्तविषयिताकघटसाक्षात्कारापत्तेश्च ।

★ जयलता ★

ननु तथाऽपि नेदं सम्भवति, कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्यात् । तथाहि - घटादिसाक्षात्कारो ह्यात्मनि जायते विजातीयसंयोगस्तु कपालादौ वर्तत इति स्फुटमेव तदसामानाधिकरण्यमिति एकं सीव्यतोऽपरप्रच्युतिरिति चेत् ? मैवम् अभिप्रायाऽपरिचयात् । मया हि विशेष्यतास्वविषयत्वैव कार्यतावच्छेदकत्वेनोपगम्यते न तु समवायः, तस्याऽसिद्धेः । 'अयं घटः' इत्याद्याकारकज्ञानीयविशेष्यताऽभिधानविषयतासम्बन्धेन घटादिसाक्षात्कारस्य घटे सत्त्वात् । अत एव पामरा अपि वदन्ति 'मम घटे ज्ञानं जातमि'ति । तत्र च विजातीयसंयोगो वर्तत एव, उपादानोपादेययोस्तादात्म्यस्य प्राक् साधितत्वात् । अत एव विषयतया साक्षात्कारो घटादौ विजातीयसंयोगस्तु कपालादावित्यस्याऽपि अनवकाश इति गूढतरो नूतनकापिलाभिप्रायः ।

ननु पाटच्चरविलुण्टिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमेतदनुसरतीत्याशयेन नैयायिकास्तत्प्रत्याचक्षते-इत्यपि परास्तमिति । अयं भावः कुलालादिव्यापारात्प्राक् साक्षात्कारे विषयिताविशेषसम्बन्धेन घटत्वं वर्तते न वेति पक्षद्वयमपि विचारपदवीमारोप्यमाणं न पात्रतामवगाहते, यतः प्राक् तस्य तत्र सत्त्वे घटसाक्षात्कारोदयप्रसङ्गतादवस्थ्यात्मकः शाकिनीविकारमितसततोऽतङ्कः कथमपि 'परा॰कर्तुं नैव पार्यते प्राक् तदसत्त्वे चाऽसत्कार्यवादापादनमविरललुललूलोलकल्लोललीलामनुशीलयत् प्रतिकलमुन्मीलति । यद्वा कुलालादिव्यापारात्प्राक् विजातीयसंयोगः सन् यदुताऽसन्निति कल्पनोभयी सभयीकरोति भवन्तम्, नाऽऽद्याऽनवद्या, तदानीं घटोपलब्धिकलङ्कितदुर्लग्नासङ्गतिमालिन्यस्याऽनिर्वाल्लनीयत्वात् । नापि द्वितीया चारुतामञ्चति, यतः पूर्वोक्तविप्रकारसारोदारस्फारतरऽसत्कार्यवादापाताऽनल्पप्रोञ्ज्वलल्लोलग्राहस्याऽनुत्तरणीयत्वादनणीयोऽधिषणैर्भवद्भिरिति ।

प्राक् विजातीयसंयोगासत्त्वे दोषान्तरं प्रणिगदन्ति यौगाः तदभावेऽपि = स्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रकारितासम्बन्धेन घटत्वविशिष्टसाक्षात्काररूपस्य कार्यस्याऽभावेऽपि, घटत्वविनिर्मुक्तविषयिताकघटसाक्षात्कारापत्तेश्चेति । घटत्वाऽप्रकारकघटविशेष्यकप्रत्यक्षोदयापाताच्चेत्यर्थः । अयं नैयायिककथनाभिप्रायः भवतु नाम कुलालव्यापारात् प्राक् विजातीयसंयोगाभावः । अत एव मा भवतु विषयिताविशेषसम्बन्धेन घटत्वविषयिताकः साक्षात्कारः कारणाऽभावे कार्याऽभावस्य न्याय्यत्वात् परन्तु तदानीं घटस्तु तव मते विद्यमान एव । अतः सत्या तज्जिज्ञासायां सत्सु चोपलब्धिकारणेषु घटत्वाऽनवगाहि-घटविषयकोपलम्भस्तु स्यादेव, तस्य विजातीयसंयोगकार्यताऽनाक्रान्तत्वात् । न च घटत्वशून्यविषयताकघटज्ञानमप्रसिद्धत्वादेव तदा नोपजायते । यादृशं हि क्वचित् प्रसिद्धं तादृशमेवाऽऽपाद्यते, क्लृप्तसामग्रीबलात् । सर्वथाऽप्रसिद्धं तु नाऽऽपादनाऽर्हं, असिद्धसामग्रीकत्वादिति साम्प्रतम् यथा 'घटाऽभावप्रतियोगितावच्छेदकं किमि'ति जिज्ञासायां घटविनिर्मुक्तविषयिताकघटत्वज्ञानमुपजायते तथैवाऽव्युत्पन्नस्य घटत्वविरहितविषयिताकघटावबोधो जायत एव । न च तस्य घटत्वाऽवगाहित्वमेवेति वक्तव्यम् प्रमाणाभावात्, अनुभवविरोधाच्च । न ह्यनधीतदर्शनशास्त्राणां घटत्वादिकं भासत इति कदापि दृष्टं श्रुतं पठितं ज्ञातं वा, इदन्त्वेनापि तत्सम्भवात् । अतोऽव्युत्पन्नस्य कुलालव्यापारात्प्राक् घटत्वाऽनवगाहिघटप्रत्यक्षं स्यादेव

● रमणीया ●

के प्रसंग का निवारण करने के लिए अनंत प्रागभाव में कारणता माननी आवश्यक ही है। 'जिसका प्रागभाव जिसमें होगा उसमें उस कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्य कार्य की नहीं' - यह असत्कार्यवादी नैयायिकों की मान्यता है। इस तरह जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी नैयायिकादि मानते हैं। अतः अनंत भावकार्य के प्रध्वंस की भी असत्कार्यवादी के मत में कल्पना करनी आवश्यक होती है। जब कि सत्कार्यवादी के मत में वस्तुमात्र नित्य होने से उसके प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की तथा उनमें कारणता और प्रागभावप्रतियोगित्वस्वरूप कार्यत्व की कल्पना अनावश्यक है। अतः लाघव तर्क से भी असत्कार्यवाद की अपेक्षा सत्कार्यवाद ही कल्याणकारी है।

● विषयिताविशेष भी जन्यतावच्छेदकसंबंध नहीं - नैयायिक ●

नैयायिक :- इत्यपि परास्तम्॰ इति । बाबा ! अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत ! जैसे आविर्भाव का विजातीयसंयोग के साथ संबंध सत्-असत् विकल्पस्वरूप शस्त्र से शीर्ण-विशीर्ण हो गया ठीक वैसे ही विषयिताविशेष संबंध भी उसीसे नौ-दो-ग्यारह हो जायेगा। वह इस तरह→'कुलालादि व्यापार के पूर्व काल में विजातीय संयोग का कार्यतावच्छेदकीभूत घटत्व उक्त (B) विषयितासंबंध से घटज्ञान में विद्यमान है या अविद्यमान है?' यदि-'वह विद्यमान है?'- ऐसा स्वीकार किया जाय तो इसका मतलब यह होगा कि कुलालव्यापार के पूर्व भी कार्यतावच्छेदकसंबंध से विजातीयसंयोग का कार्यतावच्छेदक (=घटत्व) कार्यभूत घटज्ञान में रहता है तब तो घट का साक्षात्कार उस अवस्था में होना ही चाहिए। मगर वैसा अनुभव होता नहीं है, क्योंकि तब तो 'कुलालव्यापार प्राक् काल में घट का उपलम्भ क्यों होता नहीं है?' यह पर्यनुयोग ही उपस्थित न होता। यदि दूसरे विकल्प का अंगीकार किया जाय कि - वह अविद्यमान है। तब तो सांख्यमतानुसार वह कुलालव्यापार के पश्चात् समय में भी अविद्यमान ही रहेगा। मगर वैसा अनुभव होता नहीं है। पश्चात् काल में तो तादृशविषयिता संबंध से घटत्वविशिष्ट घटज्ञान सर्वजन प्रसिद्ध है, जिसका अपलाप करना सांख्य विद्वानों के लिए अनुचित है। यदि प्राक् अविद्यमान की पश्चात् विद्यमानता को मान्यता दी जाय तब सर्वजनविदित अनुभव का अपलाप तो नहीं होगा मगर सत्कार्यवाद का त्याग और असत्कार्यवादमतप्रवेश तो जरूर उपस्थित होंगे, जिसका प्रतिकार नामुमकिन है, भले ही बृहस्पति या वाचस्पति सांख्यमतानुयायी की सहायता दे दे।

● नव्यसांख्यमत में घटत्वानवगाही घटज्ञान की आपत्ति ●

तदभा॰ इति । विषयिताविशेष संबंध से घटत्व को कार्यतावच्छेदक माननेवाले नव्य सांख्य के मत में इसके अतिरिक्त दोष

किञ्च, घटादेः कुम्भकारादिव्यङ्ग्यत्वे जन्यत्वव्यवहारो निरालम्बनः स्यात्, अन्यथा तरुणतरणिकिरणनिकराभिव्यज्यमाने घटे तज्जन्यत्वव्यवहारापत्तेः ॥३॥

नाऽपि तुरिय , महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरूपायाश्चाक्षुपादियोग्यतायाः प्रागुक्तदिशा प्रागपि सत्त्वात् ॥४॥

★ जयलता ★

घट-तदुपलम्भसामग्रीसत्त्वादिति नैयायिकाशयः ।

घटादेर्व्यङ्ग्यत्वोपगमे दोपान्तर प्रादुर्भावयन्ति-किञ्चेति । घटादे कुम्भकारादिव्यङ्ग्यत्वे उपगम्यमाने कुम्भकारादेर्घटव्यञ्जकत्वाद् घटादेश्च तद्व्यङ्ग्यत्वात् लोकप्रसिद्धः प्रामाणिकः जन्यत्वव्यवहार· उपलक्षणात् जनकत्वव्यवहारः च, निरालम्बन = निर्निमित्तकः स्यात् । 'घटादिः कुम्भकारादिजन्यः कुम्भकारादिश्च घटादिजनक' इत्यादिरूपस्य जन्यत्वादिप्रकारकव्यवहारस्याभावः स्यात् अप्रामाणिकत्वमिति तात्पर्यम् । विपक्षवाधमाहु' अन्यथेति व्यङ्ग्येऽपि जन्यत्वादिव्यवहारोपगमे तरुणतरणिकिरणनिकराऽभिव्यज्यमाने = वालरविकरवृन्दाविर्भवति, घटे तज्जन्यत्वव्यवहारापत्ते = भास्करजन्यत्वव्यवहारप्रामाण्यापातात् । उपलक्षणात् मित्रस्य घटजनकत्वव्यवहारप्रमात्वप्रसङ्गः वोध्यः । एतेन 'एकस्याः मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निस्सरन्त आविभवन्तः उत्पद्यन्त इत्युच्यते निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यते' [सा त कौ पृ १५४] इति साख्यतत्त्वकौमुदीकारवचन निराकृतम् सवितुरस्ताचलगमने घटादिनाशकत्वस्य घटादेश्च तन्नाश्यत्वस्य व्यवहारापातात् ॥३॥

अथ कुलालादिव्यापारात् प्राक् सतो घटादेः अनाविर्भावो योग्यत्वाभावस्वरूपः । उपलब्ध्ययोग्यत्वादेव तदानीं न घटाद्युपलम्भः । न च वस्तुनः सत्त्वे कथमयोग्यत्वमिति शङ्कनीयम् दृश्यते हि लोके यदुत यावद् वार्धकिना दारोर्निरुपयोग्यशा न दूरीक्रियन्ते न तावत् सतोऽपि तस्य घटजननयोग्यत्व, किन्तु तदनुपयोग्यवयवाऽपाकरणे दण्डव्यपदेशदशायामेव घटजननयोग्यत्वम् । सुप्रतीत ह्येतत् सतोऽपि तदयोग्यत्वम् । तद्वदेव घटादेरपि प्राक् नोपलब्धियोग्यत्वमपि तु पश्चादेवेति न कुलालादिव्यापारात्पूर्वं तदुपलम्भापादन सम्भवति, आपादकाभावादिति चतुर्थो विकल्प एवाऽस्तु नः शरणमिति साख्याशङ्का निराकर्तु नैयायिकाः प्रतिपादयन्ति - नाऽपि तुरिय इति । महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरूपायाश्चाक्षुपादियोग्यताया प्रागुक्तदिशा = असत्कार्यवादाऽप्रवेशप्रयोजनकरीत्या, कुलालादिव्यापारात् प्रागपि सत्त्वात् । तादृशयोग्यता प्राक् सती वाऽसती

● रमणीया ●

यह भी है कि कुलालादिव्यापार के पूर्व काल मे उक्त (B) विपयितासवध से घटत्व की घटज्ञान मे उपस्थिति न होने पर भी घटत्वानवगाही ऐसा घटविषयक अनुभव तो होना ही चाहिए, क्योकि घट की उपस्थिति तो कुलालादि व्यापार के पूर्व मे भी साख्य मनीपियो के लिए अवश्य स्वीकार्य है, अन्यथा असत्कार्यवाद मत मे साख्य का प्रवेश हो जायेगा। अत विजातीय सयोग का कार्यतावच्छेदक घटत्व भले उक्त विषयिताविशेष सवध से घटज्ञान मे न रहे, मगर तादृशविपयिता सवध से घटत्व के अनवगाही घटज्ञान की उत्पत्ति तो कुलालव्यापार के पूर्व काल मे भी साख्य के मत मे अनिवार्य है, जो अनुभवविरुद्ध है और व्यवहारविरुद्ध भी। कुलालव्यापार के पूर्व काल मे मृत्पिड मे घटत्वाऽप्रकारक-घटविशेष्यक साक्षात्कार का जन्म कभी सुनने मे आया नही है।

● व्यग्यत्वपक्ष मे जन्यत्वव्यवहार निर्निमित्तक ●

किच घटा० इति । एक वात और भी ध्यान देने योग्य हे कि - 'अनाविर्भाव व्यजकाभावात्मक है' इस तृतीय विकल्प की यहाँ चर्चा हो रही है। यदि कुलालादि के व्यापार के पूर्व कुलालादिस्वरूप व्यजक का अभाव माना जाय तव अर्थ यह प्राप्त होगा कि कुलालादि व्यजक है और घटादि व्यग्य है। इस स्थिति मे घट मे कुभकारादिव्यग्यत्व का व्यवहार होगा, न कि कुभकारादिजन्यत्व का। मगर लोक मे तो घट मे कुभकारादिजन्यत्व का व्यवहार होता है। वह निर्निमित्तक होगा। घट मे कुभकारजन्यत्व तव हो सकता यदि कुलाल मे घटजनकत्व होता। मगर कुलाल मे घटजनकत्व तो नही है किन्तु घटव्यजकत्व ही है। अत घट मे कुभकारादिजन्यत्व व्यवहार निरालवन हो जायेगा। कुभकारनिष्ठ घटव्यजकत्व को जन्यत्वव्यवहार का निमित्त माना जाय तव तो वालरवि के किरण से अभिव्यज्यमान घट मे, जो पहले रात्रि के अधकार से आवृत्त-प्रच्छन्न था, सूर्यकिरणजन्यत्व के व्यवहार की आपत्ति होगी। इस अवस्था मे सुवह मे सूर्यप्रकाशित घट मे, जो कुम्हार ने रात को वनाया था, 'सूर्यनारायण ने यह घट पैदा किया' यह व्यवहार प्रामाणिक हो जायेगा। मगर ऐसा व्यवहार होता नही है और अगर साख्य महाशय तादृश व्यवहार करेगे तो भी शिष्ट लोक उसे प्रामाणिक नही मानेंगे। अत कुम्हार को घट का व्यजक नही माना जा सकता है। इस तरह 'अनाविर्भाव = व्यजकाभाव' ऐसा तृतीय विकल्प भी ठीक नही है।

● अनाविर्भाव योग्यत्वाभावात्मक नही - नैयायिक ●

नापि तु० इति । यदि साख्य विद्वानो की ओर से ऐसा कहा जाय कि⟶'अनाविर्भाव योग्यत्वाभावात्मक है। अर्थात् कुलाल व्यापार के प्राक् काल मे मृत्पिण्डस्थ घट मे योग्यता नही होने की वजह उसका प्रत्यक्ष होता नही हे, जैसे सत् परमाणु का प्रत्यक्ष होता नही हे वैसे'⟵तो यह भी ठीक नही है। इसका कारण यह है कि घट मे चाक्षुपयोग्यता महत्त्वसमानाधिकरण उद्भूतरूपवत्त्व आदि स्वरूप है - यही साख्य को मानना होगा। वह योग्यता कुलालव्यापार के पूर्व काल मे मृत्पिड मे रहनेवाले घट मे माननी

नापि पञ्चमः कालविशेषस्य कारणत्वेनाऽनतिप्रसङ्गे एककारणपरिशेषापत्तेः, विशेषस्याऽऽगतुकोपाधिरूपस्य सदसद्विकल्प-ग्रासाच्च ॥५॥

★ जयलता ★

वा ? इति विमलविकल्पयुगल कलमरालवालविमलयुगलमिव भवत्पुरत प्रसरीसरीति, आद्ये च प्रागपि घटोपलब्धिबुभुक्षितराक्षसी कण्ठपीठनिविष्टा कथमुत्सारणीया तत्रभवता भवता ? अन्त्यविकल्पाऽङ्गीकारे तु सत्कार्यवादप्रकारसार[?]कल्पकारस्कन्मूले निहितः एव निशिततरधारकरालकुठारप्रहारः स्वयमेवेति गोतमीयानामभिप्रायः ।

अथ कुलालादिव्यापारात्प्राक् घटस्याऽनाविर्भावः कालविशेषविशिष्टत्वाभावस्वरूप एव । दृष्ट हि लोके कालपरिपाकादेव फलविशेषप्राप्तिः । आम्रपिचुमन्दादयः कालेनैव फलीभवन्ति । कालविशेष एव स्त्रीपुंसयोगजन्यगर्भजन्मनोऽपि विलम्बे हेतुः । न च गर्भपरिणतिरेव तज्जन्मनि हेतुरिति वक्तव्यम् क्वचिदपरिणतगर्भस्याऽपि जन्मश्रवणात् गर्भपरिणतावपि कालविशेषस्यैव हेतुत्वाच्च । परभिमतस्य व्यापारवत्त्वेन दण्डस्य घटकारणस्य सत्त्वेऽपि घटजन्मनि विलम्बे कालविशेष एव हेतुः । स्थितिपरिपाकमन्तरेण च कर्माऽपि नोदेतीत्यवश्यमभ्युपगन्तव्य कार्यमात्र प्रति कालविशेषस्य हेतुत्वम् । अतः प्राक् घटस्य सत्त्वेऽपि घटोपलब्धिहेतुकालविशेषविशिष्टत्वाऽभावादेव नोपलब्धिरित्यस्तु पञ्चमविकल्पाङ्गीकार इति साख्यशङ्कायां नैयायिका वदन्ति - नापि 'अनाविर्भावः कालविशेषविशिष्टत्वाभावरूप' इति पञ्चम विकल्पो हि चारुः । कथ ? कालविशेषस्य कारणत्वेनाऽनतिप्रसङ्गे = अतिप्रसङ्गाऽपाकरणे, एककारणपरिशेषापत्ते = कार्यमात्र प्रति कालैककारणत्वापातात् । न चेष्टापत्तिः, 'कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः' ॥ इति वचनादिति त्वयाऽङ्गीकरणीयम्, तवाऽपसिद्धान्तापत्तेः, कुलालचक्रचीवरादेरपि घटकारणत्वस्य लोकप्रतीतत्वात् कालैकान्तवादिमतस्याऽन्यत्र सम्मतितर्क-सूत्रकृताङ्गवृत्त्यादौ बहुशो निराकृतत्वाच्च ।

किञ्च विशेषस्याऽपि कुलालव्यापारसम्बन्धरूपत्वमेव त्वयोपेयते । स चेत् प्राक् सन् तदवस्थ एव घटोपलम्भप्रसङ्गपिशाचदुःसञ्चारः । चेदसन् प्राक्, पश्चाज्जननेऽपसिद्धान्तकरालकृतान्तकरकवलितत्व सुदुर्निवारमित्याशय हृदि निधाय नैयायिकाः सङ्गिरन्ते - विशेषस्येति । विभावितार्थत्वान्न

● रमणीया ●

ही होगी । इसका कारण यह हे कि - 'कुलालव्यापार के प्राक् काल मे मृत्पिण्डस्थ घट मे योग्यता नहीं है किन्तु बाद मे आती है' - ऐसा मानने पर तो असत्कार्यवाद की आपत्ति आयेगी । अत कुलालव्यापार के पूर्व काल मे भी घट मे उपर्युक्त चाक्षुषयोग्यता मानना आवश्यक ह । इस तरह जब कि चाक्षुषयोग्यता प्राक् कालावच्छेदेन भी मृत्पिण्डस्थ घट म सिद्ध होती है तब तो उस अवस्था मे अवश्य घट का चाक्षुष साक्षात्कार होना ही चाहिए । अत चतुर्थ विकल्प अनुत्थान पराहत होने से उपेक्षणीय है ।

● कालविशेष कारण नही - नैयायिक ●

नापि प० इति । साख्यमतानुगामिओ की ओर से पाँचवें विकल्प का आश्रय ले कर यहा कहा जाय कि → 'कुलालव्यापार के प्राक्कालावच्छेदेन मृत्पिण्डस्थ घट मे कालविशेषविशिष्टत्व के अभावात्मक अनाविर्भाव होने से तब वह घट साक्षात्कार का विषय होता नहीं ह । जैसे माँ के पेट मे बच्चा रहता हे फिर भी उसके प्रत्यक्ष के प्रति ९ मासउत्तरत्व एक विशेष कारण है । ९ मास जब तक पसार नहीं होते ह तब तक माँ के पेट म विद्यमान बच्चे का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होता नहीं हे । जैसे बच्चे के चाक्षुष मे कालविशेष कारण ह, ठीक वैसे ही सब कार्य के साक्षात्कार के प्रति भी कालविशेष कारण होता ह । अत कुलालव्यापार प्राक्कालावच्छेदेन घटसाक्षात्कार न होने का कारण यह है कि प्राक्कालावच्छेदेन विशेषता रहती नहीं है अर्थात् प्राक्काल घटचाक्षुष साक्षात्कार के कारण कालविशेषस्वरूप नहीं होता हे । अत पूर्वावस्था मे विद्यमान घट के अनुपलभ की उपपत्ति हो सकती ह' ← तो यह भी ठीक नहीं हे । इसका कारण यह है कि यदि घटज्ञान के प्रति कालविशेष को ही कारण मानेंगे तब तो घटज्ञान की भाँति पटज्ञान, मठज्ञान आदि के प्रति भी कालविशेष ही कारण बनेगा । यदि घटज्ञान, पटज्ञान आदि के प्रति भी कालविशेष ही कारण माना जायेगा तब तो इन्द्रिय आदि कोई भी ज्ञानकारण नहीं बनेंगे । इसका कारण यह हे कि-कुलालव्यापार के बाद भी जब चक्षु इन्द्रिय घट के अभिमुख होती नहीं हे तब घटज्ञान उत्पन्न होता नहीं ह और घटाभिमुख होने पर घटज्ञान उत्पन्न होना ह-इसका नियामक भी कालविशेष ही बनेगा । अर्थात् घटाभिमुखत्वविशिष्ट काल न होने से घटविमुख चक्षुइन्द्रिय दशा मे घटज्ञान उत्पन्न होता नहीं हे और घटाभिमुखत्वविशिष्ट काल होने के सबब घटसन्मुख चक्षु इन्द्रिय की अवस्था मे घटज्ञान उत्पन्न होता ह - यह भी कहा जा सकता ह । ऐसा होने पर तो सारे जहाँ मे होनेवाले सब कार्यो के प्रति एक काल ही कारण बनेगा, अन्य सब अन्यथासिद्ध हो जायेंगे । मगर ऐसा व्यवहार माना नहीं जाता । चाक्षुष ज्ञान के प्रति चक्षु, स्पार्शन साक्षात्कार के प्रति स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणज प्रत्यक्ष के प्रति घ्राण(=नाक)मे कारणता होती हे - यही साख्य मनीषियो को भी मान्य है । लोकव्यवहार भी ऐसा देखा जाता है । अत कालविशेष को घटज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता ।

● काल में वैशिष्ट्य आगतुक उपाधिस्वरूप - नैयायिक ●

विशे० इति । इसके अतिरिक्त एक बात और भी ध्यान देने योग्य हे कि - 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से कालविशेष को घटज्ञान

? →कल्पवृक्षमूले इत्यर्थ

नाऽपि षष्ठः, सत्यामपि जिज्ञासाया कारणव्यापारात्प्राक् कार्यानुपलम्भात्, जिज्ञासाया ज्ञानमात्र प्रत्यहेतुत्वाच्च । जिज्ञासितबोध प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वे जिज्ञासा विनाऽपि तत्राऽजिज्ञासितबोधापत्तेश्च ।।६।।

★ जयलता ★

पुनः तन्यते ॥५॥

अथ प्राक् घटस्तु सन्नेव किन्तु दर्शकजिज्ञासाविरहरूपादनाविर्भावान्न ज्ञायते इत्यस्तु षष्ठविकल्पकक्षीकरणमिति कापिलाशङ्का नैयायिका अपनोदयन्ति - नापि षष्ठ इति । 'अनाविर्भावः जिज्ञासाऽभावात्मक' इति विकल्पोऽपि न गुणज्ञचित्त हरति । सत्यामपि जिज्ञासाया = घटादिगोचरबुभुत्साया, कारणव्यापारात् = कुलालादिव्यापारात् प्राक् काले घटादिलक्षणकार्यानुपलम्भात् । मत्या सामग्र्यामुत्तरक्षणे कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वात् ।

वस्तुतस्तु जिज्ञासाया न ज्ञानत्वाऽवच्छिन्ने हेतुत्वमित्याशयेन यौगा रटन्ति -जिज्ञासाया ज्ञानमात्र = ज्ञानसामान्य प्रति अहेतुत्वाच्च । जिज्ञासामृतेऽपि विद्युद्ध्वन्यादेरुपलम्भेन व्यतिरेकव्यभिचारात् ।

अथ जिज्ञासाया न सर्वज्ञान प्रति हेतुत्वमपि तु जिज्ञासितविषयकाऽवबोध प्रत्येवेति नाऽजिज्ञासितगोचरज्ञानस्योपलिप्साविरहदशायामप्युत्पत्तौ व्यतिरेकव्यभिचार इति साख्याशङ्का नैयायिका अपहस्तयन्ति - जिज्ञासितबोध प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वेऽभ्युपगम्यमाने 'तुष्यतु दुर्जन' इति न्यायेनेति शेषः । आपादकमुपदर्श्याऽऽपाद्य विद्योतयन्ति - जिज्ञासा विनाऽपि तत्र = घटे, अजिज्ञासितबोधापत्तेश्चेति । अजिज्ञासितघटविषयकावबोधापा-

● रमणीया ●

का कारण मान लिया जाय तो भी यहाँ एक समस्या उपस्थित होती है कि - काल मे रहनेवाला वैशिष्ट्य (=विशेष) कुभकारव्यापार के प्राक्कालावच्छेदेन काल मे विद्यमान होता है या अविद्यमान ? यदि विद्यमान माना जाय तो कालविशेष विद्यमान होने से कुभकारव्यापार के पहले भी घटमाक्षात्कार की आपत्ति होगी । यदि 'कुलालव्यापार के पूर्व मे काल मे वेशिष्ट्य नही है किन्तु वाद मे आता है' ऐसा माना जाय तव तो असत्कार्यवाद की आपत्ति होगी । यहाँ यह शका करनी नही चाहिए कि → ''काल मे वैशिष्ट्य नाम की अतिरिक्त वस्तु पीछे से आती है या पहले से होती है ऐसे विकल्प का कोई अवकाश नही है, क्योकि कालविशेष कालसामान्य से विलक्षण ही है । जैसे 'पहले घट उत्पन्न होता है ओर वाद मे उसमे घटत्व आता है' ऐसा असत्कार्यवादी के मत मे माना जाता नही हे किन्तु घटत्वविशिष्ट घट की ही उत्पत्ति मानी जाती है । पृथ्वी और पानी की भाँति वे पृथक् उपलब्ध होते नही हे । इस तरह काल ओर वैशिष्ट्य, दो पृथक् पृथक् चीज नही है किन्तु वैशिष्ट्य से विशिष्ट ऐसा काल ही कुम्हारव्यापार के पश्चात् आता है, जो घटसाक्षात्कार का जनक होता है'' ← यह शका अप्रामाणिक होने का कारण यह है कि काल मे वैशिष्ट्य आगतुक उपाधिस्वरूप ही है । जेसे घटाकाश, पटाकाश आदि मे आकाश मे जो वैशिष्ट्य है वह आगतुक उपाधिभूत घट-पट आदिस्वरूप ही है । ऐसा नही है कि शुद्ध आकाश को छोड कर घटाकाश या पटाकाश नया आता है । इसी तरह कुभकारव्यापारोत्तरत्वविशिष्ट काल, कुविदव्यापारोत्तरत्वविशिष्ट काल इत्यादि स्थल मे नया काल उत्पन्न होता नही हे किन्तु स्वोत्तरत्वसबध से कुभकारव्यापार, कुविन्दव्यापार ही काल मे रहते हैं जो कादाचित्क उपाधिस्वरूप है । इस तरह जव विशेष आगतुक उपाधिस्वरूप सिद्ध हुआ तव तो उपर्युक्त सत्-असत् विकल्पस्वरूप वज्रायुध से वह छूमन्तर हो ही गया । इस तरह कालविशेषविशिष्टाभावलक्षण पाँचवा विकल्प भी नामुनगसिव है-यह सिद्ध होता है ।

नापि षष्ठ० इति । यदि साख्य विद्वानो की ओर से छठे विकल्प का स्वीकार किया जाय तो वह भी ठीक नही है। इस का कारण यह है कि जिज्ञासा होने पर भी कारणव्यापार के पूर्व कार्य का साक्षात्कार होता नही हे । अत जिज्ञासा के अभाव को भी अनाविर्भाव कहा जा नही सकता । 'कुलालव्यापार के पूर्व मृत्पिडस्थ घटविषयक जिज्ञासा किसीको होती ही नही है - यह भी कहा जा नही सकता, जिसकी वजह अनाविर्भाव को जिज्ञासाविरहात्मक माना जाय । दूसरी वात यह है कि जिज्ञासा ज्ञानमात्र के प्रति हेतु भी नही है । जिज्ञासा के विना भी ज्ञान का उदय स्वानुभवसिद्ध हे । ऐसा नही है कि सामने चैत्र आया आर उसकी जिज्ञासा हो तभी चैत्र का ज्ञान हो, अन्यथा न हो । यदि ऐसा माना जाय तव तो दु ख का किसीको अनुभव ही न होगा, क्योकि दु ख को जानने की जिज्ञासा किसको होगी ? यदि जिज्ञासा ज्ञानमात्र का हेतु हो तव तो जिज्ञासा के विरह से ज्ञानानुदय की उपपत्ति करना ठीक है, क्योकि कारणाभाव से कार्याभाव प्रयोज्य होता है । मगर जिज्ञासा तो ज्ञानत्वावच्छिन्न के प्रति हेतु ही नही है तव उसके अभाव से घटादिविषयक ज्ञान के अनुत्पाद की उपपत्ति कैसे की जा सकती ? अत जिज्ञासा के अभाव को अनाविर्भाव कहना ठीक नही है ।

साख्य : जनाव, यह आपने क्या कहा कि 'जिज्ञासा ज्ञान के प्रति हेतु नही हे' ? क्या आपको अनुभव नही हे कि मेले के अदर हजारो आदमी होने पर भी सव व्यक्ति का हमे ज्ञान होता नही है किन्तु जिसकी जिज्ञासा होती हे उसीका ज्ञान

नापि सप्तमः अनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वेऽद्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयात्, अन्यस्याऽभ्युपगन्तु दुःशकत्वात् ॥७॥ नाप्यष्टमः अनिर्वचनात् ॥८॥ तस्मात् प्रागसदेव कार्य सामग्रीसमवधानात्सपद्यत इति यौगा सगिरन्ते ।

★ जयलता ★

ताश्चेति विपरिणताऽन्वयः कार्य' । अजिज्ञासितबोध प्रति जिज्ञासाया अहेतुत्वेन चक्षुःसन्निकर्षादिषु सत्सु सतो घटोऽजिज्ञासितत्वेनाऽजिज्ञासितबोधस्य न्याय्यत्वादिति भावः ।

अथ व्यापारात् प्राक् घटस्याऽनाविर्भावस्तिरोधानात्मक एव । तिरोहितत्वादेव घटः प्राक् न साक्षात्क्रियते कृतयत्नशतैरपीत्यस्तु सप्तमविकल्पाऽभ्युपगम इति साङ्ख्याऽऽशङ्काया यौगा जल्पन्ति - नापि सप्तम इति । अनाविर्भावस्तिरोभाव इति विकल्पोऽपि विचार्यमाणो न सण्टङ्ककोटिकोटीरतामटाट्यते । तिरोधानपदार्थः कः ? अनाविर्भावः यदुत तदन्यः कश्चित् ? इति सार्वत्रिकी विकल्पयुगली सोसूत्र्यतेऽत्राऽपि । तत्र प्रथमो न साधुः, अनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वेऽद्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयादिति । यथावस्थितनिरूपणाऽनवबोधादिति । अथ भावः 'कोऽय घटस्याऽनाविर्भाव' ? इति पृष्टे 'तिरोधानोऽनाविभार्वः' इति प्रत्युत्तरीतवान् भवान् । 'कोऽय तिरोधानपदार्थ ? इति पुनः पृष्टे 'अनाविर्भाव' इत्युत्तर दत्तवान् भवानिति कथ न ज्ञप्तौ स्वाश्रयदोषः ? ततो नाऽद्यावधि तिरोधानपदार्थस्य सम्यग्व्याख्यान ज्ञायते । द्वितीयोऽपि न सुष्ठुरिति गौतमीयाः स्फोरयन्ति-अन्यस्य = अनाविर्भावभिन्नस्य, तिरोधानपदार्थत्वेन अभ्युपगन्तु दु शकत्वादिति । लोके हि अनाविर्भूते एव तिरोहितत्वव्यवहारोपलम्भात् ।

नाऽप्यष्टम इति । 'अनाविर्भावपदार्थो दर्शितप्रकारेभ्य इतर एवे'ति विकल्पोऽपि न सम्यक् । कथ ? अनिर्वचनादिति । अनाविर्भावपदस्याऽन्यव्याख्यानस्याऽसम्भवादिति । एतावत्पर्यन्त सम्यक् कथयित्वा साम्प्रत नैयायिकाः स्वदर्शनवासनारञ्जितमानसाः कलुषित स्वाऽऽशय प्रकटयन्ति - तस्मादिति । कारणव्यापारात् प्राक् उपादानकारणे असदेव कार्यमिति । ननु तर्हि कथ पश्चादपि तदुत्पत्तिः सम्भविनी ? इत्याशङ्का निराकुर्वन्ति - सामग्रीसमवधानात् सम्पद्यत इति । स्वोत्पादपूर्वं घटखरशृङ्गयोः कपालेऽसत्त्वेऽप्यय विशेषो यदुतैकस्य सामग्री सम्भवति नेतरस्य कालत्रयेऽपि ।

● रमणीया ●

होता है । कभी कभी मकान के किसी बडे हॉल मे घटो तक बैठने के बाद भी जब मनुष्य बाहर आता है और उसे प्रश्न किया जाता है कि 'उस हॉल मे पानी का मटका था या नही ?' तब वह फौरन उत्तर देता है कि 'जी हजूर, मुझे माफ कीजिये, मेरा ध्यान उसकी ओर नही था । अत मुझे यह मालुम नही है' । जब जलवान् घट की जिज्ञासा होती हे और उस हॉल मे प्रवेश करते है तब 'वहाँ घट था या नही ?' यह मालुम हो जाता है । अत जिज्ञासा को भी ज्ञान के प्रति हेतु मानना उचित हे । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि जिज्ञासा जिज्ञासित विषय के ज्ञान के प्रति हेतु हे, न कि ज्ञानमात्र के प्रति । अजिज्ञासित वस्तु का ज्ञान तो जिज्ञासा के विना होता ही है ।

नैयायिक : जिज्ञासि० इति । चलो, हमने मान लिया कि 'जिज्ञासित विषय के ज्ञान का कारण जिज्ञासा है' । मगर फिर भी आपके सिर पर यह समस्या मुँह फाडे खडी है कि - 'कुलालव्यापार के प्राक् काल मे मृत्पिडस्थ घट की जिज्ञासा न होने पर भी अजिज्ञासित घटज्ञान होना ही चाहिए, क्योकि घटविषयिणी जिज्ञासा के विना घट अजिज्ञासित होने के सवव अपने ज्ञान के प्रति जिज्ञासा की अपेक्षा वह रखता नही है । इस तरह कारणव्यापार के प्राक्कालावच्छेदेन जिज्ञासा के विरह मे अजिज्ञासित कार्य के साक्षात्कार की आपत्ति न होने से जिज्ञासाविरह से कार्यप्रत्यक्ष के अनुदय की उपपत्ति की जा नही सकती । अकारणविरह मे कार्यविरह का समर्थन वुद्धिमान् पुरुष करते नही है ।

● तिरोधान और अनाविर्भाव एक ही है ●

नापि स० इति । 'अनाविर्भाव तिरोधानात्मक है' यह सातवॉ विकल्प तो मान्य हो नही सकता, क्योकि तिरोधानशब्द का अर्थ अनाविर्भाव ही होने से अभी तक अनाविर्भावशब्दार्थ के नियतस्वरूप की व्याख्या का ज्ञान होता नही है । 'घट क्या है ?' इस पर्यनुयोग के प्रत्युत्तर मे 'कुभ घट है' यह कहना अनुचित समझा जाता है, क्योकि कुभपद का अर्थ भी घट ही है, जो कि प्रश्नकर्ता को अद्यावधि अज्ञात हे । तिरोधानशब्द का अनाविर्भाव से अतिरिक्त कोई अर्थ साख्य मनीपियो को स्वीकार्य हो नही सकता । अत सातवाँ विकल्प भी असमर्थ ही ठहरा ।

● अष्टम विकल्प अनुत्थानपराहत - असत्कार्यवादी ●

नाप्य० इति । 'अनाविर्भाव न तो उपलब्धि का अभाव है, न तो अर्थक्रियाकारिस्वरूप का अभाव हे, न तो व्यजकाभाव है, न तो योग्यत्वाभाव है, न तो कालविशेषवैशिष्ट्यविरह है, न तो जिज्ञासाविरह है, न तो तिरोधान है किन्तु इन सब से कुछ

घटपद त्वक्षादिपदवन्नानार्थकमिति वाच्यम् कुम्भकारादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन तत्त्वे घटत्वस्यैवैकत्वौचित्यादिति चेत् ? न, एव

★ जयलता ★

कथमेकशब्दवाच्यत्वमित्याशङ्कायामाह - घटपद त्वक्षादिपदवन्नानार्थकमिति । आदिशब्देन हरि-सैन्धवादिग्रहणम् । अय भावः यथा विजातीयाना तुम्ब-पासकेन्द्रियायर्थाना वाचकत्वमेकस्मिन्नेवाऽक्षपदे तथैव मार्त्तादिविजातीयघटाना वाचकत्वमेकस्मिन्नेव घटपदे सभवति । एतेन एकशब्दवाच्यत्वे वैजात्यासिद्धिरिति प्रत्युक्तम् तुम्बत्वादीना पासकत्वाद्यभिन्नत्वापत्तेः । अतो नानाघटत्वकल्पनेव युक्तिमतीत्याशयः शङ्काकारस्य ।

उपर्युक्तशङ्कानिरासे हेतुमाह कुम्भकारादेरिति । तत्त्वे = विजातीयघटकारणत्वे, अभ्युपगम्यमाने इति शेषः । घटत्वस्यैवेति । एवकारेण कर्तृव्यवच्छेदः कृतः । एकत्वौचित्यादिति । अय भावः एकस्यैव कुलालस्य घट-शरावोदञ्चनादिविजातीयकार्यहेतुत्व विजातीयकृतिमत्त्वेनैव भवति, सजातीयकृतिमत्त्वेन तद्धेतुत्वे घटशरावादीनामवैलक्षण्यापत्तेः । अतो नानाघटत्ववादिमते मार्त्त-सौवर्णादिविजातीयकार्यजात प्रति कुलालादेर्विलक्षणकृति-मत्त्वेन कारणत्वमवश्यमुपगन्तव्यम् । एवञ्च नानाकार्यतावच्छेदकधर्म-कारणतावच्छेदकससर्गकल्पनाऽपेक्षयैकमेव घटत्वमङ्गीकर्तुमर्हति लाघवात् । न चैवमपि मृत्त्व-स्वर्णत्वादिना साङ्कर्यम्, मृत्त्वादेर्द्रव्यवृत्तित्वेन विजातीयसयोगत्वरूपस्य घटत्वस्य च गुणवृत्तित्वेन परस्पर व्यधिकरणत्वात् । नानाघटत्वमते तु तज्जन्यतावच्छेदकनीलत्व-गन्धत्व-भास्वरत्वादिनानात्वापत्तेः तज्जनकतावच्छेदकसयोगनिष्ठजातिनानात्वस्याऽभिघातत्वादेः तद्व्याप्यत्वस्य कल्पने चातिगौरवादिति निगूढोऽथाशयः ।

स्याद्वादी घटस्य गुणात्मकत्वोपगन्तृ अथमत व्यपाकरोति - नेति । एव सति = घटत्वस्य विजातीयसयोगत्वस्वरूपत्वेऽभ्युपगम्यमाने

● रमणीया ●

से साकर्य है'' ऐसा जो आपने कहा है, उसका अब कोई अवकाश नही है । इसका कारण यह है कि सौवर्ण घट मे रहनेवाला घटत्व अलग ही है, जो कि मार्त्त घट मे रहता नही है । इसी तरह घटत्व का स्वर्णत्व के साथ भी साकर्य नही है, क्योकि सुवर्णत्व का व्यधिकरण घटत्व मार्त्त घट, राजत घट, ताम्र घट आदि मे रहता है किन्तु सौवर्ण घट (सुवर्णमय घट) मे नही । इस तरह घटत्व को द्रव्यवृत्ति मानने पर भी अनेक घटत्व को मान्यता देने पर साकर्य दोष की सभावना नही है । ऐसा सिद्ध होने से कुलालादि के प्रयत्न की जन्यता द्रव्यात्मक घट मे सिद्ध होगी, न कि विजातीयसयोगस्वरूप घट मे । अत द्रव्यमात्र मे नित्यत्व की सिद्धि हो नही सकती ।

● विजातीय घट मे सादृश्य से अनुगत बुद्धि की उपपत्ति - नव्यनैयायिक ●

अनु० इति । यहाँ यह शका करनी नही चाहिए कि —› 'मार्त्त घट, सौवर्ण घट आदि मे रहनेवाले घटत्व अनेक है, तब उन सब मे 'अय घट , अयमपि घट , अयमपि घट ' इत्यादि अनुगत बुद्धि हो नही सकती । अनुगत बुद्धि सजातीय मे ही होती है, क्योकि उनमे एक अनुगत धर्म रहता है । मगर मार्त्त-सौवर्ण आदि घट तो पट आदि की भाँति विजातीय है । अत उनमे 'यह घट है, यह भी घट है' इत्यादि अनुगत बुद्धि हो नही सकती । हाँ, उन सब मे द्रव्यत्व, सत्त्व आदि धर्म अनुगत है, क्योकि एक ही द्रव्यत्व उन सब मे रहता है । अत 'इद द्रव्य, इद द्रव्य' इत्यादि अनुगत बुद्धि हो सकती है । मगर एक घटत्व उन सब मे न रहने से 'घटत्वप्रकारक अनुगत बुद्धि नही हो सकती'' ←— यह शका निर्युक्तिक होने का कारण यह है कि अनुगत बुद्धि तो कथचित् अत्यत सादृश्य से भी हो सकती है । आशय यह है कि मार्त्त घट जैसे पट से विजातीय है, ठीक वैसे सौवर्ण घट आदि से भी विजातीय ही है । फिर भी मार्त्त घट का सस्थान - आकारविशेष, जलाहरणादि अर्थक्रियाकारित्व आदि धर्म तो सौवर्ण घट आदि मे भी रहते है । अत सस्थानादि सदृश धर्म की वजह मार्त्त घट, सौवर्ण घट आदि मे 'यह घट है' 'यह भी घट है' इत्यादि अनुगत बुद्धि का उदय हो सकता है ।

● घटपद अनेकार्थक - नव्यनैयायिक ●

घटपद० इति । यहाँ यह शका करना भी कि—›''यदि मार्त्त-सौवर्ण-राजत आदि घट मे एक ही घट शब्द की प्रवृत्ति होती है तब तो उन सब मे घटत्व एक अनुगत ही होना चाहिए, न कि अननुगत-पृथक् पृथक्''←—ठीक नही है । इसका कारण यह है कि घटपद अक्षशब्द आदि की भाँति नानार्थक है । आशय यह है कि जैसे एक ही अक्ष पद चक्र की धरी, चौसर का पासा, इन्द्रिय आदि विजातीय अर्थ का वाचक होता है । उन सब अर्थ मे एक अनुगत अक्षत्व जाति नही है किन्तु अलग-अलग ही है । प्रतीति और व्यवहार से एक शब्दवाच्य होने पर भी उनमे वैजात्य होता है । ठीक वैसे ही घट पद भी अनेकार्थक शब्द है । अनेक अर्थ का मतलब है विजातीय अर्थ । विजातीय पदार्थ की घट शब्द मे वाचकता होने से यह सिद्ध होता है कि घटत्व एक नही है किन्तु अनेक = अननुगत है ।

● नव्यनैयायिक मत मे गौरव ●

सत्कार्यवादी :- कुम्भका० इति । नही, नैयायिक महाशय ! आपका यह कथन ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि मार्त्त घट, सौवर्ण घट आदि मे वैजात्य का अगीकार करने पर कुम्भकार आदि की घट के प्रति विजातीयकृतिमत्त्वेन हेतुता की मान्यता देनी पडेगी । तात्पर्य यह है कि जैसे घट, शराव आदि विजातीय होने से उनके प्रति कुलाल समानकृतिमत्त्वेन कारण नहीं

सति घटवत्यपि भूतले 'संयोगेन घटो नास्ती'ति प्रतीतेः प्रमात्वाऽऽपातात्, 'घटः पटसंयुक्तः' इति प्रतीतेरप्रमात्वाऽऽपाताच्च । वस्तुतोऽवयवावयविनोर्भेदाभेद एव सार्वजनीनप्रत्ययाध्वनि अध्वनीन इति दिग् ।

★ जयलता ★

सति । घटवत्यपि = घटवत्त्वेन प्रमीयमाणेऽपि । 'संयोगेन घटो नास्ती'ति प्रतीतेरिति । तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वं, अन्वयश्चास्य नञर्थैकदेशभूतप्रतियोगितायाम् । ततः 'संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-घटात्यन्ताभावावगाहिप्रतीतेरित्यर्थः । प्रमात्वापातादिति । अयं भावः घटस्य कपालद्वयविजातीयसंयोगस्वरूपत्वात् कपाले समवायेन सत्त्वेऽपि भूतले संयोगेनाऽसत्त्वात् घटवत्यपि भूतले 'संयोगेन घटो नास्ती'ति प्रतीतेः प्रामाण्यापत्तिः, गुणत्वावच्छिन्नस्य समवायसंबधावच्छिन्नवृत्तितात्मकत्वेन संयोगसंबधावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य गुणसामान्याभावस्य केवलान्वयित्वात् ।

दोषान्तरं द्योतयति - 'घटः पटसंयुक्त' इति प्रतीतेरिति । 'घटः समवायेन पटसंयोगवान्' इत्याकारकप्रतीतेरित्यर्थः अप्रमात्वापाताच्चेति । अयं भावो गुणानां निर्गुणत्वात् घटस्य कपालद्वयविषयकविलक्षणसंयोगस्वरूपत्वे तस्य गुणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्वात् गुणविशेषरूपः पटसंयोगः तत्र न संभवति, व्यापकधर्मावच्छिन्नात्यन्ताभावस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नाभावव्याप्यत्वात् । अतः पटसंयोगाभाववति विजातीयसंयोगे पटसंयोगप्रकारकत्वात् तत्प्रतीतेरप्रामाण्यापत्तिः । इदञ्चोपलक्षणं 'घटो जलाहरणादिसमर्थः' 'घटः सच्छिद्र' इत्यादिव्यवहारेऽप्रामाण्यापत्तेः कपालद्वयविजातीयसंयोगे जलोपष्टम्भकत्वारम्भकसंयोगविरोधिविभागादेरसंभवात् ।

किञ्च, परमाणूनामपि संयुक्ताऽसंयुक्तस्वभावभेदेनोत्पादविनाशयोरावश्यकत्वेनैकान्तनित्यत्वाऽयोगात् कथञ्चित्तदात्मक-तज्जन्यस्कन्धस्य सामूहिकविलक्षणैकत्वशालिनः आनुभविकत्वाच्च । 'विलक्षणसंयोगवत्त्वमेव पटत्वादिकमि'त्यपि न मनोरमम्, निष्प्रतियोगिकपटत्वादिग्रहस्याऽऽनुभविकत्वात् अतः पटोत्पादप्रतीतिः पटत्वादिघटकसंयोगोत्पादमात्रमवगाहत' इत्यपि प्रत्युक्तम् गौरवात् मानाभावाच्च । एतेन 'पट' इत्यत्रैकत्वमौपचारिकमित्यपि निराकृतम् तन्मुख्यत्वे बाधकाभावाच्च। अतो जात्यन्तररूपमेवाऽवयवि द्रव्यं स्याद्वादरीत्याऽभ्युपगन्तव्यम् येन 'विलक्षणपरिणतिमन्तः तन्तव एव पटः', 'तन्तुसंयोगादुत्पन्नमेकं विलक्षणपटद्रव्यमि'ति व्यवहारौ सङ्गच्छेते । ततो घटस्य सर्वथा गुणात्मकत्वं न समीचीनमिति स्याद्वादितात्पर्यम् ।

भो ! साधूक्ता तयोस्सर्वथाऽभेदस्य ह्यसाधुता ।
भवतु साम्प्रतं साधुता तद्भेदे हि सर्वथा ॥१॥

इति यदि नैयायिको ब्रूयात्तदाऽऽह वस्तुत इति । भेदाभेद एवेति एवकारेण सर्वथाऽभेदस्य सर्वथा भेदस्य च व्यवच्छेदः कृतः । अनेन कार्यकारणतावच्छेदकतया तद्व्यतिरिक्तजातिसिद्धिरप्यपहस्तिता । अवयवावयविनोः कथञ्चिदैक्येनाऽपि कार्यकारणभावनिर्वाहात् । सार्वजनीनप्रत्ययाऽध्वनि अध्वनीन इति । सर्वैरपि स्वारसिकप्रतीत्याऽवबुध्यत इत्यर्थः ।

ननु परतीर्थिकानां कथमवयवाऽवयविनोर्भेदाभेदाऽङ्गीकारः स्यात् ? येन सार्वजनीनेत्युच्यमानं चारुतामञ्चेत् इति चेत् ? मैवम् पूर्वमपि [दृश्यतां १०६ तमे पत्रे] परेषामत्र सम्मतेः प्रदर्शितत्वात् । तथापि साम्प्रतं कानिचित् परवचनानि [1]स्थूणानिखननन्यायेन प्रदर्शयामः ।

● रमणीया ●

होता है, क्योंकि घट बनाने का प्रयत्न अलग है और शराव बनाने का प्रयत्न अलग होता है। यदि घट और शराव बनाने का प्रयत्न एक ही हो तब तो दोनों के दंड, चक्र, चीवर, आदि सर्वकारण समान होने से घट और शराव भी समान हो जाते। समान सामग्री सजातीय कार्य की जनक होती है। इसी तरह प्रकृत में मार्त्त घट भी सौवर्ण घट, राजत घट, ताम्र घट आदि से विजातीय होने पर कुलालादि विजातीयकृतिमत्त्वेन अर्थात् विलक्षण प्रयत्नविशिष्ट रूप से उनका कारण है-यह मानना होगा। देखिये नव्य नैयायिक महाशय! आपको साङ्कर्य दोष के निवारण के लिए अनेक घटत्व एवं कुलालादि में विलक्षणप्रयत्नवत्त्वरूप से कारणता इत्यादि का स्वीकार करना पडता है। इतने गौरव के स्वीकार की अपेक्षा एक घटत्व का स्वीकार ही मुनासिब है, जो कि विजातीयसंयोगत्वात्मक गुणविशेषवृत्ति जातिस्वरूप है। अतः घट को कपालद्वय के विलक्षणसंयोगस्वरूप मानना ही ठीक है। ऐसा होने पर द्रव्यमात्र में नित्यत्व भी निराबाध बनेगा।

● घट को संयोगविशेषात्मक मानने पर दो आपत्ति - स्याद्वादी ●

स्याद्वादी : न० इति। भाई जान! आपकी यह बात कि → 'घट विजातीयसंयोगात्मक है'←ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भूतल में घट होने पर भी 'भूतले संयोगेन घटो नास्ति' अर्थात् 'भूतल में संयोग संबंध से घट नहीं है' यह प्रतीति प्रामाणिक हो जायेगी। आशय यह है कि विजातीयसंयोग गुणात्मक होने से समवाय संबंध से रहता है, संयोग संबंध से नहीं। संयोगसंबंध से गुणात्यन्ताभाव तो केवलान्वयी है। अतः 'भूतले संयोगेन घटो नास्ति' यह प्रतीति प्रामाणिक होगी, क्योंकि यहाँ तो विजातीयसंयोग को घट माननेवाले पूर्वपक्षी के मतानुसार इस प्रतीति का 'संयोगसंबंध से भूतल में विजातीयसंयोग नहीं है' यह अर्थ होगा, जो कि अबाधित ही है। केवलान्वयी पदार्थ का भूतल में बोध मानने में क्षति क्या है? इस तरह घट को संयोगविशेषस्वरूप मानने पर भूतल में घट होने पर भी 'संयोगेन घटो नास्ति' यह प्रतीति प्रामाणिक हो जायेगी। इसके अतिरिक्त दोष यह है

१- स्थूणा यथाऽसकृत् सञ्चाल्य निखनने क्रियमाणे सुदृढा भवति तथैवोक्तग्रन्थेन प्रागुपदर्शिताऽर्थदार्ढ्यं भवतीत्यर्थः ।

अथाऽनित्यत्वैकातपक्षेऽपि दोषमाहुः स्यातामिति । एकान्तनाशे = नित्यत्वाऽसभिन्ननाशे, कृतस्य नाशः = अकृततुल्यता ।

★ जयलता ★

तथाहि - शास्त्रदीपिकाया "वय तु भिन्नाभिन्नत्वम् । न हि तन्तुभ्यः शिर'पाण्यादिभ्यो वाऽवयवेभ्यो निष्कृष्टः पटो देवदत्तो वा प्रतीयते किन्तु पाण्यादयोऽवयवा एव पटायात्मना प्रतीयन्ते । वियते च देवदत्ते 'अस्य हस्तः शिर' इत्यादिः कियानपि भेदावभास इत्युपपन्नमुभयात्मकत्वम्" [शा दी पृ ४१२] इति प्रतिपादितम् ।

विद्यारण्येनापि ब्रह्मानन्दे "स घटो नो मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् । नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात्" [ब्रह्मा अद्वैतानन्दप्रकरणे - पृ ३५ श्लो] इति प्रत्यपादि ।

भास्कराचार्येणापि "अवस्था-तद्वतोश्च नाऽत्यन्तभेदः । नहि शुक्लपटयोर्धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदः किन्त्वेकमेव वस्तु । न हि निर्गुण नाम द्रव्यमस्ति । न हि निर्द्रव्यो गुणोऽस्ति, तथोपलब्धेः (=परस्परानुस्यूतोपलब्धेः) । उपलब्धिश्च भेदाभेदव्यवस्थाया प्रमाण व्यवहारिणाम् । तथा कार्य-कारणयोर्भेदाभेदावनुभूयेते" [ब्र सू २/१/१८ - भा भा पृ १०१] इत्युक्त भास्करभाष्ये ।

तत्त्ववैशारद्यामपि "नैकान्ततः परमाणुभ्यो भिन्नो घटादिरभिन्नो वा । भिन्नत्वे गवाश्ववद् धर्मधर्मिभावाऽनुपपत्तेः । अभिन्नत्वे धर्मिरूपवत्तदनुपपत्तेः । तस्मात् कथञ्चिद्भिन्नः कथञ्चिदभिन्नश्चाऽऽस्थेयः । तथा च सर्वमुपपद्यते" [यो सू वि पा सू ४३ त वै] इति वाचस्पतिमिश्रेण प्रकाशितम् ।

सुदर्शनेनाऽपि शास्त्रदीपिका व्याख्यानयता "यत्र हि मधुरमिद द्रव्यमित्येव द्रव्यस्य मधुरत्वेन रूपेण निरूपण क्रियते तत्र रूपरसयोः परस्पर भेदात् मधुरत्वेन निरूप्यमाणस्य द्रव्यस्याऽपि रूपादिभ्यो भेदोऽवभासते । यत्र चाऽभ्यर्हमिद द्रव्यत्वेनैव रूपेण निरूपण क्रियते तत्र रूपादिभ्योऽभेदोऽप्यवभासते, केनाऽपि गुणेन सामानाधिकरण्याऽभावादित्यर्थः । एवमेवाऽवयवाऽवयविनोरपि भेदाभेदावेवेति" [शा दी सु वृ पृ ३९५] इति प्रणिगदितम् ।

यत्तु ग्रीकजनपदीयेन परमेनाइडीझनाम्नाऽऽधुनिकचिन्तकेन "पर्याया मायिका एव । तदनुगामि द्रव्यमेव पारमार्थिकसत्" इति प्रलपित तन्न स्थेमानमाकलयति, द्रव्यस्यैव तत्तत्पर्यायैः परिणमनात् परिणाम-परिणामिनोः कथञ्चिदभेदात् परिणामिनः पारमार्थिकत्वे तत्परिणामपारमार्थिकत्व-स्याऽपलपितुमशक्यत्वात्, अन्यथा परिणामिद्रव्यस्यापि मिथ्यात्वप्रसक्तेः ।

फलफलवतोः स्याद्-भेदाभेदौ समागतौ ।
परेपामपि ससिद्धौ जयति जैनशासनम् ॥१॥

आद्यकारिकोत्तरार्धव्याख्यानार्थमवसरसगति प्रदर्शयति - अथेति । विरोधिनीजिज्ञासाविरहे सत्यवश्यवक्तव्यत्वमऽवसरसगतिरित्यामनन्ति अभियुक्ताः । नित्यत्वैकान्ततपक्षनिविष्टदोषजातविषयिण्याः बुभुत्साया उपशान्तत्वेन साम्प्रतमेकान्ताऽनित्यत्वमतप्रविष्टदूषणवृन्दस्याऽवश्य निरूपणीयत्वाद-वसरसगतिदर्शकोऽथशब्दः । आहुरिति । वीतरागस्तोत्रकृतः श्रीहेमचन्द्रसूरय इति शेषः । नित्यत्वाऽसभिन्ननाशे = नित्यत्वाननुविद्धाऽनित्यत्वे = ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकव्यधिकरणध्वसप्रतियोगितावच्छेदकवत्त्वे = ध्वसाप्रतियोगित्वव्यधिकरणध्वसप्रतियोगित्वे = सर्वप्रकारेण प्रथमक्षणासवन्धित्वा-समानाधिकरणाऽऽद्यक्षणसवन्धित्वे क्षणैकमात्रस्थायित्वे सतीति यावत् । सत्त्वस्य = पदार्थत्वेनोभयसपत्तिपन्नस्येत्यत्राऽप्यनुवर्त्तते । आपादक दर्शयित्वाऽऽपाद्य विद्योतयति - कृतस्येति घटादिपर्यायस्य कुम्भकारादिकृतस्य। कृतध्वसस्याऽऽपाद्यत्वे आपाद्यापादकयोरैक्याद् बौद्धस्येष्टत्वाच्चेत्यत आह नाश = अकृततुल्यतेति । कुलालेन घटे कृतेऽकृते वा न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । द्वितीयादिक्षणेषु इति शेषः, [१]अन्यथा [२]प्रकृतविकल्पत्यागप्रसङ्गात् ।

● रमणीया ●

कि घट पटसयुक्त होने पर भी 'घट पटसयुक्त' अर्थात् 'घट पटसयोगवाला है' यह प्रतीति भ्रमात्मक हो जायेगी । इसका कारण यह हे कि घट तो सयोगविशेषस्वरूप हे । सयोग तो गुण है । गुणादि मे कोई भी गुण रहता नही हे । अत सयोगविशेष मे पटसयोग भी नही रहेगा, क्योकि पटसयोग भी गुण ही है । इस तरह पटसयोग से रहित कपालद्वयविजातीयसयोग मे, जो पूर्वपक्ष के मतानुसार घटात्मक हे, पटसयोगप्रकारकत्वावगाही होने से 'घट पटसयुक्त' यह प्रतीति अप्रमा ही रहेगी, चाहे घट पट के उपर ही क्यो न पडा हो ? शिष्टलोकव्यवहार मे तो 'प्रथम प्रतीति भ्रमात्मक और दूसरी प्रतीति प्रमात्मक है' यह प्रसिद्ध हे । मगर घट को गुणस्वरूप माननेवाले पूर्वपक्ष के मत मे उपर्युक्त हकीकत शीर्षासन करने लगती है । अत उपर्युक्त दो दोष के कारण, घट को कपालद्वय के सयोगविशेषस्वरूप मानना और द्रव्यमात्र को एकात नित्य मानना, असगत हे । वस्तुस्थिति तो यह है कि अवयव ओर अवयवी मे नैयायिक मान्यतानुसार न तो सर्वथा भेद है ओर साख्यदर्शनानुसार न तो सर्वथा अभेद हे किन्तु अबाधितअनुभवानुसार जात्यतरस्वरूप ही भेदाभेद है । इस विषय मे अधिक विचार किया जा सकता है । यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है - इस बात को सूचित करने के लिए प्रकरणकार ने यहाँ 'दिग्' शब्द का प्रयोग किया है ।

● एकान्त क्षणिकवाद मे दोषद्वयनिर्वचन ●

अथा० इति । अष्टम प्रकाश की आद्य कारिका के पूर्वार्ध की व्याख्या करने के बाद व्याख्याकार श्रीमद्‌जी उसके उत्तरार्ध की व्याख्या करते हे कि ⟶ अब एकात अनित्यत्वपक्ष मे ग्रथकार श्रीकलिकालसर्वज्ञ दोष को बताते है । यहाँ आपाद्य-आपादकभाव

१-अन्यथा = द्वितीयादिक्षणेषु अकृततुल्यत्वानुपगमे । २-'सत्त्वस्यैकान्तनाशे' इति विकल्पत्यागापत्तेरित्यर्थ ।

वौद्धमते हि वस्तुनः सर्वस्य क्षणिकत्वादुत्पत्तिसमनन्तरमेव घटस्य नाश इति जलाहरणादिपर्यायाणामाधारेण केन भवितव्यम् ?

तथाऽकृतस्य आगम = फलकालोपस्थितिः । यद्धि कुम्भकारादिना घटादिक कृत तेन तु दुर्जनमनःप्रणयपरम्परावत्तदानीमेव दध्वसे । तथा च जलाहरणादिक्रियासु व्याप्रियमाणेन तेनाऽकृतेनैवोपस्थातव्यमिति दूषणद्वयमिद बौद्धबुद्ध्युपनीतकाकुव्याकुलीकरण-प्रवण प्रसज्येतेति भावः ।

★ जयलता ★

आपादन विशदयति प्रकरणकारः - वौद्धमत इति । सर्वस्य क्षणिकत्वात् = सर्वस्य सत्त्वेन क्षणैकमात्रजीवित्वात् । अय भावः सुगताः किल सर्वस्य क्षणिकत्वे 'सर्वं क्षणिक सत्त्वात् यथा जलधरादयः' इत्यनुमानप्रमाण दर्शयन्ति । एवञ्च घटस्याऽपि सत्त्वाऽविशेषात् स्वोत्पादक्षणव्याप्यस्थितिकत्वमिति उत्पत्तिसमनन्तरमेव = स्वोत्पादाऽव्यवहितोत्तरक्षणे एव, एवकारेण व्यवहितोत्तरक्षणव्यवच्छेद' कृत', घटस्य नाश = घटप्रतियोगिकध्वस', प्रतियोगित्वस्य षष्ठ्यर्थत्वात् । इतिशब्दो हेत्वर्थे । अत' स्वोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणे एव घटस्य विनष्टत्वात् जलाहरणादिपर्यायाणा अस्वतन्त्राणा आधारेण = आश्रयविधया, केन भवितव्यम् ? आदिशब्देन पृथुबुध्नोदरत्वादेर्ग्रहणम् । अय भाव' बोधिसत्त्वमते सर्वेषा पदार्थाना क्षणान्तरे स्वोपादानकारणमादाय विनष्टत्वात् कुलालेन कृतेऽपि घटे जलाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वमनन्तरक्षणावच्छेदेन न स्यात् । एवञ्च पाक-घटक्रय-विक्रय-न्यास-याचनादेरप्यसभव' स्यात् । तथा च प्रत्यक्ष-व्यवहारयोर्बाध इति भाव' ।

दूषणान्तर विस्फोरयति - तथेति । अकृतस्य = कुम्भकाराद्यनिष्पादितस्य, आगम = फलकालोपस्थिति = जलाहरणाद्यर्थक्रियाकरणस्वरूपफल-कालावच्छेदेन विद्यमानत्वम् । तदेव भावयति- यद्धीति। तेन = घटेन । तदानीमेवेति स्वोत्पादाव्यवहितोत्तरकालमेव, क्षणान्तराऽसमन्वितत्वे सति क्षणसबन्धित्वात् । अकृतेनैवोपस्थातव्यमिति । जलाहरणादिक्रियाणा कारकस्य प्रत्यक्षत एव दृश्यमानत्वात् कृतस्य च घटस्य तदा विनष्टत्वात् कुम्भकाराऽकृतस्यैव घटस्योपस्थितिर्वाच्या । तथा च प्रत्यक्षतो बाध इति । दूषणद्वयमिति कृतघटस्य जलाहरणादिफलाऽभाजनत्वमकृतस्य चार्थक्रियाकारित्वमिति । वौद्धबुद्ध्युपनीतकाकुव्याकुलीकरणप्रवण = शुद्धोदनीधीसमुपजाताऽभिप्रायाकुलीकरणनिपुणम् ।

अत्र वीतरागस्तोत्रविवरणकृत' श्रीप्रभानन्दसूरय इत्य व्याचक्षते - "तायागतपरिकल्पिते स्वलक्षणस्य सर्वथा क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि कृतनाशाऽकृतागमौ स्थिरस्थेमानमवलम्बमानौ दुर्निवारावेव स्याताम् । यतः सर्वथैव तदभिमते वस्तुनि स्वीक्रियमाणे पर्यायाणा निराधारत्वेन स्यातुमशक्ता घटादेरनुत्पाद एव प्रसज्येत । तथाहि पूर्वक्षणे यद् यद् घटादि द्रव्यमासीत् तत्तत् द्वितीयक्षणे सर्वथा निर्हेतुक विनष्टमेव । तत् कस्य स्यास-कोश-कुशूलादिसस्काराधान विधातुमुचितम् । दृश्यन्ते च प्रत्यक्षादिप्रमाणैः सस्काराः । अतस्तन्मते कृता अप्यकृता स्यु' । तथा निरन्वयविनश्वरे वस्तुनि सस्काराणामुत्पादयितुमशक्यत्वात्, कुतः स्यासादीना पर्यायाणामवकाशः ? अतः प्रतीयते तन्मतेऽनिच्छयैव गलेपादुकान्यायादुपनत एवाकृतागम' । एवञ्च स्वपरपक्षयोरपक्षपातेनैव व्यवस्थित नित्यानित्यात्मक वस्तुतत्त्वम् । प्रयोगश्चाऽयम् - विवादास्पदीभूत वस्तुतत्त्व नित्यानित्यात्मकम्, कृतनाशाऽकृतागमादिदोषाभावस्याऽन्यथानुपपत्तेः । न च दृष्टान्तमन्तरेण हेतोर्न गमकत्वम्, अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यसिद्धेः । 'सात्मक जीवच्छरीर प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादिवत्" [वी स्तो वि पृ ६५] ।

यत्तु कमलशीलेन "यदि हि परमार्थतः कश्चित् कर्ता भोक्ता वाऽभीष्टः स्यात्, तदा क्षणभङ्गित्वाऽङ्गीकरणे कृतनाशादिप्रसङ्गःस्यात् । यावता इद प्रत्ययतामात्रमेव विश्व न केनचित् कर्त्रा किञ्चित् कृतम्, नाऽपि भुज्यते तत् कथ कृतनाशादिप्रसङ्गापादन स्यात्" [त स प पृ २२६] इत्युक्तम्, तन्न चारु प्रमातृप्रमाणप्रमेयाणा वास्तविकत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् [दृश्यता तृतीयखण्डे एकादशकारिकाविवरणटीकायाम्] ।

● रमणीया ●

इस तरह है कि वादी = स्याद्वादी और प्रतिवादी = वौद्ध को सत्त्वरूप से समत पदार्थमात्र का एकातनाश यानी नित्यत्व से अमिश्रित नाश हो तब तो कुम्भकारादि से कृत = किये गये घटादि पदार्थ अकृत घटादि के तुल्य होगा । अर्थात् कुम्हार घट को उत्पन्न करे या न करे, कुछ फर्क नही होगा, क्योकि कुम्हार से उत्पन्न हुआ घट तो अपने जन्म के अनन्तर समय मे ही नष्ट हो जाता है । आशय यह है कि बौद्धमत मे सब वस्तु क्षणिक होती है । अर्थात् क्षणमात्रस्थायी होती है । स्वोत्पत्ति के पूर्व क्षण या उत्तर क्षण मे वस्तु नरशृंग की भाँति असत् होती है । अत बौद्ध मतानुसार घट भी अपनी उत्पत्ति की अव्यवहित=अनतर उत्तर क्षण मे नष्ट ही होगा । तब जलाहरण आदि पर्याय का आधार कौन बनेगा ? कुम्हार से उत्पन्न घट भी जलाहरणादि फल का भाजन न बने तब तो कुम्हार घट को उत्पन्न करे या न करे, विशेषता क्या ? इस तरह क्षणभगवादी बौद्धमत में कृतनाशदोष यानी कृताऽकृततुल्यता दोष प्रसक्त होता है । इस तरह पदार्थ मात्र को एकान्तत क्षणिक मानने पर अकृतागमदोष भी प्रसक्त होता है । अकृतपद का अर्थ है कुम्हारादि से उत्पन्न न किये गये घटादि और आगमशब्द का अर्थ है जलाहरणादिरूपफलकालीन उपस्थिति । अर्थात् कुम्हार से नही किये गये घट की जलाहरणादिस्वरूप फल के अवसर पर उपस्थिति होने का प्रसग होगा । आशय यह है कि बौद्धदर्शनानुसार पदार्थमात्र क्षणिक होने से कुलाल से किया हुआ घट तो दुर्जन के मन के प्रेम की भाँति एक ही क्षण में नष्ट हो गया है । अत जलानयनादि क्रिया मे व्याप्रियमाण घट वह नही होगा, किन्तु अन्य ही होगा, क्योकि कुम्हार ने तो एक ही घट पूर्व मे बनाया था, जो कि नष्ट हो चुका है । जलाहरणादि क्रिया के काल मे तो कुम्हार उस घट को बनाने

इदमप्यत्र विचार्यते । कि क्षणभिदेलिममेव भुवनमन्यादृश वा ?

तत्र वौद्ध·, '' मुद्गरादिसमवधानदशाया घटादेर्यत्स्वरूप वरिवर्त्ति तेन प्रागासीन न वा ? आद्येऽनायासेनैव सिद्धा क्षणभङ्गुरता भगवती । अन्त्ये स्वभावाहान्यापत्तिः ।

★ जयलता ★

श्रीविशालसूरिभिस्तु तदवचूर्णौ - ''यथैकस्मिन् क्षणे यद् मृत्पिण्डद्रव्यमभूत् तद् द्वितीयक्षणे सर्वथा विनष्टम् । ततः कुम्भकारेण तत्र कृतोऽपि घटाकारो नश्यति इति कृतनाशः । तथा मृद्द्रव्य यदि निःशेष नष्टम्, तर्हि स्थासकोसकुशूलबुध्नोदरकर्णादि कुलालेन क्रियते दृश्यते च चक्षुषाऽतोऽकृतागमः'' [वि स्तो अव पृ ६६] इति प्रणिगदितम् ।

अन्यादृशमिति । प्रकृते नित्यमित्यर्थः ।

सुगतमत निरूपयति - तत्रेति उक्तविप्रतिपत्तौ विधिकोटावित्यर्थः । मुद्गरादिसमवधानदशाया = घटनाशकसामग्रीकाले । आद्ये = मुद्गरपातादिकालीनघटस्वरूपस्य मुद्गरपातादिप्राक्कालावच्छेदेन सत्त्वोपगमे,अनायासेनैव = प्रतिवादिस्वीकृतविकल्पेनैव, सिद्धा क्षणभङ्गुरतेति । अय भावः मुद्गरप्रहारादिसामयिको घटादेर्नश्वरत्वस्वभावो यदि तत्पूर्वमप्यासीदित्यङ्गीकारे स्वोत्पादानन्तरक्षण एव घटादेर्नाशः स्यात्, स्वभावस्याऽन्यानपेक्षत्वात् । एवञ्च प्रतिवादिमुखेनैव सिद्धमर्थाना सर्वेषा क्षणिकत्वम्, नश्वरस्वभावस्य स्वोत्पादसमनन्तरमेव नाशसम्भवात् अन्त्ये = मुद्गरपातादिकालिकस्य नाश्यत्वस्वभावस्य घटे मुद्गरादिक्षेपात्पूर्वमसत्त्वाऽभ्युपगमे मुद्गरादिप्रक्षेपशायामपि घटध्वसो न स्यात्, स्वभावस्य कल्पकोटिशतैरपि प्रच्यावयितुमशक्यत्वात्, अन्यथा कदाचिद् वह्निरपि शीतः स्यात् आकाशमपि रूपि स्यात् । एवञ्च घटादेर्नित्यत्व प्रसज्येत । पश्चाद् घटध्वसोपगमे वा स्वभावहान्यापत्ति = तदसमवधानकालीनानाऽनाश्यत्वस्वभावत्यागापात इत्यर्थः । तदुक्त मोक्षाकरगुप्तेन वौद्धतर्कभाषाया ''सर्वं तावत् घटादिक वस्तु मुद्गरादिसन्निधाने नाश गच्छत् दृश्यते । तत्र येन स्वरूपेणाऽन्त्याऽवस्थाया घटादिक विनश्यति तच्चेत् स्वरूप उत्पन्नमात्रस्य (विद्यते?) तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यमिति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् । अथेदृश एव स्वभावः तस्य स्वहेतोर्जातः, यत् कियन्त काल स्थित्वा विनश्यतीति एव तर्हि मुद्गरादिसन्निधाने च स एव तस्य स्वभाव इति पुनरप्यनेन तावन्तमेव काल स्थातव्यम् । पुनरप्येवमिति नैव विनश्येदिति । तस्मात् (? एव)क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवद् द्वितीयक्षणेऽपि क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपर क्षणद्वयमवतिष्ठेत एव तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येत'' [बौ त भा पृ ५६] इति ।

● रमणीया ●

को नही बैठा है । अत वौद्धमान्यतानुसार तो जलाहरणादि अर्थक्रियास्वरूप फल के काल मे कुम्हार से अजन्य घट की उपस्थिति माननी पडेगी, जो प्रतीति विरुद्ध एव व्यवहारविरुद्ध है । इस तरह कृतनाश और अकृतागम, ये दो दोष क्षणिकवादी के मत मे प्रसक्त होगे, जो बौद्ध की वुद्धि से उत्पन्न अभिप्राय को व्याकुल करने मे निपुण है । इस तरह एकान्तनित्यत्व पक्ष की भाँति एकात क्षणिकत्व पक्ष मे भी कृतनाश और अकृतागम दोष वज्रलेप होते हे । यह भी यहाँ सोचा जाता है कि 'जगत् क्षणिक है या अन्य = नित्य है ?' सब से पहले क्षणिकवादी बोद्ध के मत का व्याख्याकार निरूपण करते है । व्याख्याकार श्रीमद्जी बौद्ध का सत्तू बाध कर पीछा करते है ।

● क्षणिकवादी बौद्ध का दीर्घपूर्वपक्ष ●

बौद्ध :- तत्र बौ० इति । जैसे जेसे 'वस्तुमात्र क्षणिक है या नित्य है ?' इस प्रश्न पर विचार किया जाता है वैसे वैसे यही मानने को दिल तैयार होता है कि - सव वस्तु क्षणिक है । वह विचार इस तरह हो सकता है कि -''मोगरी आदि के सन्निधान समय मे जो घटादि का नश्वरस्वरूप विद्यमान है वह पूर्व काल मे घट मे था या नही ? ये दो मार्ग सभवित हैं । इनमे से प्रथम पक्ष का स्वीकार किया जाय कि - 'मोगरी आदि के समवधान समय मे घटादि का जो नश्वरस्वभाव हे, वह मोगरी आदि के सयोग के पूर्वसमयावच्छेदेन भी घटादि मे था', तव तो विना किसी प्रयत्न के घटादि अर्थजात मे क्षणिकता देवी सिद्ध हो जायेगी, क्योकि मोगरी आदि के प्रहार के पूर्व काल मे भी घटादि का नश्वर-स्वभाव हे तव तो मोगरी आदि प्रहार के पहले ही स्वजन्म के अव्यवहितोत्तर क्षण मे घटादि का नाश हो जायेगा । स्वभावानुसार कार्य होने मे किमकी अपेक्षा ? यदि दूसरे पक्ष को मान्यता दी जाय कि 'मोगरीआदिपातकाल मे घटादि का जो नश्वरस्वरूप है वह पूर्व अवस्था मे नहीं था', तब तो घटादि के स्वभाव की हानि होने की आपत्ति आयेगी, क्योकि पूर्व कालीन अनश्वरस्वभाव को छोड कर मोगरीआदि के प्रहार काल मे घटादि नाश्यत्वस्वभाव का अगीकार करते हे । मगर स्वभाव का तो परित्याग नहीं हो मकता । क्या वेल दूध न देंने

किञ्च, तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्धटादेः प्रध्वंसाऽप्रतियोगित्वकल्पनामपेक्ष्य तत्तत्क्षणानां तत्तद्धटप्रध्वंसानाधारत्वकल्पनामपेक्ष्य वा तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्धटादेः प्रध्वंसप्रतियोगित्वस्य, तत्तत्क्षणानां तत्तद्धटध्वंसाधारत्वस्य वा कल्पनैव लघीयसी । न चैवं उत्पत्तिक्षणेऽपि नाशप्रसङ्गः, असतो नाशाऽयोगात् ।

★ जयलता ★

ननु मुद्गरादिपातविरहकालावच्छेदेन घटस्य ध्वंसाऽप्रतियोगित्वस्वरूपं वर्तते मुद्गरादिप्रहारकालावच्छेदेन तु ध्वंसप्रतियोगित्वस्वरूपम् । अतो न क्षणभङ्गप्रपातो न वा स्वभावहान्यापत्तिः, स्वभावस्य कादाचित्काऽकादाचित्कभेदेन द्वैविध्यात् । यद्वा मुद्गरादिप्रक्षेपशून्यक्षणानामेवास्तु तत्तद्घटध्वंसानाधारत्वं मुद्गरादिक्षेपविशिष्टक्षणानाञ्च तत्तद्घटध्वंसाधारत्वम् । अतो न स्वोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणे मुद्गराद्यसन्निधानविशिष्टे तत्तद्धटादेर्नाशः, तत्क्षणस्य तद्ध्वंसानधिकरणत्वात् । न च स्वभावहान्यापत्तिः, तत्तत्क्षणानां भिन्नत्वादिति परशङ्कायां बौद्ध आह -किञ्चेति । तत्तत्क्षणावच्छेदेन = मुद्गराद्यसन्निधानविशिष्टतत्तत्कालावच्छेदेन, तत्तद्घटादेः प्रध्वंसाऽप्रतियोगित्वकल्पनामपेक्ष्येति प्रध्वंसप्रतियोगित्वाभावकल्पनामपेक्ष्येति । अस्याऽन्वयस्तु 'तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्धटादेः प्रध्वंसप्रतियोगित्वस्य कल्पनैव लघीयसी'त्यत्र । तत्तत्क्षणानां = मुद्गराद्यसन्निधानविशिष्टतत्तत्समयानां, तत्तद्घटध्वंसानाधारत्व-कल्पनां =तत्तद्धटध्वंसनिरूपिताधारत्वाभावकल्पनां, अपेक्ष्येति। अन्वयश्चास्य 'तत्तत्क्षणानांतत्तद्धटध्वंसाधारत्वस्य कल्पनैवलघीयसीत्यत्र अधिकाभावानिवेशादेव । एवञ्च लाघवसहकारेणाऽपि स्वोत्पादसमनन्तरं घटादेर्नाशः सिद्ध इति क्षणिकवादिनो भावः ।

ननु लाघवसहकारेण मुद्गराद्यसन्निधानविशिष्टक्षणावच्छेदेन घटादेर्ध्वंसप्रतियोगित्वस्य मुद्गरादिसन्निधानविकलक्षणानामपि तत्तद्घटादिध्वंसनिरूपिता-ऽऽधारत्वस्य वा कल्पने स्वोत्पादाऽव्यवहितोत्तरक्षणवत् स्वोत्पादसमयेऽपि घटादेर्नाशः प्रसज्येत अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गात् । तदुक्तं प्रमेयकमलमार्तण्डे प्रभाचन्द्रेण 'यदि स्वनाशस्याऽन्येनाऽसम्भवस्तदा मुद्गराद्यनपेक्षत्वमेवास्य (=घटस्य) स्यात्, न तूदयानन्तरं ध्वंसः । अहेतुकत्वेन सर्वदा भावे उदयानन्तरं ध्वंसः साध्यते तदा प्रथमक्षणे एवाऽस्य ध्वंसानुषङ्गः । न ह्यनपेक्षत्वात् अहेतुकं क्वचित् कदाचिद् भवति, सौगतैरप्यभ्युपगमात्'' [प्र.क.मा.पृ.१४५] । एवञ्च घटादेः सर्वदा विलोपस्स्यादित्याशयं निराकर्तुं सुगत आह - न चेति । तन्निरासे हेतुमाह असतः = अविद्यमानस्य, नाशाऽयोगात् = ध्वंसाऽसम्भवात् । अयमाशयः यदि घटादेरुत्पत्तिक्षण एव नाशः स्यात्तदा पूर्वमिव तदानीमपि असन् स्यात् । एवं च तन्नाश एव न सम्भवति, अविद्यमानत्वस्य ध्वंसाऽप्रतियोगित्वात् । अतः स्वजन्मानन्तरक्षणे एव घटादेः प्रध्वंसोऽभ्युपगन्तुमर्हतीति ।

● रमणीया ●

के स्वभाव को छोड कर कभी भी दूध देगा ? अतः दूसरे पक्ष में आने वाले दोष के सबब प्रथम पक्ष का ही स्वीकार करना होगा जिसके फलस्वरूप भगवती क्षणभंगुरता की सिद्धि होगी ।

● क्षणिकवाद में लाघव ●

किञ्च तत्त० इति । यदि बौद्ध के प्रतिवादी नैयायिकआदि की ओर से यह कहा जाय कि → ''विवक्षित घटादि मोगरी आदि प्रहार से शून्य कालावच्छेदेन ध्वंस का अप्रतियोगी होता है । अतः स्वोत्पत्ति के अव्यवहितोत्तर क्षण में ध्वंसप्रतियोगित्व घट में नहीं माना जा सकता, क्योंकि ध्वंसप्रतियोगित्वाभाव का ध्वंसप्रतियोगित्व के साथ विरोध होता है । इस तरह घटादि में क्षणैकमात्रजीवित्वस्वरूप क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । घटादि का नाश तभी होगा जब मुद्गरादि का प्रहार हो, क्योंकि घटादि में मोगरी आदि प्रहारविशिष्टकालावच्छेदेन ही ध्वंसप्रतियोगित्वस्वरूप रहता है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि-मोगरीआदिघातविशिष्ट क्षण में ही विवक्षितघटध्वंस की अधिकरणता है, मोगरी आदि प्रहारशून्य तत् तत् क्षण तो विवक्षितघटप्रतियोगिकध्वंसनिरूपिताधारता से शून्य ही है । अतः मोगरीआदिसंयोग विशेषशून्य स्वजन्म क्षण में विवक्षित घटादि का ध्वंस नहीं होगा, क्योंकि वह समय विवक्षित घट के ध्वंस का आधार ही नहीं है । बिना आधार के जन्य घटादिध्वंस कहाँ रहेगा ? अतः विवक्षित घटादि के ध्वंस की अधिकरणता से शून्य ऐसी स्वोत्पादानन्तर क्षण में विवक्षित घटादि का ध्वंस नहीं होगा । अतः क्षणभंगुरता को अवकाश नहीं है'' ← तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि मुद्गरादिप्रहार से शून्य क्षणावच्छेदेन विवक्षित घटादि के ध्वंस की प्रतियोगिता का अभाव मानने की अपेक्षा विवक्षित घटादि के ध्वंस की प्रतियोगिता का स्वीकार करने में ही लाघव है । विवक्षित घटादि को तब ध्वंसप्रतियोगित्वाभावविशिष्ट मानने की अपेक्षा ध्वंसप्रतियोगित्वविशिष्ट मानने में स्पष्ट ही लाघव है, क्योंकि एक अधिक अभाव पदार्थ का प्रवेश नहीं किया गया है । ऐसा मानने पर तो स्वोत्पादाऽव्यवहितोत्तर क्षण में विवक्षित घटादि का नाश सिद्ध हो ही जायेगा, क्योंकि लाघव सहकार से मोगरी आदि प्रहारशून्य क्षणावच्छेदेन विवक्षित घटादि में ध्वंसप्रतियोगिता का स्वीकार करना उचित है । इसी तरह मोगरीआदि प्रहार शून्य क्षण में विवक्षित घटादि के ध्वंस से निरूपित आधारता के अभाव की कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसकी अपेक्षा मोगरी आदि प्रहार से शून्य क्षण में विवक्षित घटादि के ध्वंस से निरूपित आधारता की कल्पना करने में ही लाघव है । इसमें भी अधिक अभाव का प्रवेश न होने से क्षणिकवादी के पक्ष में लाघव है । इस तरह मुद्गरादिशून्य ऐसी स्वोत्पादाव्यवहितोत्तर क्षण में विवक्षित घटादि का ध्वंस सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वह क्षण विवक्षितघटादिप्रतियोगिक ध्वंस की अधिकरणीभूत है । इस तरह लाघवतर्कसहकार से भी घटादि पदार्थ में क्षणमात्रस्थायित्व की सिद्धि हो सकती है । अतः क्षणिकवाद में ही आस्था करने को दिल तैयार होता है ।

वस्तुतस्तत्तत्क्षणेष्वेवास्तु घटत्वपटत्वादिकम् । न च सकरः, वासनाकृतविशेषेण तन्निरासात् । अत एव न स्थितिकाले 'घट उत्पन्नः' 'घटो ध्वस्त' इत्यादिप्रतीतिः विशिष्टोत्पादध्वसयोर्विशेषणसत्त्वविरुद्धत्वात् । न च 'स एवाय घट' इति

★ जयलता ★

विज्ञानवादी योगाचार स्वसिद्धान्तमाह - वस्तुत इति । तत्तत्क्षणेष्वेवेति । प्रातिस्विकविज्ञानक्षण एव घटपटादिस्वरूपम् । तत्रैव च घटत्व-पटत्वादिकम् । तच्च ज्ञानरूपमेव, अतिरिक्तकल्पने गौरवात् । अत एव तत्क्षणिकत्वमव्याहतम्, क्षणस्य क्षणान्तराननुवृत्तेः ।

ननु विज्ञानक्षणानामेव घटपटादिरूपत्वे तेषामैक्य स्यात्, 'घटपटौ पश्यामी'त्यबाधितानुभवबलात् । एवमेव घटत्व-पटत्वादीनामपि साकर्यं प्रसज्येत ज्ञानधर्माणा तेपामेकसमूहालम्बनज्ञानवृत्तित्वादित्याशङ्का निराकर्तुमाह - न च सकर इति । हेतुमाह वासनाकृतविशेषेणेति । अनन्तवासनाभेदकृतप्रतिभासभेदे- नेत्यर्थः । तन्निरासात् = साङ्कर्यनिराकरणात् । अय भावः एकमेव ज्ञान वासनारूपविशेपणभेदात् भिद्यते । अतः तत्तद्वासनारूपविशेपविशिष्टे एव घटत्व-पटत्वादिकम् । अत एव न घटत्वपटत्वादिसकरः एतेन समूहालम्बने घटाकारोऽपि पटाकारः स्यात्, आकाराकारिणोरभेदात्, तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमादिति प्रत्युक्तम् अतद्व्यावृत्तिस्वरूपाऽपोहभेदेन तद्भेदात् ।

वस्तुतस्तु समूहालम्बने न घटाकारो नवा पटाकार किन्तु चित्राकार एवेति न योगाचरमते दोपलेशगन्धोऽपीति ध्येयम् ।

ननु प्रतिक्षण विज्ञानक्षणरूपाणा घटपटादीनामुत्पादविनाशशालित्वे आद्यक्षणवत् मध्यमक्षणेष्वपि 'घटादिरुत्पन्नः' इति प्रत्ययः तथा सतानान्तिमक्षणवत् मध्यमक्षणेष्वपि 'घटादिर्ध्वस्त' इति इत्यादिः प्रत्ययः कथ न स्यादित्याशङ्का पराणेतु विज्ञानवायाह - अत एवेति । वासनाकृतविशेपेण तद्विशेपादेव । न स्थितिकाले = न सतानमध्यमक्षणदशाया, 'घट उत्पन्नो घटो ध्वस्त' इत्यादिप्रतीतिरिति । अय भावः सतानीयमध्यमक्षणेपु घटोत्पादध्वसप्रवाहसत्त्वेऽपि घटोत्पादादिगोचरप्रत्ययजनकसस्कारोद्बोधविरहेण तदानी 'घटो जायते' इत्यादिप्रतीतेरनवकाशः न च मध्यमक्षणेपु तादृशसस्कारोद्बोधः कथ नेति वाच्यम् दण्डचक्रचीवरकुलालादिकूटाव्यवहितोत्तरत्वादिरूपस्योद्बोधकस्य विरहात् । न च द्वितीयादिक्षणेपु दण्डादिसमूहाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टघटस्य ध्वसदशाया अप्रथमत्वादिविशिष्टघटस्योत्पादरूपायामप्यस्तु घटे दण्डादिवृन्दाव्यवहितोत्तररूपविशेपवैशिष्ट्यमिति वाच्यम् विशिष्टोत्पादध्वसयो विशेषणसत्त्वविरुद्धत्वात् । तत्तत्क्षणरूपघटप्रतियोगिकस्याऽप्रथमत्वादिरूपेणोत्पादस्य दण्डादिकलापाऽव्यवहितोत्तरत्वादिरूपेण च ध्वसस्य दण्डादिसमुदायाव्यवहितोत्तरस्वरूपविशेषणसत्तया सह विरुद्धत्वात् । जन्यतावच्छेदकीभूतस्याऽप्रथमत्वादिरूपस्य ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकीभूतस्य

● रमणीया ●

● वस्तुतः विज्ञानक्षण ही घट-पटादिस्वरूप - वौद्ध ●

वस्तु० इति । वस्तुस्थिति के अनुसार विचार किया जाय तो तत् तत् क्षणविशेष ही घट-पट आदिस्वरूप है । क्षणविशेष मे ही घटत्व-पटत्वादि रहता हे न कि मिट्टी के वरतन आदि मे । ऐसा मानने पर तो क्षणिकवाद की सिद्धि सुकर है, क्योकि क्षण तो क्षणान्तरसवधी नही होती है । अत घट-पटादि को क्षणविशेषरूप मानना ही उचित है । यहाँ यह शका कि → "क्षणविशेष ही घट-पटादिस्वरूप है, तव तो घट,पटादि पदार्थ एक काल मे ही प्रतीत होने से एक वर्तमान क्षणात्मक वन जायेगा । मगर ऐसा होने पर तो एक ही क्षण घटस्वरूप पटस्वरूप मठादिस्वरूप हो जाने से घट-पट-मठादि भी एक हो जायेंगे एव विज्ञानक्षण से अभिन्न घटत्व-पटत्वादि भी एक हो जायेंगे । ५ + २ = १०-३ और ५ + २ = १ + ६ होने से १०-३ = १+ ६ होना तो सर्वजनप्रसिद्ध ही है । वैसे जो क्षणविशेष घटस्वरूप हे वही पटादिस्वरूप होने पर घट का पटादिस्वरूप होना भी न्यायप्राप्त है" ← करना असगत है । इसका कारण यह है कि - एक ही क्षण घटपटादिस्वरूप होने पर भी तत् तत् सस्कार के उद्‌वोध से उत्पन्न भिन्न भिन्न प्रकारक वुद्धि के वैलक्षण्य से घट पटादि मे ऐक्य की प्रतीति नही होगी । तात्पर्य यह है कि प्रवुद्ध सस्कारविशेष की महिमा से एक क्षण मे घटत्वादिनियतप्रकारक ही ज्ञान उत्पन्न होता है । अत क्षणविशेष को ही घटपटादिस्वरूप मानने पर भी घट-पटादि मे अभेद की प्रतीति का कोई अवकाश नही है, क्योकि वासनाभेद से ज्ञान भी भिन्न होता है ।

शका : यदि क्षणविशेषरूप ही घट-पटादि होने से वे क्षणभगुर हैं तव तो जैसे आद्य क्षण मे 'घट उत्पन्न' ऐसी प्रतीति होती हे । ठीक वैसे द्वितीयादि मध्यमक्षण मे भी 'घट उत्पन्न' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, क्योकि नया-नया घट तो प्रतिक्षण उत्पन्न होता ही है । इस तरह जैसे घटसतानोपमर्द से विजातीयसतान क्षण मे 'घटो ध्वस्त' अर्थात् 'घट नष्ट हुआ' यह प्रतीति होती है ठीक वैसे ही घटसतान के द्वितीयादि क्षण मे भी 'घटो नष्ट' यह प्रतीति होनी चाहिए, क्योकि घटक्षण तो प्रतिक्षण विनश्वर हे ।

● विशिष्ट की उत्पत्ति और विनाश पूर्वकालीन विशेषणसत्ता के विरोधी ●

समाधानः अत एव० इति । अजी, जनाव ! अव पछताये होत क्या जव चिडियॉ चुग गई खेत ! अभी तो हमने कहा कि 'प्रवुद्ध सस्कारविशेप के कारण प्रतिनियत प्रतीति होती है' । क्या आप यह भूल गए ? जैसे एक ही क्षण घट-पटादि स्वरूप होने पर भी जिस सस्कार का उद्‌वोध होता है, उसके अनुसार प्रतीति होती हे ठीक वैसे ही प्रतिक्षण मे घट का उत्पाद और विनाश होने पर भी जव जिस सस्कार का प्रवोध होगा उसके अनुसार ज्ञान उत्पन्न होता हे । घट सतान की प्रथम क्षण मे घटोत्पादप्रकारक ज्ञान के जनक सस्कार की अभिव्यक्ति होने से प्रथम क्षण मे ही 'घट उत्पद्यते' = 'घट उत्पन्न होता है' यह

प्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वे बाधिका, 'स एवायं गकार' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाया इव तस्यास्तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वात् ।

★ जयलता ★

च दण्डाद्यव्यवहितोत्तरत्वस्वरूपस्य तादृशोत्पादध्वंसकारणीभूतपूर्वक्षणस्थेन संतानघटकप्रथमसंतानित्वरूपेण दण्डाद्यव्यवहितोत्तरत्वात्मकेन विशेषणेन सह विरोधस्तु सुस्पष्ट एव। एतेन प्रतिक्षणं घटस्य विनश्वरत्वे कपालादिविजातीयसंतानारम्भक्षण इव घटसंतानमध्यक्षणेष्वपि 'घटो नश्यति' इति प्रतीयेतेत्यपि प्रत्युक्तम् घटध्वंसप्रकारकज्ञानजनकसंस्कारोद्बोधकस्य मुद्गरपाताद्यव्यवहितोत्तरक्षणस्य तदानीं विरहात् । वस्तुतस्तु बौद्धमते उत्तरक्षणोत्पाद एव पूर्वक्षणध्वंसो न तु तदतिरिक्त इति ध्येयम् ।

ननु पूर्वोत्तरकालीनघटादेरेकत्वसाधिकायां प्रत्यभिज्ञायां प्रतिष्ठितायां कथं न क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्ग इत्याशयं निराकर्तुं बौद्ध आह - न चेति । तद्व्यपोहाय हेतुमाह - 'स एवायं गकार' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाया इवेति आदिपदेन 'सैवेयं गुर्जरी, 'स एवायं गकार' 'सैवेयं दीपकलिका' इत्यादेर्ग्रहणम् । तस्या = 'स एवायं घट' इति प्रत्यभिज्ञायाः तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वात् = तत्सादृश्याऽवगाहित्वात् । अयं भावः यथा परेषां मते शब्दादौ तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्वरूपस्य तृतीयक्षणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणत्वस्वरूपस्य वा क्षणिकत्वस्य सत्त्वेऽपि चतुर्थादिक्षणेषु 'स एवायं गकार' इत्यादिप्रत्यभिज्ञा पूर्वोत्तरगकारवृत्त्यभिन्नगत्वजातिविषयिणी न तु पूर्वोत्तरकालीनगकाराभेदविषयिणी तथैव मन्मतेऽपि 'स एवायं घट' इति प्रत्यभिज्ञा न पूर्वोत्तरकालीनघटाभेदे प्रमा परन्तु पूर्वोत्तरकालीनघटवृत्तिघटत्वाभिन्नत्वे एव प्रमा । अतो न क्षणभङ्गुरत्वभङ्गुरत्वकलङ्कपङ्कलेशः ।

● रमणीया ●

प्रतीति होती है मध्यम क्षण में नहीं । ठीक वैसे ही घटसंतान के चरम समय में घटध्वंसप्रकारक अनुभव के जनक संस्कार का प्राकट्य होने की वजह 'घटो ध्वस्त' यह साक्षात्कार घटसंतानोपमर्द समय में ही होता है, मध्यम क्षण में नहीं । यहाँ यह दहशत कि —> ''घटोत्पादप्रकारक ज्ञानोत्पादक संस्कार आद्य क्षण में ही प्रकट हो न कि मध्यम और अंतिम क्षण में-इसमें नियामक क्या है ? एवं घटध्वंसविशेषणक प्रतीतिजनक संस्कार घटसंतानचरमसमय में ही प्रबुद्ध हो न कि मध्यम क्षण में-इसका नियामक भी क्या है ? बिना किसी कारण के वैसी शपथ लेने में बुद्धिमत्ता नहीं है'' <— हो तो यह नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि संस्कारविशेष का उद्बोध उद्बोधक की उपस्थिति में ही होता है, न कि अपने आप । घटोत्पादप्रकारक ज्ञान के जनक संस्कार की उद्बोधक है दंडादिकारणकलापाऽव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट क्षण, एवं घटप्रध्वंसप्रकारताक प्रतीति के जनक संस्कार की अभिव्यंजक है मोगरीप्रहारादिअव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट क्षण । घटसंतान की मध्यम क्षण (= स्थिति काल) में उपर्युक्त दोनों अभिव्यंजक का अभाव होता है, क्योंकि अप्रथमत्वादिविशिष्टरूप से घट का जन्म एवं व प्रथमक्षणत्वरूप से घट का ध्वंस, क्षणात्मक घट के विशेषणीभूत दंडादिसमूह अव्यवहितोत्तरत्वस्वरूप विशेषण का विरोधी होता है । इसी तरह मोगरीआदिपूर्ववर्तित्वरूप से घट का उत्पाद एवं प्रथमक्षणत्वरूप से घट का ध्वंस भी मोगरीआदि अव्यवहितोत्तरत्वात्मक विशेषण का विरोधी होता है । अतः मध्यम क्षण में दंडादिअव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट क्षणस्वरूप घट का, जो कि घटोत्पादप्रकारक ज्ञान के जनक संस्कार का उद्बोधक है, अभाव होने से घटस्थितिकाल में 'घटो जायते', 'घट उत्पन्न हो रहा है' यह प्रतीति नहीं होती है । एवं मोगरीआदिअव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट क्षणस्वरूप विजातीय संतान का, जो कि घटध्वंसप्रकारक ज्ञान के जनक संस्कार का अभिव्यंजक है, विरह होने की वजह मध्यम क्षण में 'घटो ध्वस्त' इत्याकारक प्रतीति नहीं होती है । अतः क्षणिकवाद के स्वीकार में व्यवहार के अपलाप की भी कोई आपत्ति नहीं है । अतः जगत् क्षणभंगुर सिद्ध होता है ।

● प्रत्यभिज्ञा क्षणिकवाद में अबाधक - बौद्ध ●

न च० इति । यहाँ यह शंका करना कि —> ''क्षणिकवाद में 'स एवायं घट' = 'यह वही घट है जो मैंने पूर्व में देखा था' यह प्रत्यभिज्ञा बाधक है । आशय यह है कि यदि घट प्रतिक्षण नष्ट होता तब तो पूर्व काल में जिस घट का अनुभव हुआ है वह तो उत्तरक्षण में नष्ट होने से उत्तरकाल में 'यह वही घट है जो मैंने पहले देखा था' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। प्रत्यभिज्ञा पूर्वोत्तरकालीन घट में ऐक्य = अभेद की सिद्धि करती है, जब कि क्षणभंगमतानुसार पूर्वोत्तरकालीन घट में भेद होता है । प्रत्यभिज्ञा को अप्रमाण तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सर्वजनविदित होने से अपह्नव के अयोग्य है । प्रत्यभिज्ञा प्रमाण क्षणभंगसिद्धांत का भंग करता है । अतः क्षणभंगुरता को मान्यता नहीं दी जा सकती'' <— नैयायिक के लिए नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि - वह प्रत्यभिज्ञा सादृश्यावगाही है, न कि पूर्वोत्तरकालीन घट में ऐक्यावगाही । यह ठीक उसी तरह संगत हो सकता है जैसे आपके (नैयायिक के) मत में 'स एवायं गकार' = 'यह वही गशब्द है जो मैंने पूर्व में सुना था' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा पूर्वोत्तर गकार में सादृश्यावगाही होती है । तात्पर्य यह है कि शब्द, ज्ञान, इच्छा आदि विशेषगुण नैयायिक मतानुसार तृतीयक्षणवृत्ति ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं अर्थात् तीसरी क्षण में नष्ट होने से क्षणिक होते हैं । फिर भी एक व्यक्ति के क, ख, ग आदि शब्द सुन कर कुछ घंटो के बाद उसी व्यक्ति के द्वारा पुनः उच्चरित

किञ्च नित्यस्य सतो वस्तुनः सर्वथाऽर्थक्रियाकारित्वापत्तिः, स्वतः सामर्थ्याऽसामर्थ्याभ्या परोपकारानवकाशात् । 'स्वतः समर्थमपि तत् कारणान्तरसहकृतमेव कार्यमुपदधातीति चेत् ? न कार्यानुपधानसमये सामर्थ्ये मानाभावात् । तस्मात् कुर्वद्रूपस्यैव कारणत्वात् वस्तुनो मदुक्तदूपणभारभङ्गुरस्य सतः क्षणविश्राम एवोचित इति'' ।

★ जयलता ★

ननु 'स एवाय घट-बीजादि'रिति प्रत्यभिज्ञा पूर्वोत्तरकालीनघटाद्यभेदविपयिण्येवास्तु न तु विपयतावच्छेदकघटत्वाद्यभेदगोचरा गौरवादिति पराशङ्काया क्षणिकवायाह - किञ्चेति । सर्वदा = स्वातिरिक्तसमवधानाऽसमवधानकाले अविशेपेण अर्थक्रियाकारित्वापत्ति = जलाहरणाङ्कुरजननादिस्व-रूपार्थक्रियाकरणप्रसङ्गः । हेतुमाह स्वत इति । अय भावः नित्य वस्तु चेत् समर्थं तदा तस्याऽन्यानपेक्षणात् सर्वदैवाऽर्थक्रियाकारित्व स्यात्, किञ्चि दुपकारार्थं परापेक्षणेऽनित्यत्वप्रसङ्गात्। यदि च नित्य वस्तु असमर्थं तदाऽन्यागमेऽपि अर्थक्रियाकारित्व न स्यात्, असमर्थस्य सतो हेतुसहस्रेणाऽपि सामर्थ्याऽऽधानस्याऽशक्यत्वात् । न हि वन्ध्या पुरुपसहस्रसमागमेऽपि पुत्रप्रसवाय प्रभवति, अन्यथा [१]तत्त्वहानिप्रसङ्गात् ।

नैयायिकादिराह - स्वत = स्वभावतः समर्थमपि = अङ्कुरादिकार्यजनने शक्तमपि, तत् = बीजादिक कारणान्तरसहकृतमेव = पृथ्वी-जलमित्रकिरणादिकारणान्तरसमवहितमेव, एवकारेण हेत्वन्तरविकलव्यवच्छेदः कृतः । कार्यं = अङ्कुरादिलक्षण उपदधाति = जनयति । अय यौगाशयः कुशूलस्थ वीजमङ्कुरोत्पादने समर्थमपि क्षितिनीरादिसहकारिविरहादेवाङ्कुर तदा न जनयति स्वतः समर्थस्याऽपि सतः तस्याऽयमेव स्वभावो यदुत सहकार्यन्तरसमवधाने एव कार्यं जनयितव्यम् । अतः कुशूलस्थदशाया नाङ्कुरोत्पादः । सुगतः तन्निराचष्टे - नेति । कार्यानुपधानसमये = अङ्कुरादिजननविरहकालावच्छेदेन बीजादेः अङ्कुरोत्पादसामर्थ्ये मानाभावात् । तस्मात् कुर्वद्रूपस्यैव = कार्यं कुर्वतः कारणस्य यद्रूप = स्वभावविशेपः तस्यैव, कारणत्वात् । तस्य च कार्यानुपधानसमयेऽभावेन विरुद्धधर्माध्यासाद् भिद्यतो धर्मिणः क्षणिकत्वमित्याह - वस्तुनो मदुक्तदूषणभारभङ्गुरस्य सत क्षणविश्राम एवोचित इति । यदेकदा यत्करोति तद्यावत्सत्त्व तत्करोत्येव यथा कश्चिच्छब्दः शब्दान्तरमिति प्रसङ्गः । विपर्ययस्तु यदेकदा

● रमणीया ●

क, ख, ग आदि शब्द सुनते है, तव यह महसूस होता है 'यह शब्द वही है जो मैंने सुना था' । शब्दादि उत्तरकालीन शब्द अलग ही हे, जो पूर्व मे अनुत्पन्न था । फिर भी जो उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा होती हे, उससे नैयायिक महाशय पूर्वोत्तरकालीन शब्द मे ऐक्य को नही मानते हैं किन्तु पूर्वोत्तर शब्द मे साजात्य मानते हैं । अर्थात् पूर्वकालीन शब्द (क, ख, ग आदि) जिस जाति (कत्व, खत्व, गत्व आदि) वाला था, उसी जाति से विशिष्ट (क, ख, ग आदि) शब्द उत्तरकालीन हे-ऐसा उस प्रत्यभिज्ञा का विषय मानते हैं । इसी तरह 'स एवाय घट' यहाँ भी यह माना जा सकता हे कि → यह प्रत्यभिज्ञा-पूर्वकालीन घट मे जो घटत्व जाति थी उसी जाति से विशिष्ट घट उत्तरकालीन है-यह सिद्ध करती है । मतलब कि पूर्वोत्तरकालीन घट तो भिन्न ही हे सिर्फ उन दोनो मे घटत्वजाति ही अभिन्न है । अत उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा भी क्षणिकवाद मे बाधक नही है । अत 'जगत् क्षणभगुर ही है' यही मानने को मन लालायित होता हे ।

● एकातनित्यपक्ष मे सर्वदा अर्थक्रियाकारित्वापत्ति-बौद्ध ●

किञ्च० इति । इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि - एकातनित्यपक्ष मे वीजादि वस्तु अकुरजननादिस्वरूप अर्थक्रिया को करने मे समर्थ है या असमर्थ ? यदि बीजादि वस्तु अकुरादिउत्पादन मे समर्थ है, तव तो क्षेत्रस्थदशा मे जैसे बीज अकुर को उत्पन्न करता है ठीक वैसे ही कुशुलस्थदशा मे भी वह अकुर को उत्पन्न करता ही रहेगा । मतलव यह है कि वीज स्वय अकुरोत्पादन मे शक्त होने से उसे किसीकी अपेक्षा नही हो सकती, क्योकि अन्य किसीकी अपेक्षा वह रखता हे जिसमे उपकार का आधान होता हे । जो नित्य है, स्थिर है, उसमे तो विक्रिया ही नही हो सकती । अत उसमे किसीके द्वारा उपकार कैसे होगा ? अत अन्यनिरपेक्ष होने से जेसे वीज जमीन मे बोने पर अकुरोत्पादक होता है वैसे कोठार मे होने पर भी अकुर का जनक होगा । इस तरह नित्य पक्ष मे सर्वदा अर्थक्रिया होने का अतिप्रसग उपस्थित होता हैं । यह तो नित्यवादी की ओर से नही कहा जा सकता कि → 'बीज कोठार मे होने पर अकुरजनन मे असमर्थ होता है और जमीन मे वोने पर समर्थ होता हे ? ← क्योकि ऐसा मानने पर तो बीज अनित्य - अस्थिर हो जायगा । असमर्थस्वभाववाले पूर्वकालीन बीज के विनाश के विना समर्थस्वभाववाले उत्तरकालीन बीज की उत्पत्ति कैसे होगी ? कोठारावस्था मे अकुरजन्म मे असमर्थ बीज को नित्य = चिरस्थायी मानने पर तो पश्चात् जमीन मे वोने पर भी उससे अकुरप्रसवात्मक अर्थक्रिया न हो सकेगी, क्योकि जो स्वय असमर्थस्वभाववाला है, उसमे किसीके द्वारा उपकार होना कैसे मुमकिन होगा ? कितना ही प्रयास करो काक हस की चाल न चल सकेगा । स्वभावो हि दुरतिक्रम ।

● कार्यानुत्पादकाल मे कारण मे सामर्थ्य नामुमकिन - क्षणिकवादी ●

स्वतः सम० इति । यदि नैयायिक विद्वानो की ओर से यह कहा जाय कि→''क्षेत्रस्थ अवस्था की भाँति कुशुलस्थ दशा मे भी वीज अकुरजनन के लिए स्वय समर्थ ही हे मगर उसका यह स्वभाव है कि मिट्टी-पानी-सूर्यप्रकाश-हवा आदि सहकारिकारण

१-तत्त्व = दृष्टान्ते वन्ध्यात्व, दार्ष्टान्तिके तु नित्यत्वम्।

तदतिजरत्तर, विनाशस्वभावत्वेन क्षणिकत्वे स्थितिस्वभावत्वेन नित्यत्वस्याऽव्यापत्तेः । 'स्थितिप्रत्ययो भ्रान्तो विनाशप्रत्ययस्तु प्रमा' इति तु निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्रम् । ध्वसप्रतियोगित्व तु यथा त्वया विधिपर्यायेन कल्प्यते तथा मया निषेधपर्यायेणाऽपि

★ जयलता ★

यन्न करोति तत्सर्वदैव तन्न करोति यथा शिलाशकलमङ्कुरम् । न करोति चैकदा कुशूलस्थ बीजमङ्कुरमिति सर्वदा तदकरणप्रसङ्ग इत्यादिदूषणभारेण भङ्गुरमेव वस्तुजातमिति भाव· । कुर्वद्रूपत्व सामग्रीप्रविष्टकारणजन्यस्वरूपविशेषरूपत्वमिति [आ त वि भा पृ ७] आत्मतत्त्वविवेकवृत्तिकारो भगीरथठक्कुर । जातिरूपत्व तु तस्य साङ्कर्यान्न सभवतीति तदाशय· ।

भो ! क्षणिकवादिन् ! प्रतियन्ति हि लोका अपि 'सौवर्णघटो घटत्वेन नष्टो न तु सुवर्णत्वेनाऽपी'ति । सुवर्णत्वेनाऽपि तन्नाशे सति न कोऽपि कटककेयुरकुण्डलाद्यर्थी महार्घस्वर्णघट विनाशयेत् । तर्हि कथ वस्तुन एकस्वरूपमुपगम्याऽपरस्वरूपमपलप्यते भवतेत्याद्याशयेन स्याद्वादी प्रतिवदति तदतिजरत्तरमिति । अनुपदोक्तक्षणिकवादनिरूपणमयुक्ततरमित्यर्थ· । वस्तुनो विनाशस्वभावत्वेन क्षणिकत्वेऽङ्गीक्रियमाणे स्थितिस्वभावत्वेन = ध्रौव्यस्वरूपापेक्षया, नित्यत्वस्याऽव्यापत्ते , वस्तुनि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वस्य प्रमाणगोचरीभूतत्वात् ।

'स्वर्णघटः स्वर्णत्वेन न नष्टोऽपि तु विद्यमान एवे'त्याकारकः स्थितिप्रत्यय = ध्रौव्यगोचरोऽवबोधः भ्रान्त = अप्रमा, 'घटत्वेन नष्ट एवे'त्याकारकः विनाशप्रत्यय तु प्रमा इति तु सुगतवचन निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्रम्, उभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात् । एतेन 'स एवाय घट' इति प्रत्यभिज्ञाया· सादृश्याऽवगाहित्वे प्रामाण्य न तु पूर्वोत्तरकालीनघटाभेदग्राहित्वे इत्यपि प्रत्युक्तम् । न च प्रत्यभिज्ञा न प्रमाण, 'सैवेय दीपकलिके'त्यादौ विषयबाधदर्शनादिति वाच्यम् एव सति हेत्वाभासादिदर्शनात्सदनुमानादीनामप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् । किञ्च सादृश्यस्य पारमार्थिकत्वे तेन सदृशोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा प्रामाण्यमास्तिध्नुवीत । नास्त्येव सादृश्य विलक्षणत्वात् स्वलक्षणानामिति चेत् ? तर्हि 'स एवाय घट' इति प्रत्यभिज्ञाया तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वमनुपदमेव भवदुक्त विरुध्येत 'ततो विलक्षणोऽयमि'ति प्रत्यभिज्ञायाश्च प्रामाण्यमापद्येत । 'वैलक्षण्यमपि नास्ति परमाणुप्रचयमात्रत्वात् समस्तपदार्थनामिति चेत् ? इदानीमपि क्व पलायसे । एवमपि 'तस्मादय महान् अल्पो वा प्रचय·' इत्यादिप्रत्यभिज्ञा जायता प्रामाण्ययशोमुद्राभागिनी । 'प्रचयोऽपि न कश्चित्, नीलपीतादिपरमाणूनामेव तात्त्विकत्वादि'ति चेत् ? अहो ! स्वय तत्तदुक्तमपलप्य निर्नङ्क्षुर्भिक्षुः । परमाणुभिन्नस्याऽपारमार्थिकत्वे तेषाञ्चातीन्द्रियत्वेन व्यवहारविलोपादितः सर्ववैनाशिकत्वपदवीमात्मनि विभ्रत्सौगतः शिष्टबाह्यः कार्यः ।

● रमणीया ●

का सान्निध्य होने पर ही अकुर को जन्म देना। अत जमीन पर बोने पर ही जलसिचनादि सहकारी कारण के साचिव्य से बीज अकुर को उत्पन्न करेगा, न कि कोठार मे पडा हुआ भी। अत सर्वदा अर्थक्रियाकारित्व की यानी सभी अवस्था मे बीज से अकुरोत्पाद की आपत्ति नही है, भले ही क्षणिकवाद का स्वीकार न किया जाय''←–तो यह भी ठीक नही है। इसका कारण यह है कि जब बीजादि अकुरादि को उत्पन्न करते नही है तब उनमे अकुरादिजननसामर्थ्य मानने मे कोई प्रमाण नही है। जब बीजादि अकुरादि को उत्पन्न करते है तभी उनमे तादृश सामर्थ्य मानना चाहिए। अत बीज मे पूर्वक्षण मे अकुरजननाऽसामर्थ्य ओर अकुरोत्पत्तिक्षण मे सामर्थ्य मानना जरूरी हे। ऐसा मानने पर क्षणभगुरता की सिद्धि अनायास ही हो जायेगी, क्योकि समर्थ-असमर्थस्वभव के भेद से तादृशस्वभाव के आश्रयभूत कुशलस्थ बीज ओर क्षेत्रस्थ बीज मे भी भेद न्यायप्राप्त है। जब बीज जमीन मे बोया जाता हे तब वह अकुर को उत्पन्न करता है। अत तब बीज मे अकुरकुर्वद्रूप रहता है। कुर्वद् = करता हुआ, रूप = स्वभाव। अकुर उत्पन्न करने का स्वभाव क्षेत्रस्थ बीज मे होने से वह अकुरकुर्वद्रूपविशिष्ट होता है। वही बीज अकुर का कारण है - यह मानना चाहिए। पूर्वक्षण मे बीज अकुरकुर्वद्रूपविशिष्ट न होने से अकुरजनक होता नही है। इस तरह क्षेत्रस्थ बीज मे अकुरकुर्वद्रूप का अगीकार करने से पूर्वोत्तरकालीन बीज मे भेद सिद्ध होता है। अत क्षणभगुरता मे ही सारा जहाँ विश्राम लेता है। एकातनित्यपक्ष तो गोरव, सर्वदा अर्थक्रियाकारित्व आदि अनेक दोष प्रसक्त होने से मान्य हो नही सकता। अत जगत् को क्षणिक मानना ही उचित हे।

● क्षणिकवादखडन ●

स्याद्वादी ·- तदतिज० इति। बौद्ध मनीषिओ की उपर्युक्त युक्ति बेलगाडी के युग की है जो स्पुटनिक के आधुनिक-युग मे जीर्ण-शीर्ण हो गई है। इसका कारण यह है कि वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण से उत्पाद-व्यय-ध्रोव्यात्मक सिद्ध होती हे। जैसे व्यय=नाश वस्तु का एक स्वरूप हे ठीक वैसे ध्रौव्य भी वस्तु का एक स्वरूप ही है। सुवर्णहार का हाररूप से नाश होने पर भी सुवर्णविधया स्थायित्व बना रहता ही है- यह तो सर्वजनविदित हे। सुवर्णहार का नाश होने पर यदि सुवर्ण का भी नाश हो जाता, तब

इति न तत्र दोषावकाशः । वासनायाश्च ध्रुवत्वे तु नामाऽन्तरेण द्रव्यमेवाऽभ्युपेतवान् भवान् कृतान्तञ्च कोपितवान् । अध्रुवत्वे

★ जयलता ★

ननु दण्डप्रहारशून्यक्षणावच्छेदेन घटस्य ध्वसाऽप्रतियोगित्वेऽङ्गीक्रियमाणे ध्वसाप्रतियोगित्वस्वरूपनिषेधपर्यायेण घटस्य ध्वसो न स्यात्, विधिपर्यायस्यैव ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । अतः तस्य दण्डप्रहारादिसमवधानकाले निषेधपर्यायेण ध्वसाप्रतियोगित्वापत्तिः । अतः दण्डप्रहारादिविनिर्मुक्तकालावच्छेदेनाऽपि घटे ध्वसप्रतियोगित्वमुपगन्तव्य येन क्षणिकत्वमनायासेनैव सिद्धिसौधमारोहयेदिति सुगताशङ्कामपाचिकीर्षुराह ध्वसप्रतियोगित्वमिति । त्वया = सुगतेन विधिपर्यायेन = घटत्वादिरूपेण कल्प्यते तथा मया = स्याद्वादिना निषेधपर्यायेणापि = दण्डप्रहारादिविकलक्षणावच्छिन्नध्वसाऽप्रतियोगित्वरूपेणाऽपि, दण्डप्रहारादिसमवधानकाले कल्प्यत इति न दोषावकाश = दण्डप्रहारादिकाले घटस्य तादृशध्वसाऽप्रतियोगित्वरूपेण ध्वसानापत्तिदोषानवकाशः, विधिपर्यायस्येव निषेधपर्यायस्याऽपि ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वे वाधकाभावात् ।

यत्तु तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटादेः प्रध्वसाऽप्रतियोगित्वकल्पनामपेक्ष्य तत्तत्क्षणाना तत्तद्घटध्वसाऽनाधारत्वकल्पनामपेक्ष्य वा तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटादेः प्रध्वसप्रतियोगित्वस्य तत्तत्क्षणाना तत्तद्घटध्वसाऽऽधारत्वस्य वा कल्पनैव लघीयसी अधिकाभावानिवेशादित्युक्त तन्न चतुरचेतसा चेतसि चारुतामाविभर्ति, सतानादावपि तत्कल्पनाया जागरूकत्वात् । न हि 'तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटसतानस्य प्रध्वसाऽप्रतियोगित्वकल्पनामपेक्ष्य तत्तत्क्षणाना तत्तद्घटसतानप्रध्वसाऽनाधारत्वकल्पनामपेक्ष्य वा तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटसतानस्य प्रध्वसप्रतियोगित्वस्य तत्तत्क्षणाना तत्तद्घटसतानध्वसाऽऽधारत्वस्य वा कल्पनैव लघीयसी' इति वदतो मुख पिधातु सुगततनयेन शक्यम् । घटसतानस्य स्थायित्वे घटेन किमपराद्धम् ? सतानस्य क्षणिकत्वे च तदभ्युपगमस्य 'भस्मनि हुत' न्यायकवलितत्वम् । एवमेव वासनाकल्पनाऽपि प्रत्युक्तेत्याशयेनाऽऽह-वासनायाश्चेति। कृतान्तञ्च = क्षणभङ्गसिद्धान्तञ्च कोपितवान् = त्यक्तवान् । अनेनाऽपसिद्धान्तनिग्रहस्थानमावेदितम् । वासनाया अध्रुवत्वे तु कि = अल, अनया = वासनया बौद्धाभ्युपगतया । एतेन वासनाकृतविशेषेण घटपटादिपसकरनिरासादिति - [दृश्यता पृ १४९] प्रत्युक्तम् अर्थपरिणामाना यादृच्छिकज्ञानानायत्तत्वात् । किञ्च वासनप्रबोधेऽपि कस्य नियामकत्वमिति त्वया वक्तव्य स्यात् ।

● रमणीया ●

तो कोई बुद्धिमान् अन्य आभूषण बनाने के लिए सुवर्णहार को तोडेगा ही नही । अत यदि सुगतानुयायी वस्तु को विनाशस्वभावरूप होने से क्षणिक मानेंगे तव तो हमारी ओर से यह भी कहा जा सकता है कि स्थितिस्वभावरूप होने से वस्तु नित्य है । इस तरह ध्रौव्यस्वभाव की वजह वस्तुमात्र मे नित्यत्व के अगीकार की आपत्ति मुह फाडे खडी रह जायेगी, जिसका प्रतिकार करने के लिए क्षणिकवादी असमर्थ है । बौद्ध मतानुसारी विद्वानो की ओर से यदि ऐसा कहा जाय कि ⟶ "वस्तु मे स्थिरता का जो ज्ञान होता है वह भ्रमात्मक है और विनाशप्रकारक ज्ञान प्रमात्मक है । अत वस्तुमात्र क्षणिक है - यही मानना उचित है" ⟵ तो यह अपनी प्रेयसी के दिल को वहलाने के लिए ही समर्थ है, न कि प्राज्ञ पुरुषो के दिल को, क्योकि वस्तु के एक स्वरूप का स्वीकार करने पर भी दूसरे स्वरूप का अपलाप करने का अधिकार किसीको भी नही है । अत न तो सिर्फ नश्वरस्वरूप के उपर भार दिया जा सकता हे ओर न तो सिर्फ ध्रुवस्वरूप के उपर किन्तु दोनो के पर समान भार देकर वस्तु को नित्यानित्य ही मानना युक्त हे ।

● विधिपर्याय की भाँति निषेधपर्यायविधया भी ध्वस मुमकिन - स्याद्वादी ●

ध्वसप्र० इति । एक वात यह भी ध्यातव्य है कि घटादि द्रव्य मे ध्वसप्रतियोगिता जैसे बौद्धमतानुसार विधिपर्यायरूप से हे वैसे स्याद्वादी के मतानुसार निषेधपर्यायरूप से भी है। इसलिए किसी दोष का प्रसग नही है । तात्पर्य यह है कि मोगरीआदि के असमवधान कालावच्छेदेन घट मे विद्यमान ध्वसप्रतियोगित्वाभावरूप निषेधपर्यायविधया भी घट का नाश मोगरीआदिसन्निधानकालावच्छेदेन हम मानते हैं जैसे बौद्ध मनीषी उसका घटस्वरूप विधिपर्याय से नाश मानते है । अत बौद्ध की ओर से यह समस्या कि ⟶ "घट मे पूर्वकालावच्छेदेन ध्वसप्रतियोगित्व है तो पश्चात् ध्वसप्रतियोगित्व कैसे होगा, क्योकि स्वभावभेद हो नही सकता" ⟵ अनुत्थानपराहत हे, क्योकि जेसे बौद्ध विधिपर्याय से घटध्वस मानते हे वेसे हम ध्वसाऽप्रतियोगित्वस्वरूप निषेधपर्याय से भी घट मे ध्वसप्रतियोगिता का स्वीकार करते है । अत मोगरीआदि के असन्निधानकालावच्छेदेन घट को स्थिर मानने मे कोई वाधा नही हे । अत वस्तुमात्र मे क्षणिकता की बौद्धमान्यता गलत प्रतीत होती है ।

● बौद्धसमत वासना अप्रामाणिक - स्याद्वादी ●

वास० इति । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि पूर्व मे बौद्ध मनीषिओ ने जो कहा था कि ⟶ 'वस्तुत तत् तत् क्षण ही घट-पटादिरूप है फिर भी सकर दोष नही है, क्योकि वासनाविशेष से सपादित प्रतिभासभेद से सकरदोष का निरास हो सकता हे' ⟵ वहाँ दो विकल्प उपस्थित होते है कि - 'बौद्ध अभिमत वासना ध्रुव है या क्षणिक है ?' यदि वासना को बौद्ध की ओर से ध्रुव मानी जाय तव तो शब्दातर से द्रव्य का ही स्वीकार हुआ, क्योकि ध्रुवशब्द से वाच्य को हम द्रव्य कहते हैं ओर बौद्ध मनीषी वासना कहते है । दूसरी वात यह हे कि वासना को ध्रुव मान कर क्षणिकवाद सिद्धात (=कृतात) का भी बौद्ध महाशय ने भग किया है जिसके फलस्वरूप अपसिद्धान्त निग्रहस्थान प्रसक्त होता है। यदि वासना को भी क्षणिक मानी जाय

तु किमनयाऽजागलस्तनायमानया ?

कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता, तस्य प्रागपरिचयात् इष्टसाधनताज्ञानविलम्बाद् घटाद्यर्थिनो दण्डादौ प्रवृत्त्यनुदयापत्तेरिति दिग्।

★ जयलता ★

न चाऽनुभवस्यैव तन्नियामकत्वमिति वक्तव्यम् तर्हि कथमत्यन्ताऽसत्यपि विषये वासनास्वीकारः ? 'समनन्तराऽसमनन्तरविकल्पविभागार्थं वासनास्वीकारान्न दोष' इति चेत् ? सोऽपि किमर्थम्' ? 'परम्परया सवादाऽसवादनियमार्थमि'ति चेत् ? तर्हि साक्षादेव बाह्यविषयाऽभ्युपगमोऽस्तु, किमनया कुसृष्ट्या ? एतेन योगाचारमत प्रत्युक्तम् इति दिक् ।

यच्च कारणस्य कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वात् कार्यानुपधानसमये सामर्थ्ये मानाभावात् कुर्वद्रूपस्यैव कारणत्वमित्युक्त सुगतेन तत्राऽऽह - कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता स्वीकर्तुमुचिता, तस्य = कुर्वद्रूपस्य, प्राक् = कार्योपधानपूर्वकाले, अपरिचयात् = अज्ञानात्, इष्टसाधनताज्ञानविलम्बात् = स्वेष्टकार्यसाधनत्वज्ञानस्य दुःशकत्वात् । अय भाव' कारणताग्रहोऽन्वयव्यतिरेकग्रहाधीन' । अन्वयग्रहश्चोपस्थितदण्डत्वाद्यवच्छेदेन न सभवति, दण्डादीना दण्डत्वेन घटादिव्याप्यत्वविरहात् । सामग्रीगतदण्डत्वादिना घटकारणत्वे च गौरव, यत' सामग्रीगतयावत्त्व द्विविध चक्रकुलालकपालादिविशिष्टदण्डत्वस्वरूप दण्डचक्रकुलालकपालादिगतसख्याविशेषरूपञ्च । प्रथमे विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरह, अन्त्ये च सख्याया अपेक्षाबुद्धिभेदेन भेदात् विभिन्नसख्योत्पत्तेः कस्याश्चित् सख्यायाः विशिष्य दण्डादौ व्याप्यत्वस्वीकारे विनिगमनाविरहात्, अनन्तयावत्त्वात्मकसख्यात्वेन व्याप्यत्वे महागौरवात् । एतेन कुर्वद्रूपत्वेन दण्डादीना घटादिव्याप्यत्वमपास्तम्, स्वाऽव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वसवन्धे व्याप्यत्वे व्याप्यतावच्छेदकसबन्धे गौरवात् आनन्तर्यमात्रस्य च साधारणत्वेन क्षणिकत्वानियामकत्वात् ।

किञ्च कार्यकाले फलपरिणामिसत्ता विना देशनियम' दुर्घटः, सर्वेषा घटकुर्वद्रूपक्षणानामेकत्राऽसम्भवात् । न च घटकुर्वद्रूपविशिष्टदण्डादीना कारणत्वे सर्वेषामेकत्र सभव इति वाच्यम् तथापि मृत्पिण्डक्षणरूपदेशे घटोत्पादस्याऽसम्भवात् घटोत्पादकाले तस्य विनष्टत्वात् । एतेन मृद्रूपघटक्षण प्रति घटकुर्वद्रूपविशिष्टमृत्क्षणत्वेनैव हेतुत्वकल्पनाऽपि परास्ता दण्डादिसमाजादऽमृद्रूपघटापत्तेश्च । न च दण्डादीनामपि मृद्रूपघटत्वावच्छिन्न प्रत्येव हेतुत्वान्नाय दोष इति वाच्यम् घटत्वाऽपेक्षया मृद्रूपघटत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे स्फुटगौरवात्, कार्यगतयावद्धर्माणा कार्यतावच्छेदके प्रवेशप्रसङ्गात् ।

ननु यदि सामग्रीसमवधानाऽसमवधानदशाया न कश्चिद् विशेषः, कथ तर्हि करणाकरणे ? योऽय सहकारिकलापमध्यमध्यासीनोऽक्षेपकरणस्वभावो भावः स यदि प्रागप्यासीत् तदा प्रसह्य कार्यं कुर्वाणो गीर्वाणशापशतेनाऽप्यपहस्तयितु न शक्येतेति चेत् ? सत्यम्, यद्यक्षेपकरणस्वभावत्व भावस्य प्रमाणगोचरः स्यात् । तदेव तु कुत' सिद्धमिति प्रमाणमनुसरन्तो वय नाधिगच्छामः । 'प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामि'ति चेत् ? न परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । एवम्विधस्वभावत्वसिद्धौ हि तयोः प्रवृत्ति' तत्प्रवृत्तौ चैवस्वभावत्वसिद्धिरिति । यद् यदभावे एव यत्र करोति तत् तत्सद्भावे तत्करोत्येवेति तु स्यात् । पर तत्स्थैर्यसिद्धिबीजम् । एतेन कुर्वद्रूपत्वकल्पनाऽपि प्रत्युक्ता, दृष्टसामग्रीसमवधानमात्रेणैवोपपत्तौ तत्कल्पनाया प्रमाणाभावात्, कल्पनागौरवप्रसङ्गपराहतत्वाच्च ।

● रमणीया ●

तो उसको मानो या न मानो कुछ फर्क नही है। जैसे बकरी के गले मे जो स्तनाकार मासपेसी होती है, वह हो या न हो उससे कुछ विशेषलाभ (दूधप्राप्ति आदि) नही हे, वैसे वासना भी घट-पटादि की भाँति क्षणिक हो तो वह प्रयमक्षण मे अपनी उत्पत्ति मे व्यग्र हो कर ही दूसरी क्षण मे नष्ट हो जायेगी। अत वासना को क्षणिक मानना उसकी अपेक्षा उसका अगीकार ही न करना श्रेयस्कर हे। अत वासना का स्वीकार क्षणिकवाद मे अप्रामाणिक है।

● कुर्वद्रूप कारण नही - स्याद्वादी ●

कुर्व० इति। बौद्ध विद्वानो की ओर से जो पूर्व मे कहा गया था कि - 'अकुरकुर्वद्रूपविशिष्ट बीज ही अकुर का कारण है' - वह भी ठीक नही हे। इसका कारण यह है कि कार्यार्थी की कारण मे प्रवृत्ति के लिए पूर्वकाल मे इष्टसाधनत्वज्ञान आवश्यक हे। कारणताग्रह अन्वय-व्यतिरेकग्रह से होता है अर्थात् जिसकी विद्यमानता होने पर ही कार्योत्पत्ति हो और अविद्यमानता मे कार्यजन्म न हो वह विवक्षित कार्य का कारण कहा जाता है। मगर क्षणिकवाद मे तो जिसमे अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान होता है वह अनन्तर क्षण मे ही नष्ट हो जाता है, दूसरी क्षण तक वह स्थायी नही है। तथा जो नयी क्षण उत्पन्न हुई है, उसमे अन्वय-व्यतिरेक ज्ञात न होने से कारणतानिश्चय हो सकता नही है। जब तक बीज मे इष्टसाधनता का ज्ञान न हो तब तक अकुरार्थी की प्रवृत्ति हो सकती नही है। इसी तरह घटार्थी की प्रवृत्ति भी दडादि मे कभी भी हो नहीं सकती, क्योकि घटकुर्वद्रूपविशिष्टत्व का जिस दण्डादि मे ज्ञान हुआ था वह दडादि तो दूसरी क्षण मे ही नष्ट हो गया है और जो दडादि विद्यमान हे उसमे घटकुर्वद्रूप का ज्ञान न होने से प्रवृत्ति हो सकती नहीं है। इस पर तो अधिक विचार भी किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप मे क्षणभगुरता भग्न हो जाती है।

अथ जन्यस्य सतो नाश एव सम्भवी । तत्र सामान्यतः समवेतकार्यनाशं प्रति समवायिकारणनाशस्य प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वाऽवच्छिन्नं प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन सम्बन्धेन नाशत्वेन हेतुता ।

★ जयलता ★

अस्तु वा 'तुष्यतु' इति न्यायेन कुर्वद्रूपस्य कारणत्वं तथाऽपि घटाद्यर्थिनो दण्डादौ प्रवृत्तिर्नैव सम्भवेत्, यतः यस्मिन् दण्डादौ घटकुर्वद्रूपं गृहीतं तेन तु तदैव दध्वंसे यच्च व्यापारयितव्यं दण्डादिकं तत्र न घटकुर्वद्रूपं गृहीतमिति केन कुत्र प्रवर्त्तितव्यम् ? तदुक्तं समन्तभद्रेण आप्तमीमांसायां'' क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवात् प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ [आ.मी.४१] उदासीनदण्डकपालादौ घटानुकूलः कश्चिद् विशेषो न स्यात् तदा नियमेनैकत्र प्रवृत्तिरन्यस्मान्निवृत्तिश्च तदर्थिनो न स्यात् । 'परम्परया घटप्रसवधर्मिदण्डकपालादिक्षणजननादस्त्येव विशेष' इति चेत् ? ''कदा पुनः परम्पराऽपि तथाभूतं करिष्यति'' ? 'तत्र सन्देह इति चेत्' ?'' स पुनः किमाकारः ? (१) किं सहकारिषु समवहितेष्वपि करिष्यति न वा ? यद्वा (२) असमवहितेष्वपि तेषु करिष्यति न वा ? (३) उत यदा तत् समवधानं तदैव करिष्यत्येव परं कदा तेषां समवधानमिति संदेहः ? इति विकल्पत्रितयी पवित्रत्रिनेत्रनेत्रत्रयीवाऽत्र त्रौकते । न तत्र प्रथमः तथ्यपथ्यप्रतीतिपात्रतयाऽभ्युपगन्तुमर्हति, सामान्यतः कारणत्वाऽवधारणे तस्याऽनवकाशात्, अवकाशे वा कारणत्वाऽनवधारणात् । नाऽपि द्वितीयः अनुपमानन्दनिष्यन्दसम्पत्सम्पादकः, सहकारिणां तत्त्वाऽवधारणे तस्याऽनवकाशात्, अवकाशे वा तेषां तत्त्वाऽनवधारणात् । तृतीये तु सर्वे एव तत्सन्तानान्तःपातिनो दण्डमृदादिक्षणाः समानशीलाः प्राप्नुवन्ति, यत्र यत्र सहकारिसमवधाने सति करणनियमात्, सर्वत्र च सहकारिसमवधानसम्भवादिति प्रवर्तमानानल्पनिशिततरदुर्द्धरधारोद्धुरातिवक्रविकल्पचक्रक्रकचनिपातनिर्दलितमस्तकत्वान्नोच्छ्वसितुमप्युत्सहते वराकः सौगतः किमुत वादायेति सूचनार्थं प्रकरणकृता दिक्पदनिवेशः कृतः ।

तायागतमतं चर्वयित्वा साम्प्रतं प्रसङ्गसङ्गत्या नाश्यनाशकभावमेकेषां मतेनोपदर्शयितुमुपक्रमते - अथेति । जन्यस्य सतो भावस्य, नाश एव सम्भवी, जन्यभावत्वस्य ध्वंसप्रतियोगित्वव्याप्यत्वात्। तदपि कुतः? कालान्तरेवश्यं तन्नाशसामग्रीसमवधानादिति गम्यते । नाशकारणमेव दर्शयति - तत्रेति । सामान्यतः समवेतकार्यनाशं = समवेतात्मककार्यप्रतियोगिकध्वंसं, प्रति समवायिकारणनाशस्य = स्वप्रतियोगिसमवायिकारणप्रध्वंसस्य, प्रतियोगितया = प्रतियोगितासम्बन्धेन, 'नाशत्वेन हेतुते'त्यत्राऽप्यन्वीयते । ध्वंसलक्षणकार्यव्यावृत्यर्थं समवेतपदोपादानम् । अत्र कार्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च 'स्वप्रतियोगिसमवेतत्वं कारणतावच्छेदकधर्मश्च नाशत्वम्। तथाहि स्वप्रतियोगितासम्बन्धेन घटरूपनाशो घटरूपे वर्तते । तत्र च स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटनाशो वर्तते, स्वस्य = घटनाशस्य प्रतियोगिनि घटे घटरूपस्य समवेतत्वात् । तेन न कार्यकारणव्यधिकरणत्वशङ्काराक्षसीस्वैरप्रचाराग्रस्तत्वम् ।

ननु समवेतकार्यध्वंसत्वस्य न स्वप्रतियोगिसमवायिकारणध्वंसकार्यतावच्छेदकत्वं घटामञ्चति, पाकविभागादितोऽपि घटरूपसंयोगादीनां नाशेन धारालकरालातिवक्रव्यभिचारक्रकचनिपातपातिततया स्वकार्यसिद्धिप्रयाणप्रियप्रीतिप्रापकत्वविरहादित्यत आह - स्वप्रतियोगिसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्नं = नाशविशिष्टप्रतियोगिकध्वंसत्वावच्छिन्नं, प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन संबन्धेन = कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन, नाशत्वेन कारणतावच्छेदकधर्मेण हेतुतेति । स्वप्रतियोगिसमवायिकारणनाशस्येत्यत्राऽप्यनुवर्तते । प्रकृते कारणतावच्छेदकसम्बन्धः स्वप्रतियोगिस-

● रमणीया ●

● सामान्यतः समवायी कारण का नाश ही द्रव्यनाशक - अमुक विद्वानों का मत ●

अथ जन्य० इति । यहाँ व्याख्याकार अन्य मनीषिओं के मत का प्रदर्शन करते हैं । अन्य विद्वान मनीषिओं का यह वक्तव्य है कि वस्तु जन्य होने पर नाशसामग्री के बल से उसका नाश ही संभवित है । अतः जन्य घटपटादि वस्तु स्थिर हो नहीं सकती । सामान्यतः प्रतियोगितासंबंध से समवेतकार्यप्रतियोगिक नाश के प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्ध से समवायिकारणप्रतियोगिक नाश कारण होता है । जैसे कपाल में समवेत घटात्मक कार्य का नाश स्वप्रतियोगितासंबंध से घट में रहता है और कपाल का, जो कि घट का समवायिकारण है, नाश भी स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसंबंध से घट में रहता है, क्योंकि स्व (= कपालनाश) के प्रतियोगी (=कपाल) में घट समवेत है । कार्य-कारण का उपर्युक्त संबंध से सामानाधिकरण्य (=एकाधिकरणवृत्तित्व) होने से उन दोनों के बीच कार्य-कारणभाव हो सकता है । तथा स्वप्रतियोगिसमवेतत्व और स्वाधिकरणत्व उभय संबंध से नाशविशिष्ट प्रतियोगिक नाश के प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसंबंध से समवायिकारणनाश कारण होता है । यह बात घटध्वंस के दृष्टांत से स्पष्ट हो जायेगी । देखिये, कपालनाशविशिष्ट घट का नाश स्वप्रतियोगिता संबंध से, जो कार्यतावच्छेदक संबंध है, घट में रहता है, क्योंकि स्व (=कपालनाशविशिष्टघटप्रतियोगिक ध्वंस) का प्रतियोगी विशिष्ट घट है जिसमें स्वप्रतियोगिसमवेतत्व संबंध से, जो कारणतावच्छेदक संबंध है । उपर्युक्त रीति से कपालध्वंस रहता है यहाँ कार्य के प्रतियोगी घट में स्वप्रतियोगिसमवेतत्व और स्वाधिकरणत्वरूप उभय संबंध से कपालध्वंस रहता है, क्योंकि स्व = कपालनाश के प्रतियोगी = कपाल में घट समवेत होने से स्वप्रतियोगिसमवेतत्व घट में रहता है । एवं कालिक संबंध से कपालध्वंसाधिकरण भी घट बनता है, क्योंकि घट अनित्य होने से कालोपाधि बनता है । अतएव उसमें कालिक संबंध से कपालध्वंसाधिकरणता निराबाध है । स्वप्रतियोगिसमवेतत्व संबंध से कपालध्वंस कपालत्वादि जाति में भी रहता है । अतः कपालध्वंसविशिष्टकपालत्वादिध्वंस की प्रतियोगितासंबंध

यणुकादिनाशे तु तत्तत्परमाणु-सयोगादिनाशस्य कारणत्वमित्येके ।

★ जयलता ★

मेतत्व, कारणतावच्छेदकधर्मश्च नाशत्व न तु विशिष्टनाशत्व गौरवात् । न चाऽतिप्रसङ्ग, वक्ष्यमाणवैशिष्ट्येनैव तत्प्रच्यवात् । कार्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वप्रतियोगित्व कार्यतावच्छेदकधर्मश्च नाशविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वप्रतियोगिसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन बोध्यम् । तथाहि वैशिष्ट्यघटकीभूतस्वपदेन घटनाशादिलक्षणस्य स्वप्रतियोगिसमवायिकारणनाशस्य ग्रहणम् । तत्प्रतियोगिनि घटादौ समवेत घटादिरूपम् । अतो घटादिरूपे घटादिनाशप्रतियोगिघटसमवेतत्व वर्तते । स्वाधिकरणत्वञ्चात्र कालिकसम्बन्धेन बोध्यम् । घटादिरूपस्य जन्यत्वेन कालोपाधित्वम् । अत एव कालिकेन घटादिनाशाधिकरणत्व घटादिरूपे सुघटम् । एवञ्च घटादिरूप स्वप्रतियोगिसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन घटादिनाशविशिष्टम् । घटादिनाशविशिष्टघटादिरूपप्रतियोगिकध्वसलक्षणस्य कार्यस्य प्रतियोगितासम्बन्धेनाऽधिकरणीभूते उभयसम्बन्धेन घटादिनाशविशिष्टघटादिरूपे कारणतावच्छेदकीभूतेन स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटादिनाशलक्षण कारण वर्तते, स्वस्य घटादिनाशस्य प्रतियोगिनि घटादौ दर्शितोभयसम्बन्धेन घटादिनाशविशिष्टघटादिरूपस्य समवेतत्वात् । नैयायिकमते घटादिरूपनाशस्य घटादिनाशोत्तर जायमानत्वेन घटादिरूपस्य घटादिनाशसमानकालिकत्वात् कालिकेन घटादिनाशाधिकरणत्व घटादिरूपे निराबाधम् । तेनाविद्यमानस्य कालिकेनाधिकरणत्वाऽयोग इत्युक्तावपि न क्षति ।

ननु किमर्थं वैशिष्ट्यमुभयसम्बन्धेनोपादीयते स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेनैव तदस्त्विति चेत् ? भो ! गौतमीयराद्धान्ताऽपरिज्ञानविजृम्भितमेतत्, घटादिसमवेतघटत्व-पृथ्वीत्व-द्रव्यत्वादिजातेरपि स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटादिनाशविशिष्टत्वेन नाशप्रसङ्गात्। अत उभयसम्बन्धेन वैशिष्ट्य युक्तिमत्। घटत्वादिजातेर्नित्यतया कालिकेन घटादिनाशानधिकरणत्वात्, 'नित्येषु कालिकाऽयोगादि'ति वचनात् । न च तर्हि कालिकसम्बन्धेनैव वैशिष्ट्यमस्तु, स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धोपादानेनाऽलमित्यारेकणीयम्, कालिकेन घटनाशविशिष्टपटरूपनाशस्य जायमानत्वेन व्यभिचारपिशाचदुःसञ्चारपुरस्कृतत्वापातात् । ततो वैशिष्ट्यमुभयसम्बन्धेनैव ग्राह्यम् । एतेन घटनाश विनाऽपि विभागादितः स्वप्रतियोगिसमवेतसयोगादिनाशस्य जायमानत्वेन व्यतिरेकव्यभिचार इत्यपि प्रत्युक्तम् नाशविशिष्टप्रतियोगिकनाशस्यैव कार्यत्वात् ।

स्यादेतत् - स्वप्रतियोगिसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन कपालनाशविशिष्टघटनाश प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन कपालनाशस्य कारणत्वम् । यद्यपि समवेतकार्यनाशः स्वरूपसम्बन्धेन स्वप्रतियोगिसमवायिकारणे वर्तते यथा कपालद्वयसयोगनाशः कपालद्विके तथापि समवायिकारणनाशजन्य समवेतकार्यनाश स्वप्रतियोगिसमवायिकारणस्य समवायिकारणे वर्तते, कपालिकानामपि परम्परया घटकारणत्वात् । स्वाधिकरणत्व कपालनाशस्य स्वरूपेण कपालिकासु न तु घटे तथापि स्वस्याऽधिकरणमेवाऽधिकरण यस्य तत्स्वाधिकरणमिति व्याख्यानात् कपालनाशाधिकरणत्व घटे निराबाधम् । कपालिकाना परम्परयाऽपि घटाऽकारणत्वे कपालनाशजन्यस्य घटनाशस्य निरधिकरणत्वप्रसङ्गात् । कपालनाशजन्यघटनाशस्य कपालिकाश्रितत्वसूचनार्थमेव वैशिष्ट्यमुभयसम्बन्धेन गृहीतमिति चेत् ? नतचारु, तथाविधवक्रकल्पनाया मानाभावात्, गौरवात्, वैशिष्ट्यघटकीभूतस्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धवैयर्थ्याच्च ।

अथ समवायिकारणनाशादेव स्वप्रतियोगिसमवेतप्रोक्तविशिष्टकार्यप्रतियोगिकनाशस्योपगमे द्व्यणुकध्वसस्याऽनुपपत्तिः स्यात्, तत्प्रतियोगिसमवायिकारणीभूतपरमाणुद्वयस्य नित्यत्वादित्याशङ्कायां विशेषतः नाश्यनाशकभाव प्रदर्शयन्ति द्व्यणुकादिनाशे त्विति । आदिपदेन कपालद्वयविजातीयसयोगनाशजन्यनाशप्रतियोगिघटादेर्ग्रहणम् । तत्तत्परमाणुसयोगादिनाशस्य = तत्तद्द्व्यणुकादिकारणीभूतपरमाणुविजातीयसयोगादिनाशस्य कारणत्वमिति । अत्राप्यादिपदेन कपालादिनाशविरहकालीनघटादिनाशजनकध्वसप्रतियोगिनः कपालद्वयसयोगादेर्ग्रहणम् । अत्र कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः स्वप्रतियोगित्व, कार्यतावच्छेदकधर्मश्च द्व्यणुकादिनाशत्व, कारणतावच्छेदकसम्बन्धः स्वाश्रयसमवेतत्व स्वप्रतियोगिसमवायिकारणसमवेतत्व वा कारणतावच्छेदकधर्मश्च परमाणुद्वयविजातीयसयोगविनाशत्वम् । तथाहि - प्रतियोगितया द्व्यणुनाशाऽधिकरणीभूते द्व्यणुके स्वाश्रयसमवेतत्वादिसम्बन्धेन परमाणुद्वयविलक्षणसयोगनाशलक्षणस्य कारणस्य वर्तमानत्वात् । कारणतावच्छेदकसम्बन्धघटकीभूतस्वपदेन परमाणुद्वयसयोगविशेषनाशस्य ग्रहणम्, तदाश्रयीभूते तत्प्रतियोगिसमवायिकारणीभूते वा परमाणुद्वये द्व्यणुकस्य स्वप्रतियोगितासम्बन्धेन कार्याधिकरणीभूतस्य समवेतत्वात् । द्व्यणुकादिनाश प्रति परमाणुद्वयसयोगादिनाशस्य विशिष्याऽन्वयव्यतिरेकाऽनुविधानात् कारणत्वेऽपि सामान्यतो द्रव्यनाशत्वावच्छिन्न प्रत्यसमवायिकारणध्वसत्वेन कारणत्वकल्पनानौचित्यादित्येकेषामाशयः ।

● रमणीया ●

मे कपालत्वादि मे उत्पत्ति होने की आपत्ति उपस्थित होती है। अत कालिक सबध से स्वाधिकरणत्वरूप द्वितीय सबध का भी निवेश आवश्यक है। उभय सबध मे वैशिष्ट्य का ग्रहण करने पर उपर्युक्त आपत्ति का अवकाश नही है, क्योकि कपालत्वादि जाति नित्य होने से उसमे कालिकसबध मे कालावस्थ रहता नहीं है। नित्य वस्तु काल की उपाधि होती नहीं है। अतएव उसमे कालिकसबध से अधिकरणता भी रहती नहीं है। इस तरह स्वाधिकरण घट मे रहने से कपालनाश स्वाधिकरणत्वसबध से भी घट मे रहता है। इस तरह स्वाधिकरणसमवेतत्व और स्वाधिकरणत्वस्वरूप उभय सबध से कार्यभूत नाश का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म कपालनाशादि = समवायिकारणनाश होगा। मगर उक्त रीति से द्व्यणुकादि का नाश नामुमकिन है, क्योकि द्व्यणुक के समवायिकारणीभूत परमाणु का नाश ही नही होता है। अत द्व्यणुकादि के नाश के प्रति तत तत परमाणुद्वयसयोगादि का,जो द्व्यणुकादि का असमवायिकारण है, नाश कारण है-ऐसा माना जाता है। मगर द्व्यणुकादि से अन्य जन्य समवेतद्रव्य का नाश तो समवायिकारण के नाश से ही होता है।

लाघवाद् द्रव्यनाशत्वावच्छिन्न प्रति विजातीयसयोगनाशत्वेनैव हेतुत्वमुचितमिति द्रव्यनाशोऽसमायिकारणनाशादेवेत्येकदेशिनः । तन्नेत्यन्ये, रूपादिनाश प्रति प्रागुक्तदिशा क्लृप्तायाः कारणताया एव द्रव्यनाश प्रति साधारण्यात् । विजातीयसयोगनाशस्य

★ जयलता ★

ननु द्व्यणुकादिनाशानुरोधेनाऽसमवायिकारणनाशे कारणत्वकल्पनमावश्यकमेव तर्हि किमिति द्रव्यनाशमात्र प्रति तस्य कारणत्व न कल्प्यते, असति बाधके कार्यकारणभावस्य सामान्यधर्मावच्छेदेनैव विश्रामादित्याशयेन नैयायिकैकदेशिनो दर्शितमेकेषा मत दूषयन्ति- लाघवादिति । कार्यकारणभावद्वयाऽकल्पनलाघवादिति । द्रव्यनाशत्वावच्छिन्न = द्रव्यप्रतियोगिकध्वससामान्य, प्रति विजातीयसयोगनाशत्वेनेव = स्वप्रतियोग्यसमवायिकारणप्रतियोगिकनाशत्वेनैव, हेतुत्व कल्पयितु उचितमिति । द्व्यणुकादिनाश प्रत्यसमवायिकारणनाशत्वेन कारणत्व घटादिस्थूलकार्यध्वस प्रति च समवायिकारणनाशत्वेनेति कल्पनाया फल-फलवद्भावद्वयकल्पनम् । तदपेक्षया द्व्यणुकादिनाश प्रति क्लृप्तेनाऽसमवायिकारणनाशत्वेनैव घटादिध्वसकारणतोपपत्तौ हेतुहेतुमद्भावद्वैविध्यकल्पनाया मानाभावात्, गौरवाच्च द्रव्यनाशत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावत्त्वमसमवायिकारणनाशे कल्पनामर्हति । अत एव नोभयसम्बन्धेन वैशिष्ट्यकल्पनाऽऽयासोऽपि । अतः द्रव्यनाश = द्रव्यप्रतियोगिकनाशसामान्य, असमवायिकारणनाशादेव = स्वप्रतियोग्यसमवायिकारणप्रतियोगिताकविनाशादेव । एवकारेण समवायिकारणध्वसव्यवच्छेदः कृतः । एकदेशिन = नैयायिकैकदेशीयाः । एकदेशित्वञ्च सिद्धान्तैकदेशाश्रयत्वे सति स्वत्राधिकार्यनिरूपकत्वम् ।

तन्नेत्यन्ये । नैयायिकैकदेशिमत न समीचीनमिति अन्ये विद्वासः । अन्वयश्चाऽस्याऽग्रे 'आहुरि'त्यनेन कार्यः । रूपादिनाश = समवेतकार्यसमवेतरूपादिप्रतियोगिकनाश, प्रति प्रागुक्तदिशा = लाघवरीत्या, क्लृप्ताया = प्रमाणनिश्चिताया', कारणताया = नियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपायाः, एव द्रव्यनाश प्रति साधारण्यात् । एवकारेण द्रव्यनाश प्रति रूपादिनाशकारणव्यतिरिक्तकारणताया व्यवच्छेद' कृतः । अयमाशय' द्व्यणुकादिध्वस प्रति असमवायिकारणनाशत्वेन कारणताया क्लृप्तत्वे लाघवाद् हेतोर्द्रव्यनाशत्वावच्छिन्न प्रत्यसमवायिकारणनाशत्वेन कारणताया उपपादनेऽपि रूपादिनाश प्रति तदतिरिक्तकारणत्वकल्पनागौरवमव्याहतमेवेति 'निन्दामि च पिबामि चे'ति न्यायापातः । अतो लाघवसहकारेणैव कारणत्वकल्पनेऽयमेवोचितः पन्था यदुत द्रव्य-रूपादिनाशसाधारणमेव कारणत्व कल्पनीयम् । कपालद्वयविजातीयसयोगनाशाद् घटस्याऽऽपरमाण्वन्तभङ्गेन कपालसमवेतरूपरसादिनाशस्य नियतान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् कपालरूपादिनाश प्रति क्लृप्तायाः कपालद्वयविजातीयसयोगनाशत्वावच्छिन्नायाः कारणताया एव घटध्वसलक्षणकार्यनिरूपितत्वम् । इत्थमेव लाघवतर्कावतारो युक्त इत्यन्येषामाशयः ।

ननु तर्हि विजातीयसयोगनाशमृतेऽपि पाकादिना रूपादिनाशाद् दुर्धरोद्धतव्यभिचारदोषकेसरिकिशोरकापातगलितगतिः भवदुपन्यस्तप्रशस्तहेतुहस्तिनीपतिः स्वकार्यसिद्धिप्रणयिनीप्रथीयस्तरप्रीतिपथाऽऽतिथ्याभ्यर्थनासमर्थनासामर्थ्यं कथ समर्थयिष्यतीत्याशङ्काया नाश्यनाशकभाव विस्फोरयन्ति - विजातीयसयोगनाशस्य चेति । कारणीभूतनाशप्रतियोगिसयोगे वैजात्य जन्यद्रव्यजनकतया जन्यद्रव्योपष्टम्भकतया वा सिद्धं प्रवेश्यम् । कारणतावच्छेदकसम्बन्धः स्वाश्रयसमवेतत्व कारणतावच्छेदकधर्मश्चाऽसमवायिकारणनाशत्व, कार्यतावच्छेदकसवन्धश्च स्वप्रतियोगित्वम् । कार्यतावच्छेदक-

● रमणीया ●

● असमवायिकारणनाश ही द्रव्यनाशमात्र का कारण - एकदेशीयमत ●

लाघ० इति । उपर्युक्त विद्वानो के मत के खिलाफ एकदेशीय विद्वानो की यह राय है कि- ''घटादि स्थूल द्रव्यनाश के प्रति स्वप्रतियोगिसमवायिकारणनाश को और द्व्यणुकप्रतियोगिकनाश के प्रति स्वप्रतियोगिअसमवायिकारणनाश को कारण मानने पर दो कार्य-कारणभाव की कल्पना करनी पडती है । इसमे गोरव है । घटादि समवेतकार्य के नाश की कारणता समवायिकारणनाश मे मान कर भी द्व्यणुकनाश की कारणता असमवायिकारणनाश मे माननी आवश्यक ही हे तव तो अच्छा यही हे कि द्रव्यप्रतियोगिक नाशमात्र के प्रति स्वप्रतियोगिअसमवायिकारणनाश को ही कारण माना जाय (स्व=द्रव्यनाश)। द्विविध कार्यकारणभाव की कल्पना न करने से इस पक्ष मे लाघव भी है । अत जैसे द्व्यणुक के असमवायिकारण परमाणुद्व्यविजातीयसयोग के नाश से द्व्यणुकप्रतियोगिक नाश होता हे, ठीक वैसे ही घटादि के असमवायिकारणीभूत कपालद्वयविजातीयसयोगादि के नाश से ही कपालादि मे समवेत घटादि कार्य का नाश होता हे-यह लाघवतर्कसाचिव्य से सिद्ध होता है।

● द्रव्याऽसमवायिकारणनाश द्रव्य-तत्समवेतरूपादिनाश का कारण - अन्यमत ●

तन्नेत्य० इति । उपर्युक्त लाघवतर्कानुसारी विद्वानो के मत के विरुद्ध अन्य विद्वानो का यह मन्तव्य है कि- ''उपर्युक्त मत भी असगत हे, क्योकि जैसे लाघव तर्क सहकार से घटादि कार्य और द्व्यणुकादि कार्य के नाश के प्रति असमवायिकारणनाश को ही कारण माना जाता है वैसे तो लाघव से रूपादिनाश ओर द्रव्यनाश के प्रति भी साधारण कारणता का स्वीकार हो सकता हे । अर्थात् कपालादिसमवेत रूप-रसादि के नाश के प्रति कपालद्वयविजातीयसयोगादिप्रतियोगिक ध्वस मे जो कारणता क्लृप्त (= निश्चित) हे, वही घटादिद्रव्यनाश के प्रति साधारण हो सकती हे । अत कपालद्व्यविलक्षणसयोगनाश से घट और कपाल समवेत रूप रसादि

च स्वाधिकरणसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वात् । परमाणुषु पूर्वपूर्वसंयोगनाशाद् द्व्यणुकादेः क्षणिकत्वापत्तिपरिहाराय स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं प्रत्येव तस्य

★ जयलता ★

धर्मं प्रणिगदन्ति - स्वाधिकरणेति । वैशिष्ट्यघटकीभूतस्वपदेन कपालद्वयविजातीयसंयोगस्य ग्रहणम् । तदधिकरणं च कपालद्वयं, तत्समवेतत्वं च घट-कपालरूपरसादौ । कालिकेनाऽपि कपालद्वयविजातीयसंयोगनाशाधिकरणत्वं घट-कपालरूपरसादेरेव । दर्शितोभयसम्बन्धेन कपालद्वयविजातीयसंयोगनाशविशिष्टघटकपालरूपरसादिनाशलक्षणस्य कार्यस्य प्रतियोगितयाऽधिकरणे घट-कपालरूपरसादौ स्वाधिकरणसमवेतत्वसम्बन्धेन कारणतावच्छेदकीभूतेन विजातीयसंयोगनाशलक्षणं कारणं वर्तते । अतः कार्यकारणसामानाधिकरण्योपपत्तिः । अत एव न व्यभिचारोऽपि दर्शितो घटाश्रयतिः, पाकादितो दर्शितकार्यतावच्छेदकविशिष्टकार्यानुत्पादात् । अत्राऽपि वैशिष्ट्यसम्बन्धद्वैविध्ये आक्षेपपरिहारौ पूर्वोक्तदिशाऽवगन्तव्यौ ।

ननु विजातीयसंयोगनाशादेव जन्यद्रव्य-रूपादिनाशोपगमे द्व्यणुकादेः क्षणिकत्वं स्यात्, नित्येषु परमाणुषु पूर्वपूर्वविनष्टद्व्यणुकाऽसमवायिकारणीभूतविलक्षणसंयोगनाशानामनन्तानां सदैव सत्त्वेन परमाणुद्वयविजातीयसंयोगप्रतियोगिकनाशस्य स्वाधिकरणसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन द्व्यणुके सत्त्वादित्याशङ्कामपनोदयन्ति - परमाणुष्विति । इदञ्चोपलक्षणमुत्पन्नविनष्टपटादीनां तन्तुप्रभृतीनाम् । पूर्वपूर्वसंयोगनाशात् = पूर्वविलद्व्यणुकादिनाशकारणीभूतस्य विजातीयसंयोगविनाशस्य सत्त्वादिति हेतोः । द्व्यणुकादेः क्षणिकत्वापत्तिपरिहारायेति ध्वंसस्याऽविनाशित्वेन सामग्र्याश्च स्वकार्योपधानव्याप्यत्वेन परमाणुवृत्तिपूर्वपूर्वद्व्यणुकासमवायिकारणनाशाद् द्व्यणुकादेः प्रतिक्षणं ध्वंसस्य यः प्रसङ्गः तद्व्यपोहाय । स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्नं प्रति एव तस्य हेतुत्वमिति । अत्र स्वपदेन परमाणुद्वयविजातीयसंयोगनाशस्य ग्रहणं, तत्प्रतियोगी परमाणुद्वयविजातीयसंयोगः, तज्जन्यत्वञ्च प्रतिनियतद्व्यणुके । अतः स्वप्रतियोगिजन्यत्वसम्बन्धेन परमाणुद्वयसंयोगविशेषनाशविशिष्टद्व्यणुकनाशं प्रति एव परमाणुद्वयविलक्षणसंयोगनाशस्य कारणत्वम् । अतो न द्व्यणुकादिक्षणिकत्वप्रसङ्गः साम्प्रतिकद्व्यणुकजनकपरमाणुद्वयविजातीयसंयोगस्याऽविनष्टत्वात्, पूर्वविलद्व्यणुकनाशकारणीभूतनाशप्रतियोगिनोऽतीतपरमाणुद्वयसंयोगविशेषस्य साम्प्रतीनद्व्यणुकाकारणत्वात् । एतेन द्वितन्तुकपटनाशोत्तरकालीनत्रितन्तुकपटनाशोत्तरकालिकद्वितन्तुक-

● रमणीया ●

का नाश मानना ही उचित है । यहाँ विजातीयसंयोगनाश का कार्यतावच्छेदक धर्म स्वाधिकरणसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वस्वरूप उभय संबंध से स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्व है । यहाँ स्वपद से विजातीय-संयोगनाश का ग्रहण अभिमत है । दृष्टांत के लिए कपालद्वयविलक्षणसंयोगप्रतियोगिकध्वंस का स्वपद से ग्रहण करने पर स्वाधिकरण बनेगा कपालद्वय, क्योंकि कपालद्वयविलक्षणसंयोग कपालद्वय में ही रहता है । कपालद्विक में घट समवेत होता है । अतः कपालद्वयविजातीयसंयोग स्वाधिकरणसमवेतत्वसंबंध से घट में रहेगा । इस तरह स्वाधिकरणत्वसंबंध से भी कपालद्वयविजातीयसंयोगनाश घट में रहता है । एवं कालिक संबंध से भी विजातीयसंयोगनाश घट में रहता है- यह पूर्वोक्त रीति से ज्ञातव्य है । तथा कपालद्वयविजातीयसंयोगनाश स्वाधिकरणसमवेतत्व संबन्ध से कपालसमवेतरूपादि में भी रहता है, क्योंकि स्व = कपालद्वयविजातीयसंयोगनाश का अधिकरण है कपालद्वय, जिनमें कपालीय रूपादि रहते हैं । एवं कालिकसम्बन्ध से भी स्वाधिकरणत्व (कपालद्वयविजातीयसंयोगाधिकरणत्व) भी कपालसमवेत रूपादि में रहने से स्वाधिकरणत्व संबन्ध से कपालद्वयविजातीयसंयोगनाश कपालसमवेतरूपादि में भी रहता है । अतः कपालद्वयविजातीयसंयोगनाश में कपालद्वयसमवेत रूपादि के नाश की भाँति घट के नाश की कारणता भी संगत हो सकती है । तब असमवायिकारणनाश को द्रव्यनाशत्वावच्छिन्न का कारण कैसे माना जा सकता है ? अतः लाघव सहकार से जन्य द्रव्य और गुण - उभय के नाश के प्रति विजातीयसंयोगध्वंस को कारण मानना संगत है ।

● द्व्यणुक में क्षणिकत्वापत्ति निरवकाश ●

परमाणुषु० इति । यहाँ यह शंका हो कि → ''यदि विजातीयसंयोगनाश को ही द्रव्य और द्रव्यसमवेत रूपादि के नाश का कारण माना जाय तब तो द्व्यणुक आदि पदार्थ क्षणिक हो जायेंगे । इसका कारण यह है कि पूर्व काल से परमाणु में विनष्टद्व्यणुक के कारणीभूत विजातीयसंयोग का नाश तो रहता ही है, जो कि द्व्यणुकनाश का कारण है । अतः नवीन द्व्यणुक का भी स्वोपादानन्तर क्षण में नाश हो जायेगा, क्योंकि परमाणुद्वयवृत्ति पूर्वकालीन विजातीयसंयोगनाश स्वाधिकरणसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसंबंध से नूतन द्व्यणुक में रहता है'' ← तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि द्व्यणुकादि में क्षणिकात्वापत्ति का परिहार तो संबंधविशेष का प्रवेश करने से ही हो जायेगा । वह संबंध है स्वप्रतियोगिजन्यत्व । अर्थात् स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबंध से स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वावच्छिन्न के प्रति ही परमाणुद्वयसंयोग का नाश कारण है - ऐसा स्वीकार किया है । स्वपद में यहाँ परमाणुद्वयविजातीयसंयोगप्रतियोगिक नाश अभीष्ट है । अतः स्वप्रतियोगी होगा परमाणुद्वयनिष्ठ विजातीयसंयोग । तथा स्वप्रतियोगिजन्यत्व पूर्वकालीन द्व्यणुक में होगा, जो कि विनष्ट हो चूका है । अतः विद्यमान नव्य द्व्यणुक में स्वप्रतियोगिजन्यत्व न होने से तादृश संबंध से विजातीयसंयोगनाशविशिष्ट द्व्यणुक नहीं होगा । यदि परमाणुद्वयसमवेत वर्तमान द्व्यणुक के असमवायिकारणीभूत परमाणुद्वयविजातीयसंयोग का नाश होगा तब तो स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबंध से परमाणुद्वयविजातीयसंयोगनाशविशिष्ट होने से द्व्यणुक नाशप्रतियोगी होगा । मगर स्वोत्पादानन्तर क्षण में सभी द्व्यणुक के असमवायिकारण का नाश न होने से स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबन्ध से द्व्यणुक में परमाणुद्वयविजातीयसंयोगनाश रहता नहीं है । इस तरह परमाणु में जो पूर्वकालीन विजातीयसंयोगनाश रहता है, उसका प्रतियोगी सांप्रतकालीन द्व्यणुक का जनक न होने से विजातीयसंयोगनाश स्वप्रतियोगिजन्यत्वसंबंध से विद्यमान द्व्यणुक में रहता नहीं है । अतः द्व्यणुकादि में क्षणिकत्व की आपत्ति का अनिष्ट प्रसंग नहीं है ।

हेतुत्वमित्यप्याहुः ।

घटादिनाशे च मुद्गरप्रहारादीनामपि विशिष्य हेतुत्वमिति घटादे सर्वथा ध्वंसप्रतियोगित्वमित्येकान्तोऽपि न कान्त घटादिपर्यायाणामपि द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वात् । प्रतियन्ति हि लोका अपि 'घटत्वेन घटो नष्टो न तु मृत्त्वेने'ति । उपादानोपा-

★ जयलता ★

पटस्य क्षणिकत्व स्यात्, पूर्विलतन्तुद्वयविजातीयसयोगनाशस्य स्वाधिकरणसमवेतत्व-स्वाधिकरणत्वोभयसवन्धेनोत्तरकालीनद्वितन्तुकपटे सत्त्वादिति प्रत्युक्तम् उत्तरकालीनद्वितन्तुकपटस्य विद्यमानध्वसप्रतियोगिना तन्तुद्वयसयोगविशेषेणाऽजन्यत्वात्, तज्जनकतन्तुद्वयविजातीयसयोगस्याऽविनष्टत्वात् ।

एवञ्च असमवायिकारणनाशस्य द्रव्यादिध्वसहेतुत्वे क्लृप्ते कपालादिनाशोत्तरमसमवायिकारणीभूतकपालद्वयविलक्षणसयोगनाशे सत्येव घटादिनाश इति कल्पनान्निरधिकरणस्य घटादेः क्षणमात्रमिव क्षणद्वयमप्यवस्थितौ वाधकाभावेन क्षणैकमात्रजीवित्वरूपक्षणिकत्वप्रच्यवः ।

आहुरित्यनेन स्वाऽस्वरसो दर्शित' । तद्वीज त्विदम् समवायस्य प्राग्निपिद्धत्वेनाऽग्रे च निपेत्स्यमानत्वेन तद्घटितकार्यकारणभावस्य वन्ध्यास्तनन्धायमानत्वात् । एतेन प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाशे कालावच्छिन्नेत्युपादानमिति प्रत्युक्तम् शब्द-पार्थिवपरमाणुरूपाद्यनाशप्रसङ्गात्, विशिष्य हेतुत्वोक्तौ गौरवात्, कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वमपहाय तत्स्थाने सन्निष्ठप्रतियोगिवृत्तित्वस्य स्वप्रतियेगिवृत्तिसत्त्वस्यैव वा सम्बन्धस्याऽभिपेके लाघवात्, अनतिप्रसङ्गाच्च[१] ।

वस्तुतस्तु विजातीयसयोगस्य द्रव्यहेतुत्वमेव नास्ति, तत्राऽपि कारणतान्तराऽपेक्षायामवश्यक्लृप्तेन स्वभावाऽपरनाम्ना परमाणुगताऽतिशयेनैव द्रव्योत्पादसभवात् । एवमेव दशतन्तुकपटादेः चरमतन्तुसयोगवियोगक्रमेणेव प्रथमतन्तुसयोगवियोगादिक्रमेणाऽपि नवतन्तुकपटोत्पत्तिर्निरावाधा, नवपर्यन्तैरपि द्वितीयादिभिरपि नवतन्तुभिरतिशयितैर्नवतन्तुकारम्भोपगमादिति दिक् ।

अस्मन्नये चाश्रयनाशस्याप्याश्रितनाशाऽहेतुत्वम्, घट-तत्समवेतरूपादीनामेकदैव नाशोपगमात्, घटनाशकस्यैव तद्रूपादिनाशकत्वात् । न च घट-तद्रूपादिनाशकैकत्वे तत्तन्नाशे भेदाऽसिद्धिप्रसङ्ग इति वक्तव्यम्, तन्नाशकैकत्वोपगमेऽपि तत्तन्नाशानुकूलशक्तिभेदात्तत्तन्नाशे भेदसिद्धेरिति विभावनीयम् ।

प्रकरणकृत् स्वमतमाह - घटादिनाशे चेति । सप्तम्यर्थः निरूपितत्व, अन्वयश्च तस्य हेतुत्वे । मुद्गरप्रहारादीनामपि विशिष्य = विशेषरूपेण हेतुत्वमिति । एतेन घटादीना स्वोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणे एव नाशः प्रत्युक्त दण्डप्रहारादीना घटाद्युत्पादक्षणाऽव्यापकत्वात्, घटादिध्वसात्मकस्य कार्यविशेषस्य सामान्यसामग्रीतोऽनुत्पाद्यत्वात् । स्वाव्यवहितोत्तरत्वसवन्धेन मुद्गरप्रहारादीना घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वस प्रति हेतुत्वात्र व्यतिरेकव्यभिचारो न वा घटत्वादिनेव मृत्त्व-द्रव्यत्वादिनाऽपि घटादेः नाशप्रतियोगित्वमिति घटादे सर्वथा = सर्वप्रकारेण, मृत्त्व-द्रव्यत्वादिनाऽपीति यावत्, ध्वसप्रतियोगित्वमिति एकान्त = निरपेक्षतया निश्चय' अपि न कान्त = मनोरमः । अत्र हेतुमाह - घटादिपर्यायाणामपीति । अपिशब्देन द्रव्यसमुच्चय' कृतः । द्रव्यार्थतया = स्वद्रव्यरूपेण द्रव्यार्थिकनयेन वा, ध्रुवत्वात् = ध्वसाऽप्रतियोगित्वात् । घटादीना घटत्वादिना ध्वंसप्रतियोगित्वेऽपि मृत्त्व-द्रव्यत्वादिना ध्वसाऽप्रतियोगित्वात् । अत्रैवाऽनुभवोपष्टम्भमाह - प्रतियन्तीति । 'घटत्वेन घटो नष्टो न तु मृत्त्वनेति । अत्राऽवच्छिन्नत्व तृतीयार्थः, अन्वयश्च तस्य ध्वसपदार्थैकदेशप्रतियोगितायाम् । ततो 'घटत्वावच्छिन्ननाशप्रतियोगितावान् घट'

● रमणीया ●

● द्रव्यार्थिकनय से घटादि स्थायी - स्याद्वादी ●

घटादिनाशे चेति । व्याख्याकार अन्य विद्वानो के मतानुसार घट-पटादि पदार्थ का स्वोत्पादाव्यवहितोत्तर क्षण मे ही सर्वथा विनाश नही है - यह वताने के वाद स्वमतानुसार घटादि के सर्वथा विनाश की अश्रद्धेयता को प्रकट करते है कि घटादि जन्य पदार्थ के नाश के प्रति दडप्रहारादि भी विशेपरूप से हेतु हे । मतलव यह है कि नैयायिक मान्यतानुसार कपालनाश या कपालद्वयविजातीसयोगनाश घट के नाश के प्रति हेतु है वैसे दडप्रहारादि भी घटादिनाश के विशेष हेतु हे । घटादिनाश विशेष कार्य है । कार्यविशेष का जन्म सामान्यसामग्री से होता नही हे, किन्तु विशेष सामग्री से ही होता है । दण्डप्रहारादि घटादिउत्पत्तिकाल मे अवश्यभावी नही है । दडप्रहारादि का समवधान तो घटादि की उत्पत्ति के वाद वहुत लवे काल के वाद भी हो सकता है । अत घटादि का स्वोत्पादाऽव्यवहितोत्तर क्षण मे अवश्य नाश का नियम अप्रामाणिक है । दूसरी वात यह है कि दडप्रहारादि भी घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिकध्वसत्वरूप मे ही घटादिनाश का कारण होता हे । अत घटादि का सर्वथा नाश होता हे - यह एकातवाद भी रुचिकर नही है । सर्वथा का मतलव हे घटवृत्ति सर्व धर्म की अपेक्षा से । अर्थात् घट का घटत्व-कम्वुग्रीवादिमत्त्व धर्म की भाँति मृत्त्व-पृथ्वीत्व-द्रव्यत्व-पदार्थत्व- ज्ञेयत्वआदि सकल धर्म की अपेक्षा से भी घटविनाश होता हे - यह एकातवाद रमणीय नही हे, क्योकि स्वद्रव्यात्मना = मृदादिद्रव्यविधया घट भी ध्रुव = नित्य भी हे । मृत्त्व-पृथ्वीत्व-द्रव्यत्व आदि धर्म की अपेक्षा घट का नाश होता नही है । घटनिष्ठ ध्वस-

१-घगादिवृत्तिजातिप्रभृतिध्वसापत्तिविरहाचेत्यर्थ ।

देययोर्भेदाभेदस्तु निपुणतरमुपपादित एवेति । किमित्याम्रेडितविस्मरणशीलताऽऽयुष्मत इति ॥१॥ [प्रथमश्लोकव्याख्या सपूर्णा]

श्रीहेमसूरिवाचामाचामति चातुरीपरविचार । व्याख्यातायश्लोकस्ता परिचिनुते यशोविजयः ॥१॥

सत्केवलप्रकाशेन भुवनाभोगभास्वते । भद्रकराय भक्ताना श्रीपार्श्वाय नमो नमः ॥२॥

ननु भवतु कदाचिद् बाह्यवस्तुनो नित्यानित्यत्व, प्रमातुस्तु नित्यत्वमेव युक्त, तस्याऽनित्यत्वे मानाभावात् । न च

★ जयलता ★

मृत्त्वावच्छिन्ननाशप्रतियोगिताशून्य'' इत्यर्थः । न च न्यूनवृत्तेरवाऽवच्छेदकत्वादतिरिक्तवृत्तेर्मृत्त्वादेर्नावच्छेदकत्वमिति साम्प्रतम् तन्नियमस्य 'दण्डत्वेन दण्डे घटहेतुत्व न तु द्रव्यत्वेन' त्यादिस्थले बाधादिति दिक् ।

परतीर्थिकाणामप्येकत्र नित्यत्वानित्यत्वादिकमविरुद्धतयाऽभिमतम् । तदुक्तम् शास्त्रदीपिकाया 'नानाकार हि तत् वस्तु केनचिदाकारेण नित्यत्वादिक केनचिच्चाऽनित्यत्वादिक बिभ्रन्न विरोत्स्यते । जातिरपि व्यक्तिरूपेणाऽनित्या, व्यक्तिरपि जात्यात्मना नित्येति नाऽत्र कदाचिदनिष्टापत्तिः'' [शा दी पृ ३००] इति ।

घटादिपर्यायनाशेऽपि तदभिन्नमृदादिद्रव्याऽनाशाद् मृदादिरूपेण तन्नित्यत्वमाकर्ण्य पर आह

साधूक्त भो ! त्वयेव तद्भेद' सिद्ध्यति सर्वथा । यद् यद्व्ययेऽपि नापैति, तत्ततो भिन्नमेव हि ॥१॥

स्याद्वाद्याह → भो ! विस्मरणशीलत्व, भवता वर्ततेऽधुना । नैव नव भवेदेव, पूर्वोक्ते दीयता मति ॥२॥

मृद्द्रव्य हि घटत्वेन, परिणतमिति स्फुटम् । प्रत्यये जाग्रति स्याद्धि, भेदाभेदस्त्वयोस्सदा ॥३॥

प्रथमश्लोकव्याख्यासमाप्तिमग्रेतनश्लोकव्याख्यानेन सगमयति - श्रीति । श्रीहेमसूरिवाचा = वीतरागस्तोत्रकृदाचार्यवर्यगिरा, चातुरीपरविचार = बुद्धिकौशल्याऽऽधानानुकूलतात्पर्य, यशोविजय प्रकृतप्रकरणकृन्महामहोपाध्याय' आचामति = अवगाहते, व्याख्यातायश्लोक = व्यावर्णितवीतराग-स्तोत्राष्टमप्रकाशप्रथमश्लोक प्रकरणकार' ता = श्रीहेमसूरिवाच, परिचिनुते = निपुणतरविवरणेन विभूषयति । आद्यकारिकाया व्याख्याततत्वात् साम्प्रतमग्रेतनकारिकाव्याख्यानमर्हतीत्याशयः । अनेनाऽवसरसगतिः प्रदर्शिता ।

द्वितीयकारिकोपोद्घातमाविष्करोति - नन्विति । अन्यथाऽस्याऽग्रे उपपत्तेरित्यत्र । अभ्युपगम्य ब्रह्मवाद्याह भवत्विति । प्रमातुरिति आत्मन इति । नित्यत्वमेव = अनित्यत्वासभिन्ननित्यत्वम् । हेतुमाह - तस्य = प्रमातु', अनित्यत्वे = ध्वसप्रतियोगित्वे, मानाभावात् =

● रमणीया ●

प्रतियोगिता मृत्त्व-पृथ्वीत्व आदि धर्म से अवच्छिन्न होती नहीं है । लोगो का यह अनुभव भी है कि - 'घट घटत्वरूप से नष्ट हुआ न कि मृत्त्वरूप से' । स्वारसिक लोकानुभव से भी यह सिद्ध होता है कि मृत्त्व, पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व आदि मे घटध्वसनिरूपित प्रतियोगिता की अवच्छेदकता नहीं है । अत घटत्वादि धर्म की अपेक्षा से घट मे अनित्यत्व (= ध्वसप्रतियोगित्व) होने पर भी मृत्त्वादि धर्म की अपेक्षा नित्यत्व (= ध्वसाप्रतियोगित्व) भी अव्याहत है - यह सिद्ध होता है ।

यहाँ यह शका करनी नहीं चाहिए कि → ''घट का ध्वस होने पर भी मिट्टी द्रव्य का ध्वस न होने से घटात्मक उपादेय (=कार्य) और मिट्टीस्वरूप उपादान (=कारण) मे सर्वथा भेद ही होना चाहिए । जिसका ध्वस होने पर भी जिसका ध्वस होता नहीं है वह उससे भिन्न होता है । जैसे घट का ध्वस होने पर भी पट का नाश न होने से पट से घट सर्वथा भिन्न होता है, वैसे घट का ध्वस होने पर भी मिट्टी द्रव्य का ध्वस न होने से घट उससे अत्यत भिन्न होना चाहिए'' ← इसका कारण यह है कि उपादान और उपादेय मे घट-कलश की भाँति न तो सर्वथा अभेद होता है और न तो घट और आग की भाँति सर्वथा भेद होता है, किन्तु नील और घट की भाँति भेदाभेद ही होता है-यह तो पहले विस्तार से बताया गया है, यह आप क्यो भूलते है ? अत एकात क्षणिकवाद भी नामुनासिब है-यह फलित होता है । इस तरह प्रथम श्लोक की, जो वीतरागस्तोत्र के आँठवे प्रकाश मे निबद्ध है, व्याख्या पूर्ण हुई ।

श्रीहेम० इति । कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचद्रसूरीश्वरजी महाराजा की वाणी के चातुरीपरक तात्पर्य का (महोपाध्याय प्रकरणकार श्रीमद्) यशोविजयजी महाराज अवगाहन-निमज्जन करते है । प्रथम श्लोक की व्याख्या कर के प्रकरणकार श्रीमद्जी अब आचार्य भगवत की गभीर वाणी को व्याख्यात्मक आभूषण के द्वारा सुशोभित करते है । अर्थात् अब आगे के श्लोक की व्याख्या (-विवरण) की जाती है ॥१॥

● श्रीपार्श्वनाथ प्रभु को नमस्कार ●

सम्यक् केवलज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा त्रिभुवन का ज्ञान कराने के लिए सूर्यसमान तथा भक्त जन के लिए कल्याणकारी श्रीपार्श्वनाथ भगवत को बार बार नमस्कार हो ॥२॥

● ब्रह्मवादी का दीर्घ पूर्वपक्ष यानी द्वितीय कारिका का अवतरण ●

ननु भव० इति । बाह्य घट-पटादि वस्तु नित्यानित्य है - यह मान लिया जाय तो भी प्रमाता आत्मा मे तो नित्यत्व ही होना चाहिए, न कि नित्यानित्यत्व, क्योकि आत्मा को अनित्य मानने मे कोई प्रमाण नहीं है । जिसको मान्य करने के लिए

ज्ञानाद्यभेदात् तथात्व, तथा सति दुःखाऽभेदाद् दुःखध्वसस्यापि आत्मध्वसरूपत्वात् तदर्थिनो यम-नियमादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

न च दुःखध्वसत्व चरमदुःखध्वसत्वमेव वा काम्यतावच्छेदक, तत्राऽऽत्मध्वसाऽभेदज्ञाने यमादौ बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वस्य

★ जयलता ★

आत्माश्रितानित्यत्वसाधकप्रमाणविरहात् । अत आत्मन एकान्तनित्यत्वमेवोपगन्तुमर्हतीति भावः ।

नन्वात्माऽभिन्नज्ञानादिगुणानामनित्यत्वादात्मनोऽप्यनित्यत्व स्यादेव, प्रयोगस्त्वेव, आत्मा अनित्यः अनित्यज्ञानादिगुणाभिन्नत्वात् सप्रतिपन्नवदित्याशङ्कामपहस्तयति न चेति । तथात्व = अनित्यत्वम् । तन्निरासे हेतुमाह - तथा सतीति । आत्मनोऽनित्यगुणाभिन्नत्वेनानित्यत्वेऽङ्गीक्रियमाणे । आत्मनो दु खाभेदाद् = दुःखाभिन्नत्वात् तद्गुणत्वाऽविशेषाद्, दु खध्वसस्यापि आत्मध्वसरूपत्वात्, तदर्थिन = दुःखध्वसार्थिपुरुषस्य, यम-नियमादौ प्रवृत्तिर्न स्यादिति । अय भावः ज्ञानादिवद् दुःखस्याप्यात्मगुणत्वात् दु'खादात्मनोऽभिन्नत्वाद् दुःखध्वसे सत्यात्मध्वसः स्यात् । तथा च सकलदु'खोच्छेदस्वरूपमुक्त्यर्थं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानादौ प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि कोऽपि मनीषी आत्मप्रहाणार्थं यतते ईहते वा । न च तथा दृश्यते । अतः आत्मनो ज्ञानाद्यभेदात्र ध्वसप्रतियोगित्वमभ्युपगन्तुमर्हतीति भाव' ।

ननु दुःखध्वसे काम्यतावच्छेदकस्य सत्त्वात्तदर्थिनो यमादौ प्रवृत्तिरुपपत्स्यत इति शङ्का निराकरोति न चेति । दुःखस्य भोगेन ध्वसे सत्यपि पुनर्दु'खोत्पाददर्शनात्र दुःखध्वसत्वस्य काम्यतावच्छेदकत्व सभवतीत्याशङ्कायामाह - चरमदु खध्वसत्वमेव । वेति । तन्निरासे हेतुमाह तत्रेति । दुःखध्वसे चरमदुःखध्वसे वा । आत्मध्वसाभेदज्ञाने सति यमादौ बलवदनिष्टाननुबधीष्टसाधनत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वादिति । अय भावः

● रमणीया ●

कोई भी प्रमाण न हो, उसका अगीकार हो सकता नही हे । आत्मवृत्ति अनित्यत्व मे कोई भी प्रमाण न होने से आत्मा को अनित्य या नित्याऽनित्य मानी जा नही सकती । यहाँ यह शका हो कि आत्मा अपने मे रहनेवाले ज्ञानादि गुणो से अभिन्न होती हे, क्योकि गुण-गुणी मे अभेद होता है, जो घट और घटरूप आदि मे प्रसिद्ध हे । ज्ञानादि गुण तो अनित्य है, तृतीयक्षणवृत्ति ध्वस के प्रतियोगी है । अत अनित्य ज्ञानादि गुणो से अभिन्न आत्मा भी अनित्य ध्वसप्रतियोगी है यह माना जा सकता है । अत आपने जो कहा हे कि 'आत्मा को अनित्य मानने मे कोई प्रमाण न होने से उसे अनित्य या नित्याऽनित्य मानी नही जा सकती' वह ठीक नही है, क्योकि आत्मा मे अनित्य ज्ञानादि गुण से अभिन्नत्वरूप लिग ही अनित्यत्वस्वरूप लिगी की सिद्धि मे प्रमाण है" ←तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि गुण और गुणी मे अभेद मानने पर तो आत्मा दु खध्वस से भी अभिन्न हो जाने से विशेषगुण-दु खध्वस भी आत्मध्वसस्वरूप हो जायेगा । मगर दु खध्वस और आत्मध्वस मे अभेद मानने पर यह समस्या मुँह फाड़े खडी है कि दु खध्वस के अर्थी (=कामी) पुरुष की दु खध्वस के साधनीभूत यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिस्वरूप अष्टाग योग मे प्रवृत्ति ही नही होगी, क्योकि आत्मनाश किसी विवेकी पुरुष को अभिमत या काम्य होता नही हे ओर दु खनाश मे आत्मनाशतादात्म्य का ज्ञान होने पर दु खध्वस भी अनिष्ट हो जाता है । अनिष्ट के साधन मे शिष्टजन की प्रवृत्ति होती नही है । अत ज्ञानादि अनित्य गुण से आत्मा को अभिन्न मानना और उसकी वजह अनित्यत्व मानना नामुनासिब है ।

● आत्मध्वस और दुःखध्वस मे अभेद होने पर चरमदुःखध्वस भी काम्यतावच्छेदक नही हो सकता - पूर्वपक्ष ●

न च । दुःख॰ इति । यह दहशत हो (कि "आत्मध्वस) भले ही अनिष्ट हो मगर आत्मध्वस से अभिन्न दुःखध्वस मे दु खध्वसत्व या चरमदुःखध्वसत्व को ही काम्यतावच्छेदक मानने पर तो दुःखध्वस के साधनीभूत यम, नियम आदि मे प्रवृत्ति हो सकती हे, क्योकि काम्यतावच्छेदकविशिष्ट के साधनत्व का ज्ञान प्रवर्तक होता हे । दु खध्वस मे दु खध्वसत्व या चरमदु खध्वसत्वात्मक काम्यतावच्छेदक होने से तत्साधनीभूत यमादि मे प्रवृत्ति हो सकती है" ←तो यह भी अनुचित हे । इसका कारण यह है कि सिर्फ इष्टसाधनताविषयक ज्ञान प्रवर्तक नही हे किन्तु बलवदनिष्टाननुबधित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व विषयक ज्ञान ही प्रवर्तक होता हे । विषमिश्रित लड्डु मे ऐसा ज्ञान होने पर विवेकी पुरुष विषमिश्रित लड्डु खाने की प्रवृत्ति करता नही है, क्योकि लड्डु मे क्षुधाशमनस्वरूप इष्ट के साधनत्व का ज्ञान होने पर भी बलवदनिष्टाननुबधित्वविशिष्टइष्टसाधनत्वगोचर ज्ञान नही हे । विषमिश्रित लड्डु मरणस्वरूप बलवान् अनिष्ट के अनुबधी होने से विषमिश्रित मोदक मे बलवान् अनिष्ट के अनावहक इष्टसाधनत्व का ज्ञान होता नही हे । अतएव यह ज्ञान जिसको हे वह प्रेक्षावान् उनमे भोजनप्रवृत्ति करता नही हे । इसी तरह प्रस्तुत मे भी दु खध्वस मे आत्मध्वसाऽभेद का ज्ञान होने पर दु खध्वससाधनीभूत यमादि मे बलवान् अनिष्ट अनावहक इष्टसाधनत्वप्रकारक बोध हो सकता नही हे, क्योकि यमादि मे आत्मप्रहाणस्वरूप बलवान् अनिष्ट के अनुबधित्व = सपादकत्व का ज्ञान होने से बलवानुअनिष्टअननुबधित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व का ज्ञान हो नही सकता । आत्मनाश के साधन मे बलवानुअनिष्टअप्रयोजकत्व का ज्ञान किसी प्राज्ञ पुरुष को हो नही सकता, मूर्खशिरोमणि हो तो अलग बात हे । अत ज्ञानादि गुण से आत्मा को अभिन्न मान कर आत्मा मे ध्वसप्रतियोगित्व का स्वीकार करना असगत हे ।

ज्ञातुमशक्यत्वात् । न चाऽऽत्मत्वावच्छिन्नध्वसत्वमेव चार्वाकादिमतप्रसिद्धमनिष्टतावच्छेदक, विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति वाच्यम् तथापि 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' [तै आ.] इति श्रुत्या तस्य नित्यत्वस्यैवौचित्यात्, नित्यसुखादिनैव सममभेदबोधात् । जीवानामपि भावकार्यत्वावच्छिन्न प्रति उपादानप्रत्यक्षत्वेनैव कारणत्वात्, लाघवाद् जगद्धेतुतया सिध्यन्नित्योपादान-

★ जयलता ★

प्रवृत्त्यर्थं न केवलमिष्टसाधनत्वज्ञानमपेक्षणीयमपि तु बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वज्ञानमेव । यमादौ चरमदुःखध्वसात्मकेष्टस्य साधनत्वे ज्ञाते सत्यपि न तत्र प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति, बलवदनिष्टस्य आत्मध्वसस्य चरमदुःखध्वसाऽभिन्नत्वज्ञाने बलवदनिष्टाननुबन्धित्वरूपविशेषणप्रत्यवात् । यमादौ प्रवृत्तेरनुपपत्त्या वज्रलेपायमानत्वादात्मनो ज्ञानाद्यभिन्नत्वेनाऽनित्यत्वमुपगन्तु नार्हतीति भावः ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । आत्मत्वावच्छिन्नध्वसत्वमेवेति । एवकारेण दुःखत्वावच्छिन्नध्वसत्वव्यवच्छेदः कृतः । देहपातकाले आत्मध्वसवृत्ति चार्वाकादिमतप्रसिद्ध अनिष्टतावच्छेदक = अनिष्टताप्रयोजकम् । आदिशब्देन सौगतादेः परिग्रहः । दुःखध्वसाऽभिन्नात्मध्वसस्याऽनिष्टत्वेऽप्यनिष्टताप्रयोजकमात्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसत्वमेव न तु दुःखत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसत्वम् । प्रत्युत तस्येष्टताप्रयोजकत्वमेवेति दुःखत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसस्येष्टतावच्छेदकाक्रान्तस्य साधनीभूते यमादौ तदर्थिनः प्रवृत्तिरुपपन्नेवेति न कोऽपि दोष आत्मनो दुःखाद्यभिन्नत्वेन तद्ध्वंसे आत्मध्वसोपगम इति शङ्काशयः । ननु दुःखस्याऽनिष्टत्वेन तज्जिहीर्षेव युक्तिमती न तु तद्ध्वसस्येष्टताऽपि, असदेकस्वरूपस्य दुःखध्वसस्याऽपुरुषार्थत्वात् । अत एव दुःखत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसत्वस्येष्टतावच्छेदकत्वमपि न सभवतीति परो ब्रूयादतः कल्पान्तरमाह - विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति ससारिसुखवृत्तिसुखत्वातिरिक्त सुखत्वमेवेष्टताप्रयोजकमित्यर्थः ।

तन्निराचष्टे-तथापीति विजातीयसुखत्वस्य काम्यतावच्छेदकत्वेऽपीत्यर्थः । तैत्तरीयाऽऽरण्यकसवादमाह - 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्मे'ति । तस्य = ब्रह्मपदप्रतिपाद्यस्य आत्मनः नित्यत्वस्यैवौचित्यात् = नित्यत्वमेवोचितमित्यर्थः । हेतुमाह - नित्यसुखादिनैवेति । आदिशब्देन विज्ञानपरिग्रहः । अभेदबोधात् = अभेदान्वयबोधात् । अय भावः विजातीयसुखत्वस्येष्टतावच्छेदकत्वेन यमादौ तदर्थिनः प्रवृत्तेरुपपादनेऽप्यात्मनो नित्यत्वमेव नित्यसुखाभिन्नत्वात्, श्रुत्या तथैव बोधात् । न च नित्यसुखे सिद्धे ब्रह्माभेदबोधन, तद्बोधने च नित्यसुखसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयपङ्किलत्वमिति वाच्यम् स्वर्गत्वमुपलक्षणीकृत्य स्वर्गविशेषे यागकारणताबोधवत् सुखत्वमुपलक्षणीकृत्य सुखविशेषे ब्रह्माऽभेदोपपत्तेः । यद्वा नित्यसुख बोधयित्वा तत्र ब्रह्माऽभेदो विधिनैव बोध्यते । न च वाक्यभेदः, वाक्यैकवाक्यत्वात् । एतेन सुखत्वावच्छिन्न प्रति धर्मत्वेन हेतुत्वान्नित्यसुखानुपपत्तिरिति प्रत्युक्तम् उक्तश्रुतिबलान्नित्यसुखसिद्धौ जन्यसुखत्वावच्छिन्न प्रत्येव तद्धेतुत्वात् । अत एव शरीरादिक विना तत्र सुखाभावोऽपि प्रत्युक्त शरीरादेर्जन्यात्मविशेषगुणत्वावच्छिन्न प्रत्येव हेतुत्वात्, अनित्यसुखादेरविद्यानिबन्धनत्वेनाऽऽत्मानुपादेयत्वात्तन्नित्यत्वमेव युक्तमिति ।

ननु श्रुत्या तु ब्रह्मणो नित्यत्व बोध्यते न तु जीवानामपि । अतोऽस्मादृशा जीवाना त्वनित्यत्वमेवाऽस्त्वित्याशङ्कायामाह - जीवानामपीति । उपादानप्रत्यक्षत्वेनैवेति । एवकारेणोपादानप्रत्यक्षसमवायित्वेन कारणता व्यवच्छिन्ना । तत्र हेतुमाह - लाघवादिति समवायासिद्धेश्चेति गम्यम् ।

● रमणीया ●

यमादि मे प्रवृत्ति हो सकती है । इसका कारण यह है कि दुःखत्वावच्छिन्नध्वसत्व अनिष्टतावच्छेदक नही है, किन्तु चार्वाकादि नास्तिक मत मे प्रसिद्ध आत्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसत्व ही अनिष्टतावच्छेदक होता है । यमादि से साध्य दुःखध्वस मे आत्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसत्व नही है, जो अनिष्टताप्रयोजक है किन्तु दुःखत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वसत्व ही रहता है, जो कि इष्टता का अवच्छेदक = प्रयोजक होता है । अतः दुःखोच्छेद के साधनीभूत यमादि मे तदर्थी की प्रवृत्ति हो सकती है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि - विजातीयसुखत्व ही काम्यतावच्छेदक होता है जिसका आश्रय (=काम्य विजातीय सुख) तो यमादि से साध्य होता है । यहाँ सुखत्व न कह कर विजातीय सुखत्व कहने का तात्पर्य यह है कि यमादि से साध्य जो सुख है, वह सासारिक-पचइन्द्रियउपभोगसपाद्य क्षणभगुर-दुःखानुबधी-दुःखमिश्रित - अपूर्ण सुख से विलक्षण है, जो स्थायी, दुःखाननुबधी, दुःखाऽमिश्रित और पूर्ण (=प्रकृष्ट) होता है । इससे विजातीय सुख की कामनावाले पुरुष की यमादि मे प्रवृत्ति सुसगत है'' ← तो यह भी रमणीय नही है, क्योकि विजातीयसुखत्व को काम्यताप्रयोजक मानने पर भी 'नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म' = 'नित्य विज्ञान आनन्द ही ब्रह्म है' । इस श्रुति के बल से आत्मा को नित्य ही माननी होगी, क्योकि उक्त श्रुति मे ब्रह्मपद से प्रतिपाद्य आत्मा का नित्य सुख ओर नित्य विज्ञान के साथ अभेदान्वयबोध होता है । यदि आत्मा अनित्य होती तब तो नित्य आनद आदि के साथ उसका अभेदान्वयबोध न होता किन्तु भेदान्वयबोध होता । मगर उक्त श्रुति से नित्यसुखादि के साथ आत्मा का अभेदान्वयबोध होता है । अतः तादृश अभेदान्वयबोध की अन्यथा अनुपपत्ति से भी आत्मा नित्य ही सिद्ध होती है । अतः प्रमाता को तो एकात नित्य ही मानना चाहिए ।

● जीव और ब्रह्म अभिन्न - पूर्वपक्ष जारी ●

जीवानामपि० इति । यहाँ यह शका करना नही चाहिए कि → ''श्रुति से ब्रह्मपदप्रतिपाद्य ईश्वर मे ही नित्यत्व सिद्ध होता है, न कि सब जीवो मे । आप तो सब जीवो मे नित्यत्व की सिद्धि की बात कर रहे है । यह कैसे मान्य हो सकता है ?'' ← इसका कारण यह है कि वस्तुतः ईश्वरात्मा ओर जीवात्मा परस्पर अभिन्न ही है । अतएव ईश्वरात्मा की भाँति जीवात्मा भी

प्रत्यक्षरूपादेवेश्वरादभेदाच्च । एतेन आनन्दशब्दस्याऽजहत्पुल्लिङ्गतया नपुसकत्वे लिङ्गव्यत्ययकल्पनमप्रामाणिकमिति निरस्तम् ।
न च 'आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षे प्रतिष्ठित' [ ] इतिभेदबोधकश्रुतिसद्भावादुपचरितार्थत्वमेव पूर्वश्रुतेरिति

★ जयलता ★

अय भावो - भावकार्यं प्रति जीवानामुपादानप्रत्यक्षसमवायित्वेन कारणत्वे कारणतावच्छेदकधर्मे गौरवमिति लाघवादुपादानप्रत्यक्षत्वेनैव कारणताऽर्हति । ब्रह्मवादिनो मते समवायस्याऽपि विरहान्नोपादानप्रत्यक्षसमवायित्वेन तत्कारणता सभवति । अनेन जीवानामुपादानप्रत्यक्षरूपत्वमेव न तु तदतिरिक्ततदाश्रयत्व गौरवादिति ध्वनितम् । जगद्धेतुतयेति । अय भावः जगद्धेतुत्वेन सिध्यद् यद् उपादानप्रत्यक्ष तदपि नित्यमेव लाघवात् । तदनित्यत्वे पुनरपि कारणान्तरगवेषणवैयग्र्यप्रसङ्गात् । अनेन जीवानामपि नित्योपादानप्रत्यक्षात्मकत्वमुपदर्शितम्, लाघवात् । अत एव जगत्कर्तृत्वेन सिध्यन्नीश्वरोऽपि नित्योपादानप्रत्यक्षस्वरूप एव न तु तदतिरिक्त-तत्समवायिरूपः । अत एव जीवेश्वरतादात्म्यसिद्धिः । एवञ्च लाघवादिति हेतुः घण्टालोलान्यायेनाऽनेकत्रावर्तते । जीवेश्वराऽभेद 'एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म' [छा उप ६/२/१] इति छान्दोग्योपनिषद्वचनादपि सिध्यतीति नाऽपसिद्धान्तदोषकलङ्कस्पर्शः । एवमपि प्रमातुर्नित्यत्व सिद्ध्यति । निरवयवत्वादितोऽपि तन्नित्यत्वसिद्धिः ।

एतेनेति लाघवेनेति । अस्याऽन्वयो निरस्तमित्यनेन सह । अजहत्पुल्लिगतयेति । असमस्तस्थले पुल्लिगाऽपरित्यागेन प्रवर्तमानतयेत्यर्थः । नपुसकत्वे = 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यत्र व्यस्तस्थले आनन्दपदस्य नपुसकलिङ्गकत्वे, लिङ्गव्यत्ययकल्पन = पुल्लिगविपरीतनपुसकलिङ्गकल्पन अप्रामाणिक = प्रमाणसाचिव्यविकलम् । अत आनन्दोऽस्ति अस्य तत् आनन्दमिति बहुव्रीहिसमासस्यैव युक्तत्वम् । अत एव 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इति श्रुत्या ब्रह्मणो नित्यत्वौचित्यात् नित्यसुखादिनैव सममभेदान्वयबोधादिति प्रत्युक्तम् उक्तरीत्या भेदान्वयबोधस्यैव युक्तत्वात् । इद च लाघवसहकारेण निरस्तम् ब्रह्मण आनन्दातिरिक्तस्य तदाश्रयत्वकल्पने गौरवात् । छान्दसत्वात्, नित्यविज्ञानाऽभिन्नाऽऽनन्दाऽभेदस्यैव ब्रह्मणि युक्तत्वात् ।

नचेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । 'आनन्द ब्रह्मणो रूपमि'ति तयोः भेदबोधकश्रुतिसद्भावात् उपचरितार्थत्वमेव = अभेदस्वरूपशक्यार्थपरित्यागेनाऽन्यार्थस्य भेदस्य बोधकत्वमेव, 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्मे'ति पूर्वश्रुतेरिति । भेदबोधकश्रुत्यैवाऽभेदबोधकश्रुत्या अन्यथासिद्धत्वानयोर्भिन्नत्वमेव

● रमणीया ●

नित्य ही है। आशय यह है कि जीव भावकार्यमात्र के प्रति उपादानप्रत्यक्षात्मना कारण होता है न कि उपादानप्रत्यक्षाश्रयत्वरूप से इसका कारण यह है कि भावकार्य के प्रति नैयायिकादि मतानुसार उपादानप्रत्यक्षाश्रयत्वरूप से जीव को कारण मानने पर कारणतावच्छेदक धर्म मे गौरव होता है। जब कि उपादानप्रत्यक्षत्वरूप से कारण मानने पर कारणतावच्छेदक धर्म मे लाघव होता है। इस तरह जीव लाघवतर्कसहकार से उपादानप्रत्यक्षस्वरूप सिद्ध होता है, न कि उपादानप्रत्यक्ष के अतिरिक्त तदाश्रयस्वरूप। इसी तरह जगतहेतुत्वरूप से भी जो नित्योपादान प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, तत्स्वरूप ही ईश्वर भी सिद्ध होता है। मतलब कि ईश्वर भी जगत् हेतुत्वरूप से सिद्ध होनेवाले नित्य उपादानप्रत्यक्षस्वरूप ही है, न कि उससे अतिरिक्त उसके आश्रयस्वरूप। इस तरह जीवात्मा और ईश्वरात्मा उपादानसाक्षात्कारात्मक होने से परस्पर अभिन्न होते है। अत जीवात्मा और ईश्वरात्मा को नित्य विज्ञान और नित्य सुख से अभिन्न मानने मे कोई बाध नही है, प्रत्युत लाघवतर्क का साचिव्य भी है। अत प्रमाता जीव को एकान्त नित्य मानना ही सगत है - यह निराबाध सिद्ध होता है। इसीसे यह कथन भी कि ⟶ "आनदशब्द तो अजहत् पुल्लिग है अर्थात् असमासस्थल मे आनदशब्द पुल्लिग मे ही रहता है। अत 'नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म' यहाँ समास न होने पर भी आनन्दपद को नपुसकलिगवाला बना कर लिगविपर्यय की कल्पना की गई है वह अप्रामाणिक है" ⟵ निरस्त हो जाता है, क्योकि लाघव से ब्रह्म आनन्दस्वरूप सिद्ध होने से नित्यविज्ञान से अभिन्न आनन्द से अभिन्नत्व का ब्रह्म मे बोध मानने के लिए समान लिग होना आवश्यक है, क्योकि अभेदान्वयबोध मे समानलिगकत्व नियामक है।

● नित्य सुख और ब्रह्म मे अभेद औपचारिक नही - पूर्वपक्ष जारी ●

न चानन्द० इति। यहाँ यह माना जाय कि ⟶ "आनन्द और ब्रह्म मे भेदप्रतिपादक श्रुतिवचन तो विद्यमान ही है। देखिये, 'आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षे प्रतिष्ठित' अर्थात् 'ब्रह्म का आनन्द स्वरूप है, जो कि मोक्ष मे प्रतिष्ठित होता है'। यहाँ षष्ठी विभक्ति का ब्रह्मपदोत्तर प्रयोग किया गया है। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग परस्पर भिन्न पदार्थ के प्रतिपादक पदो मे ही होता है। जैसे 'चैत्रस्य घट' 'चैत्र का घट' इत्यादि स्थल मे चैत्र और घट मे भेद होने से ही चैत्रपदोत्तर षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होती है। सर्वथा अभेद होने पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता नही है। 'चैत्रस्य चैत्र' = 'चैत्र का चैत्र' इत्यादि वाक्यप्रयोग न तो कभी सुना है और न तो कभी पढा है। अत षष्ठी विभक्ति भेद की साधक होती है। 'आनद ब्रह्मणो रूप' यहाँ ब्रह्मपदोत्तर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, जिसके फलस्वरूप मे ब्रह्म और आनन्द मे भेद सिद्ध होता है। श्रुतिवाक्य से ही ब्रह्म और आनन्द मे भेद सिद्ध होने से 'नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म' इस श्रुतिवचन को औपचारिक अर्थवाला ही मानना चाहिए। मतलब कि वास्तव मे ब्रह्म और आनन्द मे भेद होने से उपचार से ही अभेद का उन दोनो मे भान होता है - यह मानना उचित है। अत ब्रह्म और आनन्द को परस्पर भिन्न मानना ही मुनासिब है" ⟵ तो यह भी एक भ्रान्ति ही है। इसका कारण यह है कि - षष्ठी विभक्ति भेदव्याप्य होती नही है। अभेदस्थल मे भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है-यह बात बहुश्रुत पुरुषो

अथ विभक्त्यन्तरार्थे विभक्त्यन्तरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापक व्यत्ययानुशासनम् । अत एव 'घट जानाती'त्यादौ

★ जयलता ★

विधेयानुशासन सुब्विभक्तौ - 'प्रतिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचन-माने प्रथमा [पा व्या २/३/८६], सम्बोधने च' [२/३/४७] कर्मणि द्वितीया [२/३/२], कर्तृकरणयोः तृतीया [२/३/१८], चतुर्थी सम्प्रदाने [२/३/१३] अपादाने पञ्चमी [२/३/२८] षष्ठी शेषे [२/३/५०], सप्तम्यधिकरणे च [२/३/३६] इत्यादिस्वरूपम् । उक्तार्थेष्वेव चाऽन्यविभक्तिविधायकसूत्राणि व्यत्ययानुशासनमित्यभिधीयते । यथा 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे [२/३/५१] अधीगर्थदयेशा कर्मणि [२/३/५२] कर्तृ-कर्मणोः कृति [२/३/६५] इत्यादीनि करणत्व-कर्मत्वाद्यर्थे षष्ठ्या विधायकानि । श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासने च 'कर्मणि कृतः [२/२/८३] कर्तरि [२/२/८६] इत्यादीनि सूत्राणि व्यत्ययानुशासनमित्यभिधीयन्ते । अत एव 'अपा स्रष्टा, गवा दोहः, भवत आसिका, रामस्य गमनमि'त्यादौ द्वितीयादिस्थाने षष्ठी प्राप्यते । यदि च सुब्विभक्तौ लक्षणा स्यात् तर्हि प्रदर्शितव्यत्ययानुशासन निरर्थक स्यात्, आप' स्रष्टा, गा दोहः, भवान् आसिका, रामो गमनमित्यादि प्रयुज्यापि प्रथमादीना षष्ठीविभक्तौ लक्षणायाः सम्भवात् । न चैव भवति । ततो ज्ञायते सुब्विभक्तौ लक्षणा न भवति । अतो न 'राहोः शिर' इत्यादौ सुब्विभक्तौ लक्षणा सम्भवतीति भावः ।

परः शङ्कते-अथेति । विभक्त्यन्तरार्थे = कर्तृत्व-कर्मत्वादौ, विभक्त्यन्तरस्य सप्तम्यादेः लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापक व्यत्ययानुशासनम् । अत एव 'रामे ग्रामस्य गच्छती'त्यादयो न प्रयोगाः सप्तम्यादेः कर्तृत्वादिलक्षणाया व्यत्ययानुशासनेन निषिद्धत्वात् । पर कर्तृत्वकर्मत्वाद्यर्थेभ्यो भिन्नेऽर्थे विभक्त्यन्तरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वसूचक न व्यत्ययानुशासनम् । अत एव = व्यत्ययानुशासनस्य कर्तृत्व-कर्मत्वाद्यर्थातिरिक्तार्थे द्वितीयादिविभक्तेर्लक्षणाया अनिषेधकत्वादेव, 'घट जानाती'त्यादौ द्वितीयाया विभक्तेः विषयित्वे लक्षणा नानुपपन्नेति । अय भावः

● रमणीया ●

है, न कि लक्षणा । जब कि एक बार षष्ठी विभक्ति की लौकिक शाब्दव्यवहार के बल से अभेदार्थ मे शक्ति सिद्ध हो गई, तब तो 'आनद ब्रह्मणो रूप' इस श्रुतिवचन से भी अभेदार्थबोध षष्ठी विभक्ति की शक्ति से माना जा सकता है । अत उक्त श्रुतिवचन से 'ब्रह्माऽभिन्न आनद' का बोध शक्तिनामक वृत्ति से मानने मे कोई बाध नही है । अतएव 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इस श्रुति को भी औपचारिकार्थपरक मानने की आवश्यकता नही हे । इस तरह नित्य सुख ओर ब्रह्म मे अभेद मानना ही सुसगत हे - यह सिद्ध होता हैं ।

● सुप् विभक्ति को निरर्थक मानने पर व्यत्ययानुशासन नैरर्थक्यापत्ति ●

अन्यथा व्य० इति यहाँ यह प्रश्न करना कि → 'क्या ऐसी कोई राजाज्ञा हैं जिससे कि सुप् विभक्ति मे लक्षणा कभी भी होती नही हे ? सुप् विभक्ति की लक्षणा मानने मे क्या दोष है ? जिसकी वजह आप श्रीमान् सुप् विभक्ति मे लक्षणा का अनगीकार करते हैं ?'' ← ठीक नही है, क्योकि सुप् विभक्ति की लक्षणा मानने पर तो व्यत्ययानुशासन निरर्थक हो जायेगा । आशय यह हे कि व्याकरण मे दो प्रकार के अनुशासन होते हे - विधेय अनुशासन ओर व्यत्यय अनुशासन । कर्मणि द्वितीया, अधिकरणे सप्तमी-इत्यादि सूत्र विधेय अनुशासन कहे जाते है । मगर कभी कभी कर्म अर्थ मे द्वितीया विभक्ति के स्थान मे षष्ठी विभक्ति भी प्राप्त होती हे । इसके प्रतिपादक व्याकरण सूत्रो को व्यत्यय अनुशासन कहते हैं । जैसे 'गवा दोह' यहाँ गाय दोहन क्रिया का कर्म हे, फिर भी 'दोह' शब्द कृदन्त होने से कृत्प्रत्यय के योग मे कर्मभूत गाय तो षष्ठी विभक्ति प्राप्त हुई है । यदि सुप् विभक्ति मे लक्षणा मानी जा तब तो 'गा दोह' ऐसा प्रयोग कर के भी द्वितीयात 'गा' पद की 'गवा' मे लक्षणा हो सकती हे । इस परिस्थिति मे तादृश व्यत्ययानुशासन की आवश्यकता रहती नहीं है । मगर पाणिनि ने 'कर्तृ-कर्मणो कृति' [पा व्या २/३/६५] यह व्यत्ययानुशासन बनाया है । इसे यह फलित होता है कि सुप् विभक्ति की अन्य सुप् विभक्ति मे लक्षणा हो सकती नही हैं ।

● अन्य विभक्ति के अर्थ मे अन्य विभक्ति की लक्षणा अमान्य-अवान्तरपूर्वपक्ष ●

अवान्तरपूर्वपक्ष :- अथ० वि० इति । व्यत्ययानुशासन एव विभक्ति के अर्थ मे दूसरी विभक्ति की लक्षणा का निषेध करता है । जैसे अधिकरण अर्थ मे सप्तमी का ही प्रयोग हो सकता हे । प्रथमा द्वितीयादि विभक्ति का प्रयोग कर के प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्ति की लक्षणा अधिकरण अर्थ मे नही हो सकती । अतएव 'कटे आस्ते' के स्थान मे 'कट आस्ते' 'कट आस्ते' इत्यादि प्रयोग अशिष्ट माने जाते हे । मगर जो अर्थ प्रथमा, द्वितीया आदि मे प्राप्त होता नहीं ह, उस अर्थ मे कारक विभक्ति की लक्षणा हो सकती हे । इसलिए तो 'घट जानाति' इत्यादि स्थल मे द्वितीया विभक्ति की विषयित्व अर्थ मे लक्षणा हो सकती हे, क्योकि प्रथमा, द्वितीया आदि किसी भी विभक्ति का अर्थ विषयित्व नही हे । 'घट जानाति' मे क्रियाजन्यफलस्वरूप ज्ञान का आश्रय कर्ता आत्मा है, घट नही । अत क्रियाजन्यफलाश्रयत्वरूप कर्मत्व घट मे बाधित होता है । अत ज्ञानात्मक फल स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतारूप सम्बन्ध से घट मे रह जाता है । अत घट मे कर्मत्व अबाधित बना रहता है । व्याकरण मे कृत् प्रत्यय के योग मे विभक्ति का अनुशासन किया है, जिससे फलित होता है कि कृदन्त के योग मे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग अशिष्ट है । अत 'गवा दोह' प्रयोग शिष्ट हे एव 'गा दोह' यह प्रयोग अशिष्ट है । साथ ही निष्ठान्त पद के योग मे षष्ठी का निषेध भी किया गया हे । इससे यह सूचित होता हे कि निष्ठा के प्रयोग मे षष्ठी विभक्ति अयोग्य हे । अत एव

द्वितीयाया विषयित्वे लक्षणा नाऽनुपपन्ना । कृद्योगे षष्ठ्यनुशासनञ्च द्वितीयाऽसाधुत्वज्ञापकम् । निष्ठादियोगेन निषेधश्च तत्साधुत्वज्ञापकम् । कृत्ययोगे विकल्पविधानञ्च निष्ठाया शेषषष्ठ्यसाधुत्वज्ञापकमिति चेत् ? न तथापि भेद एव षष्ठ्यर्थ इति नियमात्.

★ जयलता ★

क्रियाजन्यफलशालित्वादिरूप द्वितीयार्थरूप कर्मत्व 'घट जानाति' इत्यादिस्थले आत्मनि वर्तते, आत्मन एव ज्ञानरूपफलाश्रयत्वात्, न तु घटे । अतो घटपदोत्तर द्वितीया न स्यात् घटपदार्थे क्रियाजन्यफलाश्रयत्वाभावात् । द्वितीया न घटपदोत्तर तथैव भवेत् यदि द्वितीयाया विषयित्वार्थे लक्षणोपेयते । ज्ञानलक्षणस्य फलस्य स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयतासम्बन्धेन घटत्वावच्छेदेनसंगतत्वात् । विषयित्वार्थे न कापि विभक्ति व्याकरणेनानुशासिता । अतस्तत्र द्वितीयाया लक्षणा भवितुमर्हति । एतत्सूत्रनाशंसा व्यत्ययानुशासन पाणिनिसूत्रे कृतम् ।

व्यत्ययानुशासनस्य विभक्त्यन्तरार्थे विभक्त्यन्तरस्य लक्षणानिरोधकत्वात् 'कर्तृ कर्मणो कृति' [पा.व्या २/३/६५] इति षष्ठ्यनुशासनेन कृद्योगे द्वितीयाया असाधुत्व व्यज्यत इत्याह - कृद्योगे षष्ठ्यनुशासनञ्च द्वितीयाऽसाधुत्वज्ञापकम् = कर्मत्वार्थत्वेन द्वितीयाया असाधुत्वबोधकम् । अत एव 'ग्राम गमनमि'ति न प्रयोग । निष्ठादियोगेनेति । आदिशब्देन लकारादीना ग्रहणम् । निष्ठादियोगे षष्ठीनिषेधः द्वितीयायाः साधुत्वज्ञापकम् । अय भाव पाणिनिव्याकरणे 'क्त-क्तवतू निष्ठा' [पा.व्या १/१/२६] इति सूत्रेण क्तादिप्रत्ययो निष्ठासंज्ञा विहिता । षष्ठ्यर्थकर्मत्वे च तत्र 'न लोकाव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम्' [पा.व्या २/३/६९] इति सूत्रेण निष्ठायोगे षष्ठी निषिद्धा । तेन द्वितीयैव साधीयसी न षष्ठी । अत एव 'मैत्रस्य कृत कट', ग्रामस्य गतवान्' इत्यादीनामसाधुत्वम् । 'मैत्रेण कृत कट, ग्राम गतवान्' इत्यादिप्रयोगाणामेव तत्र साधुत्वम् । यदि च विभक्त्यन्तरार्थे विभक्त्यन्तरस्य लक्षणा स्यात् तदा प्रकृत व्यत्ययानुशासन निरर्थक स्यात् । कृत्ययोगे 'कृत्याना कर्तरि वा' [पा.व्या २/३/७१] इति सूत्रेण विकल्पविधानञ्च निष्ठाया = क्तादिप्रत्ययशालिपदस्य, शेषषष्ठ्यसाधुत्वज्ञापकम् - शेषार्थे षष्ठ्या असाधुत्वबोधकम् । अयमभिप्राय. 'कृत्याना कर्तरि वा' इति सूत्रस्य कृत्यस्य कर्तरि वा षष्ठीत्यर्थः । तत्र तथा तव वा कृत्य कट इति प्रयोग स्यात् । कृत्यप्रत्यययोगे पक्षे तृतीया, 'शेषे षष्ठी' [पा.व्या २/३/५०] इति सूत्रेण च षष्ठी प्राप्ता तथापि 'कृत्याना कर्तरि वा' [पा.व्या २/३/७१] इति सूत्रकरणेन शेषार्थे सम्बन्धसामान्ये निष्ठाया षष्ठी निषिद्धा, अन्यथा 'कृत्याना कर्तरि वा' इत्येतत्सूत्रकरणं निरर्थक स्यात् । तेन निष्ठाया कर्मत्वाद्यर्थे मा भूत् षष्ठी शेषार्थे तु स्यादिति प्रत्युक्तम् ।

● रमणीया ●

'चैत्रेण घट कृत' 'ग्राम गतवान्' इत्यादि प्रयोग प्रामाणिक होते है । 'चैत्रस्य कृतो घट' 'ग्रामस्य गतवान्' इत्यादि प्रयोग नहीं हो सकते है, क्योंकि 'न लोकाव्यय-निष्ठा खलर्थ तृनाम्' [पा.व्या २/३/६९] इस व्यत्यय अनुशासन से निष्ठा के योग मे षष्ठी का निषेध किया गया है । कृत मे 'क्त' प्रत्यय और 'गतवान्' मे 'क्तवतु' प्रत्यय की पाणिनि व्याकरण मे निष्ठा संज्ञा है । मगर कृत्य प्रत्यय के सन्निधान मे षष्ठी विभक्ति का 'कृत्याना कर्तरि वा' [पा.व्या २/३/७२] इस सूत्र से वैकल्पिक विधान किया है । अत 'चैत्रेण चैत्रस्य वा कृत्य कट' ऐसा प्रयोग होता है । इस सूत्र से फलित होता है कि निष्ठा के योग मे शेष अर्थ मे भी षष्ठी विभक्ति निषिद्ध हो जाती है । पाणिनि व्याकरण मे 'शेषे षष्ठी' [पा.व्या २/३/५०] इस सूत्र से सबंध सामान्य अर्थ में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है । अत यह शका हो सकती है कि → 'निष्ठा के योग मे कर्तृत्व-कर्मत्व अर्थ मे भले षष्ठी विभक्ति न हो मगर सम्बन्ध सामान्यस्वरूप अर्थ मे तो षष्ठी विभक्ति हो सकती है' ← मगर इस शका का निराकरण 'कृत्याना कर्तरि वा' इस सूत्र से हो जाता है, क्योंकि कृत्य प्रत्यय कर्म अर्थ मे विहित होने से कर्तृवाचक पद से पाक्षिक तृतीया विभक्ति प्राप्त होती ह एव 'शेषे षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति भी प्राप्त होती है । फिर भी 'कृत्याना कर्तरि वा' ऐसा जो व्यत्यय अनुशासन किया है, इससे फलित होता है कि कृत्यप्रत्ययान्त पद के योग मे तृतीया और षष्ठी विभक्ति कर्तृत्व अर्थ मे ही होती ह, शेष अर्थ (= सम्बन्ध सामान्य अर्थ) मे होती नहीं है । अत निष्ठा प्रत्ययान्त पद के उत्तर षष्ठी विभक्ति शेषार्थ मे प्राप्त हो सकती नहीं है । यह व्यत्यय अनुशासन स्वतत्ररूप से व्याकरण मे किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि एक विभक्ति के अर्थ मे अन्य विभक्ति की लक्षणा हो नहीं सकती, अन्यथा उपर्युक्त व्यत्यय अनुशासन के प्रणयन की आवश्यकता ही नहीं रहती । अत 'राहो शिर' इस स्थल मे षष्ठी विभक्ति की अभेद अर्थ मे लक्षणा हो सकती है, क्योंकि अभेद तो किसी विभक्ति का अर्थ नहीं है । अत 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' इस स्थल मे भी षष्ठी विभक्ति की अभेद अर्थ मे लक्षणा माननी चाहिए, जिससे आनद और ब्रह्म मे अभेद की सिद्धि हो सके । मगर श्रुति = वेद मे लक्षणा का आप स्वीकार करते नहीं है । अत ब्रह्म और आनन्द मे अभेद की सिद्धि हो नहीं सकती, क्योंकि षष्ठी विभक्ति का अर्थ तो भेद ही है । अत 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' इस

तत्र सबन्धत्वप्रकारकबोधेनाऽप्युपपत्तेरत आहुः आत्मनीति-

★ जयलता ★

अय फलितार्थः कृत्याना कर्मप्रत्य्यत्वेन कर्तृवाचकपदोत्तर पक्षे तृतीया शेपसूत्रेण च पष्ठी प्राप्नुतः । पर 'कृत्याना कर्तरि वा' इति सूत्रात् साम्प्रत शेपार्थे पष्ठी न भवति किन्तु कर्तृत्वार्थे एव पष्ठी भवति । निष्ठाया च कर्मणि द्वितीयैव कर्तव्या न तु कर्मत्वार्थे शेपार्थे वा पष्ठी अन्यथा न 'कृत्याना कर्तरि वा' इति सूत्रप्रणयन स्यात् यद्वा 'निष्ठाकृत्याना कर्तृकर्मणोर्वा' इत्येव सूत्रप्रणयन स्यात् ततश्च व्यत्ययानुशासन विभक्त्यन्तरार्थे विभक्त्यन्तरलक्षणाया एव निपेधकम् । एव च 'राहोः शिरः' इत्यत्र पष्ठ्याः अभेदे लक्षणोपगमे न काचिद् वाधा, कस्याश्चिदपि विभक्तेरभेदार्थत्वविरहात् । न च 'नीलो घट' इत्यादौ प्रथमाया अभेदार्थकत्वात् न पष्ठ्या अभेदे लक्षणा युक्तेति शङ्कनीयम् तत्र अभेदस्य ससर्गमर्यादया एव भानात्, अभेदे प्रथमाविभक्तिशक्तिकल्पने गौरवात् । ततश्च 'आनन्द ब्रह्मणो रूपम्' इत्यत्राऽपि पष्ठ्या अभेदे लक्षणाऽङ्गीकर्तव्या । न च श्रुतौ सा युक्तेति भवतामभिप्रायः । ततश्चानन्दब्रह्मणो' भेद एव स्वीकर्तव्यः तत्रभवद्भिः भवद्भि' । ततो न ब्रह्माद्वैतकल्पना युक्तिमतीति अथाशय ।

वेदान्तिन तत्प्रत्याचक्षते - नेति । तथापीति । व्यत्ययानुशासनस्य विभक्त्यन्तरार्थे विभक्त्यन्तरस्य लक्षणानिपेधकत्वेऽपि । भेद एव पष्ठीत्यनियमात् भेदार्थिकैव पष्ठीति नियमविरहात् । अत्रैव हेतुमाहुः 'तत्र' = 'राहोः शिर' इत्यत्र, सम्वन्धत्वप्रकारकवोधेन = सम्वन्धत्वरूपेण सम्वन्धसामान्यान्तर्गतत्वात् अभेदसम्वन्धस्य भानेन अपि उपपत्ते = सङ्गतेः । अय भावः 'राहोः शिर' इत्यत्र प्रथम 'राहुसम्वन्धि शिर' इत्येव वोधो जायते । विशेपविमर्शदशाया भेदसम्वन्धस्य वाधितत्वात् । अभेदस्याऽपि सम्वन्धत्वाऽविशेपात् 'राहुभिन्न शिरः' इति वोधो जायते । न तु पष्ठ्या भेदार्थकत्व कल्पयित्वा अभेदे लक्षणा कर्तुं युज्यते, गौरवात् । क्वचिल्लक्षणा युज्यते किन्तु प्रकृते सा न युक्ता, सम्वन्धत्वप्रकारकाभेदससर्गविशेप्यबोधेनाऽऽपि प्रकृतोपपत्तेः । तदुक्त गदाधरेणापि व्युत्पत्तिवादे पष्ठीप्रकरणे 'चैत्रस्य द्रव्यम्' 'घटस्य कारणम्' 'चैत्रस्य हस्तः' इत्यादौ स्वत्व-निरूपितत्वावयवत्वादीना सम्वन्धत्वेनैव पष्ठ्यर्थता, न तु विशिष्य, शक्त्यानन्त्यप्रसङ्गात् । सयोगादिसम्वन्ध-सत्त्वेऽपि 'चैत्रस्य नेद वासः' इत्यादौ स्वत्वादिसम्वन्धविशेपाभाववोधतात्पर्येण यत्र नञ्प्रयुज्यते तत्र विशेपरूपेण पष्ठ्या लक्षणैव । 'सुविभक्तौ न लक्षणा' इतिप्रवादस्य 'अनुशासनाऽसत्त्वे एकविभक्त्यर्थेऽपरविभक्तेर्न लक्षणा' इत्येतत्परत्वात् । अत एव च 'कृद्योगापि हि पष्ठी सम्वन्धत्वेनैव वोधयति' इति मिथ्या । इत्यमेव च सम्वन्धत्वेन कर्मत्वादिविवक्षया 'मातुः स्मृतम्' इत्यादौ 'अधीगर्थ' इत्यादिपष्ठ्यनुशासनस्य नियमपरतया सार्थक्योपपादन वृत्तिकृतामुपपद्यते'' [व्यु वा पृ ५११] इत्यादि ।

प्रकृते तु 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' इत्यत्र न पष्ठ्या अभेदे लक्षणा सम्वन्धत्वेनैवाभेदवोधेनाऽप्युपपत्तेः । अतः आनन्दब्रह्मणोरभेदसिद्धिः निष्प्रत्यूहा । ब्रह्मणो नित्यत्वेन तदभिन्नसुखस्यापि नित्यत्वमिति वेदान्तिना गूढार्थः । अत आहु श्रीहेमचन्द्रसूरिश्वरा इति शेषः । आत्मनीति ।

● रमणीया ●

श्रुति के वल से ब्रह्म ओर आनन्द मे भेद सिद्ध होता है । अत अपने ब्रह्माद्वेत की सिद्धि के उद्देश से ब्रह्म और आनन्द मे अभेद की सिद्धि का जो प्रयास किया है, वह नामुनासिव है ।

● पष्ठी विभक्ति सम्वन्धत्वप्रकारक वोध की जनक- वेदान्ती ●

वेदान्तीः न, तथापि० इति । जनाव ' आप पष्ठी विभक्ति का अर्थ भेद है - ऐसा मानते हे और उसी मान्यता के अनुसार चल कर आपने दोपप्रदान किया है । मगर पष्ठी विभक्ति का अर्थ भेद ही है - यह कोई राजाज्ञा नही है, क्योकि 'राहो शिर' इत्यादि स्थल मे पष्ठी विभक्ति से सम्वन्धत्व रूप से राहु और शिर के वीच अभेद सवध का भान मान कर भी उस प्रयोग की उपपत्ति की जा सकती है । तात्पर्य यह है कि पष्ठी विभक्ति के द्वारा सम्वन्धत्व रूप से सम्वन्ध का भान होता है । अभेद सवध भी सवधरूप ही है और राहु से शिर भिन्न न होने से उन दोनो के वीच भेदसवध तो वाधित है । अत अभेद सवध का ही सवधत्वरूप से उस स्थल मे भान माना जाता है । इसी तरह 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' इस स्थल मे ब्रह्मपदोत्तर पष्ठी विभक्ति से सम्वन्धत्व रूप से अभेद सम्वन्ध का भान माना जाता है, क्योकि 'नित्य विज्ञान आनद ब्रह्म' इस श्रुति से ब्रह्म और आनन्द मे अभेद सिद्ध है, भेद सवध मानने मे गौरव भी है । अत 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' यहाँ पष्ठी विभक्ति से सम्वन्धत्व रूप से ही अभेद सवध का भान हो सकता है । अतएव पष्ठी विभक्ति की भेद अर्थ मे शक्ति की कल्पना करनी और वाद मे लक्षणा करनी - इत्यादि क्लिष्ट कल्पना 'राहो शिर' इत्यादि स्थल मे अनावश्यक हे । अतएव 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' यहाँ श्रुति मे भी पष्ठी की अभेद मे लक्षणा करने की आवश्यकता नही है । अत ब्रह्म ओर आनन्द (सुख) मे अभेद सिद्ध होता है । ब्रह्म नित्य

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदुःखयोः ।
एकान्तानित्यरूपेऽपि न भोगः सुख-दुःखयोः ॥२॥

आत्मन्येकान्तनित्ये 'अभ्युपगम्यमाने' इति शेषः । सुखदुःखयोर्भोगः साक्षात्कारो न स्यात् । यद्यपि भोगपदं सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारे पौनरुक्त्यं तथापि विशिष्टवाचकानामित्यादिन्यायात् भोगपदमत्र साक्षात्कारमात्रपरं द्रष्टव्यम् ।

★ जयलता ★

इदं तु ध्येयम् - शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिरः इत्यादिव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण प्रवर्तन्ते । केवलं 'शिलापुत्रकस्य राहो'रित्युच्यमाने हि किमिति सन्देहः ? अतः तद्व्यवच्छित्तये 'शरीरं शिरः' इत्यभिधानमन्यव्यवच्छेदकमित्युपपद्यते । केवलं तस्मिन् सति 'कस्य ?' इति संशयः स्यात् । तद्व्यपोहाय 'शिलापुत्रकस्य राहो'रित्यभिधानम् । सर्वथाऽभेदे च तत्र स्यात् अन्यथा 'घटो घट' इत्यादिरपि प्रसज्येतेति कथञ्चिद्भेदाभेद एव श्रेयान् । एवञ्च 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं' इत्यत्रापि आनन्दब्रह्मणोः कथञ्चिद्भेदाभेद एव श्रेयान् अन्यथा पौनरुक्त्य-सहाप्रयोगादिप्रसङ्गात् ।

किञ्चानन्द-ब्रह्मणोः सर्वथाऽभेदोपगमे ब्रह्मणो नित्यत्वेन तदभिन्नसुखस्यापि नित्यत्वात् विजातीयसुखत्वस्य काम्यतावच्छेदकत्वं न स्यात्, सिद्धार्थविषयिण्या इच्छाया असम्भवात् । ततश्च यमादौ प्रवृत्तिरप्यनुपपन्ना स्यात् । अतो यमादिप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तेरपि सुखाऽभिन्नस्य ब्रह्मणो नित्यानित्यत्वमभ्युपगन्तव्यमित्यवसेयं न तु वेदान्तिमते सर्वथा पतितव्यमिति ध्येयम् ।

यद्यपीति । अन्वयश्चास्य तथापीत्यनेन । पौनरुक्त्यम् = अनुवादान्यत्वे सति पुनर्वचनम् । विवक्षितासम्बन्धेन सुख-दुःखान्यतरविशिष्टसाक्षात्कारबोधकस्य भोगपदस्योपादानेऽप्यनुवादं विना तद्घटकसुख-दुःखवाचकपदग्रहणात्पुनरुक्तमिति भावः । तथापीति । अभ्युपगमपूर्वं प्रसक्तदोषपरिगमकृते विशेषद्योतनार्थोऽयं शब्दः । विशेषमेव विद्योतयति - विशिष्टवाचकानामित्यादिन्यायादिति । स चाऽयं न्यायः विशिष्टवाचकानां पदानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वमिति । साक्षात्कारमात्रपरं = केवलं साक्षात्कारबोधनेच्छयोच्चरितम् । अयं भावः सुख-दुःखान्यतरविशिष्टसाक्षात्कारवाचकस्य भोगपदस्य केवलं साक्षात्कारात्मकविशेष्यार्थे लक्षणेति न पुनरुक्तं, अबोधितविशेषणबोधकत्वात् सुख-दुःखपदयोः ।

● रमणीया ●

होने से आनन्द भी नित्य सिद्ध होता है । क्योंकि वे परस्पर भिन्न हैं । अतः आत्मा को एकान्त नित्य मानना ही सगत है, न कि नित्यानित्य । अतः घट-पटादि बाह्य वस्तु को नित्यानित्य मानने पर भी प्रमाता आत्मा में तो एकान्ततः नित्यत्व मानना ही युक्तिसंगत है ।

एकान्तनित्यआत्मवादी ब्रह्माद्वैतमतानुयायी के उपर्युक्त वक्तव्य के प्रतिवाद के रूप में मूलकार श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की द्वितीय कारिका को प्रस्तुत करते हैं, जिसका अर्थ निम्नोक्त है ।

● द्वितीय कारिका का सामान्य अर्थ ●

आत्मा को एकान्त नित्य मानने पर सुख-दुःख का भोग नहीं होगा और एकान्त अनित्य मानने पर भी सुख-दुःख का भोग नहीं होगा । अतः आत्मा को न तो एकान्त नित्य माननी चाहिए और न तो एकान्ततः अनित्य माननी चाहिए किन्तु नित्यानित्य माननी चाहिए - यह द्वितीय श्लोक का तात्पर्य है ।

● भोगपद लाक्षणिक - व्याख्याकार ●

आत्म० इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी महोपाध्याय महाराजा द्वितीय कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - वास्तव में आत्मा एकान्त नित्य नहीं होने से मूलग्रन्थ में 'आत्मा एकान्ततः नित्य होने पर' ऐसा जो कहा है उसका अर्थ 'आत्मा को एकान्ततः नित्य मानने पर' ऐसा करना चाहिए । इसके लिए 'अभ्युपगम्यमाने' इस संस्कृत शब्द का अध्याहार करना होगा । तब आधार-आधारकभाव इस तरह होगा कि - आत्मा को एकान्ततः नित्य मानने पर सुख-दुःख का भोग नहीं होगा । अन्यथा सुख-दुःख विरुद्ध होने से क्रमशः भोग मानने पर स्वभावभेद होने से एकान्तनित्यत्व पक्ष का त्याग होगा-यह बात आगे[1] बताई जाएगी । यहाँ यह शंका हो कि → "भोगशब्द सुख या दुःख के साक्षात्कार में रूढ होने से भोगपद के ग्रहण से ही सुख-दुःख का ग्रहण हो जाता है । फिर भी सुख-दुःख शब्द का ग्रहण किया गया है । अतः पुनरुक्ति दोष प्रसक्त होता है" ← तो ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भोगपद की साक्षात्कार में ही लक्षणा मानी गई है । इस लक्षणा के स्वीकार का बीज है - 'विशिष्टवाचकानां' इत्यादि न्याय । न्याय का संपूर्ण आकार संस्कृत भाषा में ऐसा है कि- विशिष्टवाचकानां पदानां सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वम् । हिन्दी भाषा में हम इस न्याय को इस तरह कह सकते हैं कि - जब विशेषणार्थ के वाचक पद का सान्निध्य हो तब विशेषण से विशिष्ट पदार्थ के वाचक शब्द की विशेष्यात्मक अर्थ में लक्षणा होती है । प्रस्तुत में भोगशब्द सुख या दुःख में रूढ है ।

१ देखिये पृष्ठ - १७७

न च शक्यादनन्येऽर्थे कथ लक्षणा ? शक्यसम्बन्धाभावादिति वाच्यम्, तत्राऽप्यभेदसम्बन्धस्य जागरूकत्वात्

★ जयलता ★

वस्तुतस्तु आत्मन्येकान्तनित्येऽभ्युपगम्यमाने एकेनाऽऽत्मना सर्वदा सुखानुभवो दुःखानुभवो वा स्यात् न तु क्रमेण सुख-दुःखयोरनुभव इत्यस्यैवाऽऽपाद्यत्वात् सुख-दुःखयोरित्यस्योपादान कर्तव्यमेव, अन्यथाऽऽपादकस्यैवाऽभावः स्यात् । न ह्यात्मा एकान्तनित्यः स्यात्, भोगः न स्यादित्यापादान कर्तु शक्यते, एकान्तनित्येश्वरे सदा सुखभोक्तरि सुख-दुःखान्यतरसाक्षात्कारस्य पराभिमतत्वात् । न च तत्रापाद्यविरहेणापादकाभावः साधयितु शक्यः । अतः भोगपदोपादानेऽपि सुख-दुःखयोरिति ग्रहणमावश्यकम् । युगपत्तदनुभवस्याशक्यत्वात् क्रमेण तयोः साक्षात्कारस्यापाद्यत्वमित्यर्थतो लभ्यत इति तावद् वयमवगच्छामः । इदमेवाभिप्रेत्य मूलकारैः अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया 'नैकान्तवादे सुख-दुःखभोगौ [अन्य व्य द्वा २७] इत्युक्तम् । बहुश्रुताः तु प्रमाणमत्र ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । शक्यात् = प्रकृते विषयितया सुख-दुःखान्यतरविशिष्टसाक्षात्काररूपात्, अनन्ये = अभिन्ने, अर्थे = साक्षात्काररूपे कथ लक्षणा ? नैव लक्षणा भवितुमर्हतीत्यर्थः । हेतुमाह - शक्यसवन्धाभावादिति । पदनिष्ठशक्तिविषयसवन्धविरहात् । अय भावः लक्षणा नाम शक्यसवन्धः । सवन्धश्च विभिन्नयोरेव सभवति, तस्य द्विष्ठत्वात् । शक्यलक्ष्ययोरैक्ये सति लक्ष्यार्थे शक्यार्थससर्गस्य विरहान्न लक्षणाप्रवृत्तिः । प्रकृते विशिष्टसाक्षात्कारस्य भोगपदशक्यार्थस्य लक्ष्यीभूतसाक्षात्काराभिन्नत्वात् शक्यसवन्धस्य लक्ष्यार्थे विरहान्नैव भोगपदस्य साक्षात्कारे लक्षणा सभवतीति शङ्काशयः । तत्प्रत्याचष्टे - तत्रापीति । शक्यादभिन्नेऽर्थेऽपीति । अभेदसवन्धस्य = तादात्म्यसवन्धस्य, जागरूकत्वात् = विद्यमानत्वात् । अय समाधानाशयः, विभिन्नाश्रयाश्रितो द्विष्ठो वा सवन्ध इति नियमो नास्ति । ससृष्टबुद्धिव्यवहारहेतोरेव सवन्धलक्षणत्वात् । स चेकवृत्तिरनेकवृत्तिर्वेति न नियम, अन्यथा तादात्म्यस्याऽससर्गत्वप्रसङ्गात् । एतेन सवन्धिद्वयभिन्नत्वे सति तदाश्रितस्त्वेकः सवन्ध इति प्रत्युक्तम् स्वरूपसवन्धेऽव्याप्तेश्च । भेदाभेदयोः ससर्गत्वाऽविशेषात् शक्यलक्ष्यार्थयोर्भेदसवन्ध इवाऽभेदससर्गे सत्यपि लक्षणाया न्याय्यत्वात् । शक्यलक्ष्ययोः विशिष्टाऽविशिष्टसाक्षात्कारयोरभेदे सत्यपि लक्ष्ये शक्याभेदसवन्धस्य सद्भावाद् 'विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायेन पुनरुक्तिनिरासकृते सा सङ्गतिमङ्गति ।

वस्तुतस्तु विशिष्ट शुद्धान्नातिरिच्यते इति न्याये मानाभाव' । स्वमते तु पूर्वप्रदर्शितदिशा विशिष्टाऽविशिष्टयोः कथञ्चिद्भेद एव । तथापि परेण विशिष्टाऽविशिष्टयोर्भेदानुपगमात्तन्मतानुसारेणाऽभ्युपगम्येद प्रत्यपादीति न दोष इति ध्येयम् ।

● रमणीया ●

साक्षात्कारस्वरूप विशेष्य मे विषयितासवध से सुख या दु ख के, जो साक्षात्कार के विशेषण हे, वाचक शब्द का प्रयोग मूलकार आचार्य श्रीमद्जी ने किया हे । विशेषणवाचक पद का सन्निधान होने से विषयितासवध से सुख-दु खान्यतर से विशिष्ट साक्षात्कार के वाचक भोगशब्द की साक्षात्कार मे, जो विशेष्य पदार्थात्मक है, लक्षणा होती हे । अत पुनरुक्ति दोष का अवकाश नही हे । लक्षणा के बल पर भोगपद से साक्षात्कार का ही बोध माना गया है, जो सुख-दु खरूप विशेषण से विनिर्मुक्त हैं । अत सुख-दु खपद अज्ञात के ज्ञापक है । फिर पुनरुक्ति दोष को स्थान कहाँ ? साँच को आँच कहाँ ? झूठ को पाँव कहाँ ?

● शक्य और लक्ष्य मे अभेद भी मान्य ●

न च श इति । यहाँ इस शका का उद्भावन करना कि ⟶ "भोगपद का शक्यार्थ है विषयतासवध से सुखदु खान्यतरविशिष्ट साक्षात्कार और भोगपद की लक्षणा आप साक्षात्कार मे करते हे । मगर यह हो नही सकता, क्योकि सुख या दु ख से विशिष्ट साक्षात्कार से साक्षात्कार भिन्न नही हे । लक्ष्यार्थ और शक्यार्थ मे तदात्म्य होता नही हैं । यह तो 'गङ्गाया घोष' इत्यादि प्रसिद्ध स्थान मे सुविदित हे । शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ एक होने पर लक्षणा न होने का कारण यह है कि - 'शक्यसवधो लक्षणा' इस महर्षि वचनानुसार शक्य का सवध जिसमे हो उसमे लक्षणा होती है । जैसे गगा का सयोग सवध होने से तीर मे गगापद की लक्षणा होती हैं । मगर शक्य और लक्ष्य एक होने पर तो लक्ष्य मे शक्य का सवध हो नही सकता, क्योकि सवध द्विष्ठ होता हे, एकस्थ नही । अत विशिष्ट साक्षात्कार के वाचक भोगपद की साक्षात्कार सामान्य मे लक्षणा हो नही सकती" ⟵ अपनी अज्ञानता का सूचक हे । इसका कारण यह है कि - शक्य और लक्ष्य एक होने पर भी उनमे अभेदसवध तो रहता ही हे । सयोगादिसवध की भाँति अभेद भी सवधविशेष ही हैं । अत सुखदु खान्यतरविशिष्ट साक्षात्कार का अभेदसवध होने से उपर्युक्त न्याय के सहकार से साक्षात्कारात्मक विशेष्य मे भोगपद की लक्षणा मानी जा सकती हे । इसलिए तो 'प्रजयति' इत्यादि स्थल मे 'जि' धातु की प्रकृष्ट जय मे लक्षणा होती हे । आशय यह हं कि- 'प्रजयति' प्रयोग मे प्र उपसर्ग हैं आर 'जि' धातु है । 'जि' धातु का अर्थ हे जय = जयत्वावच्छिन्न । मगर प्र उपसर्ग का समभिव्याहार होने पर 'जि'धातु की प्रकृष्ट जय मे लक्षणा होती है । 'जि' धातु के शव्यार्थ 'जय' से प्रकृष्ट जय, जो 'जि' धातु का लक्ष्यार्थ हे, अतिरिक्त नही है - भिन्न नही हे । फिर भी प्र उपसर्ग के सन्निधान मे 'जि' धातु की शक्यार्थ से अनतिरिक्त लक्ष्यार्थ प्रकृष्ट जय मे लक्षणा होती हे । यह तभी हो सकती यदि शक्य के तादात्म्यसवध का जिसमे योग हो उसे भी उस पद का लक्ष्यार्थ माना जाय । अत भोगशब्द की शक्यार्थ

अत एव जिधातोः 'प्रजयती'त्यादौ जिधातोः प्रकृष्टजये लक्षणा । ननु सवन्धितावच्छेदकभेदं विनाऽभेदग्रहो दुःशकः 'घटो घटः' 'नीलघटो घटः' इत्यादौ तदग्रहात् । अत एव 'प्रजयती'त्यत्र जिधातो शक्त्योपस्थिते जयत्वावच्छिन्ने लक्षणयोपस्थितेन प्रकृष्टत्वावच्छिन्नेनैव सममभेदबोधः, युगपद्वृत्तिद्वयाऽऽपातस्य मणिकृतामिष्टत्वात् ।

★ जयलता ★

अत एवेति । शक्यलक्ष्यार्थाऽभेदसंसर्गस्याऽपि लक्षणाऽनुकूलत्वादेवेति । प्रजयतीति । अय भावः जिधातोः शक्यार्थो जयत्वावच्छिन्नः तथाऽप्युपसर्गाणां द्योतकत्वात् 'प्रजयती'त्यत्र परेण प्रपदोत्तरवर्तिनो जिधातोः प्रकृष्टजये लक्षणाऽङ्गीक्रियते । परमते च प्रकृष्ट जयस्य लक्ष्यार्थस्य शक्यार्थजयाऽभिन्नत्वेऽपि तत्र तल्लक्षणोपगमात् तदन्यथाऽनुपपत्या शक्यलक्ष्याऽभेदस्य न लक्षणाप्रतिकूलत्वमिति सिध्यति ।

नन्विति । इति चेत्पर्यन्त पूर्वपक्षः । सवन्धितावच्छेदकभेद = विशेषणविशेष्यतावच्छेदकधर्मभेद, विना अभेदग्रह = विशेषणविशेष्याऽभेदान्वयबोधः दुःशकः । हेतुमाह - 'घटो घट इति । तदग्रहात् = अभेदान्वयबोधविरहात् । अय भावः यदि अभेदान्वयबोधे समानविभक्तिकत्वमेव प्रयोजकं भवेत् तदा यथा 'नीलो घट' इतिप्रयोगः तदभेदान्वयबोधश्च भवतः तथा 'घटो घट' इत्यपि प्रयोगोऽभेदान्वयबोधश्च स्याताम्, तत्र घटस्य स्वात्मना भेदाऽभावात् योग्यताया सद्भावात् । न च तथा दृष्टमिष्टं वा । अतः उद्देश्यतावच्छेदक-विधेयतावच्छेदकधर्मभेदोऽभेदान्वयबोधनियामक इति सिध्यति । अत एव तत्प्रयोजकसमानविभक्तिकत्वादेः सत्त्वात्कथं न ततः तादृशबोध इति प्रत्युक्तम् घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताकाऽभेदसंसर्गक-घटत्वावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दबोधस्य क्वचिदप्यनुदयेन तदापत्तेरयोगात्, सर्वथाऽप्रसिद्धस्य आपादकविरहात् । यादृश हि क्वचित् प्रसिद्ध तादृशस्यैवापत्तिः सभवति, क्लृप्तसामग्रीबलात् । तदुक्त व्युत्पत्तिवादे गदाधरेण "तद्धर्मावच्छिन्नाऽभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकतासबंधेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्न प्रति तद्धर्मस्याऽपि हेतुताया स्वीकर्तव्यतया न 'घटो घट' इत्यादिस्थले शाब्दबोधापत्तिः" [व्यु वा पृ ५६] इति । अत एव 'प्रजयती'त्यत्र न जिधातोः प्रकृष्टजये लक्षणा सभवति । एतेन भोगपदस्य सुखदुःखसाक्षात्कारात् शक्यादनन्ये साक्षात्कारे लक्षणेति परास्तम् धर्मितावच्छेदकभेदस्याऽभेदान्वयबोधनियामकस्याऽसत्त्वात् ।

अत एव = सवन्धितावच्छेदकधर्मभेदस्याऽभेदग्रहनियामकत्वादेव । जिधातो = प्रपदसमभिव्याहृतजिधातोः । प्रकृष्टत्वावच्छिन्नेनैवेति । एवकारेण प्रकृष्टत्वविशिष्टजयत्वावच्छिन्नस्य व्यवच्छेदः कृत. । अभेदबोध =अभेदसंसर्गको बोधः । अय भावः जिधातोः प्रकृष्टजये लक्षणोपगमे शक्यसवन्धभान

● रमणीया ●

से अभिन्न लक्ष्यार्थ साक्षात्कार मे लक्षणा को मान्यता दी जा सकती है ।

● चितामणिकार को समकालीन वृत्तिद्वयप्रवृत्ति समत - पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्षः- ननु स इति । आपने जो कहा कि⟶'विशिष्ट साक्षात्कार से शुद्ध साक्षात्कार अभिन्न होने पर भी भोगपद की शुद्ध साक्षात्काररूप विशेष्य मे लक्षणा हो सकती है⟵वह ठीक नहीं है, क्योकि विशिष्ट साक्षात्कार और शुद्ध साक्षात्कार मे सवधितावच्छेदक धर्म भिन्न भिन्न न होने से अभेद सबध से उन दोनो मे अन्वय ही हो सकता नहीं है । अभेदान्वयबोध सबधितावच्छेदकधर्म भिन्न होने पर ही हो सकता है । अत यहाँ सबधितावच्छेदक धर्म साक्षात्कारत्वरूप एक ही रूप से उन दोनो मे अभेदान्वयबोध न होने की वजह शक्य के अभेदसबध का लक्ष्य मे ज्ञान न होने से शक्यसबध = लक्षणा की प्रवृत्ति हो नहीं सकती । यहाँ यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि ⟶ 'धर्मितावच्छेदक = उद्देश्यतावच्छेदक धर्म और विधेयतावच्छेदकधर्म भिन्न न होने पर अभेदान्वयबोध न होने मे क्या प्रमाण है ?''⟵ क्योकि 'घटो घट ' 'नीलघटो घट ' इत्यादि स्थल मे अभेदान्वयबोध होता नहीं है । आशय यह है कि 'घटो घट ' स्थल मे उद्देश्यतावच्छेदक भी घटत्व है और विधेयतावच्छेदक भी घटत्व है । विशेष्यतावच्छेदक धर्म विशेषणतावच्छेदक धर्म से अलग न होने की वजह तादृशाभेदान्वयबोध होता नहीं है । 'नीलो घट ' यहाँ अभेदान्वयबोध हो सकता है, क्योकि यहाँ प्रकारतावच्छेदक धर्म नीलत्व है, जो कि विशेष्यतावच्छेदकीभूत घटत्व धर्म से भिन्न है । अत धर्मितावच्छेदक धर्म मे भेद होने पर ही अभेदान्वयबोध हो सकता है - यह मानना जरूरी है । इसीलिए तो 'प्रजयति' यहाँ जिधातु के शक्यार्थ जयत्वावच्छिन्न = जयत्वविशिष्ट = जय का प्रकृष्टत्वावच्छिन्न = प्रकृष्टत्वविशिष्ट = प्रकृष्ट से ही, जो लक्षणा से उपस्थापित है, अभेदान्वयबोध होता है । अर्थात् 'प्रजयति' शब्दप्रयोग से श्रोता को 'प्रकृष्टत्वावच्छिन्नाभिन्न जयत्वावच्छिन्न = प्रकृष्टाऽभिन्नजय' ऐसा शाब्दबोध होता है, क्योकि यहाँ विशेषणतावच्छेदक है प्रकृष्टत्व जो कि विशेष्यतावच्छेदकीभूत जयत्व धर्म से विभिन्न है । अत आपने जो पूर्व मे बताया था कि⟶'प्र उपसर्ग के समभिव्याहार मे 'जि'धातु की प्रकृष्टजय मे लक्षणा होती है, जो शक्यार्थ जय से अभिन्न है' ⟵ वह भी ठीक नहीं है, क्योकि ऐसा मानने पर शक्यतावच्छेदक और लक्ष्यतावच्छेदक धर्म अभिन्न = एक हो जाते है । अत 'प्रजयति' शब्दस्थल मे 'जि'धातु के शक्यार्थ का ही प्रकृष्टत्वविशिष्ट से, जो कि 'जि'धातु का लक्ष्यार्थ है, अभेदान्वयबोध मानना उचित समझा जाता है । यहाँ यह शका कि ⟶ ''प्रजयति' स्थल मे 'जि' धातु के शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ मे अभेदान्वयबोध मानने पर एक ही काल मे शक्ति और लक्षणा नाम की दो वृत्ति को मानने की आपत्ति आयेगी, क्योकि शक्तिनामक शब्दवृत्ति से उपस्थित शक्यार्थ का लक्षणानामक

अस्तु वा तत्र प्रोत्तरजित्वादिना शक्तत्वात् प्रकृष्टजयस्य शक्त्यैव बोधः । नचैवमुपसर्गस्य द्योतकत्व न स्यादिति वाच्यम् औपसन्दानिकशक्तेरेव द्योतनत्वात् । न च जिपूर्वप्रत्वादिनाऽपि शक्तत्वे विनिगमनाविरह, धातुभिन्नार्थस्याऽ-

★ जयलता ★

लक्ष्ये आवश्यकम् । पर तत्र लक्ष्यतावच्छेदक-शक्यतावच्छेदकधर्मभेदविरहात् शक्यार्थस्य प्रकृष्टजयेन सममभेदबोधासभवात्र तादृशी लक्षणा भवितुमर्हति । किन्तु तच्छक्यार्थस्य जयस्य लक्ष्यार्थेन प्रकृष्टेनैव साकमभेदान्वयबोधः, धर्मितावच्छेदकयोर्जयत्व-प्रकृष्टत्वयोर्भिन्नत्वात् ।

ननु शक्यार्थस्य जयस्य लक्ष्यार्थेन प्रकृष्टेन सार्धमभेदान्वयबोधोपगमे समकालमेव शक्तिलक्षणोभयवृत्तिप्रवृत्तिप्रसङ्ग इत्याशङ्कायामाह- युगपद्वृत्तिद्वयाऽऽपातस्य मणिकृता = तत्त्वचिन्तामणिकाराणा, इष्टत्वात् = इच्छाविषयत्वात् । अय भावः अन्वेयाऽन्वयिनोः अन्वयापेक्षितयोः युगपद्भानसभवे एव तदन्वयसभवः । एकपदशक्यार्थ-लक्ष्यार्थाभेदान्वयबोधे च समकालमेव वृत्तिद्वयप्रवृत्तेरिष्टत्वात्, 'गगाया घोषमत्स्यौ' इत्यत्र युगपद् गङ्गापदलक्षणाशक्तिस्वरूपवृत्तिद्वयप्रवृत्तेरुपगम एव तथाविधबोधोपपत्तेः, घोषे लक्ष्यार्थवृत्तित्वस्य मत्स्ये च शक्यार्थवृत्तित्वस्यैकदैवान्वयबोधोपपत्तेः । भोगपद्वृत्तिद्वयोपगमेऽपि सवन्धितावच्छेदकभेदविरहेण नाभेदान्वयबोधः सभवतीति पोनरुक्त्य वज्रलेपायितम् ।

ननु युगपद्वृत्तिद्वयप्रवृत्तेः मणिकृतामिष्टत्वेऽपि तदन्येषामसम्मतत्वेन नाय युक्तः पन्था इत्याशङ्काया सत्या कल्पान्तरमाह - अस्तु वेति । तत्र = 'प्रजयती'त्यादो । प्रोत्तरजित्वादिना शक्यत्वादिति । जित्वादिनैव शक्तत्वोक्तो तु 'जयती'त्यादावपि प्रकृष्टजयस्य जिधातोः शक्त्यैव वोधप्रसङ्गः । अतः प्रोत्तरजित्वादिनेत्युक्तम् । प्राऽव्यवहितोत्तरजित्वादिरूपेणेत्यर्थः । शक्त्यैवेति । एवकारेण लक्षणाव्यवच्छेदः कृतः । अनेनैककालमेव शक्तिलक्षणाभयप्रवृत्तिप्रसङ्गः प्रतिविहित प्रकृष्टजयस्य प्रोत्तरजिधातुशक्तिविषयत्वादेव ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय । एव = प्रोत्तरजित्वादिना प्रकृष्टजयस्य शक्तिविषयत्वोपगमे । उपसर्गस्य = प्रादिलक्षणस्य द्योतकत्व = स्वसमभिव्याहृतपदतात्पर्यग्राहकत्व न स्यादिति । अय भावः प्रोत्तरजिधातोरेव शक्तत्वे जिधातोरिव प्रोपसर्गस्याऽपि शक्तत्वमेव स्यात् । न चैतदिष्टमिति वाच्यम्, प्रादीना वाचकत्वोपगमे शाब्दबोधसामग्र्या प्रादिजन्योपस्थितेः प्रवेशात् तस्याश्र विभिन्नविषयकप्रत्यक्ष प्रति समानविषयकानुमिति प्रति च प्रतिबन्धकत्वे योग्यताज्ञानेन सह विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहाच्च प्रतिवध्य-प्रतिवन्धकभावसहस्राऽऽधिक्यापत्त्या गोरव स्यादिति धातोरेव प्रकर्षादिविशिष्टधात्वर्थे लक्षणा युक्तेति शङ्काकर्तुराशयः । ननुवादी प्रोक्तशङ्कानिरासकृते हेतुमाह - ओपसन्दानिकशक्तेरेव द्योतनत्वादिति । एवकारेण स्वतन्त्रशक्तेर्व्यवच्छेदः कृत । तदुक्त नयोपदेशेऽपि 'द्योतकत्वाश्चाऽत्रौपसन्दानकी शक्तिर्लक्षणा वेति' [नयो गा ६/पृ १४] इति । अय समाधानाशयः उपसन्दान नाम समभिव्याहारः । अतः स्वेतरपदनियतसमभिव्याहारस्थलीयशक्तिरेवौपसन्दानिकशक्तिरित्युच्यते । सैव च द्योतनपदार्थः । जिधातो प्रादिपदसमभिव्याहार विनाऽपि जयार्थे शक्ति, तेन विनाऽपि ततो तद्बोधस्याऽनुभवसिद्धत्वात् ।

● रमणीया ●

वृत्त्यन्तर मे उपस्थित लक्ष्यार्थ मे अभेदान्वयबोध तभी माना जा सकता है, जब कि एक ही काल मे शक्ति और लक्षणा दोनो की प्रवृत्ति हो, न कि भिन्न भिन्न काल मे, क्योकि शब्द ओर ज्ञान-दोनो ही क्षणिक = तृतीयक्षणवृत्तिध्वसप्रतियोगी हे'' ← नही करनी चाहिए, क्योकि तत्त्वचितामणिकार गगेशजी को एक काल मे शक्ति-लक्षणा वृत्तिद्वय की प्रवृत्ति अभिमत है । तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ के शब्दखड के अभ्यासी के लिए यह सिद्ध करने की जरूरत नही हे कि - 'एक ही काल मे एक ही पद की शक्ति और लक्षणा नाम की वृत्ति की प्रवृत्ति ''गगाया घोषमत्स्या''स्थल मे कैसे होती हे?' विशेषजिज्ञासु पाठक महाशय से यह इत्तला दी जाती हे कि तत्त्वचितामणि के शब्दखड पर निगाह डाल कर अपनी विशेष जिज्ञासा को तृप्त करे ।

● प्रकृष्ट जय प्रोत्तर जिधातु का शक्यार्थ - कल्पान्तर ●

अस्तु वा० इति । अथवा यदि एक ही काल मे जिधातु के शक्यार्थ का प्रकृष्टत्वविशिष्ट लक्ष्यार्थ के साथ अभेदान्वय अमान्य किया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि - प्रपद के उत्तरवर्ती जिधातु का शक्यार्थ ही प्रकृष्ट जय है । अर्थात् प्रोत्तरवर्ती जित्वरूप से प्रकृष्ट जय मे शक्ति की विषयता होने से प्राऽव्यवहितोत्तरवर्ती जिधातुनिष्ठ शक्ति के द्वारा ही प्रकृष्टजय की उपस्थिति हो सकती है । 'प्रजयति' शब्द से उक्त रीति से केवल शक्ति के द्वारा ही प्रकृष्ट जय की उपस्थिति सम्भव होने से एक ही काल मे एक ही शब्द की शक्ति ओर लक्षणा की प्रवृत्ति मानने की आवश्यकता नही हे-ऐसा कहा जाय तो भी कोई दोष नही हे ।यहाँ यह शङ्का करना कि→''प्रोत्तरजित्वादिरूप से प्रकृष्ट जय मे शक्तिविषयता का अगीकार किया जाय तब तो प्रादि उपसर्ग मे भी वाचकत्व प्रसक्त होगा और द्योतकत्व की अनुपपत्ति होगी, क्योकि जिधातु की भाँति प्र उपसर्ग मे भी शक्ति समानरूप से प्राप्त ह । अत प्रोत्तरजित्व को प्रकृष्टजय का शक्ततावच्छेदक माना जा नही सकता''←ठीक नही है ।

● औपसदानिक शक्ति ही द्योतनपद का अर्थ ●

ओप० इति । इसका कारण यह है कि- द्योतनशब्द का अर्थ औपसदानिक शक्ति हे । उपसदानशब्द का अर्थ है समभिव्याहार । स्वेतरपदसमभिव्याहार स्थलीय शक्ति ही औपसदानिक शक्ति कही जाती है । प्रादि उपसर्ग मे यह औपसदानिक शक्ति होने की वजह वे द्योतक कहे जाते हे, वाचक नही । जो वाचक होता है उसमे ओपसदानिक शक्ति होती नही हे-अर्थात् अन्य पद का समभिव्याहार

ऽख्यातार्थभावनायामन्वयाऽव्युत्पत्तेर्विनिगमकत्वात् इति चेत् ? न, 'नीलघटो घटः' इत्यादौ शब्दादऽभेदावबोधेऽपि अन्यस्मात्

★ जयलता ★

अत एव ज्यादिधातुना जयादिवाचकत्वमेवेति प्रवादः । न चैव प्रादीना धातुसमभिव्याहारमृते प्रकर्षादिबोधकत्वमनुभवेनोपगतम् । धातुसमभिव्याहारस्थल एव ततः प्रकर्षाद्यर्थबोधदर्शनात् प्रादीना द्योतकत्वमेव न तु प्रकर्षादिवाचकत्वमिति सतानुमतः पन्थाः । 'धातुपदोपस्थानस्थले एव प्रादीना प्रकर्षादिसूचकत्व न तु स्वातन्त्र्येण'त्येव प्रादीना द्योतकत्वप्रवादान्तर्निहितार्थः । तदुक्त रूपमालायामपि अन्वीक्षणपदकृत्यबोधे 'प्रशब्दः शक्त्याचक्रेढ को न तु शक्तः' इत्यौपसन्धानिकी शक्तिरेव द्योतकत्वम् । उपसर्गस्य हि शक्त्यवच्छेदकत्व न तु शक्तत्वम्, गौरवात् । तथा च प्रोत्तरजित्वेन प्रकृष्टजये शक्तिः । एव हि स्कृष्टविशेष्यशक्त विशेषणविषयत्वमात्र कल्प्यते, अन्यथा शक्त्यन्तरमेव' [अ.त. अध्या ५ । आ. २ -सू० ७ पृ. ०६] इति । अत एव प्रोत्तरजित्वादिना शक्तत्वोपगमे तेषा द्योतकत्वमव्याहतमेव, औपसन्धानिकशक्तिमत्त्वस्यैव द्योतकत्वपदार्थत्वात् । प्रत्यादिनव शक्तत्वोपगमे तेषा द्योतकत्वव्याहतिः स्यात् । न च तथाऽभ्युपगम्यते सर्वैरपि भाष्यैरारल्भवाना भवता कृतमिति तन्त्रार्थः ।

अथ प्रोत्तरजित्वादिना शक्तत्वोपगमे विनिगमनाविरहात् जिपूर्वप्रत्यादिनाऽपि शक्तत्व प्रसज्येतेति शक्ततावच्छेदकगौरवापत्तिरिति शङ्का ननुवादी निराकरोति न चेत्यादिना । विनिगमनाविरहव्याहती हेतुमाह - धात्वतिरिक्तार्थस्य उपसर्गप्रातिपदिकाद्यर्थस्येत्यस्य, आख्यातार्थभावनायामन्वया-ऽव्युत्पत्तेरिति । अथ भावः आख्यातार्थो भावना सख्या च । 'भावनान्वयिनि सख्यान्वयः' इतिवचनात् आख्यातजन्यभावनाया यत्राऽन्वयो भवति तद्विशेष्यकसख्यान्वयबोध व्युत्पत्त्यानेन जन्यते परन्तु आख्यातार्थभावनाया तु धात्वर्थस्यैवाऽन्वयो भवति नोपसर्गाद्यर्थस्य । अत प्रोत्तरजित्वादिना शक्तत्वे प्रकृष्टजये धात्वर्थे भावनान्वय भवितुमर्हति । जिपूर्वप्रत्यादिना शक्तत्वे तु प्रकृष्टजयस्य प्राधान्यात्र तत्र भावनान्वयो भवेत् । भावनान्वयानुपपत्तेरेव विनिगमकत्वात् = एकतरपक्षपातियुक्तिरूपत्वात् प्रोत्तरजित्वादिनैव शक्तत्व न तु जिपूर्वप्रत्यादिनेति प्रमाणसिद्धम् ।

ननुमत प्रत्याचष्टे - नेति । शब्दात् = शब्दनिष्ठशक्तिबलात्, विभिन्नधर्मावच्छेदेन अभेदावबोधे = अभेदान्वयबोधाजनने, अपि अन्यस्मात्=

● रमणीया ●

होने पर ही उसमें अर्थबोधकता होती हो ऐसा नहीं है । जैसे जि धातु अन्य किसी पद के समभिव्याहार के बिना भी जय अर्थ का बोधक है । जय अर्थ का बोध कराने के लिए 'जयति' पद को प्र आदि की अपेक्षा नहीं है । मगर प्रादि के लिये ऐसा कहा जा नहीं सकता । 'जयति' आदि पद के समभिव्याहार के बिना सिर्फ प्रादि का प्रयोग करने से प्रकृष्ट अर्थ का बोध होता नहीं है । इस तरह प्रादि का प्रयोग स्वेतरपदसमभिव्याहारनियत होने से ही प्रादि द्योतक कहे जाते हैं, वाचक नहीं । प्रादि में औपसन्धानिकशक्तिमत्त्व ही द्योतकत्वरूप है । अत प्रोत्तरजित्वादि धर्म को प्रकृष्ट जय का शक्ततावच्छेदक कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर भी प्रादि में स्वेतरपदनियतसमभिव्याहारस्थलीय शक्तिमत्त्वस्वरूप द्योतकत्व अक्षत है । यहाँ यह शका भी कि → "प्र उत्तर जित्वादि की भाँति जिपूर्व प्रत्वादि को भी प्रकृष्ट जय का शक्ततावच्छेदक माना जा सकता है, क्योंकि यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि 'प्रजयति' में प्र अव्यवहितोत्तर जित्वादि में ही शक्ततावच्छेदकता हो, जिपूर्व प्रत्वादि में नहीं" ←नामुनासिब है । इसका कारण यह है कि जिपूर्व प्रत्व को उसका शक्ततावच्छेदक मानने पर प्रकृष्ट जय धात्वर्थ नहीं होगा किन्तु उपसर्गार्थ ही होगा । ऐसा होने पर 'तिप्' आख्यात के अर्थभूत भावना में प्रकृष्ट जय का अन्वय हो नहीं सकेगा । इसका कारण यह है कि आख्यातार्थ भावना में धातुभिन्न पद के अर्थ का अन्वय होना शिष्ट पुरुषों को मान्य नहीं है । यह विनिगमक होने से ही प्रोत्तर जित्वादि और जिपूर्व प्रत्वादि दोनों में विनिगमनाविरह दोष की वजह शक्ततावच्छेदकता की कल्पना का दोष प्रसक्त नहीं है । विनिगमनाविरह दोष का ही उन्मूलन होने से गौरव दोष की गंध भी नहीं है । अत प्रोत्तरजित्वादि रूप से ही प्रकृष्ट जय में शक्तिविषयता की मान्यता देना मुनासिब ही है । इस पक्ष में लक्षणा नाम की जघन्य वृत्ति का आश्रय भी आवश्यक नहीं है ।

● शब्द से अतिरिक्त कारण से भी 'नीलघटो घट' ऐसे अभेदान्वयबोध की उपपत्ति-उत्तर ●

उत्तरपक्ष न, नील० इति । उन्मादी आपकी रामकहानी तथ्यहीन है । इसका कारण यह है कि इस रामकहानी का मूल है 'नीलघटो घट' ऐसे अभेदान्वयबोध की अनुपपत्ति और वह भी प्रसक्त है सबधितावच्छेदक धर्म के भेद न होने की वजह । मगर यहाँ गड़बड़ है । सबधितावच्छेदक धर्म के भेद बिना अभेदान्वयबोध शब्द के सामर्थ्य से भले ही न हो मगर सबधितावच्छेदक धर्म के भेद बिना भी 'नीलघट घट' इत्याकारक अभेदान्वयबोध मन आदि से तो हो ही सकता है । नीलघट और घटसामान्य में शब्दभिन्न कारण से जैसे अभेदान्वयबोध हो सकता है, ठीक वैसे ही विवक्षितसबध से सुख-दुःखाऽन्यतरविशिष्ट मानस साक्षात्कार और मानस साक्षात्कार बीच भी मन आदि से अभेदान्वयबोध हो सकता है । ऐसा होने पर मानस साक्षात्कार में भोगशब्द के शक्यार्थ के अभेद सबध का ज्ञान होने से भोगपद की मानस साक्षात्कार में लक्षणा, जिसे शक्यसबध भी कहते हैं, हो सकती है । इसमें कोई बाधा नहीं है । अत मूल ग्रन्थ में सुख-दुःखपद का ग्रहण होने पर भी भोगपद की मानस साक्षात्कार में लक्षणा करने से पुनरुक्ति दोष का प्रसग नहीं है ।

● सामान्यवाचक पद विशेषधर्मावच्छिन्नपरक - उत्तरपक्ष जारी ●

अन्यथा० इति । यहाँ यह दहशत हो कि → "शब्दस्थल में तो शब्दसामर्थ्य से ही अर्थबोध होना चाहिए न कि शब्दातिरिक्त

तद्बोधसम्भवात्, अन्यथा सामान्यपदाना विशेषपरत्व कुत्राऽपि न स्यात् । 'विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायेन विशेषणविशिष्टवाचकपदयोर्विशेषणाशे सभूयैकान्वयबोधजनकत्वमेव व्युत्पाद्यत इत्यप्याहुः ।

★ जयलता ★

प्रकरणमनःप्रभृतिसकाशात् तद्बोधसम्भवात् = अभेदान्वयबोधसम्भवात् । विपक्षे बाधमाह - अन्यथेति । 'नीलघटो घटः' इत्यादिप्रतीतेः शब्देतरकारणादजन्यत्वोपगमे इत्यर्थः । सामान्यपदाना = सामान्यधर्मावच्छिन्नवाचकपदाना, विशेषपरत्व = विशेषधर्मावच्छिन्नविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्व, कुत्राऽपि स्थले न स्यात् । अयमाशयः 'घटमानये'त्युक्ते श्रोता न शतयोजनदूरस्थघटानयने प्रवर्तते किन्तु सन्निहितघटानयने एव, घटत्वावच्छिन्नवाचकाद् घटपदात् सन्निहितत्वस्वरूपविशेषधर्मावच्छिन्नघटस्यैव बोधात्, घटपदस्य सन्निहितघटे लक्षणोपगमात् । यदि च 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इति नियमात् नीलघटस्य घटानतिरिक्तत्वमुपगम्य अभेदसबन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितनीलत्वावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नविशेष्यताको बोधो नाङ्गीक्रियते प्रकारतावच्छेदकस्य घटत्वस्यैव विशेष्यतावच्छेदकत्वात् तदाऽभेदसबन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-सनिहितत्वावच्छिन्नविशेष्यताको बोधोऽपि नव स्यात् । न चैवमस्ति । अतो विभिन्नधर्मावच्छेदेन शब्दशक्त्याऽभेदान्वयबोधविरहेऽपि व्युत्पत्तिविशेषमहिम्ना तद्ग्रहोऽङ्गीकर्तव्यः । अत एव जिधातोः 'प्रजयती'त्यत्र प्रकृष्टजये एव लक्षणोपगन्तव्या, जयात्मकशक्त्याऽभेदसबन्धस्य व्युत्पत्तिविशेषमहिम्ना प्रकृष्टजये ग्रहसम्भवात् ।

भोगपदस्य मानससाक्षात्कारपरत्व समर्थयति = 'विशिष्टे'ति । विशेषणविशिष्टवाचकपदयोरिति । विशेषणवाचकपदस्य विशिष्टवाचकपदस्य चेत्यर्थः । क्वचित् 'विशेष्यविशिष्टवाचकपदयो'रित्यशुद्धः पाठ । सभूयैकान्वयबोधजनकत्व = परस्परान्वितत्वे सत्येकार्योपस्थितिजनकत्वम् । अय भावः प्रकृते 'न भोगः सुखदुःखयो'रित्यत्र सुखदुःखपदयोर्विशेषणार्थवाचकत्व भोगपदस्य च विपर्यितासबन्धेन सुखदु'खान्यतरविशिष्ट-मानससाक्षात्कारवाचकत्वम् । अत्र विशेषण-विशिष्टवाचकपदाना सुख-दु'खस्वरूपविशेषणाशे परस्परानन्वितत्वे सति मानससाक्षात्काररूपकार्थान्वयबोधकत्वमेवेति 'विशिष्टवाचकाना पदाना सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्वमि'तिन्यायेन बुद्धिवैशद्यमापाद्यते । यद्वैकान्वयबोधजनकत्व = पदैकवाक्यत्वम् । सुख-दुःखयोरिति पदस्य 'आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः' इति वाक्येन सहैकवाक्यतयैकार्थबोधकत्वमित्यर्थः । एवमुत्तरग्रन्थेऽपि भावनीयम् ।

आहुरित्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः । तद्बीज त्विदम् - 'मातेव माता अन्ये तु वनवातसमाः' इत्यादौ अनन्वयालङ्कारे धर्मितावच्छेदकभेदविरहेऽप्यभेदान्वयबोधदर्शनात् सर्वत्राऽभेदान्वयबोधे सबन्धितावच्छेदकधर्मभेदस्याऽनियामकत्वात् शब्दादेव विशिष्टसाक्षात्कारशुद्धसाक्षात्कारयोरभेदान्वयबोधसम्भवेऽपि भोगपदस्य साक्षात्कारमात्रपरत्वोपपत्तेः शब्दातिरिक्तकारणेन तद्बोधोपपादनस्याऽन्याय्यत्वात्, ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनाऽयोगादिति भावनीयम् ।

● रमणीया ●

कारण से । अत नीलघट और घट मे अभेदान्वयबोध की उपपत्ति शब्दभिन्न मन आदि से करना ठीक नही है । अत भोगपद की मानस साक्षात्कार मे लक्षणा हो नही सकती'' ← तो यह अपने अज्ञान की सूचक है । इसका कारण यह है कि सबधितावच्छेदक धर्म भिन्न न होने पर अभेदान्वयबोध का मन से होना न माना जाय तब तो सामान्यधर्मावच्छिन्न के वाचक शब्द विशेषधर्मावच्छिन्नपरक नही होने की आपत्ति आयेगी । आशय यह है कि 'घटमानय' - 'तुम घट ले आओ' इस वाक्य मे घटत्वावच्छिन्नविषयक आनयन क्रिया मे नियोग - त्वपदार्थनियुक्तत्व का भान करने की शक्ति है, क्योकि घट पद घटत्वस्वरूप सामान्य से अवच्छिन्न वस्तु का वाचक है । मगर उपर्युक्त वाक्य सुन कर बुद्धिमान् श्रोता सो योजन दूर रहे हुए घट को लाने का प्रयास करता नही है, मगर समीपवर्ती घट को ही लाने का प्रयत्न करता है । इसका कारण यह है कि उपर्युक्त वाक्य को सुन कर श्रोता को घटत्वावच्छिन्न घट का भान हुआ नही है किन्तु सन्निहितत्वविशिष्ट घट का भान हुआ है । मतलब कि घट पद की सन्निहितत्वरूप विशेषधर्म से अवच्छिन्न (=विशिष्ट) घट मे लक्षणा होती है, क्योकि वक्ता का तात्पर्य भी सन्निहित घट को ही लाने का आदेश (=आज्ञा) देने का है । प्राय व्यवहार मे इस रीति से वक्ता सामान्यवाचक पद का प्रयोग विशेषधर्मावच्छिन्न वस्तु का श्रोता को बोध कराने की इच्छा से करते है - यह सर्वजनविदित है । मगर विभिन्न धर्म सबधितावच्छेदक न होने पर मन से अभेदान्वयबोध का होना न माना जाय तो दर्शित पद्धति से सामान्यवाचक पद विशेषपरक = विशेषविशिष्टविषयकबोधनेच्छाप्रयुक्त हो नही सकते । मगर होते है । अतएव विशेषणताच्छेदक ओर विशेष्यतावच्छेदक धर्म एक होने पर भी शब्दभिन्न कारण से अभेदान्वयबोध मानना आवश्यक है । ऐसा मानने पर तो भोगपद की मानस साक्षात्कार मे लक्षणा पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार हो सकती ही है । इसमे कोई दोष नही है ।

● 'विशिष्टवाचकाना' इत्यादि न्याय का तात्पर्य - उत्तरपक्ष जारी ●

विशि० इति । इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि - 'विशिष्टवाचकाना पदाना सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्व' न्याय भी, जिसको हिन्दी भाषा मे इस तरह कहा जा सकता है कि विशेषणविशिष्ट अर्थ के वाचक पद की विशेष्यार्थ मात्र मे लक्षणा होती है जब विशेषणार्थवाचक पद का सन्निधान होता है, व्युत्पादन तो यही करता है कि विशेषणार्थवाचक पद सन्निहित होने पर विशेषणार्थवाचक ओर विशेष्यार्थवाचक पद विशेषणाश मे मिलित होकर एकान्वयबोध को उत्पन्न करते है । मतलब यह है कि 'न भोग सुख-दु खयो ' ऐसा जो मूल ग्रथ मे कहा गया है उसमे भोगपद विपर्यितासबध से सुख-दु खान्यतरविशिष्ट मानससाक्षात्कारस्वरूप

नैयायिकैकदेशिनस्तु - भोगत्वं चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया सिद्धो जातिविशेषः । न च स्वसमवायिलौकिकविषयितया भोगान्यमानसप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतसुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवदन्यमानसत्वादिकमेव मानसान्यसामग्रीप्रतिबध्यता-

★ जयलता ★

नैयायिकैकदेशिन इति । अन्वयश्चाऽस्य इत्याहुरित्यनेन । सिद्धो जातिविशेष इति । भोगान्यमानसत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वादिति शेषः । अयं भावः भोगान्यलौकिकमानससामग्र्याः सर्वतो दुर्बलत्वात् भोगान्यमानससाक्षात्कारं प्रति चाक्षुषादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं प्रतिबध्यतावच्छेदकञ्च भोगत्वविशिष्टप्रतियोगिकभेदवन्मानससाक्षात्कारत्वम् । प्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिनिविष्टभेदप्रतियोगितावच्छेदकविधया लाघवात् बाधकाभावाच्च भोगत्वस्य जातिविशेषस्य सिद्धिरित्याशयः ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वयः । स्वसमवायिलौकिकविषयितयेति । स्वपदेन सुखत्व-दुःखत्वयोर्ग्रहणम् । अतः स्वसमवायिपदेन सुख-दुःखयोर्ग्रहणम् । तल्लौकिकविषयिता च सुखदुःखसाक्षात्कारव्यावर्तते । ज्ञानलक्षणादिसन्निकर्षजन्यप्रत्यक्षव्यवच्छेदकृते 'लौकिक'त्युपादानं, मानसान्यसामग्र्या सत्यामपि स्वसमवायिविषयितया सुखादिवृत्तिजातिविशेषवदलौकिकप्रत्यासत्तिजन्यसुखादिगोचरज्ञानाऽन्यसुखादिविषयकलौकिकसाक्षात्कारोपलब्धेः तद्व्यवच्छेदस्याऽऽवश्यकत्वात् । अग्रेऽपि लौकिकपदानुवृत्तौ स्वयं भावना करणीया । भोगन्येति । भोगान्यमानसप्रत्यक्षस्य प्रतिबन्धकः सुखादिसाक्षात्कारः विषयितासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतावच्छेदकः च सुखादि । अतः भोगान्यमानसप्रत्यक्षप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूते सुख-दुःखे तद्वृत्ती जातिविशेषो च सुखत्व-दुःखत्वे । स्वसमवायिलौकिकविषयितासम्बन्धेन तादृशजातिविशेषविशिष्टः सुखादिमानससाक्षात्कारः, तदन्यमानसप्रत्यक्षत्वादिकमेव मानसान्यसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकम् = चाक्षुषादिसामग्रीनिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यताया अवच्छेदकमिति यावत् । आदिशब्देन तदन्य-

● रमणीया ●

विशिष्टार्थ का वाचक है एवं सुखपद और दुःखपद प्रदर्शित विशिष्टार्थ के विशेषण के वाचक हैं । विशिष्टार्थवाचक भोगपद से ही सुख और दुःख का, जो भोगपदार्थ के विशेषण हैं, बोध हो जाने पर भी उनके बोध के लिए सुखपद और दुःखशब्द का ग्रहण किया गया है । इससे यह फलित होता है कि उपदर्शित विशेषणार्थवाचक पद और विशिष्टार्थवाचक पद सुख-दुःखात्मक विशेषार्थ अंश में परस्पर अन्वित हो कर शुद्ध विशेष्यस्वरूप मानस साक्षात्कार अर्थ के उपस्थापक हैं । यह अमुक विद्वान् मनीषियों का वक्तव्य है - इस बात की सूचना करने के लिए व्याख्याकार ने 'आहुः' पद का प्रयोग किया है । उत्तरपक्ष समाप्त ।

● भोगत्व जातिविशेष - नैयायिक एकदेशीय ●

नैया० इति । अब व्याख्याकार श्रीमद्जी भोगत्व को जातिस्वरूप मानने वाले नैयायिक एकदेशीय विद्वानों के मत का प्रदर्शन करते हैं । उन विद्वान् मनीषियों का यह वक्तव्य है कि चाक्षुषादिसामग्री की प्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षि में प्रविष्टत्वरूप से भोगत्वस्वरूप जातिविशेष की सिद्धि होती है । तात्पर्य यह है कि भोगान्य मानस प्रत्यक्ष की प्रतिबंधक चाक्षुषादिसामग्री होती है और भोगान्य मानस प्रत्यक्ष उससे प्रतिबध्य होता है । अतः चाक्षुषादि प्रत्यक्ष की सामग्री का प्रतिबध्यतावच्छेदक होगा भोगान्यमानसत्व = भोगत्वविशिष्टप्रतियोगिकभेदवद्मानसप्रत्यक्षत्व । यहाँ प्रतिबध्यतावच्छेदक के शरीर में जो भेद प्रविष्ट है, उसके प्रतियोगितावच्छेदकविधया लाघव सहकार से भोगत्वस्वरूप जातिविशेष की सिद्धि होती है । अतः भोगत्व जातिरूप ही है-यह सिद्ध होता है ।

शंकाः न च स्व० इति। चाक्षुषादि सामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टत्वरूप से भोगत्वजाति की सिद्धि करना ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव दर्शित रीति से नहीं है । प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का आकार इस तरह है - भोगान्य मानस प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक है सुख-दुःख का लौकिक साक्षात्कार । विषयिता संबंध से सुख-दुःख, भोगान्यमानस प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धकतावच्छेदक है । भोगान्य मानस के प्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूत सुख-दुःख में वृत्ति सुखत्व-दुःखत्वस्वरूप जातिविशेष स्वसमवायिलौकिकविषयिता संबन्ध से सुख-दुःखविषयक मानस साक्षात्कार में रहते हैं । स्वशब्द से सुखत्व और दुःखत्व का ग्रहण करना अभिमत होने से स्वसमवायी होंगे सुख-दुःख, जिनके मानस साक्षात्कार में स्वसमवायिलौकिकविषयिता रहती है । स्वसमवायिलौकिकविषयिता संबंध से भोगान्यमानसप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूत सुखादि में वृत्ति जातिविशेष से विशिष्ट जो मानस साक्षात्कार है उससे अन्य मानस प्रत्यक्षत्व ही मानसान्यसामग्री का प्रतिबध्यतावच्छेदक है । मतलब कि मानसान्यसामग्री का प्रतिबध्यतावच्छेदक भोगान्यमानसत्व नहीं है । अतः मानसान्यसामग्री-प्रतिबध्यतावच्छेदक शरीर में प्रविष्टत्वरूप से भोगत्व की सिद्धि हो नहीं सकती । यहाँ यह भी कहना कि → 'मानसान्यसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षि में प्रविष्टत्वरूप से चाहे भोगत्व जाति की सिद्धि न हो, मगर सुखादिसाक्षात्कारप्रतिबध्यतावच्छेदकशरीर में निविष्टत्वरूप से तो भोगत्व जाति की सिद्धि होगी, क्योंकि भोगान्यमानसत्व ही उसका प्रतिबध्यतावच्छेदक है, जिसमें अंतर्भूत भेद का प्रतियोगितावच्छेदक भोगत्व ही है'← ठीक

वच्छेदक, सुख-दुःखवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिबध्यतावच्छेदकमपीदमेव, तेन न तत्प्रविष्टतया भोगत्वसिद्धिरिति वाच्यम् अनया दिशा साक्षात् सुखादिवृत्तिजातिः प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ प्रवेश्या साक्षान्मानसवृत्तिर्भोगत्वजातिर्वा स्वसमवायिलौकिकविषयतासवन्धेन प्रतिवन्धकतावच्छेदककोटौ प्रवेश्येत्यत्र विनिगमकाभावात्, प्रागुक्तजातेर्ज्ञानत्वपर्यन्तसवन्धेन प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वप्रसङ्गाच्चेत्याहुः ।

★ जयलता ★

ज्ञानत्वादेर्ग्रहणम् । एवकारेण भोगत्वविशिष्टप्रतियोगिकभेदवन्मानससाक्षात्कारत्व दूरीकृतम् । अतो न चाक्षुपादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया भोगत्वस्य जातिविशेषरूपस्य सिद्धिः, तस्य तत्राऽनिवेशादेवेति शङ्काकाराशयः । अत्र भोगपद न भोगत्वजातिविशिष्टवाचक, सिद्ध्यसिद्धिभ्या व्याघातात्, पर सुखादिमानसवाचकम् ।

ननु चाक्षुपादिसामग्रीनिरूपितप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतयैव भोगत्वस्य जातिविशेषरूपस्य सिद्धेः, भोगत्वविशिष्टप्रतियोगिकभेदवन्मानसत्वस्यैव तत्प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वात्, भोगत्वस्यैव तत्प्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वादिति भक्षितेऽपि लशुन न शान्तो व्याधिरित्याशङ्काया शङ्काकार आह-सुखदु खवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिबध्यतावच्छेदकमपीदमेवति । स्वसमवायिलौकिकविषयितया सुख-दुःखवृत्तिजातिविशेषविशिष्ट यत् सुखादिगोचरमानमप्रत्यक्ष तन्निष्ठप्रतिवन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यताया अवच्छेदकमपि स्वसमवायिलौकिकविषयतया सुखादिवृत्तिजातिविशेषविशिष्टान्यमानसप्रत्यक्षत्वमेवत्यर्थः । अपिशब्दन मानसान्यसामग्रीप्रतिब'यतावच्छेदकसमुच्चयः कृत' । तत्फलमाह - तेनेति । स्वसमवायिलौकिकविषयितया सुखादिवृत्तिजातिविशेषवदन्यमानसत्वस्यैव मानसान्यसामग्री-सुखादिसा-क्षात्कारप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वमित्यङ्गीकारेणेत्यर्थः । न तत्प्रविष्टतया = सुखादिसाक्षात्कारादिप्रतिबध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया भोगत्वसिद्धि = भोगत्वस्य जातिविशेषरूपस्य प्रसिद्धिरिति । भोगत्वजातिवादिनैयायिकैकदेशिनः प्रदर्शितशङ्कानिराकरण हतुमाहुः - अनया दिशेति प्रदर्शितया प्रक्रिययति । साक्षात्सुखादिवृत्तिजाति = समवायसवन्धेन सुखदुःखवृत्तिः सुखत्वादिरूपा जातिः, प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ = स्वसमवायिलौकिकविषयितया सुख-दु.खवृत्तिजातिर्विशेषविशिष्टनिष्ठप्रतिवन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यताया अवच्छेदक- त्वशरीर, प्रवेश्या = निवेशनीया, साक्षान्मानसवृत्ति = समवायेन मानससाक्षात्कारवृत्तिः, भोगत्वजाति वा, स्वसमवायिलौकिकविषयतासवन्धेन प्रतिवन्धकतावच्छेदककोटौ = सुखदुःखसाक्षात्काराऽन्यमानसनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिवन्धकताया अवच्छेदकत्वदेहे, प्रवेश्या? इत्यत्र विप्रतिपत्तौ विनिगमकाभावात् = एकतरपक्षपातियुक्तिविरहात्, 'अपि भोगत्वजातिसिद्धि.' इति शेष'। अय भावः शङ्काकृता 'सुखदु'खवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिबध्यता- वच्छेदकमपीदमेव' इत्युक्त तत्र तेन समवायेन सुखादिवृत्त्या जात्या स्वसमवायिलौकिकविषयितासव न्धेन विशिष्ट यत् तदन्यमानसवृत्तिमानसत्वादिकमेव प्रतिबध्यतावच्छेदकमिति प्रतिपादितम् । अत्र तु मया समवायेन मानससाक्षात्कारविशेषवृत्त्या भोगत्वजात्या स्वसमवायिलौकिकविषयतासवन्धेन विशिष्ट यत्तदेव स्वसमवायिलौकिकविषयितासवन्धेन सुखत्वादिविशिष्टान्यमानसस्य प्रतिवन्धकमित्यपि वक्तु युज्यत एव । प्रतिवन्धकतावच्छेदक- सवन्ध'समवायः प्रतिवन्धकतावच्छेदकतावच्छेदकसवन्धश्च स्वसमवायिलौकिकविषयत्वम् । स्वपदन प्रतिवन्धकतावच्छेदकस्य भोगत्वस्य जातिविशेषरूपस्य ग्रहणात् स्वसमवायी सुखादिगोचरमानससाक्षात्कार' स्यात् । तल्लौकिकविषयता च सुखादौ वर्तते । सुखादेरवश्यवेद्यत्वनियमात्प्रतिवन्धक-त्वमव्याहतम् । न च प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ परम्परया सुखत्वादेरेव निवेशो युक्तो न तु प्रतिवन्धकतावच्छेदककोटौ परम्परया भोगत्वस्य निवेश इत्यत्र विनिगमकमस्ति । अतो विनिगमनाविरहेणाऽपि भोगत्वस्य जातिविशेषस्य सिद्धिरिति नैयायिकैकदेशिनामाशयः । ननु तथापि मत्पक्षे को दोषो येन स नाङ्गीक्रियते भवद्भिरित्याशकाया परपक्षे दोषमाविष्कुर्वन्ति - प्रागुक्तजातेरिति साक्षात्सुखादिवृत्तिजातेरित्यर्थः । ज्ञानत्वपर्यन्तसवन्धेनेति

● रमणीया ●

नही है, क्योकि मानसान्यसामग्री का प्रतिबध्यतावच्छेदक ही सुख-दु खसाक्षात्कार का प्रतिबध्यतावच्छेदक है । आशय यह है कि स्वसमवायिलौकिकविषयिता सबध से सुखदु खवृत्तिजातिविशेषविशिष्ट का प्रतिबध्यतावच्छेदक स्वसमवायिलौकिकविषयिता सबध से भोगान्यमानसप्रतिवन्धक- तावच्छेदकीभूत सुख-दु खवृत्तिजातिविशेषविशिष्टाऽन्यमानसत्व है । प्रतिबध्य और प्रतिवन्धक मे सामानाधिकरण्य होने पर ही प्रतिबध्य-प्रतिवन्धकभाव हो सकता है । उन दोनो मे सामानाधिकरण्य की उपपत्ति के लिए स्वसमवायिलौकिकविषयिता का ग्रहण किया गया है । स्वपद से सुख-दु खवृत्ति जातिविशेष का ग्रहण अभिप्रेत होने से स्वसमवायी सुख-दु ख होगे, जिनकी लौकिक विषयिता सुख-दु खविषयक लौकिक साक्षात्कार मे रहेगी । उक्त सबध से प्रतिवन्धकतावच्छेदक सुख-दु खवृत्ति जातिविशेष है । इसी तरह उक्त सबध से सुख-दु खवृत्ति जातिविशेष से विशिष्ट जो मानस प्रत्यक्ष है, उससे अन्य मानस साक्षात्कार मे रहनेवाला विशिष्टमानसत्व ही यहाँ प्रतिबध्यतावच्छेदक है । प्रतिबध्यतावच्छेदकशरीर मे उक्तसबध से सुख-दु खवृत्ति जातिविशेष प्रविष्ट है, भोगत्व नही । अत उक्त सबध से सुख-दु खवृत्ति जातिविशेष के प्रतिबध्यतावच्छेदकशरीर मे प्रविष्टत्वरूप से भी भोगत्व की सिद्धि हो सकती नही है । अत भोगत्व को जातिविशेषात्मक माना जा नही सकता ।

● भोगत्व को जाति मानने मे लाघव - नैयायिक एकदेशीय ●

समाधान :- अनया दिशा० इति । स्वसमवायिलौकिकविषयिता सबध से सुखत्वादिविशिष्ट का प्रतिबध्यतावच्छेदक स्वसमवायिलौकिकविषयिता सबध से सुखत्वादिविशिष्टान्यमानसत्व है-ऐसा प्रतिपादन कर के आप महाशय भोगत्वजाति का अपलाप कर रहे है । मगर हम कहते है कि प्रतिबध्यतावच्छेदककोटि मे आप जैसे साक्षात् सुखादि मे रहनेवाली सुखत्वादि जाति का निवेश करते है, ठीक वैसे ही प्रतिवन्धकतावच्छेदककोटि मे मानस साक्षात्कार मे साक्षात् (=समवाय सबध से) रहनेवाली भोगत्व जाति का भी निवेश हो सकता है । मतलब कि स्वसमवायिलौकिकविषयिता

तन्मते 'सुख-दुःखयो'रित्यस्य न पौनरुक्त्यम् ।

अथ प्रकृत प्रस्तुमः । एकान्तनित्यः सन्नात्मा सुख-दुःखे युगपद् भुञ्जीयात् क्रमेण वा ? नाद्यो, विरोधात् । न

★ जयलता ★

स्वसमवायिनिष्ठलौकिकविषयतानिरूपितविषयिताभिन्नविषयिताश्रयसमवेतत्वसबन्धेनेत्यर्थः । स्वपदेन सुखत्वादेर्ग्रहणम् । प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वप्रसङ्गादिति स्वसमवायिलौकिकविषयितासबन्धेन सुख-दुःखवृत्तिजातिविशेषविशिष्टप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वापत्तेरित्यर्थः स्वसमवायिलौकिकविषयितासबन्धेन सुखत्वादि-विशिष्टान्यज्ञानत्वे तत्प्रतिबध्यतावच्छेदके सुखत्वादेः प्रदर्शितसबन्धेन वृत्तित्वात्, प्रतिबध्यतावच्छेदकवृत्तिधर्मस्याऽपि प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वात् दण्डिनिष्ठसा-ध्यतानिरूपितावच्छेदकत्वस्य दण्डत्ववृत्तित्ववत् । एवञ्चानेकप्रतिबध्यतावच्छेदकगौरवप्रसङ्गोऽपि परमतेऽनिवारित एवेति नैयायिकदेशिना भावः ।

प्रकृते व्याख्याकृत् तदुपयोगितामेव भावयति - तन्मत इति । प्रकृतनैयायिकैकदेशिमते इत्यर्थः । 'सुख-दुःखयो'रित्यस्य पदस्य न पौनरुक्त्यम् । अन्येनाऽज्ञातसुखादेः बोधकत्वात्तत्पदस्य भोगपदेन भोगत्वजात्यवच्छिन्नस्यैव बोधनात्, भोगपदस्य सुखदुःखान्यतरमानससाक्षात्कारे रूढत्वानुपगमादिति भावः । अत एवैतन्मते भोगपदस्य लक्षणा नावश्यकी, प्रयोजनविरहात्, शक्त्यैव पुनरुक्तिदोषनिरासादिति । उपायस्योपायान्तरादू-षकत्वादिति सूक्ष्मेक्षिकया विभावनीयम् ।

अथेति । अवसरसङ्गतिदर्शकोऽयं शब्दः । यद्यप्यात्मन सर्वथानित्यत्वपक्षे कृतनाशाऽकृतागमदोषौ प्रागुव्याख्यातौ स्त एव तथापि दोषान्तरं प्रदर्शयति - एकान्तेति । विरोधादिति । एकाधिकरणसमानकालीनानवस्थितिलक्षणसहानवस्थानाभिधानविरोधात् अनुभवविरोधाद् वा विरुद्धयोः

● रमणीया ●

सबध से सुखत्वादि से विशिष्ट (= सुखादिमानस लौकिक प्रत्यक्ष) को प्रतिबन्धक मानना या स्वसमवायिलौकिकविषयतासबध से भोगत्व से विशिष्ट (= सुखदुःख) को प्रतिबन्धक मानना ? इसमे कोई विनिगमक नही है, क्योकि स्व=भोगत्व के समवायी = भोग की लौकिक विषयता सुख-दुःख मे, जो अवश्य वेद्य होते है, रहने से भोगत्वविशिष्ट सुखादि भी प्रतिबन्धक हो सकते है । अत विनिगमनाविरह से भी भोगत्व की सिद्धि हो सकती है । वह धर्म यदि जातिस्वरूप हो तो उत्पादकआदि की कल्पनास्वरूप गौरव दोष से मुक्ति हो सकती है । अत लाघव से भोगत्व जातिस्वरूप है - ऐसा सिद्ध होता है ।

● सुखत्वादि मे भी प्रतिबध्यतावच्छेदकता की आपत्ति ●

प्रागुक्त० इति । इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि जैसे स्वसमवायिलौकिकविषयितासबध से सुखत्वादि से विशिष्ट का प्रतिबध्यतावच्छेदक आप स्वसमवायिलौकिकविषयितासबध से सुखत्वादिविशिष्टभिन्नमानसत्व को मानते है ठीक वैसे ही सुखत्वादि जाति भी प्रतिबध्यतावच्छेदक हो सकती है, क्योकि परपरासबध से सुखत्वादि जाति भी सुखत्वादिविशिष्टभिन्नमानसत्व मे रहती है । प्रतिबध्यतावच्छेदक मे रहनेवाला धर्म भी प्रतिबध्यतावच्छेदक हो सकता है - यह न्याय के अभ्यासी के लिए दुर्ज्ञेय नही है । हाँ, सुखत्वादि को प्रतिबध्यतावच्छेदक मानने पर यहाँ पारपरिक सबध का व्याख्यान करना हम जरूरी समझते है । वह सबध है स्वसमवायिनिष्ठलौकिकविषयतानिरूपित विषयिता भिन्न विषयिताऽऽश्रयसमवेतत्व । यहाँ स्वपद से सुखत्व और दुःखत्व का ग्रहण अभिप्रेत है । उसके समवायी सुख एव दुःख मे रहनेवाली जो लौकिक विषयता है, उससे निरूपित विषयिता सुखादिविषयक लौकिक मानस प्रत्यक्ष मे रहती है । उस विषयिता से भिन्न विषयिता का आश्रय सुख-दुःखभिन्नविषयक लौकिक मानस प्रत्यक्ष है, जिसमे मानसत्व, ज्ञानत्व आदि धर्म समवेत = समवाय सबध से रहते है । अत तादृश[1] मानसत्व, ज्ञानत्व आदि मे समवेतत्व रहेगा । सुखत्व-दुःखत्व की अपेक्षा तादृश मानसत्व मे उपदर्शितसमवेतत्व धर्म रहेगा । अत उस सबध से सुखत्व और दुःखत्व तादृश मानसत्व आदि मे रहने से तादृश ज्ञानत्वपर्यन्त सबध से सुखत्व आदि भी [1]तादृश मानसत्व की भाँति सुखादिप्रत्यक्ष का प्रतिबध्यतावच्छेदक धर्म बनेंगे । इस आपत्ति का परिहार उपर्युक्त शंकाकार के मत मे अनिवार्य ही है । अत चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकशरीर मे निविष्टत्वरूप से भोगत्व जाति की सिद्धि को मान्यता प्रदान करना अनिवार्य है ।

● भोगत्व जाति मत मे लक्षणा की अनावश्यक्ता ●

तन्मते० इति । व्याख्याकार नैयायिक एकदेशीय के मतानुसार भोगत्व जातिस्वरूप है-यह बता कर प्रस्तुत मे उसकी उपयोगिता बताते है कि इस मत के अनुसार 'आत्मनि एकान्तनित्ये स्यान्न भोग सुख-दुःखयो ' यहाँ भोगपद का ग्रहण करने के बाद 'सुख-दुःखयो ' इस सामासिक पद का ग्रहण करने पर भी पुनरुक्ति दोष का प्रसग नही है । इसका कारण यह है कि भोगपद से भोगत्वविशिष्ट की ही उपस्थिति होती है, सुख-दुःख की नही । भोगपद से अबोधित सुख एव दुःख के बोध के लिए 'सुख-दुःखयो ' पद का ग्रहण आवश्यक ही है । अत न तो भोगपद की लक्षणा आवश्यक है और न तो पुनरुक्ति दोष की आपत्ति है । इस तरह व्याख्याकार ने पूर्व मे भोगपद रूढि का आश्रयण कर के लक्षणा का स्वीकार कर के पुनरुक्ति दोष का निराकरण किया एव नैयायिक एकदेशीय मतानुसार भोगत्वावच्छिन्नवाचकता का भोगपद मे उपपादन कर के भी पुनरुक्ति दोष का निराकरण किया । एक उपाय अन्य उपाय का दूषक होता नही है - इस बात को भूलना नही चाहिए - ऐसी इत्तला यहाँ पाठक महाशय को देना उचित समझा जा सकता है ।

---

[1]- तादृश मानसत्व = स्वसमवायिलौकिकविषयितासबध से सुखत्वादिविशिष्टभिन्नमानसत्व ।

द्वितीय , स्वभावभेदेन सर्वथानित्यत्वहानेः ।

अथ यथा प्रदीपो घटादीन् प्रकाशयन्नपि न घटादिस्वभावस्तथा सुख-दुःखे भुञ्जानोऽपि जीवो न तत्स्वभाव इति

★ जयलता ★

सुख-दुःखयोः युगपद् भोगोपगमे धर्मिभेदप्रसङ्गः । तदुक्त वादमहार्णवे 'अयमेव धर्मिभेदो यदुत स्वभावभेदो विरुद्धधर्माध्यासो वा' [स त का१/गा-१ वृत्ति] वस्तुतस्तु प्रकृते परस्परविरुद्धयोः सुख-दुःखयोरेकदेकस्मिन्नसभवाद् युगपत्तयोः मानससाक्षात्कारस्य वन्ध्यास्तनन्धयसहोदरसमत्वापात इति भावः । न द्वितीय इति । सर्वथानित्यस्य सत आत्मनः क्रमेण सुख-दुःखयोर्भोक्तृत्वोपगमोऽपि न न्याय्यः । हेतुमाह स्वभावभेदेन सुख-दुःखस्वभावभेदेन, सर्वथानित्यत्वहाने = आत्मनोऽनित्यत्वाऽसभिन्ननित्यत्वव्याहतिप्रसङ्गात् । अय भावः सुखविपयकमानससाक्षात्कारकाले आत्मनः सुखस्वभावत्व दुःखगोचरप्रत्यक्षक्षणे च दुःखस्वभावत्वमिति पूर्वोत्तरकालावच्छेदेनाऽऽत्मनः स्वभावभेदात् तत्तद्विषयसन्निधानेऽपि विकारशून्यत्वरूपस्य कूटस्थनित्यत्वस्याऽऽत्मनिष्ठस्य त्वदभिमतस्य प्रच्यवात् । एनेन प्रतिज्ञाहान्यादिदोषाः ध्वनिता ।

अत एव "नित्य एवात्मा तत्समवेतसुखोत्पत्तौ सुखी, दुःखोत्पत्तौ दुःखीत्युच्यते । सुख-दुःखादीनामेवात्पत्तिविनाशौ नात्मनः । स हि नित्योऽपि तेन तेन धर्मेणोत्पद्यमानेन विनश्यता च तद्वान् व्यपदिश्यते" [न्या भू पृ ५५६] इति भासर्वज्ञवचन निरस्तम् विशेषणोत्पादनाशदशाया तेन रूपेण विशिष्टोत्पादनाशयोरपि न्याय्यत्वात्, पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदस्य प्रागुक्तत्वादिति दिक् ।

अत्र प्रभानन्दसूरिकृतविवरण त्वेवम् - "एकान्तनित्यत्वे ह्यात्मनः सत्यत्वेन मन्यमाने सुख-दुःखयोर्भोगो न घटामटाट्यते । तथाहि - एकान्तनित्यः स ह्यात्मा सुख-दुःखे क्रमेण भुङ्क्ते युगपद्वा ? न तावत्क्रमेण, नित्यत्वव्याघातात् । न हि येनैव स्वभावेन दुःख भुङ्क्ते तेनैव सुखम्, तयोरेकत्वप्रसङ्गात्, स्वभावभेदे चैकस्वभावनित्यत्वक्षतिः (?च नित्यैकस्वभावक्षतिः) । युगपच्चेत् ? तदपि न, न हि कदाचिदपि छायातपयोरिव परस्परपरिहारविरोधव्याघ्राघ्रातयोः सुख-दुःखयोः युगपदनुभवः सम्भवति । तस्मादेकान्तनित्ये जीवस्वतत्त्वे न कदाचिदपि सुख-दुःखोपभोग" [वी स्तो वि ६६] इति ।

श्रीविशालराजसूरिरचितावचूर्णौ त्वेवम् - "हे वीतराग ! आत्मनि जीवे एकान्तनित्येऽङ्गीक्रियमाणे सुख-दुःखयोर्भोगो न स्यात् । कुतः ? यदि सुख भोक्तुमारब्ध तर्हि सर्वदाऽपि सुखमेव, यदि दुःख तदा दुःखमेव भवेत् अन्यथा सुखमुपभुज्य दुःखस्य दुःख चोपभुज्य सुखस्योपभोग्यात्मा सुखितया विनश्य दुःखितयोत्पन्न॰ तया वा विनश्य सुखितयोत्पन्न इति न स्यात्" [वी स्तो अव पृ ६७] इति ।

सुख-दुःखमानससाक्षात्कारकालेऽपि तत्स्वभावत्वमात्मनः कथ ? इत्याशयेन शङ्कते अथेति । अन्वयश्चाऽस्य 'इति चेत्' पर्यन्तम् । न तत्स्वभाव इति । प्रदीपस्थानीयो जीवो घटादितुल्ये सुख-दुःखे प्रकाशस्थानाभिषिक्तभोगविपयीकुर्वन्नपि तद्वदेव न तत्स्वभाव इति भावः ।

● रमणीया ●

● आत्मा को एकान्तनित्य मानने पर दोषद्वयप्रसग - स्याद्वादी ●

अथ प्रकृ॰ इति । प्रासगिकरूप से भोगपदार्थ का मतातर से निरूपण कर के अव व्याख्याकार श्रीमद्जी द्वितीय कारिका के पूर्वार्ध मे निहित भाव को व्यक्त करते हैं, जो कि अवसरप्राप्त है - अवश्य वक्तव्य है। आत्मा को एकान्तत नित्य मानने पर ये विकल्प उपस्थित हे कि (१) आत्मा एक ही काल मे सुख-दु ख का मानस प्रत्यक्ष करेगी या (२) क्रमश = विभिन्न काल मे ? इन दो विकल्पो मे से प्रथम विकल्प तो सन्मान्य हो नही सकता, क्योकि सुख और दु ख ये अधकार और प्रकाश या दिन ओर रात की भाँति परस्पर विरुद्ध हे। अत इन दोनो का एक ही समय मे तो अनुभव हो नही सकता। यह वात अनुभवविरुद्ध भी है। इसी तरह दूसरा विकल्प भी आदरणीय हो नही सकता। इसका कारण यह है कि - प्रथम क्षण मे सुख का अनुभव कर के दूसरी क्षण मे दु ख का अनुभव करने पर प्रथम क्षण मे सुखस्वभाव और दूसरी क्षण मे दु खस्वभाव मानना पडेगा। अर्थात् पूर्वोत्तरक्षणावच्छेदेन आत्मा मे स्वभावभेद मानना पडेगा। स्वभावभेद होने से आत्मा मे एकात नित्यत्व की सगति न हो सकेगी, एकात नित्य तो वही हो सकता, जो तीनो काल मे विकारी न हो, कभी भी उसके स्वभाव मे परिवर्तन न हो। क्रमश सुख-दु ख के भोग को मान्यता देने पर आत्मा का एकात नित्यत्व ही विलीन हो जायेगा, जो कि प्रतिवादी का सर्वस्व हे।

● सुखदुःख का भोग करने पर भी आत्मा तत्स्वभाववाली नही - पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्ष : अथ॰ इति। आत्मा सुख और दु ख का क्रमश अनुभव करे तो भी स्वभावभेद से आत्मा मे अनित्यत्व की उपपत्ति हो नही सकती। वह इस तरह- जैसे घट-पटादि को प्रकाशित करता हुआ भी प्रदीप जेसे घट-पटादिस्वभाववाला नही ह

क्रमिकतद्भोगपक्षेऽपि न स्वभावभेद इति चेत् ? न,

स्वभावो हि स्वद्रव्यगुणपर्यायानुगत स्वरूपास्तित्वम् । तच सादृश्यास्तित्वेनैकीभवतोऽप्यन्यस्माद् भेदप्रतीतिमाधत्ते । तथा

★ जयलता ★

प्रयोगस्त्वेवम् - जीवो न उपलभ्यसुखादिस्वभावः उपलम्भहेतुत्वात्, प्रदीपवत् । यथा प्रदीपो घटाद्युपलम्भहेतु' नोपलभ्यघटादिस्वभाव' तथा जीवोऽपि सुखाद्युपलम्भहेतुर्न सुखादिस्वभाव इति क्रमिकतद्भोगपक्षेऽपि = क्रमेण सुख-दु.खयोरात्मभोग्यत्वमतेऽपि, न जीवस्य स्वभावभेद । अत एव नात्मनः कूटस्थनित्यत्वप्रच्युतिरिति अयाशय' ।

स्याद्वादी तन्निराचष्टे - नेति । प्रथम स्वभावनिर्वचनमाह - स्वभावो हीति । हिरवधारणार्थ' व्यवहितक्रमश । स्वद्रव्यगुणपर्यायानुगतमिति । स्वशब्दः प्रत्येकमनुवर्तते आद्यदीपकन्यायेन । अत' स्वभावः स्वद्रव्ये स्वगुणेषु स्वपर्यायेषु चानुगत स्वरूपास्तित्वमेवेत्यर्थ' । गुणपर्यायाश्रयो द्रव्य सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनश्च पर्याया' । कश्चित्तु "अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिण' पर्याया" इत्याहु । "ध्रौव्याश्रयो द्रव्य, उत्पाद-व्ययभाजो गुणपर्याया" इत्यपरे । पर्याया हि द्विधा व्यञ्जनार्थरूपेण । दिगम्बरास्तु 'द्विधा पर्याया, द्रव्यपर्याया' गुणपर्यायाश्च । द्रव्यपर्यायोऽपि द्विविधः समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । गुणपर्यायोऽपि द्विधा स्वभावविभावरूपेण व्यञ्जनार्थपर्यायरूपेण वा' इति वदन्ति ।

यद्यपि स्वभावलक्षणघटकीभूतस्वरूपनिर्वचने आत्माश्रय तथापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते. स्वरूपपदमत्र स्वपर ज्ञातव्यम् । अनेन वस्तुत इतराऽनिरूप्य निरपेक्ष स्वरूप स्वभाव इति प्रत्युक्तम् । अत एव सहजपरावर्तनीयमसाधारण वस्तुस्वरूप स्वभाव' इत्यपि प्रत्युक्तम्, अव्यापकत्वाच । अत एव जन्मान्तरकृत' धर्माधर्मादिशुभाशुभसंस्कार. स्वभाव इत्यप्यपहस्तितम् ।

अथ प्रकृतलक्षण दृष्टान्तद्वारा विशदीक्रियते । स्वपदेन घटग्रहणात् घटद्रव्ये मृदि घटगुणे कम्बुग्रीवादिमत्त्व-जलाहरणादिलक्षणे घटपर्याये नवत्व-खण्डत्वादिरूपे चाऽनुगत यत् घटाऽस्तित्व तद् घटस्वभावः । अस्तित्वस्य स्वाश्रयात्कथञ्चिदभिन्नत्वात् स्वद्रव्यादिरेव घटस्वभाव इति तात्पर्यम् । अत एव सत्तापद विहायाऽस्तित्वपदस्योपादान कृतम् ।

नन्वस्तित्वस्य स्वाश्रयादभिन्नत्वतस्तत्स्वभावस्याऽपि स्वाभिन्नत्वोपगमे स्वभावभूतस्वगुणपर्यायाऽभिन्नात् स्वस्मादभिन्न भवद् द्रव्य गुणपर्यायेभ्यो भिन्न न स्यात् । तथा च द्रव्यमात्रमेव न गुणादिकमित्याशङ्कामहस्तयितुमाह - तचेति स्वाऽस्तित्वञ्चेति । सादृश्यास्तित्वेन = गुणपर्यायानुगतास्तित्वेन, एकीभवत = अव्यतिरिक्तीभवतः अपि द्रव्यस्य अन्यस्मात् गुणपर्यायवैसादृश्यात्, भेदप्रतीति = वैलक्षण्यप्रकारकप्रत्यय, आधत्त = जनयति । स्वभावो ह्यनुगतरूपबलात् गुणपर्यायाभ्यामभिन्नमपि भवत् द्रव्य व्यावृत्तरूपमहिम्ना गुणपर्यायाभ्या व्यावर्तयति । अत एव

● रमणीया ●

वेसे ही आत्मा सुख-दु ख का अनुभव करती हुई भी सुख-दु खस्वभाववाली नही है । अत क्रमश भिन्न भिन्न क्षण मे सुख-दु ख का भोग करने पर भी आत्मा मे स्वभावभेद का प्रसग नहीं है । न तो सुखभोग काल मे आत्मा सुखस्वभाव ह आर न तो दु खभोगक्षण मे आत्मा दु खस्वभाव ह । सुख-दु ख से अलग ही आत्मस्वभाव ह । सुख और दु ख तो आत्मा से सर्वथा भिन्न ही ह फिर आत्मा का तत्स्वभाव होना आर स्वभावभेद से अनित्य होना-यह अनिष्टापत्ति हमारे मत मे नहीं हे । अत आत्मा को एकान्तत नित्य मानने पर भी क्रमश सुख-दु ख के मानस साक्षात्कार की सगति होने से सर्वथा आत्मनित्यत्व पक्ष भी निर्दोष है ।

● स्वभावशब्द का अर्थनिरूपण - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष :- न, स्व० इति । अजी, हजूर ! आपको यह भी नहीं मालुम कि स्वभाव किस चिडिया का नाम हे आर युँ हि लम्बा लेक्चर झाडते ह । कान खोल कर सुनिये स्वभावशब्द का क्या अर्थ हे ? स्वभाव का मतलब है स्वद्रव्य-गुण-पर्यायानुगत स्वरूप अस्तित्व । जेसे घट का स्वद्रव्य मिट्टी, स्वगुण रक्तत्वादि तथा स्वपर्याय नवीनत्व-पुराणत्वादि मे अनुगत ऐसा जो अपने स्वरूप का अस्तित्व ह वही घटस्वभाव हे । स्वद्रव्य-गुण-पर्याय मे अनुगत अस्तित्व-स्वद्रव्य-गुणपर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं हे । अत घट का स्वभाव मिट्टी भी ह, रक्तत्वादि भी हे एव पुराणत्वादि भी हे । यहाँ यह शका करना कि→"स्वद्रव्य-गुण-पर्याय मे अनुगत स्वरूप अस्तित्व को ही स्वभाव मानने पर तो द्रव्य, गुण ओर पर्याय अभिन्न हो जायेंगे, क्योकि अनुगत अस्तित्व की वजह उनमे तादात्म्य की प्रतीति होती हे । ऐसा होने पर तो केवल द्रव्य या गुण या पर्याय की ही सत्ता रहेगी, तीनो की नहीं" ← भी ठीक नहीं ह, क्योकि सादृश्यास्तित्व की वजह गुण एव पर्याय से अभिन्न बनते हुए द्रव्य मे उपर्युक्त स्वभाव वेधर्म्यास्तित्व की वजह गुण-पर्याय की भेदप्रतीति को भी द्रव्य मे जागृत रखती हे । अत स्वद्रव्य-स्वगुण एव स्वपर्याय मे सर्वथा तादात्म्य या सर्वथा भेद नही है, किन्तु कथञ्चिद् अभेद जरूर ह । अत आत्मा का स्वभाव भी स्वद्रव्य-(=आत्मद्रव्य), सुख-दु ख-ज्ञान आदि

१-द्रष्टव्या पञ्चास्तिकाये १६तमे श्लोके जयदेववृत्तौ ।

चाऽऽत्मन. स्वभावभूतयोः सुखदुःखयोर्गुणयोः क्रमभोगे विभिन्नकालभोग्यत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासात् स्वभावभेदः कस्य पाणिना पिधेयः ? प्रदीपस्य घटादिस्तु स्वद्रव्याद्यन्यतराऽन्यत्वान्न स्वभावः । घटपटादीना क्रमप्रकाशे पुनरेकान्तनित्यत्व तस्याऽपि निरस्यमेव, विभिन्नकालीनत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन प्रकाशस्वभावभेदात् ।

★ जयलता ★

सह्यप्रयोगानापत्तिरपि प्रत्युक्ता गुणगुणिनोर्भेदाभेदस्य प्रागेव व्यावर्णितस्वरूपत्वात्कि पिष्टपेषणेनेत्यल चसूर्या ।

प्रकृते त्वात्मद्रव्ये तद्गुणे सुखादौ तत्पर्याये मनुष्यत्वादौ चानुगतमात्मास्तित्वमेवात्मस्वभाव इति सुखादय आत्मस्वभावभूता एवेत्याह -- तथा चेति स्वभावस्योक्तस्वरूपत्वाच्चेति । क्रमभोगे = क्रमेण मानससाक्षात्कारे, विभिन्नकालभोग्यत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासादिति । आत्मनो गुणत्वेन स्वभावभूते सुखे यत्कालीनभोगविषयतारूपो धर्मः तदन्यकालवृत्तिभोगविषयतास्वरूपो विरुद्धो धर्म आत्मस्वभावभूते दु'खे वर्तते । आत्मस्वभावभूतसुख-दु'खयो' भिन्नकालावच्छिन्नमानससाक्षात्कारविषयतात्मकविरुद्धधर्मसत्त्वमेवाऽत्र विरुद्धधर्माध्यास' । विरुद्धधर्माध्यासो ह्येकत्र न सभवति शैत्यो-ष्णत्वयोरिव । विरुद्धधर्माध्यासस्य स्वाश्रयभेदकत्वात् तदाश्रयीभूतयोरात्मस्वभावात्मकयोः सुखदुःखयोः भेदः सिध्यति । एवञ्च स्वभावभेदसिद्धावात्मनः सर्वथानित्यत्वपक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः ।

ननु जीवस्योपलम्भहेतुत्वेऽप्युपलभ्यसुखादिस्वभावत्व तर्हि प्रदीपस्याऽप्युपलम्भहेतुत्वाऽविशेषादुपलभ्यघटादिस्वभावत्व स्यात्, अन्यथा अर्धवैशसप्र-सङ्गादित्याशङ्कायामाह-प्रदीपस्येति। स्वद्रव्याद्यन्यतराऽन्यत्वान्नेति। स्वद्रव्यगुणपर्यायान्यतमत्वविरहान्नेति। अय भावो यदि घटादि' प्रदीपद्रव्य प्रदीपगुण. प्रदीपपर्यायो वा स्यात् तर्हि स्यादेव प्रदीपस्य घटादिस्वभावत्वम्। तदेव तु नास्ति। अतो न प्रदीपस्य घटादिस्वभावत्वप्रसङ्गः। एवमेवाऽऽत्माऽपि घटादीन् जानानो न बाह्यघटादिस्वभावः परन्तु घटादिविषयकज्ञानस्वभावः । न चैव घटज्ञानवानात्मा आगमतो भावघटो न स्यादिति निक्षेपानुशासनविरोधप्रसङ्ग इति वाच्यम् विषयविषयिणोरभेदोपचारादेवाऽऽगमतो भावनिक्षेपप्रवृत्तेः । अत एव न योगाचारमतप्रवेश इति दिक् ।

ननु वस्तुमात्रस्यैकान्तनित्यत्वात्प्रदीपस्याऽपि विरुद्धविषयान् घटपटादीन् क्रमेण प्रकाशयत' सर्वथानित्यत्वमेवेत्याशङ्कायामाह - घटपटादीनामिति । क्रमप्रकाशे = क्रमेण प्रकाशकरणे, पुनरेकान्तनित्यत्व तस्यापि = प्रदीपस्यापि, निरस्यमेव । हेतुमाह - विभिन्नेति । अय भाव' प्रदीपस्य घटप्रकाशनकालान्यकालावच्छिन्नपटादिप्रकाशनस्वभावे यत्कालावच्छिन्नघटगोचरत्वधर्मस्य तदन्यकालावच्छिन्नपटादिगोचरत्वस्य च सत्त्वाद् विरुद्धधर्मा-ध्यासः । अत एव तत्स्वभावभेदात्सर्वथानित्यत्वव्याहतिरिति भावः । साधयिष्यति च प्रकरणकारः स्वयमेवाऽग्रे पञ्चमकारिकाविवरणे तमोद्रव्यस्थापनपूर्वं प्रदीपस्य नित्यानित्यत्वम् ।

● रमणीया ●

स्वगुण ओर मनुष्य-देव आदि पर्याय मे अनुगत स्वरूपास्तित्व ही है। अत सुख-दु ख भी आत्मा के गुण होने से आत्मा का स्वभाव है। क्रमश सुख और दु ख का साक्षात्कार (=भोग) करने पर सुख एव दु ख मे विभिन्नकालभोग्यत्वरूप विरुद्ध धर्म का अध्यास = वर्तमानता प्रसक्त है। अर्थात् आत्मा के स्वभावभूत सुख मे यत्कालीनभोगविषयता है वह दु ख मे, जो आत्मा का गुण होने से आत्मस्वभाव ही है, नही है किन्तु सुखभोगकालभिन्नकालवृत्तिभोगविषयता है। आत्मा के स्वभावभूत सुख और दु ख उपर्युक्त रीति से विरुद्ध होने से आत्मा के स्वभाव मे भी भेद सिद्ध होता है, जिसका निरूपण करनेवाले पुरुष का मुँह प्रतिवादी अपने हाथ से वध कर नही सकता। पूर्वोत्तरकाल मे सुख-दु खभोगप्रयुक्त स्वभावभेद से आत्मा मे एकान्त नित्यत्व का भग होता हे। अत प्रतिवादी को आत्मा मे अनित्यत्व मिश्रित नित्यत्व का स्वीकार करने के लिए वाध्य होना पडता है।

● घटादि प्रदीप के स्वभाव नही ●

प्रदीपस्य ध० इति। यहाँ यह शका करना कि→''जैसे आत्मा का स्वभाव सुख-दु ख आदि है वैसे ही प्रदीप का स्वभाव भी घटादि बनने चाहिए। सुख-दु ख का साक्षात्कार करनेवाले पुरुष का स्वभाव यदि सुख, दु ख आदि है तव तो घट, पट आदि का साक्षात्कार करानेवाले प्रदीप का स्वभाव भी घट, पट, रूप आदि वनना चाहिए''←अपनी मूर्खता का प्रदर्शन हे। इसका कारण यह हे कि घट-पट आदि प्रकाश्य वस्तु प्रदीप का न तो स्वद्रव्य है, न तो स्वगुण है ओर न तो स्वपर्याय है। यदि घटादि प्रदीप के द्रव्य, गुण या पर्याय मे से एक भी होता तव तो विना किसी हिचकिचाहट के यह इजाजत हम दे देते कि 'घटादि प्रदीप का स्वभाव है'। मगर वैसा नही हे, यह तो शिष्ट जनो मे प्रसिद्ध है। अत घटादि को प्रकाशित करने वाले प्रदीप का स्वभाव घटादि नही है -यह निर्विवाद सिद्ध होता है।

● प्रदीप भी एकातनित्य नही ●

घटपटादीना० इति। इसके अतिरिक्त एक वात यह है कि प्रदीप की भाँति आत्मा मे क्रमश सुखदु खभोग की उपपत्ति करना भी ठीक नही हे, क्योकि प्रदीप भी एकात नित्य नही है। प्रदीप एकान्त नित्य न होने का कारण यह है कि घट-पटादि का क्रमश प्रकाशन करने पर प्रदीप के प्रकाशन स्वभाव मे भिन्नकालीनत्वरूप विरुद्ध धर्म की आपत्ति आयेगी, क्योकि क्रमश प्रकाश करने पर घटप्रकाश काल मे पटादि का प्रकाश ओर पटप्रकाशन काल मे घटादि का प्रकाश न करने की वजह विभिन्नकालीनत्वस्वरूप विरुद्ध धर्म की सत्ता प्रदीप के प्रकाशस्वभाव मे मानना अनिवार्य हे। विरुद्धधर्माध्यास की वजह प्रदीप का प्रकाशनस्वभाव भी एक नहीं होगा, अलग-अलग होगा। स्वभावभेद से स्वभाव के आश्रयभूत प्रदीप मे भी भेद होगा। एक मे विरुद्ध दो स्वभाव नहीं

अथैवमपि ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूपं सर्वथानित्यत्वमक्षतमेवेति चेत् ? न, मनुष्यत्वादिनैव तद्ध्वंसादात्मत्वादिना स नेति

★ जयलता ★

अथ गुणगुण्यादीनां न स्वभावेन सम्बन्धित्वं किन्तु समवायेनैवेति चेत् ? न तद्वृत्ति तद्वृत्तीनामेकसम्बन्धस्यैवौचित्यात् । न चैवं रक्तादीनां स्फटिकस्वभावतापत्तिः, परमार्थतः तेषां तद्वृत्तित्वात् परम्परया तद्वृत्तित्वेन तदशुद्धस्वभावत्वस्य चेष्टत्वात् । अत एव रक्तादीनां स्फटिके एकप्रदेशभावेनाऽभेदात् तत्स्वभावत्वमित्युक्तावपि क्षतिविरहात् । एतेन वह्निपरिणताऽयस्पिण्डस्य वह्निस्वभावत्वमपि व्याख्यातम्, एकावगाहनाभावेनाऽभेदात्तत्स्वभावत्वस्य तदानीमिष्टत्वात् । तदुक्तं "परिणमदि जेण दव्वं तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्तं" [प्र.सा.] इति ।

यत्तु न्यायभूषणे भासर्वज्ञेन "एकान्तपक्ष एव कुशलाकुशलकर्माद्युपपत्तेः । तथाहि यदि य एव कर्मणः कर्ता स एव तत्फलोपभोक्तेत्ययमेकान्तः स्यात्, तदा इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थो तत्कर्मसु प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्घटते । अनेकान्तपक्षे तु अन्यकृतमप्यन्येनोपभुज्यत इति स्यात् । तथा च भोजनादिक्रियास्वपि प्रेक्षावता न प्रवर्तितव्यम् । राजादिकृतेष्वेव भोजनादिकर्मसु नग्नश्रमणकस्यापि तृप्तिर्भविष्यति, अभवने ह्येकान्तग्रहः स्यात्" [न्या.भू.पृ. ५५५] इत्युक्तं तदनेकान्ताज्ञानविजृम्भितम्, आत्मत्वादिना आत्मायनाशस्याऽपि स्वीकारात्, मनुष्यत्वादिना तु तन्नाशस्याऽप्यङ्गीकारान्नाऽनेकान्तक्षतिरिति प्रागेवोपवर्णितम् [द्रष्टव्यं २५तमे पृष्ठे] । तदुक्तं समन्तभद्राचार्येणाऽपि बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रे 'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः, प्रमाणनयसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्' ॥ [बृ.स्व.गा.१०३]

नैयायिकः शङ्कते - अथेति । एवमपि = क्रमिकसुखदुःखभोगेन स्वभावभेदोपगमेऽपि, ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूपं = ध्वंसप्रतियोगित्वव्यधिकरणध्वंसाऽप्रतियोगित्वस्वरूपं, सर्वथानित्यत्वं अक्षतं = अव्याहतं एवेति, 'आत्मनी'ति प्रकरणबलाद् गम्यते । अस्तु नामाऽऽत्मनि स्वभावभेदः किं तच्छिन्न ध्वंसप्रतियोगित्वाऽसमानाधिकरणध्वंसप्रतियोगित्वरूपस्य कूटस्थनित्यत्वस्याऽस्मन्मनोवाञ्छितपूरणसुरतरोरुन्मूलितत्वादिति स्वभावभेदापादनायासोऽरण्यरुदनमहोदर इति अयाशयः । स्याद्वादी तन्निराचष्टे - नेति । मनुष्यत्वादिनैवेति । आदिशब्देन ज्ञान-सुखादेर्ग्रहणम् । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः । तद्ध्वंसात् = आत्मध्वंसात् । अनेनाऽऽत्मनि मनुष्यत्वाद्यवच्छिन्नध्वंसप्रतियोगित्वप्रतिपादनात्सर्वथानित्यत्वमात्मनः प्रत्युक्तम् । आत्मत्वादिना स

● रमणीया ●

रह सकते । इस तरह घटप्रकाशकालीन और पटप्रकाशकालीन प्रदीप में भेद सिद्ध होने से प्रदीप भी सर्वथानित्य नहीं हो सकता ।

शंका :- अथैव० इति । ठीक है जनाब! आपने क्रमशः सुख और दुःख के भोग से आत्मा में स्वभावभेद को सिद्ध कर दिया, मगर इससे क्या ? ऐसा मानने पर आत्मा में ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूप सर्वथानित्यत्व की स्वीकृति में कोई फर्क नहीं पडता । आपने भिन्न भिन्न काल में सुख-दुःख के भोग की बदौलत आत्मा में स्वभावभेद को सिद्ध करने का प्रयास किया है, न कि ध्वंस की प्रतियोगिता को भी सिद्ध करने का । अतः आत्मा को एकान्त नित्य मानने पर भी क्रमशः सुख और दुःख का मानस साक्षात्कार माना जा सकता है । इसलिए मूल ग्रन्थ के द्वितीय श्लोक के पूर्वार्ध में जो आपादन किया गया है कि - 'आत्मा एकान्त नित्य होने पर सुख-दुःख का मानस साक्षात्कार (=भोग) न हो सकेगा' - वह निर्युक्तिक है यह सिद्ध होता है ।

● आत्मध्वंसप्रतियोगितावच्छेदक साक्षात्मनुष्यत्वादि - स्याद्वादी ●

समाधान :- न, मनु० इति । साहब ! आपको स्मरणशक्ति के लिए ब्राह्मी तेल आदि का सेवन जरूरी है । आत्मा में ध्वंस की प्रतियोगिता है यह तो हमने पहले ही सिद्ध कर दिया है कि -"मनुष्यत्व आदि धर्मावच्छिन्न आत्मप्रतियोगिक ध्वंस की प्रतियोगिता आत्मा में रहती है, आत्मत्वादिधर्मावच्छिन्न नाशप्रतियोगिता नहीं" । मनुष्यरूप से आत्मा का नाश मुमकिन है । अतः आत्मा में मनुष्यत्वादिधर्मावच्छिन्न ध्वंसनिरूपितप्रतियोगिता अनायास प्राप्त होगी । यह तो पूर्व में भी हम बता चूके हैं । आइन्दा ऐसी शंका कर के खट-पट नहीं करना । यहाँ यह दहशत भी कि → "मनुष्यत्व आदि की भाँति आत्मत्व आदि भी आत्मपर्याय होने से वे आत्मा से अभिन्न होंगे । अतएव वे भी परस्पर अभिन्न हो जायेंगे । A = B तथा C = B ऐसा होने पर A = C ऐसा होना न्यायसंगत ही है । यहाँ A शब्द से मनुष्यत्वादि का, B शब्द से आत्मा का एवं C शब्द से आत्मत्वादि का ग्रहण किया जा सकता है । तथा जब यह हो ही गया कि 'आत्मत्व आदि एवं मनुष्यत्व आदि में कोई भेद नहीं है', तब तो मनुष्यत्वादि की भाँति आत्मत्वादि भी ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदक बनने से आत्मा का सर्वथा नाश प्रसक्त होगा जिसके परिणाम स्वरूप में स्याद्वादी का बौद्धमत में प्रवेश होगा, या तो आत्मत्व आदि की भाँति मनुष्यत्व आदि भी ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदक न बनने से आत्मा सर्वथा नित्य सिद्ध हो जायेगा, फलतः स्याद्वादी का नैयायिक-सांख्य आदि के मत में प्रवेश होगा"←नामुनासिब है, चूँकि आत्मत्व आदि और मनुष्यत्व आदि में अत्यंत भेद न होने पर भी आत्मध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता की अवच्छेदकता साक्षात् मनुष्यत्वादि धर्म में ही है-ऐसा अनुभव के बल पर माना जाता है । 'मनुष्यत्व-चैत्रत्वादिना स नष्टो न त्वात्मत्व-द्रव्यत्वादिना' इस अनुभव के सामर्थ्य से मनुष्यआदिवृत्ति मनुष्यत्व आदि धर्म में ही आत्मध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकता की प्रामाणिक कल्पना की जाती है । अतः न तो सर्वथानाश

तु प्रागेव प्रत्यपीपदाम। आत्मत्वमनुष्यत्वयोरपि भेदे का प्रत्याशेति चेत्? न, तयोरत्यन्तभेदाभावेऽपि साक्षाद् ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य मनुष्यत्वादावेव प्रतीतिबलेन कल्पनात्।

इदमत्र ध्येयम् यद्यपि यत्किञ्चिद्घटात्यन्ताभाववति अजायमानया 'घटो नास्ती'ति प्रतीत्या तत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता

★ जयलता ★

= आत्मध्वसो नेति। अनेनाऽऽत्मनः सर्वथानित्यत्व निराकृतम्। प्रागेवेति। "आत्मत्वादिनाऽऽत्मादेर्नित्यत्व तद्भावाऽव्ययत्वात्, घटत्वादिना तु घटस्य नेति। मनुष्यत्वादिना त्वात्मादेरपि ध्वसोऽनिवारित एव" [पश्यता २५तमे पृष्ठे] इत्यत्रैवेति।

भेदे का प्रत्याशेति। आत्मत्व- मनुष्यत्वयोरात्मपर्यायत्वाविशेषेणाऽऽत्माऽभेदात्तदभेदः प्रसज्येतेति मनुष्यत्वेनेवाऽऽत्मत्वेनाऽप्यात्मध्वसः स्यात्। ततः सर्वथा क्षणिकत्वपक्षप्रवेशः। यद्वाऽऽत्मत्वेनेव मनुष्यत्वेनाऽपि तस्य ध्वसाऽप्रतियोगित्वादेकान्तनित्यत्वमित्युभयतः पाशारज्जुरिति शङ्काशयः। स्याद्वादी तत्प्रत्यादिशति नेति। तयो = आत्मत्वमनुष्यत्वयोः, अभिन्नद्रव्यपर्यायत्वात् जलानलवत् अत्यन्तभेदाऽभावेऽपि साक्षात्ध्वसप्रतियोगितावच्छेद-कत्वस्य = पारम्पर्यशून्यध्वसप्रतियोगिताच्छेकत्वस्य, मनुष्यत्वादावेवेति। एवकारेणाऽऽत्मत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः। प्रतीतिवलेनेति। अय भावः यथा नैयायिकमते घटध्वसाधिकरणकघटात्यन्ताभावस्य घटध्वसरूपत्वेऽपि घटध्वसाधेयतावच्छेदकता घटात्यन्ताभावत्वे एव न तु घटध्वसत्वे 'घटध्वसे घटो नास्ती'ति प्रतीतावपि 'घटध्वसे घटो ध्वस्त' इत्यप्रत्ययात्। तथैव ममाऽपि मनुष्यादिसाक्षाद्वृत्तिर्मनुष्यत्वादेरेवाऽऽत्मध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्। आत्मत्वव्यापकत्वमपि तस्य न साक्षादिति न देवाद्यवस्थायामात्मत्वसत्त्वेऽपि मनुष्यत्वादिसत्त्वप्रसङ्गः। अत एव सुखादेरात्मस्वभावत्वेन तद्ध्वसप्रतियोगित्वस्याऽऽत्मनि पर्यवसानेऽपि नाऽऽत्मत्वे तन्नाशप्रतियोगितावच्छेदकत्वप्रसङ्गः। न च सुखादेरेव ध्वसो न पुनस्तदाश्रयस्येति वाच्यम्, अतिरिक्तध्वसे मानाभावेन सुखाद्युत्तरत्वविशिष्टस्याऽऽत्मन एव सुखादिनाशरूपतायाः परेणाऽप्यवश्यमभ्युपेयत्वात्। किञ्चात्मत्वस्य मनुष्यध्वसप्रतियोगिताव च्छेदकत्वकल्पने उपस्थितिकृत सम्बन्धकृतश्च गौरवम्। मनुष्यपदेनाऽऽत्मत्वस्य साक्षादनुपस्थितेः, स्वाश्रयतादात्म्यसम्बन्धेनैवोपस्थितेः, मनुष्यत्वस्य तु साक्षात् उपस्थितिः तत्तादात्म्यादिति नात्मत्वस्य ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकत्वमिति स्थितम्।

ननु 'मनुष्यत्वाद्यवच्छिन्नध्वसप्रतियोगित्वमात्मनी'त्युक्तमभिधानम्, ध्वसप्रतियोगिताया धर्मानवच्छिन्नत्वात्। तदुक्त नृसिंहशास्त्रिणा 'घटध्वसप्रागभावयोः धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे मानाभावेन' [मुक्ता प्र पृ १६१] इति। अतिप्रसक्तधर्मस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात्, अन्यथा यत्किञ्चिद्घटाभाववत्यपि भूतले घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावावगाहिनी प्रमा जायेतेत्याशङ्कायामाह - इदमत्र ध्येयमिति। यद्यपीति। अस्य च तथापीत्यनेनाऽन्वयः। यत्किञ्चिद्घटात्यन्ताभाववतीति। भूतलादाविति गम्यते। यत्किञ्चित्पदोपादानात्तदन्यघटसत्त्वमुपदर्शितम्। तत्र = अत्यन्ताभावे, प्रकृते घटात्यन्ताभावे। घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता = घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वनिरूपकता, सिध्यति। ध्वसे तु नेव = न

● रमणीया ●

से क्षणिकमतप्रवेश की आपत्ति है और न तो सर्वथानित्यत्व से नैयायिक-साख्यादिमतप्रवेश की आपत्ति है। अत आत्मा मे मनुष्यत्व आदि धर्म की अपेक्षा ध्वसप्रतियोगित्व और आत्मत्व आदि धर्म की अपेक्षा ध्वसाऽप्रतियोगिता होने से नित्याऽनित्यत्व की सिद्धि होती है। अत पारमार्थिक वस्तुस्थिति के साथ खिलवाड करना अपने अज्ञान का ही प्रदर्शन है - ऐसा एकातवादी को सबक मिलता हे।

● ध्वसप्रतियोगिता भी अतिप्रसक्तधर्मावच्छिन्न - स्याद्वादी ●

इदमत्र ध्ये॰ इति। यहाँ इस बात की इत्तला पाठको से दे देनी जरूरी है कि - यद्यपि सामान्यत अत्यताभाव की प्रतियोगिता ही धर्मावच्छिन्न होती है, न कि ध्वसनिरूपित प्रतियोगिता। आशय यह है कि जिसका अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है। प्रतियोगी अपने ससर्गाभाव का विरोधी होता हे। अत जब भूतलादि मे एक भी घट होता है तब अन्य घट का वहाँ अत्यताभाव होने पर भी 'भूतले घटो नास्ति' = 'भूतल मे घट नही है' यह प्रतीति होती नही हे, किन्तु यावद् घट का = घटत्वावच्छिन्न का विरह होने पर ही 'भूतले घटात्यनाभाव' यह प्रमिति होती है। इससे सिद्ध होता है कि भूतलवृत्ति अत्यताभाव से निरूपित घटवृत्तिप्रतियोगिता घटत्व से अवच्छिन्न = घटत्वव्यापक है। अर्थात् जहाँ जहॉ घटत्व है वहॉ वहॉ घट के अत्यताभाव से निरूपित प्रतियोगिता है, क्योकि घटत्व के आश्रय सभी घट उस भूतल मे अविद्यमान है। तदभावप्रतियोगिता को छोड कर घटत्व अन्यत्र रहता नही है। अत घटत्व घटअत्यताभावीय प्रतियोगिता से अनतिरिक्तवृत्ति कहा जाता है। तत्प्रतियोगिताऽतिप्रसक्त न होने से घटत्व तत्प्रतियोगितावच्छेदक होता हे। मगर ध्वसस्थल मे ऐसा कहा जा नही सकता, क्योकि भूतल मे यत्किंचित् घट का ध्वस होने पर भी 'भूतले घटो ध्वस्त' यह प्रतीति होती है। यावत् घट का नाश न होने पर भी 'घट नष्ट हुआ' इस सार्वजनिक अनुभव के अनुरोध से घटत्व घटध्वसनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो नही सकता। घटत्व वहॉ भी रहता है जहॉ घटध्वस की प्रतियोगिता नही है। अर्थात् विद्यमान घट मे घटध्वसप्रतियोगिता रहती नही है फिर भी घटत्व तो रहता ही है। तत्प्रतियोगिता से अतिप्रसक्त होने की वजह घटध्वसनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व हो सकता नही है - ऐसा सामान्यत विचार करने पर मालुम पडता है। तथापि अनुभव के समुदर मे गहराई से डुबकी लगाई जाए तो धर्म भी ध्वसनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो सकता है - यह सिद्ध किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि 'घटत्वेनाऽय ध्वस्तो न तु मृत्त्वेन' = 'यह

सिध्यति । ध्वंसे तु नैव, तथापि 'घटत्वेनाऽयं ध्वस्तः = ध्वंसप्रतियोगी न तु मृत्त्वेने'त्यादिप्रतीत्या तत्र सा सिध्यति । अवच्छेदकता हि स्वरूपविशेषः । सा च क्वचिदतिप्रसक्तेऽपि धर्मे प्रतीतिबलात्कल्प्यते इति ।

ननु तथापि ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकरूपवत्त्वं पर्यायस्यैवाऽनित्यत्वमस्तु द्रव्यस्य तु कथमिति चेत् ? न तादृशरूपवदभिन्नत्वस्या-

★ जयलता ★

घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम् । अयं भावः यावद्घटशून्ये एव भूतलादौ घटात्यन्ताभावप्रतीतेरुदयात् अत्यन्ताभावीयप्रतियोगितायाः प्रतियोगितावच्छेदकधर्मव्यापकत्वं सिध्यति । अतोऽन्ताभावप्रतियोगिता सावच्छिन्ना भवति । संसर्गाभावे विरोधित्वमेव प्रतियोगित्वं, यस्याऽभावः स तत्प्रतियोगी भवति । किन्तु घटध्वंसीयप्रतियोगिताया न धर्मावच्छिन्नत्वं वक्तुं शक्यते, अन्यथा यावद्घटनाशप्रसङ्गात्, संसर्गाभावस्य स्वप्रतियोगिविरोधित्वात् । तथापीति । विशेषद्योतनायेदम् । तदेवाह - 'घटत्वेनेति । तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वं । अन्वयश्चाऽस्य ध्वस्तपदार्थैकदेशप्रतियोगितायाम् । अयमिति सन्निकृष्टवाचकः शब्दः इदन्त्वं च पुरोवर्तिवृत्तित्वं प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्वं वा । प्रकृते घटो लभ्यतेऽनेन । ध्वस्त = ध्वंसप्रतियोगी = ध्वंसनिरूपितप्रतियोगितावान् । तत्र = ध्वंसे, सा = धर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकता, सिध्यति । अवच्छेदकता हि स्वरूपविशेष इति । अनेन तस्या स्वरूपातिरिक्तत्वव्यवच्छेदः कृतः ।

अथ यत्किञ्चिद्घटनाशीयप्रतियोगिता न घटत्वावच्छिन्ना भवितुमर्हति, ध्वंसाऽप्रतियोगिन्यपि घटान्तरे सत्त्वेन तस्य प्रतियोगिताऽतिरिक्तवृत्तित्वा-दित्याशङ्कायामाह- सा चेति । अवच्छेदकता चेति । अतिप्रसक्तेऽपि धर्मे प्रतीतिबलात्कल्प्यत इति । अयं भावः यथा 'घटवद् भूतलमि'ति प्रतीतिबलात्संयोगनिष्ठविषयतायाः संयोगत्वस्वरूपेण तज्ज्ञानविषयतातिप्रसक्तधर्मेणाऽवच्छिन्नत्वात्तत्र तेनावच्छेदकता संयोगत्वेऽतिप्रसक्तेऽपि कल्प्यते तथैव प्रकृतेऽपि घटध्वंसीयप्रतियोगितातिप्रसक्तधर्मे घटत्वरूपे तदवच्छेदकता प्रतीतिबलात्कल्प्यते । विषयतावत्प्रतियोगिताया अप्यतिप्रसक्तधर्मावच्छिन्नत्वे विशेषविरहात् । अनेन सामान्यनिरुक्तौ दीधितिकृता' अवच्छेदकोऽनतिरिक्तधर्मो भवती'ति यदुक्तं तत्प्रत्युक्तम्, 'दण्डे दण्डत्वेन घटकारणता न द्रव्यत्वेने'त्यत्रातिरिक्तद्रव्यत्वस्याऽप्यवच्छेदकत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात् [दृश्यतां १६०तमे पत्रे] ।

वस्तुतस्तु अवच्छिन्नत्वस्य व्यापकत्व-विशिष्टत्व-समानाधिकरणत्वानुकूलत्वमीमांकरणाद्यर्थकत्वात् 'घटत्वेनाऽयं नष्ट' इत्यत्र तृतीयार्थस्याऽवच्छिन्नत्वस्य सामानाधिकरण्यमेवार्थः न तु व्यापकत्वं, बाधात् । 'घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाववद् भूतलमि'त्यादौ तु व्यापकत्वमेव तदर्थः । एतेन ध्वंसीयप्रतियोगिताया इवात्यन्ताभावीयप्रतियोगिताया अप्यतिप्रसक्तधर्मावच्छिन्नत्वं स्यात् ससंसर्गाभावत्वाऽविशेषात् न स्याद्वाऽत्यन्ताभावीयप्रतियोगिताया इव निरूपितत्वसम्बन्धेन ध्वंसविशिष्टप्रतियोगिताया अपि तदवच्छिन्नत्वम्, अन्यथा पक्षपातमात्रादिति प्रत्युक्तम् ।

एवञ्चात्मध्वंसनिरूपितप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वमतिरिक्तवृत्तिमनुष्यत्वादावपि निराबाधमिति सिद्धमात्मनो ध्वंसप्रतियोगित्वसमानाधिकरणध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूपं नित्यानित्यत्वम् ।

नन्विति । अस्य चेति चेदित्यनेनाऽन्वयः । तथापीति । ध्वंसीयप्रतियोगिताया अतिप्रसक्तधर्मावच्छिन्नत्वोपगमेऽपीति । पर्यायस्यैवेति । 'पर्याये'त्युपलक्षणं गुणस्य । एवकारेण द्रव्यव्यवच्छेदः कृतः । अयं नन्वाशयः ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकरूपवत्त्वमेवाऽनित्यत्वं, ध्वंसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वमेव च नित्यत्वम् । ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकीभूतं मनुष्यत्वादिकं साक्षात्तु मनुष्यादिपर्याये एव वर्तते न त्वात्मादिद्रव्ये । अतः पर्यायस्यैवोक्तस्वरूपमनित्यत्वं स्यान्न तु द्रव्य इति । स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - नेति । तादृशरूपवदभिन्नत्वस्याऽनित्यत्वस्योभयसाधारण्यादिति ।

● रमणीया ●

(घट) घटरूप से नष्ट हुआ है, न कि मृद्रूप से भी' ऐसा लोगों का अनुभव है। यहाँ उल्लिखित तृतीया विभक्ति का अर्थ तो अवच्छिन्नत्व ही है। इस स्वारसिक प्रतीति के अनुरोध से घटत्व में भी घटध्वंसीय प्रतियोगिता की अवच्छेदकता सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि अवच्छेदकता अवच्छेदक का स्वरूपविशेष ही है, अतिरिक्त नहीं। यह अवच्छेदकता कभी कभी अतिप्रसक्त धर्म से भी अवच्छिन्न होती है। यह तो 'घटवद् भूतल' इस ज्ञान में प्रसिद्ध ही है, क्योंकि इस ज्ञान की संयोगनिष्ठ विषयता संयोगत्व धर्म से जो विषयता से अतिप्रसक्त है, अवच्छिन्न होती ही है। इसी तरह घटध्वंस की प्रतियोगिता को भी घटत्व धर्म से, जो घटध्वंसीय प्रतियोगिता से अतिरिक्तवृत्ति है, अवच्छिन्न मानी जा सकती है। अतः आत्मध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता को, जो आत्मा में रही हुई है, मनुष्यत्वादि अतिरिक्तवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न मानने में कोई दोष नहीं है। अतः आत्मा में मनुष्यत्वादिधर्मावच्छिन्न ध्वंसनिरूपित प्रतियोगिता और आत्मत्वादिअवच्छिन्न ध्वंसप्रतियोगिता का अभाव होने से नित्यानित्यत्व का निर्विवादरूप से स्वीकार हो सकता है।

● द्रव्य में अनित्यत्व की अनुपपत्ति की आशंका ●

शंका :- ननु तथा० इति। जी, सरकार ! आपने ध्वंसप्रतियोगिताअवच्छेदकरूपवत्त्वस्वरूप जो अनित्यत्व फरमाया है, वह तो केवल पर्याय में ही रह पाता है, द्रव्य में नहीं। अतः द्रव्य में अनित्यत्व हो नहीं सकेगा। मतलब यह है कि ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदक धर्म मनुष्यत्वादि तो साक्षात् मनुष्यादि में ही रहते हैं, आत्मादि में नहीं, जैसे ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकता साक्षात् मनुष्यादि पर्याय में रहेगी, आत्मादि द्रव्य में नहीं। तो फिर आत्मादि द्रव्य में अनित्यत्व कैसे रह सकेगा ? बदकिस्मती की बात है कि आपने फरमाया हुआ ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूप अनित्यत्व किसी भी द्रव्य में रहता नहीं है। अतः हुजुर के आदेशानुसार गुण, पर्याय अनित्य

ऽनित्यत्वस्योभयसाधारण्यात्, अन्यथा मेर्वादिपर्यायेष्वपि तदभावात् ।

★ जयलता ★

ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकरूपवत्त्वरूपानित्यत्वस्य साक्षात् द्रव्याऽवृत्तित्वेऽपि ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकरूपवदभिन्नत्वस्वरूपानित्यत्वस्य द्रव्यपर्यायसाधारण्यान्न द्रव्यस्याऽनित्यत्वव्याहतिः । तथाहि ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकमनुष्यत्वादिवन्मनुष्याद्यभिन्नत्वस्य मनुष्यादिष्विवाऽऽत्मादिष्वपि सत्त्वादात्मादिद्रव्याणामप्यनित्यत्वोपपत्तेः । विपक्षे बाधमाह - अन्यथेति । ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवदभेदरूपस्याऽनित्यत्वस्याऽनङ्गीकारे । मेर्वादिपर्यायेष्वपीति । आदिशब्देन शाश्वतप्रतिमापृथ्वीविमानभवनादीना ग्रहणम् । तदभावात् = अनित्यत्वाभावप्रसङ्गात् । अय भाव· ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकरूपवत्त्वस्यैवाऽनित्यत्वे मेर्वादिपर्यायाणामनित्यत्व न स्यात्, मेरुत्वादेर्ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकत्वात्, मेर्वादिरूपेण तेषा शाश्वतत्वात् । यदि च तादृशरूपवदभिन्नत्वमनित्यत्वमङ्गीक्रियते तदा न तेषामनित्यत्वानापत्ति·, यतोऽसख्येयकाले तत्र तादृशस्कन्धद्रव्याणामपगमात् तादृशसस्थानापन्नद्रव्यत्वस्वरूपध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्तादृशस्कन्धद्रव्याभिन्नत्वस्य मेर्वादिपर्यायेष्वपि सत्त्वात्, साक्षात्तु तादृशधर्मस्य तथाविधस्कन्धद्रव्येष्वेव सत्त्व मनुष्यादिषु मनुष्यत्वादेरिव । अतः तादृशरूपवदभिन्नत्वमेवानित्यत्वमुपगन्तुमर्हति ।

एतेन सुखादेरेव ध्वसो न पुनस्तदाश्रयस्याऽऽत्मन इति नैयायिकवचन प्रत्युक्तम् सुखाद्युत्तरत्वविशिष्टात्मन एव तन्नाशरूपत्वात् । तदुत्तरत्व च यद्रूपेण तद्रूपवदभिन्नत्व ध्वसप्रतियोगित्वमिति । युक्तश्चैतत् 'अह सुखवानभवमि'त्यादिप्रतीतेः सुखवति ध्वसप्रतियोगित्वोल्लेखित्वात् । अत एवाऽत्र विशेषणस्यैव ध्वसप्रतियोगित्वमित्यपि प्रत्याख्यातम् विशिष्टस्यैव प्रतियोगित्वानुभवात्, इतरत्रान्वितस्य सुखस्य तत्राऽन्वयाऽयोगाच । न च विशिष्टहेतुकल्पने गौरवमिति साम्प्रतम्, सुखनाशकस्यैव सुखविशिष्टनाशकत्वात् । अत एव क्षणहेतूनामेव क्षणविशिष्टहेतुत्वात् सर्वत्राऽविशिष्टवैस्रसिकोत्पादसिद्धिः । एवमेव च सर्वत्राऽविशिष्टवैस्रसिकनाशसिद्धिः । न चैव 'ज्ञान नष्टमि'तिवद् 'आत्मा नष्टः' इति व्यवहारः स्यादिति वाच्यम् आत्मत्वेन ध्वसाऽप्रतियोगित्वात् । न चैव 'घटो नष्ट' इतिव्यवहारोपपादनेऽपि 'कम्बुग्रीवादिमान्नष्ट' इति व्यवहारो न स्यादिति वक्तव्यम् गुरुरूपस्याऽपि प्रकारताद्यवच्छेदकत्ववन्नाशादिप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । अत एव नित्यानित्यत्वव्यवहारयोरप्यसाङ्कर्यमिति दिक् ।

● रमणीया ●

हो सकते है, द्रव्य नही - यह शिकायत पेश है ।

● द्रव्य-गुण-पर्यायानुगत अनित्यत्व का निर्वचन ●

समाधान : न तादृ० इति । उस्ताद ! हम क्या कहते है ? वह तो जरा सुनो ! अनित्यत्व का लक्षण है ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवदभिन्नत्व । ऐसा मानने पर द्रव्य-गुण-पर्याय, इन तीनो मे अनित्यत्व का लक्षण जायेगा । देखिए, ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक मनुष्यत्व आदि धर्म का साक्षात् आश्रय है मनुष्य आदि और उससे अभिन्न है आत्म आदि, क्योकि द्रव्य-पर्याय अभिन्न होते है । तथा अपना अभेद अपने मे रहता ही है । इसलिए ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकमनुष्यत्वादिधर्मवदभिन्नत्व, जो अनित्यत्वस्वरूप है, मनुष्यआदि और आत्मआदि मे भी रहेगा । अत उपर्युक्त अनित्यत्व का स्वीकार करने पर द्रव्य मे अनित्यत्व की अनुपपत्ति की शिकायत उन्मूलित हो जाती है । दूसरी बात यह है कि हम उपर्युक्त अनित्यत्व की व्याख्या मन-पसद होने से नही करते और ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वस्वरूप अनित्यत्व का त्याग नापसद होने से करते नही है । इसके पीछे भी एक रहस्य पडा है । लो, अब इसका भी पर्दा उठाते है । ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को ही अनित्यत्व मानने पर मेरु आदि पर्याय अनित्य नही होगे, जिनमे अनित्यत्व होना हमे मजूर है । इसका कारण यह है कि मेरुपर्वत, देवविमान, भवन, आठ पृथ्वी आदि का सस्थान सदा के लिए वही रहता है, उसमे परिवर्तन को अवकाश नही है । अत मेरुत्व आदि तो ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक हो नही सकते । तब भला ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मत्वस्वरूप अनित्यत्व मेरु, देवविमान आदि पर्याय मे कैसे रहेगा ? अत ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्व को अनित्यत्व माना जा नही सकता । हॉ, ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्माश्रयाभिन्नत्व को अनित्यत्व माना जा सकता है । इसका कारण यह है कि दर असल उत्कृष्ट से असख्य कालचक्र के बाद तो अवश्य मेरुपर्वत, देवविमान, शाश्वत प्रतिमा आदि के सब पुद्‌गल द्रव्य बदल जाते है । शाश्वत कहे जाने वाले मेरुपर्वत आदि स्कध के सब द्रव्य का असख्य काल के बाद अवश्य ही परिवर्तन होना नियति को - लोकस्थिति को मजूर है । अत तादृशस्कधद्रव्यत्वरूप से असख्य काल की अवधि मे तो उनका नाश होने वाला ही है । अत तादृशस्कधद्रव्यत्व ध्वसप्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा-जो साक्षात् तादृश स्कध द्रव्य मे रहता है, मेरुपर्वत आदि पर्याय मे नही । मेरुपर्वत, देवविमान, आदि पर्याय स्वाश्रय तादृशस्कधद्रव्य से अभिन्न होने के नाते से ध्वसप्रतियोगितावच्छेदक-तादृशस्कधद्रव्यत्वस्वरूपधर्माश्रयाभिन्नत्वस्वरूप अनित्यत्व वाले हो सकते है, साक्षात् नही । अत ध्वसप्रतियोगितावच्छेदकधर्माश्रयाऽभिन्नत्व को ही अनित्यत्व मानना मुनासिब है ।

● एकान्तक्षणिकपक्ष मे सुख-दुःखसाक्षात्कार की अनुपपत्ति ●

अथानि० इति । अब व्याख्याकार मूल ग्रन्थ की द्वितीय कारिका के उत्तरार्ध की व्याख्या करते है—> मूलकारश्री कलिकालसर्वज्ञ महाराजा अब एकान्तअनित्यत्व पक्ष मे दोष बताते है कि आत्मा को एकान्तत अनित्य मानने पर सुख-दु ख का मानस साक्षात्कार

अथाऽनित्यत्वपक्षेऽपि दोषमाहुः - 'एकान्तानित्यरूपेऽपी'ति - निगदसिद्धमिदम् । अय भावः - एकान्ताऽनित्यस्य सत आत्मनः सुख-दुःखयोर्युगपद् भोगो विरुद्धत्वादेव नेष्टः । क्रमभोगपक्षे तु क्षणिकत्वपक्षो बालतरलाक्षिकटाक्षतरलः, तत्क्षणध्वंसाधिकरणसमयस्यैव क्रमपदार्थत्वात् । क्षणिकस्य तु जातमात्रस्यैव विनाशादुत्तरक्षणाननुवृत्तेः ।

एवञ्च 'प्रवृत्तिविज्ञानोपादानमालयविज्ञानसंतान एवात्मा । स च पूर्वपूर्वविज्ञानोपादेयः प्रतिसमयोत्पदिष्णुरनित्य एवे'ति

★ जयलता ★

अवसरसङ्गतिमुपदर्शयति - अथेति । अनित्यत्वपक्षे = एकान्तानित्यत्वपक्षे । आहुरिति । बहुमानदर्शनार्थं बहुवचनोपादानम् । श्रीहेमचन्द्रसूरय इति शेषः । युगपद् = एकदा भोगो = मानससाक्षात्कारः, विरुद्धत्वादेव नेष्ट सुखस्यैकावच्छेदेन दुःखव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वात् दुःखस्य चैकावच्छेदेन सुखव्यापकीभूताऽभावप्रतियोगित्वान्नैवाभिमतः । बालतरलाक्षिकटाक्षतरल इति चलितः त्यक्त इति यावत् । अनेनाऽपसिद्धान्तादिदोषा दर्शिता । तत्क्षणध्वंसाधिकरणसमयस्यैव क्रमपदार्थतादिति । अय भावः व्यवहारिकः सूक्ष्मः समयः क्षण इत्युच्यते । केचित्तु निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थो भागः क्षण इत्याहुः । स्वाधेयपदार्थप्रागभावानाधारः समयः क्षणः इत्यन्ये । प्रकृते सुखदुःखयोः क्रमेण भोगे सुखभोगक्षणोत्तरक्षणे सुखभोगध्वंसाधिकरणत्वविशिष्टे समये क्रमपदप्रतिपाद्ये दुःखभोगः संभवति । परन्तु तदानीं सुखभोक्ता आत्मा तु विनष्टः क्षणमात्रजीवित्वात्तस्य, अन्य एवात्मोत्पन्नः । अतो नैकस्याऽऽत्मनः सुख-दुःखभोक्तृत्वं संभवतीत्याशयेनाऽऽह- क्षणिकस्येति । प्रकृते आत्मनः उत्तरक्षणाननुवृत्ते = स्वजन्मोत्तरक्षणपर्यन्तमसत्त्वात् । नयोपदेशे तु प्रकरणकारैः "क्रमो नानाकालीनकार्यजनकत्वं स्वकार्यप्रागभावसमानकालीनकार्यजनकत्वं वा" [नयो श्लो १६५] इत्युक्तम् । तदपेक्षयाऽपि क्षणिके न सुख-दुःखयोर्भोगो घटते इति भावनीयम् ।

एवञ्चेति । अन्वयश्चास्याऽपास्तमित्यनेन । प्रवृत्तिविज्ञानोपादान = भाविप्रवृत्तिविज्ञानस्योपादानकारणीभूतः आलयविज्ञानसन्तान = कर्मानुभववासनालयाधिकरणीभूतविज्ञानाऽविच्छिन्नप्रवाह एव आत्मा = आत्मपदाभिधेयार्थः । एवकारेण लयपर्यन्तस्थायिविज्ञानधारातिरिक्तात्मनो व्यवच्छेदः कृतः । स = आलयविज्ञानसन्तानस्वरूप आत्मा च पूर्वपूर्वविज्ञानोपादेय = स्वाऽव्यवहितपूर्वपूर्वस्वरूपोपादानजन्यः, प्रतिसमयोत्पदिष्णु = प्रतिक्षणं जायमानः, अनित्य = ध्वंसप्रतियोगी एवेति । एवकारेण स्वोत्पादाऽव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिध्वंसाऽप्रतियोगित्वव्यवच्छेदः कृतः । योगाचारमते

● रमणीया ●

न हो सकेगा । यह अर्थ अत्यंत स्पष्ट होने की वजह कथनमात्र से ही मालुम हो जाता है । फिर भी स्पष्टता इस तरह है- आत्मा को एकांत अनित्य मानने पर वह सुख-दुःख का भोग एक ही समय में करेगा या भिन्न-भिन्न समय में करेगा ? ये दो विकल्प उपस्थित होते हैं । इन दो विकल्प के सिवा तीसरा तो कोई विकल्प संभव नहीं है । यदि प्रथम विकल्प को मान्यता दी जाय कि - आत्मा एक ही काल में सुख और दुःख का भोग करती है, तो यह नामुमकिन है, क्योंकि सुख और दुःख ये परस्पर विरुद्ध होने से एक काल में एक आत्मा में रहते ही नहीं है, तो फिर उनको एक ही काल में भोगने की बात कैसे मुमकिन होगी ? अतः विरोध दोष की बदोलत प्रथम विकल्प अग्राह्य है । यदि दूसरे विकल्प को मान्यता दी जाय कि - आत्मा क्रमशः = भिन्न भिन्न काल में सुख और दुःख को भोगती है, तो यह भी आत्मा को एकान्ततः अनित्य मानने पर असंभव है । यदि क्रमशः सुख-दुःख के भोग का अंगीकार किया जाय तो आत्मविशेष्यक एकान्तक्षणिकत्व पक्ष भी बालक की चंचल आँख की भाँति चंचल हो जायेगा- चलित हो जायेगा अर्थात् अपसिद्धांत दोष प्रसक्त होगा । इसका कारण यह है कि क्रमशब्द का अर्थ है पूर्वक्षणध्वंसाधिकरणसमय । सुख का भोग कर के दुःख का भोग करना इस तरह क्रमिक सुख-दुःख को भोगने का अर्थ है सुखभोगक्षणध्वंसाधिकरणसमयावच्छिन्नभोगविषयताविशिष्ट दुःख है । सुखभोग क्षण के अव्यवहित उत्तर क्षण में सुखभोगक्षण का ध्वंस होता है । अतः सुखभोगक्षण के उत्तर क्षण में सुखभोगक्षणध्वंस की अधिकरणता रहती है । तादृश अधिकरणताविशिष्ट समयावच्छेदेन दुःखभोग एकान्त क्षणिकत्वपक्ष में संगत हो नहीं सकता, क्योंकि एकान्त क्षणिकत्व पक्ष में सब पदार्थ अपनी उत्पत्ति के उत्तर क्षण में ही सर्वथा नष्ट हो जाने से द्वितीय क्षण में रहता ही नहीं है । अतः आत्मा भी जिस क्षण में सुख का भोग करेगी उसके दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जाने से दूसरे क्षण में दुःख का अनुभव कर नहीं सकती । दूसरी ही नवीन उत्पन्न आत्मा दुःख का भोग = साक्षात्कार करेगी । सुख को भोगने वाली आत्मा दुःख का भोग कर नहीं सकती और दुःख का भोग करने वाली आत्मा सुख को भोग नहीं सकती । इस तरह एक ही आत्मा में सुख और दुःख दोनों का भोग हो नहीं सकता, यदि आत्मा को क्षणमात्रजीवी मानी जाय । अतः क्षणिकपक्ष में भी एकांतनित्यपक्ष की भाँति सुख-दुःख के भोग की उपपत्ति हो नहीं सकती । अब व्याख्याकार श्रीमद्जी बौद्ध के मत का निराकरण करने के लिए प्रथम बौद्ध मत बताते हैं । वह इस तरह ।

● आलयविज्ञानसंतान ही आत्मा - योगाचार बौद्ध ●

योगाचार बौद्ध : एवं च प्रवृ० इति । आत्मा नाम की कोई अतिरिक्त स्थायी चीज नहीं है, किन्तु विज्ञानधारा ही आत्मा है । विज्ञान के दो प्रकार हैं प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान । 'घट पट' इत्याकारक ज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान कहा जाता है । और 'अहं' = 'मैं' इत्याकारक ज्ञान आलयविज्ञान कहा जाता है । आलयविज्ञान से सुषुप्ति में भी आत्मा की सिद्धि होती है, जो जागृत

मत अपास्तम्, कर्तुर्भोगसमयपर्यन्तमनवस्थानात्, अन्यकृतस्याऽन्येन भोगेऽतिप्रसङ्गात्, कालरूपसतानकृतैक्यस्याऽप्यन्यसाधारण्यात्,

★ जयलता ★

हि द्विविध विज्ञान प्रवृत्तिविज्ञानमालयविज्ञानञ्च । 'अय घट' इत्यादि प्रवृत्तिविज्ञानम् । 'अहमि'त्याकारक ज्ञानमालयविज्ञानम् । तदुक्तम् - "तत्स्यादालयविज्ञान यद् भवेदहमास्पदम् । तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञान नीलपीतादिके भवेत् ॥ [ ] । न च सुपुप्तावात्मा न सिध्येत्, पूर्वोत्पन्नविज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नष्टत्वात्, तदानी पुरीतद्देशाऽवच्छेदेन मनःसयोगस्य सत्त्वेन ज्ञानकारणीभूतत्वङ्मनोयोगस्याऽसत्त्वेन विज्ञानान्तरस्योत्पत्तुमशक्यत्वादिति वाच्यम् सुपुप्तौ 'घटः पटः' इति प्रवृत्तिविज्ञानस्याऽसत्त्वेऽपि 'अहमि'त्याकारकाऽऽलयविज्ञानस्य सत्त्वात्, पूर्वपूर्वविज्ञानजनितसस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने मृगमदवासनावासितवसन इव सक्रान्तत्वान्न तदालयविज्ञानधारानुपपत्तिः । तस्यैव जाग्रदवस्थाभाविप्रवृत्तिविज्ञानकारणत्वात् । न च क्षणिकत्वे उपादानोपादेयभावानुपपत्तिरिति वाच्यम् कार्याऽव्यवहितपूर्ववृत्तित्वे सति कार्यसजातीयत्वस्यैवोपादानत्वलक्षणत्वात् । साजात्यञ्च कार्यतावच्छेदकाऽवच्छिन्नत्वम् । आत्मत्वावच्छिन्न प्रत्यात्मत्वेनोपादानकारणतया उत्तरालयविज्ञान प्रति पूर्वालयविज्ञानस्योपादानत्वोपपत्तेः । अतो विज्ञानक्षणाऽभिन्नः द्विविधविज्ञानसतानस्वरूप एवाऽऽत्मा न तु तदतिरिक्तस्तदाश्रयरूप' । विज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वाचेतनत्वम् । विज्ञानञ्च भावः । भावत्वादेव दीपशिखावत् तस्य क्षणिकत्व । अतः क्षणिकविज्ञानमेवात्मेति पर्यवसितमिति विज्ञानवायाशयः ।

प्रदर्शितबौद्धमतनिराकरणे हेतूनाह - कर्तुरिति शुभाशुभप्रवृत्तिविज्ञानस्वरूपोपादानक्षणरूपस्य भोगसमयपर्यन्त = सुखदुःख भोगात्मकप्रवृत्तिविज्ञानलक्षणोपादेयक्षणपर्यन्त अनवस्थानात् = असत्त्वात् । अय भावः शुभाशुभकर्तैवोत्तरकाले सुख-दुःखभोक्ता भवति नान्यः । परन्तु शुभाद्यनुष्ठानकर्ता क्षणिकवादिमते स्वोत्पादानन्तरमेव विनष्टः । सुखादिभोगक्षणे तस्याऽविद्यमानत्वात् कृतनाशदोषप्रसङ्गः । न च शुभाशुभप्रवृत्तिविज्ञानलक्षणस्योपादानक्षणस्य विनष्टत्वेऽपि तदनन्तरोत्पन्नविज्ञानक्षणस्वरूपेणाऽऽत्मना सुख-दुःखभोगात्र कृतनाशप्रसङ्ग इति वाच्यम्, एव सति अकृताभ्यागमदोषप्रसङ्गेन 'एक सीव्यतोऽपरप्रच्युतिः'न्यायापात इत्याशयेनाऽऽह - अन्यकृतस्य = अपरकर्तृकस्य सुखादिलक्षणकार्यस्य अन्येन = तत्कर्तृभिन्नेन, भोगे = मानससाक्षात्कारकरणे सति अतिप्रसङ्गात् = चैत्रेण भुक्ते सति मैत्रस्य तृप्तिप्रभृतिप्रसङ्गात् ।

ननु मया नातिरिक्तचैत्रकर्तृत्वादि स्वीक्रियते किन्तु कालस्वरूपसतानान्त'पतितक्षणरूपसतानिकर्तृत्वादिकमेव । अतो नाऽन्यकृतस्याऽपरेण भोगप्रसङ्गः कालस्वरूपसतानाऽभिन्नसतानिक्षणकृतस्य कालरूपसतानाऽभिन्नक्षणस्वरूपसतानिनैव भोगादित्याशङ्कायामाह - कालरूपसतानकृतैक्यस्य = कालरूपसतानापादितकर्तृभोक्त्रभेदस्य, अपि अन्यसाधारण्यात् = इतरवृत्तित्वात् । कालरूपसतानस्योपगमे सर्वेषा चैत्रमैत्रादिस्वरूपविज्ञानक्षणाना कालात्मकसतानपतितक्षणानतिरेकात् युगपत् सुखादिभोगः प्रसज्येतेति भावः ।

● रमणीया ●

अवस्था मे पुन प्रवृत्तिविज्ञान को उत्पन्न करता है । यह द्विविध विज्ञानधारा भी तत् तत् ज्ञान क्षणो के समूह से अतिरिक्त नही है । पूर्वोत्तर विज्ञानक्षण मे ही उपादान-उपादेयभाव होता है । पूर्व-पूर्व विज्ञानक्षण उत्तर उत्तर विज्ञानक्षण का उपादान कारण होता है । उत्तर-उत्तर विज्ञानक्षण पूर्व-पूर्व विज्ञानक्षण से उपादेय = जन्य होता है । पूर्वोत्तरविज्ञान का कोई अतिरिक्त कारण नही है जिसे आत्माशब्द से व्यवहृत किया जाय । अत तत् तत् विज्ञानक्षण को ही आत्मा मानना उचित हे । एक क्षण तो दूसरे क्षण मे विद्यमान रहता नही हे । निरतर नया नया क्षण उत्पन्न होता रहता है । अत विज्ञानक्षणधारात्मक आत्मा भी प्रतिसमय उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है । इस तरह आत्मा क्षणमात्रजीवी सिद्ध होती है ।

● द्विविधविज्ञानस्वरूप आत्मा के स्वीकार मे दोष का आविष्करण - स्याद्वादी ●

स्याद्वादी : कर्तृर्भो० इति । विज्ञानवादी महाशय ! यह कल्पना आपकी वुद्धि की निपज है, शेखचल्ली के कल्पनासोपान की भॉति वस्तुस्थिति से उसका कोई सवध नही हे । जरा सोचो तो सही आपकी कल्पना के, जिसे आप सिद्धात कहते हैं, अनुसार विज्ञानक्षणधारा का स्वीकार कर लिया जाय तो भी उपादानविज्ञानक्षण, जिसे कर्ता कहा जा सकता हे, तो उपादेयक्षणपर्यंत, जिसे कार्य कहा जा सकता है, स्थायी नही है । ऐसा होने पर शुभाशुभ अनुष्ठान के कर्ता, जो सुख-दु खानुभव क्षण का उपादान कारण है, कि विद्यमानता भोगक्षण तक रहेगी ही नही तव वह विज्ञानक्षणरूप कर्ता आत्मा सुख-दु ख का भोग = साक्षात्कार कैसे करेगी ? अत क्षणिकवाद मे कृतनाशदोष प्रसक्त होगा । यदि कर्तृक्षण से भिन्न विज्ञान क्षणरूप आत्मा सुख-दु ख को भोगेगी तव तो चेत्रविज्ञानक्षणात्मक आत्मा के शुभाशुभ अनुष्ठान के फल मैत्रविज्ञानक्षणस्वरूप आत्मा को भी प्राप्त होने का अनिष्ट प्रसग उपस्थित होगा, जिससे अकृतागम दोष की प्राप्ति होगी । अत आत्मा को क्षणिक मानी जा नही सकती । यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि - "कालस्वरूपसतान की कल्पना करने पर अन्यकृतत्व - अन्यभोक्तृत्व का प्रसग नही है, क्योकि तत् तत् क्षण के समूहरूप कालसतान के घटक क्षण मे ही कर्तृत्व है और उसी कालसतान के घटक क्षण मे ही भोक्तृत्व हे । कर्ता क्षण एव भोक्ता क्षण कालस्वरूप सतान से अभिन्न ही है । अत कर्तृत्वव्यधिकरण भोक्तृत्व की आपत्ति नही हे" ← तो यह भी ठीक नही हे । इसका कारण यह हे कि कालस्वरूप सतान चैत्र-मैत्रादि सकल के लिए समान होता है । एक ही क्षण मे चेत्र-मैत्रादि विद्यमान होते हैं । अत कालात्मकसतानकृत

सर्वकालानुगतातिरिक्तसन्तानाभ्युपगमे फलतो नित्यात्मन एवाभ्युपगमापाताच्चेति ॥२॥

अथ उभयोः पक्षयोः दूषणान्तरमुभाभ्यामनुष्टुब्भ्यामतिदिशयन्ति स्म- "पुण्यपापे" इति ।

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ न नित्यैकान्तदर्शने । पुण्यपापे बन्धमोक्षौ नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥

★ जयलता ★

ननु सकलकालव्यापितदतिरिक्तचैत्रमैत्रादिविज्ञानसन्तानोपगमे नैतत्प्रसङ्गः । चैत्रविज्ञानसन्तानपतितक्षणाना मैत्रसन्तानान्तर्गतक्षणव्यतिरिक्तत्वात् । यस्मिन्नेव हि सन्ताने कर्तृत्वमाहितं तत्रैव फलदर्शनस्य न्याय्यत्वात् । सन्तानस्य सन्तानिभिन्नत्वान्न दोष इत्याशङ्कायामाह - सर्वेति । फलत = अर्थत अर्थमाश्रित्येति यावत् । नित्यात्मन एवेति । अयं भावः अतिरिक्तस्थिरसन्तानस्याभ्युपगमे सुगतेन सम्पूर्णकालव्यापकातिरिक्तचैत्रादिसन्तानोपगमे कृते केवलं नामभेद एव नार्थभेदः, तादृशसन्तानस्य नित्यात्मपर्यवसितत्वात् । किञ्चैवं क्षणिकत्वपक्षोऽपि परित्यक्त एव धीमता सुगतेनेति 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरमि'ति न्यायापातः । विस्तरतः योगाचारादिमतनिराकरणं तु कल्पलतादितोऽवसेयम् । श्रीप्रभानन्दसूरिकृतविवरणे तु- "एकान्तानित्यस्वभावेऽप्यात्मन्यभ्युपगम्यमाने सुख-दुःखयोर्भोगाभाव एवाऽस्य स्यात् । तथाहि - एकान्तक्षणिको ह्यात्मा क्रमेण चेत् सुख-दुःखे भुङ्क्ते ? तदा क्षणिकत्वपरिहारः । क्रमो हि परिपाटी, सा च सातत्यमन्तरेण न सम्भवति । तदभिमतं च क्षणिकत्वमेकक्षणरूपम् । तत्र क्रमेण सुख-दुःखोपभोगः । युगपच्चेत् ? तदा पूर्वविरोध एव बाधाविधायी । तस्मान्नित्यानित्यरूप आत्मा, सुख-दुःखोपभोगान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानान्नित्यानित्यात्मसिद्धि" [वी स्तो वि पृ ८७] इत्येवम् ।

अवचूर्णौ तु - "एकान्ताऽनित्यरूपेऽप्यात्मनि सुख-दुःखयोर्भोगो न स्यात्, उत्पत्त्यनन्तरं क्षणविनष्टत्वात् । सुख-दुःखे तु चन्दनाङ्गनागमकण्टकादिसाधनयोर्भोगोपभोगाभ्यां बहुक्षणनिर्वर्त्याभ्यां साध्ये" [वी स्तो अव पृ ८७] इत्येवं श्रीविशालराजसूरिभिः प्रणिगदितम् ।

अवसरसङ्गतिमुपदर्शयति- अथेति । उभयोः एकान्तनित्यैकान्ताऽनित्यात्मोपगन्त्रोः पक्षयोः दूषणान्तरं = पूर्वोक्तदोषेभ्योऽतिरिक्तदूषणं, उभाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां अनुष्टुब्भ्यां अतिदिशन्ति स्मेति । प्रथमं तृतीयकारिकामेवाऽऽह - पुण्यपापे इति । एकान्तनित्यात्मवादिमते = आत्मवृत्तिकूटस्थनित्यत्वमते । असम्भव = त्रैकालिकाऽभावप्रतियोगित्वम् । ते हीति एकान्तनित्यात्मवादिनो नैयायिकादयो हीति । अन्वयश्चाप्याऽऽहुरि-

---

● रमणीया ●

अभेद तो चैत्र-मैत्र आदि में भी होने से चैत्र शुभ अनुष्ठान को करेगा और मैत्र उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोग करेगा - इस दोष का निराकरण बौद्ध महाशय की ओर से हो नहीं सकता । हाँ, यह मुमकिन है कि सकल काल में अनुगत और काल से अतिरिक्त चैत्र-मैत्रादि संतान की कल्पना की जाय तब चैत्रविज्ञानक्षण से कृत सुखादि का भोग मैत्रादिविज्ञानक्षण कर नहीं सकती । मगर ऐसा मानना तो सकल कालव्यापी अतिरिक्त नित्य आत्मा को मान्यता देने में पर्यवसित होता है । मतलब यह है कि सकलकालव्यापक अतिरिक्त संतान कहो या नित्य आत्मा कहो । दोनों एक ही है । इनमें अर्थभेद नहीं है, सिर्फ शब्दभेद है । इस तरह क्षणिकवादी बौद्ध को भी नित्य आत्मा का स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है । अतः एकान्त क्षणिक आत्मा की कल्पना तथ्यहीन है - यह द्वितीय कारिका के उत्तरार्ध से अनायास सिद्ध होता है ।२।

अब तृतीय एवं चतुर्थ कारिका के द्वारा आत्मा को एकांत नित्य एवं एकान्तानित्य माननेवाले वादी के मत में अन्य दोष बताते है ।

● तृतीय कारिका का सामान्य अर्थ ●

(आत्मा को) एकांत नित्य मानने वाले मत में पुण्य-पाप-बंध-मोक्ष की उपपत्ति हो सकती नहीं है । इसी तरह (आत्मा को) एकांत अनित्य माननेवाले मत में भी पुण्य,पाप, बंध एवं मोक्ष की उपपत्ति हो सकती नहीं है ॥३॥



एकान्तनित्यात्मवादिमते पुण्यपापयोरसभवः । ते हि "यागब्रह्महत्यादीना क्षिप्रभङ्गुराणा स्वर्ग-नरकादिक प्रति श्रुतिबोधितकारणतायाः फलपर्यन्तव्यापारव्याप्ततया तत्र व्यापारस्याऽन्यस्याऽसभवात्परिशेषाददृष्टसिद्धि । न च यागादिध्वसेनैव

★ जयलता ★

त्यनेन । यागब्रह्महत्यादीनामिति । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण प्रत्येकमभिसबध्यते' इति न्यायात् यागादीना ब्रह्महत्यादीनाञ्चेत्यर्थः । प्रथमादिपदाद् दानयमनियमादेर्ग्रहण द्वितीयादिपदाच्च गोस्त्रीबालहत्याचौर्यादीनामुपादानम् । क्षिप्रभङ्गुराणा = क्षणिकाना । स्वर्गनरकादिकमिति । अत्राऽपि पूर्ववत् प्रत्येकमादिपदमभिसबध्यते । क्रमश आदिपदेन सुख-दुःखादेर्ग्रहणम् । श्रुतिबोधितकारणताया इति । 'स्वर्गकामो यजेत', 'ब्रह्मघाती नरक व्रजेत्' इत्यादि श्रुतिवाक्यबोधितकारणताया । फलपर्यन्तव्यापारव्याप्ततया = स्वर्ग-नरकादिफलकालावधिकविप्रकर्षशून्यत्वे सति तत्सन्निकृष्टक्षणावच्छिन्नात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिस्वरूपव्यापारद्वारेण व्याप्यतया । तत्र = कारणताया, सप्तम्यर्थः घटकत्व । अन्वयश्चाऽस्य व्यापारे । ततः क्षणिकयागादिनिष्ठकारणताघटकव्यापारस्येत्यर्थः । अन्यस्य = अदृष्टातिरिक्तान्यस्य, असभवात् = अभावात्, परिशेषात् = प्रसक्तप्रतिषेधे सत्यन्यत्राऽप्रसङ्गेन शिष्यमाणे सप्रत्ययात्, अदृष्टसिद्धि = आत्माऽतिरिक्ताऽदृष्टपदार्थसिद्धिः । अय भावः देवतोद्देशेन वह्नौ मन्त्रद्वारा द्रव्यत्यागक्रियास्वरूपस्य यागादेः स्वर्गादिकारणत्व तूपदर्शितश्रुतिवचनादेव सिद्धम् । कारणत्व द्विविध सव्यापार निर्व्यापारञ्च । क्षणिकस्य व्यवहितकार्य प्रति कारणत्व सव्यापारमेव, कारणतायाः अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्याधिकरणप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावाप्रतियोगितारूपत्वात् । अतो व्यापारद्वारा यागादेः स्वर्गाद्युत्पादाऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन तत्र सत्त्वमावश्यकम् । व्यापारत्वञ्च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् । स व्यापारो नादृष्टातिरिक्तः सभवतीत्यतोऽदृष्टस्याऽऽत्मगुणस्वरूपस्य पुण्याभिधानस्य सिद्धिरिति नैयायिकादीनामाशयः ।

ननु यागादेः क्षणिकस्याऽदृष्टातिरिक्तव्यापाराऽसभवो नास्ति, तद्ध्वसस्यैव तद्व्यापारत्वसभवात् स्वर्गाद्यव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेनाऽवश्य सत्त्वादित्याशङ्कानिराकरणायाऽऽह - न चेति । । यागादिध्वसेनैवेति । एवकारेणाऽतिरिक्ताऽदृष्टादेर्व्यवच्छेदः कृतः । निर्वाह = स्वर्गादिफलोत्पत्तिसभवः । तदपोहाय युक्तिमाह - तस्य = यागादिध्वसस्य, फलाऽनाश्यत्वात् = स्वर्गादिफलजन्यनाशाऽप्रतियोगित्वात्, फलसतानस्य = स्वर्गादिफलपरपरायाः, कदाचिदपि अनुपरमप्रसङ्गात् = अक्षीणत्वापातात् । अय भावः स्वर्गः सुखविशेषस्वरूप एव । तदुक्त 'यन्न दुःखेन सभिन्न, न च ग्रस्तमनन्तरम् ।

● रमणीया ●

● एकातनित्यवादी के मतानुसार अपूर्व = पुण्यपाप का निरूपण ●

एका० इति । एकातनित्यवादी के मत मे पुण्य एव पाप का असभव है - इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए पहले आत्मा को एकात नित्य मानने वाले वादी के वक्तव्य को जानना जरूरी हो जाता है । अत व्याख्याकार उनके मत की प्ररूपणा करते है । आत्मा को सर्वथानित्य मानने वाले नैयायिकादि विद्वानो का यह कथन है - स्वर्गादि का कारण यज्ञ आदि हैं और नरक आदि का कारण ब्राह्मणहत्या आदि है-यह बात तो वेद प्रमाण से सिद्ध है । मतलब कि यज्ञ, दान, दया, दमन आदि करने वालो को स्वर्गादि की प्राप्ति होती है और ब्राह्मणहत्या, झूठ, चोरी, आदि करने वालो को नरक, दुःख आदि की प्राप्ति होती है - इस बात को वेद बताते हैं । मगर यज्ञ, हिंसा, दान, चोरी, आदि तो क्रियाविशेषात्मक होने से क्षणिक हैं । यज्ञादि क्षणिक होने की वजह स्वर्गप्राप्ति आदि फलकालपर्यन्त स्थायी नही है । मगर जो कारण होता है उसे साक्षात् या परपरया (=व्यापार द्वारा) कार्योत्पादाऽव्यवहित पूर्व क्षण अवच्छेदेन कार्याधिकरण मे रहना आवश्यक है । यज्ञादि मे स्वर्गादि की कारणता तो वेदबोधित होने से अवश्य मान्य है, मगर यज्ञादि क्षणिक होने से कालान्तर भावी स्वर्गप्राप्ति आदि फलकालपर्यन्त स्थायी नही है । अत यज्ञादि क्रिया और स्वर्गादिफलोत्पाद के बीच व्यापारविशेष का स्वीकार करना आवश्यक है । मगर वह मध्यकालीन व्यापार अपूर्व को छोड कर अन्य कोई हो सकता नही है । अतएव अपूर्व नाम का द्वार बीच मे माना जाता है । इसे अपूर्व कहो या अदृष्ट कहो या अन्य कुछ कहो मगर अर्थभेद नही है, केवल शब्दभेद है । इस तरह अदृष्ट की सिद्धि होती है ।

● यज्ञादि का व्यापार ध्वस नही है - नैयायिक ●

न च यागा० इति । यहाँ यह शका करना कि→"आपने यह तो ठीक कहा कि - 'यागादि क्रियाविशेषरूप होने की वजह क्षणिक होने से स्वर्गादिप्राप्तिकालपर्यन्त स्थायी नही है', मगर आपने जो कहा कि - 'मध्यमकाल मे अदृष्ट से अतिरिक्त व्यापार सभवित ही नही है' वह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि अदृष्ट से अतिरिक्त यागादि का ध्वस ही यागादि का व्यापार हो सकता है । ध्वस तो स्थायी होने से चिरतरकालावच्छेदेन प्राप्य स्वर्गादि काल के अव्यवहित पूर्वक्षणावच्छेदेन रहता ही है । अत यागादिध्वस से ही फलोत्पत्ति का निर्वाह हो जाने से अदृष्ट = पुण्य-पाप की कल्पना अनावश्यक है"←नामुनासिव

निर्वाह, तस्य फलाऽनाश्यत्वात्, फलसतानस्य कदाचिदप्यनुपरमप्रसङ्गात् । न चैवमपूर्वस्याऽपि प्रथमस्वर्गादिनैव नाशात् फलसतानो न निर्वहेदिति वाच्यम् तस्य चरमफलनाश्यत्वात् । चरमत्वञ्च स्वसमानजातीयप्रागभावाऽसमानकालीनत्वादिक जातिविशेषो वा ।

★ जयलता ★

अभिलापोपनीतश्च तत्सुख स्व·पदास्पदम् ॥'' सुखत्वावच्छिन्नस्य क्षणिकत्वात् नवनवसुखविशेषधारया एव चिरकालीनत्वस्थिति· । यदि च यागादिव्यापारविधया तद्ध्वस· कल्प्यते तदा स्वर्गादिसतानस्याऽक्षयत्व प्रसज्येत, तद्व्यापारीभूतध्वसस्य ध्वसाऽप्रतियोगित्वात् सत्या सामग्र्या फलोत्पादाऽवश्यभावात् । न च ''अपाम सोमममृता वभूव'' [ ] इति श्रुतिवचनात् तदक्षयत्वस्याभिमतत्वादिति वाच्यम् तस्य चिरकालीनतत्स्थितिप्रतिपादनपरत्वात् । किञ्चैव यागादीना स्वर्गादिकारणीभूताऽभावप्रतियोगित्वेन स्वर्गादिप्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गात् ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय· । एव = व्यापारस्यैव फलोत्पादनियामकत्वाभ्युपगमे । अपूर्वस्याऽपि प्रथमस्वर्गादिनैव = फलसतानघटकप्रथमसतानिरूपेणैव, नाशात् फलसतान = स्वर्गादिफलपरम्परा, न निर्वहेत् = नोत्पद्येत । अय भाव·, अपूर्वं फलेनाऽनाश्य नाश्य वा ? इति पक्षोभयी समुपतिष्ठते । तत्र प्रथमे फलसतानस्य कदाचिदप्यनुपरमप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् 'निन्दामि च पिबामि चे'तिन्यायापातः । द्वितीये तु प्रथमस्वर्गादिनैवाऽपूर्वस्य नाशप्रसङ्गात् । तथा च द्वितीयादिस्वर्गादिफलपरम्परा न सम्पद्येत, तन्नियामकस्याऽपूर्वस्य विनष्टत्वात् । तथापि फलसतानानिर्वाहोपगमस्याऽकिञ्चित्करत्वप्रसङ्गात्, व्यर्थकल्पनागौरवाच्चेति शङ्काशयः ।

तन्निराचष्टे - तस्येति अपूर्वस्य । चरमफलनाश्यत्वात् = स्वर्गादिफलसतानघटकचरमसतानिस्वरूपफलजन्यनाशप्रतियोगित्वात् । प्रथमादिस्वर्गादि· तदनाशकत्वादेव न तदा तन्नाशः । अत एव फलसतानानिर्वाह· । घटितज्ञानस्य घटकज्ञाननियम्यत्वात्प्रकरणकृत् अपूर्वनाशकफलघटकीभूत चरमत्व व्याचष्टे चरमत्वञ्चेति । स्वेति । स्वपदेनाऽत्र फलसतानघटकीभूतसतानिग्रहणम् । स्वसमानजातीयत्ववत् स्वसमानाधिकरणत्वस्यापि प्रागभावविशेषणत्व

● रमणीया ●

है । इसका कारण यह है कि कालान्तर मे उत्पन्न होनेवाले सुखविशेषात्मक स्वर्गादि की उत्पत्ति की उपपत्ति करने पर भी दूसरी यह आपत्ति मुँह फाडे खडी है कि ध्वस को स्वर्गादिफलोत्पाद का नियामक मानने पर यज्ञादि करनेवाले को एक बार स्वर्गादि की प्राप्ति होने पर सदा के लिए स्वर्गादिफलपरपरा चालु रहेगी, क्योंकि ध्वस का कदापि ध्वस होता नही है । मतलब यह है कि स्वर्ग तो एक विजातीय सुख स्वरूप है, जो मनुष्यलोक आदि में अनुभूति का विषय नहीं है । सुख मात्र क्षणिक होता है । अत सुखविशेषरूप स्वर्ग भी क्षणिक है । मनुष्यादि को प्राप्त होनेवाले सुख की उत्पत्ति के बाद दुख की भी उत्पत्ति हो सकती है और सुख की भी । मगर प्रथम विजातीय सुखस्वरूप स्वर्ग की उत्पत्ति होने के बाद दूसरी क्षण मे दुख की उत्पत्ति होती नहीं है किन्तु चिरकाल तक विजातीय सुखपरपरास्वरूप स्वर्गसतान जारी रहता है । इस विजातीयसुखपरपरा के काल की भी एक मर्यादा होती है, जैसे १०,००० दिव्य वर्ष, १ लाख दिव्य वर्ष, १अरब दिव्य वर्ष आदि । उक्त लम्बी कालमर्यादा की समाप्ति के बाद विजातीयसुखपरपरा विश्रान्त हो जाती है- बध हो जाती है । मगर यागादि के ध्वस को ही स्वर्गादि की उत्पत्ति का नियामक एव यागादि का द्वार = व्यापार मानने पर विजातीय सुखपरपरात्मक स्वर्गसतान की विश्रान्ति कदापि नही होगी, क्योंकि यागादिध्वस की एक बार उत्पत्ति होने के बाद उसका विनाश करना इन्द्रादि के भी हाथ मे नही है । यागादिध्वसस्वरूप व्यापार का विनाश न होने की वजह स्वर्गसतान भी सदा के लिए स्थायी हो जायेगा । मगर ऐसा होता नही है । अत यागादि के ध्वस को यागादि का व्यापार माना जा नहीं सकता । अत यागादिध्वस के बदले अदृष्ट का ही यागादिव्यापार के स्थान मे अभिषेक करना उचित है, जिसका नाश फल से ही होगा ।

● अपूर्व चरमफल से ही नाश्य - नैयायिक ●

न चैव० इति । यहाँ यह शका करना कि→''यागादि के द्वाररूप मे अपूर्व को मानने पर भी यह समस्या तो खडी ही है कि यागादिजन्य अपूर्व स्वर्गादि फल से नाश्य मानने पर तो प्रथम विजातीय सुखात्मक स्वर्गादि से ही अपूर्व का नाश हो जायेगा । ऐसा होने पर तो स्वर्गादि फल की परपरा का समर्थन हो नही सकता, क्योंकि फलसताननियामक अपूर्व तो प्रथम स्वर्गात्मक सतानी से ही नष्ट हो जायेगा । इस परिस्थिति मे द्वितीय, तृतीय आदि स्वर्ग सतानी की उत्पत्ति नही होने से दिव्य हजारो वर्ष तक स्वर्गादि सतान के प्रतिपादक शास्त्र के साथ विरोध प्रसक्त होगा । अत अपूर्वपक्ष भी निर्दोष तो नही ही है''←ठीक नही है । इसका कारण यह है अपूर्व का नाशक प्रथम स्वर्गादि नही है, किन्तु चरम स्वर्गादि ही है । प्रथम स्वर्गादि अपूर्व के नाशक न होने की वजह प्रथम स्वर्गादि का नाश होने के बाद भी अपूर्व का तो नाश होने वाला नहीं है । अतएव द्वितीय, तृतीय यावत् चरम स्वर्गादि की भी उत्पत्ति हो सकती है । तथा सदा के लिए स्वर्गादिसतान के अविश्राम का दोष भी अप्रसक्त है, क्योंकि चरम स्वर्गादि फलस्वरूप सतानी से ही अपूर्व का नाश हो जाता है । अत न तो सदा के लिए फल सतान की उत्पत्ति का प्रसग है और न तो द्वितीय आदि स्वर्गादि की उत्पत्ति की अनुपपत्ति भी सावकाश है ।

न च ज्योतिष्टोमादिजन्यतावच्छेदिकया साङ्कर्यं, तत्तद्व्याप्यचरमत्वस्य भिन्नस्यैव स्वीकारात् । न चापूर्वोत्पत्त्यनन्तरमेव फल

★ जयलता ★

बोध्यम्, तेन नाऽसम्भवः । प्रथमादिसतानिपु प्रदर्शितचरमत्व नातिप्रसक्त, तेपा स्वसजातीयद्वितीयादिफलप्रतियोगिकप्रागभावसमानकालिकत्वात्, द्वितीयादिफलानामुत्पत्स्यमानत्वात् । न वाऽव्यापक, लक्ष्यभूतफलसतानिवृत्तित्वात्, तस्य स्वसजातीयफलप्रागभावभिन्नकालीनत्वात् । आदिपदेन स्वसमानाधिकरणस्वसजातीयस्वेतरयावत्प्रतियोगिकनाशसमानकालिकत्वादेर्ग्रहणम् । कल्पान्तरमाह - जातिविशेपो वेति । प्रथमादिफलावृत्तिः स्वसजातीय- प्रागभावाऽसमानकालीनवृत्तिः जातिविशेपः चरमत्वमित्यर्थः ।

ननु चरमत्वस्य जातित्वोपगमे ज्योतिष्टोमादियागजन्यतावच्छेदकजात्या साङ्कर्यं प्रसज्येत तथाहि वाजपेयादिजन्यचरमस्वर्गे चरमत्वमस्ति ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदिका जातिः नास्ति, ज्योतिष्टोमजन्यप्रथमादिस्वर्गे ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदिका स्वर्गत्वजातिरस्ति चरमत्वजातिर्नास्ति । परस्परव्यधिकरणयोः तत्स्वर्गत्व-चरमत्वयोः ज्योतिष्टोमजन्यचरमस्वर्गे सामानाधिकरण्यात् साङ्कर्यम् । अतः चरमत्वस्य जातित्व न स्यात्, साकर्यस्य जातिबाधकत्वादिति शङ्का निराकर्तुमाह - न चेति । तन्निरासे हेतुमाह - तत्तद्व्याप्यचरमत्वस्य भिन्नस्यैव स्वीकारादिति । ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदकजाति व्याप्यचरमत्वात् वाजपेयादिजन्यतावच्छेदकजातिव्याप्यचग्मत्वस्य भिन्नस्यैवोपगमादित्यर्थः । अय भाव' यत् चरमत्व ज्योतिपृटोमजन्यस्वर्गे, ततो भिन्नमेव चरमत्व वाजपेयजन्यस्वर्गे, अश्वमेधादिजन्यचरमफलनिष्ठ चरमत्वमपि ततो विलक्षणमेव । वाजपेयादिजन्यस्वर्गवृत्ति चरमत्व ज्योतिष्टोमजन्यचरम स्वर्गे नास्ति किन्तु ततो व्यतिरिक्तमेवेति न साकर्यम् । न चैव चरमत्वे जातित्वमेवानुपपन्नमिति वाच्यम्, अनेकज्योतिष्टोमजन्यानेकचरमस्वर्गेपु तस्य वृत्तित्वनैकमात्रवृत्तित्वविरहात् । न च गौरव, फलमुखत्वात् ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय' । अपूर्वोत्पत्त्यनन्तरमेव = अपूर्वोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणाऽवच्छेदेनैव, फल स्वर्गादिलक्षण कुतो न भवति ? भवेदेवेत्यर्थः । अय भावः यागादिजन्याऽपूर्वस्यैव यागादिजन्यस्वर्गादिजनकत्वोपगमे अपूर्वोत्पादाव्यवहितोत्तरक्षणावच्छेदेनैव स्वर्गादिफलोत्पत्तिः

● रमणीया ●

● चरमत्व का निर्वचन ●

चरमत्वञ्च० इति । यज्ञादि से जन्य अपूर्व चरम स्वर्गादि फल से नाश्य हे - ऐसा वताया गया हे । अत अपूर्वनाशकनिष्ठ चरमत्व का अभी निरूपण किया जाता है । चरमत्व का अर्थ हे स्वसमानजातीयप्रागभावाऽसमानकालीनत्व । स्वपद से प्रथमादि स्वर्ग आदि फल का ग्रहण अभिमत है । उसका समानजातीय है द्वितीयादि स्वर्ग आदि । प्रथमादि स्वर्ग (=विजातीय सुख) अपने सजातीय द्वितीयादि स्वर्ग के प्रागभाव के समानकालीन है, क्योकि प्रथमआदिस्वर्गकालावच्छेदेन द्वितीयादि स्वर्ग न तो उत्पन्न हो चूके हैं आर न तो उत्पद्यमान है, किन्तु उत्पन्न होने वाले है । प्रथमादि स्वर्ग वगैरह अपने सजातीय के प्रागभाव के समानकालीन होने से चरम कहे जा नही सकते । मगर जिस स्वर्गादि की उत्पत्ति के वाद उसके सजातीय स्वर्गादि की उत्पत्ति होने वाली नही हे, वही स्वर्गादि चरम हो सकता है, क्योकि वह अपने सजातीय के प्रागभाव के असमानकालीन है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि चरमत्व एक जातिविशेपात्मक है, जो प्रथमादि फल मे रहती नही है किन्तु स्वसजातीयप्रागभाव के असमानकालीन फल मे ही रहती है । चरमत्व को जातिविशेष मानने पर स्वसमानजातीयप्रागभावभिन्नकालिकत्व उसका व्यजक है - ऐसा माना जा सकता है । अत समवाय सवध से तादृश जातिविशेषात्मक चरमत्व से विशिष्ट स्वर्ग आदि फल ही यागादिजन्य अपूर्व का नाशक हे - यह फलित होता है । अत अतिप्रसग या अप्रसग दोप की कोई शक्यता नही है ।

● चरमत्व को जाति मानने पर साकर्य की शका ●

शका :- न च ज्यो० इति । चरमत्व को जातिस्वरूप मानने पर तो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ की जन्यतावच्छेदक जाति के साथ साकर्य होगा । मतलव यह है कि ज्योतिष्टोम से जन्य स्वर्ग मे एक जातिविशेप रहती है, जो कि ज्योतिष्टोम यज्ञ की जन्यतावच्छेदक है । एव वाजपेय नाम के यज्ञ से उत्पन्न होने वाले स्वर्ग मे भी एक विशेप जाति रहती है, जो वाजपेय की जन्यतावच्छेदक हे । ज्योतिष्टोम की जन्यतावच्छेदक जाति वाजपेय से जन्य स्वर्ग मे नही रहती है एव वाजपेय की जन्यतावच्छेदक जाति ज्योतिष्टोम से जन्य स्वर्ग मे रहती नही है, क्योकि ये परस्पर भिन्न हैं । अव साकर्य दोष इस तरह से प्राप्त होता है । वाजपेय से जन्य चरम स्वर्ग मे चरमत्व जाति हे, मगर ज्योतिष्टोम की जन्यतावच्छेदक जाति नही हे और ज्योतिष्टोम से जन्य प्रथमादि स्वर्ग मे ज्योतिष्टोम की जन्यतावच्छेदक जाति रहती है, मगर चरमत्व जाति रहती नही है । इस तरह चरमत्व जाति ओर ज्योतिष्टोम की जन्यतावच्छेदक जाति परस्पर व्यधिकरण है = भिन्नाधिकरणवृत्ति हैं । मगर ये दोनो परस्पर व्यधिकरण जातिया ज्योतिष्टोमजन्य चरम स्वर्ग मे समानाधिकरण होती है, क्योकि उसमे चरमत्व एव ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदक जाति रहती है । परस्पर व्यधिकरण धर्म एक ही अधिकरण मे रहे, उसे साकर्य दोष कहते है । साकर्य दोष जाति का वाधक माना जाता है । साकर्य होने पर दोनो धर्म सकीर्ण जाति वन सकते नही हैं, उन दोनो मे से सिर्फ एक ही जाति वनने योग्य होता है । ज्योतिष्टोमादि का जन्यतावच्छेदक धर्म तो जातिस्वरूप ही है - यह तो वहुजनप्रसिद्ध है । अत चरमत्व को जातिस्वरूप माना जा नही सकता ।

● अनेक चरमत्व के अगीकार से साकर्य निराकरण ●

समाधान :- तत्तद्व्या० इति । जनाव ! इस साकर्य दोष को हटाना तो मेरे वाएँ हाथ का खेल है । देखिये, साकर्य दोप तव प्रसक्त हो सकता है, जव ज्योतिष्टोमजन्य चरम स्वर्ग और वाजपेयादिजन्य चरम स्वर्ग मे रहे हुए चरमत्व को एक माने जाय ।

कुतो न भवतीति वाच्यम्, वृत्तिलाभकालस्याऽपि नियामकत्वात् ।

अथ निर्व्यापारस्यैव यागादेरव्यवहितत्वांशविनिर्मुक्तकारणताग्रहः सम्भवतीति नाऽपूर्वसिद्धिरिति चेत् ? न, अव्यवहितपूर्वसम-

★ जयलता ★

स्यात्, सत्या सामग्र्या कार्योत्पादस्य न्याय्यत्वात् । न हि प्रयोजनक्षतिविरहात् सामग्री कार्यं नार्जयतीति शङ्काशयः । तदपोहाय हेतुमाह - वृत्तिलाभकालस्याऽपि नियामकत्वादिति । पूर्वसञ्चिताऽपूर्वोदयाऽऽभिमुख्यप्रयोजककालस्यापि फलोदयं प्रति नियामकत्वादित्यर्थः । अयं भावः स्वर्गादिफलं प्रति न केवलमपूर्वमेव नियामकं किन्तु तत्तदपूर्वोदयलाभप्रयोजककालविशेषोऽपि । अपूर्वोत्पादानन्तरक्षणस्याऽतादृशत्वान्न तदा फलोपधानम्, किन्तु कालान्तर एव । अत एव यागानन्तरमेव याजकदेहपातप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः ।

केचन नैयायिका वृत्तिलाभकालो नाम स्वर्गादिफलाऽस्तित्वलाभकाल इत्यपि व्याचक्षुः ।

नास्तिकः शङ्कते-अथेति । अन्वयश्चाऽस्य 'चेदि'त्यनेन सह । निर्व्यापारस्यैवेति व्यापाररहितस्येत्यर्थः, एवकारेण सव्यापारस्येति व्यवच्छिन्नम् । यागादेरिति । आदिपदेन ब्रह्महत्यादेर्ग्रहः । अव्यवहितत्वांशविनिर्मुक्तकारणताग्रहः इति । कार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्य कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेनाऽधिकरणे वर्तमानस्याऽत्यन्ताभावस्याऽप्रतियोगित्वं कारणत्वमित्यत्राऽव्यवहितत्वांशशून्यायाः कारणतायाः ग्रहः इत्यर्थः । अयं भावः अन्यत्र कपालादावनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यभावाऽप्रतियोगित्वरूपायाः कारणतायाः ग्रहसम्भवेऽपि क्षणभिदेलिमयागादौ अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नपूर्वकालावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यभावाऽप्रतियोगित्वरूपायाः एव कारणतायाः ग्रहः आवश्यको न त्वव्यवहितत्वांशघटितकारणतायाः । स च व्यापारकल्पनामृतेऽपि सम्भवति । अतो न यागादिव्यापारविधया अपूर्वसिद्धिरिति अयाशय । तत्प्रत्याचष्टे - नेति । अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन = कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पादाऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन,

● रमणीया ●

मगर हम यह मानते नहीं है । हमारा मन्तव्य तो यह है कि ज्योतिष्टोम की जन्यतावच्छेदक जाति, जो ज्योतिष्टोमजन्य स्वर्ग में ही रहती है, का व्याप्य जो चरमत्व है उससे भिन्न चरमत्व ही वाजपेयआदिजन्यतावच्छेदक जाति का व्याप्य है । मानो कि ज्योतिष्टोमजन्य चरम स्वर्ग में विद्यमान चरमत्व = A तथा वाजपेयजन्य चरम स्वर्ग में विद्यमान चरमत्व = B। जहाँ A रहता है वहाँ ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदक जाति रहती है । ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदक जाति जहाँ जहाँ (वाजपेयादिजन्य स्वर्गादि में) रहती नहीं है, वहाँ वहाँ A रहता नहीं है, क्योंकि A सिर्फ ज्योतिष्टोमजन्य स्वर्ग में ही रहता है । अतः ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदक जाति का व्याप्य A है । इसी तरह जहाँ जहाँ B रहता है वहाँ वहाँ वाजपेयजन्यतावच्छेदक जाति (= स्वर्गत्व विशेष) रहती है और जहाँ जहाँ वाजपेयजन्यतावच्छेदक जाति रहती नहीं है, वहाँ वहाँ B रहता नहीं है, क्योंकि B सिर्फ वाजपेयजन्य स्वर्ग में ही रहता है । इस तरह ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदक जाति के व्याप्य A से वाजपेयजन्यतावच्छेदक जाति का व्याप्य B भिन्न ही है - ऐसा हम मानते है। अतः साङ्कर्य दोष का अवकाश ही कहाँ है ? वाजपेयजन्य स्वर्ग में रहनेवाला B ज्योतिष्टोमजन्य स्वर्ग में न रहने से अपनी व्यधिकरण ज्योतिष्टोमजन्यतावच्छेदक जाति का समानाधिकरण होता नहीं है एवं ज्योतिष्टोम यज्ञ से जन्य स्वर्ग में रहनेवाला A वाजपेयजन्य स्वर्ग में न रहने की वजह अपनी व्यधिकरण वाजपेयजन्यतावच्छेदक जाति का समानाधिकरण नहीं है । इस तरह साङ्कर्य दोष को देशनिकाल दिया जा सकता है । अतः चरमत्व का जातिविशेषात्मक मानने में कोई दोष नहीं है - यह निर्विवाद सिद्ध होता है । अतः तादृश जातिस्वरूप चरमत्व से विशिष्ट फल से यागादिजन्य अपूर्व का नाश होता है - ऐसा मानना भी ठीक ही है । अतः यागादि के व्यापार रूप में यागादिध्वंस के स्थान में अपूर्व को ही प्रतिष्ठित करना उचित समझा जाता है ।

● स्वर्गादिप्राप्ति में वृत्तिलाभ काल भी नियामक - नैयायिक ●

न चापू० इति । यहाँ यह शंका करना कि → "अपूर्व को ही यज्ञादि का व्यापार मान कर स्वर्गादि का जनक मानने पर तो 'अपूर्व की उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तर क्षणावच्छेदेन ही स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति (=उत्पत्ति) क्यों नहीं होती ?' यह समस्या उपस्थित होती है, क्योंकि स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए याग आदि से जन्य अपूर्व से अतिरिक्त की अपेक्षा होती नहीं है और अपूर्व तो स्वोत्पाद काल से ले कर चरमफलोत्पादकाल तक विद्यमान ही है। अतः अपूर्वोत्पाद के अनन्तर क्षणावच्छेदेन फलोत्पाद की आपत्ति से बचना मुश्किल है" ← भी ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि स्वर्गादि प्राप्ति में न केवल यागादिजन्य अपूर्व नियामक है किन्तु वृत्तिलाभकाल भी नियामक है । वृत्तिलाभकाल का अर्थ है पूर्वसंचित कर्म के उदय के आभिमुख्य का प्रयोजक काल । याग आदि से अपूर्वोत्पत्ति होने पर भी अपूर्वोत्पादाऽनन्तर क्षण अपूर्वोदय के लाभ में प्रयोजक न होने से तब स्वर्गादि फल की प्राप्ति होने की कोई सम्भावना नहीं है । यज्ञकर्ता की मृत्यु के बाद ही वृत्तिलाभकाल की उपस्थिति होने से उस कालावच्छेदेन ही याजक की आत्मा में सुखविशेषआदि स्वरूप स्वर्गादि की उत्पत्ति होगी ।

यावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्रैव कारणताबुद्ध्यनुदयेन तद्गर्भाया एव कारणताया युक्तत्वात्, कीर्तनादिनाश्यत्वेनाऽपूर्वसिद्धेश्च । तच्चाऽदृष्टमात्मनो गुणरूप विहितनिषिद्धक्रियाजन्य आत्मनः सर्वथा भिन्नमि''त्याहुः ।

★ जयलता ★

कार्यतावच्छेदकसवन्धेन कार्यवति = कार्याधिकरणे, यदभावो = यत्प्रतियोगिकात्यन्ताभावो ज्ञायते तत्रैव = तादृशात्यन्ताभावप्रतियोगिन्येव, कारणताबुद्ध्यनुदयेन = कारणत्वग्रहाऽसभवेन, तद्गर्भाया = अव्यवहितत्वाशघटितायाः एव कारणताया युक्तत्वात् । अय भावः कार्यपूर्वकालावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यभावाऽप्रतियोगिनि न कारणताया ग्रहो व्यवहारो वा भवति, अन्यथा विनष्टकपालादावपि भाविघटादिकारणत्वग्रहादेः प्रामाणिकत्व प्रसज्येत । अतः कारणत्वशरीरेऽव्यवहितत्वाशनिवेशस्याऽऽवश्यकत्वम् । तन्निवेशे सति चिरविनष्टयागादेः स्वर्गादिकारणत्व नोपपद्येतति अन्तरा अदृष्टाभिधानव्यापारकल्पनाया आवश्यकत्वम् । हेत्वन्तरेणाऽपूर्वं साधयन्ति - कीर्तनादिनाश्यत्वेनेति 'मया ज्योतिष्टोमः कृतः' 'मया अश्वमेधः कृतः' इत्यादिकीर्तनादितो नाश्यत्वेनेत्यर्थः । आदिशब्देन प्रायश्चित्तादेर्ग्रहणम् । अय भावः 'धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्' [ ] इत्यादिप्रमाणसिद्धकीर्तनादिजन्यनाशप्रतियोगित्वाश्रयत्वेनाऽन्यस्य यागादिध्वसस्याऽसभवात् यागादेः पूर्वमेव विनष्टत्वादित्यतः पारिशेषन्यायेनाऽप्यपूर्वसिद्धिः, प्रतियोगितासवन्धेन नाश प्रति तादात्म्येन प्रतियोगिनो हेतुत्वात् ।

● रमणीया ●

● क्या निर्व्यापार यागादि मे कारणताग्रह नामुमकिन है? - नास्तिक ●

शका :- अथेति । आप श्रुति प्रमाण से बोधित यज्ञादि मे स्वर्गादि की कारणता की उपपत्ति के लिए बीच मे अदृष्ट नाम के व्यापार की कल्पना करते है - वह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि याग आदि व्यापाररहित होने पर भी उनमे स्वर्गादि कारणता का ज्ञान हो सकता है । यह कोई नियम नही है कि कारण कार्योत्पाद के अव्यवहित पूर्व समय मे ही होना चाहिए । नियम सिर्फ इतना ही है कि कार्यपूर्वकालावच्छेदेन कार्यतावच्छेदक सवध से कार्य के अधिकरणविधया अभिमत पदार्थ मे कारण रहना चाहिए । जैसे घट के अधिकरण मे घटजन्म पूर्व कालावच्छेदेन रहने से दड घटकारण कहा जाता है ठीक वैसे ही स्वर्गपूर्वकालावच्छेदेन आत्मा मे, जो कि समवायसवध से विजातीय सुखात्मक स्वर्ग के अधिकरणविधया अभिमत है, यज्ञादि क्रिया रहती ही है । चाहे स्वर्गोत्पाद की अव्यवहित पूर्व क्षण मे यज्ञादि अविद्यमान क्यो न हो ? इस तरह व्यापार की कल्पना के विना भी यज्ञादि मे स्वर्गादि की कारणता का ज्ञान हो सकता है । तव आप अदृष्ट की अदृष्टकल्पना क्यो करते हो ? अत अपूर्व की सिद्धि का कोई अवकाश नही है ।

● कारणता के शरीर मे अव्यवहितत्व अश का निवेश आवश्यक - नैयायिक ●

समाधान :- न, अव्य० इति । वाह ! विल्ली दूध देखती है, दडा नही । आप कारणता के शरीर मे से अव्यवहितत्व अश को हटाने की बात करते है, मगर आप यह जानते नही है कि इस तरह तो विनष्ट कपाल मे भी घटकारणता मानने की आपत्ति आयेगी, क्योकि विनष्ट कपाल भी भावी घट के अधिकरण मे अपने जीवनकालापेक्षा से तो घटोत्पादपूर्व कालावच्छेदेन विद्यमान अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी ही है । अत कारणताकोटि मे अव्यवहितत्वाश का निवेश आवश्यक है । कारणता का व्यवहार या ज्ञान उसीमे होता हे जो कार्योत्पादाऽव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्ति अभाव का अप्रतियोगी हो । कार्योत्पादाऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरण मे जिसका अभाव होता हे उसीमे कारणता की बुद्धि या सत् व्यवहार होता नही है, न कि कार्योत्पादपूर्वकालावच्छेदेन कार्याधिकरण मे जिसका अभाव होता हे उसमे भी । अत कारणता को अव्यवहितत्वाशगर्भित ही मानना आवश्यक प्रतीत होता है । जव कि कारणता के शरीर मे अव्यवहितत्व अश आवश्यक है तव तो स्वर्गोत्पाद ओर यागादि के वीच व्यापारविधया अदृष्ट (=पुण्यादि) की कल्पना आवश्यक ही है, क्योकि यागादि क्रिया क्षणिक होने से चिरकालभावी स्वर्गादि के अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्याधिकरण मे रहे - ऐसा नामुमकिन है ।

● कीर्तनादिनाश्यत्वेन अदृष्टसिद्धि - नैयायिक ●

कीर्त्त० इति । अदृष्ट की स्वीकृति करने का एक और भी कारण है । वह है कीर्त्तनादिनाश्यता । मतलव यह है कि 'मैंने ज्योतिष्टोम किया', 'मैंने वाजपेय यज्ञ किया' इत्यादि कीर्त्तन = स्वप्रशसा करने से अपूर्व नष्ट होता हे - यह वात तो श्रुति प्रमाण से सिद्ध है । अर्थात् स्वप्रशसा से जन्य नाश का प्रतियोगी दूसरा कोई नही है, मगर अदृष्ट ही है । अदृष्ट का स्वीकार न करने पर कीर्त्तनादि से जन्य नाश की प्रतियोगिता का आश्रय कौन होगा ? अत कीर्तनादिजन्यनाशप्रतियोगित्वेन भी अदृष्ट की सिद्धि आवश्यक हे । इस तरह जो अदृष्ट सिद्ध होता है, वह आत्मा के गुणस्वरूप है । मतलव कि अदृष्ट आत्मधर्म है, अनात्मधर्म

तदसत् स्वतन्त्रप्राप्यत्वेनाऽऽत्मपरिणामरूपस्यैवाऽदृष्टस्य कल्पयितु युक्तत्वात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात् ।

★ जयलता ★

यत्तु 'धर्मः क्षरती'त्यस्य धर्मो यागादिः क्षरति = फलभाङ् न भवतीत्यर्थकतयाऽपूर्वद्वारा यागादिजन्यस्वर्गादिफल प्रति कर्मनाशाजलस्पर्शादिः स्वध्वसमम्बन्धेन तादृशजलस्पर्शादिध्वसाना वा प्रतिबन्धकत्व लभ्यत इति तन्न मनोहरम्, एकस्मिन् मासि दर्शपूर्णमासकरणाऽनन्तर कर्मनाशाङ्गजलस्पर्शादिकरणे सत्यन्यस्मिन् मासि कृतदर्शपूर्णमासाभ्यामपि निरुक्तप्रतिबन्धसत्त्वेन स्वर्गानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, यागादेः कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वाऽन्यथानुपपत्त्या अपूर्वाऽङ्गीकारस्याऽऽवश्यकत्वादिति दिक् ।

एतेनाऽधर्मलक्षणाऽपूर्वसिद्धिरपि व्याख्याता यदि ह्यधर्मो न स्यात् तदा प्रायश्चित्तादिना नाश्यत्व कस्य स्यात् ? न हि तेन ब्रह्महत्यादीना नाश' प्रतिबन्धो वा विधातु शक्यते, तस्य पूर्वमेव वृत्तत्वादिति प्रायश्चित्तादिजन्यनाशप्रतियोगित्वाऽन्यथानुपपत्त्याऽधर्मलक्षणाऽपूर्वसिद्धिः न केनाऽप्यपहर्तुं शक्या । नरादिवैचित्र्याऽन्यथाऽनुपपत्तेश्चाऽपूर्वसिद्धि' सभवति ।

इद तु ध्येयम् - अपूर्वं द्विविध कलिकापूर्वं परमापूर्वञ्चेति । तथाहि यदाऽऽग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाऽच्युतो भवति उपाशुयाजमन्तरा यजति ताभ्यामेतदग्नीषोमीयमेकादशकपाल पूर्णमासे प्रायच्छत् ऐन्द्र दधि अमावास्यायामैन्द्र पयोऽमावास्यामिति पञ्चभि' वाक्यैः विहितषडाग्नेयादिभ्य' षडुत्पत्त्यपूर्वाणि जायन्ते । तान्येव कलिकापूर्वाणीत्युच्यन्ते । षट्कलिकाऽपूर्वेभ्यः परमाऽपूर्वमिति । न चाऽऽवश्यकषट्कलिकापूर्वैरेव स्वर्गसम्भवे मध्ये परमापूर्वकल्पन निरर्थकमिति वक्तव्यम्, 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेते'ति श्रुतिघटकद्विवचनान्तेन दर्शपूर्णमासोभयत्वावच्छिन्नस्य स्वर्गसाधनत्वप्रतिपादनात्, आग्नेयादिषड्यागजन्यषट्कलिकापूर्वाणा दर्शपूर्णमासोभयत्वावच्छिन्नजन्यत्वाऽभावात्, तेषा व्यापारत्वाऽसम्भवात् उभयत्वावच्छिन्नस्य श्रुतिबोधितकारणत्वाऽन्यथानुपपत्त्या परमापूर्वकल्पनाया आवश्यकत्वात् । न चैव क्रमिकाणा आग्नेयादिषड्यागाना तृतीयक्षणवृत्तिध्वसप्रतियोगिना साक्षात् परमाऽपूर्वजननाऽसमर्थतया व्यापारतया षट्कलिकापूर्वकल्पनाया गौरवमिति साम्प्रतम्, तादृशगौरवस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वादिति दिक् ।

प्रदर्शितनैयायिकमत व्याख्याकृत प्रत्याचष्टे - तदसदिति । स्वतन्त्रप्राप्यत्वेनेति । तत्तदुपयोगपरिणत्या स्वतन्त्रेण = कर्त्रा आत्मना प्राप्यत्वेनेत्यर्थः । सर्वथा भेदे तत्प्राप्तिर्न स्यात् । आत्मपरिणामरूपस्यैवेति । एवकारेणाऽऽत्मन' सर्वथाभिन्नत्वमपाकृत परिणामि-परिणामयोः कथञ्चिदभिन्नत्वे एव परिणाम-परिणामिभावोपपत्ते' । अदृष्टस्य भावकर्मापरपर्यायस्य, कल्पयितु युक्तत्वात्, न पुनः तदतिरिक्तस्येति गम्यते । अत्रैव हेतुमाह - धर्मिकल्पनात इति । अय भावः आत्मव्यतिरिक्तस्य गुणत्वादिजात्याश्रयस्याऽदृष्टस्य कल्पनात आत्मपरिणामविशेषस्वरूपस्यैवाऽदृष्टस्य कल्पना लघीयसी, तत्राऽऽत्मायनन्तपदार्थभेद-स्वतन्त्रजाति-तत्सबन्धप्रभृत्यकल्पनात् । तदुक्त प्रवचनसारवृत्तौ अमृतचन्द्रेणापि''- आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिन परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तथाविध' परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणा परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात् कर्म । ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता'' [प्र मा २/३० अ वृ पृ १५५] इति ।

● रमणीया ●

नहीं । तथा अदृष्ट की उत्पत्ति श्रुति से विहित एव निषिद्ध क्रिया से होती है । विहित क्रिया से शुभ अदृष्ट की उत्पत्ति होती है और निषिद्ध क्रिया मे अशुभ अदृष्ट की उत्पत्ति होती है । तथा आत्मा मे अदृष्ट सर्वथा भिन्न होता है । मतलब कि अदृष्ट आत्मा का परिणाम नहीं है । अत आत्मा को एकात नित्य मानने पर भी शुभाशुभ अदृष्टस्वरूप पुण्य और पाप की उत्पत्ति सभवित है । अत मूल ग्रन्थ की तृतीय कारिका के पूर्वार्ध मे जो कहा गया है कि → 'आत्मा को एकात नित्य मानने पर पुण्य-पाप का असभव है' ← वह ठीक नहीं है ।

● अदृष्ट = भावकर्म आत्मपरिणामस्वरूप - स्याद्वादी ●

तदसत्० इति । नैयायिक के उपर्युक्त दीर्घ वक्तव्य के प्रतिवाद मे व्याख्याकार श्रीमद्जी कहते हैं कि अदृष्ट को आत्मा से सर्वथा भिन्न इत्यादि मानना असगत है । वस्तुत अदृष्ट को आत्मपरिणामस्वरूप ही मानना युक्तिसगत है । इसका कारण यह है कि - स्वतन्त्रप्राप्य होने की वजह अदृष्ट को आत्मपरिणामस्वरूप मानना ही युक्त है । स्वतन्त्रप्राप्य का अर्थ है उन उन उपयोग मे परिणत ऐसी स्वतत्र आत्मा के द्वारा प्राप्य होना । शुभाशुभ अदृष्ट को आत्मपरिणामविशेषस्वरूप मानना ही ठीक है, [जो कि आत्मा से न तो सर्वथा भिन्न है, न तो अभिन्न] न कि आत्मा से सर्वथा अतिरिक्त । यदि अदृष्ट को आत्मा से सर्वथा भिन्न गुणस्वरूप माना जाय तब तो उसमे गुणत्व आदि जाति, उसका सबध, आत्मादिप्रतियोगिकभेदवत्त्व आदि की भी कल्पना करनी होगी । जब कि अदृष्ट को आत्मपरिणामात्मक मानने पर उपर्युक्त गौरव न होने से लाघव है । अत गुणत्व के धर्मरूप मे अदृष्ट की कल्पना करने की बजाय अदृष्ट को ही आत्मधर्मात्मक मानने मे लाघव है । अत अदृष्ट को आत्मपरिणामस्वरूप मानना ही युक्त है । इसे जैनपरिभाषा के अनुसार भावकर्म भी कहा जा सकता है, जो रागद्वेषादिपरिणतिस्वरूप होता है ।

तदुपनीतप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिपाकादेव फलोदयात् । अत एव फलसंतानस्थितिः कर्मणः स्थितिबन्धं नातिवर्तते । परिणामाऽदृष्टजनितेन च पौद्गलिकाऽदृष्टेनैव आत्मनोऽनुग्रहोपघातौ सभवतः, पुद्गलस्यैव अन्यत्राऽनुग्रहोपघातकारित्वदर्शनात् ।

★ जयलता ★

नन्वात्माऽभिन्नस्याऽऽत्मपरिणामरूपस्याऽदृष्टस्य कल्पने ताजक् फलोदयापत्तिः, आत्मनो नित्यत्वात् । अत एव फलसतानाऽविश्रामश्चेतिदोषद्वय कथकार वारणीय ? इत्याशङ्कायामाह - तदुपनीतप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिपाकादेव = आत्मपरिणामात्मकाऽदृष्टऽऽकृष्टज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिसमाप्तेरेव फलोदयात् । अय भावः परमार्थत आत्मनः रागादिपरिणतिरूपमेवाऽदृष्टम् । तत्तत्परिणामस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्थितिकत्वात् चिरकालानन्तरभाविफलोदय प्रति स्वार्जितपुद्गलविशेषस्वरूपकर्मप्रकृतिविशेषलक्षणव्यापारद्वारेणैव हेतुता सभवति । अतोऽन्तरा द्रव्याऽदृष्ट कल्प्यते । तच्च स्वाऽबाधाकालमनतिक्रम्य फलाधानायाऽलम् । अबाधाकालः तत्तत्कर्मोदयाऽयोग्यकालः । किमुक्त भवति ? उच्यते द्विविधा कर्मणः स्थितिः, कर्मरूपतयाऽवस्थानलक्षणा अनुभवयोग्या च । यथा ज्ञानावरणस्य कर्मरूपतयावस्थानलक्षणा स्थितिमधिकृत्य त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोट्यः, अनुभवयोग्या च वर्षसहस्रत्रयोना स्थितिः । इयमेव वर्षसहस्रत्रयप्रमाणा ज्ञानावरणीयकर्मण स्थितिः तदुत्कृष्टाऽबाधाकालो ज्ञेयः । अबाधाकालपरिज्ञानोपायश्चाय यस्य कर्मणो यावत्यः सागरोपमकोटाकोट्यस्तस्य तावन्ति वर्षशतान्यबाधा । यस्य पुनः सागरोपमकोटाकोट्या मध्ये स्थितिस्तस्याऽऽयुर्वर्जस्याऽन्तर्मुहूर्तमायुषस्तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमबाधा उत्कर्षतः पूर्वकोटीविभाग इत्यादिक कर्मप्रकृतिप्रभृतिग्रन्थेभ्योऽवसेयम् । प्रकृत प्रस्तूयते ज्ञानावरणीय कर्म उत्कृष्टस्थितिक बद्ध सत् बन्धसमयादारभ्य त्रीणि वर्षसहस्राणि यावत् सामान्यतः न काञ्चिदपि स्वोदयतो जीवस्य बाधामुत्पादयति, तावत्कालमध्ये दलिकनिषेकस्याऽभावात् । तत ऊर्ध्वं हि दलिकनिषेकः । स चैव प्रथमस्थितौ प्रभूतो द्वितीयस्थितौ विशेषहीनः तृतीयस्थितौ विशेषहीन', एव विशेषहीनः विशेषहीनः तावद् वक्तव्यो यावत्स्थितिचरमसमयः । तत ऊर्ध्वं न विवक्षितकर्मनिषेकः । अत एव न तत ऊर्ध्वं विवक्षितकर्मोदयः । इदमेवाऽऽह - अत एवेति स्थितिबन्धचरमसमयानन्तरकाले विवक्षितकर्मदलिकनिषेकविरहादेव । फलसतानस्थिति = विवक्षितकर्मफलपरम्परास्थितिः कर्मण = विवक्षितकर्मणः स्थितिबन्ध = स्थितिचरमसमय, नातिवर्तते नातिक्रमते इति । ततः पर विश्राम्यतीति भावः ।

नन्वात्मपरिणामोत्पादिताऽऽत्मगुणात्मकेनैवाऽदृष्टेन फलोदयोऽस्तु कि तदुपात्तप्रकृतिविशेषात्मकेन पौद्गलिकेनाऽदृष्टेनेत्याशङ्कायामाह-परिणामाऽदृष्टजनितेनेति भावकर्माऽर्जितेन । पौद्गलिकादृष्टेनैवेति । एवकारेणाऽदृष्टस्याऽऽत्मगुणत्व निराकृतम् । आत्मन अनुग्रहोपघातौ = सुख-दुःखादिरूपौ सभवत । अत्र हेतुमाह - पुद्गलस्यैव अन्यत्र = अदृष्टातिरिक्तस्थले अनुग्रहोपघातकारित्वदर्शनादिति । अय भावः दुग्धपानादितोऽनुग्रहस्य कण्टकादितश्चोपघातस्य दर्शनात् पुद्गलस्यैव जीवानुग्राहकत्वादिकम् । एवमदृष्टस्याप्यात्मानुग्राहकत्वादितः पौद्गलिकत्व निरबाधम् । प्रयोगस्त्वेवम् - अदृष्ट पौद्गलिक आत्मानुग्रहोपघातनिमित्तत्वात्, निगडादिवत् । न चाऽप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् कार्यकार्थप्रत्यासत्त्या तस्य सुखादिहेतुत्वे त्वन्नीत्याऽसमवायिकारणत्वप्रसङ्गात् । मूर्तकार्यजनकत्वादपि तस्य मूर्तत्व निरपायम् । तदुक्त तत्त्वार्थराजवार्त्तिकेऽकलङ्केन 'मूर्तिमदस्य कार्यं तत एव कर्मणः = कारणस्य मूर्तिमत्त्व सिद्धम्' [त राज २/३६/१९] इति । न चैव तत्र स्पर्शरसादिकल्पनागौरवमिति वाच्यम् तस्य फलमुखत्वेनाऽदोषत्वात् । अदृष्टस्याऽऽत्मगुणत्वे तु तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वविरोधात्सर्वदाऽऽत्मनो बन्धानुपपत्तेरिति दिक् ।

● रमणीया ●

● अबाधाकाल के बाद सचित कर्म से फलोदय - स्याद्वादी ●

तदुप० इति । यहाँ यह शका करना कि→"कर्म यानी अदृष्ट आत्मपरिणामात्मक ही है-ऐसा मानने पर तो रागादिपरिणामस्वरूप अदृष्ट की अव्यवहित उत्तर क्षण मे ही फल की प्राप्ति होनी चाहिए"←ठीक नही है । इसका कारण यह है कि भावकर्म आत्मा की रागादिपरिणतिस्वरूप होने पर भी फल का नियामक तो भावकर्म से अर्जित ज्ञानावरणादिलक्षण कर्मप्रकृतिविशेष के अबाधाकालका परिपाक है । आशय यह है कि रागादिपरिणामस्वरूप भावकर्मनिमित्त से पुद्गलविशेषरूप कार्मण वर्गणा को जीव ग्रहण करता है, जो ज्ञानावरणादि ८ मूल कर्म प्रकृति एव मतिज्ञानावरणादि १५८ उत्तरकर्म प्रकृति मे विभक्त होती है । इसे प्रकृतिबध कहते है । कार्मण वर्गणा के बध के चार भेद होते है - प्रकृतिबध, स्थितिबध, रसबध और प्रदेशबध, । तत् तत् कर्म की जघन्य आदि स्थिति का निश्चित होना यह स्थितिबध कहा जाता है । प्रस्तुत मे इसीका प्रयोजन है । कर्म की स्थिति के अनुसार उसका अबाधाकाल होता है । अबाधाकाल का मतलब है कर्मबध के समय से ले कर अमुक कालमर्यादा तक उस कर्म के विपाकोदय के लिए अयोग्य काल । जैसे ज्ञानावरण की ३० कोटाकोटी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति का बध करने पर उसका अबाधाकाल ३००० वर्षप्रमाण होता है । यह कालमर्यादा पूर्ण होने के बाद ही सामान्यत उस कर्म का फलोदय हो सकता है । अबाधाकाल का परिपाक तत् तत् कर्म के फलोदय मे नियामक होने से रागादिपरिणामरूप भावकर्म के अव्यवहित उत्तर क्षण मे ही कर्म के फल का उदय होने की आपत्ति का अवकाश नही है । अबाधाकालावधि से ले कर बद्ध कर्म के स्थितिबध के काल पर्यन्त ही तत् तत् कर्म के फलसतान = फलप्रवाह का उदय हो सकता है । अबाधाकाल के पूर्व या बद्ध कर्म की स्थिति के पश्चात् कर्म के फल का उदय होता नही है। अतएव कर्म के फल की परपरा अपने स्थितिबध की कालावधि का अतिक्रमण करती नही है। अत सदा के लिए कर्मफलसतान के अविराम की आपत्ति नही है। इस बात का विस्तार से निरूपण कम्मपयडी, पचसग्रह आदि ग्रथ मे ज्ञातव्य है।

● द्रव्यकर्म पौद्गलिक है - स्याद्वादी ●

परिणामा० इति । यहाँ एक और बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि कर्म = अदृष्ट जीव का अनुग्रह एव उपघात करना

किञ्च, 'आत्मनः शुभाशुभपरिणामौ परससर्गजन्यौ, शुद्धपरिणाम तिरस्कृत्याऽऽविर्भावात्, जपातापिच्छकुसुमसंक्रमजनितस्फटिकरागवत्' इत्यनुमानादपि पौद्गलिकाऽदृष्टसिद्धिः ।

न च परिणामाऽदृष्टात्पौद्गलिकाऽदृष्ट पौद्गलिकाऽदृष्टाच्च परिणामाऽदृष्टमित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम् बीजाङ्कुरस्थल इवानाद्यन्योन्याश्रयस्याऽत्राऽदोषत्वात् ।

★ जयलता ★

किञ्चेति अत्र आत्मवृत्तिशुभाशुभपरिणामयो पक्षत्व, परससर्गजन्यत्व साध्य, शुद्धपरिणाम तिरस्कृत्याऽऽविर्भावादिति हेतु 'जपे'त्यादिदृष्टान्त । तिरस्कारपदार्थोऽत्र तिरोधान न तु परित्याग', आत्मस्फटिकादीना शुद्धस्वभावस्य यावद्द्रव्यभावित्वात्, अन्यथा उपाधिविरहे नैर्मल्यानुपलब्धिप्रसङ्गात् । इत्यनुमानादपि पौद्गलिकादृष्टसिद्धिरिति । साध्यघटकीभूतपरपदार्थविधया धर्मास्तिकायादिद्रव्यस्याऽसभवेन पारिशेष्यन्यायात् पुद्गलस्यैवाऽत्र परपदार्थत्वमिति पौद्गलिकाऽदृष्टसिद्धिरित्यर्थ ।

'अपिशब्देन 'अदृष्ट पौद्गलिक आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् निगडादिवदि'त्याद्यनुमानसमुच्चय. । न च क्रोधादिभि व्यभिचार शङ्कनीय तेषा पारतन्त्र्यस्वभावत्वात् न पारतन्त्र्यनिमित्तत्वम् । तदुक्त रत्नाकरावतारिकाया क्रोधादीनामात्मपरिणामरूपाणा पारतन्त्र्यस्वभावत्वान्न पौद्गलिकत्वम् । कर्मणा तु पारतन्त्र्यनिमित्ताना निगडादिवत् पौद्गलिकत्वमिति विशेष'' [रत्ना अ ७/५६] । तदुक्त स्याद्वादरत्नाकरेऽपि 'अदृष्ट आत्मगुणो न भवति, पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् निगडादिवत्' [स्या रत्ना ७/५६ पृ -११०१] इति ।

न चेति । अस्य वाच्यमित्यनेनाऽन्वय । परिणामाऽदृष्टात् = आत्मवृत्तिरागादिपरिणामलक्षणभावाऽदृष्टात्, पौद्गलिकादृष्ट = द्रव्यकर्म उत्पद्यत इति शेष. । पौद्गलिकाऽदृष्टाच्च = द्रव्यापूर्वाच्च, परिणामाऽदृष्ट = भावकर्म, उत्पद्यत इति शेषः । इतिशब्दो हेत्वर्थ । अन्योन्याश्रय = उत्पत्तौ परस्पराश्रयः, स्वसापेक्षसापेक्षत्वनिबन्धनप्रसङ्ग इति यावत् । भावाऽदृष्टस्य द्रव्यकर्मजन्यत्वे सति द्रव्यकर्मजनकत्वोपगमे द्रव्यादृष्टस्य भावकर्मजन्यत्वे सति भावकर्मजनकत्वोपगमे वा न कदापि तदर्जन सभवि । अत सर्वेषा सर्वदा मुक्तत्वप्रसङ्गोऽपि सुदुर्निवार इति शङ्काकृदाशयः । स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - बीजाङ्कुरस्थल इति । अथ समाधानाशयः बीजस्याऽङ्कुरजन्यत्वे सत्यङ्कुरजनकत्वेऽपि तयाऽङ्कुरस्य बीजजन्यत्वे सति

● रमणीया ●

है । वह यदि पौद्गलिक न हो अर्थात् मूर्तद्रव्यात्मक न हो और अमूर्त एव आत्मगुणस्वरूप हो तो वह जीव का अनुग्राहक या उपघातक हो नहीं सकता, क्योकि सुखजनकता या दुःखजनकता पुद्गल मे ही होती है - यह अन्यत्र प्रसिद्ध है । ठडे पानी या गरम दूध के सेवन से आनद का अनुभव होता है । एव प्रतिकूलद्रव्य-कटकादि से दुःख होता है - यह तो बहुजनप्रसिद्ध है । मतलब कि शुभाशुभ पुद्गल मे ही सब सुख-दुःख का अनुभव करते है । अत सुख-दुःख का जनक होने से कर्म भी पौद्गलिक ही होना चाहिए - यह मानना आवश्यक है । परिणामकर्म से जनित कर्म मे पौद्गलिकत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी होती है । यह रहा वह अनुमान→ जीव का शुभाशुभ परिणाम स्वेतरससर्गजन्य है, क्योकि शुद्ध परिणाम का तिरस्कार = तिरोधान कर के वे आविर्भूत होते है । इसका उदाहरण है स्फटिक का रक्त-श्यामादि परिणाम । स्फटिक मे जो रक्तादि परिणाम उत्पन्न होते है वे जपापुष्प आदि के ससर्ग से उत्पन्न होते है और स्फटिक के निर्मल परिणाम का तिरोधान कर के आविर्भूत होते हैं । स्फटिकोपराग मे शुद्धपरिणामतिरोधानपूर्वक आविर्भूतत्व और परससर्गजन्यत्व के बीच व्याप्य-व्यापकभाव निश्चित होता है । इसी बल के आधार से शुभ और अशुभ जीवपरिणाम भी वीतरागपरिणाम के तिरोधानपूर्वक आविर्भूत होने की वजह जीवविभिन्न पदार्थ से उत्पन्न होते है - यह सिद्ध होता है । शुभाशुभ परिणाम का जीवभिन्न उत्पादक पदार्थ धर्मास्तिकाय आदि तो सभवित नहीं है । अत पारिशेष न्याय से पुद्गल सिद्ध होता है । वही पुद्गल द्रव्य भावकर्म से जनित कर्म है - यह सिद्ध होता है । इस तरह उपर्युक्त अनुमान के सामर्थ्य से भावकर्मजन्य एव भावकर्मजनक ऐसा कर्म पौद्गलिक है-यह निर्विवादरूप से माना जा सकता है ।

शका :- न च परि० इति । आप परिणाम अदृष्ट से पौद्गलिक अदृष्ट के उत्पाद एव पौद्गलिक अदृष्ट से परिणाम अदृष्ट के जन्म की बात करते है । मगर यह हो सकता नहीं है, क्योकि पौद्गलिक अदृष्ट को भावकर्म से जन्य एव भावकर्म का जनक मानने पर उत्पत्ति मे अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है । वह इस तरह - पौद्गलिक अदृष्ट को अपनी उत्पत्ति मे शुभाशुभ जीवपरिणामरूप भाव अदृष्ट की अपेक्षा है और भाव अदृष्ट को अपनी उत्पत्ति मे पौद्गलिक अदृष्ट की अपेक्षा है । पौद्गलिक अदृष्ट के बिना ही परिणाम अदृष्ट का अर्जन माना जाय तब तो सिद्ध भगवत मे भावकर्म के उपार्जन की आपत्ति होगी । एव भाव अदृष्ट के

अथ मूर्त्तयोः परस्परसंक्रमसंभवात् स्फटिकादौ जपातापिच्छसंसर्गवशात् श्यामरक्तादिरूपपरिणामो युक्तः, आत्मनस्त्वमूर्त्तत्वात् पुद्गलसंसर्गेणाऽपि कथं विभावपरिणामः संभवतीति चेत् ?

न, ज्ञेयनिमित्तकोपयोगाधिरूढज्ञेयाकारसंबन्धस्यैव कर्मनिमित्तकोपयोगा- धिरूढरागद्वेषभावस्य आत्मनि निरपायत्वात् ।

★ जयलता ★

बीजजनकत्वेऽपि न तदुत्पत्त्यसंभवः, पूर्वपूर्वबीजेभ्य एवोत्तरोत्तराङ्कुरोत्पादस्य तथा पूर्वपूर्वाङ्कुरेभ्य एवोत्तरोत्तरबीजोत्पादस्य संभवात् । यद् बीजं प्रति यद् अङ्कुरस्य कारणत्वं तदङ्कुरं प्रति तद्बीजस्य न कारणत्वमिति नोत्पत्तौ परस्पराश्रयदोषः । एवं पूर्वपूर्वपरिणामाऽदृष्टेभ्य एवोत्तरोत्तरद्रव्याऽदृष्टोत्पादस्य तथा पूर्वपूर्वपौद्गलिकादृष्टेभ्य एवोत्तरोत्तरभावकर्मार्जनस्य संभवात् न तदुत्पादाऽसंभवः । एतेनाऽनवस्थाऽपि प्रत्युक्ता प्रवाहापेक्षया द्रव्यभावादृष्टानामनादित्वात् । अत एव तस्याऽदोषत्वम् । अत एव रोहकपर्यनुयोगावसरे भगवता 'रोहा ! से य अंडए सा य कुक्कुडी पुव्वि पेते पच्छा पेते दुवे ते सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! [भ.सू.१/६/५३] इत्युक्तमिति व्याख्याप्रज्ञप्तौ व्यवस्थितम् । तदुक्तं आनन्दानुभवाचार्यैरपि 'मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम् ॥ [ ] इति ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं शङ्कते-अथेति । अन्वयश्चास्य 'चेदि'त्यनेन । मूर्त्तयोरिति । अनेनाऽमूर्त्तद्रव्यादिव्यवच्छेदः कृतः । स्फटिकादाविति । आदिपदेन मणिमाणिक्यादिग्रहणम् । जपातापिच्छसंसर्गवशात् = जपातापिच्छादिसंसर्गवशादित्यर्थः, अग्रे वक्ष्यमाणाऽऽदिपदसामर्थ्यात् । श्यामरक्तादिरूपप-रिणाम इति विपरिणामेन रक्तश्यामादिरूपपरिणाम इति ज्ञेयं तथैव यथाक्रममन्वयोपपत्तेः, जपाकुसुमसंसर्गात् रक्तपरिणामस्य तापिच्छसन्निधिवशाच्च श्यामपरिणामस्य स्फटिकादावुत्पत्तेः । द्रष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकवैषम्यं दर्शयति - आत्मनस्त्विति । अमूर्त्तत्वात् हेतोः पुद्गलसंसर्गेणाऽपि शुद्धपरिणामं तिरस्कृत्य कथं विभावपरिणाम ? नैव वीतरागस्वभावविरुद्ध-रागादिस्वरूपविभावपरिणतिः भवितुमर्हति, अन्यथा अमूर्त्ताकाशादावपि तत्प्रसज्येतेति नैयायिकाऽभिप्रायः ।

प्रकरणकृत्तन्निराचष्टे-नेति । ज्ञेयनिमित्तकोपयोगाधिरूढज्ञेयाकारसंबन्धस्यैव = घटादिज्ञेयपदार्थनिमित्तक उपयोग अधिरूढे जीवे घटादिज्ञेयाकारस्य ज्ञाननिष्ठस्य यः स्वाश्रयसमवायसंसर्गः तस्य इव, कर्मनिमित्तकोपयोगाधिरूढरागद्वेषभावस्य = शुभाशुभद्रव्यकर्मनिमित्तकोपयोगमधिरूढे आत्मनि

● रमणीया ●

बिना भी पौद्गलिक अदृष्ट की उत्पत्ति मानी जाय तब तो वीतराग सिद्ध भगवंत में शुभाशुभपरिणामलक्षण भाव अदृष्ट न होने पर भी पौद्गलिक अदृष्ट के बंध की आपत्ति आयेगी । अतः आप पौद्गलिक अदृष्ट को परिणाम अदृष्ट से जन्य एवं परिणाम अदृष्ट का जनक मानते हैं । मगर उपर्युक्त पद्धति से दोनों को अपनी उत्पत्ति में अन्य की उत्पत्ति की आवश्यकता होने से उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय दोष आता है । ऐसा होने पर एक भी अदृष्ट की उत्पत्ति हो नहीं सकेगी । पौद्गलिक अदृष्ट के बिना परिणाम अदृष्ट की उत्पत्ति नामुमकिन है और पौद्गलिक अदृष्ट को अपनी उत्पत्ति में परिणाम अदृष्ट की उत्पत्ति की अपेक्षा होने से द्रव्य कर्म भी अनुत्पन्न ही रहेगा । अतः न तो द्रव्य कर्म उत्पन्न होगा और न तो भाव कर्म उत्पन्न होगा । अतः अनायास सर्वजीव की मुक्ति हो जायेगी । अतः पौद्गलिक अदृष्ट को भाव अदृष्ट से जन्य एवं उसका जनक मानना भी ठीक नहीं है ।

● द्रव्य कर्म और भाव कर्म में अन्योन्याश्रय दोषरूप नहीं - स्याद्वादी ●

समाधान :- बीजाकुं० इति । यह अन्योन्याश्रयआपादन ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि अन्योन्याश्रय होने पर भी बीज और अंकुर की भाँति द्रव्य कर्म और भाव कर्म कार्य-कारणभाव हो सकता है । आशय यह है कि अंकुर का कारण बीज होता है । अतः अंकुरार्थी बीज का अन्वेषण करते हैं । मगर बीज की प्राप्ति तो अंकुर - पौधे के बिना हो सकती नहीं है । अतः बीजोत्पत्ति के लिये अंकुर की अपेक्षा होती है । और अंकुरजन्म के लिए बीज की अपेक्षा होती है । इस तरह उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय प्रसक्त होता है । मगर यह अन्योन्याश्रय दोषात्मक कहा जाता नहीं है, क्योंकि यह कार्य-कारणभाव अनादि कालीन है । अर्थात् अनादि काल से बीज से अंकुर और अंकुर से बीज का जन्म हो रहा है । प्रवाह से बीज और अंकुर दोनों अनादि हैं । इसी तरह भाव कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्म से भाव कर्म का उपार्जन अनादिकालीन परंपरा से होने से दोषात्मक नहीं है । प्रवाह से द्रव्य कर्म भी अनादिकालीन है और भाव कर्म भी अनादिकालीन है । अतः पौद्गलिक कर्म और परिणाम कर्म के बीच उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय होने पर भी दोनों की उत्पत्ति का असंभव नहीं है । पूर्व-पूर्व द्रव्य कर्म से उत्तर-उत्तर भाव कर्म की उत्पत्ति एवं पूर्व पूर्व भाव कर्म से उत्तर उत्तर द्रव्य कर्म की उत्पत्ति हो सकती है । अतः यहाँ अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोषरूप नहीं है - यह मानने के लिए आपको बाध्य होना पड़ता है ।

● अमूर्त में मूर्त्त के संसर्ग से विकार असंभव - पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्ष :- अथ मू० इति । आपने पौद्गलिक कर्म के संसर्ग के सबब आत्मा में राग-द्वेष आदि भावकर्मस्वरूप विकार की उत्पत्ति होने का प्रतिपादन किया है - वह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि आत्मा अमूर्त होने से मूर्त्त पुद्गल से उसमें विकार का संभव नहीं है । विकार उसीमें पैदा होता है जो स्वयं मूर्त्त हो । मूर्त द्रव्य में ही परस्पर संक्रम का संभव है । जैसे स्फटिकादि मूर्त है एवं जपापुष्प- तापिच्छ आदि भी मूर्त्त है । अतएव उन दोनों के संसर्ग से स्फटिकादि मूर्त्त द्रव्य में लाल

मोहक्षोभविहीनो ह्यात्मनः परिणामः शुद्धः परानुपनीतत्वात्, स एव हि चारित्रशब्दवाच्यः । अत एव सिद्धानां चारित्रं निष्कलङ्कम् । यथाहि ज्ञान-दर्शनावरण-दर्शनमोहक्षयात् तेषां शुद्धज्ञान-दर्शन-सम्यग्दर्शनानि प्रादुर्बभूवुस्तथा चारित्रमोहक्षयाच्चारित्रमिति ध्येयम् ।

★ जयलता ★

रागद्वेषपरिणामसंसर्गस्य, आत्मनि निरुपायत्वात् = बाधाभावात् । अयं भावः यथा घटादिज्ञेयाकारः स्वाश्रयसमवायेन घटादिज्ञानवति जीवेऽमूर्त्ते परमतेन वर्तते तथा कर्मनिमित्तकरागाद्युपयोगवति जीवे रागादिपरिणामस्य न्याय्यत्वात् । इयांस्तु विशेषो यदुत स्वमते ज्ञेयाकार-रागादिपरिणामश्चाऽपृथग्भावसंबन्धेन जीवे वर्त्तते । न च घटनाशे घटावच्छिन्नाकाशस्य घटानवच्छिन्नत्वेऽपि स्वभावाऽपरित्यागवत् सर्वासनबुद्धिनाशे विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य विषयानवच्छिन्नत्वेऽपि स्वभावाऽपरित्यागप्रसङ्गेन मुक्त्यभावापात इति वाच्यम्, घटनाशेऽपि गगनस्य घटावच्छिन्नत्वस्वभावाऽपरित्यागे तदानीमपि घटाकाशव्यवहारप्रामाण्यप्रसङ्गात् । किञ्च सा बुद्धिः तमेवाऽऽस्मान विषयेणाऽवच्छिनत्तीत्यत्र न किमपि नियामकं पश्यामः । ततो बुद्धिरेव रागादिपरिणता आत्मन्यारोप्यऽभिषिच्यताम् । तस्या लयश्च रागादिलय एवेति तत्रैव मुक्तिरिति न्याय्यम् ।

अथैवं निश्चयनयाभिप्रायेणाऽऽत्मनि रागादिपरिणामाभावोक्तिरसंगता स्यात्, मैवम् त्रिकालानुगतग्राहिणा तद्रूपशङ्कुरेण निश्चयनयेन तदुक्तेर्युक्तत्वात् । अत एव विशुद्धपरिणामस्य न तेन प्रतिक्षेपः, निरुपाधिकाऽऽत्मपरिणामरूपस्य तस्य ज्ञानादिवत्सार्वदिकत्वात् । विशुद्धपरिणाममेव व्याचष्टे - मोहक्षोभविहीनो हि आत्मनः परिणामः शुद्धः परानुपनीतत्वादिति । मोहनीयकर्मबन्धोदयादिविकलः खलु जीवस्य वीतरागपरिणामः सुविशुद्धः निरुपाधिकत्वादित्यर्थः । स एव = मोहक्षोभविहीनाऽऽत्मपरिणाम एव, हि चारित्रशब्दवाच्यः । तदुक्तं प्रवचनसारे 'चरित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिदिट्ठो । मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ [प्र सा १/७] इति । अत एव = शुद्धात्मपरिणामस्य चारित्रपदप्रतिपाद्यत्वादेव, सिद्धानां = ध्वस्तकर्मणां जीवानां, चारित्रं = चारित्रपदाभिधेयं, निष्कलङ्कम् = कलङ्करहितम् । तदेव समर्थयति - यथाहीति । ज्ञानेति । तेषां = सिद्धानां । शुद्धज्ञान-दर्शन-सम्यग्दर्शनानीति । शुद्धपदमायदीपकन्यायेनोत्तरत्राऽनुवर्तते । ज्ञानावरणक्षयात् शुद्धज्ञानं = केवलज्ञानं, दर्शनावरणक्षयात् शुद्धदर्शनं = केवलदर्शनं, दर्शनमोहक्षयाच्च शुद्धसम्यग्दर्शनं = क्षायिकसम्यग्दर्शनमिति यथाक्रममन्वयः । तथा चारित्रमोहक्षयात् चारित्रं उत्पद्येतेति शेषः । इदञ्च निश्चयनयमतेनाभिमतमिति सूचनार्थं ध्येयमित्युक्तम्

● रमणीया ●

राग एवं द्वेष रूपात्मक परिणाम उत्पन्न होते हैं । यह होना संगत है, क्योंकि संक्राम्य और संक्रामण दोनों मूर्त द्रव्य हैं । रागादिस्वरूप विभावपरिणति की उत्पत्ति आत्मा में असंभव है, क्योंकि आत्मा अमूर्त है । इसलिये शुभअशुभ पौद्गलिक अदृष्ट = कर्म को राग-द्वेषादिस्वरूप भाव कर्म का कारण कहना असंगत है ।

● अमूर्त में भी मूर्त के संसर्ग से विकार संभव - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष :- न, ज्ञेय० इति । अजी, जनाब ! आप अधजल गगरी छलकत जाय-इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं । अमूर्त में मूर्त के संसर्ग से विकार = विभावपरिणाम संभव है - यह तो आपके मतानुसार भी सिद्ध हो सकता है । देखिये जब आत्मा घटादि ज्ञेय पदार्थ से जन्य उपयोग में आरूढ होता है तब घटादि ज्ञेयाकार, जो कि आत्मा का विभावपरिणाम है, स्वाश्रयसमवाय संबंध से आत्मा में रहता है - यह तो आप भी मानते हैं । स्वपद से ज्ञेयाकार का ग्रहण करने से उसके आश्रयभूत ज्ञान का समवाय आत्मा में रहता है । अतः तादृश संबंध से ज्ञेयाकार भी आत्मा में रहे- यह संभव है । जैसे ज्ञेयनिमित्तक उपयोग में आरूढ आत्मा में ज्ञेयनिमित्तक ज्ञेयाकार, जो ज्ञान में रहता है, उक्त संबंध से रहता है वैसे ही शुभाशुभ पौद्गलिक कर्म से जन्य रागादि के उपयोग में आरूढ आत्मा में पौद्गलिक कर्मनिमित्तक रागादि विभावपरिणाम भी रह सकते हैं । अतः विभावपरिणाम की उत्पत्ति अमूर्त आत्मा में मूर्त्त द्रव्यकर्म से संभव है - यह सिद्ध होता है ।

● शुद्ध आत्मा परिणामरूप चारित्र सिद्ध में है ●

मोहक्षो० इति । मोहनीय कर्म के उदय से रागादि परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे आत्मा के अशुद्ध परिणाम हैं । मगर मोहनीय कर्म के उदयादि के विना आत्मा में जो वीतराग परिणाम होता है, वह आत्मा का शुद्ध परिणाम है । यह शुद्ध परिणाम ही चारित्रशब्द से प्रतिपाद्य है । शुद्ध आत्मपरिणाम ही चारित्र होने की वजह सिद्ध भगवतों में, जिन्होंने सकल कर्म का क्षय किया है, निष्कलंक चारित्र की सिद्धि होती है । जैसे सिद्ध भगवतों में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से शुद्धज्ञान = केवलज्ञान, दर्शनावरण कर्म के क्षय से केवलदर्शन और दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यग् दर्शन उत्पन्न होते हैं ठीक वैसे ही चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से शुद्ध चारित्र का प्रादुर्भाव होना भी सुसंगत है । चारित्रमोहनीयकर्म के संपूर्ण क्षय से सिद्ध भगवतों में अवश्य चारित्र प्रादुर्भूत होता है । इस बात पर शांति से ध्यान देना चाहिए - इस बात की सूचना करने के लिए श्रीमद्जी ने 'ध्येय' पद का प्रयोग किया है ।

अत एव 'नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए। रागस्स दोसस्स य सखएण, एगतसुक्ख, समुवेइ मुक्ख ॥ [उत्तरा ३२/२ श्लो] इत्यत्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रैरेकान्तसौख्य दुःखलेशाऽकलङ्कित सुखमिति व्याख्यातम्। गुणस्थानक्रमारोहेऽपि 'अनन्ते शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे मोहनिग्रहादि'ति प्रत्यपादि।

'सिद्धे णो चरित्ती णो अचरित्ती' [ ] इत्यत्र तु 'नो' शब्दो देशचरित्रनिषेधवाचकः, व्यवहारचारित्रस्य तेषामभावात्, अन्यथा व्याख्याता तु परस्परग्रन्थविरोधकादिशीकः का दिश अनुसरतु ? इदमपि व्यवहारनयाभिप्रायेण।

★ जयलता ★

अत्राऽस्माकमागमविषयप्रदाः स्वगुरुदत्तसिद्धान्तदिवाकरबिरूदा श्रीजयघोषसूरीश्वरचरणा "परमनिश्चयनयेन स्वसकलगुणानुभवलक्षण परचारित्रम्। तच्च सिद्धेष्वेव, तत्रैव कृत्स्नकर्मक्षयाविर्भूतस्वकृत्स्नगुणाना अनुभवात्। सयोगिकेवल्यादिषु स्वसकलगुणसज्ञाने सत्यप्यव्याबाधसुखादिसवेदनविरहेण तदयोगात्। कृत्स्नमोहोपशमक्षयाऽऽविर्भूतप्रशमानुभवलक्षण घातिकर्मक्षयप्रकटीभूतानन्तचतुष्कसवेदनलक्षण वाऽऽशिक तु तत् उपशान्तमोहादिषु चतुर्षु गुणस्थानकेष्वप्यस्ति, अपरमनिश्चयनयानुगृहीतपरमनिश्चयनयमतेन। एतेन स्थैर्यरूप परमचारित्रमयोगिकेवलिन्यप्यबाधितमिति प्रत्युक्तम्, योगस्थैर्यस्याऽऽत्मप्रदेशस्थैर्यस्याऽनन्तचतुष्कगुणस्थिरत्वस्य वा तत्र सत्त्वेऽपि अघातिकर्मविपाकोदयमहिम्नाऽव्याबाधसुखादिगुणस्थैर्यविरहेण द्रव्यभावोभयस्थैर्यरहितत्वात्। अत एव द्रव्यभावकृत्स्नस्थैर्यलक्षण परचारित्रमित्युक्तावपि न क्षति। एकादशादिषु त्रिषु गुणस्थानेषु योगनिरोधलक्षणद्रव्यस्थैर्यविरहात् अयोगिकेवलिनि कर्मविपाकानुदयलक्षणभावस्थैर्यविरहात् 'सिद्धाना निष्कलङ्क चारित्रमि'त्युक्तम्। न चैवमुपशान्तमोहादिषु चतुर्षु यथाख्यातचारित्रप्रतिपादकसिद्धान्तवचनविरोधः प्रसज्येतेति शङ्कनीयम्, सिद्धान्ते पञ्चधा चारित्रभेदस्य मोक्षकारणीभूतचारित्रप्रतिपादकेन नयविशेषेणैवाऽभिधानात्। न चैव सिद्धेषु 'पारिशेष्याद् यथाख्यातमेव तदि'ति वक्ष्यमाणग्रन्थविरोध उद्भावनीय, सिद्धेषु वर्तमानस्य सर्वात्मना स्वभावसिद्धक्रियारूपस्य परमाध्यात्मपदवाच्यस्य तस्य यथाख्यातचारित्रजन्यत्वेन यथाख्यातत्वाभिधानादिति" प्राहु।

उत्तराध्ययनसवादमुपदर्शयितुमाह अत एवेति। सिद्धेषु चारित्रस्य विद्यमानत्वादेवेति। नाणस्सेति व्याख्यालेशस्त्वेवम् -ज्ञानस्य सर्वस्य वस्तुनः प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया तथा पुना रागस्य द्वेषस्य च सक्षयेण = विनाशेन एकान्तसौख्य दुःखलेशेनाऽकलङ्कित मोक्ष समुपैति। अज्ञानमोहराहित्येन सम्यग्दर्शनस्याभिधानम्। रागद्वेषात्यन्तिकक्षयेण चारित्राभिधानम्। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैः हेतुभिः एकान्तसौख्य यत् तन्मोक्षपदप्रतिपाद्यम्। ऐकान्तिकात्यन्तिकसुखास्पद मोक्ष लभत इत्यर्थः। सवादान्तरमाह - गुणस्थानकक्रमारोहेऽपीति। अनन्ते = क्षायिके शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे, मोहनिग्रहात् = दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीययोः क्षीणत्वात्। उक्तमिति। श्रीरत्नशेखरसूरिभिरिति गम्यते। साम्प्रत तु 'शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे क्षायिके मोहनिग्रहात्' [गु सा गा १३०] इति गुणस्थानकक्रमारोहे पाठः समुपलभ्यते।

सिद्धे णो इति। 'सिद्धे णो चरित्ती णो अचरित्ती णो चरित्ताचरित्ती' इति मूलसूत्रम्। नोशब्दो देशचारित्रनिषेधवाचक = क्रियारूपतदेकदेशनिषेधवाचकः न तु सर्वथा चारित्रप्रतिषेधवाचकः। अत्र हेतुमाह - व्यवहारचारित्रस्य = क्रियाविशेषरूपचारित्रस्य तेषा = सिद्धाना, अभावात्। विपक्षबाधमाह - अन्यथा = नोशब्दस्य सर्वथाचारित्रप्रतिषेधवाचकत्वोपगमे, व्याख्याता = तत्सूत्रव्याख्याकृत्, तु परस्परग्रन्थविरोधकादिशीक = 'नो चरित्ती णो अचरित्ती' इत्यत्र प्रथम नोशब्देन सर्वथाचारित्रनिषेधे कृते सर्वथा अचारित्रप्राप्तौ सत्या 'नो अचरित्ती' इत्यस्य विरोधात् 'का दिश श्रयामी'ति चिन्तया व्याकुलः का दिश = गति अनुसरतु = आश्रयतु ? अतः 'नो चरित्ती' इत्यनेन क्रियारूपचारित्रैकदेशनिषेधेऽपि चारित्रमोहक्षयजनितस्य आत्मपरिणामविशेषरूपस्य चारित्रस्य तत्राऽक्षतत्वमेवेत्यभ्युपगन्तव्यम्। इदमपि = देशचारित्रनिषेधनमपि, व्यवहारनयाभिप्रायेण = निश्चयनयानुगृहीतव्यवहारनयानुरोधेन।

● रमणीया ●

● उत्तराध्ययन सूत्र वृत्ति से सिद्धो मे चारित्र सिद्धि ●

अत एव० इति। सिद्ध भगवतो मे चारित्र होता है - इस बात की सिद्धि उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वे अध्ययन के दूसरे श्लोक की टीका से होती है। उस श्लोक का शब्दार्थ है - 'सपूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान-मोह के त्याग से एव राग और द्वेष के सपूर्ण क्षय से सिद्ध भगवत एकातसुखस्वरूप मोक्ष को पाते हैं। मूल श्लोक मे 'एगतसुक्ख' पद है उसकी व्याख्या ऐसी की गई है कि - 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से एकात सुख, जो दु खलेश से अकलकित होता है'। यहाँ टीकाकार ने सम्यग्दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्रपद का भी ग्रहण किया है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवतो मे सम्यक् चारित्र भी अवश्य होता है। इसलिए तो गुणस्थानक्रमारोह ग्रथ मे भी ऐसा कहा गया है कि - 'मोहनीय कर्म के निग्रह से सिद्ध भगवतो मे अनत शुद्ध सम्यग्दर्शन और अनत शुद्ध चारित्र प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ भी स्पष्टरूप से चारित्रपद का ग्रहण किया है - इससे सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवतो मे सम्यक् चारित्र भी अवश्य होता है।

● सिद्धे नो चरित्ती - यहाँ 'नो'शब्द देशनिषेधक - व्यवहारनय ●

'सिद्धे णो'० इति। भगवतीसूत्र आदि मे कहा गया है कि- 'सिद्धे णो चरित्ती णो अचरित्ती'। यहाँ नोशब्द सिद्ध भगवत मे सर्वथा चारित्र का निषेध करता नही है, किन्तु अशत चारित्र का निषेध करता है। व्यवहारनय से चारित्र प्रवृत्ति और निवृत्तिस्वरूप है। सिद्ध भगवतो मे प्रवृत्तिरूप चारित्र होता नही है, मगर निवृत्तिस्वरूप चारित्र होता है - इस बात को सूचित करने के लिए ही 'सिद्धे नो चरित्ती' ऐसा कहा गया है। यदि 'नो'शब्द को देशत चारित्रनिषेधक न माना जाय, किन्तु सपूर्णतया

निश्चयतस्तु परमचारित्रवानेव सिद्धः, तत्रैव सर्वगुणपारम्यविश्रान्तेः ।

अथ पञ्चस्वनन्तर्भावात् सिद्धाना कतरच्चारित्रमस्त्विति चेत् ? पारिशेष्याद् यथाख्यातमेव तदनुमीयता, 'आया सामाइए, आया सामाइअस्स अट्ठे' इत्यादिनाऽऽत्मस्वरूपताऽपि चारित्रस्य बहुसमयसुप्रसिद्धेति । अधिकमस्मत्कृताऽध्यात्ममतपरीक्षायामध्यवसेयम् ।

★ जयलता ★

निश्चयत = शुद्धनिश्चयनयमाश्रित्य, तुर्विशेषद्योतनार्थ', तदेव विस्फोरयति - परमचारित्रवान् = विशुद्धपूर्णचारित्रवान् एव सिद्ध । एवकारेण आशिकचारित्रवत्त्वनिषेधः कृतः । हेतुमाह - तत्रैव = सिद्धे एव, सर्वगुणपारम्यविश्रान्ते सर्वेषा गुणाना प्रकर्षस्य पर्यवसानात् । कषायहान्या चारित्रवृद्धि' तद्वृद्ध्या च चारित्रहानिरिति तत्प्रतिपक्षभूत' विशुद्धोपयोग एव चारित्रम् । कषायाणामात्यन्तिकोच्छेदात् कषायसहचरितयोगविलयात् सिद्धेष्वेव परमचारित्रम् । पारम्यञ्चात्र वैधर्म्यरूप ग्राह्य न तु सजात्यरूपम् । चारित्रावरणविलयादपि तत्र विशुद्धचारित्रसिद्धिर्निरबाधा । आवरणाभावेऽपि तदसत्त्वे क्षीणमोहादिष्वपि तदसत्त्वप्रसङ्गात् । प्राप्तक्षायिकभावस्य ध्वसाऽप्रतियोगित्वादपि तत्र केवलज्ञानवत् परमचारित्रसिद्धिर्निराबाधा, अन्यथा तत्र केवलज्ञानादीनामप्यभावप्रसङ्गात् । सिद्धे चारित्राऽभावे चारित्रावरणकर्मण' पुनर्बन्धप्रसङ्गोऽपि दुर्निवारः, अचारित्रस्य सतो जन्तोः तद्बन्धकत्वनियमात् । न च चारित्रमोहकर्मबन्धस्य नाऽचारित्रप्रत्ययिकत्व किन्तु अविरतिप्रत्ययिकत्वमित्यारेकर्णीयम् अचारित्रत्वस्याऽविरतिमत्त्वव्याप्यत्वेन चारित्रमोहकर्मबन्धस्य दुर्निवारत्वात् । अत एव चारित्रमोहनीयकर्मोदयजनितत्वेनाविरतिपरिणामस्याऽचारित्रातिरिक्तत्वादित्युक्तावपि न क्षति । निश्चयतो ज्ञानदर्शनचारित्राणामैक्यरूपत्वादपि तत्र परमचारित्रसिद्धिः निराबाधेत्यादिक निश्चयनयमनुरुध्य भावनीयम्

कश्चित् शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । पञ्चसु सामायिकछेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसपराययथाख्यातलक्षणेषु चारित्रेषु, अनन्तर्भावात् = असमावेशात्, सिद्धाना निष्ठितसकलकर्मणा कतरत् = कतमत् चारित्र अस्त्विति ? अय शङ्काशयः यदि सिद्धेषु चारित्र स्यात् तदा चारित्रस्य पञ्चविधत्वात् तदन्यतमच्चारित्र स्यात् । न च तेषु पञ्चविधान्यतमचारित्र सम्भवति, आद्याना चतसृणा कषायोदयव्याप्यत्वात्, सिद्धाना निष्कषायित्वात् । नापि पञ्चमम्, चरमगुणस्थानचतुष्कवर्तिषु एव तत्सम्भवात् । षष्ठञ्च चारित्र न सिद्धान्तोपदिष्टम् । अत' सिद्धेषु चारित्र नास्त्येवेति ।

प्रकरणकृत् समाधत्ते - पारिशेष्यात् = पारिशेषन्यायात्, प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राऽसम्प्रत्ययात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्यय' पारिशेषन्यायः तमवलम्ब्येत्यर्थ' । आद्यचारित्रचतुष्कस्य कषायोदयव्याप्यत्वात्, चारित्रस्य पूर्वोक्तनीत्या सिद्धेषु सिद्धत्वात् शिष्ट यथाख्यातमेव तत् = चारित्र, अनुमीयताम् । प्रयोगस्त्वेवम्, सिद्धः यथाख्यातचारित्रवान् आद्यचारित्रचतुष्कविरहितत्वे सति चारित्रवत्त्वात्, सयोगिकेवलिवदिति । न च चरमगुणस्थानचतुष्टयवर्तिनामेव यथाख्यातचारित्रवत्त्वात्, सिद्धानाञ्च गुणस्थानातिक्रान्तत्वात्कथ तत्र यथाख्यातचारित्रप्रतिपादन सिद्धान्तिना रतिदायि स्यादिति शङ्कनीयम्, व्यावहारिकचारित्रमेव लक्ष्यीकृत्य तथाविधानात् निश्चयतस्तु यथाख्यातचारित्रस्य वीतरागपरिणामरूपत्वात् । स चाय स्वभावो यथाक्रम विशुद्ध्यमानो मोहक्षयेणोपनीयमानो यथाख्यातचारित्रमिति व्यपदिश्यते । स एव च शैलेश्यामत्यन्त विशुद्ध्यमानो मोक्षलक्षणफलभाग् भवति । न च मोक्षदशायामपि तत्प्रच्यव', स्वभावप्रच्यवे स्वभाववतोऽपि प्रच्यवप्रसङ्गात्, असाधारणस्वभावपरित्यागे स्वभाविनिमज्जनस्याऽऽवश्यकत्वात् । न हि घटत्वस्वभावपरित्यागे घटोऽनुभूयते । चारित्र च जीवस्याऽसाधारण' स्वभावः गुणत्वात्, ज्ञानादिवत् । न चात्मस्वभावरूपता चारित्रस्य स्वसमयाऽप्रसिद्धेति वक्तव्यम्, 'आया सामाइए आया सामाइअस्स अट्ठे' इत्यादिना आत्मस्वरूपताऽपि चारित्रस्य = चारित्रपदप्रतिपाद्यस्य बहुसमयसुप्रसिद्धेति । तथा च लब्धस्वभावाना सिद्धाना विशुद्धस्वभावसमवस्थानरूप चारित्र निराबाधमेवेति स्थितम् । अधिक सिद्धेषु चारित्रसिद्धिपर्यालोचन अस्मत्कृताध्यात्ममतपरीक्षाया = प्रस्तुतप्रकरणकारविरचिताया अध्यात्ममतपरीक्षाया 'ननु सिद्धत्ते' [अ म प गा १३१] इत्यादित' प्रारभ्य 'तेसि सव्वा किरिया' [अ म प गा १५८] इतिपर्यन्त सपूर्वोत्तरपक्ष अध्यवसेयम् ।

● रमणीया ●

चारित्रप्रतिषेधक माना जाय तब तो 'सिद्धे नो अचरित्ती' = 'सिद्ध भगवत सपूर्णतया अचरित्री नहीं है - इस वचन का विरोध होने से किस दिशा = मार्ग का आश्रयण करना ? इस विषय मे व्याख्याकार किकर्तव्यविमूढ हो जायेगा । सिद्ध भगवतो मे सर्वथा चारित्र नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करने के बाद 'सिद्ध भगवतो मे सर्वथा अचारित्र भी नहीं है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? अत 'नो चरित्री' यहाँ नोशब्द से चारित्र का देशत निषेध मानना ही युक्त है । यह बात भी व्यवहारनय के अभिप्रायानुसार ज्ञातव्य है, क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्तिभेद से चारित्र का स्वीकार व्यवहार नय ही करता है । निश्चय नय से चारित्र का अशत भी अभाव नहीं है । इसका कारण यह है कि निश्चय नय से चारित्र आत्मविशुद्धि स्वरूप है । ससारी जीवो की अपेक्षा शुद्ध परिणाम सिद्ध भगवतो मे उत्कृष्ट होता है । अत निश्चय नय के अनुरोध से सिद्ध भगवत परम चारित्रवान् = सर्वोत्कृष्ट चारित्रसपन्न है, क्योंकि सर्व गुण की उत्कृष्ट चरम सीमा का विश्राम सिद्ध परमात्मा मे ही होता है ।

● सिद्ध मे यथाख्यात चारित्र - व्याख्याकार ●

अथ प० इति । यहाँ यह शका हो सकती है कि→''चारित्र के पाच भेद होते है - (१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र (४) सूक्ष्म सपराय चारित्र, (५) यथाख्यात चारित्र । मगर इन पाच चारित्रो मे से किसी भी चारित्र मे सिद्ध भगवत के चारित्र का अतर्भाव होता नहीं है । आद्य २ सामायिक का सभव ६ से लेकर ९ गुणस्थान तक

तथा च स्वभावभेदेनैव तादृशधर्माधर्मयोर्जननादेकान्तनित्यतापक्षो मूलक्षत एव । अत एव बन्धमोक्षयोरपि कर्माऽऽदान-सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोर्मिथ्याज्ञान- दुःखध्वसरूपयोर्वा तत्पक्षेऽसभवः ।

★ जयलता ★

निगमयति- तथा चेति एकस्वभावेन पुण्यपापयोरात्मनोत्पाद्यत्वे तयोरैक्यप्रसङ्गादिति । स्वभावभेदेनेव = भिन्नस्वभावेनैव आत्मन' तादृशधर्माधर्मयो पुण्यपापाभिधानयोः जननात् = जनकत्वसम्भवात्, आत्मनः एकान्तनित्यतापक्ष मूलक्षत एव = मूलत एव विनष्टः । अत एव = विलक्षणकार्ययोरात्मस्वभावभेदेनैवोत्पाद्यत्वात्, बन्धमोक्षयो कर्मादान-सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोरिति । कर्मादानलक्षणो बन्धः प्रकृते कर्मात्मसयोगविशेपानुकूलव्यापाररूपो बोध्यः, द्रव्यहेतुकगतिविशेपादिरोधहेतुसयोगानुकूलव्यापारस्येव बन्धपदार्थत्वात् । निर्जरायामतिव्याप्तिवारणार्थं 'विप्रमोक्षे'तिपद मोक्षलक्षणे उपादत्तम्, सामान्यनिर्जराया विशेपतः प्रकर्षेण कर्ममुक्त्यव्याप्यत्वात् । विप्रकर्षश्चाऽत्र पुनरनादानलक्षणो ज्ञेयः । तथापि दर्शनसप्तक-घातिकर्मचतुष्कक्षयेऽतिव्याप्तिरित्यतः सकल इति गदितम् । इद तु तयोर्व्याख्यान स्वमताऽवष्टम्भेन शोभते, परमते धर्मितावच्छेदकाऽनिश्चयादिति परमतानुवादेनाऽऽह-मिथ्याज्ञान-दु खध्वसरूपयोरिति । ध्वसपदमत्राऽऽत्यन्तिकविनाशपरम् । तत्पक्षे = नित्यैकान्ताऽऽत्मवादिपक्षे, असम्भव । स्वभावभेदेनैव तयोरात्मनि सम्भवः । स्वभावभेदश्च कूटस्थनित्यत्वाऽभावव्याप्यः । अतो व्यापकाभावेनैव स्वभावभेदलक्षणव्याप्याभावसिद्धेर्न तयोस्तन्मते सम्भव इत्यर्थः । एवञ्च परलोकोऽपि नित्यानित्यैकान्तवादे न सम्भवति । तदुक्त श्रीसमन्तभद्रार्येणाऽपि आप्तमीमासाया" कुशलाकुशल कर्म परलोकश्च न क्वचित् । एकान्तग्रहरक्तेपु नाथ ! स्वपरवैरिपु ॥ [आ मी श्लो ८]

श्रीप्रभानन्दसूरिविरचितविवरण तु - " न तावन्नित्येकान्तात्ममते पुण्यपापे सम्भवतः । यतो नित्यो ह्यात्मा पुण्यपापानुपाती स्वभावभेदमन्तरा न सम्भवति । पुण्यपापाभ्या च पूर्वं परिणाम परित्याज्योत्तरपरिणामवानात्मा निर्मीयते । परिणामाऽनित्यत्वञ्च नित्यत्वक्षतिकारि । "यदि पूर्वपरिणामपरिहारेणोत्तरपरिणामाश्रयण तदा कि नामाऽऽत्मनो नित्यत्वव्यत्यासकरम् ? परिणामयोरेवाऽनित्यत्वात् । यद्यन्यस्याऽनित्यतयाऽन्यस्याऽनित्यत्व, तदाऽन्यस्योत्पाटित चक्षुरन्यस्याऽन्धत्वमागतमिति अपि कि न स्यात्" ? इति चेत्, तन्न परिणामपरिणामवतोः कथञ्चिदभेदात् ।

● रमणीया ●

हे । परिहारविशुद्धि चारित्र की सभावना ६-७ गुणस्थानवर्ती जीव मे ही हे । सूक्ष्म सपराय चारित्र १० वें गुणस्थानस्थ जीव मे ही होता हे । यथाख्यात चारित्र का तो ११-१२-१३-१४ वें गुणस्थानक मे ही सभव हे । सिद्ध भगवत तो १ से १४ गुणस्थान का अतिक्रमण कर के सब गुणस्थान से अतीत हो चूके हे । अत सिद्ध भगवत मे उपदर्शित पाँच चारित्र मे से एक भी चारित्र का सभव नही है । तव कोन सा चारित्र सिद्ध भगवत मे निश्चयनयानुसार हो सकता हे ?"←मगर यह शका अनुचित हे । इसका कारण यह है कि पारिशेष न्याय से सिद्ध भगवत मे यथाख्यात चारित्र ही सिद्ध होता है । 'आया सामाइए' इत्यादि आगम का अर्थ होता हे कि - शुद्ध आत्मा ही सामायिक हे, वही सामायिकशब्द का अर्थ हे । इससे यह फलित होता हे कि चारित्र आत्मस्वरूप ही है । यह तो अनेक आगमो से सिद्ध होता हे । उत्कृष्ट आत्मविशुद्धस्वरूप का आविर्भाव तो सिद्ध भगवतो मे अवाधित ही है - इसमे कोई विवाद नही है । मगर सिद्धो मे सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र आदि आद्य ४ चारित्र प्रसक्त नहीं हे और चारित्र अवश्य हे । इसका मतलव यह है कि सिद्ध भगवतो मे यथाख्यात चारित्र ही हे । इस विपय का अधिक निरूपण हमने (श्रीमद् उपाध्यायजी ने) बनाया हुआ जो अध्यात्ममत्परीक्षा ग्रथ है, उससे ज्ञातव्य हे - ऐसी सूचना कर के सिद्धात्मा मे चारित्रविपयक चर्चा पर प्रकरणकार पर्दा डालते हैं ।

● आत्मा को एकातनित्य मानने पर पुण्य-पाप-बध-मोक्ष की अनुपपत्ति ●

तथा च० इति । इस तरह जब पुण्य ओर पाप को शुभ एव अशुभ तन-मन-वचन की प्रवृत्ति से आत्मा उत्पन्न करती है, तव तो भिन्न-भिन्न स्वभाव से ही उत्पन्न करना चाहिए, क्योकि पुण्य ओर पाप परस्पर विरुद्ध होने की वजह एक स्वभाव से उनकी उत्पत्ति नामुमकिन है । जब कि भिन्न-भिन्न स्वभाव से ही पुण्य और पाप को आत्मा उत्पन्न करती हैं, तव तो एकात नित्यता आत्मा मे नष्ट हो जायेगी, क्योकि पुण्यजनकत्वस्वभाव का त्याग कर के ही पापजनकत्वस्वभाव की प्राप्ति होने से त्रिकालिक विकारशून्यत्वस्वरूप कूटस्थ नित्यत्व आत्मा मे रह नही सकता । भिन्न भिन्न स्वभाव से भिन्न भिन्न कार्य का जन्म होने से ही आत्मा को एकात नित्य मानने पर बध ओर मोक्षस्वरूप विरुद्ध कार्य नेयायिक आदि के मत मे नामुमकिन हो जायेंगे । बध का अर्थ है कर्मबध यानी नवीन कर्म का ग्रहण ओर मोक्ष का अर्थ है सर्व कर्म का क्षय । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मिथ्या ज्ञान और मिथ्या वासना या मिथ्या ज्ञान की वासना ही बधपदार्थ है और सर्वदु खक्षय मोक्षपदार्थ है । बधस्वभाव ओर मोक्षजनकस्वभाव एक हो नही सकता, क्योकि वे परस्पर विरुद्ध कार्य हे । आत्मा को सर्वथा नित्य मानने पर तो बधजनक स्वभाव का त्याग एव मोक्षोत्पादक स्वभाव की प्राप्ति अशक्य ही है । वैसा मानने पर तो एकात नित्यत्व ही आत्मा मे रह न सकेगा । अत वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की तृतीय कारिका के पूर्वार्ध मे जो कहा है कि - 'पुण्य-पाप और बध-मोक्ष आत्म को एकातनित्य मानने वाले दर्शन मे नामुमकिन है' - वह अच्छी तरह सगत होता है ।

एव 'एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि' इत्यादिना दोषो विभावनीयः, क्षणिकस्य क्रमिकक्रियाकारित्वविरोधात् । [तृतीयश्लोकव्याख्या सपूर्णा]

★ जयलता ★

'कथञ्चिदभेद एव कथमिति चेत् ? एतद् ब्रूमः । परिणामपरिणामिनौ कथञ्चिदभिन्नौ, परिणामोपकाराऽपकाराभ्या परिणामिनोऽप्युपकाराऽपकारप्रवृत्त्युपपत्तेः । तस्मान्नित्यैकान्तपक्षे न पुण्यपापोदयः समीचीनतामञ्चति । किञ्च, नित्येकान्ते बन्धमोक्षावपि न युज्येते । यदि बन्धस्वभावमपहाय मुक्तिमाकलयति तदा स्वभावपरिभवे कथ नाऽनित्यता ? यो हि बद्ध· स बद्ध एव । एव सति सर्वथा मुक्तिविलयः एव । तथा च सति कः पापमपहाय पुण्यपण्य नैपुण्येन सगृह्णीयात् ? कश्चाऽऽत्मारामाऽविरामविश्रामेण माध्यस्थ्यमवलम्ब्य सम्यक्तत्त्वोपनिपातप्रवृत्ति कुर्यात् ? एवञ्च सति सर्वधर्मविलय एव । तथा च सर्वशास्त्राम्भोधिकुम्भसम्भवत्वाऽऽविर्भावो नित्यैकान्तवादिभिरेवोक्तः स्यात् । तस्मायुक्तमेवोक्तम् - 'पुण्य-पापे वन्धमोक्षौ न नित्यैकान्तदर्शने' इति'' [वी स्तो वि पृ ६७] इत्येव वर्तत इति ।

श्रीविशालराजसूरिसद्व्यावचूर्ण्येवम् - ''हे वीतराग ! नित्यैकान्तदर्शने आत्मनि नित्यत्वाऽङ्गीकारसारमते पुण्यपापे बन्धमोक्षौ कर्मबन्धतत्क्षयौ च न स्युः । तथाहि - आत्मनो यदि पुण्य तर्हि पुण्यमेव । यदि पाप तर्हि पापमेव, नित्यत्वात् । यथा शशिन औज्ज्वल्य तर्हि न कदाचित् कालुष्यम्, राहोर्यदि कालुष्य तर्हि सर्वदाऽपि तदेव । एव यदि बन्धस्तर्हि बन्ध एव, यथा मेरोः पृथ्वीपीठेन सह । यदि मोक्षस्तर्हि स एव, न तु वन्ध'' [वी स्तो अव पृ ६९]

एतेन द्वित्वेनोपस्थितयो· पुण्यपापयोः बन्धमोक्षयोश्च प्रत्येक निषेधान्वय इति निरस्तम् पुण्यपापोभयत्वावच्छिन्नाभावस्य बन्धमोक्षोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य चैवात्र विषयत्वात्, न तु पृथकृपृथगभावचतुष्कस्येति । एवमुत्तरार्धेऽपि ज्ञेयम् ।

तृतीयकारिकोत्तरार्धं व्याख्यानयति - एवमिति । दर्शितदिशेत्यर्थ. । 'एकान्ताऽनित्यरूपेऽपी'त्यादिने'ति । 'एकान्तानित्यरूपेऽपि न भोग सुख-दु खयो '[वी स्तो ८/२] इति द्वितीयकारिकोत्तरार्धव्याख्यानाऽनुसारेण प्रकृतेऽपि सुखदुःखोभयभोगाऽसम्भववत् पुण्यपापोभय-बन्धमोक्षोभयाऽसम्भवलक्षणो दोषो विभावनीय स्वयमेवेति शेष· । तदसभवे हेतुमाह - क्षणिकस्य = क्षणैकमात्रजीविनः, क्रमिकक्रियाकारित्वविरोधात् न क्रमेण तत्सम्भव· बन्धमोक्षवैयधिकरण्यापातश्च । नाऽपि युगपत्, पुण्याऽपुण्यादेर्विरुद्धत्वादेकक्षणावच्छेदेनाऽपि आत्मनि स्वभावभेदापातात्, निरंशे स्वभावभेदाऽयोगात्, स्वभावभेदविरहे पुण्याद्यसम्भव इत्युभयतः पाशारज्जुन्यायापातः ।

● रमणीया ●

● आत्मा को एकात क्षणिक मानने पर पुण्य-पाप एव बध-मोक्ष असभव ●

एव एका० इति । जैसे आत्मा को एकात नित्य मानने पर पुण्य-पाप और बध-मोक्ष असभव है ठीक वैसे ही आत्मा को एकात क्षणिक मानने पर भी पुण्य-पाप और वन्ध-मोक्ष नामुमकिन हैं । इसका कारण यह है कि भिन्न भिन्न स्वभाव से ही पुण्य-पाप का उपार्जन हो सकता है । स्वभावभेद मानने पर उसके आश्रय मे ही भेद हो जायेगा । मतलब कि पुण्य की सर्जक आत्मा अलग और पाप की उत्पादक आत्मा अलग हो जाने से एक ही आत्मा मे पुण्य एव पाप असभव बनेंगे । यदि भिन्न भिन्न क्षण मे उन दोनो की उत्पत्ति मानी जाय तो भी एक आत्मा मे तो पुण्य-पाप दोनो की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योकि एकान्त क्षणिकवाद मे आत्मा पूर्वोत्तर क्षण मे अलग होती है । पूर्वक्षणकालीन आत्मा की स्वाऽव्यवहितोत्तर क्षण मे मृत्यु हो जाती है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा प्रथम क्षणावच्छेदेन तो स्वोत्पत्ति मे ही व्यग्र होती है, तब उस क्षणावच्छेदेन अन्य पुण्य-पाप आदि को उत्पन्न करने का प्रयत्न केसे कर सकेगी ? तथा दूसरी क्षण मे तो वह विनष्ट हो जाती है । अत दूसरी क्षण मे भी पुण्य या पाप का सर्जन कर नहीं सकती । उसी क्षण मे जो नवीन आत्मा उत्पन्न होती हे, वह भी स्वोत्पत्ति मे ही व्यग्र होने से पुण्य या पाप आदि का उत्पादन कर नहीं सकेगी और स्वोत्पाद की द्वितीय क्षण मे तो वह भी विनष्ट होने से पुण्यादि को जन्म न दे सकेगी । अत आत्मा को एकात क्षणिक मानने पर पुण्य-पाप की एक आत्मा मे सभावना नहीं हे । इसी तरह आत्मा को एकात क्षणिक मानने पर बध-मोक्ष भी असभव है । इसका कारण यह है कि बध और मोक्ष परस्पर विरुद्ध कार्य हे । अत बधकाल मे मोक्ष हो नहीं सकता और सकलकर्मक्षयात्मक मोक्ष के काल मे कर्मग्रहणस्वरूप बध हो नहीं सकता, किन्तु भिन्न-भिन्न कालावच्छेदेन ही बध और मोक्ष मुमकिन हैं । मगर क्षणिक आत्मा क्रमश बध ओर मोक्षरूप विरुद्ध क्रिया को कर नहीं सकती, क्योकि ऐसा मानने पर क्षणिकत्व ही विलीन हो जायेगा । दूसरी क्षण मे आत्मा बधन या मुक्ति क्रिया को करती है - ऐसा मानने का मतलब यही हुआ कि दूसरी क्षण मे वह आत्मा रहती है, विनष्ट होती नहीं हे । तब तो बेचारे क्षणिकवाद के ही राम रम जाएगे । अत क्षणिकवादी के मत मे भी पुण्य-पाप ओर बध-मोक्ष असभव है । इस वात पर स्वय विभावन-विचारणा करने की प्रकरणकार ने सूचना की है । मगर पाठको की सुविधा के लिए हमने यहाँ लेशत विभावन किया है ॥३॥

क्रमाक्रमाभ्या नित्याना, युज्यतेऽर्थक्रिया न हि । एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

क्रमाऽक्रमाभ्यामिति । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपाणा हि क्रमेण युगपद्वाऽर्थक्रियाकारित्व न घटामटाट्यते । तथाहि - अर्थस्य = घटादेः, क्रिया = ज्ञानादिरूपा, तत्कारित्व = तज्जनकत्व, सर्वथानित्याना आत्मादीना देशक्रमेण कालक्रमेण वा न सभवति, यत्किञ्चिद्देशकालावच्छेदेनैव सकलकार्यकरणसामर्थ्यात् अन्यथा देशकालभेदेन स्वभावभेदादनित्यत्वापातात् ।

★ जयलता ★

एतेन तव मते पुण्यप्रकृतिबन्ध-पापप्रकृत्युच्छेदयोः समकालिकत्ववत् मन्यतेऽपि युगपदेव बन्धमोक्षादिसम्भव इति निरस्तम् एकदैवाऽऽत्मनि बद्धत्व-मुक्तत्वव्यवहाराप्रामाण्याऽऽपत्तेश्च ।

श्रीप्रभानन्दाचार्यकृतविवरण तु - "अनित्यैकान्तदर्शनेऽपि न पुण्याऽपुण्यसम्भवः । 'कथमि'ति चेत् ? उच्यते, क्षणिको ह्यात्मा पुण्यापुण्यादिक क्रमेणाऽश्नुवीत युगपद्वा ? क्रमेण चेत् ? तदा यस्मिन् क्षणे पुण्य तदा नाऽपुण्यमाक्रान्तम् । एव क्षणिकत्वपक्षक्षतिः, द्वितीयमपुण्यक्षण यावदात्मनोऽनवस्थानात् । युगपत्पक्षस्तु विरोधबाधाविधुर एव । एव बन्धमोक्षावप्येकान्ताऽनित्यपक्षे विचार्यमाणौ विशीर्येते । अत एकान्तनित्यानित्यपक्षौ न क्षेमङ्करौ । तस्मान्नित्यानित्य एवात्मा, पुण्यपापबन्धमोक्षाद्यन्यथानुपपत्तेः [वी स्तो वि पृ ६८] इत्येवम् ।

श्रीविशालराजसूरिभि "अनित्यैकान्तदर्शने क्षणक्षयिजीवमतेऽपि पुण्यपापे बन्धमोक्षौ च न सम्भवन्ति, क्रमेण तेपा स्वीकारे चतुःक्षणस्थायित्व स्यात् । युगपद् यदि तदा छायातपवत् जलाग्निवच्च विरुद्धाना तेपामेकत्राऽऽत्मन्यवस्थान स्यादिति" [वी स्तो अव पृ ६९] इत्युक्तम् । अत्र 'उत्पत्तिक्षणे आत्मनः स्वोत्पत्तावेव व्यग्रत्वान्न पुण्यपापबन्धादिसम्भवः । अतो द्वितीयक्षणे पुण्यस्य पापस्य वा बन्धः, तृतीयक्षणावच्छेदेन पुण्यस्य पापस्य वा भोगः चतुर्थक्षणावच्छेदेनाऽऽत्मनः मोक्ष' इत्येवमात्मनः चतुःक्षणस्थायित्वमापाद्य भावनीयम् । ततश्च क्षणिकत्वपक्षव्याहतिरिति तात्पर्यम् ।

तदुक्त मूलकारैरपि अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया 'नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ । दुर्नीतिवादव्यसनासिनैव परैर्विलुप्त जगदप्यशेषम्' ॥ [अन्य यो श्लो २७]

पार्श्वनाथ प्रणम्याह भूपयिष्यामि साम्प्रतम् । चतुर्थकारिकावृत्ति प्रस्तुतेऽत्र जिनस्तवे ॥१॥

क्रमाक्रमाभ्या = पूर्वापरभाव-तदभावाभ्याम् । तत्क्षणध्वसाधिकरणीभूतक्षणः क्रम इति तद्व्याख्यान तु दैशिकक्रमाव्यापकम् । नित्यानामिति मूलस्य सर्वथानित्यानामितिपरम् । तदेव व्याख्यानयति- अप्रच्युतेति । घटा = योजना न अटाट्यते = अतिशयेन सगच्छते । उक्तार्थदृढीकरणायाऽऽह- तथाहीति । तज्जनकत्व = घटादिविपयकज्ञानादिक्रियोत्पादकत्वम् । यत्किञ्चिद्देशकालावच्छेदेनैव = सर्वदेशकालावच्छेदेनैव, सर्वत्र सर्वदेत्यर्थः । न च सर्वत्र सर्वदैवाऽस्तु सकलकार्यकारित्वमिति वाच्यम् प्रत्यक्षादेव बाधात् । विपक्षे बाधमाह - अन्यथेति एकान्तनित्येपु सर्वत्र सर्वदा सकलकार्यकरणसामर्थ्यानुपगमे । देशकालभेदेन = देशभेदेन कालभेदेन चेत्यर्थः । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण पद प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति न्यायात् । स्वभावभेदात् = स्वभावभेदप्रसङ्गात् । अय भावः कूटस्थनित्येपु स्वभावपरिवर्तनमशक्य, तत्त्वहानिप्रसङ्गात् । अतः सर्वदेशेपु सर्वकालेपु चाऽपरावर्तनीयः

● रमणीया ●

● चतुर्थ कारिका का सामान्य अर्थ ●

नित्य पदार्थ मे क्रम से या एक साथ अर्थक्रिया असगत होती हे। इसी तरह एकात क्षणिक पक्ष मे भी अर्थक्रिया सगत होती नही है ॥४॥

● नित्यपक्ष मे क्रमशः या युगपत् अर्थक्रियाकारित्व नामुमकिन - स्याद्वादी ●

क्रमा० इति । वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की तृतीय कारिका का व्याख्यान समाप्त करने के बाद प्रकरणकार महोपाध्यायजी अब उसीकी चतुर्थ कारिका की व्याख्या का श्रीगणेश करते है। नित्य पदार्थ वे कहे जाते हैं जो न कभी उत्पन्न होते हैं, न कभी नष्ट होते है, किन्तु स्थिरैकस्वभाव वाले होते हे। आत्मा आदि को नित्य पदार्थ मानने पर उनमे न तो क्रमश अर्थक्रियाकारित्व सभव है और न तो युगपत्। देखिये, घटादिस्वरूप अर्थविषयक ज्ञानादि क्रिया का जनकत्व आत्मा मे न तो देशक्रम से सभवित है और न तो कालक्रम से सभवित है, यदि आत्मा को सर्वथा नित्य मानी जाय। इसका कारण यह है कि आत्मा को सर्वथा नित्य मानने पर, किसी भी देश या काल मे सभी कार्य करने का सामर्थ्य आत्मा मे रहता हे - यह मानना ही पडता है। यदि सब देश और सब काल मे सकल कार्य करने का सामर्थ्य न माना जाय ओर देशविशेष तथा कालविशेष मे ही कार्यविशेष को करने का सामर्थ्य माना जाय, तब तो देशभेद से और कालभेद से आत्मा मे भिन्न-भिन्न स्वभाव मानना होगा। ऐसा होने पर तो आत्मा मे सर्वथा नित्यत्व बाधित होगा और अनित्यत्व की आपत्ति आयेगी, क्योकि पूर्वापरकालीन आत्मा मे भिन्नत्व की सिद्धि स्वभावभेद से अनायास ही होती है। इस तरह पूर्वापरकालीन आत्मा मे भेद की सिद्धि होने से एकात नित्यत्व=स्थिरैकस्वभावत्व नष्ट होगा ओर अनित्यत्व की आपत्ति आयेगी। अत आत्मादि को सर्वथा नित्य मानने पर क्रमश या युगपत् अर्थक्रियाकारित्व अनुपपन्न ही रह जायेगा।

अथाऽऽत्मादीना अर्थक्रियाकारित्वेऽपि यत्रकुत्रचित् यदाकदाचित् सर्वार्थक्रियाकारित्वमित्यत्राऽऽपादकाभावः, तत्स्वभाववता देशकालादीना विलम्बाच्च कार्यविलम्ब इति चेत् ? न, निश्चयतः क्रियान्तर्लीनाया एव कारणताशक्तेरभ्युपगमात् अचेतनकालादेर्ज्ञानजन-

★ जयलता ★

तत्स्वभावोऽङ्गीकर्तव्य॰ । ततः घटविषयकज्ञानजननसामर्थ्यं सर्वयानित्यानामात्मना सर्वदा स्यात् यद्वा कदापि न स्यात् । तथा च सर्वकालावच्छेदेनैव घटज्ञानजननप्रसङ्गः तदजननप्रसङ्गो वा न तु क्रमेण तज्जननसभावना । यदि च कालविशेषायवच्छेदेन तत्र तज्जननस्वभावोऽङ्गीक्रियेत तदा तदितरकालायवच्छेदेन तत्र तदऽजननस्वभावाऽऽपातेन कालभेदे तद्भेदेनाऽऽत्मनोऽनित्य- त्वमापयेत । एवञ्च देशभेदापेक्षयाऽप्यात्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्ग॰ भावनीयः ।

नैयायिकः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः । अर्थक्रियाकारित्वेऽपि = अर्थक्रियाजननस्वभावत्वेऽपि । आपादकाभाव = तद्व्याप्याऽऽरोपाभावः । अय नैयायिकस्य भावः कूटस्थनित्यत्वेनाभिमतानामात्मादीना ज्ञानाद्यर्थक्रियाकारित्वमेव स्वभावो न तु सर्वत्र सर्वदा तत्कारित्वस्वभाव॰ । यदि चाऽस्माभि॰ सर्वत्र सर्वदा तत्कारित्वस्वभाव आत्मादीनामभ्युपगम्येत तदा सर्वत्र सर्वदा तदापादन युक्त स्यात् । पर नास्माभिस्तथोपगम्यते । अतः सर्वत्र सर्वदा तत्कारित्वस्वभावस्य सर्वत्र सर्वदा तत्कारित्वव्याप्यस्यारोपोऽपि प्रकृते व्याघ्रशृङ्गायमाणः कुत॰ सर्वत्र सर्वदा तत्कारित्वापादन सगतिमञ्चेत् ? यच्च ज्ञानाद्यर्थक्रियाकारिस्वभावत्वमात्मादीनामस्माभिरभ्युपगम्यते तदारोपेण तु भवता ज्ञानाद्यर्थक्रियाकारित्व-मात्रापादन कर्तुं युज्येत । न चैव नश्छिन्न किञ्चित् प्रत्यक्षत एव ज्ञानाद्यर्थक्रियाकारित्वस्यात्मादिपूपलम्भात् । तत॰ 'सर्वत्रे'त्यादेरापादनकोटिबहिर्भूतत्वान्नैका-न्तनित्यत्वपक्षव्याहति॰ ।

ननु तेषा ज्ञानाद्यर्थक्रियाजननस्वभावत्वेऽपि कथ कुत्रचित् कदाचिदेव तज्जनन न तु सर्वत्र सर्वदेति सौहार्देण वय पृच्छाम इति स्याद्वादिन आशङ्काया नैयायिक आह - तत्स्वभाववतामिति । ज्ञानाद्यर्थक्रियाजननस्वभाववतामिति । देशकालादीना = देशविशेष-कालविशेषादीना विलम्बाच्च = क्वचित् कदाचिदेव सभवाच्च, कार्यविलम्ब = ज्ञानायुत्पत्तिविलम्बः । नित्यानामात्मादीना ज्ञानादिसमवायिकारणाना सर्वदा सर्वत्र सन्निहितत्वेऽपि तत्सहकारिकारणाना देशकालविशेषादीना क्वचित् कदाचिदेव सत्त्वात् न ज्ञानादे॰ सर्वत्र सर्वदा जन्मप्रसङ्ग इति यौगाशय॰ ।

यद्यपि तन्मते देशकालादीनामप्यात्मादेरिवैकान्तनित्यत्वेन तिरस्कृतविशेषतया कार्यभेदाय स्वभावभेदस्याऽवश्याऽऽश्रयणीयत्वे एकान्तनित्यतापक्षस्य विलूनशीर्णत्वमेव तथापि नयान्तरपुरस्कारेण स्याद्वादी तदपाकरोति- नेति । निश्चयत = निश्चयनयमवलम्ब्य, क्रियान्तर्लीनाया = सव्यापाराया॰ एव । एवकारेण निष्क्रियस्य कारणत्व व्यवच्छिन्नम् । अचेतनकालादे ज्ञानादिबहिरङ्गत्वेन ज्ञानजननस्वभावत्वाऽयोगात् । अय समाधानाशयः, निश्चयनयमतेन कार्यं जनयदेव कारण न तु तटस्थ, कार्यकारणयोः समकालीनत्वोपगमात् । कार्योत्पत्तावन्तरङ्गकारणेन बहिरङ्गस्याऽन्यथासिद्धत्वापादनात्

● रमणीया ●

● देश-काल विलम्ब से अर्थक्रिया में विलम्ब - पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्ष ॰- अथा॰ इति । अजी, हजूर ! आत्माआदि को नित्य मानने पर सर्व क्षेत्र मे ओर सर्व काल मे सकल अर्थक्रिया को उत्पन्न होने की आपत्ति को अवकाश नही हे । सर्वथा नित्य ऐसे आत्मा आदि पदार्थ घटादिविषयक ज्ञान आदि स्वरूप अर्थक्रिया के जनक होने पर भी सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन तादृश अर्थक्रिया की आपत्ति का अवकाश नहीं है, क्योकि आपादक का विरह है । अनिष्ट आपादन तब किया जा सकता है, जब आपादक हो । तात्पर्य यह है कि कार्योत्पत्ति सामग्री की उपस्थिति होने पर ही होती हे, न कि एक या दो कारण के सन्निधान से । घटविषयक ज्ञानात्मक अर्थक्रिया के प्रति न केवल आत्मा ही कारण है, किन्तु तत्तत् देश और कालविशेष भी कारण होता है । सर्वत्र देशविशेष होता नही है और सर्वदा कालविशेष भी होता नही हे, किन्तु कही पर ही देशविशेष होता हे और कदाचित् ही कालविशेष होता है । अत आत्मा को सर्वत्र, सर्वदा कूटस्थ नित्य मानने पर भी सर्वत्र ओर सर्वदा सकलकार्योत्पत्ति की आपत्ति दी जा नही सकती, क्योकि देशविशेष और कालविशेष के विलम्ब से कार्यजन्म मे विलम्ब हो सकता है । सर्वत्र सर्वदा आपादक = कार्यसामग्री ही न होने की वजह सर्वत्र सर्वदा सकलकार्योत्पाद की आपत्ति दी जा नही सकती ।

● निश्चय से ज्ञान का कारण जड नही हो सकता - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष :- न नि॰ इति । उस्ताद ! आप पारमार्थिक तत्त्व से अनभिज्ञ मालुम होते है । निश्चयत कारणताशक्ति क्रिया मे ही अतर्लीन होती है । मतलब कि कारण अतरग = सव्यापार होता हे, बहिरग नही - यह निश्चय नय का अभिप्राय है । ज्ञान चेतनधर्म है । अत ज्ञान का अन्तरङ्ग कारण आत्मा ही हो सकती है । देश-काल तो अचेतन = जड है । अत वे तो ज्ञान के अतरग कारण बन सकते नही है । अतएव वे ज्ञानकारण भी बन नही सकते । अतरग कारण से बहिरग कारण अन्यथासिद्ध होता है । जब कि कालादि जड पदार्थ मे ज्ञानजननस्वभाव ही नही हे, तब उसके विलम्ब से सकलकार्योत्पाद मे विलम्ब नही हो सकता । कारण के विलम्ब से कार्य का विलम्ब हो सकता है । अकारण के विलम्ब से कार्योदय मे विलम्ब होता नही है ।

नस्वभावत्वाऽयोगात् । कथ तर्हि घटज्ञानकाले न पटज्ञानोदय इति चेत् ?
तत्तत्कालविशिष्टस्यैवात्मनः तज्ज्ञानजननस्वभावत्वात् । न च विनिगमनाविरहः, कालादीना नैश्चयिकज्ञानसबन्धाभावात् । न

★ जयलता ★

कार्योत्पत्तौ व्याप्रियमाणस्य कार्यतादात्म्यनियतस्यैव कारणत्वम् । पराभिमताना कालादीना जडत्वेन ज्ञानादिबहिर्भूतत्वात् सर्वथानित्यत्वेन निष्क्रियत्वाच्च न चेतनधर्मजननस्वभावत्वम् । अत एव न तेपा तत्कारणत्वम् । तथा च कालविशेपादेः विलम्वान्न ज्ञानाद्यर्थक्रियाकारित्वविलम्वः सगतिमगति, कार्यस्याऽकारणविरहप्रयुक्ताऽभावप्रतियोगित्वात् । अतः आत्मादीना नित्यत्वात् विभुत्वात् चेतनत्वाच्च सर्वदा सर्वत्र ज्ञानाद्युत्पत्त्यापातेन क्रमेण ज्ञानाद्यर्थक्रियाकारित्वानापत्तिः ।

नैयायिकः शङ्कते-कथमिति । तर्हि = कालादेः ज्ञानाद्यकारणत्वोपगमे, घटज्ञानकाले = घटगोचरज्ञानोत्पादसमयावच्छेदेन, न पटज्ञानोदय इति । कालादेः ज्ञानादिक प्रत्यन्यथासिद्धत्वे घटज्ञानक्षणावच्छेदेनाऽपि पटादिगोचरज्ञानोत्पत्तिः दुर्निवारा, तस्य कालविशेपाद्यनपेक्षितत्वात्, तत्कारणस्याऽऽत्मनस्तु तदापि सन्निहितत्वादिति फलानुदयबलेन कालादेः कारणत्व सेत्स्यतीति तार्किकाशयः । स्याद्वादी तत्प्रत्याचष्टे - तत्तत्कालविशिष्टस्यैवेति कालविशेपविशिष्टस्येत्यर्थः, एवकारेण कालविशेपाऽविशिष्टस्य व्यवच्छेदः कृतः । तज्ज्ञानजननस्वभावत्वात् = पटगोचरधीजननसामर्थ्यात् । आत्मत्वावच्छिन्नस्यात्मनो ज्ञानविशेपजनकत्व नास्ति, किन्तु कालविशेपावच्छिन्नस्यैवाऽऽत्मनः । घटज्ञानकालावच्छेदेनाऽऽत्मनोऽभिमतकालविशेपानवच्छिन्नत्वेन पटधीजननस्वभावत्वविरहान्न पटविपयकावबोधोत्पत्तिः, न वा कालादेः ज्ञानकारणत्वापत्तिः, तत्कारणतावच्छेदकत्वेन कालादेरन्यथासिद्धत्वादित्येकेन शरेणोभयोर्लूनशिरस्कत्वमिति समाधानतात्पर्यम् ।

तार्किकः शङ्कते - न चेति । विनिगमनाविरह इति । कालविशेपावच्छिन्नस्याऽऽत्मनः तज्ज्ञानोत्पादनस्वभावत्व यदुत आत्मविशिष्टस्य कालविशेपस्येत्यत्रैकतरपक्षपातियुक्तिविरहेणोभयोः कारणत्वापातेन कालादेः तज्ज्ञानजननसामर्थ्यसिद्ध्या ज्ञानकारणत्वसिद्धिः । ततः सिद्धमिद यदात्मादीनामेकान्तनित्यत्वेऽपि कालविशेपादीना विलम्वादेव कार्यविलम्व इति तार्किकाभिप्रायः । प्रकरणकृत् तन्निराचष्टे - कालादीनामिति । आदिशब्देन दिक्प्रागभावादीना ग्रहणम् । नैश्चयिकज्ञानसवन्धाभावात् = निश्चयनयाभिमतस्य ज्ञानादपृथग्भावसवन्धस्य विरहात् । 'वहिरङ्गान्तरङ्गयोरन्तरङ्ग वलवदि'त्यभिप्रायवता निश्चयनयेन कार्यतादात्म्यनियतस्यैव कारणत्वमुरीक्रियते कार्यकालेऽवर्जनीयसनिधितया स्थिताना वाह्यनिमित्ताना तूपचारमात्रेणैव हेतुत्वात्, तृप्तौ तण्डुलक्रयणादेरिव प्रयोजकत्वमात्रादेव । अतः कालादीना ज्ञानादिबहिरङ्गत्वेन तदपृथग्भूतत्वविरहान्न मुख्य तज्जनकत्व सभवीति कालादीना तत्कारणतावच्छेदकत्वमेव युक्त न तु कारणत्वम् ।

शङ्कते - न चेति । एव = कालादीना ज्ञानाद्यहेतुत्वोपगमे, समवायपक्षक्षति = कालस्वभावनियतिकर्मपुरुपकारपञ्चकसमुदायपर्याप्तकार्यत्वावच्छिन्ननिरूपितकारणत्वसिद्धान्तत्रुटिः । अर्हन्मते कार्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रति कालादिसमाजस्य हेतुत्व सुप्रसिद्धम् । अतः कालादीना ज्ञानादिक

● रमणीया ●

अत सर्वत्र सर्वदा सकल कार्य को करने की आपत्ति का परिहार आत्मा को सर्वथा नित्य मानने पर हो नही सकता - यह सिद्ध होता हे । यहाँ यह शका करना कि⟶"यदि कालादि ज्ञानादि क्रिया के कारण नही है, तो फिर घटज्ञानकाल मे पटविषयक ज्ञान क्यो होता नही है ? काल तो आपके कथनानुसार ज्ञानादि का कारण ही नही है, तव तो ज्ञान को स्वोत्पत्ति मे कालविशेष की अपेक्षा ही नही होगी । अकारण की अपेक्षा कार्य करता नही हे । अत घटज्ञानकालावच्छेदेन भी पटादिविषयक ज्ञान का जन्म होना ही चाहिए"⟵भी ठीक नही हे । इसका कारण यह हे कि हम स्याद्वादी कालविशेष से विशिष्ट आत्मा मे ही ज्ञानविशेष की उत्पत्ति करने का स्वभाव मानते हे । मतलव कि घटविषयक ज्ञान की उत्पत्ति के काल मे आत्मा कालविशेष से विशिष्ट न होने की वजह पटविषयक ज्ञान को उत्पन्न करती नही है । पटज्ञानकाल मे ही आत्मा अभिमत कालविशेष से विशिष्ट होने से पटज्ञानजननस्वभाववाली हे । अत घटज्ञानकाल मे पटज्ञान के जन्म की आपत्ति को अवकाश नही है । यहाँ यह शका हो कि⟶"कालविशेषविशिष्ट आत्मा को ज्ञानविशेष का कारण मानना या आत्मविशिष्ट कालविशेष को ज्ञानविशेष का कारण मानना ? इस विषय मे विनिगमनाविरह हे । मतलव कि दोनो मे से किसको ज्ञानविशेष का कारण मानना ? इस विषय मे एक भी पक्ष मे वलवान् युक्ति न होने से दोनो मे कारणता का स्वीकार करना होगा । अत काल मे भी कारणता सिद्ध होती है"⟵तो यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि कालादि मे ज्ञान का नैश्चयिक सवध ही नही हे । कार्य का पारमार्थिक सवध ही जिसमे न हो उसे उसका कारण केसे कहा जा सकता ? अत कालादि का कारणतावच्छेदककोटि मे ही प्रवेश करना ठीक है। यह निश्चय नय के अभिप्राय से जानना चाहिए।

● कालादि मे नियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूप कारणता - व्यवहारनय ●

न चैव सम० इति । यहाँ यह शका भी अस्थान है कि⟶"कालादि को कारण न मानने पर काल-स्वभाव-भवितव्यता-कर्म-पुरुपार्थ ये पाँच समुदित होने पर ही सव कार्य उत्पन्न होता है" इस पचकारणतावाद, जो जैन मत मे सुप्रसिद्ध हे, का उच्छेद हो जायेगा" ⟵ क्योकि ज्ञानादि के प्रति कालादि मे नैश्चयिक कारणता न होने पर भी व्यवहारिक कारणता तो सभवित है । कार्य के साथ नियतान्वयव्यतिरेक की प्रतियोगता ही व्यवहारिक कारणता है, जो कालादि मे रहती है । कालविशेष होने पर कार्यविशेष की उत्पत्ति

चैव समवायपक्षक्षति, कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपस्य कारणत्वस्य तत्रापि सत्त्वात्। ज्ञानजननशक्तिस्तु ज्ञानवत्येवेति तत्त्वम्। तथा च तत्तत्कालभेदेनाऽऽत्मनः स्वभावभेदादेकान्तनित्यतापक्षो विलूनशीर्ण एव।

अथ स्वस्य भावः स्वभावः, स चात्मत्वादिरूपः कार्यभेदाय न भिद्यते। घटज्ञानादिरूपविशेषकार्यं तु घटेन्द्रियादिसन्निकर्षादिविशे-

★ जयलता ★

प्रति हेतुत्वानुपगमे कार्यतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपितकारणतायाः कालादिषु पञ्चसु पर्याप्तत्व व्याहन्येतेति शङ्काकृदाशयः। प्रकरणकृत्तदपाकरोति - कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य = कार्यानुविधायिनियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य व्यवहारनयाभिमतस्य कारणत्वस्य तत्राऽपि = कालादिष्वपि सत्त्वात्, न पञ्चकारणतावादव्याहतिरिति गम्यते। अय भावः सूत्रकृताङ्ग-नन्दीसूत्र-सम्मतितर्क-शास्त्रवार्तासमुच्चयादिप्रसिद्ध कालादिसमुदायकारणताप्रवाद. न नैश्चयिककारणता पुरस्कृत्य प्रवृत्तोऽपि तु व्यवहारिककारणता। सा च व्यवहारिककारणता न तादात्म्यनियता, निमित्तकारणादीनामपि कारणत्वस्य व्यवहाराभिमतत्वात्। सा च कार्यानुविधायिनियतान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्वरूपा कालादिष्वपि ज्ञानादिक प्रतीत्य निरावाधैव, तथाहि - कालविशेषेतरसकलज्ञानविशेषात्मककार्यकारणसमवधाने कालविशेषसत्त्वेऽवश्य तस्य सत्त्व तदसत्त्वे च तदसत्त्वमपि नियतमित्याकारकतदन्वयादिप्रतियो- गित्वरूपकारणत्वस्य कालविशेषवृत्तित्वात्तत्कारणताऽक्षता। एव स्वभावादिष्वपि तन्निरावाधम्। अतो न पञ्चसमवायकारणताराद्धान्तव्याहतिः।

ननु भवत्वेव का नो व्याहतिः ? कालादिषु व्यवहारिककारणतोपगमेऽपि तद्विलम्बेन ज्ञानादिकार्यविलम्बस्य न्याय्यत्वादिति परशङ्काया व्याख्याकृदाह - ज्ञानजननशक्तिस्तु ज्ञानवत्येवेति तत्त्वमिति। कार्यतावच्छेदकसबन्धेन समवायेनाऽपृथग्भावेन वा कार्य ज्ञानाद्यात्मकमात्मादिष्वेवोपजायते न तु कालादिषु। अतो ज्ञानादिजननशक्तिरपि तत्रैव न त्वन्यत्र। अतो ज्ञानाद्यनुत्पादककालावच्छेदेनाऽऽत्मनि ज्ञानजननसामर्थ्यविरहो ज्ञानाद्युत्पादककालावच्छेदेन च तत्र ज्ञानजननस्वभाव इति प्राप्तम्। ततः किमित्याह - तथा चेति। तत्तत्कालभेदेन = पूर्वोत्तरकालभेदेन ज्ञानादिजन्माऽजन्मावच्छेदकीभूतसमयभेदेनेति यावत्। स्वभावभेदात् = ज्ञानादिजननाऽजननस्वरूपस्वभावभेदात् निश्चयतो ज्ञानोत्पादकाल एवात्मनो ज्ञानकारणत्वात् तज्जननाऽजननकालावच्छेदेनाऽऽत्मनः तज्जननाऽजननस्वभावभेदापातेन तदाश्रयस्याऽऽत्मनोऽपि भेदापातेन स्थिरैकस्वभावत्वादिरूपैकान्त- नित्यत्वमपि प्रच्युतमेव, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सकलज्ञानोत्पादापत्तेः।

नैयायिकः शङ्कते- अथेति। 'चेदि'त्यनेनाऽस्याऽन्वयः। स्वभावपदार्थमाह - स्वस्य भाव प्रतियोगिनिरूपणानपेक्षनिरूपणकोऽसाधारणो धर्मः। स्वभाव इति स्वभावपदवाच्यः। स = स्वभावपदवाच्यः चात्मत्वादिरूप इति। आत्मस्वभावः आत्मत्व, घटस्वभावश्च घटत्वमिति भावः। कार्यभेदाय = घटज्ञान-पटज्ञानादिस्वरूपकार्यभेदसिद्धये न भिद्यते = परावर्तते। किन्तु अनुगत एव जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदक इति शेषः। अय नैयायिकाभिप्रायः घटविषयके साक्षात्कारे जाते तदनन्तर पटादिविषयकस्य भिन्नज्ञानस्योत्पत्तौ सत्यामात्मस्वभावो न भिद्यते, आत्मत्वस्यैव आत्मस्वभावत्वात्, तस्य जातित्वेन नित्यत्वात् घटत्ववत्। "तर्हि घटज्ञानात् पटज्ञान कथ भिद्येत ? एकस्वभाववता जन्यत्वात् तयोरैक्यमेव स्यादि" त्याशङ्कायां नैयायिक आह- घटज्ञानादिरूपविशेषकार्यं = घटगोचरचाक्षुषादिकार्यविशेषः तु घटेन्द्रियादिसन्निकर्षादिविशेषसा-

● रमणीया ●

होती है तथा कालविशेष के विरह मे कार्यविशेष की उत्पत्ति होती नही है। इस तरह नियत अन्वय एव व्यतिरेक का प्रतियोगी कालविशेष बनने से तादृश प्रतियोगितास्वरूप कारणता काल मे भी अबाधित है। निश्चय नय से कार्योत्पत्ति के समयावच्छेदेन ही कारणता होती हे। मतलब कि निश्चयत कारणता कार्यजन्मव्याप्य होती है, क्योकि निश्चय नय के अभिप्रायानुसार कार्य-कारण सहभावी होते हे, पूर्वोत्तरभावी नही। अत ज्ञानाश्रय मे ही नैश्चयिक ज्ञानजननशक्ति है। ज्ञानोत्पत्ति तो आत्मा मे ही होती है। ज्ञानोत्पाद के पूर्व समयावच्छेदेन आत्मा मे ज्ञानजननशक्ति होती नही है। अत ज्ञानजन्म के पूर्वसमयावच्छेदेन ज्ञानाजननस्वभाव और ज्ञानजन्म समयावच्छेदेन ज्ञानजननस्वभाव आत्मा मे रहेगा। कालभेद से स्वभावभेद होने से आत्मा मे सदा के लिए एक स्थायी स्वभाव माना जा नही सकता। इस परिस्थिति मे बेचारा एकात नित्यत्व आत्मा मे से नौ-दो-ग्यारह हो जायेगा। अत आत्मा को एकात नित्य मानना अपने ही पाँव पर कुल्हाडी मारना हे।

● आत्मा को एकात नित्य मानने पर भी इंद्रियसन्निकर्षादि से ज्ञानादि मुमकिन - नैयायिक ●

पूर्वपक्ष :- अथ स्व० इति। आत्मा को एकात नित्य मानी जाय तो क्या दोष हे ? घटज्ञान-पटज्ञान-मठज्ञान आदि कार्य के भेद से आत्मा का स्वभाव भिन्न होता नहीं है, जिसके फलस्वरूप मे एकात नित्यत्व का आत्मा मे बाध हो सके। इसका कारण यह हे कि स्वभाव शब्द का अर्थ है अपना भाव यानी असाधारणस्वरूप। अत आत्मा मे जो रहे और अन्यत्र जो न रहे, वह आत्मा का स्वभाव कहा जा सकता है। आत्मत्व आदि आत्मस्वभाव हो सकते हे। आत्मा मे समवाय सबध से चाहे घटज्ञान उत्पन्न हो या पटज्ञान उदित हो मगर आत्मत्वरूप आत्मस्वभाव मे कुछ फर्क होता नही हे, क्योकि आत्मत्व तो एकान्तत नित्य हे। घटज्ञानादि कार्यविशेष हैं ओर वे अपनी सामग्री से उत्पन्न होते ह। घटविषयक चाक्षुष ज्ञान की सामग्री हे- घट, घट और चक्षु का सन्निकर्ष, चक्षु और मन का सन्निकर्ष, मन ओर आत्मा का सन्निकर्ष, उद्भूत रूप, महत्त्व आदि। तथा पटविषयक

वसामग्रीवशात्। अत एवोभयसामग्रीसमावेशाद् घटापटोभयसमूहाम्बनमप्युदेतीति चेत्? न, स्वस्याऽऽत्मनो भावः = कार्यजननपरिणतिः। सा च घटोपयोगादिरूपा घटज्ञानादिभेदाय भिद्यत एव। सुपुप्तिकाले ज्ञानानुत्पत्तिदर्शनेनोपयोगरूपव्यापारसाचिव्येनैव

★ जयलता ★

मग्रीवशात् = घटचक्षुरिन्द्रियादिससर्गादिरूपसामग्रीविशेपसमवधानात् जायत इति शेपः। अथ नैयायिकाशयः कार्यवलक्षण्य सामग्रीवैलक्षण्ये सति भवति। सामग्रीवैलक्षण्यञ्च सामग्रीघटकतावच्छेदकवैलक्षण्यप्रयुक्त भवति। अतो ज्ञाने घटविपयकत्व-पटविपयकत्वादिविशेपसपादनकृते तत्सामग्रीघटकतावच्छेदकीभूतेन्द्रियसन्निकर्षे घटविषयकत्व-पटविपयकत्वादिवैलक्षण्यमभ्युपगम्यते। अतो न घटपटज्ञानयोरव्यतिरिक्तत्वप्रसङ्गः। एतेन युगपत्सकलज्ञानोत्पत्तिरपि प्रत्युक्ता सामग्रीविशेपविलम्बादेव तद्विलम्बसभवात्। अत एव = उक्तसामग्रीविशेपस्योक्तकार्यविशेपजनकत्वादेव उभयसामग्रीसमावेशात् = घटपटोभयविपयकसमकालीनेन्द्रियसन्निकर्पादिविशेपसामग्रीसमवधानात् घटपटोभयसमूहालम्बन = घटपटोभयनिष्ठनानामुख्यविशेप्यतानिरूपितविपयिताशालिसाक्षात्कारः, अपि उदेति = जायते। ततः ज्ञानोत्पादपूर्वोत्तरकालावच्छेदेनात्मन आत्मत्वरूपस्वभावस्य भेदो नाऽऽवश्यक इति तार्किकाशयः।

भावशब्दः परिणामवाचक इत्याशयेन तत्प्रत्याचष्टे - नेति। स्वस्य = आत्मनो भाव = कार्यजननपरिणतिरिति तत्तत्कार्यजननपरिणाम आत्मस्वभाव इत्यर्थः। सा = कार्यजननपरिणतिः, च घटोपयोगादिरूपा घटज्ञानादिभेदाय = घटविपयकसामान्यविशेपबोधादिभेदसिद्धिकृते, भिद्यते = परावर्तत एव। अथ समाधानाशयः स्वभावो द्विविधः सामान्यविशेषपर्यायभेदात्। तत्र सामान्यस्वभावः शाश्वतिकस्वभावः आत्मत्वद्रव्यत्वादिस्वरूपः। स च ज्ञानोत्पादानुत्पादकाले न भिद्यते परन्तु तत्तत्कार्यजननपरिणाम-पराऽऽहितपरिणामादिरूपः कादाचित्कः विशेपस्वभावस्तु तत्तत्कार्यभेदेन भिद्यत एव, अन्यथा घटज्ञानजननपरिणामात्पटज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात्। अतः घटज्ञानजननपरिणतिः घटोपयोगरूपा घटज्ञानजनिका पटज्ञानजननपरिणतिरूपात् पटोपयोगस्वरूपात् आत्मस्वभावविशेपात् भिद्यत एव। यथा सत्यपि दण्डचक्रचीवरमृदादिसमानकारणकलापे कुलालस्य घटजननस्वभावपरिणतत्वे घटोत्पादः शरावजननपर्यायपरिणतत्वे शरावोत्पादो दरिदृश्यते तथैव घटपटादीना पुरोवर्तित्वाविशेषेऽपि आत्मनो घटज्ञानजननपरिणामात्मकघटोपयोगपरिणतत्वे एव घटज्ञानोत्पादः। चक्षुपोऽप्राप्यकारित्वेन घटप्रभृतिचक्षुःसन्निकर्पस्य पञ्चाननशृङ्गायमाणत्वेन न घटपटादिसाम्रगीवैलक्षण्यप्रयोजकत्व सम्भवति। ततः घटपटादिज्ञानविशेपलक्षणकार्योत्पादनिर्वाहकृते घटपटादिज्ञानवेलक्षण्यसपादनाय च तत्तत्कालभेदेनाऽऽत्मनो स्वभावविशेपभेदोऽवश्यमुपगन्तव्य इति तदेकान्तनित्यत्वकृतान्तः कृतान्तकरालकृपाणकलित एवेति सिद्धम्।

ननु निर्व्यापारस्यैवाऽऽत्मन घटपटज्ञानादिजनकत्वमस्त्विति न पूर्वोत्तरकालादिभेदेनाऽऽत्मनः स्वभावभेदादनित्यत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्काया व्याचक्षते- सुपुप्तिकाले इति सुपुप्तिकालावच्छेदेनेति। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिः सुषुप्तिरित्येके। जाग्रत्स्वप्नोभयभोगप्रदकर्मोपरमे सति द्विविधदेहाभिमाननिवृत्तिद्वारा विज्ञानोपरमात्मिका या बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थितिः सा सुपुप्तिरित्यन्ये। पुरीतन्मनःसयोगः सुपुप्तिरितीतरे। ज्ञानानुत्पत्तिदर्शनेन ज्ञानानुत्पादनिर्वाहाय उपयोगरूपव्यापारसाचिव्येनैव = तत्तद्विपयकोपयोगलक्षणजीवव्यापारसहकारेणेव, जीवस्य ज्ञानजनकत्वात्। उपयोगरूपव्यापारविनिर्मुक्तस्येवात्मनः

● रमणीया ●

चाक्षुप साक्षात्कार की सामग्री हे - पट, पटनेत्रसन्निकर्ष आदि। घटज्ञान और पटप्रत्यक्ष की सामग्री भिन्न भिन्न होने से ही घटसाक्षात्कार और पटप्रत्यक्ष भी परस्पर भिन्न भिन्न ही होगे। अत नित्य आत्मा को घटज्ञान, पटज्ञान आदि का कारण मानने पर भी घटज्ञान आदि कार्य मे भिन्नत्व के लिए आत्मा मे स्वभावभेद या अनित्यत्व मानने की आवश्यकता नही ह। अपनी अपनी सामग्री के भेद से ही घटज्ञान, पटज्ञान आदि कार्य मे भेद की सिद्धि हो सकती हे। अत आत्मा मे भिन्न-भिन्न ज्ञान की उत्पत्ति क्षण मे भेद मानना भी आवश्यक नही है। घट-चक्षु सन्निकर्ष आदि विशेप सामग्री के सामर्थ्य से ही घटज्ञान आदि स्वरूप कार्य विशेप की उत्पत्ति हो सकती हे। विशेप सामग्री से विशेप कार्य की उत्पत्ति होने की वजह ही घट और पट के साथ एक ही काल मे चक्षु सन्निकर्ष आदि होने पर घट-पटोभयविपयक समूहालम्बन ज्ञान भी उत्पन्न होता है। प्रत्येक विषयक ज्ञान और समूहाल्वन ज्ञानस्वरूप कार्य मे भेद की सिद्धि भी सामग्री के भेद से ही होती है और उन दोनो की उत्पत्ति भी सामग्रीविशेप से ही होती है। अत· आत्मा मे समूहालवन ज्ञान या प्रत्येकविपयक ज्ञान के पूर्व या उत्तर काल मे आत्मत्वादिस्वरूप स्वभाव मे भेद मानने की आवश्यकता नही है।

● आत्मस्वभावभेद से ही ज्ञानभेद - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष :- न स्व० इति। अजी उस्ताद! आपने अभी जो फरमाया है, वह ठीक नही है। इसका कारण यह है कि स्वभावशब्द का अर्थ है अपना परिणाम। तत् तत् कार्यों को उत्पन्न करने की परिणति ही स्वभावपद से प्रतिपाद्य है। अत आत्मा का स्वभाव है ज्ञानादिकार्यजननपरिणाम। घटज्ञानादिकार्योपार्जनपरिणतिरूप आत्मस्वभाव घटविपयक उपयोग आदिस्वरूप है। घटज्ञान से पटादिविपयक ज्ञान मे भेद की सिद्धि के लिए उपयोगविशेपात्मक आत्मस्वभाव मे भेद मानना आवश्यक है। घटविपयक उपयोग से, जो घटगोचरबुद्धिजननपर्यायात्मक है, घटविपयक ज्ञान की उत्पत्ति होती है और पटविपयक उपयोग से पटज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि घटविपयक उपयोग से ही घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान आदि भी उत्पन्न होने लगेगे, तब तो घटज्ञान से पटज्ञान और पटज्ञान मे मठज्ञान विलक्षण सिद्ध हो नही सकते, क्योकि घटोपयोगात्मक कारण मे भेद नही है। कारण अविलक्षण होने पर तत्कार्य मे वैलक्षण्य कैसे हो सकता है? मगर घटज्ञान से पटज्ञान एव पटज्ञान से मठज्ञान भिन्न है- इस विपय मे तो प्रतिवादी नैयायिक को विप्रतिपत्ति

जीवस्य ज्ञानजनकत्वात्, कारकत्वस्य सव्यापारकत्वव्याप्तत्वाच्च। तथा च घटाद्युपयोगस्वभावेनैव घटादिज्ञानं जनयति आत्मा इति जीवस्वभावभेदेनैव ज्ञानभेद इत्याहुः ।

★ जयलता ★

ज्ञानजनकत्वोपगमे सुषुप्तिकालावच्छेदेनाऽपि ज्ञानोत्पादः स्यात् । न च तथा सम्भवति, सुषुप्तौ ज्ञानानुत्पादात् । अत एव मानसप्रवृत्तिं प्रति मनोयोगत्वेनाऽपि हेतुत्वम् । अत एव सुषुप्तावस्थायां काययोगाहितश्वासप्रश्वासादिव्यापारसम्भवेऽपि मनोयोगव्यापाराभावान्नोपयोगः । न च तदा निमिलितनेत्रस्य पुरुषस्य विषयाऽभिमुखत्वाभावादेव न ज्ञानोत्पाद इति वाच्यम्, कदाचित्सुषुप्तौ अर्धोन्मिलितनेत्रे पुरुषे विषयाभिमुख्यसत्त्वेऽपि ज्ञानानुत्पादात् । अत एव उपयोगविशिष्टात्मत्वेनैव ज्ञानकारणत्वमुपेयम् । तथा च सुषुप्तिजाग्रदवस्थाभेदेन स्वभावभेदादात्मनोऽनित्यत्वापातात्तदेकान्तनित्यत्वं विशीर्येतेति भावः ।

हेत्वन्तरेण सोपयोगस्यैवाऽऽत्मनो ज्ञानादिजनकत्वं साधयन्ति - कारकत्वस्य सव्यापारकत्वव्याप्तत्वाच्चेति । अयं भावः कर्तृत्वलक्षणं कारकत्वं व्याप्यं सव्यापारकत्वं च व्यापकं, व्यापारवत्कारणस्यैव कारकलक्षणत्वात् । आत्मनो ज्ञानादिजनकत्वे कर्तृत्वलक्षणकारकत्वादपि घटाद्युपयोगरूपव्यापारवत्त्वं सिद्धम् । तथा च ज्ञानजननाजननादिकालभेदादपि स्वभावभेदेनात्मनः सर्वथानित्यत्वव्याहतिरित्याशयं प्रदर्शयन्ति- तथा चेति । उपयोगलक्षणव्यापारविशिष्टस्यैवाऽऽत्मनो ज्ञानादिजनकत्वात्, घटाद्युपयोगस्वभावेनैव = घटादिविषयकाऽऽभोगकरणपरिणतस्वभावविशेषेणैव, घटादिज्ञानं जनयति आत्मा इति हेतोः ज्ञानजननाजनन-भिन्नविषयकज्ञानजननावच्छेदककालादिभेदे जीवस्वभावभेदेनैव = ज्ञानजननपरिणति-तदजननपरिणाम-विभिन्नविषयकज्ञानजननपरिणा- मप्रभृतिजीवस्वभावभेदेनैव, ज्ञानभेदः = घटज्ञानात्पटविषयकज्ञानभेदः, सिध्यतीति शेषः । एवञ्च विभिन्नविषयकज्ञान-निष्ठवैलक्षण्यकृते क्लृप्तेनोक्तजीवस्वभावभेदेनैवाऽऽत्मनो भेदात् तदेकान्तनित्यत्वपक्षस्य वज्राऽऽहतत्वमनायासेनैव सिद्धमिति तात्पर्यम् । आहुरिति श्रीवादिदेवसूरि - रत्नप्रभाचार्यप्रभृतय इति गम्यते । स्याद्वादरत्नाकरे "स्वार्थसंविद्योग्यतैव च लब्धिः । एतच्चेन्द्रियमत्राऽनौपयिकम्, उपयोगरूपस्यैव तस्य प्रस्तुतोपयोगित्वात्, तस्यैव प्रमितौ साधकतमत्वात् । तत्पुनरात्मनो व्यापारमन्तरेण स्वार्थसंविदोऽनुपपत्तेः प्रतीयते । न ह्यव्यापृत आत्मा

● रमणीया ●

ही नहीं है। मगर वह भेद तब सिद्ध हो सकता है जब कि घटज्ञानादि के जनक आत्मस्वभाव में भेद माना जाय। अतः घटज्ञानजनक घटोपयोग है और पटज्ञानजनक पटोपयोग है- इत्यादि मानना आवश्यक है। ऐसा सिद्ध होने से घटज्ञान, पटज्ञान आदि काल में आत्मा का स्वभाव भिन्न भिन्न होता है- यह न्यायप्राप्त होता है। स्वभावभेद से स्वभाववान् आत्मा में भी भेद सिद्ध होने से एकांत नित्यत्व का सिद्धांत रफुचक्कर हो जाता है।

● उपयोगविशिष्ट जीव ही ज्ञान का जनक - उत्तरपक्ष जारी ●

सुषु इति । यहाँ यह दहशत हो कि→"उपयोगविशेष में परिणत आत्मा को ही ज्ञानविशेष का जनक मानने कि जरूरत क्या है? आत्मा स्वयं ही ज्ञान की उत्पत्ति में समर्थ हो सकती है। अतः ज्ञानभेद से आत्मस्वभावभेद और उससे आत्मा में अनित्यत्व की आपत्ति का अवकाश हो नहीं सकता"←तो यह ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि उपयोग स्वरूप व्यापार से विशिष्ट आत्मा को ही ज्ञानोत्पादक मानना युक्त है। आशय यह है कि सुषुप्तिकालावच्छेदेन आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती नहीं है, मगर जागृत अवस्था में ही ज्ञानोदय होता है। यदि निर्व्यापार आत्मा को ही ज्ञानोत्पादक मानी जाय तब तो जैसे जागृत काल में आत्मा होती है और ज्ञान भी उत्पन्न होता है, ठीक वैसे ही सुषुप्तिकालावच्छेदेन भी आत्मा तो रहती ही है। अतएव तब भी ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। मगर निद्राकालअवच्छेदेन ज्ञान की उत्पत्ति होती नहीं है। जागृतकाल में ज्ञानोत्पत्ति और निद्रासमयावच्छेदेन ज्ञानानुत्पत्ति से सिद्ध होता है कि उपयोग विशिष्ट आत्मा ही ज्ञानादि की कारण होती है। सुषुप्ति काल में उपयोग का अभाव होता है और जागृत अवस्था में आत्मा में उपयोग होता है। अतएव नींद के समय में आत्मा में ज्ञान का उदय होता नहीं है और जागृत अवस्था में आत्मा में ज्ञान का जन्म होता है। दूसरी बात यह है कि आत्मा ज्ञान का कर्तृस्वरूपकारक है। कर्ता कारक सदैव सव्यापार ही होता है। व्यापाररहित को कर्ता कारक कहा जा नहीं सकता। कुलाल यदि निर्व्यापार = निष्क्रिय हो तो घट को उत्पन्न कर नहीं सकता। आत्मा भी ज्ञान की कर्ता कारक है। अतएव उसे सव्यापार = सक्रिय मानना भी आवश्यक हो जाता है। ज्ञानादि की उत्पत्ति में उपयोग ही आत्मा का व्यापार है। अतः उपयोगात्मक व्यापार से विशिष्ट आत्मा में ज्ञानजनकता और अनुपयुक्त आत्मा में ज्ञानजनकत्वविरह सिद्ध होता है- यह उपर्युक्त दोनों हेतु से सिद्ध होता है। यह जब सिद्ध हो चूका तब तो घटज्ञान का जन्म घटोपयोगविशिष्ट आत्मा से और पटज्ञान का जन्म

किञ्च कारणकलापमेलकस्य कार्योपधायकत्वेऽपि तस्यापि वैचित्र्यात् स्वभावऽवैचित्र्ये का प्रत्याशा ? तस्मात्

★ जयलता ★

स्पर्शादिप्रकाशको भवितुमर्हति, सुषुप्तस्याऽपि तत्प्रसङ्गात् । न च सुषुप्तावस्थाया स्पर्शनादीन्द्रियसन्निकर्षाभावादेव न तत्प्रसङ्ग इति जल्पनीयम्, अतिमसृणतूलिका-ताम्बूलमालतीमासामोद-सुन्दरगेयशब्दादिसन्निकर्षस्य स्पर्शनादीन्द्रियाणा तदानीमपि भावात् । नापि मनसः तदानीमिन्द्रियमन्निकर्षाभावात्तद्प्रसङ्ग', त्वदुक्तस्याऽणुपरिमाणस्य मनसो निरासेनाऽशेषात्मप्रदेशव्यापिन' पौद्गलिकस्य तस्य व्यवस्थापयिष्यमाणत्वादिन्द्रिय' सयोगसिद्धे'' [स्या रत्ना २१६ सूपृ-५०] इत्यादि महता प्रवन्धेनोक्त ततोऽवसेयम् ।

वस्तुतो मानसादिप्रवृत्ति प्रति मनोयोगत्वादिनाऽपि हेतुत्वमिति मनसिकृत्वा सुषुप्तौ ज्ञानानुत्पादनिर्वाहायोपयोगाभावभणितिः आत्मनोऽचेतनत्वाऽऽपातभिया उपयोगविशेषाभाव एव पर्यवस्यति, चेष्टाहेतु-जीवनयोनियत्नकारणीभूतोपयोगस्य तदानीमवश्य सत्त्वात् । एतेन 'सुषुप्तिकाले त्वच त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाऽजनन' [कारि ५७- मुक्ता] इति मुक्तावलीकारवचन प्रत्युक्तम्, नाड्यादिक्रिययाऽपि सुषुप्तिसम्भवात्, 'यदा मनः त्वच परिहत्य' इत्याद्यभिधानस्य प्रायिकत्वात् । तदुक्तमष्टसहस्रीविवरणे प्रकरणकृद्भिरेव-सुषुप्तौ ज्ञानाभावस्य विजातीयमनःसयोगस्थानीयोपयोगाभावेनैवोपपत्तौ त्वड्मनोयोगस्य हेतुत्वे मानाभावात्'' [अ स वि पृ १३]

यदपि त्वड्मनःसयोगस्य ज्ञानसामान्याऽकारणत्वोपगमे मुक्तावलीकृता ''सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्तेः तत्सम्बन्धेनाऽऽत्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात्, सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्राऽपि प्रमाणाभावात्'' [कारि ५७ मु] इति विभीषिका दर्शिता, साऽपि न युक्ता, तत्काले तादृशेच्छादिव्यक्त्युत्पत्तावेव मानाभावात्, तत्सामग्र्यादेः फलैकवलकल्प्यत्वात् ।

वस्तुतः चाक्षुषादिसामग्रीकाले मानसानुत्पत्त्यर्थमप्येतत्प्रतिवन्धकाऽदृष्टकल्पनात्, तेनैव सुषुप्तौ ज्ञानाद्युत्पत्तिप्रतिवन्धोपगमौचित्यादिति दिक् ।

ननु घटपटज्ञानादिस्वरूपकार्यनिष्ठवैचित्र्य तु सामग्रीवैचित्र्यादेव सेत्स्यति सामग्रीसमवधानादेव कार्योदयात् । तच्च सामग्रीघटकतावच्छेदकभेदेऽपि सभवीति नाऽऽत्मवैचित्र्यविषयिणी भवती भवत इच्छा युक्तिमतीत्याशङ्कायां प्रकरणकृदाह- किञ्चेति । कारणकलापमेलकस्य = कार्यविशेषनिरूपितसकलकारणतावच्छेदकावच्छिन्नसमवधानस्य, कार्योपधायकत्वेऽपि = स्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसवन्धेन फलनिष्पत्तिव्याप्यत्वोपगमेऽपि, तस्य = कारणकलापमेलकस्य, अपि वैचित्र्यात् = स्वघटकवैचित्र्यप्रयुक्तवैलक्षण्यवत्त्वात्, स्वभावाऽवैचित्र्ये = आत्मस्वभावभेदाभावे, का प्रत्याशा ? तदभिलापस्याऽनर्हत्वमेवेत्यर्थः । अय भावः एकस्यापि पुरुषस्य पटज्ञानसाधनसमूहसमवधानापेक्षया विचित्रकारणकूटसपाताद् घटज्ञान जायते । तत्र च घटज्ञानजनकजातापाते वैलक्षण्य यथा परमते काल-देश-विषय-चक्षुःसन्निकर्षादिविभिन्नत्वप्रयुक्त भवति तथाऽऽत्मस्वभावभेदप्रयुक्तत्वमपि तत्र निरावाधमेव, अन्यथा पक्षपातमात्रात् । तथा च तद्वैचित्र्यविषयिणीच्छा न सङ्गतिमङ्गति । तस्मात् = आत्मस्वभाववैचित्र्यस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अन्वयश्चाऽस्य स्वाऽऽग्रहमेव गृहाणेत्यत्र ।

● रमणीया ●

पटोपयोगविशिष्ट आत्मा से होता है- यह भी अनायास ही सिद्ध हो जायेगा । इस तरह घटज्ञान और पटज्ञान कालावच्छेदेन आत्मा मे तत् तत् ज्ञान जननपरिणति स्वरूप उपयोग, जिसका हम पहले आत्मस्वभावविशेषरूप मे परिचय दे चुके है, भिन्न सिद्ध होने की वजह घटज्ञान और पटज्ञान मे भेद सिद्ध होगा । मगर साथ ही तादृश स्वभावविशिष्ट आत्मा मे भी भेद सिद्ध होगा जिसके फलस्वरूप आत्मा मे एकान्त नित्यत्व की कल्पना मे अप्रामाणिकता सिद्ध हो जायेगी । यह अन्य प्रामाणिक विद्वान् मनीषियों का कथन है- इस बात को सूचित करने के लिए प्रकरणकार श्रीमद्जी ने 'आहु' शब्द का यहाँ प्रयोग किया है- यह बात सुज्ञ पाठको के ख्याल बहार रह सकती नहीं है ।

● सामग्री से ज्ञानादि का जन्म होने से भी आत्मा मे अनित्यत्वसिद्धि - व्याख्याकार ●

किञ्च० इति । व्याख्याकार श्रीमद्जी प्राज्ञ विद्वानो के मार्मिक वक्तव्य का प्रदर्शन करने के बाद अपने अभिप्राय का अब दिग्दर्शन कराते है । श्रीमद् महामहोपाध्यायजी के कथन को हिन्दी भाषा मे इस तरह बता सकते है कि- सिर्फ एक कारण से कार्य की उत्पत्ति होती नहीं है किन्तु कारणसमूह का समिलन होने पर ही स्वाऽव्यवहितोत्तर क्षणावच्छेदेन कार्यजन्म होता है-यह माना जाय तो भी सामग्री समवधान मे तो वैचित्र्य मानना ही है । सामग्री के समवधान मे तो वैचित्र्य अनेक प्रकार से हो सकता है जैसे घटज्ञान की सामग्री और पटज्ञान की सामग्री के घटकीभूत घटादि विषय, तत् तत् देश, तत् तत् कालादि के स्वभाव मे वैचित्र्य होने से तत् तत् सामग्री के समवधान मे भी वैचित्र्य होता है । मतलब कि घटविषयज्ञानजनक सामग्री के मिलन मे जो विषय, देश, काल आदि कारण है उससे भिन्न विषय, देश, काल आदि पटविषयक ज्ञान की जनक सामग्री के समवधान के कारण है । अतएव घटज्ञानीय सामग्री के समवधान मे केवल पटज्ञानीय सामग्री के मिलन की अपेक्षा वैचित्र्य होता है । दोनों सामग्री का समवधान अविलक्षण = एक नहीं है । यह तो नैयायिक आदि मनीषिओ को भी मान्य है । अब हम सिर्फ इतना ही कहते है कि यदि तत् तत् सामग्री के मिलन मे वैचित्र्य उन्हे मान्य है तो फिर आत्मा के अवैचित्र्य की वे आशा कैसे

स्वभावाऽवैचित्र्येऽपि अन्यादृश नित्यत्वमेव तत्राऽस्तीति स्वाऽऽग्रहमेव गृहाण । तमेव गृह्णामी'ति चेत् ? पथः स्मर, मोचितोऽसि ततः प्राग् ।

अथ पूर्व-पूर्वपरिणामानामेवोत्तरोत्तरपरिणामजननस्वभावत्वात् आत्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमिति चेत् ? न, तस्य

★ जयलता ★

अन्यादृश = अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूप स्याद्वाद्यभिमतात् नित्यपदशक्यतावच्छेदकात् विलक्षण, नित्यत्वमेव तत्र = आत्मनि, अस्तीति स्वाऽऽग्रहमेव गृहाण । इद स्याद्वादिनो नैयायिक प्रत्युपहासवचनम् । नैयायिक आह- तमेव =स्वाऽऽग्रहमेव, गृह्णामीति । स्याद्वादी प्राह - पथ स्मर । स्मरणयोगात् षष्ठी, तदुक्त श्री सिद्धहेमशब्दानुशासने 'स्मृत्यर्थदयेशः' [सि हे २/२/११] इति । द्वितीयाबहुवचनमपि सम्भवति किन्तु षष्ठी युक्ततरेति भाति । मोचिताऽसि = प्रच्यावितोऽसि त्व तत = स्वाग्रहात् प्राक् । अयमभिप्राय' स्वभाववैलक्षण्यमात्मनि दर्शितरीत्या न्यायप्राप्तमेव तथापि तत्र कूटस्थनित्यत्वोपगमः परेषा तदाग्रहमात्रमेव । पूर्वं कृतनाशाऽकृतागमप्रसङ्गपुण्यपापबन्धमोक्षार्थक्रियाकारित्वायसभव-प्रभृतिदोषवृन्दनिरूपणेनैकान्तनित्यात्मवाददुराग्रहादपसारितोऽपि पौन'पुन्येन बाल इव तमेवाऽऽश्रिण्वन् विदुषामुपहासनीयो नैयायिकादिः विद्वत्पर्षदो गलेपादुकान्यायेन बहि' निष्काशनीय' ।

शङ्कते-अथेति । 'चेदि'त्यननाऽस्याऽन्वय' । पूर्वपूर्वपरिणामानामेवति । एवकारेण आत्मनो व्यवच्छेद' कृतः । उत्तरोत्तरपरिणामजननस्वभावत्वात् = स्वाव्यवहितोत्तरपरिणामजननस्वाभाव्यात् आत्मन कूटस्थनित्यत्वमेव = अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वमेव । एवकारेण कथचिन्नित्यत्व व्यवच्छिन्नम् । किरणावलीकारस्तु 'कूटः लोहकाराऽऽपणस्था लौहाना कूटनार्थिका लौही च ऐरिणी, तद्वत् सर्वदा तिष्ठतीति कूटस्थ एकरूपतया कालव्यापी' [ ] इत्याह । उचित = न्याय्यम् । अय भाव' स्वाव्यवहितोत्तरत्व-स्वसामानाधिकरण्याभयसबन्धेन पूर्वोत्तरपरिणामयोरेवोपादानोपादेयभावो न तु जीवद्रव्य-ज्ञानादिपरिणामयोः, आत्मन' पुष्करपलाशवन्निर्लेपत्वेनाऽकर्तृत्वात् । अनेन घटपटादिविज्ञानाऽवैलक्षण्यप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्त तज्जनकपरिणामभेदोपगमात् । आत्मन. परिणामाजनकत्वेन तदुत्पादानुत्पाददशाया गगनादिवन्न विकारित्वमिति कूटस्थनित्यत्वमव तत्र न्याय्यमिति अयाशय' ।

स्याद्वादी तन्निराकुरुते - नेति । तस्य = पूर्वपरिणामस्य, तदभेदेनैव = आत्मतादात्म्येनैव, एवकारेण 'तत्पृथक्त्वेने'त्यस्य व्यवच्छेद' कृत' । कर्तृत्वात् = उत्तरपरिणामजनकत्वात् । अय समाधानाशय' पूर्वपरिणामस्य स्वाव्यवहितोत्तरपरिणामोपादानकारणत्वमित्युक्तेऽप्यात्मन एव तत्कर्तृत्वमायात, परिणामस्य स्वपरिणामितोऽभिन्नत्वेनैवोत्तरपरिणामजनकत्वाद्, आत्मन एव तत्परिणामित्वात् । न हि तज्जनकाऽभिन्ने तदजनकत्व सभवति । एवमेवोत्तरपरिणामस्याऽपि स्वपरिणाम्यात्माभिन्नत्वेनैव पूर्वपरिणामजन्यत्वादात्मन्यपि तत्कार्यत्व न्यायाऽऽगत नाऽपोहितुमर्हति । अत एव प्राञ्च पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणतिरूप कार्यत्वमात्मत्वावच्छेदेन गायन्ति । तदुक्त श्रीरत्नप्रभाचार्येण रत्नाकरावतारिकाया 'द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणाम' कार्यत्वमि'ति । [ ] द्रव्यकार्यत्वस्यैवैतल्लक्षणत्वाज्ज्ञानादौ नाव्याप्तिदोष' । ध्वसप्रतियोगित्वरूपस्य पर्यायकार्यत्वलक्षणस्य ज्ञानादिपर्याये सत्त्वान्न तदऽकार्यत्वापत्ति' । एवञ्च परिणामाऽभिन्नत्वेनाऽऽत्मन्यपि कार्यत्व-कारणत्वयोः सत्त्वात्तत्पूर्वोत्तरक्षणभेदेन स्वभावभेदादात्मनः कूटस्थनित्यत्व व्याहतम् ।

● रमणीया ●

रख सकते ह ? कदापि नही रख सकते । अर्थात् सामग्रीसमवधानवृत्ति वैचित्र्य की भाँति आत्मा मे भी स्वभाववैचित्र्य न्यायप्राप्त है । अत आत्मा मे सदा के लिए एक ही स्वभाव मानने का दुराग्रह नैयायिकादि प्राज्ञ पुरुषो के लिए नामुनासिब है । आत्मा मे वैचित्र्य = स्वभावभेद युक्तिसिद्ध होने की वजह "हे नैयायिक महाशय ! आप अब - 'आत्मा मे वैचित्र्य होने पर भी विलक्षण नित्यत्व ही अर्थात् अप्रच्युतादिस्वरूप नित्यत्व ही उसमे रहता है'- ऐसे अपने आग्रह को ही ग्रहण करो" ।

"हाँ, म अपने आग्रह से च्युत नही हुआ हूँ। उसे ही ग्रहण करता हूँ कि आत्मा मे अप्रच्युतादिस्वरूप विलक्षण नित्यत्व रहता ह" ऐसा आप नैयायिक महाशय का कथन भी ठीक नही है, क्योकि मार्ग को तो जरा याद करो । अभी तक हमने क्या क्या प्रतिपादन किया ? इस पर अपनी निगाह डालो तो आपको मालुम हो जायेगा कि आपको अपने दुराग्रह से पहले कितनी बार हमने च्युत किया है । अर्थात् आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने के कदाग्रह का हमने पूर्व मे अनेक बार खडन कर दिया ह । एकान्त नित्यत्व का आत्मा मे स्वीकार करने पर कृतनाश, अकृतागम, पुण्य-पाप एव बध-मोक्ष का असभव, अर्थक्रियाकारित्व की अशक्यता आदि अनेक दोष होने से वह असद् अभिनिवेश त्याज्य है - यह व्याख्याकार का तात्पर्य है ।

● परिणाम ही परिणाम का जनक आत्मा नही- पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्ष '- अथ० इति । ज्ञानादि के उत्पाद-अनुत्पाद एव भिन्न भिन्न ज्ञान के उत्पाद से आपने आत्मा मे स्वभाववैचित्र्य का आपादन किया है वह ठीक नहीं है, क्योकि वस्तुत आत्मा मे ज्ञानादि परिणाम की जनकता ही नहीं है । पूर्व-पूर्व परिणाम ही उत्तर-उत्तर परिणाम के जनक होते है । आत्मा मे उत्तर परिणामजननस्वभाव न होने से वह उत्तरपरिणाम का कारण नहीं है । जब कि आत्मा मे उत्तर परिणाम की कारणता ही नहीं है, तब उत्तर परिणाम उत्पन्न हो या न हो या भिन्न- भिन्न उत्पन्न हो, आत्मा मे स्वभावभेद का सभव ही कैसे हो सकता है ? जैसे दडआदि ज्ञानादि के जनक नही है तब पटज्ञान उत्पन्न हो या न हो, मगर दडादि के स्वभाव मे कोई भेद होता नहीं है, वैसे ही आत्मा भी ज्ञानआदि परिणाम की कारण न होने से,

तदभेदेनैव कर्तृत्वात् । अत एवैकस्यैव षट्कारकीभावोऽप्यन्यत्र प्रासाधि ।

★ जयलता ★

अत एव = आत्म-तत्परिणामयोरभिन्नत्वादेव, एकस्य = आत्मन एव षट्कारकीभाव = कर्तृ-कर्म-करण-सम्प्रदानाऽपादानाधिकरणभावः, अपि, अन्यत्र = अध्यात्ममतपरीक्षावृत्त्यादौ प्रासाधि, मया न्यायविशारदेनेति शेषः । अय भावः 'आत्माऽऽत्मनि स्वात्मानमात्मनाऽऽत्मने आत्मनः सकाशान्मोहत्यागात्पश्यती'त्यत्रैकस्यैवाऽऽत्मनः षट्कारकीभावः तत्तत्परिणामलक्षणोपाधित आत्मनः कथञ्चिद्भेदाभेदे एव सगच्छते । अतः स्वपरिणामेभ्य आत्मनः कथञ्चित्तादात्म्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । अकलकपादेनाऽपि स्वरूपसबोधने 'स्वः स्व स्वेन स्थित स्वस्मै, स्वस्मात्स्वस्याऽविनश्वरे । स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानन्दममृत पदम् ॥ [स्व स श्लो-] इत्यत्राऽऽत्मनः तत्तत्स्वपरिणामेभ्यो भेदाभेदो न्यगादि ।

प्रवचनसारवृत्तावपि अमृतचन्द्रेण 'अय खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् ग्रहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्व कलयन्, शुद्धानन्तशक्ति-ज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राण', शुद्धानन्तरशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रीयमाणत्वात् सम्प्रदानत्व दधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावाऽपगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वावलम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तश क्तिज्ञान- विपरिणमनस्वभावस्याऽऽधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघाति कर्माण्य- पास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयभूरिति निर्दिश्यते' [प्र सा १।१६ वृ] इत्येवमेकस्यैवात्मनः षट्कारकीभावः प्रत्यपादि ।

एतेन 'आत्माऽऽत्मानमात्मना जानाती'त्यादौ कथमेकत्र कर्तृत्व-कर्मत्वादिविरुद्धधर्मसमावेश इत्यपि प्रत्युक्तम्, एकस्यैवाऽऽत्मनो ज्ञेयाकारानुयोगित्व-प्रतियोगित्व-साधकतमत्वादिना कर्तृत्व-कर्मत्व-करणत्वादिसमावेशे विरोधगन्धलेशाऽभावात्, 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ती'तिन्यायस्य सर्वशाब्दिकानुम-तत्वात् । न चैव ज्ञाधातोः सकर्मकत्व व्याहन्येत, स्वार्थाधिकरणभिन्नाऽधिकरणवृत्तिव्यापारवाचित्वस्यैव सकर्मकत्वलक्षणत्वात्, न च तदत्राऽस्तीत्यकर्मकत्वप्रसङ्ग इति शङ्कनीयम्, तत्र भेदस्य वैवक्षिकस्यैव प्रवेशात्, अन्यथा 'परमात्मा आत्मान जानाती'त्यादौ तव का गतिः ? इति मुञ्च ऐकान्तिकभेदनिवेशकदाग्रहम् ।

प्रकरणकृद्भिरपि अध्यात्ममतपरीक्षावृत्तौ ''अभेदेऽपि षण्णामेकत्र समावेशात् 'विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ती'ति न्यायात् । तथाहि ज्ञानादनन्योऽप्यात्मा ज्ञप्तिक्रियाया स्वतन्त्रः प्रयोक्तेति कर्ता, ज्ञप्तिक्रिया च तेन स्वतन्त्रेण प्राप्यमाणत्वात् कर्म, न चाऽलब्धस्य लाभः प्राप्तिरिति लब्धायाः एव तस्याः कथ प्राप्तिः ? इति वाच्यम्, उत्तरोत्तरक्षणविशिष्टायास्तस्या अलब्धाया एव लाभात्, अविष्वग्भावस्यैव वा नैश्चयिकप्राप्तिरूपत्वात् । एव येन ज्ञानस्वभावेनासौ ज्ञप्ति जनयति स एव ज्ञानस्वभावः साधकतमत्वात् करणम् । यदर्थमसौ ज्ञप्तिक्रिया जनयति तदस्यैव स्वरूप सम्प्रदानम् । यतश्च ज्ञेयाकारकरम्बितस्वरूपाद्विश्लेषे उत्तरस्वरूपादान तदपादानम् । यदेव चानयोस्तादूप्य स एव सम्बन्धः । यश्च गुणरूपतापन्नस्य भाजन द्रव्यरूपः सिद्धः स एवास्याधार [अ म प श्लो- १५८ वृ पृ ४२३] इत्यादिनैकत्रैव षट्कारकीभावः प्रतिपादितः ।

● रमणीया ●

उसकी उत्पत्ति हो या न हो, मगर उस निमित्त से आत्मा मे स्वभावभेद हो नही सकता । स्वभावभेद तो उत्तर परिणाम के कारण मे हो सकता है, जो कि विनश्वर है । अत आत्मा को तो कूटस्थ नित्य मानना ही उचित है ।

● परिणाम से अभिन्न होने से आत्मा भी जनक - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष '- न, तस्य० इति । वाह उस्ताद ' अधजल गगरी छलकत जाए । आपको यह भी मालुम नही है कि पूर्वपरिणाम भी आत्मा से अभिन्न हो कर ही उत्तर परिणाम का जनक होता ह । पूर्व परिणाम अपने परिणामी आत्मा से अभिन्न होने से जसे उत्तर परिणाम का जनक पूर्व परिणाम है ठीक वेसे ही आत्मा भी है । अत आत्मा मे भी उत्तरपरिणामकर्तृत्व न्यायप्राप्त हे । इस तरह आत्मा मे परिणामजनकत्व न्यायसिद्ध होने परिणामविशेषोत्पादानुत्पाददशा की अपेक्षा से परिणामविशेषजननस्वभाव एव परिणामविशेषाऽजननस्वभाव से स्वभावभेद अवश्य मानना होगा । अत आत्मा मे स्वभावभेद सिद्ध होने से कूटस्थ नित्यत्व नही माना जा सकता । आत्मा अपने परिणाम से अभिन्न होने की वजह एक ही आत्मा मे षट्कारकभाव भी अन्यत्र मैंने (प्रकरणकार महोपाध्यायजी ने) सिद्ध किया है । आशय यह है कि आत्मा अपने मे ही, अपने से, अपने लिए, अपने से मोह का त्याग कर के अपने को जानती है । यहाँ एक ही आत्मा मे कर्तृत्व-कर्मत्व-करणत्व-सप्रदानत्व-अपादानत्व-अधिकरणत्व रहते हैं । कर्तृत्व आदि परिणामविशेष है । यदि आत्मा अपने परिणाम से अभिन्न न हो तव एक ही आत्मा कर्ता, कर्म आदि कैसे वन सकती ? मगर एक ही आत्मा मे कर्तृत्व आदि विरुद्ध धर्म का एक समय मे होना प्रमाणसिद्ध होने से यही मानना होगा कि - वे कर्तृत्वआदि परिणाम आत्मा से अभिन्न हो जाते है । कर्तृत्वआदि परिणाम को आत्मस्वरूप = आत्माऽभिन्न मानने पर विरोध का अवकाश भी नही रहता हे । इस विषय का विस्तार अन्यत्र ज्ञातव्य है- इस वात की इत्तला देने के लिये प्रकरणकार ने 'अन्यत्र प्रासाधि' ऐसा प्रयोग किया है । अत एव हम भी यहाँ इस विषय का विस्तार से निरूपण करना अनावश्यक समझते हे । जिज्ञासु अध्यात्ममतपरीक्षा ग्रथ देख सकते है ।

अथ नित्यचेतनास्वभावत्वरूपाऽर्थक्रियाकारित्वादात्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितम्, अनित्यचेतनायास्तु प्रधानसाध्यत्वमिति

★ जयलता ★

योगशास्त्रेऽपि मूलकारैः आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाय आत्मनि [यो. शा. ४।२] इत्यादिनैकत्र नानाविधकारकभावोपपत्तिः कृतेत्यलं विस्तरेण ।

साङ्ख्यः शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यन्तं तन्मतम् । नित्यचेतनास्वभावत्वरूपाऽर्थक्रियाकारित्वात् = नित्यचेतनास्वभावत्वरूपाया अर्थक्रियाया निर्वाहकत्वात्, साङ्ख्यमते पुरुषस्याऽकर्तृत्वात् तादृशार्थक्रियानिर्वाहकत्वमेव तत्र सम्भवति । यदि च आत्मनः घटादिज्ञानरूपार्थक्रियाकर्तृत्वमुपेयते तदा तु स्यादेव तज्जननताऽजननकालभेदेन तत्कूटस्थनित्यत्वव्याहतिः । न च तत्र तथाऽभ्युपगम्यतेऽस्माभिः, किन्तु नित्यचेतनाशक्तिरूपार्थक्रियानिर्वाहकत्वमेव । तादृशार्थक्रियानिर्वाहकत्वस्य कालत्रयेऽप्यविलक्षणत्वात्पुरुषस्य कूटस्थनित्यत्वमेव न्याय्यमिति साङ्ख्याभिप्रायः ।

ननु घटादिज्ञानस्य पुरुषाजन्यत्वे कुत उत्पत्तिरित्याशङ्कायां साङ्ख्य आह- अनित्यचेतनायास्तु = घटादिज्ञानलक्षणाऽनित्यचेतनायास्तु, प्रधानसाध्यत्वं = मूलप्रकृतिजन्यत्वम् । अयं भावः परिणामः स्वपरिणामिकारणजन्यो भवति । घटादिज्ञानस्य परिणामरूपत्वात् स्वपरिणामिकारणस्वरूपमूलप्रकृतिजन्यत्वं न तु पुरुषजन्यत्वं, तस्याऽपरिणामित्वात् ।अतो न घटज्ञानादिलक्षणाऽनित्यचेतनाया उदयानापत्तिर्न वाऽऽत्मनः कूटस्थनित्यत्वव्याहतिरिति साङ्ख्याशयः ।

वस्तुतः साङ्ख्यमते प्रधानस्य परिणामो बुद्धिः तत्परिणामश्च घटाद्यर्थविज्ञानम् । यथा स्वभावतः चलनशीलमपि सलिलं जलाशयस्य निर्गममार्गाऽसत्त्वरूपप्रतिबन्धके सति स्वयं क्षेत्रमनुपसर्पदपि सति छिद्रे तद्द्वारा निर्गत्य कुल्यात्मना क्षेत्रमुपसृत्य केदाराकारेण परिणमते तथा स्वभावतः सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि बुद्धितत्त्वं तमसा प्रतिबद्धं सत् स्वयं विषयमनुपसर्पदपि उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां तमोऽभिभवे सति इन्द्रियप्रणालिकया विषयमुपसृत्य तदाकारेण परिणमते । योऽयं बुद्धितत्त्वस्य विषयाकारपरिणामः, स एवाध्यवसायः इति बुद्धिरिति अनित्यचेतनेति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाऽभिधीयते । एवञ्च घटादिविज्ञानरूपाया अनित्यचेतनायाः साक्षात् बुद्धिपरिणामत्वेऽपि, बुद्धितत्त्वस्याऽपि प्रधानपरिणामत्वात्, परम्परया प्रधानाऽपरनामप्रकृतिपरिणामत्वमुच्यते । सर्वेषामेव परिणामानां साक्षात् परम्परया वा प्रकृतेरेवाऽभिव्यक्तेः तत्रैव लयाच्च घटादिज्ञानोत्पादानुत्पादादिकालभेदेनाप्याऽऽत्मनः पुरुषापराभिधानस्य स्वभावभेदविरहान्न कूटस्थनित्यत्वाऽनापत्तिरिति साङ्ख्याभिप्रायः ।

स्याद्वादी तन्निराचष्टे - नेति । चेतनायाः स्वतः = स्वद्रव्यापेक्षया, नित्यत्वात् = नित्यत्वहेतोः, पर्यायतः = पर्यायापेक्षया, अनित्यत्वस्य = ध्वंसप्रतियोगित्वस्य, एतदपक्षपातित्वात् = कूटस्थनित्यत्वाऽपक्षपातित्वात् । पक्षे = अन्याय्यसाहाय्ये पातः = अभिनिवेशः इति पक्षपातः सोऽस्ति अस्येति पक्षपाति, न पक्षपाति = अपक्षपाति, तद्भावः तत्त्वं, तस्मात्, न्यायविरुद्धकूटस्थनित्यत्वपक्षानवलम्बित्वादिति यावत् ।

● रमणीया ●

● नित्यचेतनास्वभावत्व ही आत्मा का अर्थक्रियाकारित्व - सांख्य ●

सांख्य : अथ नि० इति । हम आत्मा में अर्थक्रियाकारित्व तो मानते ही हैं, मगर आपकी भाँति घटज्ञानादिजनकत्वस्वरूप अर्थक्रियाकारित्व मानते नहीं है किन्तु नित्यचेतनास्वभावत्वरूप अर्थक्रियाकारित्व मानते हैं । तादृश अर्थक्रियाकारित्व एक स्वरूप वाला ही होने से आत्मा को कूटस्थनित्य ही मानना संगत है । यदि घटज्ञानआदिजनकत्वस्वरूप अर्थक्रियाकारित्व हम आत्मा में मानते, तब तो तादृशज्ञानोत्पादाऽनुत्पाद आदि कालभेद से स्वभावभेद होने से आत्मा में अनित्यत्व की आपत्ति हो सकती । मगर वैसा हम मानते नहीं है । घटज्ञानादि का कर्तृत्व आत्मा में न होने से वह कूटस्थ नित्य ही है- यही मानना उचित है । यहाँ यह शंका करनी नहीं चाहिए कि→'घटपटआदिविषयक ज्ञान का कर्ता आत्मा नहीं है, तब उसका कर्ता आत्मा से अतिरिक्त कोई संभव न होने से घटआदिज्ञान का सर्वथा विलोप ही हो जायेगा''←इसका कारण यह है कि घटादिज्ञानस्वरूप अनित्य चेतना का कर्तृत्व हम प्रधान में मानते है । घटादिविषयक ज्ञान परिणामविशेषस्वरूप है । परिणाममात्र स्वपरिणामी से साध्य होता है । घटादिज्ञान का परिणामिकारण प्रधान तत्त्व है, जिसे प्रकृति भी कहा जाता है । प्रधान परिणाम अंतःकरण = मन है और मन का परिणाम वृत्ति है, जो इंद्रियस्वरूप नालिका के द्वारा घट-पटादि विषयदेश पर्यंत जा कर घट-पटादिआकाररूप से परिणत होती है । यह ठीक उसी तरह संगत हो सकता है जैसे कुँऐ का पानी नीक=नल (पाइप) द्वारा खेत में पहुँच कर खेतआकार को धारण करता है । घटादिविषयाकार में परिणत अंतःकरणवृत्ति ही घटादिज्ञानस्वरूप है । विद्वत्तोषिणीकार के मतानुसार घटादिज्ञान बुद्धितत्त्व का परिणाम है । इस तरह परंपरा से घटादिज्ञानस्वरूप अनित्य चेतना प्रधान का परिणाम होने से प्रधानजन्य है- यह कहना संगत ही है । मगर आत्मा में तादृश अनित्य चेतना का कर्तृत्व मानना ठीक नहीं है । अतः आत्मा को कूटस्थ नित्य मानना ही न्यायसंगत है ।

चेत् ? न, चेतनायाः स्वतो नित्यत्वात्, पर्यायतोऽनित्यत्वस्यैतदपक्षपातित्वात्, ज्ञानकर्मफलरूपायाः, स्वतन्त्रप्राप्यत्वेन कर्मीभूतायाश्चेतनायाः तत्तदुपयोगपरिणत्या स्वतन्त्रतयाऽऽत्मनैव कर्त्रा सभवात्, प्रधाने मानाभावात् ।

★ जयलता ★

अथ भावः चेतनाया द्रव्यार्थादेशेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थादेशेनानित्यत्वात् "चेतनाऽपराभिधानः पुरुषः कूटस्थनित्यः स्वतो नित्यत्वात्, सप्रतिपन्नवत्" इति साङ्ख्यानुमान 'पुरुषो न कूटस्थनित्यः पर्यायतोऽनित्यत्वात् घटवादि'त्यनुमानेन बद्धकक्षेन बाधित नोत्थातु शक्नोति । अत एव चेतनापरपदः पुरुषः पर्यायतो नित्यः द्रव्यतो नित्यत्वादित्यपि प्रत्युक्त, स द्रव्यतोऽनित्यः पर्यायतोऽनित्यत्वादित्यनेन सत्प्रतिपक्षत्वात् । न च पर्यायतोऽनित्यत्व तत्रोपचरितमेवेति वक्तव्यम्, द्रव्यतो नित्यत्व तत्रोपचरितमेव, पर्यायतोऽनित्यत्वस्यैवाऽनुपचरितत्वादिति वदतो मुखस्य पाणिना पिधातुमशक्यत्वात् । मनुष्यादिपर्यायतोऽनित्यत्वस्याऽऽत्मनि पूर्वं बहुशः प्रतिपादितत्वान्नेह तन्यते । अनेन आत्मनः कूटस्थनित्यत्वमेवोचितमिति पराकृतम् ।

यच्च साङ्ख्येन अनित्यचेतनायास्तु प्रधानसाध्यत्वमित्युक्त तत्राऽऽह ज्ञानकर्मफलरूपाया इति घटाद्युपयोगलक्षणक्रियाजन्यफलात्मिकाया इत्यर्थः । स्वतन्त्रप्राप्यत्वेन = स्वतन्त्रेण आत्मना बोधरूपक्रियाद्वारा प्राप्यत्वेन = व्याप्यत्वेन, कर्मीभूताया = द्वितीयाविभक्त्यर्थकर्मत्वशालिन्याः, चेतनाया = घटज्ञानादिलक्षणाऽनित्यचेतनायाः, तत्तदुपयोगपरिणत्या = घटादिविषयकोपयोगपरिणामद्वारा, आत्मनैव कर्त्रा सभवादिति । एवकारेण प्रधानव्यवच्छेदः कृतः । अथ भावः 'चैत्रो घट जानाती'त्यत्र घटोपलब्धौ स्वतन्त्रत्वेन चैत्रः कर्ता भवति, तत्प्राप्यत्वेन घटश्च कर्म भवति, 'स्वतन्त्रः कर्ता', 'कर्तुर्व्याप्य कर्म' [सि हे अ २।का २।सू] इति सिद्धहेमसूत्राभ्याम् । घटपदमत्र घटज्ञानलक्षकम्, घटज्ञानस्यैवोपयोगपरिणामद्वारा चैत्रव्याप्यत्वात् । साङ्ख्याभिमतस्य प्रधानस्य न स्वातन्त्र्येण घटज्ञानहेतुत्व सभवति किन्तु चैत्राद्यभिधानपुरुषद्वारेव । अतः तत्कर्तृत्व न प्रधाने सभवति । चैत्रादिरात्मा तु स्यादेव तत्कर्ता, स्वतन्त्रत्वात् । स्वातन्त्र्येण घटाद्युपयोगे परिणतः सन् चैत्रादिरात्मा तज्ज्ञान जनयति । अतः घटज्ञानादिलक्षणाऽनित्यचेतनाया न प्रधानसाध्यत्व सभवति किन्तु पुरुषसाध्यत्वमेव । सिद्धे च पुरुषस्याऽनित्यचेतनाजनकत्वे तदुत्पादाऽनुत्पादाद्यवच्छेदककालभेदेन स्वभावभेदादात्मनो न कूटस्थनित्यत्वमिति ।

वस्तुतस्तु साख्याभिमत प्रधानतत्त्वमेव नास्तीत्याह- प्रधाने मानाभावादिति । न च "भेदाना परिणामात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य" [सा का १५] इति ईश्वरकृष्णवचनात्, प्रधानतत्त्वसिद्धिरित्यारेकणीयम्, स्याद्वादरत्नाकरसम्मतितर्कादौ विस्तरतः तद्धेतूना निराकृतत्वान्न तत्राऽऽयासोऽस्माभिर्विधीयते । न हि कोऽपि मृतमारणे प्रवर्त्तते सुधीः ।

● रमणीया ●

● पर्यायतः अनित्यत्व भी आत्मा मे प्रमाणसिद्ध - स्याद्वादी ●

स्याद्वादी :- न चेत० इति । उस्ताद ! आप बहुत दूर की सोचते नही है । आत्मा मे स्वत = स्वद्रव्यापेक्षया नित्यत्व है- यह तो हमे मजूर ही हे । मगर सिर्फ इतने से आत्मा को सर्वथा = सर्व प्रकार से नित्य कहना या मानना ठीक नही हे । हाँ, द्रव्य से और पर्याय से आत्मा मे नित्यत्व हो तो ठीक है कि आप आत्मा को सर्वथा नित्य मानो । मगर ऐसा हे नही, क्योकि आत्मा मे मनुष्यआदि पर्याय की अपेक्षा अनित्यत्व भी रहता है । द्रव्यापेक्षा से नित्यत्व है-यह चाहे आपको यह मानने की प्रेरणा दे कि आत्मा एकान्त नित्य है । मगर पर्यायत अनित्यत्व कूटस्थ नित्यत्व का पक्षपाती नही है । आत्मा मे पर्यायार्थ आदेश से अनित्यत्व होने की वजह सर्वथा = द्रव्यपर्याय उभय की अपेक्षा नित्यत्व माना जा नही सकता । अत आत्मा मे कूटस्थ नित्यत्व बाधित होता है ।

● घटादिज्ञान का कर्तृत्व आत्मा मे ही - स्याद्वादी ●

ज्ञानकर्म० इति । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि- घटपटआदिविषयक ज्ञानस्वरूप अनित्य चेतना को आपने प्रधानसाध्य = प्रधानजन्य कहा है- वह भी ठीक नही है । इसका कारण यह हे कि घटादिविषयक ज्ञानस्वरूप अनित्य चेतनातो घटोपयोगात्मक क्रिया का फल है जो स्वतत्रप्राप्य होने से कर्म है । यह बात द्रष्टात से सिद्ध हो जायेगी । देखिये, 'चेत्रो घट जानाति' यहाँ स्वतत्र ऐसा चैत्र उपयोगक्रिया के द्वारा घटज्ञान को प्राप्त करता हे । यहाँ घटपद की लक्षणा घटज्ञान मे है । कर्ता चैत्र उपयोगात्मक क्रिया के फलस्वरूप मे घटज्ञान = अनित्य चेतना को प्राप्त करने से घट [=घटज्ञान] कर्म कहा जाता है । यह अनित्य चेतना कर्मात्मक होने से, यह कर्म जिससे क्रिया द्वारा प्राप्य होता है, वह कर्ता कहा जाता है । जो कार्योत्पत्ति मे स्वतत्र होता है वह कर्ता कहा जाता है । अथवा यह कहा जा सकता है कि क्रिया के द्वारा स्वतत्रतया जिसका व्याप्य कर्म होता है वह कर्ता कहा जाता है । यहाँ कर्म तो घट (= घटविषयक ज्ञान, जिसे अनित्य चेतना कहते हैं) है, इस विषय मे तो कोई विवाद नही है । मगर कर्म का कर्ता कौन है ? यह विचारणीय है । आप साख्य मनीषी प्रकृति को उसका कर्ता मानते हैं । मगर यह ठीक नही है । इसका कारण यह है कि- यहाँ क्रियाद्वारा कार्य स्वतत्र प्रकृति का व्याप्य नही हे, किन्तु चेत्र (=आत्मा) का व्याप्य है । अत यहाँ चेत्र को कर्ता मानना ठीक है । घट-पटआदि के उपयोग मे परिणत हो कर चेत्रआदि आत्मा घट-पट आदि विषयक ज्ञान को उत्पन्न करता है । घट-पट आदि परिणाम मे परिणत होने मे चेत्र आदि स्वतत्र हैं, परतत्र नही । जब कि प्रकृति तो चैत्र आदि को परतत्र हो कर ही घटआदिविषयक ज्ञान को उत्पन्न कर सकती है । अत घटादिज्ञानस्वरूप

अथैवमपि द्रव्यकर्मरूपाऽर्थक्रियाकारित्वमात्मनः कथमिति चेत् ? अर्यस्याऽऽत्मनः क्रियैव कथ ? तत् निश्चयतः कर्त्रन्तरेव क्रियाशक्तेर्लीनत्वात् । 'भावकर्मरूपात्मपरिणतिक्रियाजन्यत्वादुपचारात्तथे'ति चेत् ? तर्हि द्रव्यकर्मनिमित्तीभूतभावकर्मकर्तृत्वे-नोपचारादेवाऽऽत्मनो द्रव्यकर्मकर्तृत्वमिति गृहाण ।

★ जयलता ★

शङ्कते - अथेति । 'चेदि'त्यनेनाऽस्यान्वयः । एवमपि = आत्मन उपयोगरूपभावकर्मस्वरूपाऽर्थक्रियाकारित्वेऽपि, द्रव्यकर्मरूपाऽर्थक्रियाकारित्व = पौद्गलिकाऽदृष्टस्वरूपाऽर्थक्रियानिष्पादकत्व, आत्मन कथमिति । मूर्त्तयोः हि तावत् पुद्गलयो' स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धसम्भवेऽपि आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु न सम्भवति, अमूर्तस्याऽऽत्मन' रूपादिगुणरहितत्वेन स्निग्धरूक्षत्वविरहात् । तदुक्त प्रवचनसारे "मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहि अण्णमण्णेहि । तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गल कम्म ॥ [प्र सा २/८०] इति । ततो द्रव्यापूर्वलक्षणार्थक्रियाकारित्वस्याऽऽत्मन्य-नुपपत्ति' । तदभावे च सर्वेषा जीवानामससारित्वप्रसङ्ग इति अथाशय ।

वाम वामेन चोदयेदिति न्यायेन प्रकरणकृत्पर्यनुयुङ्क्ते - अर्थस्य = अर्थपदवाच्यस्य, आत्मन शुभाशुभोपयोगलक्षणा क्रिया एव कथम् ? निश्चयत = त्वदभिमतनिश्चयनयमाश्रित्य, कर्त्रन्तरेव = कर्तु' आत्मन' अन्त' मध्ये एव, क्रियाशक्ते लीनत्वात् । अय भावः क्रियाशक्तिर्द्विविधाऽभिव्यक्ताऽनभिव्यक्ता च । तत्र चाऽभिव्यक्तैव क्रियानिर्वर्तनसमर्था । पर निश्चयनयत क्रियाशक्तिरात्मन्येव विलीना मोहक्षोभविहीनविशुद्धपरिणामस्वरूपत्वादात्मन । अत' शुभाशुभोपयोगलक्षणभावकर्मकर्तृत्वमपि विचार्यमाण न घटेत । स्वपक्षे एवाऽऽपतित दोषमुपेक्ष्य परपक्षदोषाविष्करणे कथ नोन्मत्तता ?

अथवादी स्वाशयमुपदर्शयति- भावकर्मरूपात्मपरिणतिक्रियाजन्यत्वात् = नानाविषयप्राप्तिनिमित्तकभावबन्धलक्षणजीवपरिणामनिमित्तकत्वात्, उपचारात् = उपचरितव्यवहारनयमवलम्ब्य, तथा = आत्मन सदसदुपयोगस्वरूपक्रियाजनकत्वम् । अय भावः निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयोऽपि जीव. सोपाधिस्फटिकवत् नानाकारान् विषयान् समधिगम्य तत्तदुपाधिभावेन परिणत. सन् मोह राग द्वेष वा समुपैति । कर्तृभूतैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैः उपरक्तात्मस्वभावत्वात् नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिवत् विशुद्धपरिणाममलभमानः सन् स जीवो बद्धो भवति । अत्र योऽसा मोहरागद्वेषपरिणाम स एव भावबन्ध', उपरागस्य स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयत्वात् । तदुक्त प्रवचनसारे "उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि । पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहि सबधो ॥ भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगद विसये । रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवदेसो ॥ [प्र सा २।८३-८४] निश्चयतो जीवस्य गगनवन्निर्लेपत्वादिदमुपचरितव्यवहारनयेनाऽशुद्धनिश्चयन-येन वा बोध्यम् ।

प्रकरणकृत्तन्नयेनैव तन्निराकरोति- तर्हीति । द्रव्यकर्मनिमित्तीभूतभावकर्मकर्तृत्वेन = पुण्याऽपुण्यलक्षणपौद्गलिककर्मनिमित्तकारणीभूतशुभाशुभपरि-णामस्वरूपभावकर्मनिमित्तत्वेन, उपचारात् = उपचरितव्यवहारनयात् एव आत्मनो द्रव्यकर्मकर्तृत्वमिति गृहाणेति । अय समाधानाशयः - आत्मप्रदेशेषु

● रमणीया ●

अनित्य चेतना को पुरुषसाध्य मानना ही मुनासिब है, न कि प्रकृतिसाध्य मानना । इसके अतिरिक्त एक बात यह भी ध्यातव्य हे कि- आत्मा तो वादी (=स्याद्वादी) ओर प्रतिवादी (=साख्य) दोनो को मान्य है, जब कि प्रकृति तो केवल प्रतिवादी को ही मान्य है, उभयमान्य नही हे । प्रकृति का हम स्वीकार करते नही ह, इसका कारण यह हे कि प्रकृति की सत्ता मे कोई प्रमाण नही हे । अप्रामाणिक एक भी तत्त्व की कल्पना प्राज्ञ व्यक्ति कैसे करे? प्रधानसाधक प्रमाण ही नही होने से प्रधान = प्रकृति का स्वीकार किया जा नहि सकता । जब कि प्रकृति ही प्रमाण से निश्चित नही है तब भला ! उसमे घटादिज्ञानस्वरूप अनित्य चेतना का कर्तृत्व केसे माना जा सकता हे ? यह तो वन्ध्यापुत्र की पराक्रमगाथा की भाँति नितात अनुपादेय ह ।

● द्रव्यकर्मकर्तृत्व आत्मा मे नामुमकिन - पूर्वपक्ष ●

पूर्वपक्ष :- अथैवम० इति । जनाब ! आपने बहुत बढिया बात सुनायी कि ज्ञानादिरूप परिणाम का आत्मा मे कर्तृत्व है । इससे स्याद्वादी को अभिमत शुभाशुभ परिणामस्वरूप भाव कर्म का कर्तृत्व भी आत्मा मे उपपन्न हो जायेगा । मगर यहाँ एक समस्या मुँह फाडे खडी हे कि आत्मा मे ज्ञानावरणी आदि पोद्गलिक कर्म का कर्तृत्व केसे सगत होगा ? क्योकि आत्मा तो चेतन हे ओर पुद्गल तो जड हे । चेतन मे स्वाऽभिन्न ज्ञानादिपरिणाम का कर्तृत्व मुमकिन है, मगर अपने से सर्वथा भिन्न जड द्रव्यकर्म का कर्तृत्व तो नामुमकिन ही रहेगा । अत आपके मत मे पाद्गलिक कर्म का कर्तृत्व आत्मा मे असगत होगा । यहाँ यह शका हो कि→"आत्मा मे भावपरिणाम की उत्पत्ति ही केसे होगी? क्योकि परमार्थ से तो आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव मे ही अवस्थित होने मे क्रियाशक्ति आत्मा के अदर ही लीन हो गयी हे । तब शुभाशुभ परिणाम का कर्तृत्व भी आत्मा मे कैसे होगा?"←तो यह ठीक नही है, क्योकि शुभ या अशुभ बाह्य विषयो का सन्निधान होने पर शुद्ध आत्मा भी उनसे उपरक्त होती है । जेसे स्वभाव से शुद्ध ऐसा स्फटिक भी लाल गुलाब का सन्निधान होने पर रक्तिमा से उपरक्त होता हे, पीत गुलाब का सामीप्य होने

प्राप्यत्वगर्भकर्मत्वस्य परिणामविशेष एव पर्यवसानात्, सर्वथाभिन्नस्य प्राप्तौ सम्बन्धाभावात् । न हि क्रियाजन्यफलशालित्वादिक

★ जयलता ★

कायवाङ्मनोवर्गणावलम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलाः स्वयमेव परिस्पन्दवतः प्रविशन्ति, तिष्ठन्ति गच्छन्त्यपि । चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषपरिणामो बध्यन्तेऽपि च । ततो मोहादिपरिणामरूपभावकर्मबन्धस्य द्रव्यकर्मकारणत्व निश्चीयते । पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्य, दुरितद्रव्यबन्धकारणत्वादशुभपरिणामश्च पापम् । अतो यथा निश्चयेनाऽऽत्मनो विशुद्धज्ञानाद्युपयोगमयत्वेऽप्युपचारान्मोहादिपरिणतिस्वरूपभावकर्मकर्तृत्व परेणोपगम्यते तथैवाऽऽत्मकर्तृकभावकर्मबन्धजन्यद्रव्यकर्मबन्धकर्तृत्वमपि निरपायम्, अन्यथा पक्षपातमात्रात् ।

यत्तु प्रवचनसारे "असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ [प्र सा २/८८ उत्तरार्धः] इत्युक्तम् तदसङ्गतम्, द्वेषस्याऽशुभत्वैकान्ताऽयोगात्, ससाररागमोहादि-तन्निमित्तकार्थविषयादिगोचरस्य द्वेषस्य प्रशस्तत्वेन शुभत्वात् । मुग्धावस्थाया पञ्चपरमेष्ठ्यादिमोहितजीवस्याऽपि पुण्यौघार्जकत्वेन मोहस्याऽपि अशुभत्वैकान्तायोगात् ।

द्रव्यभावकर्मकर्तृत्वेनाऽप्याऽऽत्मनः कूटस्थनित्यत्व व्याहन्यत इत्याशयेनैकान्तवादिन प्रत्याह- प्राप्यत्वगर्भकर्मत्वस्येति प्राप्यत्वेन = व्याप्यत्वेन घटितस्य कर्मत्वस्य, परिणामविशेष एव = कर्तृपरिणामविशेषे एव पर्यवसानादिति विश्रामादिति । ततः किमित्याह- सर्वथाभिन्नस्य = सर्वथाकर्तृव्यतिरिक्तस्य, प्राप्तौ सम्बन्धाभावात् = ससर्गासभवात् । अय भावः 'कर्तुर्व्याप्य कर्म' [सि हे २।२।३] इति श्रीसिद्धहेमसूत्रवृत्तौ प्रभुभिः 'कर्त्रा क्रियया यद्विशेषेण आप्तुमिष्यते तत्कारक व्याप्य कर्म च स्यादिति' [सि हे ल वृ] उक्तम् । ततः कर्तृप्राप्यत्व कर्मत्वलक्षणमिति फलितम् । सा च कर्मत्वघटकीभूता प्राप्ति' कर्तुः सर्वथा भिन्नत्वे न सम्भवति विन्ध्यहिमाचलयोरिवाऽसम्बन्धत्वाविशेषात् । ततोऽवसीयते यदुत कर्मत्व कर्तृव्याप्यत्वलक्षण कर्तृपरिणामविशेषरूपम् । परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिदभेदात् तत्तत्कर्मभेदे स्वभावभेदात् कर्तुः तत्परिणामिनोऽपि भेदो दुर्निवारः । स्वभावाऽभेदे तत्तच्छुभाशुभकर्मभेदप्रसङ्गात् । न चैतत् तवाऽप्यभिमतमिति त्यज आत्मनः कूटस्थनित्यत्वाभिनिवेशम् ।

ननु गदाधरेण तु व्युत्पत्तिवादे 'कर्मत्वञ्च क्रियाजन्यफलशालित्व'' [व्यु वा द्वि का पृ २०७] इत्युक्तम् । तच्च सर्वथा भेदपक्षेऽपि सम्भवतीति कुतः जीवैकान्तनित्यत्वव्याहतिरित्याशङ्कायामाह न हीति । क्रियाजन्यफलशालित्वादिक = चैत्रादिसमवेत-

● रमणीया ●

पर पीतिमा से रजित होता है । वास्तव मे श्वेत होते हुए भी स्फटिक उपाधि के सन्निधान रक्त-पीत आदि रूप से दिखायी देता है । ठीक वैसे ही शुद्ध होती हुई भी आत्मा इष्टानिष्ट विषय की प्राप्ति की वजह शुभाशुभ परिणाम से उपरक्त होती है । हालाँकि तभी भी आत्मा तो स्फटिक की भाँति शुद्ध ही है, मगर उपराग के निमित्त से शुभाशुभ परिणामरूप भावकर्म का कर्तृत्व उपचार से = व्यवहार से कहा जाता है । अत उपचार से क्रियाजनकत्व आत्मा मे मानने मे कोई दोष नही है ।

● उपचार से द्रव्यकर्मकर्तृत्व भी आत्मा मे मुमकिन - उत्तरपक्ष ●

उत्तरपक्ष : - तर्हि इति । उस्ताद ! आप आत्मा मे भावकर्मकर्तृत्व व्यवहार से मानते है, तो क्या हम आत्मा मे द्रव्यकर्मकर्तृत्व निश्चय से मानते हैं ? हम भी यह जानते है कि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा अक्षय ज्ञानदर्शनोपयोग का ही कर्ता हे या क्षायिक ज्ञानदर्शनमय है । मगर जैसे उपचार से आत्मा मे शुभाशुभ परिणामस्वरूप भावकर्म का कर्तृत्व हे वैसे ही तादृश भावकर्म से जन्य द्रव्यकर्म का कर्तृत्व भी आत्मा मे अबाधित है । भावकर्म ही तो द्रव्यकर्म का कारण है । अत भावकर्म के कर्ता जीव मे द्रव्यकर्म का कर्तृत्व न्यायप्राप्त है । वह कर्तृत्व उपचार से है, वह एक अलग बात है । इसी तरह व्यवहार से घट-पटादि का कर्तृत्व भी आत्मा मे सभवित है । इस विषय मे पाठक दर्शित रीति से स्वय विचार करे ।

● द्वितीयाविभक्त्यर्थ कर्मत्व परिणामविशेषस्वरूप - स्याद्वादी ●

प्राप्यत्व० इति । यहाँ एक बात यह भी विचारणीय हे कि द्वितीया विभिक्ति का अर्थ है कर्मत्व । कर्मत्व प्राप्यत्व से घटित है, क्योकि कर्तृप्राप्यत्व=कर्मत्व है । कर्ता क्रियाविशेष के द्वारा जिसे प्राप्त करता है वह कर्म कहा जाता है और उसमे रहा हुआ तादृश कर्तृप्राप्यत्व ही कर्मत्व है । आत्मा कर्ता है और शुभाशुभपरिणामरूप भावकर्म (द्वितीया विभक्ति से विशिष्ट होनेवाला) कर्म है । अत शुभ-अशुभपरिणामस्वरूप भाव अदृष्ट मे कर्तृप्राप्यत्वस्वरूप कर्मत्व रहता है । एव पुण्य-पापस्वरूप द्रव्याऽदृष्ट मे भी कर्मत्व रहता है । यदि वह आत्मा से सर्वथा भिन्न हो, तब तो उसकी प्राप्ति ही आत्मा मे शक्य नही है, क्योकि सर्वथाभिन्न पदार्थों मे सम्बन्ध होता नही है । सबध न हो तब प्राप्ति कैसे सभव हो सकती है ? मगर प्राप्ति होती है । इससे सिद्ध होता हे कि कर्मत्व परिणामविशेपस्वरूप ही है, जो परिणामी से कथचित् अभिन्न होता हे । अत कर्मत्व को कर्ता और कर्म से सर्वथा भिन्न माना जा नही सकता । जब यह सिद्ध हो गया तब तो आत्मा मे एकान्त नित्यत्व भी बाधित होगा, क्योकि भिन्न भिन्न द्रव्य-भाव कर्म का कर्तृत्व आत्मा मे स्वभावभेद के बिना नामुमकिन है और स्वभावभेद मानने पर आत्मा मे कूटस्थ नित्यत्व की व्याहति और कथचित् नित्यत्व की सिद्धि होगी ।

पराभिमत कर्मत्वमपि सार्वत्रिकम्, 'घट जानाती'त्यादावेव तदभावात् ।

एतेन 'अर्थक्रिये'त्यत्र प्रथमातत्पुरुषेऽपि क्रमपक्षः प्रत्याख्यात । युगपत्पक्षे तु प्रत्यक्षबाधः ।

★ जयलता ★

स्पन्दक्रियाजन्यसयोगलक्षणफलशालित्वादि । आदिशब्देन करणव्यापारविषयत्व-धात्वर्थतावच्छेदकफलसमानाधिकरणत्वक्रियाफलाश्रयत्वादेर्ग्रहणम् । सार्वत्रिक = द्वितीयाविभक्त्यर्थव्यापकम् । हेतु प्रदर्शयति- 'घट जानाती'त्यादावेव तदभावा दिति । क्रियाजन्यज्ञानलक्षणफलशालित्वस्याऽऽत्मन्येव सत्त्वेन कर्मणि घटे तदभावात् । न च तत्र विषयत्वे लक्षणेति वाच्यम्, द्वितीयवृत्त्याश्रयणस्यातिजघन्यत्वादिति कर्तृप्राप्यत्वरूपमेव कर्मत्वमभ्युपेयम्, उपयोगक्रिययाऽऽत्मप्राप्यत्वस्य तत्र सत्त्वात् । एतेन 'फलमात्र कर्मप्रत्ययार्थ' [व्यु वा द्वि का पृ २०७] इति गदाधरवचन प्रत्युक्तम् 'गा याचते विप्र'' इत्यादावव्याप्तेश्च । न हि गवि स्वोद्देश्यकदानेच्छालक्षण फल याचत्यर्थोऽस्ति किन्तु दानविषयत्वमेव ।

ननु मास्तु अर्थस्य घटादिलक्षणस्य ज्ञानादिरूपाया क्रियायाः कर्तृत्वमात्मनि क्रमेण किन्तु ज्ञप्त्यादिलक्षणार्थरूपाया एव क्रियाया' कर्तृत्व कूटस्थे आत्मनीत्याशङ्कायामाह- एतेनेति । भिन्नकार्यकर्तृत्वस्य स्वभावभेदव्याप्यत्वेनेति । अन्वयश्चाऽस्य प्रत्याख्यात इत्यनेन । अर्थक्रियेति । चतुर्थकारिकाद्वितीयपादस्थमिद पद ज्ञेयम् । प्रथमातत्पुरुषे समासे समाश्रीयमाणेऽपि क्रमपक्ष = क्रमिकार्यक्रियाकारित्वपक्षः । अर्थ्यते = काम्यत इति अर्थलक्षणस्य विज्ञानादावपि सत्त्वात् अर्थपदेन ज्ञप्त्यादिग्रहणम् । अर्थपदवाच्या ज्ञप्तिरेव क्रिया इति प्रथमातत्पुरुषसमाश्रयणे तु नित्यात्मनि अर्थक्रियाकारित्व क्रमेण घटेतेति पूर्वपक्षाशय' । प्रत्याख्यात इति । अथ समाधानाशय' एकान्तनित्य' सन्नात्मा क्रमेण ज्ञप्त्याद्यर्थक्रिया कि स्वभावभेदेन करोति आहोस्वित् स्वभावाऽभेदेन? इति पक्षोभयी समुपतिष्ठते । नाद्यो विद्योतते, एकान्तनित्ये स्वभावभेदाऽयोगात्, तद्भेदे वा कूटस्थनित्यता विलीयेत । नाऽपि द्वितीय' क्षोदक्षमः, सवदेव घटज्ञप्ति कुर्वाणो नात्मा पटज्ञप्ति गम्यादिक्रिया वा कदाऽपि कुर्यात् । तथा च व्यवहारबाध' इति नैकान्तनित्ये आत्मनि क्रमेणाऽर्थक्रियाकारित्व सङ्गतिमङ्गति ।

नन्वस्तु तर्हि युगपदेवाऽर्थक्रियाकारित्वमात्मनीत्याशङ्कायामाह- युगपत्पक्षे तु प्रत्यक्षबाध इति । न हि समकालमेव घटपटशकटादि-तज्ज्ञप्त्यादिक्रिया कुर्वाण आत्मा प्रत्यक्षेणोपलभ्यते । न चानुमानात् तत्सिद्धिरिति वक्तव्यम् प्रत्यक्षबाधितेऽनुमानाऽनवतारात्, तत्साधकहेतोरनुपलब्धेश्च । किञ्चैकदैव सकलार्थक्रिया कुर्वाण' द्वितीयादिक्षणे आत्माऽसन् स्यात्, अर्थक्रियाकारित्वविरहात्, तस्याऽसत्त्वव्याप्यत्वादिति वृद्धिमिच्छतो मूलतो हानिरयातेत्यल विस्तरेण ।

● रमणीया ●

● कर्मत्व का लक्षण क्रियाजन्यफलशालित्व नही - स्याद्वादी ●

न हि क्रि इति । नयायिक आदि मनीषियो का यह मन्तव्य है कि⟶'कर्मत्व क्रियाजन्यफलशालित्वरूप है । जैसे 'चैत्रो ग्राम गच्छति' वाक्य मे चैत्र कर्ता हे ओर ग्राम कर्म है। चैत्र मे रही हुई क्रियाविशेष की वजह ग्राम मे चैत्रसयोग उत्पन्न होता है, जो गम्धातु का अर्थ हे । ग्राम मे चैत्रवृत्तिस्पन्दनक्रिया से जन्य सयोगस्वरूप फल का आश्रयत्व हे वही ग्रामवृत्ति चैत्रनिरूपित कर्मत्व ह । क्रियाजन्यफलशालित्व को कर्मत्व मानने पर आत्मा मे, एकान्त नित्यत्व का भग हो नही सकता, क्योकि फल कर्म मे उत्पन्न होता हे । अत फलोत्पादानुत्पादकालभेद से ग्राम मे नित्यत्व बाधित होने पर भी आत्मा मे तो नित्यत्व अबाधित ही है । अत क्रियाजन्यफलशालित्वरूप कर्मत्व के अगीकार मे कोई दोष उपस्थित होता नही है''⟵मगर यह ठीक नही है । इसका कारण यह ह कि क्रियाजन्यफलशालित्वस्वरूप कर्मत्व सभी कर्म मे नही रहने से व्यापक नही हे । अत लक्षण मे अव्याप्ति नाम का दोष प्रसक्त होता हे । लक्ष्य मे लक्षण का अगमन ही अव्याप्ति दोष का लक्षण है । देखिये वह दोष कसे प्राप्त होता है? 'चैत्रो घट जानाति' यहाँ कर्ता ह चैत्र, कर्म है घट, जानाति का अर्थ हे वर्तमानकालीन ज्ञानानुकूल कृति । अत अखड बोधआकार ऐसा होता हे 'घटविषयकज्ञानानुकूलवर्तमानकालीनकृतिमान् चैत्र' । यहाँ उपयोगक्रियाजन्य फल ह ज्ञान, जिसका आश्रय चैत्र है, घट नही । अत क्रियाजन्यफलशालित्वरूप कर्मत्व ही घट अर्थ मे रहता नही हे । घट के वाचक घटपद के उत्तर द्वितीया विभक्ति रहती है । अत घट कर्म बनने से कर्मत्व उसमे रहना चाहिए । मगर रहता नही ह । अत क्रियाजन्यफलशालित्व को कर्मत्व मानने पर अव्याप्ति दोष आता है । इस दोष के सबब क्रियाजन्यफलशालित्व को कर्मत्व का लक्षण माना जा नही सकता किन्तु कर्तृप्राप्यत्व को ही कर्मत्व का लक्षण मानना ठीक हे, क्योकि चैत्र उपयोग क्रिया के द्वारा घट को प्राप्त करता हे । अत घट चैत्रप्राप्य हुआ । अत एव कर्तृप्राप्यत्वस्वरूप कर्मत्व भी घट मे अव्याहत हे । कर्मत्व का व्यापकलक्षण कर्तृप्राप्यत्व ही हे- ऐसा सिद्ध होने पर तो उपर्युक्त रीति मे (देखिये पृ २१३) आत्मा मे एकान्त नित्यत्व बाधित ही हो जायेगा ।

● अर्थक्रियाशब्द मे कर्मधारय समास अशक्य ●

एतेन० इति। यहाँ यदि एकान्त नित्य आत्मवादी की ओर से ऐसा कहा जाय कि⟶''वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की चतुर्थ कारिका के द्वितीय पाद मे जो अर्थक्रिया शब्द रहा हुआ है वह षष्ठीतत्पुरुष समासगर्भित नही हे किन्तु प्रथमातत्पुरुष समास से घटित हे। 'अर्थात् अर्थ एव क्रिया = अर्थक्रिया' ऐसा विग्रह हमे अभीष्ट हे। यहाँ अर्थपद से ज्ञप्ति-भुक्ति-गति आदि क्रिया का ग्रहण ही अभिमत हे। वह तो क्रमपक्ष मे सभवित हे, क्योकि कूटस्थनित्य आत्मा क्रमश = भिन्न भिन्न क्षणावच्छेदन ज्ञप्ति-भुक्ति-गति

एकान्ताऽनित्यपक्षेऽपि दोषमभिदधति -एकान्ते'ति । क्रमाऽक्रमयोरसभवप्रतीतिबाधाभ्यामिति भावः ॥४॥

★ जयलता ★

चतुर्थकारिकोत्तरार्धमुपक्रमते- एकान्ताऽनित्यपक्षेऽपीति । क्रमाक्रमयोरसभवप्रतीतिवाधाभ्यामिति । यथाक्रममन्वयः प्रत्येक कार्यः । तथाहि एकान्तक्षणिके आत्मनि क्रमेणाऽर्थक्रियाकारित्व न सम्भवति, असत्त्वात् । निरन्वयक्षणिकस्य सतस्तस्य द्वितीयक्षणेऽसत्त्वेन नानाकालीनार्थक्रियाकारित्वाऽयोगात्, सम्भवे वा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । नाऽपि युगपत्सकलार्थक्रियाकारित्व सभवति प्रत्यक्षविरोधात् । न हि सकलार्थक्रियामेकक्षणमेव कुर्वाणो जीवः प्रत्यक्षत उपलभ्यते किन्तु भिन्नक्षणावच्छेदेनेव इति अनुभवविरोधापत्तिदुर्भगभामिनीकलङ्ककालिमोल्लासो न केनाऽपि पश्चात् कर्तुं शाशक्यते ।

अत्र श्रीप्रभानन्दसूरिकृत वीतरागस्तोत्रविवरण लिख्यते तज्जिज्ञासुमनीषिमनोविनोदाय 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपाणा नित्याना क्रमेणाऽक्रमेणाऽप्यर्थक्रियाकारित्व न युज्यते । तथाहि - नास्ति नित्यैकरूप आत्मादिः अनर्थक्रियाकारित्वात् । यद् यद् अनर्थक्रियाकारि तत्तन्नास्तीत्युपलब्धम्, यथा खपुष्पम् । अनर्थक्रियाकारी च नित्यैकरूप आत्मादिः तस्मान्नास्तीति निश्चीयते । न चाऽनर्थक्रियाकारित्वादित्यय हेतुरसिद्धः । अर्थक्रियाकारित्व हि कार्यकर्तृत्वमुच्यते । तच्चात्मादेः । क्रमेण योगपद्येन वा? प्रकारान्तराऽभावात् । न तावत् क्रमेण घटते । क्रमो हि द्विधा, देशक्रमः कालक्रमश्च । न तावत् देशक्रमेण कुर्यात् । देशक्रमो ह्येकत्र देशे कार्यमेक कृत्वा पुनर्देशान्तरेऽन्यकार्यकरणमुच्यते । न च नित्यैकस्वभावस्यैत्थम्भूतः क्रमः सम्भाव्यते, नित्यैकस्वभावताव्याघातप्रसङ्गात् । यदा ह्येकत्र देशे एक कार्यं, अपरञ्चान्यत्र करोति, तदा पूर्वस्मिन् देशे पूर्वकार्यकरणसामर्थ्यमेव (पूर्वकार्यकरणस्यैव सामर्थ्यम्) नोत्तरकार्यकरणसामर्थ्यम्, अन्यथा पूर्वस्मिन् एव देशे तस्याऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गः । तथा च पूर्वोत्तरदेशयोः स्वभावभेदान्नित्यैकरूपताव्याघातो भवेदेव ।

ननु नित्यैकस्वभावस्य पदार्थस्यैकत्र देशे सर्वकार्योत्पादनसामर्थ्यसद्भावेऽपि नोत्तरोत्तरदेशभाविकार्यं भवेत्, सहकारिकारणाभावादिति चेत्? उच्यते सहकारिणः किं तस्योपकारकत्वेनैकार्थकारित्वेन वा? प्रथमपक्षे किमसावुपकारस्ततोऽव्यतिरिक्तः, व्यतिरिक्तः कथञ्चिद्व्यतिरिक्तो वा? गत्यन्तराऽभावात्। यद्यव्यतिरिक्तस्तदा नित्यताहानिः। न खलूपकारादनित्यादभिन्नस्य भावस्य नित्यत्व नाम, तत्स्वरूपवत्। भेदैकान्तवादाभावश्च योगस्य। अथ व्यतिरिक्तो विधीयते तर्हि तस्येति व्यपदेशाऽभावः, सम्बन्धाभावात्। न च सम्बन्धाऽभावोऽसिद्धः। स हि सयोगलक्षणस्तादात्म्यलक्षणः समवायलक्षण उपाकार्योपकारकलक्षणोऽदृष्टलक्षणो वा? न तावत् सयोगः, तस्य गुणत्वेन द्रव्यवृत्तित्वात्, 'द्रव्ययोरेव सयोग' इतिवचनात्।

● रमणीया ●

आदि क्रिया को कर सकती है। इसमे कोई अनुपपत्ति नही है''←तो यह भी ठीक नही है, क्योकि हमने पहले ही वता दिया हे कि भिन्न भिन्न कार्य का कर्तृत्व आत्मा मे स्वभावभेद को माने विना हो सकता नही है। जिस स्वभाव से आत्मा ज्ञप्ति क्रिया को करेगी उसी स्वभाव से भुक्ति क्रिया को करने पर ज्ञप्ति और भुक्ति क्रिया मे अभेद का प्रसग होगा, जो नित्यैकान्त आत्मवादी को भी अभीष्ट नही हे। अत भिन्न भिन्न स्वभाव से ही ज्ञप्ति-भुक्ति आदि क्रिया का कर्तृत्व आत्मा मे मानना होगा। तव तो तत् तत् क्षणभेदेन आत्मा मे स्वभावभेद प्रसक्त होगा। स्वभावभेद होने पर आत्मा मे अप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावरूप कूटस्थ नित्यत्व वाधित होगा। अत क्रमश अर्थक्रियाकारित्व एकान्त नित्य आत्मा के स्वीकार मे अनुपपन्न ही रहता है। यहाँ यह भी नही कहा जा सकता हे कि→''भले आत्मा सकल अर्थक्रिया को क्रमश न करे, मगर एक ही क्षण मे सकल अर्थक्रिया का कर्तृत्व तो आत्मा मे हो सकता है। एक क्षण मे सकल अर्थक्रिया का कर्तृत्व मानने पर तो भिन्न-भिन्न क्षणअवच्छेदेन स्वभावभेद की आपत्ति आर तन्मूलक कूटस्थनित्यत्वव्याहति-ये दोप प्रसक्त होने की कोई सभावना ही रहती नही हे''←क्योकि एक साथ सर्वार्थक्रिया का कर्तृत्व तो आत्मा मे प्रत्यक्ष से वाधित है। प्रत्यक्ष से ऐसा दिखायी पडता है कि आत्मा पहले उठने की क्रिया करती है, वाद मे मुँह धोने की, वाद मे टट्टी जाने की वाद मे अखवारपत्र पढने की, वाद मे नास्ता करने की, वाद मे ऑफिस जाने की इत्यादि क्रिया करती है। एक ही काल मे तो सव क्रिया होती नही हे। प्रत्यक्ष वाधित होने से युगपत् सव अर्थक्रिया का कर्तृत्व आत्मा मे माना जा नही सकता।

● एकान्तक्षणिकपक्ष मे भी अर्थक्रिया अशक्य - स्याद्वादी ●

एकान्तानि० इति। श्रीकलिकालसर्वज्ञ हेमचद्रसूरीश्वरजी महाराजा वीतरागस्तोत्र के अष्टम प्रकाश की चतुर्थ कारिका के उत्तरार्ध से एकान्त क्षणिकवादी के सिद्धात की खाल उतारने के लिए उसके पक्ष मे दोप को कहते हैं कि - आत्मा को एकान्त क्षणिक मानने पर भी अर्थक्रिया की सगति हो सकती नही हे। इसका कारण यह है कि क्षणैकमात्रजीवी आत्मा क्रमश तो अर्थक्रिया कैसे कर सकेगी? क्रमश करने का मतलव यह है कि भिन्न-भिन्न अनेक क्षण मे एक ही आत्मा के द्वारा भिन्न-भिन्न क्रिया का होना। सव आत्मा वोद्ध के मत मे एक ही क्षण रहती है, तव अनेक क्षण मे होनेवाली क्रिया को क्षणिक आत्मा करे-

★ जयलता ★

नापि तादात्म्यम्, तस्याऽनभ्युपगमात्, अन्यथा अनेकान्तवादप्रवेशो योगस्य। नाऽपि समवायलक्षणः, स ह्येकः सर्वगतश्च परैरिष्यते। कथं तद्वशात् तत्रैव तस्य भावः नान्यत्रेति। अथ समवायस्य सर्वगतत्वाऽविशेषेऽपि समवायिना प्रतिनियमः प्रत्यासत्तिविशेषसद्भावादिष्यते। स कोऽन्योऽन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात्। नाप्युकार्योपकारक लक्षण', उपकारकेण ह्युपकार्यस्योपकारः क्रियमाणोऽव्यतिरिक्तो व्यतिरिक्तो वा? अव्यतिरेके नित्यस्याऽपि कार्यत्वम्, व्यतिरेके सम्बन्धासिद्धिः। अथोपकारकेणाऽप्युपकारान्तर विधीयते, तर्हि तेनाऽप्यपर तेनाऽप्यपरमित्यनवस्था। नाऽप्यदृष्टलक्षणः, तस्य सम्बन्धरूपताऽभावात्। तत्र व्यतिरेकपक्षोऽपि घटते। कथञ्चित्पक्षोऽपि न श्रेयान्, उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुद्धारात्। तत्रोपकारकत्वेन सहकारिणः स्यु'। नाऽप्येकार्थकारित्वेन, न खलु स्वरूपेणाऽकारक पररूपेण कारकम्। स्वयमकारकस्य पररूपेणाऽप्यकारकत्वात्। न हि गोधूमबीज स्वयं यवाङ्कुरस्याऽकारक यवसहितमपि तस्य कारक नाम।

किञ्च, यदि सहकारिभिः नित्यस्य न किञ्चित् क्रियते, तर्हि कथ तेषामपेक्षा ? अनुपकारिणामपेक्षाऽयोगात् । ननु न नित्यस्य सहकारिभिः किञ्चित्क्रियते, तेन वा तेषाम्, किन्तु सह मिलित्वा कार्यमेव विधीयते, सह कुर्वन्तीति सहकारिण इति व्युत्पत्तेरिति चेत् ? उच्यते, व्यस्ताना तेषा कार्यकरणसामर्थ्यमस्ति[A] न[B] वा ?[A] यद्यस्ति, समुदिता एव कुर्वन्तीति नियमो न लभ्यते, व्यस्ता अपि कुर्वन्ति । [B]अथ नास्ति, कुतस्तद्भवेत् ? कारणाऽभावात्, अन्यथा अनित्यत्वप्रसङ्गात् ।

ननु न नित्यस्य पदार्थस्य कुतश्चित्कार्यकारणसामर्थ्यमुपजायते, येन तस्याऽनित्यत्वमापद्येत, किन्तु तस्येत्यम्भूतस्वभावो येन सहकारिसहित एव कार्यं करोति, नान्यदेति चेत् ? स स्वभावस्तस्य भावस्य [1]निर्हेतुकः [2]सहेतुको वा ? [1]प्रथमपक्षे नियते देशे नियते काले च तस्य सद्भावो न स्यात् । न खल्वाकस्मिकस्य तथासद्भावः कारणाधीनत्वात्तथाभावस्य । [2]अथ सहेतुकः, स यदि सहकारिभ्योऽन्यतो वा भवेत् ? स चेत् तस्मात् तदनर्थान्तरम्, तदा तस्याऽनित्यत्वम् । अर्थान्तरपक्षस्य कथञ्चित्पक्षस्य च पूर्वमेव निराकृतत्वात् ।

किञ्च सहकारिणः किं नित्या अभ्युपगम्यन्ते अनित्या नित्यानित्यरूपा वा ? प्रथमे विकल्पे नित्यवत् प्रसङ्गः । द्वितीये काचपिच्यम् । तृतीयस्तु न श्रेयान्, अनभ्युपगमात् । तत्र नित्यस्य पदार्थस्य देशक्रमेण कार्यकारित्व घटते ।

नाऽपि कालक्रमेण, कालक्रमस्याऽपि नित्यैस्वभावस्य भावस्याऽसम्भवात् । स ह्येकदा काले कार्यं कृत्वा पुनः कालान्तरे कार्यकरणमुच्यते । न च नित्यैकस्वभावस्य भावस्येत्यम्भूतः कालक्रमो घटते, सर्वथानित्यत्वव्याघातप्रसङ्गादिति । कालक्रमेणाऽपि न कार्यकारित्व घटते । नाऽपि योगपद्येन, योगपद्य ह्येकस्मिन् क्षणे कालन्तरभाविसकलकार्यकारित्वम् । तत्र च क्रमेण कार्योपलम्भो न स्यात् । अस्ति च कार्योपलम्भः (क्रमेण) । तथाहि- अन्त' तावदात्मनः स्रक्चन्दनवनितादिसामग्रीसन्निपाते सुखलक्षण कार्यमुपलभ्यते ।अहिकण्टकविषादिसन्निधौ तु दु'खम् । न पुनर्यस्मिन्नेव क्षणे सौख्य तस्मिन्नेव क्षणे दु'खम्, तयोपलम्भाऽभावात् । उभयसामग्रसन्निधाने तु औदासीन्यम् । तथा बहिरपि मृत्पिण्डात् कुम्भकारव्यापारचक्रचीवरादिसामग्रीसन्निपाते घटस्ततो घटी ततः कालान्तरे करकादिकमिति । न पुनरेकस्मिन्नेव क्षणे सर्वम्, तयोपलम्भाभावात् ।किञ्च, यदि यौगपद्येन कार्यं करोति तर्ह्येकस्मिन्नेव समये सकलस्य कार्यकदम्बकस्य निष्पादितत्वात् द्वितीयादिक्षणे कार्याऽकर्तृत्वेनाऽवस्तुत्व स्यात् ।

ननु च पुरुषस्य चेतनैवाऽर्थक्रिया, न पुनः तद्व्यतिरिक्तस्य प्रमाणप्रमितिलक्षणस्य कार्यस्याऽन्यस्य वा अयनादिलक्षणस्य कर्तृत्वमिष्यते, तस्य प्रधानहेतुकत्वात् । न च चेतना पुसोऽर्थान्तरमेव, तस्य चेतनालक्षणत्वात्, 'चैतन्य स्वरूप पुरुषस्ये'ति वचनात् । न चाऽनित्या चेतना पुरुषस्वभावः तन्नित्यत्ववत् सा नित्या तस्या' प्रधानस्वभावत्वेन पुरुषकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, तदनित्यत्वप्रसङ्गाच्च सुखादिवत् । न च नित्याया' चेतनाया परस्याऽर्थक्रियाकारित्व विरुध्यते, धात्वर्थरूपायाः क्रियायाः प्रतिघाताऽभावात्, सत्तावत् । ततोऽर्थक्रियास्वभावत्वादात्मनो

● रमणीया ●

यह तो नामुमकिन ही हे, अन्यथा असत् नरपुच्छ मे भी क्रियाकर्तृत्व मानना होगा। जेसे क्रमश अर्थक्रिया का कर्तृत्व क्षणभगुर आत्मा मे असभव हे, ठीक वैसे ही युगपत् = एक साथ सब अर्थक्रिया का कर्तृत्व प्रतीतिबाधित हे। यह तो नित्य आत्मवादी के पक्ष मे युगपत् सकलार्थक्रियाकारित्व के खडन मे अभी ही हम बता चूके है। अत दोहराकर उसका यहाँ कथन करना पाठक महाशय के अमूल्य समय को यूँ ही व्यतीत करना समझते है। अत उसका पुन बयान दिया जाता नही है। जो प्रतीतिबाधित हे, उसका अगीकार हो नही सकता, चाहे अनुमान से भी उसकी सिद्धि करने का प्रयास क्यो न किया जाय ? अन्यथा 'अनुष्णो वह्नि' इत्यादि का भी स्वीकार करना होगा। क्षणिक आत्मा मे युगपत् सकलार्थक्रियाकर्तृत्व बाधित होने से माना जा नही सकता। इस तरह क्षणमात्रजीवी आत्मा मे न तो क्रमश अर्थक्रिया सभवित है, न तो युगपत्। इन दो प्रकारो को छोड कर तीसरा कोई मार्ग नही है, जिसके जरिये अर्थक्रिया का कर्तृत्व क्षणिक आत्मा मे माना जाय। अत सिद्ध होता हे कि क्षणिक आत्मा मे

★ जयलता ★

वस्तुत्वमेव । न ह्यर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वम्, अर्थक्रियायाः स्वयमवस्तुत्वापत्तेः, तत्राऽर्थक्रियान्तराभावात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात् । स्वतोऽर्थक्रियाया वस्तुत्वस्वभावत्वे पुरुषस्यापि स्वतः सततमर्थक्रियास्वभावत्वाश्रित्य वस्तुत्वमस्तु, क्रियाविरहेऽपि नित्यकारकत्वस्याऽपि घटनादिति साङ्ख्यः कश्चित् । सोऽपि न दक्षः, प्रमाणविरोधात् । अध्यक्षतो लिङ्गजादेर्वा नित्यार्थक्रियायाः कदाचिदपरिवेदनात् । 'स्वसवेदनमेव नित्यचेतनार्थक्रिया परिच्छिनत्ति' इति चेत् ? न तथा तद्बुद्ध्याऽनध्यवसायात् । न खलु बुद्ध्याऽनध्यवसिता चेतना पुरुषः चेतयते, बुद्धिपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । सर्वस्य शब्दादेर्विषयस्य बुद्ध्यध्यवसितस्यैव पुसा सवेद्यत्वसिद्धेः । स्यान्मतम् न चेतना नाम विषयभूतार्थान्तरमात्मनोऽस्ति या बुद्ध्याऽध्यवसीयते, तस्याः तत्स्वरूपत्वात्, स्वतः प्रकाशनाच्चेति, तदप्यनुपपन्नम्, तदर्थक्रियाकारित्वायोगात् । न ह्यर्थक्रियावत् स्वरूपमेव सदवस्थाऽप्यर्थक्रिया प्रसिद्धाऽस्ति, तस्याः पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानेन च तस्मिन् परत्र च प्रतीतेः । सोऽय पूर्वापरस्वभावपरिहाराऽवाप्तिलक्षणाऽर्थक्रिया कौटस्थ्येऽपि शृण्वाणः कथमनुन्मत्तः स्यात् ? ततः एकान्तनित्यत्वे प्रेक्षादक्षैरर्थक्रियासमर्थत्व यथा यथा विचार्यते तथा तथा विशीर्यते ।

अथ बौद्धः प्राह- नित्यैकान्ते पूर्वोक्तप्रकारेणाऽर्थक्रियाकारित्वस्याऽसम्भवादस्मत्पक्षः एव क्षणिकैकान्तलीनः श्रेयान् । तदपि न, तत्रापि तस्याऽसिद्धेः । तथाहि नास्ति क्षणिकैकान्तोऽनर्थक्रियाकारित्वात् । यद् यदनर्थक्रियाकारि तत् तन्नास्तीत्युपलब्धम्, यथा ब्रह्माद्वैतम् । अनर्थक्रियाकारी च क्षणिकैकान्तः, तस्मान्नास्तीति निश्चीयते । न चाऽनर्थक्रियाकारित्वादित्यय हेतुरसिद्धः, तत्क्षणिकैकान्ते विद्यमानत्वात् । तथाहि सर्वथा क्षणिकः पदार्थः स्वामर्थक्रिया क्रमेण करोति यौगपद्येन उभयरूपेण वा ? न तावद्देशक्रमेण कालक्रमेण वा स्व कार्यं कर्तुमलम्, तस्याऽक्रमत्वात् । न चाऽक्रमस्यापि क्रमेण कार्यकारित्व घटते, सर्वथा नित्यवत् । नाऽपि यौगपद्येन, एकस्मिन्नेव क्षणे सकलकार्यकदम्बकस्य निष्पादितत्वात् द्वितीयादिक्षणे क्षणिकत्वे तस्याऽसत्त्वात्सकलशून्यता स्यात्, न चैवम् ।

किञ्च, यदि यौगपद्येन कार्यं करोति तर्हि क्रमेण कार्योपलम्भो न स्यात् । अस्ति च, कुम्भकारः एकस्मिन् क्षणे घट कुर्वन्नुपलभ्यते, द्वितीयादौ घट्यादिकमिति । नाऽप्युभयरूपेण, उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गात् । करोतु वा यथाकथञ्चित्, किं विद्यमानोऽविद्यमान उभयरूपो वा करोति ? न तावद् विद्यमानः, क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । किञ्च, यदि सन्नेव क्षणिकः पदार्थः कार्यं करोति तर्हि त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात्, करणकाल एव सर्वस्योत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य सत्त्वात् तेथा च सन्तानाभावः स्यात् । नाऽप्यविद्यमानः, चिरतरविनष्टत्वात् । नाऽप्युभयरूपः, उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गात् । एवमेकान्तक्षणिकत्वपक्षेऽपि नाऽर्थक्रियाकारित्व घटाकोटिसण्टङ्कमाटीकते । तस्मादेकान्ताभिनिवेशः परतीर्थिकाना कदाशापाश एव' [वी स्तो वि पृ ७०] इति ।

अवचूर्णौ तु- "यदि घटो नित्यस्तदा जलाहरण न करोति, कुतः ? नित्य एकरूप एव, न तु रिक्तभृताद्यवस्थावैचित्र्य भजते । तथा पदार्थानामेकान्तक्षणिकत्वे विनश्वरत्वेऽप्यर्थक्रिया जलाहरणादिका न घटते, बहुक्षणनिष्पाद्यत्वात् तस्याः, अर्थक्रियाया अभावे चाऽसत्त्वमेव" [वी स्तो अव पृ ७४] इति गदितम् ॥ ॥४॥

[1]कल्याणबोधिकन्दाय, [2]मुक्तिवल्लभमूर्तये । [3]युगसुन्दरपुण्याय वामेयाय नमो नमः ॥१॥
पार्श्वनाथप्रभावाद्धि, कृपायाः सद्गुरोस्तथा । सरस्वतीप्रसादाच्च दुष्करं मे न किञ्चन ॥२॥

[इति प्रथमः खण्डः]

● रमणीया ●

किसी भी तरीके से अर्थक्रियाकारित्व उपपन्न हो नही सकता । बौद्ध का तो सिद्धात है कि जो अर्थक्रियाकारी होता नहीं है वह नरपुच्छ की भाँति असत् होता है । क्षणभगुर आत्मा मे भी अर्थक्रियाकारित्व का उपर्युक्त रीति से अभाव सिद्ध होने के सबब आत्मा का मूलत ही उच्छेद हो जायेगा, जो कि सौत्रान्तिक, वैभाषिक को अभिमत भी नही है एव लोकविरुद्ध और प्रतीतिविरुद्ध भी है । अतएव योगाचार और माध्यमिक(बौद्धविशेष) का मत भी अप्रामाणिक सिद्ध होता है । इस तरह आत्मा को एकान्त नित्य और एकान्ताऽनित्य मानने मे उपर्युक्त अनेक दोष प्राप्त होने से उसे कथचित् नित्यानित्य मानना ही महसूस होता है । यह आद्य चार कारिका का तात्पर्य है ।

[प्रथम खण्ड पूर्ण]

[1] अनेन टीकाकृता विश्वकल्याणविजयस्य स्वगुरो तथा कल्याणबोधिविजयस्य स्वकल्याणमित्रस्य सूचनमकारि ।
[2] मुक्ते = मुक्तिकन्याया वल्लभा = प्रिया मूर्ति = अकृति, यस्य स तथा, तस्मै । अनेन मुक्तिदर्शनविजयनाम्न मुक्तिवल्लभविनयाभिधानस्य च निजकल्याणमित्रस्योल्लेख टीकाकारेण कृत ।
[3] युगे = कलियुगे सुन्दर = अतिशायि पुण्य यस्य स तथा, तस्मै । अनेन श्रीपार्श्वनाथप्रभावप्रतिपादन कृतम् । अनुपक्षत् युगसुन्दरविजयनाम्नो निजकल्याणमित्रस्य तथा निसर्गत परार्थरसिकस्य पुण्यरत्नविजयाभिधानस्य स्वोपकारिण ग्रहण व्याख्याकृता कृतम् ।

* परिशिष्ट–१ *

श्रीवीतरागाय नम

न्यायविशारदन्यायाचार्यवाचकपुगवश्रीमद्यशोविजयगणिगुम्फितम्।

(बृहत्)

स्याद्वादरहस्यम्

सकलवाचककुलकोटीरहीरमहोपाध्यायश्री ५ श्रीकल्याणविजयगणिशिष्यपर्षत्तिलकपडित श्री५ श्रीलाभविजयगणिशिष्यमुख्यपडित श्री जीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखरपडितश्रीनयविजयगणिगुरुभ्यो नम ।

(मङ्गलम्)

ऐँकारस्फारमन्त्रस्मरणकरणतो या स्फुरन्ति स्ववाच ।
स्वच्छा एताश्चिकीर्षु सकलसुखकर पार्श्वनाथ प्रणम्य ॥
वाचाटाना परेषा प्रलपितरचनोन्मूलने बद्धकक्षो
वाचा श्रीहेमसूरेर्विवृतिमतिरसोल्लासभाजा तनोमि ॥१॥
श्रीविजयदेवसूरिर्विराजते देवसूरिरिव विजयी ।
उपजीवन्ति यदीया सहस्रशो धियमिमे विबुधा ॥२॥
श्रीविजयसिहसूरे साहायकमुद्यते समाकलयन् ।
तत्पट्टोदयतरणे परमततिमिर निराकर्तुम् ॥३॥

इह हि निखिलकुवादिकुतर्कसतमसछन्न जगत शुद्धनयलोचनमुन्मिमीलयिषव परार्थैकरसिका श्रीहेमसूरयो यथावस्थितार्थव्य–वस्थितिपीयूषाञ्जनशलाकामेव तत्प्रतिकारमधिगम्य तदर्थमुपदेशयाथात्म्यव्यक्तिविज्ञप्तिभग्या भगवन्त स्तोतुमुपक्रमन्ते स्म 'सत्त्वस्ये'त्यादिना

(वीतरागस्तोत्र–अष्टमप्रकाश)

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे कृतनाशाऽकृतागमौ ।
स्यातामेकान्तनाशेऽपि कृतनाशाकृतागमौ ॥१॥

(विप्रतिपत्तिस्वरूपविचार)

अत्र 'सत्त्वमेकान्तनित्य न वे'ति न विप्रतिपत्ति , स्वमते एकान्तनित्यत्वकोटचप्रसिद्धे ,किन्तु 'नित्यत्वमनित्यवृत्ति न वाऽनित्यत्व नित्यवृत्ति न वे 'त्यादिरूपा। न चेवमपि तद्भावाऽव्ययत्वरूप नित्यत्व परमतेऽप्रसिद्धमिति वाच्यम्, नित्यत्वव्यवहारविषयत्वेनेव तस्योपन्यासात्। वस्तुतस्त (दभा ?)द्भावाऽव्ययत्वमपि ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वपर्यवसन्नमेवान्यथासिद्ध्यसिद्धिभ्या व्याघातात्, अतो नोक्ताऽप्रसिद्धि न चैव गुरुधर्म्मस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वादनित्यघटादौ ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदक–कम्बुग्रीवादिमत्त्वसत्त्वात्सिद्धसाधनम्, अवच्छेदकत्वत्व–प्रकारकावच्छेदकत्वज्ञानस्यैव गौरवज्ञानप्रतिबध्यतया सासर्गिकप्रतियोगितावच्छेदकत्वज्ञानस्य तदप्रतिबध्यत्वात्, गुरुधर्मस्यापि प्रतियोगितावच्छेद–कत्वात् । न च गौरवज्ञाने सति कम्बुग्रीवादिमत्त्वे दण्डकार्य्यतावच्छेदकत्वमित्यवच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नविशेष्यताकज्ञानस्याप्यनुदयाद–वच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नविषयताकज्ञानस्यैव तथात्वात्सासर्गिकविषयतातिरिक्तविषयतानिवेशे गौरवाद् गुरुधर्मे न तथात्वमिति वाच्यम् तथापि प्रकारतावच्छेदकत्वज्ञानवत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वज्ञानस्यानुभवविरोधेन तदऽप्रतिबध्यत्वात्। वस्तुतोऽत्रावच्छेदकत्वमनन्तर्भाव्य 'ध्वसाऽप्रतियोगित्व ध्वसप्रतियोगित्वसमानाधिकरण न वे ' त्यादिविप्रतिपत्तौ न काप्याशङ्का ।

(एकान्तनित्यवादे कृतनाशदोषारोप)

सत्त्वस्य=पदार्थत्वेनोभयमतसम्प्रतिपन्नस्य, 'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्ये'ति व्याख्यान तु स्वमतावष्टम्भेन शोभते परमते धर्मितावच्छेदकाऽनिश्चयात्। एकान्तनित्यत्वे=नित्यत्वाऽसम्भिन्ननित्यत्वे 'ऽभ्युपगम्यमान'इति शेष । कृतनाशो=घटादिपर्यायाणा कुम्भकारादिकृताना सर्वथानाश स्यादनित्यस्य नित्यत्वविरोधात्, घटादीनामनित्यत्वे च बहुवादिनामविवादात्। परमाणूनामाकाशादीना च सर्वथा नित्यत्व, स्थूलपृथिव्यादिचतुष्टयस्य तु सर्वथाऽनित्यत्वमिति हि परमतनिगर्व । एतच्च प्रत्यक्षविरुद्ध, न हि कम्बुग्रीवत्वादिनेव मृत्त्वेनापि घटो नष्ट इति कश्चित् प्रत्येति, प्रत्युत पूर्वमयमेव मृत्पिडस्तत्कम्बुग्रीवत्वादिनासीदिति सर्वोऽपि प्रत्यभिजानीते। न चेय विशेषणाऽभावमेव विषयीकुरुते, लडर्थाऽतीतत्वस्यान्वयस्य

घात्वर्थ एव व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । कम्बुग्रीवत्वावच्छिन्नध्वसप्रतियोग्यरितत्ववति मृत्पिडे घटाऽभेदस्याऽबाधितप्रत्यभिज्ञानात् । 'कुण्डली दण्डे नासीदि'ति प्रतीत्या विलक्षणाभावसिद्धेरपीष्टत्वात् ।

यत्तु—'यदि ह्यतीतविशेषणावच्छेदेन विद्यमानस्येव विशेष्यस्य ध्वस स्यात्तदा क्षणस्यातीतविशेषणावच्छिन्नत्वेन प्रतिक्षण घटस्य विनाश स्यादि'त्यभिदधे मणिकृता—तत्तु तादृशक्षणभङ्गस्य दोषानावहत्वात्तदीयैरेव दूषितम् । यदपि 'कपालादिसमवेतनाग प्रति कपालादिनाशस्य कारणत्वात्कथ कपालादिनाशादर्वागतीतविशेषणावच्छेदेनापि घटध्वससम्भव' इति, तदपि तुच्छ, उत्पन्नकपालकदम्बकम्पस्य घटनाशस्य तदानीमनभ्युपगमात् । तत्तत्क्षणावच्छिन्नघटादिनाशस्य तु तत्तत्क्षणोत्तरसमयविशिष्टमृद्द्रव्यस्यस्याऽऽगन्तुकोपाधिजन्यत्वात्कपाल—नाशात्पूर्वं सम्भवे बाधकाऽभावात्।

कश्चित्तु—ससर्गावच्छिन्नकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याभावस्यात्यन्ताभावत्वनियमान्न प्रागुक्तप्रतीतेर्विशेषणावच्छिन्न—विशेष्यध्वसविषयत्वमिति, तत्तुच्छ, यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्य विपत्तिस्तस्येव प्रध्वसत्वाऽभ्युपगमात् । ननु 'यदुत्पत्तावि'त्यत्र मप्तम्यर्थ पूर्वकालत्व, निमित्तत्व वाऽनुपपन्नम्, कपालपालेरुत्पत्ते प्रागुत्तर वा घटविपत्तेरनभ्युपगमात्तदुत्पत्तिसमय एव प्रत्युत तदभ्युपगमात् । किञ्च, विपत्तिपदार्थस्याप्यत्राऽपरिचयस्तस्य प्रध्वसातिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्, न चोत्पन्नस्य यस्य यदुत्पत्तौ सत्या योग्यानुपलब्धि स तस्य प्रध्वस इत्यत्र तात्पर्यम्, अयोग्यध्वसेऽतिव्याप्ते । एतेन 'विपत्तिव्यवहारव्याप्योत्पत्तिकत्वमपि तल्लक्षण' परास्तमिति चेत् ? मैव 'यदुत्पत्त्यधिकरणे उत्पन्नस्य यस्यावश्यमभाव स तस्य प्रध्वस इत्यर्थे दोषाऽभावात् । न चेवमवश्यपदवेयर्थ्यं पूर्वोत्पन्नेऽतिव्याप्तिवारणाय व्याप्यत्वार्थकम्य तम्य साफल्यात् ।

तत्र ऋजुसूत्रनये उपादेयक्षण एवोपादानप्रध्वस । न च द्वितीयादिक्षणेष्वेव ध्वसस्याभावेन घटस्य पुनरुन्मज्जनापत्ति, ध्वससतानाभावस्येव तदापादकत्वात् । अत एव प्रागभावस्यापि पूर्विलतत्तत्क्षणरूपत्वेऽपि नादिमक्षणरूपप्रागभावोपमर्दनात्मकत्वेन द्वितीय—क्षणस्य प्रतियोगित्वप्रसङ्ग , प्रागभावसन्तानोपमर्दनेनेव प्रतियोग्यात्मलाभात् ।

व्यवहारनये तु घटोत्तरकालवर्त्तिमृदादिस्वद्रव्य घटप्रध्वस । घटपूर्ववर्तिनि मृदादिस्वद्रव्येऽतिव्याप्तिवारणाय 'घटोत्तरकालवर्ती'ति। घटोत्तरकालवर्त्तिन्यपि मृदादिसन्तानान्तरे तद्वारणाय 'स्वे'ति । समनियताभावस्त्वेक एवेति भाव । एतेन 'कपालस्यैव घटध्वसरूपत्वे घटप्रागभावकालेऽपि 'घटो नष्ट' इति प्रतीति स्यादि'ति दूषणमनवकाश वेदितव्यम्, विशिष्टकपालस्य प्रागसत्त्वात् । विशिष्टाऽविशिष्टयो कथञ्चिद्भेदस्तु सुप्रतीत एव, क्षणभङ्गाद्यापत्ते सर्वथा भेदपक्ष एव दूषकत्वाद् । न चेव दु खध्वसस्याप्यात्मरूपत्वेनाऽजन्यत्वान्मोक्ष—स्याऽपुरुषार्थत्वापत्ति, स्याद्वादिभिरात्मनोऽपि कथञ्चिज्जन्यत्वाऽभ्युपगमात् ।

अथैव 'भूतले कपालकदम्बकमि'तिवद् भूतले घटध्वस' इत्येव प्रतीति स्यान्न तु 'कपाले कपालमि'तिवत् 'कपाले घटध्वम' इति चेत्? न, प्रतीतिबलेन घटध्वसत्वविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्य कपालत्वेऽपि स्वीकारादिति सम्प्रदायपरिष्कार । नन्वेव भावरूपत्वे ध्वसस्य नि प्रतियोगितापत्ति, न चेष्टापत्ति, 'घटो ध्वस्त' इत्यादितो 'ध्वसप्रतियोगी घट' इत्यबाधितानुभवात् । एतेनाभावव्यवहार एव सप्रतियोगिको न त्वभाव इति निरस्तम्, अनुभवव्यवहारयो समानप्रकारकत्वेन कार्यकारणभावात्तदननुभवे तदव्यवहारप्रसङ्गाच्चेति चेत् ?

(प्रतियोगिताविचार)

किमत्र प्रतियोगित्वम् ? न तावत्सहानवस्थाननियमस्य विरोधित्वम्, अव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रागभावादिप्रतियोगितायामव्याप्ते । न चैकदेशकालावच्छेदेनेति विशेषणान्नाय दोष इति वाच्यम्, अन्योन्याभावप्रतियोगिताया तथाप्यव्याप्ते । 'सम्बन्धान्तरेण वह्न्यभाववति सम्बन्धान्तरेण वह्नेर्वृत्तेस्तेन सम्बन्धेन तदभाववति तेनाऽवृत्तो वक्तव्याया तेनाऽसम्बद्धत्वोक्तौ नाय दोष । 'एकदेशकालावच्छेदे'त्यस्य च दैशिकावच्छेदकतया तदभावशून्येनानवच्छिन्नत्वे सति कालिकावच्छेदकतया तदभावशून्येनानवच्छिन्न यत्सम्बन्धित्वमित्यर्थात्र गोत्वाऽभावाद्यव—च्छेदकाऽप्रसिद्धिप्रयुक्तोऽपि दोष" इति चेत् ? न, प्रागभावादिप्रतियोगिताया सावच्छिन्नत्वेऽपि घट प्रागभावाभावस्य घटप्रागभावरूपतया तत्प्रतियोगिताया व्याप्तेस्तदभावत्वविशिष्टाधिकरणतोक्तावपि गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताभाववति तस्याऽवृत्तेस्तत्प्रतियोगितायामव्याप्ते ।

अथ—'यद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणतात्वावच्छिन्नाभावत्व यद्धर्मावच्छिन्नाभावत्वविशिष्टाधिकरणतावत्यनवच्छिन्नविशेषणतया वर्तमानस्याऽभावस्य प्रतियोगितानवच्छेदक—तद्धर्मवत्त्व तद्धर्मावच्छिन्नाभावप्रतियोगिते'ति निष्कर्ष । तेन न घटस्य पटाभाववद्घटाऽवृत्तितया घटाधिकरणत्वगगनोभयाभावत्वेन मेयत्वेन वा घटाधिकरणत्वाभावस्य पटाभावव्यापकत्वेन च पटाभावप्रतियोगितापत्ति । न वा घटभेदसम्बन्धि—सबन्धित्वस्यैव लाघवेन प्रतियोगितावच्छेदकत्वाद्देशतयाऽनवच्छेदकानवच्छिन्नत्वे सति कालतयाऽनवच्छेदकानवच्छिन्नघटभेदसम्बन्धि—सम्बन्धित्वावच्छिन्नाभावाप्रसिद्धेर्घटे घटभेदप्रतियोगिताऽनापत्ति न वा सत्ताभाववति समवायेन वृत्तित्वाऽप्रसिद्ध्या सत्ताभावप्रतियोगिता—यामव्याप्ति, स्वसम्बद्धाधिकरणाऽवृत्तितत्कत्वविवक्षाया च सत्ताभाववत्यभावतानियामकसमवाये वृत्तित्वाऽप्रसिद्ध्या सत्ताप्रतियोगिताया ग ।। प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेनाधिकरणतोक्तेरावश्यकत्वे व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभावप्रतियोगितायामव्याप्ति परमवशिष्यते, सापि प्रति—योगितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नीयत्वविशिष्टाधिकरणत्वीयविशेषणतया स्वाधिकरणत्वविवक्षया निरसनीया इति चेत् ?

न, तथापि पृथिवीत्वे द्रव्यत्वाभावप्रतियोगितापत्ते । नियमपदस्य व्याप्यत्वार्थकत्वेऽपि तत्र घटत्वाभावप्रतियोगित्वापत्ते । एतेन

'यादृशसम्बन्धसामान्ये यद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वयदभावाधिकरणानुयोगिकत्वोभयाभावस्तद्धर्मवत्त्व तद्धर्मावच्छिन्नतत्सम्बन्धावच्छिन्नतदभाव-प्रतियोगिते'ति दीधितिकृता खडश प्रसिद्ध्या व्यधिकरसम्बन्धावच्छिन्नाभावादिप्रतियोगिताऽव्याप्तिनिरासाय तन्निरुक्तिरपि प्रत्याख्याता, अव्याप्यवृत्त्यभावादिप्रतियोगितायामव्याप्तेश्च ।

अथ 'यद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणतात्वावच्छिन्नाभावत्व स्वविशिष्टव्यापकतावच्छेदकयद्धर्मावच्छिन्नाभावत्वविशिष्टव्यापकतावच्छेदकमि'ति विवक्षाया नोक्तदोष ।व्यापकताघटकात्यन्ताभावादिप्रतियोगिताश्च विशिष्योपादेया इति पृथिवीत्वाधिकरणत्वाभावस्य विशिष्टपृथिवीत्वाभावत्व-विशिष्टवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नाभावाऽसम्भवेऽपि न क्षतिरिति चेत् ? न, तथापि तद्रसे तद्रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगितापत्ते स्वसमानाधिकरणयद्धर्मावच्छिन्नेत्याद्युक्तावपि तत्र तद्रसघटान्यतरत्वावच्छिन्नाभावस्य तदवच्छिन्नप्रतियोगितापत्ते । स्वावच्छिन्नाभावत्वप्रवेशे तु स्वविशिष्टेत्यादिदलवैयर्थ्यं, लाघवेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नतद्धर्मावच्छिन्नाभावस्य तद्धर्म एव प्रतियोगितेति फलितप्रमङ्गाच्च नापि "अभावविरहात्मत्व भावाना प्रतियोगिता" (न्या कु) इत्युदयनाचार्योऽपि चारुविचारचातुरीममालोचनपूर्वमुदचीचरत् । यतोऽभावविरहत्व यद्यभावाभावत्व तदान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकयोरप्रमत्त्ययतिप्रसक्ती। यदि पुनरभावज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयत्व तत्, तदा घटव्याप्ये घटाभावप्रतियोगित्वापत्ति । न च स्वाभावेत्युक्त्या तद्व्युदास तथा सति स्वस्यैव तथावक्तव्यतापातात् । 'स्वस्याभाव' इत्यत्र षष्ठ्यर्थप्रतियोगित्वाऽपरिचयाच्च । तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वविषयतावच्छिन्नतद्धर्मनिष्ठविषयतावच्छिन्नावच्छिन्नत्वविषयतानिरूपिताभावत्वा-वच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावीयविशेषणतानिष्ठसासर्गिकविषयतानिरूपकप्रकारताया तथात्वे तु 'प्रमेय नास्ती'ति प्रतीते प्रमात्वापातात् । तस्मात्प्रतियोगित्व प्रतियोगिस्वरूपमभावस्वरूपमस्तु वा यत्किञ्चिदेतत्, तथापि तव घटाभावाभाव इव भावरूपे नाशे न सप्रतियोगिकत्वसम्बन्ध इति प्रतियोगिताविचार ॥

(ध्वसस्वरूपनिरूपणम्)

स्यादेतत् 'घटोत्तरकालवृत्ती'त्यत्र घटोत्तरत्व यदि घटनाशाधिकरणत्व तदात्माश्रय । यदि तु तदधिकरणक्षणध्वसाधिकरणत्व तदा द्वितीयादिक्षणेष्वेव घटध्वसापत्त्या ऋजुसूत्रप्रवेश ,क्षणध्वसस्य दुर्वचत्वञ्च। एतेन यावद्घटाधिकरणक्षणध्वसाधिकरणत्वमपि परास्तम्, घटाधिकरणभिन्नत्वमित्युक्तावपि चरमसमयोत्पन्नकर्मव्यक्तिमादाय तदुत्तर तद्ध्वसव्यवहाराऽनापत्ति , प्रागभावेऽतिव्याप्तिश्च । एतेन तदुत्तरकालवृत्तित्वमित्यस्य तदधिकरणत्वाभाववैशिष्ट्यावच्छेदेन वृत्तित्वमित्यर्थकत्वमपि प्रत्याख्यात, घटप्रागभावानधिकरणत्वे सति घटाधिकरणत्वस्य तथात्वे तु प्रागभावलक्षणस्य ध्वसानधिकरणत्वे सति घटानधिकरणत्वगर्भपूर्वकालवृत्तित्वघटिततयाऽन्योन्याश्रय इति। अत्रोच्यते स्वद्रव्यमेव ध्वस सर्वत्रानुगतत्वात् । 'घटो ध्वस्त' इत्यादौ तु घटस्य स्वद्रव्ये पूर्वाऽज्ञातमप्युत्तरकालवृत्तित्व ससर्गतया भासत इति क्वाऽऽत्माश्रयादि ? न चैव ध्वसप्रागभावपदयो पर्यायत्वापत्ति , एकव्यवहारजनकत्वाभावात् 'ध्वसवान्' इति शाब्दबोधोत्तर-'प्रागभाववान्वे'ति सशयस्त्विष्ट एवेति । एव च- दृष्टस्तावदय घटोऽत्र निपतन्दृष्टस्तथा मुद्गरो, दृष्टा कर्परसहति परमतोऽभावो न दृष्टोऽपर तेनाभाव इति श्रुति क्व निहिता किं वात्र तत्कारण, स्वाधीना कलशस्य केवलमिय दृष्टा कपालावली ॥१॥ इति व्याख्यातम् ।

अथ 'मुद्गरपाताद्विनष्टो घट' इति तावदनुभूयते, तत्र घटोत्तरकालो वा मृद्द्रव्य वा न तज्जन्य, त विनैव स्वहेतुसमाजात्तदुत्पत्तेरिति चेत् ? न, 'मुद्गरपातावधिकस्वोत्तरकालवृत्तिस्वद्रव्यपरिणामी घट' इति बोधाकारत्वात् ।

प्रमाणार्पणात्तु द्रव्यपर्यायोभयात्मक प्रध्वस , अन्ततो विनिगमनाविरहेण घटोत्तरकालस्यापि तथात्वात्प्रतीतिसाक्षिकत्वाच्च। अत एव "न[1] भवो भगविहीणो भगो वा णत्थि सम्भवविहीणो । उत्पादो वि य भगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण"॥ (प्र सार २-८) इत्यनेन सर्गस्थितिसहाराणा नान्तरीयकत्व प्रत्यपादि । कपालकदम्बकसर्ग एव हि घटसहारो घटसहार एव च कपालकदम्बकसर्ग , तत्सर्गसहारावेव च मृद स्थिति , सेव च तत्सर्गसहारौ । भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनाभावस्य च भावान्तरभावस्वभावेन, अन्वयस्य व्यतिरेकमुखेन व्यतिरेकाणा चान्वयानुल्लघनेन प्रकाशनादिति स्याद्वादरत्नाकरमीमासामासलधियामास्वादसुन्दरो विचार इति ध्वसस्वरूपनिरूपणम् ॥

स्यादेतत्-घटत्वेन घटध्वसस्येवात्मत्वादिनात्मादिध्वसाभावादेकान्तनित्यत्वमात्मादे स्यादिति चेत् ? मैवम्, ध्वसप्रतियोगित्वे सति ध्वसाऽप्रतियोगित्वेनैवैकान्तत्वापायात् । इयास्तु विशेषो यदात्मत्वादिनात्मादेर्नित्यत्व तद्भावाव्ययत्वात्, घटत्वादिना घटस्य तु नाऽतथात्वादिति। मनुष्यत्वादिना त्वात्मादेरपि ध्वसोऽनिवारित एवेति तत्त्वम् ॥

ननु तद्भावाव्ययत्व ध्वसप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वमिति कम्बुग्रीवादिमत्त्वेन घटस्य नित्यत्व स्यादिति चेत् ? न, गुरुधर्मेऽप्यवच्छेदकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात् । वस्तुतो ध्वसप्रतियोगित्व-तदप्रतियोगितयो सयोगतदभावयोरिव समावेशाय शाखामूलयोरिव घटत्वद्रव्यत्वयोरवच्छेदकत्वमतो न काप्याशङ्का ।

अथ कपालनाशादे सामान्यत कपालादिसमवेतनाश प्रत्येव कारणत्वात्प्राचि पक्षे घटत्वेन घटध्वस आकस्मिक इति चेत् ? न, घटपरिणतकपालनाशस्येव घटनाशत्वात् । घटत्वावच्छिन्नस्वाधिकरणतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाववद्वैशिष्ट्यावच्छेदेन कालवृत्तित्व-

---

१- न भवो भगविहीनो भगो वा नास्ति सम्भवविहीन । उत्पादोऽपि च भगो न विना ध्रौव्येणार्थेन॥

घटितस्य घटनाशत्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वाच्च ।

एवं चातिरिक्तनाशकल्पने तदनुरुद्धानन्तकार्यकारणभावकल्पनागौरवमपि बाधकं बोध्यम्। तदुपस्थितिदशायां क्लृप्तस्याप्यतिरिक्तत्व-स्यानन्तरं तदुपस्थितिरूपबाधकापोद्यत्वाच्च ।

तथा 'अकृतागम', पर्यायाणामपि नित्यानामेव सतामागन्तुकत्वात्, अन्यथा पर्यायवतोऽप्यनित्यत्वापत्तौ नित्यत्वपक्षहाने । अथ घटत्वादेरेव कपालादिजन्यतावच्छेदकत्वात्तस्य च परमाणुरूपस्वद्रव्याऽवृत्तित्वान्नाय दोष इति चेत्? न, 'एतानि कपालान्येव घटतया परिणतानी'ति प्रतीत्यावयवावयविनो स्यादभेदसिद्धे तेनैव परिणम्यपरिणामकभावात्। न चैव 'वह्निपरिणतोऽयस्पिड' इति प्रतीत्याऽयस्पिडस्यापि वह्न्यभेदापत्तिस्तदानीमिष्टत्वात् । तदिदमुक्तम् "[२]परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्त"ति। इयांस्तु विशेषो यत्त्वावयवावयविनोरेकप्रदेशभावेनाऽभेदोऽनयो पुनरेकावगाहत्ताभावेनेति ।

(अन्योन्याभावस्याऽव्याप्यवृत्तित्वव्यावस्थापन न्यायमतेन)

नन्वेवमन्योऽन्याभावस्याऽव्याप्यवृत्तित्व स्यादिति चेत्? स्यादेव । कथमन्यथाऽतिरिक्तभेदवादिनोऽपि पक्वदशायां 'घटोऽय न श्याम' इत्यादिशाब्दी प्रतीति ? न हीयं श्यामात्यन्ताभावमेवावगाहते, अव्ययनिपातातिरिक्तनामार्थप्रकारतानिरूपितात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नविशेष्यतया नञ(ञ्)पदजन्यशाब्दबोधे सप्तमीसमभिव्याहृतनञ्पदजन्यपदार्थोपस्थितेर्विशेष्यतया हेतुत्वादत्र च तदभावात् । अथात्र सप्तमीं विनापि नञोऽभाववललाक्षणिकतयाऽत्यन्ताभावावच्छिन्नविशेष्यतया शाब्दबोधो निर्बाध , भेदत्वानवच्छिन्नविशेष्यतया अतिप्रसञ्जिकाया अतथात्वेनात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नविशेष्यताया एव कार्य्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वात्, अत्यन्ताभावत्वावच्छिन्नविषयतया शाब्दबोध प्रति तु पदार्थोपस्थितेरपि तयैव हेतुत्वमावश्यकमन्यथातिप्रसङ्गात्, तथा च सप्तमीसमभिव्याहृतत्वमपि हेतुतावच्छेदककोटौ न निविशतेऽनावश्यकत्वादिति नोक्तदोष इति चेत्? न, अभावत्वप्रकारकनञ्पदशक्तिग्रहादभावत्वेनैवाभावोपस्थितेरभावत्वेनैव शाब्दबोधात्ससर्गावच्छिन्नप्रतियोगिता- कत्वादेरन्वयबल-लभ्यत्वेन परमत्यन्ताभावत्वस्य शाब्दबोधान्त प्रवेश इति ।

अथाभावत्वप्रकारकनञ्पदशक्तिग्रहाहितसंस्कारेण ससर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वांशे उद्बुद्धेनाऽत्यन्ताभावत्व- प्रकारकोपस्थिति-रेवात्यान्ताभावत्वप्रकारकशाब्दबोधजननीति चेत् ? न, तदंशेऽनन्तोद्बोधककल्पनामपेक्ष्य क्लृप्तशाब्दबोधजनकतावच्छेदककोटौ सप्तमी-समभिव्याहृतत्वनिवेशस्यैवोचितत्वात्, तवापि सप्तमीसमभिव्याहारस्यैव नियततदुद्बोधकत्वकल्पनौचित्येन कथमितस्त विना तथा धी ? एतेनाऽखण्डोपाधिरूपात्यन्ताऽभावत्वान्योन्याभावत्वयोर्नञ्पदशक्यतावच्छेदकत्वमतेऽपि 'घटो न श्याम' इत्यादितोऽत्यन्ताभावत्वप्रकारकोपस्थिति परास्ता, अन्यथा 'घटो न घट' इत्यस्यापि प्रसङ्गात्। अव्ययनिपातातिरिक्तत्ववन्मत्वर्थप्रत्ययप्रकृत्यतिरिक्तनामार्थप्रकारकात्यन्ताभावबोध एव सप्तम्यास्तन्त्रत्वाद् ' न सयोगवानि'त्यादौ सयोगात्यन्ताभावबोध सुघट एवेत्यप्यतिमन्दम्, ' घटो न श्याम' इत्यत्र श्यामपदस्य श्यामत्वविशिष्टे लाक्षणिकत्वात्तवापि तद्बोधनापत्ते , स्फुटगौरवाच्च ।

किञ्च, मतुवर्थविशेषणत्वेनान्वितस्य सयोगादेर्विशेषणत्वेनाभावेऽन्वयो दुर्घटो निराकाङ्क्षत्वात्। तद्विशेष्याऽविशेषणकतद्विधेयकशाब्दबोधे तद्वृत्तपदसमभिव्याहृतपदजन्यतदितराऽविशेषणकतदुपस्थितेर्हेतुत्वात्। तद्विशेष्याविशेषणकतद्विधेयकत्वञ्च तद्विधेयतानिरूपितप्रकारताऽ-निरूपिततद्विधेयतानिरूपितोद्देश्यताकत्व, नाऽतो 'नीलघटवद्भूतलमि'त्यत्र नीलविशेष्यस्य घटस्य विशेषणत्वेऽपि क्षति ।

वस्तुत 'कपिसयोगवान्न'त्यादिसमभिव्याहारस्य सयोगवद्विधेयकाभावोद्देश्यकबोध एव हेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात्सयोगविधेयकाभावोद्देश्यक-बोधहेतुत्वकल्पने गौरवमेव । एतेन 'नीलघटवद्भूतलमि'त्यतो भूतले नीलविशेष्यविशेषणकनीलविधेयकबोधापत्त्या न प्रागुक्तहेतुहेतुमद्भाव सम्भवी'त्युक्तावपि न क्षति , अनुमितिविशेषे परामर्शविशेषवच्छाब्दबोधविशेषे समभिव्याहारविशेषस्य हेतुत्वेनानतिप्रसङ्गात् ।

स्यादेतत्–'इदानीं घटो न श्याम ' इत्यत्र नञो वैधर्म्यमर्थस्तत्र च वृत्तिमति भिन्ने च खडशो वृत्तिरिति श्यामत्वविशिष्टवृत्तिमति विशेषणावच्छेदककालावच्छिन्नाधेयतया वृत्तिमान्, भिन्ने तत्रैव चैतत्कालादिकमप्यन्वेतीति श्यामत्वविशिष्टवृत्तिमद्भिन्नैतत्कालीनधर्मवानिति ततो बोध । एव 'शाखाया न कपिसयोगी'त्यत्र कपिसयोगविशिष्ट वृत्तिमति विशेषणावच्छेदकदेशावच्छिन्नाधेयतया वृत्तिमान् । भिन्ने तत्रैव च शाखादिकमप्यन्वेतीति कपिसयोगविशिष्टवृत्तिमद्भिन्नशाखावच्छिन्नधर्मवानिति ततो बोध । तथा चान्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वमेवोचितम्। अवच्छेदकाऽविशेषितप्रतियोगिमत्ताज्ञानस्यैव तद्वत्ताज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति । –मैवम्, एव सति 'घटो न श्याम इति वाक्याद् 'घट श्यामो न वे'ति सशयाऽनिवृत्तिप्रसङ्गात् । श्यामप्रकारकसशयस्य श्यामाभावप्रकारकनिर्णयनिवर्त्यत्वात् । दृश्यते च ततस्तादृशवैधर्म्ये तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानविधुराणामपि तत्सशयनिवृत्ति ।

किञ्चैव श्यामात्यन्ताभावस्याप्यव्याप्यवृत्तित्व न स्याल्लाघवेन श्यामाभावत्वावच्छेदेनैवावच्छेदकाविशेषितश्यामाऽवृत्तित्वकल्पनौचित्यात्। 'घटे न श्याम' इत्यत्रापि श्यामस्य स्वावच्छेदककालावच्छिन्नस्वविशिष्टाधेयतासम्बन्धेन वृत्तिमत्यन्वयाऽबाधेन नञो वैधर्म्यार्थकत्वसम्भवात्।

'अन्यत्र भेदवत्प्रकारकबोधेऽप्यत्र तद्विशेष्यकबोधे समभिव्याहारविशेषस्य नियामकत्वात्ततोऽत्यन्ताभावत्वप्रकारिका प्रतीतिरानुभवि-

२–'परिणमति येन द्रव्य तत्काल तन्मयमिति प्रज्ञप्तम्'। (इति संस्कृतम्)

कीति चेत्? 'न श्याम' इत्यतोऽन्योन्याभावत्वप्रकारिका प्रतीतिरपि किन्न तथा? प्रतिबन्धकत्वाभिमतव्याप्यवृत्तिधर्मवत्ताज्ञानग्योत्तेजकत्वकल्पनावश्यकत्वाच्च नोक्तलाघवगन्धोऽपि। अपि चैवं श्यामात्यन्ताभावस्यैव श्यामान्योन्याभावरूपतया लाघवम्। तस्य तावद्व्यक्तिनिष्ठान्यतरत्वावच्छिन्नभेदात्मकत्वे तावद्व्यक्तित्वनिष्ठान्यतरत्वावच्छिन्नात्यन्ताभावात्मकत्वे वाऽतिगौरवात्। न चैवं 'श्यामं न श्याममि'ति प्रतीत्यापत्तिस्तद्वाक्याच्छ्यामत्वावच्छिन्नान्योन्याभावस्यैव लाभात्।

एतेन 'संयोगिभेदस्य द्रव्यभेदात्मकत्वकल्पनमेवोचितं, अन्यथा नानासंयोगेषु तद्भेदत्वकल्पनापत्तेः, तथा च मुक्तभेदस्याऽव्याप्यवृत्तित्वं, व्याप्यवृत्त्यभेदवति तद्भेदासम्भवादि'त्यपि निरस्तम्, अनुगतसंयोगाभावाभाव एव तद्भेदत्वकल्पनाच्च। स्वाभावाभावप्रतियोग्येवेति व्याप्तौ लाघवस्यैव नियामकत्वेनाऽननुगतप्रतियोगिस्थले तदतिरेकस्यैव न्याय्यत्वात्। यत्तु स्वाभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वे 'घटाभावो नास्ती'त्यादिप्रतीतेरभावीयविशेषणतया तदवगाहिन्या अनिर्वाहात्तदतिरेकसिद्धिरि'ति, तदसत्, क्लृप्तप्रतियोगिनावच्छेदकसम्बन्ध एव तदभावीयविशेषणतात्वकल्पनेन तन्निर्वाहात्। संयोगिभेदाभावत्वं क्लृप्तसंयोगवृत्तिसंयोगाभावाभावत्वान्नातिरिच्यत इत्यप्याहुरिति नूतननैयायिकानुसृतः पन्था इत्यन्योन्याभावाऽव्याप्यवृत्तित्वव्यवस्थापनं न्यायनयेन।

(जैनमतेऽन्योन्याभावस्वरूप–तदव्याप्यवृत्तितानिरूपणम्)

अथ स्वनयेन तद् व्यवस्थापयामः। अस्माकं तु भेदो वैधर्म्यान्नातिरिच्यते, क्लृप्तेनैवोपपत्तावतिरिक्तकल्पनाऽयोगात्। न च पटत्वाद्यनन्तधर्मेषु घटभेदत्वकल्पनापेक्षयाऽतिरिक्त एव तत्र तत्त्वकल्पनौचित्यम्, तथापि पटत्वादिना प्रत्येकं विनिगमनाविरहादतिरिक्ततद्भेदभेदादिधाराकल्पने गौरवाच्च। इत्थं च भेदत्वमतद्व्यावर्तकत्वम्, तच्चानुवृत्तत्वव्यावृत्तत्वस्वभावत एवेति प्राचां वचो व्याख्यातम्, स्वभावत इत्यस्य स्वधर्मत इत्यर्थकत्वात्। न चैवमपि 'स्थाणुः पुरुषो न वे'ति संशयानुपपत्तिस्तस्य स्थाणुत्वरूपपुरुषभेदग्रहात्मकत्वादिति वाच्यम्, तत्र स्थाणुत्वस्य स्वरूपतो ग्रहेऽपि दोषप्राबल्यात्तद्वृत्तिभिन्नत्वेनाऽग्रहात्, पुरुषवृत्तिभिन्नत्वेन तत्तद्धर्मग्रहस्यैव पुरुषतादात्म्यसंशयनिवर्तकत्वात्। तथा च श्यामवैधर्म्यं रक्तत्वादिकमेव तद्भेदः पर्यवस्यति। तस्य चाऽव्याप्यवृत्तित्वम्=अवच्छिन्नतादात्म्यप्रतियोगित्वं लाघवात्, न तु स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं, त्रैकालिकतादात्म्यपरिणामनिवृत्तेरेवात्यन्ताभावत्वेन तदात्मनि तदत्यन्ताभावाऽयोगाच्च।

नन्वेवं श्यामदशायां घटे न रक्तिमिति प्रयोगो न स्यात्सामीप्यसमभिव्याहृतनञोऽत्यन्ताभावस्यैव बोधात्, तस्य रक्तप्रागभावादिविषयत्वे पुनरन्तरा श्यामे रक्ततादशायामपि तदापत्तिः। अत एव न तस्य प्रतियोगितामात्रेण रक्तविशिष्टाभावावगाहित्वमपि। तादृशतदवगाहिज्ञानस्य रक्तवत्ताज्ञानाऽप्रतिबध्यत्वात्। नन्वेवं ध्वंसप्रागभावयोरेव रक्तत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमव्याप्यवृत्त्यस्तु तथा च रक्ततादशायां प्रागभावादो तदभावादेव न तथाधीरिति चेत्? न, अनन्तध्वंसप्रागभावादिषु रक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व–तदव्याप्यवृत्तित्वकल्पनापेक्षया क्लृप्तात्यन्ताभावस्यैव तत्र सामयिकसम्बन्धकल्पनौचित्यमिति चेत्?

अत्र वदन्ति। परेषां घटेन सह रक्तत्वाभावसम्बन्धस्तावद्रक्तत्वाभावस्वरूप एव, घटादेरननुगतत्वात्सम्बन्धान्तराऽयोगाच्च। तस्य च सामयिकत्वेऽनित्यत्वापत्तिः। अथ न रक्तत्वाभावमात्रमेव तत्सम्बन्धस्तथा सति पटीयरक्तत्वाभावेन रक्तेऽपि घटे तदभावव्यवहारप्रसङ्गात्, किन्तु विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्यैव तस्य तत्त्वं, तद्योग्यतावच्छेदकं चात्र प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वम्। तथा चात्र प्रतियोगिदेशान्यत्वस्य सामयिकत्वं निर्बाधमिति चेत्? न, प्रतियोगिदेशत्वघटकसम्बन्धस्य विशेषणयानवस्थानादाकाशादिदेशाऽप्रसिद्धेश्च।

अथ यथा वायौ रूपसमवायसत्त्वेऽपि समवायसम्बन्धावच्छिन्नरूपाधारताभावाद्वायौ रूपमिति न धीः, तथान्तरा श्यामे घटे रक्ततादशायां रक्तत्वात्यन्ताभावविशेषणतासत्त्वेऽपि विशेषणतासम्बन्धावच्छिन्नतदाधारताभावादयं न रक्त इति न प्रतीतिरिति चेत्? हन्त तर्हि घटादौ तादृशाधारताया रक्तप्रागभावादौ रक्तत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्य वाऽव्याप्यवृत्तित्वमित्यत्र किं विनिगमकम्? 'इदानीं घटो न रक्तमि'ति प्रत्ययस्य तु एतत्कालीनरक्तत्वावच्छेदेन घटवृत्तिभिन्नत्वावगाहित्वादेव व्यवहारबलेन रूपवति रूपात्यन्ताभावसिद्धिर्निरसनीया। न च रूपधारावारणाय जन्यरूपत्वावच्छिन्नं प्रति रूपत्वावच्छिन्नं प्रति रूपत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वेन तत्सिद्धिः, व्यक्तिस्थानीयापत्तेः प्रामाणिकत्वेन प्रागभावस्य विशिष्य हेतुत्वावश्यकत्वाद्घटपूर्ववृत्तिस्वद्रव्यत्वेन घटं प्रति हेतुत्वाऽसम्भवेऽपि तत्कपालत्वादिना तथात्वसम्भवात्।

नन्वेवं गुणगुणिनोस्तादात्म्ये तयोर्जन्यजनकभावो न स्यादभेदे तदसम्भवात्। अत एव नीलघटपदयोः शाब्दसामानाधिकरण्यनिर्वाहकतया गुणगुणिनोरभेदसिद्धिरि'त्यपास्तम्। तादात्म्येन स्वार्थान्वितार्थशाब्दबोधजनकत्वरूपस्य तस्य नीलपदे नीलवल्लक्षणादिनाऽपि निर्वाहात्। लक्षणादिप्रतिसन्धानं विना तादृशशाब्दबोधस्यानिष्टत्वात्। अन्यथा 'वासो नीलं' इति प्रयोगापत्तेः। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' (अमर १–५–१७) त्यनुशासनात्, अत्र गुणे शुक्लादिपदानां शुक्लत्वाद्यवच्छिन्नस्ववृत्तिज्ञानविशेष्यत्वसम्बन्धेनाऽन्वयात्। शुक्लत्वादिविशिष्टवृत्तिमत्त्वेन ज्ञातानामेव शुक्लादिपदानां पुल्लिङ्गकार्यदर्शनात्। अत एव 'शुक्लं वासः' इत्यादौ शुक्लपदस्य शुक्लवति लक्षणयैव विशेष्यलिङ्गग्राहित्वम्। न चैवं तस्याऽच्प्रत्ययान्तत्वेनापि क्लीबत्वानुपपत्तिः, इष्टत्वात्तत्राजन्तपदस्यैव क्लीबत्वात्। अत एव शुक्लोऽस्यास्तीति शुक्ली'त्येव तन्निरुक्तिः। अत्र मुख्यविशेष्यतया शुक्लत्वादिविशिष्टवृत्तिज्ञानजन्यशाब्दबोधे शुक्लत्वाद्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकवृत्तिज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितेस्तयैव हेतुत्वम्। न चैवमजन्तत्वादिस्थलेऽतिप्रसङ्गः, सामान्यत एव मुख्यविशेष्यतया शाब्दबोधं प्रति विशेषणत्वेनान्वयतात्पर्याभावापेक्षणात्। न चैवं 'घटस्य शुक्लमि'त्यादितोऽपि शुक्लत्वाद्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकशाब्दबोधापत्तिः,

अमाधुत्वज्ञानविरहदशायामिष्टत्वादित्यन्यत्र विस्तर

यत्त्वेव सति शुक्लपटशब्दयोरेकार्थत्वे 'शुक्ल पट' इति सहप्रयोगो न स्यात्, स्याच्च घटोऽपि तद्रूपाश्रयत्वात्, पटशब्दस्य शुक्लयत्किञ्चिच्छुक्लायन च व्युत्पन्नस्य स्यात्, स्याच्चाऽपट पट इति वदशुक्ल पट इति वचो विरोधग्रस्त, श्यामरक्तादिभागो पटाभ्यां घटस्य ती स्याता, घटसत्त्वे वा तयोस्तौ न स्याताम्। अथ शुक्लत्वादिजातिभेदात्तैर दोषा इति चेत् ? न, शुक्लत्वादेर्द्रव्यवृत्तित्वे द्रव्यत्वग्रहवद्रूपत्वग्रहस्यापि प्रसङ्गात् जातित्वाच प्रत्याश्रयत्वाचस्यैव नियामकत्वादिति प्रत्यग्राहि मणिकृता-तत्र, आश्रयग्राहकस्य पृथगऽसम्भविनो जातित्वाचाऽहेतुत्वात्, रूपत्वाद्यन्यतमभेदस्य विषयतया त्वाचहेतुत्वेऽनतिप्रसङ्गाच्च । अथ भेदाभेदाभ्युपगमे न सर्वथाऽभेदपक्षसम्भावितप्रसर प्रागुक्तदोष इति चेत् ? नाऽवच्छेदकभेद विनैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधात् । तदुक्त-मणिकृता तत्रै तत्राभावोऽवच्छेदकभेदेन वर्त्तते ज्ञायते च यथा सयोगाभाव । श्यामावच्छिन्नस्य तस्यैवान्योन्याभावस्तत्रैव रक्तावच्छिन्ने तदन्योन्याभावाभाव श्यामावच्छेदेन'। तदिहापि नीलस्यान्योन्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलाद् घटस्य भेदोऽस्तु अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाऽभावस्यो घट न घटत्वावच्छेदेनैव विरोधात्,एकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्रावृत्तेरज्ञानाच्च । नाप्यवच्छेदकान्तरेण घटत्वावच्छिन्ने घट तदभावग्रहदशायामपि 'नीलो घट' इत्यनुभवाच्चेतिचेत्?

अत्र वदन्ति भेदाभेदस्तावद्गुणगुण्यादिविशिष्टप्रतीतिनियामकत्वेनानुभवबलेन च जात्यन्तररूप एव सिद्ध्यति । तदुक्त-'अन्योन्यव्याप्तिभावेन भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरात्मकत्वादि'ति। अन्योन्यव्याप्तिभावश्च मिथ शबलाकारानुभावकत्व, तेन घटभिन्ने पीते श्यामाऽभेदस्य, श्यामभिन्ने पटे घटाभेदस्य च व्यभिचारेऽपि न क्षति । तत्तत्सन्तानपर्यवसायित्वेन व्याप्यव्यापकभाव इत्यपि केचित्। एव च 'येनाकारेण भेदस्तेन भेद एवे'त्यादिवाग्भङ्ग्यापि न विभीषिका स्याद्वादिना, तेन 'भेद एवे' त्यस्यार्थशून्यत्वादवकारेणाऽभेद-प्रतिषेधाऽसम्भवाद्भेदस्याऽभेदानुविद्धत्वात्। एवकारस्य यत्किञ्चिदन्यार्थकत्वे तु न तत्र विप्रतिपद्यामहे। तथा च परमाभिप्रेतभेदतदभावाभ्युपगमात् तादृशावच्छेदकभेदानुपलब्धिदोषो, भेदाभेदस्य स्वत एव भिन्नरूपकुक्षिम्भरितया च नातिप्रसङ्ग इति ।

युक्त चैतद्-विलक्षणभेदत्वेनैव गुणगुण्यादिसम्बन्धत्वात् । घटत्वश्यामत्वादिपर्यवसन्नभेदाभेदत्वेन तथात्वाऽसम्भवात् । एकान्तभेदेऽवयवेष्ववयवी किं देशेन समवेयात्कात्स्न्येन वा ? नाद्योऽवयवातिरिक्तदेशानुपदेशात्। न द्वितीय, प्रत्यवयवसमवेतावयवबहुत्वप्रसङ्गात्। अथाऽवयवेष्ववयवी समवेत्येव, देशेन कात्स्न्येन वेत्यत्र पुनरापादकाभाव अन्यथा भवतामप्यवयवेष्ववयवी किं (किं) देशेनापृथग् भवेत् , कात्स्न्येन वा ? आद्येऽवयवातिरिक्तदेशाऽनिरुक्ति । द्वितीये प्रत्यवयवाऽपृथग्भूतावयविबहुत्वप्रसक्तिरिति तुल्य पर्यनुयोग इति चेत् ? न, अस्माकमभेदनयाद्वृत्त्वेऽपि भेदनयादवृत्त्या, परेण तु स्वप्नेऽपि तथाऽनभ्युपगमात्, समवायस्यैवाऽसिद्धौ तात्पर्याच्च । तथा हि गुणादिसाक्षात्कार इन्द्रियसम्बन्धजन्य , जन्यसाक्षात्कारत्वात्, दण्डीति साक्षात्कारवदि'त्यनुमान न समवाय साधयितु क्षमते वैशद्यवज्ज्ञान प्रति योग्यताविशेषस्य हेतुत्वात्, चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वात् ।

(चक्षुरप्राप्यकारिताव्यवस्थापनम्)

अथ चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वमेव न क्षम इति चेत् ? शृणु ।

प्रसङ्गसङ्गतमथ प्रथमाविशुद्धधी चक्षुरप्राप्यकारित्व ब्रूते न्यायविशारद ॥१॥

तथा हि, जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्न प्रतीन्द्रियसम्बन्धत्वेन तावन्न हेतुता, इन्द्रियसम्बन्धत्वस्यैकस्याऽसम्भवात् । एतेन चाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति चक्षु सम्बन्धत्वेन हेतुताऽपि परास्ता। अथ द्रव्यचाक्षुषत्वाद्यवच्छिन्न प्रति चक्षु सयोगत्वादिना विशिष्यैव हेतुता। तदुक्त मणिकृता प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशेषो हेतुरननुगत एवेति चेत्? न, चक्षु सयोगस्यापि परमाण्वाकाशादौ व्यभिचारेण चाक्षुष प्रति हेतुत्वाऽयोगात्। 'महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपस्यापि तत्र सहकारित्वान्नाय दोष इति चेत् ? न, उद्भूतरूपसमानाधिकरणमहत्त्वत्वेन सहकारित्वे विनिगमकाभावात् । अथ पाकेन रूपनाशक्षणेऽपि घटादिचाक्षुषोत्पत्तिरेवोद्भूतरूपविशिष्टमहत्त्वस्यैव द्रव्यचाक्षुषहेतुत्व विनिगमिकेति चेत्? न, तत्र रूपनाशक्षण एव चाक्षुषम्, न तु तदुत्तरोपजायमानरूपोत्तरमित्यस्य कोशपानप्रत्यायनीयत्वात् ।

अथ महत्त्वोद्भूतरूपयो पृथगेवाऽस्तु कारणता । महत्त्वजन्यतावच्छेदक च जन्यद्रव्यसाक्षात्कारत्वम्। अत एवात्मसाक्षात्कार एवात्मनि महत्त्वे मानम्, उद्भूतरूपजन्यतावच्छेदक च द्रव्यचाक्षुषत्वमिति चेत् ? तथापि चक्षुर्गोलकपरिकलिताऽञ्जनाद्यप्रत्यक्ष किमधीनम्? 'योग्यताभावाधीनमि'ति चेत्तर्हि पाटच्चरविलुटिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तानुसरणम्। भित्त्याद्यन्तरिताऽप्रत्यक्षस्यापि योग्यताविरहेणैवोपपत्तौ व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वान्यथानुपपत्त्या चक्षु प्राप्यकारित्वसाधनमनोरथस्य दूरप्रोषितत्वात् ।

स्यादेतत् भित्त्यादिव्यवहितार्थस्य न स्वरूपयोग्यत्वम्। कालान्तरे तस्यैव प्रत्यक्षसम्भवात्। किन्तु भित्त्यादेश्चक्षु प्राप्तिविघटकतया विरोधित्वादेव न तदन्तरितार्थग्रहणम् । एवमतिसान्निध्यस्यापि दूरत्ववद्दोषत्वेन प्रतिबन्धकत्वान्न नयनाञ्जनादिलौकिकचाक्षुषम् । यत्तु-विजातीयचक्षु सयोगत्वेन हेतुत्वादेव न दूरस्थलौकिकचाक्षुषमिति, तन्न सति विशेषदर्शनादौ दूरस्थस्यापि लौकिकचाक्षुषदर्शनात्। किञ्च अननुगततत्तद्दोषाणा तत्तत्प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया सामान्यत सूक्ष्मव्यवहितार्थप्रत्यक्षे नयनरश्म्यसम्बन्धस्यैव प्रतिबन्धकत्वकल्पनौचित्यात् ।

वस्तुतश्चक्षुष प्राप्यकारित्वे शाखाचन्द्रमसोर्युगपद् ग्रहणानुपपत्ति । अथ क्रमिकत्वमेव तज्ज्ञानया, यौगपद्यप्रत्ययस्य शतपत्रशतपत्रीवेधव्यतिकरेण भ्रमत्वादिति चेत् ? न, तथा सति तत 'साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायस्य तयोरनुपपत्ते , तदनुव्यवसायसमये शाखाज्ञानस्य नष्टत्वात्। न च शाखाचन्द्रयो क्रमिकज्ञानाहितसंस्काराभ्या जनिताया समूहालम्बनस्मृतावेवानुभवत्वारोपात् तथानुव्यवसायो यथा पञ्चावधानस्थले इति वाच्यम्, उपेक्षात्मकतज्ज्ञानतस्तादृशस्मृत्यसम्भवात् । तत्र लौकिकसन्निकर्षजन्यज्ञानस्यैव विषयतया 'साक्षात्करोमी'त्यनुव्यवसायजनकत्वाच्च । यत्तु स्फटिकादिकमुपभिद्य नयनरश्मिप्रसरण प्रत्यभिज्ञाभिज्ञाना दुरभ्युपगममिति, तत्तु विकटकपाटसंपुटसंघटितमपवरकमुपभिद्य मृगमदसन्दोहसमागमसमसमाधानमिति कश्चित् । वस्तुतो मृगमदसंसर्गारब्धसुगन्धिद्रव्याण्येव वहिरनुभूयन्तेऽन्यथा वहीयसा कालेन वहीयसा वायुना तदवयवाना भूयसामपगमे तद्गुरुत्वप्रच्यवापातात् । तथा च स्फटिकादिनापि प्रतिबन्धकत्वान्नयनरश्मीना कथ वहिर्निर्गम ? अत एव काचकूपिकादितस्तच्छायाद्रव्यान्तरारम्भोऽपि तत्र तत्र व्यावर्णित ।

अपि च नयनस्य तैजसत्वाऽसिद्ध्या तद्रश्मय एव कुतस्त्या । न च 'चक्षुस्तैजसं,रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, आलोकवदि'त्यनुमानाच्चक्षुषस्तैजसत्वसिद्धि , न चाऽञ्जनेन व्यभिचारस्तस्य चाक्षुषप्रयोजकत्वेऽपि तदजनकत्वादिति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्, अनुद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्शतेजोऽन्तरकल्पने गौरवाच्च । अत एवेन्द्रियत्व जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदक पृथिव्याद्यवृत्तिरेव जातिविशेष इति यौगैकदेशिन ।तेषामपि चक्षु सयोगत्वेन हेतुतासिद्धयैव चक्षु प्राप्यकारित्वसाधनाभिकाक्षा सम्पूर्येत, सैव तु नास्त्यत्र । तद्धेतोरेवाऽस्तु कि तेनेति न्यायाच्चक्षु सयोगत्वावच्छिन्नात्रियामकादेव चाक्षुषविषयप्रतिनियमसम्भवात् ।

एतेन "योग्या चेद्योग्यता व सपदि जनयितु ज्ञानमक्ष्णोऽनपेक्ष ,
कस्मादस्माकमाकस्मिक इव न तदा हन्त वस्तूपलम्भ ।
आयास क प्रकुर्यादनणुमणिविभापूरिते गेहदेशे,
प्रद्योतार्थी प्रदीप प्रकटयितुमल तैलसम्पूरणादौ ॥१॥ अपि च-स्वनयननिकटोपटङ्किनोऽर्था पटु विक्रमन्ति न जातु तत्प्रतीपा , जगति विचरतीह योग्यतेय शिव शिव वञ्चनचातुरीधुरीणे ॥२॥ ' इत्यादि निरस्तम् । यत -
योग्यता वस्तुनो बोधे, स्मृता प्रतिनियामिका ।
उपधान पुनस्तस्य चक्षुरुन्मीलनादिना ॥३॥
य दाभिमुख्य नियमाय कर्मणो, न नाम सयोगनियामक धिय ।
इहास्मि नास्मिन्नियमे स्पृहावह कृतातकोपस्तु तवैव केवलम् ॥४॥
यत्र यत्र परिसर्पति चक्षु तत्र तत्र किल वेदनजन्म ।
गौतमीयसमये तदिदानीं प्राप्यकारिणि न चक्षुषि साक्षि ॥५॥

अनन्तनयनविषयसयोगाना तत्तद्देशादिष्वनन्ततज्जनकत्वानाञ्च कल्पनाया महागौरवात् नयनक्रियाभिमुख्यस्य रूपादावपि सम्भवे बाधकाभावाद् द्रव्यतत्समवेतादिसाधारणचाक्षुष प्रत्येकहेतुत्वे लाघवाच्च । लोहोपलस्य लोहाकर्षकत्वमिवाऽप्राप्यमनसोऽपि चक्षुषश्चाक्षुषजनकत्वमि'त्यप्याहु , तेषामपि सम्बन्धविशेषाश्रयणमावश्यकमन्यथातिप्रसङ्गात् ।

तथा चैव प्रयुञ्जते 'नयन योग्यदेशावस्थिताप्राप्तार्थपरिच्छेदकम् , प्राप्तिनिबन्धनानुग्रहोपघातशून्यत्वात्, मनोवदि'ति । वनस्पति-सूरालोकनादिना नयनानुग्रहोपघातोदयाद्व्यभिचारवारणाय'प्राप्तिनिबन्धने'ति विशेषणम्।तदुपघातस्य प्राप्तिनिमित्तकत्वे नयनस्य जलानलसयोगेन क्लेददाहापत्ते ।

अथ मनसोऽपि घटादिनाऽलौकिकज्ञानादिप्रत्यासत्तिसत्त्वात्साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत् ? न,सयोगप्रत्यत्त्यासत्त्या परिच्छेदकत्वाभावस्यैव सिसाधयिषितत्वात्। न चात्ममानसत्वावच्छिन्न प्रति सयोगेनैव मनसो हेतुत्वान्न किञ्चिदेतदिति वाच्य, पूर्वं तदप्राप्यकारित्व प्रसाध्य दृष्टान्तत्वाभिप्रायात् । एवञ्च मनस इव चक्षुषस्तत्तदुपयोगसाचिव्यात्तदा तदा तत्तदर्थग्राहकत्व स्वभावादेवेत्यपि प्राञ्च ।

"स्वप्राचीस्थपुरुषसाक्षात्कारे स्वप्रतीचीवृत्तित्वसम्बन्धेन विजातीयद्रव्यत्वेनास्तु भित्त्यादीना प्रतिबन्धकता । प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धाननुगमश्च न दोषाय । तावत्सम्बन्धपर्याप्तप्रतियोगितावच्छेदकताकविलक्षणाभावस्यैकस्य कारणतास्वीकारात्। तथा च भित्त्यादीना प्रतिबन्धकत्वादेव न तदन्तरितार्थग्रहणमिति कि योग्यतये" ति कश्चित् । तन्न, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्येण विजातीय-द्रव्यत्वेन तथात्वाऽसम्भवादव्यवहितयोगिचाक्षुषानुरोधेन योग्यताया अवश्याश्रयणीयत्वाच्च । एतेन स्फटिकत्वाद्यभावकूटविशिष्टद्रव्यत्वेनोक्त-सम्बन्धेनास्तु प्रतिबन्धकत्वमित्यप्यपास्तम्। ननु किञ्चिदवच्छेदेन तम प्रच्छन्नेऽपि भित्त्यादौ यदवच्छेदेन चक्षु सयोगस्तदवच्छेदेनालोकसयोगादेव चाक्षुषदर्शनाच्चक्षुष प्राप्यकारित्व सेत्स्यतीति चेत् ? एतन्निपुणतरमन्धकारवादे प्रतिविधास्याम ।

एवञ्च शाखाभिमुखेन चक्षुषा विटपिनो मूलावच्छिन्नसयोगग्रहाभावादव्याप्यवृत्तिचाक्षुष प्रति चक्षु सयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्नाधारताया सन्निकर्षत्वस्यावश्यकल्पनीयतया चक्षुष प्राप्यकारित्वमायास्यतीत्यपि प्रतिविधेयप्रायमवधेयम् । तदानीं चक्षुरभिमुखदेशानविष्वग्भावादेव सयोगादिचाक्षुषानुदयात् । केचित्तु 'चक्षुष प्राप्यकारित्वे पृथुतरग्रहणानुपपत्ति , न ह्यणुना चक्षुषा

पृथुतरद्रव्यसयोगसम्भवी'त्याहु ।"स्व पुण पासई अपुट्ठ त्वि" (आ नि ५) त्याद्यागमोऽप्यत्रार्थे साक्षीति दिग् । इति चक्षुरप्राप्यकारिताव्यवस्थापन प्रासङ्गिकम् ॥

(समवायसिद्धिनिरसनम्)

अथ प्रकृत प्रस्तुम ॥ 'गुणजातिक्रियाविशिष्टबुद्धयो विशेषणसम्बन्धविषया , विशिष्टबुद्धित्वाद्दण्डीति बुद्धिवदि'त्यनुमानमपि न समवायसाधने पटीय, स्वरूपसम्बन्धेनार्थान्तरत्वात् । न च 'पक्षीभूतबुद्धेरनुगतसम्बन्धविषयत्वे लाघवात्कर्त्रैक्यस्येव पक्षधर्मता–बलात्सम्बन्धैक्यस्य सिद्धौ समवायसिद्धि' तद्बुद्धेस्तदविषयत्वेऽप्यतिलाघवेन तदसिद्धिप्रसङ्गात् । न च गुणगुण्यादिविशिष्टबुद्धे समूहालम्बनवैलक्षण्यनिर्वाहकतया तत्सिद्धि, अत एव विशिष्टबुद्धित्वहेतुरप्यतद्वृत्त्यावृत्तिधीजनकबुद्धित्वपर्य्यवसायितयेव कार्य्यकारणभावलक्षणानुकूलतर्कसध्रीचीन इति वाच्यम्, योग्यताविशेषाश्रयण विना तवोपायसहस्रेणापि समूहालम्बनविशिष्ट–बुद्ध्योर्विशेषासम्भवात्।'घटरूपसमवाया' इति समूहालम्बनेऽपि समवायस्य विषयत्वात् । अथ स्वरूपतो भासमानेन वैशिष्ट्येन विशिष्टबुद्धे समूहालम्बनाद्विशेषो, न ह्युपदर्शितसमूहालम्बने समवायस्य स्वरूपतोभान किन्तु समवायत्वेनेति चेत् ? न, 'दण्डवान्दण्डसयोगवान् पुरुष' इत्यत्रापि सयोगस्य स्वरूपतो भानात् ।

अथात्र दण्डविषयतानिरूपितसासर्गिकसयोगविषयतानिरूपितपुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यताकत्वाभावादेव न तादृशविशिष्टबुद्धित्वमिति चेत् ? न, निरूपितत्वादेरनतिरेके उक्तातिप्रसङ्गतादवस्थ्यात् अतिरेके तु साक्षाज्ज्ञानगतप्रकारिताविशेषेणैव तद्विशेषोचित्ये नव्यमतप्रवेशात्।

किञ्च, समवायस्यापि समवायान्तरस्वीकारेऽनवस्था, स्वस्मिन् स्वस्य स्वीकारे आत्माश्रय , प्रथमे द्वितीयस्य द्वितीये प्रथमस्योररीकारे पुनरन्योन्याश्रय, प्रथमे द्वितीयस्य–तत्र तृतीयस्य–तत्र च प्रथमस्याभ्युपगमे चक्रकमिति तत्र स्वरूपस्येव सम्बन्धत्वौचित्ये किन्न गुणगुणिनोरपि तथाऽभ्युपगम । तदिदमभिसन्धायोक्तमन्यत्र स्तुतिकृतैव "इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तावि" ति । अथ लाघववलाद् गुणगुण्यादीनामेक सम्बन्ध सिध्यन् धर्मिग्राहकमानेन स्वत सम्बन्धस्वभाव एव सेत्स्यतीति चेत् ? हन्त तर्हि ह्रदे वह्निर्नास्ती'ति प्रतीतेरभावादिसाधारणैकवैशिष्ट्यसिद्धौ दत्त समवायाय जलाञ्जलि ।

एतेन 'गुणगुण्यादिस्वरूपद्वये सम्बन्धत्वमतिरिक्तसमवाये वेति विनिगमनाविरहादपर्यन्तत समवायसिद्धि , न च वैशिष्ट्येऽपि तथा, तत्राभावस्येवानुगतत्वेन सम्बन्धत्वौचित्यादि'त्यपास्तम् । तथाप्यनुगतजात्यादिसाधारणसमवायाऽसिद्धेश्च । अथ समवायेन जन्यभावत्वा–वच्छिन्न प्रति द्रव्यत्वेन हेतुत्वात्तत्सिद्धि , न च स्वरूपसम्बन्धेनैवास्तु तथात्वम् , स्वरूपाणामननुगतत्वादिति चेत् ? न, वैशिष्ट्यसम्बन्धेन जन्यमात्र प्रत्येव द्रव्यत्वेन तत्त्वोचित्यात् । अथ प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाश प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटादिनाशस्य हेतुत्वात्समवायसिद्धि । स्वप्रतियोगिवृत्तित्वेन तथात्वे घटादिवृत्तिध्वसध्वसापत्ते । घटादिकालीनसयोगादिध्वसे व्यभिचारवारणाय 'प्रतियोगितया' । स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वावश्यकतया सत्तादौ तदापत्त्यभावेन सत्त्वेन नाशहेतुत्वाऽकल्पनात्। न च द्वित्रिक्षणस्थायिघटादिसमवेतनाशे स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेनैव तथात्वात्प्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्न प्रति तादात्म्येन सत्त्वेन हेतुत्वान्न ध्वसध्वसापत्तिरिति वाच्यम्, तत्रापि स्वप्रतियोगिसमवायिकारणकत्वेनैव तथात्वेऽनतिप्रसङ्गादिति चेत् ? न, उक्तहेतुतावच्छेदकेऽक्लृप्तसमवायनिवेशापेक्षया क्लृप्तसत्त्वनिवेशस्यैवोचितत्वात् ।

[वैशिष्ट्यवाद]

किञ्च, रूपाभावमहत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्तिचाक्षुष प्रति चक्षु सयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्यैव हेतुत्वौचित्यम् । रूपाभावमहत्त्वाभावचाक्षु(षे) * प्रति चक्षु सयुक्तमहद्वैशिष्ट्यस्य तादृशोद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्य च पृथक्कारणत्वात् * । रूपाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षु–सयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता, महत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षु सयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता, महत्समवेतचाक्षुषे चक्षु सयुक्तमहदुद्भूत–रूपवत्समवायश्च हेतुरिति कल्पनाऽपेक्षयोक्तस्यैव युक्तत्वात् ।

* वस्तुतो द्रव्यवृत्तिचाक्षुष प्रति चक्षु सयुक्तचाक्षुषवैशिष्ट्यस्यैव हेतुत्व, वैशिष्ट्यानभ्युपगमे तु महत्समवेतचाक्षुष प्रति चक्षु सयुक्तचाक्षुषसमवायस्य, द्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुष प्रति चक्षु सयुक्तचाक्षुषविशेषणताया हेतुत्वे गौरवात् * । 'द्रव्यजात्यन्यचाक्षुषे महदुद्भूतरूपवद्भिन्नसमवेतत्वेन प्रतिबन्धकत्वात्समवायसिद्धिरि'ति तु मन्दम् । द्रव्यान्यसचाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति महदुद्भूतरूपवद्भिन्नविशिष्टत्वेनेव तत्त्वसम्भवात् । यत्तु–भूतलपटाभाववैशिष्ट्यसत्तावत्पटकालेऽपि पटाभावधीप्रसङ्ग, न च तदानीमधिकरणस्वाभाव्यात्पटाभावा–भावाधिकरणत्वादेव नायमिति वाच्यम्, स्वभावभङ्गप्रसङ्गादिति–तन्न, पटसत्तेव पटाभाववैशिष्ट्यसत्त्वेऽपि तदवच्छिन्न–तदाधारताऽभावादेवोक्तप्रसङ्गाभावात् इति वैशिष्ट्यवाद ॥

अस्माक तु न समवायो न वा वैशिष्ट्य, कथञ्चिदनुगमव्यावृत्तिमद्भि स्वरूपैरेव तत्तत्कार्यनिर्वाहात् । इत्थ च विशेषणसम्बन्धनिमित्तकत्व

---

* चिह्नद्वयान्तरालद्वयपाठो यशोविजयोपाध्यायै प्रक्षिप्तो मूलादर्शे ।

साध्यीकृत्य पूर्वोक्तानुमानमप्यनादरणीय, वैलक्षण्यस्य जातिरूपस्य स्मृतित्वानुमितित्वादिना साङ्कर्यात्। विषयितारूपस्य च समवायाऽसिद्धया दुर्वचत्वात्। सत्यलौकिकविशिष्टप्रत्यक्षत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वेन तदवच्छिन्न प्रति विशेषणसम्बन्धत्वेन न हेतुत्व स्वरूपसम्बन्धेनार्थान्तरत्वात्, अन्यथा वैशिष्ट्यस्य दुर्निवारत्वात्, विशेषणसम्बन्धत्वस्यैकस्याभावेनतत्कार्यकारणभावस्य विशिष्य विश्रामाच्च इति समवायनिरास ॥

[भेदाभेदवाद]

नन्वभेदससर्गेणाऽन्वितपदार्थबोधकपदकसमासस्यैव कर्म्मधारयत्वात् 'नीलोत्पलमि'त्यादौ नीलोत्पलयोर्भेदाभेदस्य ससर्गत्व कर्म्मधारयानुपपत्ति, अन्यथा 'घटरूपमि'त्यत्रापि तत्प्रसङ्गादिति चेत्? मैव, कर्म्मधारये हि तादात्म्यमेव ससर्गो न तु भेदाभाव, प्रमेयमभिधेयमि'त्यत्र तद्बाधात्। तच्च 'नीलोत्पलमि'त्यत्र नीलपदस्य नीलवत्परतया निराबाधम्। न चैव 'घटकलश'इत्यत्रापि कर्म्मधारयप्रसङ्गस्तत्र पदसारूप्याभावेनैकशेषाऽनवकाशात्, वस्तुत एकशेषस्य द्वन्द्वापवादकत्वाद् घटो घट इत्यत्रापि तत्प्रसङ्ग इति वाच्यम्, तत्र पदार्थयोर्निराकाङ्क्षत्वेनानन्वयात्। न चोक्त कर्म्मधारयलक्षणमपि ज्याय, राजपुरुष इत्यादितत्पुरुषेऽतिप्रसङ्गादिति दिक्।

एतेन 'घटस्य रूपमि'त्यादौ षष्ठीप्रयोगदर्शनाद्धर्मधर्मिणोर्भेद एव युक्त इत्यप्यनास्थित, तत्र सम्बन्धत्वेनाऽविष्वग्भावस्यैव भानात्, सम्बन्धत्वस्यैव षष्ठीपदशक्यतावच्छेदकत्वात्, तत्राविश्वग्भावातिरिक्तत्वप्रवेशे गौरवात्, तादात्म्येन प्रातिपदिकार्थयोरन्वय समानविभक्तिकत्वादेर्नियामकादेव 'घटस्य नील' इत्याद्यापत्त्यभावात्। इयास्तु विशेषो यद्धर्मिधर्मभावाद्यपेक्षयैव द्वयोर्भेदाभेद, प्रतिस्व प्रातिस्विकरूपेण केवलाभेदो, गोत्वाश्वत्वाऽऽदिना तु केवलभेद इति। न चैवमक्रान्ताऽनुप्रवेशोऽभेदसम्भिन्नभेदवत्त्वाभ्युपगमेनैव तदपायात्। इत्थ चैतदवश्यमङ्गीकर्तव्य, कथमन्यथा स्याद्भिन्न चाऽभिन्न चेत्यत्र स्यात्पद नाऽननिष्प्रयोजनमि'ति ध्येयम्।

अथ भेदाभेदस्यापि कथञ्चिदभेदरूपत्वात् 'कपाले घट' इत्यादावाधाराऽऽधेयभावप्रतीतिर्न स्यादिति चेत्? न, भेदाभेदत्वेन तस्य वृत्तिनियामकत्वात्। 'घटाभावे घटो नास्ती'त्यादावपि घटाभावत्वेन धर्म–धर्मिभावविवक्षयैव निस्तार। सर्वथा तदात्मन पुनराधाराऽऽधेयभावोऽसम्भवी, स्वप्नेऽपि तथाऽप्रत्ययात्। धर्म्माऽविष्वग्भूतो धर्म्येव तदाधारता, तेन न धर्मधर्मिणोर्भेदाऽभेदाऽविशेषेऽपि धर्म्येव धर्माधारो न तु धर्म्मास्तथेत्यत्र नियामकानुसरणवैयर्थ्यम्। तत्तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्तत्सम्बन्धस्य तथात्वे तु एकत्रैव भूतले घटपटादिप्रतियोगिभेदेनाऽव्याप्यवृत्तिनानाधारतापत्तेर्धर्मिणश्चाऽनाधारत्वे धर्मा एव वस्त्विति तथागतप्रवादसाम्राज्यापत्ते धर्म्माधारतयैव पर धर्मिण कल्पनादिति दिग्।

नन्वेवमपि भवतु भेदाभेदो जात्यन्तररूप, परमसमावेकत्राऽन्योन्याभावतदभावप्रतीतिव्यवस्थतयाऽैकत्राऽवच्छेदकभेद विना प्रतीत्यनुपपत्तिरित्युक्तमेवेति चेत्? न, घटत्वैकद्रव्यत्वयोरेव तदवच्छेदकयो सम्भवात्। यदवदाम स्तुतौ–

"एकत्र वृत्तौ हि विरोधभाजोर्येषामवच्छेदकभेदयाञ्चा।
द्रव्यत्वपर्यायतयोर्विभेद विजानता सा कथमस्तु वस्तु" ॥ इति॥

नीलभेदो घटत्वाच्छेदेन, नीलाभेदस्तु नीलवद्भिन्नभेदावच्छेदेन। न च तदज्ञानेऽपि 'नीलो घट'इत्यभेदानुभवान्न तस्य तदवच्छेदकत्व, घटत्ववत्तस्य योग्यत्वात् नियमतो ग्रहसम्भवात्।

अस्तु वा तदग्रहेऽप्यवच्छेदकादासीन्येनैव नीलाभेदधी। न सा घटत्वावच्छेदेन नीलभेदग्रहप्रतिबद्धया। तद्धर्मावच्छेदेन तद्वत्ताधियस्तद्धर्म्मावच्छेदेनैव तदभाववत्ताधीविरोधित्वात्। तद्धर्म्मानिरिक्तधर्म्माऽनवच्छेदेनेत्यस्य प्रवेशे गौरवादिति यौक्तिका।

केचित्तु–भेदोऽन्योन्याभावोऽभेदस्तु धर्मान्तरमित्यभ्युपगच्छन्ति। अत्र तादृशाभेदस्य व्यवहाराऽनापयिकत्व यत्केश्चिदुद्‌घुष्ट तदसम्बद्ध, 'प्रमेयमभिधेयमि'त्यादौ तस्यैव शरणीकरणीयत्वात्।

दिगम्बरमतानुयायिनस्तु भेदाऽभेदो भेदविशिष्टाऽभेद एव, सम्बन्धता तु तयोरुभयत्वेन रूपेण। न चोभयत्वमप्येकविशिष्टाऽपरत्वमिति विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरह, अविशिष्टयोरपि गोत्वाऽश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात् तस्यातिरिक्तधर्मत्वात्। युक्तञ्चैतत्, अतिरिक्तभेदाऽभेदस्य भेदविशिष्टाऽभेदस्य च तद्व्यञ्जकत्वकल्पनाया गौरवात्। न च भेदाऽभेदयोरेकत्र विरोधो,यतो न हि वय यत्र यस्य यो भेदस्तत्र तस्य तदभावमभ्युपेम किन्त्वन्यमेवेति। तथाहि, भेदो द्विविध पृथक्त्वरूपोऽन्यत्वरूपश्च। तत्र पृथक्त्व प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपम्। अन्यत्व पुनरतद्भाव इति। यदुक्त प्रवचनसारे "प[1] विभत्तपदेसत्त, पुढत्तमिति सासण हि वीरस्स। अण्णत्तमतब्भावो,ण तब्भव भवदि कहमेग"। इति।

यत्तु–पृथक्त्वमप्यन्योन्याभाव एवेत्यभिदधे दीधितिकृता–तदसत्, एव सति 'घट पटात् पृथगि'तिवद् 'घटरूपात्पृथगि'ति प्रत्ययप्रसङ्गात्। न चैव प्रतीयते, यदवोचाम–

"[2]अण्ण घडाउ रूव ण पुढोत्ति विसारदाण ववहारो।
भेदो उणो पुढत्त, भिज्जदि ववहारबाधेण" ति ॥

तथा च पृथक्त्वस्य व्यावर्त्तकत्वाऽविशेषेऽप्यन्योन्याभावाद्वैलक्षण्यमेवेति तत्त्वम्। किञ्च परेषा रक्ततादशाया घटे

---

1 – प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्वमिति शासन हि वीरस्य। अन्यत्वमतद्भावो न तद्भाव भवति कथमेकम् ॥

2–अन्यद्घटाद्रूप न पृथगिति विशारदाना व्यवहार। भेदात्पुन पृथक्त्व भिद्यते व्यवहारबाधेन ॥

श्यामभेदतदपृथक्त्वधियौ कथमिव समगसाताम् । न पृथगित्यस्य तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाववानित्यर्थकत्वे तत श्यामत्वावच्छिन्नपृथक्त्वसशयाऽनिवृत्त्यापत्ति ।'पृथकत्व गुणविशेष' इति प्राचा नैयायिकानामपि वचोऽविचारितरमणीय, तत्साधकस्य पृथक्त्वव्यवहारस्य गुणादावपि जागरूकत्वात् ।'घट पटात्पृथगि'त्यादिव्यवहारस्य क्लृप्तेनाऽन्यान्याभावेनेवोपपत्तावतिरिक्तपृथक्त्वस्य तत्र नानाविधावधिज्ञानव्यग्यत्वादेश्च कल्पने गोरवम् । एतेनात्मेतरद्रव्यसाक्षात्कारत्वापेक्षया लघुन आत्मपृथक् साक्षात्कारस्येवोद्भूतरूप– कार्यतावच्छेदकत्वोचित्यादतिरिक्तपृथक्त्वसिद्धि इत्यपास्तमिति तु नव्या । तत्तु प्रागेव दूषितम् ।

अतद्भावश्च तत्त्वेनाप्रतीयमानत्वम् , तदवृत्तिधर्मवत्त्वमिति यावत् । न चातद्भावातिरिक्तोऽन्योन्याभावोऽस्ति, तस्य तुच्छत्वादतिरिक्ताभावसम्बन्धस्य स्वय सम्बद्धत्वस्वभावावश्यकत्वे द्रव्येण सममभावादेरेव स्वत सम्बन्धोचित्यादित्याहु ।

अत्रेदमस्माकमाभाति । प्रविभक्तप्रदेशत्वमित्यत्र बहुव्रीह्याश्रयणे परमाणव कुतोऽपि न पृथग्भवेयु । एव कर्मधारयाश्रयणे देशस्कन्धयोरपि स एव दोष । स्कन्धाश्रितपरमाणूनामेव प्रदेशपदवाच्यत्वात्परमाणूनामपि पृथकत्व न घटेत । अथ प्रदेशपदस्या– विभागिद्रव्याशपरत्वे 'श्वेतो धावती'त्यादाविवाऽऽवृत्त्योभयसमासाश्रयणेनोभयथाऽन्यतरत्वस्य तल्लक्षणतया पर्यवसानमिति चेत् ? किं तर्हि प्रदेशेषु प्रविभक्तत्वम् ? न तावदन्यत्वम्, एकद्रव्यस्यैव प्रदेशाना तादृशत्वात् । नापि पृथकृत्व, तस्य प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूपतयाऽन्योन्याश्रयात् ? तथाहि, प्रदेशाना प्रविभक्तत्वसिद्धो प्रविभक्तप्रदेशत्वरूप स्कन्धाना पार्थक्य सिध्यति, सिद्धे च स्कन्धाना प्रविभक्तत्वे प्रविभक्तस्कन्धकत्वरूप प्रदेशाना पार्थक्य सिद्धयतीति ।

अथ 'पृथकृत्व जात्यन्तररूपमेवे'ति चेत्तर्हि भेदाभेद एव तादृश किमिति नास्थीयते । धर्म्मिधर्मोभयभासकसामग्र्या एव तद्भासकत्वेन व्यञ्जकगवेषणविश्रामात् । इत्थ च पृथक्त्वव्यवहाराऽसाधारणकारण तदि'त्यप्यपाकृत, कारणतावच्छेदकरूपपरिचय विना तदृशनिर्वचनाऽसम्भवाच्च ।यत्तु " विभिन्नाश्रयाऽऽश्रितत्वमेव पार्थक्यम्, विभिन्नाश्चाश्रया स्कन्धाना देशा इव देशाना स्कन्धा अपि सम्भवन्ति, 'तन्तौ पट' इतिवत्पटे तन्तव' इति प्रतीतेरप्यबाधितत्वात् । अन्यत्र रूपादिप्रतियोगिकत्वविशिष्टाऽविष्वग्भावमात्रस्यैव तथात्वकल्पनात्, तादृशप्रतीतेर्बलवत्त्वात् । तदुक्त परेणापि–" सविदेव हि भगवती वस्तूपगमे न शरणमिति" । परमाणूनामपि शुद्धस्य स्वस्येव स्वाश्रयत्वम्, भाविभूताऽऽश्रयसम्भवेनेव वा तदाश्रितत्वमक्षतम् । अन्यथा द्रव्यादिचतुष्टयस्य सार्वत्रिकत्ववचनव्याघाताऽऽपातादिति । तच्चिन्त्यम्, अत्यन्तविभिन्नानामप्याकाशादिरूपैकाश्रयसम्भवेन भेदाभेदसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयताविवक्षणे स्फुटदोषात् । नापि 'तत्प्रदेशे सहैकत्वपर्यायाऽनापन्नत्व तद,' एकत्वस्याऽपृथक्त्वपर्यवसायित्वात् ।

ऋजवस्तु सार्वजनीनप्रतीतिस्वारस्यादेव भेदाऽभेदयोरवच्छेदकभेद विनापि न विरोध । यथाहि सामान्यतोऽभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणत्वे क्लृप्तेऽपि सयोगाद्यभावेऽतथात्वप्रतीते स नियमस्त्यज्यते, तथा भावाभावयोरेकत्र वृत्तावच्छेदकभेदनियमोऽप्येकत्र भेदाभेदयोरबाधितानुभवबलादत्र त्यज्यते । अत एव न सङ्कर–व्यतिकर–सशया–नवस्था–दृष्टहान्यदृष्टकल्पना । भेदश्चेदमस्माद्भिन्नमिति प्रतीतिनियामको व्यावृत्तिविशेष । स चेकद्रव्यगुणपर्यायेष्वप्यभेदकरम्बित सम्भवति । अयम्भाव – यथाहि सूत्रग्रथितमुक्ताफलानामपेक्षाबुद्धि– विशेषविषयत्व हारत्व सूत्रमुक्ताफलाधारतावच्छेदकम्, तथा द्रव्यगुणपर्यायाणा तादृश द्रव्यत्वमपि तथा । यथा च हारत्वसूत्रत्वमुक्ताफलत्वावच्छेदेन शुक्लत्वप्रतीतिस्तथा द्रव्यत्व–गुणत्व–पर्यायत्वावच्छेदेन सत्त्वप्रतीतिरपि । यथा च शुक्लत्वाद्यवच्छिन्ने हारत्वाद्यवच्छिन्नभेदस्तथा सत्त्वत्वाद्यवच्छिनेने द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नभेदोऽपि । तदुक्तम् " सद्दव्व सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जाओत्ति वित्थारो । जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥" त्ति । विस्तार = भेदनयार्पितप्रातिस्विकतत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपिता प्रकारता ॥ इति भेदाभेदवाद ।

अन्ये तु सत्त्वस्य=पदार्थस्य, एकान्तनित्यत्वे=सर्वथैकस्वभावत्वे, कृतस्य नाशो=नि प्रयोजनत्व स्यात् । कृतस्य नाशश्च 'सविशेषणे ही'त्यादिन्यायात्कृतिनाश एव पर्यवस्यति । एकान्तनित्ये कृत्या प्रागसत सत्त्वरूपोपकारानाधानादन्यथा स्वभावभेदप्रसङ्गादिति भाव । तथाऽकृतागम स्वभावभेदापत्तिभियाऽऽकस्मिकार्थक्रियाकारित्व प्रसज्येतेत्याहु । अपरे तु कृतपदमत्र भावे 'क्त'प्रत्ययान्तमिति कृतस्य कुम्भकारादिप्रयत्नस्य नाश=उपधानाऽव्याप्यत्वम्, अकृतस्य कुम्भकारादिप्रयत्नाऽभावस्यागमोऽनुपधानाऽव्याप्यत्व च स्याता, वस्तुन सर्वथा नित्यत्वात्, तथा च व्यवहारबाध इति भाव ।

[साङ्ख्याभिमतसत्कार्यवाददूषणम्]

अत्रेद विभाव्यते–साङ्ख्यैर्हि सदेव वस्त्वनुमन्यते । तदुक्त "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाऽभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यमिति" ॥ [सा का ९] । असदकरणादसत कर्त्तुमशक्यत्वात्सदेव कार्यं, सत एव सत्करणस्वाभाव्यात् । न च सदित्यस्य 'पूर्वकालवृत्ती' त्यर्थकत्वे प्रागभावघटितपूर्वत्वाऽप्रसिद्धि , तदघटितस्यापि तस्य सम्भवात् । ननु त्रैकालिकाऽसत शशविशाणादे कार्यत्व मास्त्विति तावन्नियम्यता, न तु प्रागसतोऽपीति चेत् ? क किमाह? प्राक् सत एव दुग्धादेर्दध्यादिपरिणामदर्शनादत्यन्ताभेद एव कार्यकारणभावात्, समवायस्य निरस्तत्वात् । अत एवाहोपादानग्रहणादिति, उपादानेन=परिणामिकारणेण, ग्रहणात्=सम्बन्धादपि सत्कार्यम् । नह्यसत सम्बन्धोऽस्ति । 'असम्बद्धस्यैव करणमस्त्वि'ति निरसितुमाह सर्व्वसम्भवाभावादिति । असम्बद्धत्वाऽविशेषे हि सर्वे सर्वस्माद्भवेयु

न चैवमिष्टमिति । तथाऽशक्तस्य जनकत्वेऽतिप्रसङ्गात्शक्तस्य जनकत्व वाच्यम्, शक्तिश्च कार्यस्य प्रागसत्त्वे नियता न स्यादितोऽपि कारणात्प्राक्कार्यस्य सत्त्वमुपेयम् । तथा कारणाऽभावात्स्वभिन्नोपादानानुपादेयत्वादपि सत्कार्यम् । किञ्चाऽसत्कार्यवादे तदीयाऽनन्तप्रागभावादिकल्पने गौरवमिति ।

तदयुक्त—यतो घटश्चेत्कारणव्यापारात्प्रागप्यस्ति तर्हि तदानीं तदुपलम्भप्रसङ्ग । अथाऽनाविर्भावान्नोपलभ्यत इति चेत् ? कोऽयमनाविर्भाव ? [1]उपलब्ध्यभावो वा ? [2]अर्थक्रियाकारिरूपाभावो वा ? [3]व्यञ्जकाभावो वा ? [4]योग्यत्वाभावो वा ? [5]कालविशेष-विशिष्टत्वाऽभावो वा ? [6]जिज्ञासाऽभावो वा ? [7]तिरोधान वा ? [8]अन्यद्वा ? नाद्यो यस्यैवाक्षेपस्तेनैवात्तरदाने घट्टकुटीप्रभाताऽऽपातात्। अथ घटानुपलब्ध्याक्षेपे सस्थानाद्यनुपलम्भस्योत्तरत्वमिति चेत् ? न, सस्थानज्ञानस्य सस्थानिज्ञानात्पूर्वं नियतमनपेक्षणात्तस्यापि प्राक्सत्त्वे उपलब्धेरापाद्यत्वात्, असत्त्वे च वक्ष्यमाणदोषाऽनुपङ्गादिति (१) ।

न द्वितीय , अर्थक्रियाकारिरूपस्य प्रागसत्त्वेऽसत्कार्यवादापातात् (२) । अत एव न तृतीयोऽपि, प्राथमिकोपलब्धौ कुविन्दादिसमुदायस्य उपलब्धिमात्रे वा विजातीयसयोगस्य कारणत्वेऽपि तयो प्राक्सत्त्वावश्यकत्वात् ।'आविर्भूतयोरेव तयोरतथात्वमि'ति चेत् ? नाविर्भावस्यापि सदसद्विकल्पग्रासात् । विजातीयसयोगाद्याविर्भावस्य प्राक्सत्त्वेऽपि तेन सम तस्य सम्बन्धो नास्ती'त्यप्यसमीक्षिताऽभिधानम्, तद्दोषाऽनतिवृत्ते ।

एतेन 'विषयिताविशेषसम्बन्ध एव घटत्वादेर्विजातीयसयोगजन्यताऽवच्छेदकताऽवच्छेदकोऽस्तु, अनन्ततत्प्रागभावप्रध्वसाद्यकल्प-नलाघवादि'त्यपि परास्तम्, तदभावेऽपि घटत्वविनिर्मुक्तविषयिताकघटसाक्षात्कारापत्तेश्च । न च स्वाश्रयविषयतासम्बन्धस्य तथात्वा नेयमापत्तिस्तस्यातिप्रसञ्जित्वेन तत्र लौकिकत्वनिवेशे कार्यतावच्छेदके वा जन्यत्वनिवेशे गौरवात् । किञ्च,घटादे कुम्भकारादिव्यग्यत्वे जन्यत्वव्यवहारो निरालम्बन स्यात्, अन्यथा तरुणतरणिकिरणनिकराभिव्यज्यमाने घटे तज्जन्यत्वव्यवहारापत्ते । ३ ।

नापि तुरीय , महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपवत्त्वादिरूपायाश्चाक्षुषादियोग्यताया प्रागुक्तदिशा प्रागपि सत्त्वात् ।४। नापि पञ्चम , कालविशेषस्य कारणत्वेनाऽनतिप्रसगे एककारणपरिशेषाऽऽपत्ते । विशेषस्याप्यागन्तुकोपाधिरूपस्य सदसद्विकल्पग्रासाच्च (५) । नापि षष्ठ सत्यामपि जिज्ञासाया कारणव्यापारात्प्राक्कार्यानुपलम्भात् । जिज्ञासाया ज्ञानमात्र प्रत्यहेतुत्वाच्च जिज्ञासितबोध प्रति जिज्ञासाया हेतुत्वेऽपि ता विना तत्राऽजिज्ञासितबोधापत्तेश्च ।६।

नापि सप्तमोऽनाविर्भावस्यैव तिरोधानपदार्थत्वेऽद्यापि नियतनिर्वचनाऽपरिचयात् , अन्यस्याभ्युपगन्तुमशक्यत्वात् ।७। नाप्यष्टमोऽनिर्वचनात् ।८। तस्मात्प्रागसदेव कार्यं सामग्रीसमवधानात्सपद्यते । न च प्रागभावादिकल्पने गौरव, प्रामाणिकत्वादिति योगा सगिरन्ते।

साख्य सत्कार्यवाद सदसि निगदतु स्कन्धमास्फाल्य तावत्,
स्वैराऽसत्कार्यवादी प्रलपतु स पुनस्तावदेवात्र योग ।
यावद् दुर्वादिवृन्दद्विरदमदभिदा केसरिक्रीडनैक-
प्रागल्भ्याभ्यासभाजो जिनसमयविदो ध्यानमुद्रा भजन्ते ॥१॥
वासनामथ मुञ्चन्तु समये साख्ययौगयो । सदसत्कार्यवादाय प्रयते सावधानधी ।२।

[सदसत्कार्यवादस्थापनम्]

तथाहि—युगपत्प्रवृत्ताभियथा पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ता सक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावस्तथा क्रमप्रवृत्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभि पर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्युगपत्प्रवृत्ता अन्वयशक्ती सक्रामतो द्रव्यस्याऽसद्भावनिबद्धोऽपि, द्रव्यार्थिकेन सर्वस्य सत एव पर्यायार्थिकेनाऽसत्त्वात् । तदुक्तमन्यत्रापि—"एवविध सहावे दव्व दव्वट्ठपज्जयट्ठेहिं सदसब्भावणिबद्ध पादुब्भाव सदा लहदि'त्ति। यथा च व्यतिरेकव्यक्तयो योगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्ना पर्यायान् द्रव्यीकुर्युस्तथाऽन्वयशक्तयोऽपि क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्य पर्यायीकुर्यु , वस्तुनो द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वात् । यदुक्त "द्रव्य पर्यायवियुत, पर्याया द्रव्यवर्जिता क्व कदा किरूपा दृष्टा मानेन केन वा ।" इति ।

न चाऽतो द्रव्यपर्याययोर्वैयुत्याभावसिद्धावपि तादात्म्याऽसिद्धि , परिशेषात्तेन तत्सम्बन्धसिद्धे ।'स्थासकोस—कुशूलादिपर्याया एव वस्तु न पुनस्तदतिरिक्त मृद्द्रव्य समीक्षामहे' इति ताथागता तदसत्—यतो यदुत्पादविनाशाभ्या न यदुत्पादविनाशौ, तत्ततो भिन्न, यथा घटात् पट । न चोक्तपर्यायविनाशोत्पादाभ्या मृद्द्रव्यस्य ताविति तेभ्यस्तद्व्यतिरेकसिद्धे । रूपान्तरेण द्रव्यनाशोत्पादयो पर्यायनाशोत्पादपर्यवसायित्वात् अन्यथाऽबाधिततत्प्रत्यभिज्ञाऽनुपपत्ते तयोरन्यतरस्माद्विविच्य वस्त्वन्तराऽवीक्षणस्य चोभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात् । न चान्वयिनो वीक्षण मिथ्या, कदाचिदन्यथादर्शनाऽसिद्धे । तदुक्त "यो ह्यन्यरूपसवेद्य , सवेद्येताऽन्यथा पुन । स मिथ्या न तु तेनैव यो नित्यमवगम्यते" ॥ इति॥

"यदाऽऽद्यतयोरसन्, मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरुमरीचिकादौ जलादि । न सन्ति च कुशूलकपालाद्यवस्थयोर्घटादिपर्याया , इति द्रव्यमेवादिमध्याऽन्तेषु सत्, पर्याया पुनराकाशकुसुमैकवशप्रभवा अपि भ्रान्तैरितरथा प्रतीयन्ते । तदुक्त – "आदावन्ते च यन्नास्ति,

मध्येऽप्यस्ति हि तत्तथा। वितथै सन्तोऽवितथा इव लक्षिता ॥"–इत्यपि कपिचेष्टितप्राय परेषा प्रलपितम्। क्वचिदसत्त्वेन वस्तुनोऽसत्त्वे मृद्द्रव्येऽसतोऽद्रव्यस्याऽसत्त्वापत्ते । तत्रैवाऽसतस्तत्रैव सत्त्व निर्बीजमि'ति चेत् ? न, हेतुसमाजस्य तद्बीजत्वात्। न च द्रव्यतया सदसदेव कार्यं प्राक् नाप्य(?) सत्कार्यवादे कार्योत्पत्ते प्राक्कार्योपलम्भापत्ति, येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणोपलम्भस्येष्टत्वात्। न चैव विषयस्य नानारूपभेदेन नानाहेतुत्वकल्पने गौरव, योग्यतयैव प्रतिनियमात्तद्धेतुत्वाऽकल्पनात्। नाप्येकदेकत्र सत्त्वाऽसत्त्वयोर्विरोधो, रूपभेदेन तत्समावेशात्।

अथैव घटाभावदशाया भूतले घटस्यापि सदसत्त्वापत्तिरिति चेत् ? न, भूतलत्वेन घटसत्त्वस्य दुर्वचत्वात्, तादृशरूपान्तरस्य च दुर्लभत्वात्। अथ यस्मिन् सत्यग्रिमक्षणे यस्य सत्त्व यद्व्यतिरेके चाऽसत्त्व तत्तस्य जन्यम्, न चेद सदसत्कार्यवादे सम्भवि हेतुसत्त्वे कार्यसत्त्वसम्भवेऽपि तद्व्यतिरेकेण तद्व्यतिरेकाऽसम्भवादिति चेत् ? न, साध्यत्वेन यदभिमत तत्प्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धाश्रयो य प्रागभावस्तन्नाशकस्वस्वव्याप्यस्वाभावेतरसकलसमवधाने यत्सत्त्वे यत्सत्त्व यद्व्यतिरेके च यद्व्यतिरेक इत्येतावती विवक्षाऽऽवश्यकी। अन्यथा परस्य दु खप्रागभावस्य प्रायश्चिताऽसाध्यतापत्तेस्तथापि तादृशसम्बन्धाश्रयघटप्रागभावनाशकयावत्समवधाने रासभसत्त्वे घटसत्त्व तादृशसम्बन्धाश्रयघटनाशकोक्तवत्समवधाने च रासभाऽसत्त्वे घटसत्त्वमिति घटे रासभकार्यतापत्ति ।

न च 'यादृशसम्बन्धाश्रययत्किञ्चित्पदार्थनाशकोक्तयावत्समवधाने यत्सत्त्वे यत्सत्त्व तादृशसम्बन्धाश्रयतन्नाशकोक्तयावत्समवधाने तद्व्यतिरेके तद्व्यतिरेक' इति विवक्षणान्नोक्तापत्तिरत एवान्वयव्यतिरेकदलद्वयघटनापीति वाच्य, लाघवेन नाशकत्वमप्रवेश्य तादृशसम्बन्धाश्रययत्किञ्चित्पदार्थस्वस्वव्याप्यस्वाभावेतरयावत्कारणसमवधान इत्यादेर्वाच्यत्वे नाशकत्वपर्यन्तमप्रवेश्य स्वस्वव्याप्येतरसकलकारणसमवधाने यद्धर्मावच्छिन्नसत्त्व यद्धर्मावच्छिन्नव्यतिरेके च यद्धर्मावच्छिन्नव्यतिरेकस्तद्धर्मावच्छिन्न तद्धर्मावच्छिन्नजन्यमित्यत्र पर्यवसितेऽपि सप्तम्यर्थप्रयुक्तत्वस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपत्वे कार्यत्वस्येव तथात्वोचित्यात्, तादृशस्येव लघुनस्तस्य जन्यभावत्वादिना नाशत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितकारणताघटकत्वोचित्यात्। अस्माक तु परिणामविशेष एव कार्यत्व, तच्च सदसत्कार्यवाद एव सम्भवति, सर्वथा सत सर्वथाऽसतो वा परिणम्यपरिणामकभावाऽभावात्। अत एव सामग्र्या आद्यक्षणसम्बन्धरूपफलाधानानुपपत्त्या तन्नैरर्थक्यमपि प्रत्याख्यात, तद्धर्माविशिष्टाऽऽद्यक्षणसम्बन्धरूपफलस्य निरपायत्वात्।

'अभूत्वा भावित्व कार्यत्वमि'ति तु सहस्रशो दूषितमाकरे। न ह्यभावोत्तरभावयोगित्व तदर्थ, समयसम्बन्धस्य भावपदार्थत्वेऽतिप्रसङ्गात्। उत्पत्तेस्तदर्थत्वे तु पूर्वदलवैयर्थ्यापातात्। अभावपदस्य प्रागभावपरतया क्त्वार्थे तदाश्रये भावयोगित्वस्य विशिष्टे वैशिष्ट्यमिति रीत्याऽन्वयात्प्रागभावप्रतियोगित्वस्य पर्यवसितस्य तस्य प्रागभावेऽव्याप्तेश्च।

[प्रागभावविषये मीमासकमति]

अत्र मीमासकानुयायिन – प्रागभाव एव मानाभाव । न च 'घटो भविष्यति'त्याद्यध्यक्षमेव तत्र मान तस्य वर्त्तमानकालानन्तकालोत्पत्तिविषयत्वात्। न चोत्पन्नपुनरुत्पादवारणाय तादात्म्येन कार्यत्वावच्छिन्ने प्रतियोगितया प्रागभावत्वेन हेतुत्वात्तत्सिद्धिरिति वाच्य, जन्यद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्न प्रति द्रव्यत्वावच्छिन्नाऽभावादेर्हेतुत्वात्, अव्याप्यवृत्तिकार्ये समानावच्छेदकतया तदभावस्य हेतुत्वेनाऽदोषात्, निर्विकल्पकत्वस्य कार्यताऽनवच्छेदकत्वे चतुर्थक्षणे निर्विकल्पकापत्तेरसम्भवात्।

वस्तुत सामग्रीसमयध्वसाधिकरणध्वसाऽनधिकरणत्वे सति सामग्रीसमयध्वसाधिकरणत्वस्यैवोत्पत्तिव्याप्यत्व नान्यादृशस्य सामग्र्यव्यवहितोत्तरत्वस्याऽप्रयोजकत्वादिति न द्वितीयादिक्षणेषु तदापत्ति । यत्तु–लाघवेनाऽभावाशमप्रवेश्य जन्यत्वावच्छिन्न प्रत्येव प्रतियोगित्वेन हेतुत्वात्प्रागभावसिद्धिरिति, तदसत्, अत्यन्ताभावेन तदजनने व्यभिचारात्, प्रतियोगिनो नाशहेतुत्वस्यान्यत्र दूषितत्वाच्च।

ननु शततन्तुषु भाविन पटस्य द्विचतुरादितन्तुसयोगेनोत्पत्त्यापत्तिवारणाय तत्पटप्रागभावव्याप्ययावत्सयोगत्वेन तत्पटत्वावच्छिन्नहेतुत्वात्प्रागभावसिद्धिरिति चेत् ? न, तत्पटव्याप्ययावत्सयोगत्वेन हेतुतया तदापत्तिवारणात्। वस्तुत कालिकसम्बन्धेन चरमसयोगस्य विशिष्य हेतुत्वादेव न कालिकातिप्रसङ्ग इति।

ननु–"तथापि देशनियमाय प्रागभावसिद्धि, शततन्तुकपटनाशेन यत्र पञ्चाशत्तन्तुकपटद्वयोत्पत्तिस्तत्र पञ्चाशत्तन्तुना, यत्र च शततन्तूना युगपत्सयोगै शततन्तुकोत्पत्तिस्तत्र तावत्सयोगाना विशिष्य हेतुत्वे गौरवात्। न चाद्ये चरमसयोगशततन्तुकनाशयो स्वसमानाधिकरणान्यतमत्वससर्गेण, अन्त्ये च तावत्सयोगमात्रवृत्तिजात्या तत्कालावच्छिन्नान्यतमत्वससर्गेण हेतुत्वान्नोक्तापत्ती इति वाच्यम्, आकाशाद्युदासीनमादायान्यतमत्वस्य नानात्वात्। अत एव बहुत्वविशेषस्य हेतुत्वमपि परास्त, अवयविपरिमाणार्थमतीन्द्रियस्येश्वराऽपेक्षाबुद्धिजन्यस्य तस्य वाय्वादौ सम्भवतोऽप्याकाशादिकमादाय नानात्वात् । न च 'तत्कालावच्छिन्नतद्घटाद्यवच्छिन्नविशेष्यतयाऽनतिप्रसक्तस्योपादानप्रत्यक्षस्य विशिष्य हेतुत्वादुक्तदोषोद्धार', इच्छाकृतिभ्या विनिगमनाविरहात् । न च ज्ञानेच्छाकृतिव्यासक्तावच्छेदकतावत्त्वेन समवेतत्वसम्बन्धेनेश्वरविशिष्टत्वेन वा त्रयमनुगमय्यैकमेव हेतुत्वमिति वाच्य, तादृशावच्छेदकताकल्पने गौरवात्, नित्यज्ञानादिमत्त्वरूपेश्वरत्वस्य नानात्वाच्च। न चात्रेश्वरो न विशेषण किन्तूपलक्षणमिति वाच्य, तथाप्युक्तबहुत्वविशेष–सयोगविशेषाभ्या प्रत्येक विनिगमनाविरहात्। न च प्रागभावेऽपि किन्नेष इति वाच्य, धर्मिग्राहकमानेन तस्य कारणत्वेनैव सिद्धेरिति" चेत् ?

अत्राहु – उपादानप्रत्यक्षस्योक्तसम्बन्धेन हेतुत्वेन क्लृप्तेनैवोपपत्तावतिरिक्तकल्पनाऽनौचित्यम्। अतिरिक्तप्रागभावतत्कारणत्वानन्त–

तत्सम्बन्धादिकल्पने गौरवादिति । अस्तु वावच्छिन्नसमवेतत्वेन तत्तद्व्यक्तिविशिष्टत्वावच्छिन्ने तत्तद्व्यक्तित्वेन, हेतुत्वादुक्तदोषोद्धार , इति न प्रागभावसिद्धि ।

केचित्तु–" तत्तत्पटादिहेतु कश्चिदनादिभाव एवाऽस्तु तस्याऽभावत्वे प्रतियोग्यनुयोगिभावकल्पने गौरवात् । न चानादिभावस्य नाशाऽनुपपत्तिस्तादृशभावस्यापि नाशसम्भवात् । तन्नाशश्च पटादिरूपो वाऽतिरिक्तो वेत्यन्यदेतत् । न च ध्वसप्रतियोगित्व सति सत्त्वस्य समवेतत्वस्य वा द्रव्यजन्यतावच्छेदकत्वात्तस्याऽनादित्वानुपपत्ति , जन्याभावप्रतियोगित्वापेक्षया लघुनो जन्यत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकताघटकत्वात्। 'ध्वसत्वमखण्डोपाधि'रिति चेत् ? जन्यत्वमेव कि नेदृशम्? एतेन जन्यभावस्य नाश प्रति हेतुत्वात्कार्यघटितरूपेणान्यथासिद्धेर्जन्यत्वस्य ध्वसप्रतियोगित्वरूपस्याऽनिवेश्यतया प्रागभावप्रतियोगित्वरूपस्यैव तस्य निवेशात्प्रागभावतदभावत्वसिद्धिरि'त्यपास्तम्, अतिरिक्तभावयोगित्वरूपतन्निवेशोचित्याच्चे'त्याहु ।तन्न, अनतिरिक्तभावयोगित्वस्य तज्जन्यत्वात्मकस्य 'प्रतियोगित्वाऽपेक्षया गुरुत्वात् ।' निरूपकत्वरूपस्य प्रतियोगित्वतुल्यत्वे भावत्वाऽभावत्वाभ्या विनिगमनाविरहेण तस्याऽनिर्वाच्यत्वमेवास्त्वि'ति चेत् ? न, तत्र द्रव्यादिसप्तकभेदकल्पनाऽनौचित्यात् ।

महोपाध्यायस्तु–नानामिथ्याज्ञानवासनानामदृष्टजनकत्वकल्पनमु(म)पेक्ष्याऽऽद्यतत्त्वज्ञानप्रागभावस्य तद्धेतुत्वौचित्यात्प्रागभाव–सिद्धिरि'त्याह । तत्राय महतोऽभिप्राय , आद्यत्व हि न स्वसमानाधिकरणतत्त्वज्ञानप्रागभावनाशाऽवृत्तित्व येन स्वत्वस्य नानात्वेन पुरुषभेदेन कारणता भिद्येत, किन्तु सामानाधिकरण्यकालिकोभयसम्बन्धेन तत्त्वज्ञाननाशविशिष्टान्यत्वमनुगतमेव तत् । न चोक्तनानावासनासु तत्त्वज्ञाननाश्यतावच्छेदकतया तत्त्वज्ञानाऽऽहित–दृढतरवासनानाश्यतावच्छेदकतया वा सिद्धया जात्यैवाऽदृष्टहेतुत्वमस्तु, अवच्छेदकलाघवादिति वाच्यम्, तादृशजातितन्नाशकत्वादिकल्पने गौरवात् ।

नन्वेवमस्तु तत्त्वज्ञान तत्र प्रतिबन्धकमेवेति चेत् ? न, तत्त्वज्ञानकालेऽपि घटावच्छेदेन तदभावसत्त्वात्, प्रतियोगिव्यधिकरणतदभावस्य हेतुत्वे गौरवात् । ननु तत्कालावच्छिन्नाऽदृष्टावच्छिन्नविशेष्यतयेश्वरीयाणा हेतुत्वेनैवाऽनतिप्रसग इति चेत् ? न, एव सत्येककारणपरिशेषा–पातात् । अदृष्ट प्रत्यदृष्टप्रागभावहेतुतयैवाऽनतिप्रसग इत्यप्याहु ।

अदृष्टस्यानतिरेके तु यत्किञ्चिदेतत् । वेगादिक्रियया शाखाद्यवच्छेदेनेव सयोगजननात्समानावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या तन्नियामकप्रागभावसिद्धिर्नानावच्छेदकाना विशिष्य हेतुत्वे गौरवात् । 'एकशाखाऽवच्छेदेन नानासयोगेषु नानाप्रागभावाना बहूना हेतुत्वे गौरवात्शाखाद्यवच्छिन्नसयोगे शाखात्वादिनैव हेतुत्व युक्तमि'ति चेत् ? न, तथाप्यवच्छेदकतया सयोगमात्र प्रति क्रियादे स्वजन्यप्रतियोगिकप्रागभावावच्छेदकत्वसम्बन्धेन हेतुतयापि तत्सिद्धे ।'अन्यजन्यीयप्रागभावस्याऽन्याऽसम्बन्धत्वान्नातिप्रसङ्ग'इति चेत् ? न, आभिमुख्यसम्बन्धेन तत्तत्क्रियाया एव तत्तदवच्छिन्नसयोगनियामकत्वात् । अननुगतस्वत्वघटितसम्बन्धेन तवापि नानाहेतुत्वावश्यकत्वात् । 'अनन्तप्रागभावकल्पनापेक्षया तत्रैकाभिमुख्यसम्बन्धकल्पनैवोचिते'त्यप्याहु ।'स्वभावत एव सयोगादे प्रादेशिकत्वनियम' इत्यपि कश्चित्।

'तद्देशावच्छिन्नसयोगावच्छिन्नविशेष्यतयेश्वरीयाणा तन्नियामकत्वमि'त्यन्ये । 'नीलाभावादिषट्कस्य चित्ररूप प्रति हेतुत्वे गौरवाच्चित्रप्रागभावस्यैकस्यैव चित्ररूपहेतुत्वौचित्यात्तत्सिद्धि'रिति चेत् ? न, पाकेन भाविचित्रे नीलादिमति घटे तदापत्तिवारणाय कार्यसहभावेन चित्रेतररूपाभावस्यैव चित्रहेतुत्वात् । प्रागभावपदप्रयोगविषयस्तु प्रतियोगिदेशप्रतियोगिपूर्वकालवृत्तित्वविशिष्टाऽत्यन्ताभाव एव, पूर्वत्व च तदनधिकरणत्वे सति तद्ध्वसाऽनधिकरणत्वादिक प्रागभावाऽघटितमिति न कोऽपि दोष इत्याहु ।

[प्रागभावविषये स्याद्वादिमतम्]

वय तु ब्रूम ।पटपूर्वकालवृत्तित्वविशिष्टा पटवत्तन्तवस्तादृशपटवत्तन्तुत्वमेव वा पटप्रागभावपदप्रयोगविषयो न पुनरतिरिक्ताभाव , क्लृप्तेनोपपत्तावतिरिक्तकल्पने गौरवात् । उपादानकारणत्व तु तन्तुत्वेनैव,न तु विशिष्टतन्तुत्वेन, गौरवात् । तदुत्तरसमयपरिणामे च तत्तत्पूर्वसमयस्य नियामकत्वान्नातिप्रसङ्ग इति दिग् ।

ननु तथापि सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामनिर्वाच्यमेवास्तु वस्त्विति चेत् ? न, अनिर्वाच्यपदेनैव तस्य निर्वाच्यत्वात् । अयुगपदर्पणया सदादिपदादपि तद्बोधस्याऽनुभविकत्वात् । अनिर्वचनीयख्याते सप्रपञ्चमाकरे निरस्तत्वाच्चेति किमतिप्रसक्ताऽनुप्रसक्त्या ।

स्यादेतत्–सयुक्ताणुद्वयादिकमेव द्व्यणुकादिक, अतिरिक्ताऽनन्ताऽवयव्यादिकल्पने गौरवात् ।द्व्यणुकत्वादिघटकविजातीयसयोगाना तु द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्न प्रति हेतुत्वम् ।न च विजातीयसयोग विनापि गुणादौ द्रव्यसाक्षात्कारोदयाद्व्यभिचारो द्रव्यनिष्ठलौकिकविषयताया कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वे तदुद्धारात् । एतेन द्रव्यसाक्षात्कारत्वस्य तत्कार्यतावच्छेदकत्वे मूर्तसाक्षात्कारत्वादिना विनिगमनाविरह , स्वाश्रयविषयितासम्बन्ध कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकीकृत्य द्रव्यत्वादेस्तथात्वेऽपि मूर्तत्वादिना स एव दोष' इत्यपास्तम्, उक्तसम्बन्धेन जन्यसाक्षात्कारत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वात् । अत एव 'द्रव्यत्वापेक्षया द्रव्यसाक्षात्कारत्व (यथा) गुरु, न तथा(जन्यद्रव्यत्व) अवयवादिकल्पना, गौरव तु फलमुखत्वान्न दोष' इत्यपि निराकृत, जन्यद्रव्यत्वजन्यसाक्षात्कारत्वयोस्तुल्यत्वात् ।

इत्थ च– द्रव्यमात्र सर्वथा नित्यमस्तु । न चेव तन्तूनामेव पटत्वा'त्तन्तौ पट' इतिप्रत्ययो न स्यादिति वाच्य, फलबलेन

विलक्षणसयोगवत्त्वस्य पटत्वादिविशिष्टाधारताऽवच्छेदकत्वस्य विलक्षणसयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वे स्वीकारात् । अत एव न तन्तु–पटपदयो पर्यायतापि, विलक्षणसयोगवत्त्वस्पशक्यतावच्छेदकभदात् ।'तन्तुसयोगात्पट उत्पन्न'इति प्रतीतिस्तु भ्रम एव ।'पट उत्पन्न' इत्यादिप्रतीतिस्तु पटत्वादिघटकसयोगोत्पादमात्रमवगाहते । पट इत्यत्रैकत्व पुनरौपचारिकम् । 'तन्तु पट' इति प्रतीतिस्तु 'वृक्षो वनमि'तिवदेव नोदेति । 'पटस्तन्तव'इति प्रतीतिस्त्वेकत्वधर्मितावच्छेदककवहुत्वप्रकारिका सतीच्छाविशेषमपेक्षते । 'एकत्र द्वयमि'ति न्यायेन तदन्वयबोधापादने शब्दाऽसाधुत्वमेवेति" पूर्वपक्षसक्षेप ।

अत्रोच्यते जन्यसाक्षात्कारजनकतावच्छेदकसयोगवृत्तिजात्यन्तरकल्पने परस्य गौरव, मनोऽन्यमूर्त्तस्पसमवायिकारणकार्यता–वच्छेदकतया जन्यद्रव्यत्वघटकसयोगमात्रवृत्तिजात्यन्तरस्याऽऽवश्यकतया तस्यास्तत्स्थानाभिषेकाऽनोचित्यात् । अन्यथाऽऽकाशादौ जन्यद्रव्यत्वघटकसयोगापत्तेर्दुर्निवारत्वात् । किञ्चोक्तवैजात्यवदवयवसयोगस्यात्मन्यसम्भवाद् व्यभिचार इति विजातीयैकत्वस्यैव तद्धेतुत्वौचित्यमिति । किञ्च पटत्वस्य विजातीसयोगस्पत्वे तन्निर्विकल्पकाऽसम्भवेनाऽऽद्यपटत्वविशिष्टप्रत्यक्षानुपपत्तिस्तन्त्वादिभेदग्रह विनाऽनुभूयमानपटत्वादिप्रतीत्यपलापाऽऽपत्तिश्च । अपि चेव दण्डादौ घटसाधनताज्ञानेन प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ विजातीयसयोगत्वमेव घटत्व, युक्त चैतत्, कथमन्यथा घटत्वस्य जातित्व, मृत्त्व–स्वर्णत्वादिना साकर्यात्? न च कुलालादिजन्यतावच्छेदकतया मृत्त्वस्वर्णत्वादिव्याप्यतन्नानात्वमेव युक्त, अनुगतधीस्तु कथञ्चित्सौसादृश्याद्, घटपद त्वक्षादिपदवन्नानार्थकमिति वाच्यम्, कुम्भकारादेर्विजातीयकृतिमत्त्वेन तत्त्वे घटत्वस्यैकत्वौचित्यादिति चेत् ? न, एव सत्यपि घटवति भूतले 'सयोगेन घटो नास्ती'ति प्रतीते प्रमात्वापाताद्, 'घट पटसयुक्त'इति प्रतीतेरप्रमात्वापाताच्च ।

वस्तुतोऽवयवाऽवयविनोरभेदेऽपि योक्तिक एव भेद , समवायिस्थानीयतादात्म्यस्य भेदानुल्लङ्घित्वात् । न च तादात्मेव तदात्म्यमिति तत्स्थानीयमेव (त)न्न तु समवायिस्थानीयमिति वाच्यम्, सर्वथा तदात्मनस्तद्रूपत्वेऽपि कथञ्चित्तदात्मन समवायिस्थानीयस्यैव युक्तत्वात्परमार्थतो भेदाभेद एव समवायस्थानीय इति प्रागुक्त युक्तमिति दिग् ।

[सत्त्वस्याऽनित्यत्वपक्षे दोषाविर्भाव]

अथाऽनित्यत्वेकान्तपक्षेऽपि दोषमाविर्भावयन्ति–स्यातामिति ।एकान्तनाशे=नित्यत्वाऽसम्भिन्ननाशे, कृतस्य नाशो=ऽकृततुल्यता। वौद्धमते हि वस्तुन सर्वस्य क्षणिकत्वादुत्पत्तिसमनन्तरमेव घटस्य नाश इति जलाहरणादिफलाऽभाजनीभूतस्य तस्य सङ्गतलघु–प्रोषितपारदेशिकसप्रणयप्रणयिरिरसाऽऽतुरप्रणयिनीमनोविनोदसोदरत्वात् ।तथाऽकृतस्यागम =फलकालोपस्थिति ।यद्धि कुम्भकारादिना घटादिक निरमायि तेन तु दुर्जनमन प्रणयपरपरावत्तदानीमेव दद्ध्वसे, तथा च जलाहरणादिक्रियासु व्याप्रियमाणेन तेनाऽकृतेनेवोपस्थातव्यमिति दूषणद्वयमिद बौद्धबुद्ध्युपनीतकाकुव्याकुलीकरणप्रवण प्रसज्येतेति भाव ।

इदमप्यत्र विचार्यते– कि क्षणभिदेलिममेव भुवनमन्यादृश वा ?

[क्षणिकवादिबौद्धपूर्वपक्ष]

तत्र बौद्ध –"मुद्गरादिसमवधानदशाया घटादेर्यन्नश्वरस्वरूप वरिवर्ति तत्प्रागप्यवर्त्तिष्ट न वा ? आद्येऽनायासेनैव सिद्धा क्षणभङ्गुरता, नश्वरस्वभावस्योत्पत्तिसमनन्तरमेव नाशसम्भवात् । अन्त्ये स्वभावहान्यापत्ति । किञ्च, तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्घटादे प्रध्वसाऽप्रतियोगित्वकल्पनामपेक्ष्य तत्तत्क्षणाना तत्तद्धट ध्वसाऽनाधारत्वकल्पनामपेक्ष्य वा तत्तत्क्षणावच्छेदेन तत्तद्धटादे प्रध्वसप्रतियोगित्वस्य तत्तत्क्षणाना तत्तद्धटध्वसाऽऽधारत्वस्य वा कल्पनेव लघीयसी न चैवमुत्पत्तिक्षणेऽपि नाशप्रसङ्ग , असतो नाशाऽयोगात् ।वस्तुतस्तत्तत्क्षणेष्वेवास्तु घटत्वपटत्वादिकम् । न च सकरो, वासनाकृतविशेषेण तन्निरासात् । अत एव न स्थितिकाले 'घट उत्पन्नो,घटो ध्वस्त' इत्यादिप्रतीति , विशिष्टोत्पाद–ध्वसयोर्विशेषणसत्त्वविरूद्धत्वात् ।न च 'स एवाय घट'इत्यभेदप्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वे बाधिका, तस्यास्तज्जातीयाभेदविषयकत्वात्। किञ्च नित्यस्य सतो वस्तुन सर्वदाऽर्थक्रियाकारित्वापत्ति , स्वत सामर्थ्याऽसामर्थ्याभ्या परोपकाराऽनवकाशात् । 'स्वत समर्थमपि तत्कारणान्तरसहकृतमेव कार्यमुपदधाती'ति चेत् ? न, कार्यानुपधानसमये सामर्थ्ये मानाऽभावात्, कुर्वद्रूपस्येव कारणत्वात् । सामग्र्या उपधायकत्वे तत्रापि सामग्र्यन्तरपरम्परापेक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । यावत्कारणसमवधानरूपायास्तस्या अपेक्षया कुर्वद्रूपस्यैवोपधानव्याप्यत्वौचित्याच्च। तस्माद्वस्तुनो दूरयुक्तिमार्गं यियासुन क्षणविश्राम एवोचित"–इति ।

[क्षणिकवादनिरसनम्]

तदतिजरत्तर, विनाशस्वभावशालित्वेन क्षणिकत्वे स्थितिस्वभावशालित्वेन नित्यत्वस्याप्यापत्ते । 'स्थितिप्रत्ययो भ्रान्तो विनाशप्रत्यय पुन प्रमे'ति तु निजप्रणयिनीमनोविनोदमात्र, उभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात् । तस्मात्पर्यायात्मना सर्वमनित्य सदपि द्रव्यात्मना नित्यमेवेत्यकामेनापि प्रतिपत्तव्यम् ।न च ध्वसप्रतियोगित्वाऽकल्पने तदभावकल्पनमवलम्ब्य गौरवमुद्भाव्यमतिप्रसङ्गात् ।वासनायाश्च ध्रुवत्वे

नामान्तरेण द्रव्यमेवाऽभ्युपेतवान्भवान्कृतान्तञ्च कोपितवान् । अध्रुवत्वे तु किमनयाऽजागलस्तनायमानया ? कुर्वद्रूपत्वेन तु न कारणता, तस्य घटोत्पत्ते प्रागपरिचयादिष्टसाधनताज्ञानविलम्बाद् घटार्थिनो दण्डादो प्रवृत्त्यनापत्तेरिति दिग् ।

अथ 'जन्यस्य सतो नाशसामग्रीसत्त्वान्नाश एव सम्भवी, तत्र द्रव्यनाश प्रति निमित्तेतरकारणनाशत्वेन कारणता, क्वचित्समवायिकारणनाशात्, क्वचिदसमवायिकारणनाशाच्चकार्यनाशादन्यथा व्यभिचारादिति प्राञ्च । तन्न, तयो कारणतावच्छेदक-सम्बन्धभेदेन कारणताभेदाऽऽवश्यकत्वात्, कपालसयोगादेरपि किञ्चित्कार्यं प्रति निमित्तत्वात्, तत्तद्द्रव्यनिमित्तेतरत्वदानेऽननुगमाच्च । न च द्रव्यनाशत्वावच्छिन्न प्रति स्वप्रतियोगिनिमित्तेतरकारणप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वेन हेतुत्वे नाऽननुगम इति वाच्य, तथापि द्व्यणुकादिनाश प्रति परमाणुद्वयसयोगादीना विशिष्याऽन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, सामान्यत एव द्रव्यनाशत्वावच्छिन्न प्रति विजातीयसयोगनाशत्वेन कारणत्वकल्पनोचित्यात् । कारणीभूतनाशप्रतियोगिसयोगे वैजात्यञ्च जन्यद्रव्यजनकतयेव सिद्ध निवेश्यम् । न चाऽवश्यस्वीकार्यघटादिजनकता-वच्छेदककपालसयोगादिनिष्ठजातिविशेषैरेवोपपत्तौ सामान्यतो जन्यद्रव्यजनकतावच्छेदकजातो मानाऽभाव इति वाच्य, सयोगविशेषेण द्रव्यान्तर जनयत्सु कपालेषु कपालत्वस्यैवाऽस्वीकारात् ।

द्व्यणुकादिलक्षणकिञ्चिदवयवापगमात् खण्डकपालोत्पत्त्योत्तरकाल ततो घटजननसम्भवाद्घटत्वावच्छिन्न प्रति सामान्यत कपालत्वेन हेतुत्वे बाधकाभावाद्द्रव्यान्तरजनककपाले घटप्रागभावाभावादेव न घटोत्पत्ति'रित्यन्ये । 'अस्तु घटादिजनकतावच्छेदको जातिविशेष सयोगे, तथापि जल–ज्वलन–पवनादिजनकतावच्छेदकजातौ मानाऽभावस्तादृशजात्याश्रयजलादिसयोगे सति जलाद्युत्पत्तौ विलम्बाऽभावादि'त्यपरे । न च सयोगकमजन्यतावच्छेदकजातिभ्यामभिघातत्वनोदनत्वाभ्या च परापरभावानुपपत्तेस्तत्र मानाऽभाव, तासामेतद्व्याप्यत्वोपगमात् । न च विनिगमकाभाव द्रव्यजनकतावच्छेदकजातेर्नोदनत्वादिव्याप्यत्वे हि तदाश्रयजन्यद्रव्ये जातिविशेषो वाच्य, सोऽपि विशेषो घटत्व–पटत्वादिना सङ्करभिया तद्व्याप्य स्वीकार्य इत्यनन्तकार्यकारणभावापत्तेरभिघातत्वाऽऽदीना नानात्वे च कर्मादिनिष्ठतज्जन्यतावच्छेदकजातिचतुष्टयमात्रस्येव कल्पनादित्याहु ।

अथ कपालादिसमवेतरूपनाशत्वादिक कपालादिसमवेतगुणनाशत्वादिक वा न कपालनाशादिजन्यतावच्छेदक पाकविभागादितोऽपि रूपसयोगादीना नाशेन व्यभिचारात् । किन्तु कपालनाशविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्व तथा, वैशिष्ट्यञ्च स्वप्रतियोगिसमवेतत्वकालिकोभयसम्बन्धेन बोध्य, तेन कपालनाशाऽप्रतियोगिन्यपि कालिकेन कपालनाशविशिष्टतन्तुरूपनाशस्य कपालनाश विनापि च विभागादित स्वप्रतियोगिसमवेतसयोगादिनाशस्य जायमानत्वेऽपि न क्षति । वस्तुत प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्न प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन द्रव्यनाशत्वेनेव हेतुत्व, न कपालनाशत्वादिना, गौरवात् इति कपालादिसमवेतरूपादिनाशवद्घटादिनाशोऽपि समवायिकारणनाशे सत्येव घटादिनाश इति कल्पनान्निरधिकरणस्य घटादे क्षणमात्रमिव क्षणद्वयमप्यवस्थितौ बाधकाभावात् ।

अत्र केचित् – विजातीयसयोगनाशस्य द्रव्यनाशत्व न जन्यतावच्छेदक, मूर्तनाशत्वभूतनाशत्वादिना विनिगमनाविरहात्, किन्तु स्वाश्रयसमवेतत्वकालिकोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टप्रतियोगिकनाशत्वमेव तथेति घटादेस्तेन सम्बन्धेन स्वाऽविशिष्टत्वान्न विजातीयसयोगनाशनाश्यत्वम्, अन्यथा कपालरूपादेरपि तथात्वापत्तेरित्याहु । तच्चिन्त्यम्, मूर्तनाशत्वस्यैव लघुनो विजातीयसयोगनाश-जन्यतावच्छेदकत्वात्, न चोक्तदोषाऽनुद्धार, सम्भवति क्लृप्ताऽगुरुविशेषधर्मे सामान्यधर्मस्य कार्यतानवच्छेदकत्वादित्येके ।

वस्तुतस्तु विजातीयसयोगनाशस्य स्वप्रतियोगिकनाशत्वमेव कार्यतावच्छेदकम् । न च सयोगनाशत्वेनैवास्तु हेतुत्व, उक्तसम्बन्धनिवेशेऽनतिप्रसङ्गादिति वाच्य, तथा सति तुरीतन्तुसयोगनाशादपि पटनाशापत्ते । इत्थञ्च सर्वत्राऽसमवायिकारणनाशादेव कार्यनाश इति । युक्त चैतदन्यथा परमाण्वादिषु पूर्वपूर्वाऽसमवायिकारणनाशसत्त्वाऽऽपादितद्व्यणुकादिक्षणिकत्वपरिहाराय तत्तद्द्रव्यनाश प्रति तत्तत्सयोगनाशाना विशिष्यानन्तकार्यकारणभावकल्पने महद्गौरवात्, याभ्या तन्तुभ्या कपालाभ्या वा सयोगविशेषेण न खण्डपटादिरारब्ध-स्तत्रैव सामान्यकारणताऽवकाशात् । यदि तु नाश्यनिष्ठतयैव नाशकत्वकल्पनौचित्य तदापि द्रव्यीयत्वविशिष्टप्रतियोगितया नाशत्वावच्छिन्न प्रति स्वप्रतियोगिजन्यतया विजातीयसयोगनाशस्य हैतुत्वे न दोषो, द्रव्यीयत्वविशिष्टप्रतियोगिताया एव मूर्त्तीयत्वविशिष्टत्वात् ।

इत्थ च द्रव्यनाशत्वाद्यवच्छिन्न प्रति स्वप्रतियोगिजनकत्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टविजातीयसयोगनाशत्वेन हेतुतया विनिगमनाविरहोऽपि निरस्त इति दिग् । विजातीयरूपादिनाशे च विजातीयतेजसयोगादिक हेतुरिति जन्यमात्र सर्वथाऽनित्यमेवेत्येकान्तोऽपि न कान्त, घटादिपर्यायाणामपि द्रव्यार्थतया ध्रुवत्वात् । प्रतियन्ति हि लोका अपि 'घटत्वेन घटो नष्ट, न तु मृत्त्वेने'ति । उपादानोपादेययोर्भेदाभेदस्तु निपुणतरमुपपादित एवेति किमित्याम्रेडितविस्मरणशीलताऽऽयुष्मत इति ।

श्रीहेमसूरिवाचामाचमति चातुरीपरविचारम् । व्याख्याताऽऽद्यश्लोकस्ता परिचिनुते यशोविजय ॥१॥

सत्केवलप्रकाशेन भुवनाभोगभास्वते । भद्रकराय भक्ताना वामेयाय नमो नम ॥२॥

[आत्मनित्यत्वशका]

ननु भवतु कदाचिद्बाह्यवस्तुनो नित्याऽनित्यत्व, प्रमातुस्तु नित्यत्वमेव युक्त तस्याऽनित्यत्वे मानाऽभावात् । न चाऽनित्यज्ञानाद्यभेदात्तस्य तथात्व, तथा सति दु खाभेदाद् दु खध्वसस्याऽप्यात्मध्वसरूपत्वात्तदर्थिनो यमनियमादौ प्रवृत्तिर्न स्याद् दु खध्वसत्वस्य चरमदु खध्वसत्वस्य वा

काम्यताऽवच्छेदकत्वे दु खध्वसे आत्मध्वसाऽभेदज्ञाने तत्साधनीभूतयमनियमादो वलवदनिष्टाऽननुवन्धीष्टसाधनत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । न चाऽऽत्मत्वावच्छिन्नध्वसत्वमेव चार्वाकादिमतप्रसिद्धमनिष्टताऽवच्छेदक विजातीयसुखत्वमेव वा काम्यतावच्छेदकमिति न दोप इति वाच्य, तथापि 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्मे(ते आ)ति श्रुत्या नित्यसुखादिनैव सममभेदबोधात्तस्य नित्यत्वस्यैवोचित्यात् । अनित्यसुखादेर-विद्यानिवन्धनत्वेनाऽऽत्मानुपादेयत्वात् । न च सुखत्वावच्छिन्न प्रति धर्मत्वेन हेतुत्वान्नित्यसुखाऽनुपपत्ति , उक्तश्रुतिवलान्नित्यसुखसिद्धौ जन्यसुखत्वाऽवच्छिन्न प्रत्येव तद्धेतुत्वात् ।

वस्तुतो विजातीयधर्मत्वेन विजातीयसुखत्वावच्छिन्नहेतुत्वान्न धर्मत्वेन सुखत्वावच्छिन्नहेतुता । अथ श्रुतिबोधिततत्तत्कर्म्मणामेव स्वजन्याऽदृष्टसम्वन्धेन विजातीयसुखत्वाद्यवच्छिन्ने हेतुता युक्ता न तु प्रागुक्ता विजातीयसुख प्रति विजातीयधर्मतत्कर्मणोर्विजातीयधर्मं प्रति तत्कर्मणश्च हेतुतात्रयकल्पने गोरवादिति चेत् ? न, लाघवेनोक्तहेतुत्वे क्लृप्ते फलमुखगोरवस्याऽदोषत्वात् । विजातीयाऽदृष्टद्वारा तत्तत्कर्मणो हेतुत्वमित्यपि केचित् । न चादृष्टवैजात्ये मानाऽभाव ,'मयाऽश्वमेध कृत' इत्यादिकीर्त्तननाश्यतावच्छेदकत्वेनैव तत्सिद्धे । न हि तत्तददृष्टत्व तत्तन्नाश्यतावच्छेदक, गौरवात् । न च स्वाश्रयजन्यताविशेषसम्वन्धेनाश्वमेधत्वादिघटित तथा, स्वाश्रयजनकताविशेषसम्वन्धेन विजातीयसुखत्वघटितेन विनिगमनाविरहप्रसङ्गात् । ननु तवापि 'मयाश्वमेधवाजपेयो कृतौ, मया वाजपेयज्योतिष्टोमो कृतावि'त्यादिकीर्त्तननाश्यत्वात्, अन्यथा तज्जातीयनाशकात्तत प्रत्येकनाश्यनाशापत्तेर्दुर्निवारत्वात् ।

इत्थञ्च "समूहालम्बनहरिगङ्गास्मरणजन्याऽपूर्वस्य गङ्गास्मृतिकीर्त्तनान्नाशे हरिस्मृतेरपि फल न स्यात् । तज्जन्याऽपूर्वयोरेकस्य नाशेऽप्यपरस्य सत्त्वे गङ्गास्मृतेरपि फल स्यादि"ति परास्त स्वकीर्त्तननाश्यतावच्छेदकजातिमद पूर्वसम्बन्धेन गङ्गास्मृतेरसत्त्वे तत्फलोत्पत्त्यसम्भवात्। यत्तु कीर्त्तनस्याऽदृष्टनाशकत्वे गौरवादुक्तदोषोद्धाराय च कीर्त्तनाऽभाववत्कर्मत्वेनेव हेतुता युक्तेति, तन्न, कर्म्मवत्कीर्त्तनाभावत्वेन हेतुत्वे विनिगमनाविरहात् ।अथ 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिना ज्योतिष्टोमादे श्रुत्या स्वर्गसाधनत्वस्यैव बोधान्न तस्योक्तहेतुतावच्छेदकत्वमिति चेत्?तर्हि 'धर्म क्षरति कीर्त्तनादि'त्यादिना कीर्त्तनादेर्धर्मनाशकत्वस्यैव बोधात्तथात्व कि न रोचये ? अन्यथा तत्र विषयत्वसामानाधिकरण्योभयसम्वन्धेन कीर्त्तनाभाववत्कर्मत्वेनाऽपूर्वं प्रत्येव हेतुताऽस्तु किमनन्तपण्डाऽपूर्वकल्पनयेति दिग् ॥

किञ्च, भावकार्यत्वावच्छिन्न प्रत्युपादानप्रत्यक्षत्वेनेव कारणत्वाल्लाघवाज्जगद्धेतुतया सिध्यन्नित्योपादानप्रत्यक्षस्पादीश्वराज्जीवानामपि 'एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म' (छा उप – ६।२।२) त्यादिश्रुत्याऽभेदवोधादात्मनो नित्यत्वमेव यौक्तिकम् ।एतेनाऽऽनन्दशब्दस्याऽजहत्पुल्लिगतया नपुसकत्वे लिङ्गव्यत्ययकल्पनमप्रमाणिकमिति निरस्त, नित्यज्ञानाऽभिन्नाऽऽनन्दाऽभेदस्यैवाऽऽत्मनि योक्तिकत्वात् ।न च 'आनन्द ब्रह्मणो रूप, तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितमि'ति भेदबोधकश्रुतिसद्भावादुपचरितार्थत्वमेव पूर्वोक्तश्रुतेरिति वाच्य, 'राहो गिर' इत्यादो षष्ठ्या अभेदेऽपि दर्शनात् । अत्राऽभेदप्रकारकबोधाल्लक्षणैव श्रुतौ तु सा न युक्तेति चेत् ? न, सुब्विभक्तो लक्षणाऽनभ्युपगामात् अन्यथा व्यत्ययानुशासनवैयर्थ्यात्।

अथ विभक्त्यन्तरार्थे विभक्त्यन्तरस्य लक्षणाया निषिद्धत्वज्ञापक व्यत्ययानुशासन, अत एव 'घट जानाती'त्यादौ द्वितीयाया विषयित्वे लक्षणा नाऽनुपपन्ना । कृद्योगे षष्ठ्यनुशासन च द्वितीयाया असाधुत्वज्ञापकमपि, अन्यथा 'भारतस्य श्रवणमि'त्यादौ कर्मत्वे षष्ठ्यतिरिक्तविभक्तेर्लक्षणाया निषिद्धत्वेऽपि शक्त्यैव द्वितीयया तद्बोधप्रसगात् । निष्ठादिवर्जन च निष्ठाया तत्साधुत्वज्ञापकम्, कृत्ययोगे विकल्पविधान च निष्ठाया शेषषष्ठ्यसाधुत्वज्ञापकमिति चेत् ? न, तथापि भेद एव षष्ठीत्यनियमात्तत्र सम्वन्धत्वप्रकारकबोधेनाप्युपपत्ते इत्यत आचचक्षिरे "आत्मनी"ति–

आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोग सुखदु खयो ।
एकान्ताऽनित्यरूपेऽपि न भोग सुखदु खयो ॥२॥

आत्मन्येकान्तनित्ये–सर्वथा ध्वसाऽप्रतियोगिनि अभ्युपगम्यमान इति शेष सुख–दु खयोर्भोग =साक्षात्कारो न स्यात् । यद्यपि भोगपद सुखदु खान्यतरसाक्षात्कारे रूढमिति पुन "सुखदु खयो" रित्युपादाने पौनरुक्त्य, तथापि "विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायाद्भोगपदमत्र साक्षात्कारमात्रपर दृश्यम् । न च शक्यादन्याऽर्थे कथ लक्षणा ? शक्यसम्बन्धाभावादिति वाच्यम्, तत्राप्यभेदसम्बन्धस्य जागरूकत्वात् । अत एव जिधातो 'प्रजयती'त्यादौ प्रकृष्टजये लक्षणा ।

ननु सम्बन्धितावच्छेदकभेद विनाऽभेदग्रहो दु शक , 'घटो घट , नीलघटो घट' इत्यादौ तदग्रहात् । अतएव 'प्रजयती'त्यत्र जिधातो शक्त्योपस्थिते जयत्वावच्छिन्ने लक्षणयोपस्थितेन प्रकृष्टत्वावच्छिन्नेनैव सममभेदबोधो यौक्तिक , युगपद्वृत्तिद्वयाऽऽपातस्य मणिकृतामिष्टत्वात्। अस्तु वा तत्र प्रोत्तरजित्वादिना शक्तत्वाद् प्रकृष्टजयस्य शक्त्यैव बोध । नव चैवमुपसर्गस्य द्योतकत्व न स्यादिति वाच्य, औपसन्दानिकशक्तेरेव द्योतनत्वात् । न च जिपूर्वप्रत्वादिनापि शक्तत्वे विनिगमनाविरह , धातुभिन्नाऽर्थस्याऽऽख्यातार्थ– भावनायामन्वयाऽव्युत्पत्तेर्विनिगमिकात्वादिति चेत्? न, विभिन्नधर्मावच्छेदेनाऽभेदग्रहस्याऽन्ततो मनसापि सम्भवादन्यथा सामान्यवाचकपदाना विशेषपरत्व कुत्रापि न स्यात् । 'विशिष्टवाचकानामि'त्यादिन्यायेन विशेषणवाचकविशिष्टवाचकपदयोविशेषणाशे सम्भूयैकाऽन्वयवोधजनकत्वमेव व्युत्पाद्यत इत्यप्याहु ।

ये तु वदन्ति–"भोगत्व चाक्षुषादिसामग्रीप्रतिवद्ध्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टतया सिद्धो जातिविशेष एव, भोगान्यमानसत्वावच्छिन्न प्रति

१ –विशिष्टवाचकाना पदाना सति विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यार्थमात्रपरत्व'इति न्यायात् ।

तत्प्रतिबन्धकत्वात्। न च स्वसमवायिलौकिकविषयितया भोगान्यमानसप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतसुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवदन्यमानसत्वादि–कमेव मानसाऽन्यसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकं, सुखदुःखवृत्तिजातिविशेषवत्प्रतिबध्यतावच्छेदकमपीदमेव, तेन न तत्प्रविष्टतया भोगत्व–सिद्धिरिति वाच्यम् अनया दिशा साक्षात्सुखादिवृत्तिजातिः प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ प्रवेश्या, साक्षान्मानसवृत्तिजातिर्वा स्वसमवायि–लौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ प्रवेश्येत्यत्र विनिगमकाऽभावात्"–इति, तन्मते तज्जात्यवच्छिन्नस्यैव भोगपदेन बोधनात् 'सुखदुःखयोरि'त्यस्य न पौनरुक्त्यम्।

[आत्मनित्यत्वपक्षे सुखदुःखभोगानुपपत्तिः]

अथ प्रकृतयुक्तौ प्रस्तुमः। एकान्तनित्यो भवन्नात्मा सुखदुःखे युगपद् भुञ्जीयात्, क्रमेण वा ? नाद्यः, विरोधात्। न द्वितीयः, स्वभावभेदेन सर्वथानित्यत्वहाने। अथ यथा प्रदीपो घटादीन् प्रकाशयन्नपि न घटादिस्वभावः, तथा सुख–दुःखे भुञ्जानोऽपि जीवो न तत्स्वभावः, इति क्रमिकतद्भोगपक्षेऽपि न स्वभावभेद इति चेत् ? न, स्वभावो हि स्वद्रव्यगुणपर्यायाऽनुगतः स्वरूपास्तित्वं, तच्च सादृश्याऽस्ति–त्वेनैकीभवतोऽप्यन्यस्माद्भेदप्रतीतिमाधत्ते। तथा चात्मनः स्वभावभूतयोः सुखदुःखयोर्गुणयोः क्रमभोगे विभिन्नकालभोगत्वरूपविरुद्धधर्माऽध्यासान् स्वभावभेदः कस्य पाणिना पिधेयः ? प्रदीपस्य घटादिस्तु स्वद्रव्याद्यन्यतराऽन्यत्वान्न स्वभावः। घटपटादिक्रमप्रकाशमाश्रित्य च तेनाऽपि स्वभावभेदः समाश्रयणीय एव।

न च गुणगुण्यादीनां स्वभावेन न सम्बन्धित्वं किन्तु समवायेनैवेति वाच्यं, तद्वति तद्वृत्तीनामेकसम्बन्धस्यैवौचित्यात्। न चैवं रक्तादीनां स्फटिकस्वभावतापत्तिर्वस्तुतस्तेषां तदवृत्तित्वात्परम्परया तद्वृत्तित्वेन तदंशे तत्स्वभावत्वस्य चेष्टत्वात्। अथैवमपि ध्वंसाऽप्रतियोगित्व–रूपमात्मनः सर्वथा नित्यत्वमक्षतमेवे'ति चेत् ? न, सुखादेरात्मस्वभावत्वे तद्ध्वंसप्रतियोगित्वस्याऽऽत्मन्यपि पर्यवसानात्। यदि नाम ध्वंसः कश्चिदतिरिच्येत तदेव परः पर्यनुयुञ्जीत यत्सुखादेरेव ध्वंसो न पुनस्तदाश्रयस्येति। वयं पुनरन्ततः सुखाद्युत्तरत्वविशिष्टमात्मानमेव तन्नाशमभ्युपेमः। तदुत्तरत्वं च यद्रूपेण तद्रूपवदभिन्नत्वं च ध्वंसप्रतियोगित्वमिति।

[आत्माऽनित्यत्वपक्षे दूषणम्]

अथाऽनित्यत्वपक्षेऽपि दोषमाविभावयन्ति स्म–'एकान्तानित्यरूपेऽपी'ति–निगदसिद्धमिदम्। अयम्भावः–एकान्ताऽनित्यस्य सत आत्मनः सुखदुःखयोर्युगपद्भोगो विरुद्धत्वादेव नाभिमतः। क्रमभोगपक्षे तु क्षणिकत्वपक्षो बालतरलाक्षीकटाक्षतरलस्तत्क्षण–ध्वंसाधिकरणसमयस्यैव क्रमपदार्थत्वात्। क्षणिकस्य तु जातमात्रस्यैव विनाशादुत्तरक्षणाऽननुवृत्तेः। एतेन 'प्रवृत्तिविज्ञानोपादानमालयविज्ञानसन्तान एवात्मा, स च पूर्वविज्ञानोपादेयः प्रतिसमयोत्पत्तिष्णुरन्य एवे'ति मतमपास्तम्, कर्तुर्भोगसमयपर्यन्तमनवस्थानात्, अन्यकृतस्याऽन्येन भोगेऽतिप्रसङ्गात्, कालरूपसन्तानकृतस्वस्याप्यन्यसाधारण्यात् सर्वकालानुगतैकाऽतिरिक्तसन्तानाभ्युपगमे फलतो नित्यात्मन एवाभ्यु–पगमापाताच्चेति ॥२॥ द्वैतीयीकः किल ( ) श्लोकः, प्रस्तुतेऽत्र जिनस्तवे। व्याख्यापद्धतिमानिन्ये यशोविजयधीमता ॥१॥

अत्रैव पक्षद्वये दूषणान्तरं क्रमशोऽतिदेशयन्ति स्म "पुण्यपापे" इत्यादिना 'क्रमाक्रमाभ्यामि'त्यादिना च।

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने।
पुण्यपापे बन्धमोक्षौ नाऽनित्यैकान्तदर्शने ॥३॥
क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां युज्यतेऽर्थक्रिया न हि।
एकान्तक्षणिकत्वेऽपि युज्यतेऽर्थक्रिया न हि ॥४॥

[नित्यात्मवादे पुण्यपापयोरसङ्गतिः]

एकान्तनित्यात्मवादिमते हि पुण्यपापयोरसम्भवः। ते हि "यागब्रह्महत्यादीनां क्षिप्रभङ्गुराणां स्वर्गनरकादिकं प्रति श्रुतिबोधितकारणताया फलपर्यन्तव्यापारव्याप्ततया तत्र व्यापारस्याऽन्यस्याऽसम्भवात्परिशेषाददृष्टसिद्धिः। न च यागादिध्वंसेनैव निर्वाहः, तस्य फलाऽनाश्यत्वात्, फलसन्तानस्य कदाचिदप्यनुपरमप्रसङ्गात्। न चापूर्वस्यापि प्रथमस्वर्गादिनैव नाशात्फलसन्तानो न निर्वहेदिति वाच्यं, तस्य चरमफलनाश्यत्वाऽ–भ्युपगमात्। चरमत्वं च स्वसमानजातीयप्रागभावाऽसमानकालीनत्वादिकं जातिविशेषो वा। न च ज्योतिष्टोमादिजन्यतावच्छेदिकया साङ्कर्यं, तत्तद्व्याप्यचरमत्वस्य भिन्नस्यैव स्वीकारात्। तच्चादृष्टमात्मनो गुणरूपं विहितनिषिद्धक्रियाजन्यमात्मनः सर्वथा भिन्नमि"त्याहुः।

तदसत्–यागादिध्वंसेनैव तदन्यथासिद्धेः। न चोक्तदोषानतिवृत्तिरपूर्वाभ्युपगमेऽपि तद्वृत्तिलाभककालस्यैव फलोत्पत्तिनियामकत्वेन ममापि कालविशेषस्यैव फलसन्ताननियामकत्वेनाऽनतिप्रसङ्गात्। न च कीर्तनादिनाश्यत्वेनापूर्वसिद्धिरावश्यकी कीर्तनाऽभाववत्कर्मत्वेन पृथगेव वा कीर्तनाभावस्य विजातीयसुखत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वात्। यत्तु–निर्व्यापारस्यैव यागादेरव्यवहितत्वाशत्यागेन कारणताग्रहसम्भवादव्यापारतया नाऽपूर्वसिद्धिरिति–तन्न, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्रैव कारणताबुद्ध्यनुदयेन तद्धर्माया एव कारणताया युक्तत्वादिति स्वतन्त्राः।

[जैनमते अदृष्टस्वरूपम्]

अस्मज्जातीया पुनरित्थमाचक्षते–यत्स्वतन्त्रप्राप्यत्वेनात्मपरिणामरूपमेव भावकर्मापरपर्यायमदृष्टं कल्पयितुमुचितं, न पुनरतिरिक्तं, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात्। तदुपनीतप्रकृतिविशेषाऽबाधाकालपरिपाकादेव फलोदयात्। अत एव फलसन्तानस्थिति कर्म्मणः स्थितिबन्धं नाऽतिवर्त्तते। परिणामाऽदृष्टजनितेन च पौद्गलिकाऽदृष्टेनैवात्मनोऽनुग्रहोपघातौ सम्भवतः, पुद्गलस्यैवान्यत्रानुग्रहोपघातकारित्वदर्शनात्।

किञ्चात्मनः शुभाशुभपरिणामो परसंसर्गजन्यो, शुद्धपरिणामं तिरस्कृत्याऽऽविर्भावाज्जपातापिच्छकुसुमसंक्रमजनितस्फटिकपरिणामवदि'त्यनुमानादपि पौद्गलिकाऽदृष्टसिद्धिः। न च 'परिणामाऽदृष्टात्पौद्गलिकादृष्टं, पौद्गलिकाऽदृष्टाच्च परिणामादृष्टमि'त्यन्योन्याश्रय इति वाच्यं, बीजांकुरस्थल इवाऽनाद्यन्योन्याश्रयस्याऽत्रादोषत्वात्।

अथ मूर्त्तयोः परस्परसंक्रमसम्भवात्स्फटिकादौ जपातापिच्छसंसर्गवशात्श्यामरक्तपरिणामौ समगंसाता, आत्मनस्त्वमूर्त्तत्वात्पुद्गलसंसर्गेणाऽपि कथं विभावपरिणामः सम्भवत्विति चेत्? अवधेहि– ज्ञेयनिमित्तकोपयोगाधिरूढज्ञेयाऽऽकारसम्बन्धस्येव कर्मनिमित्तकोपयोगाधिरूढरागद्वेषभावस्याऽऽत्मनि निरपायत्वात्। वस्तुतो रागपरिणामो यथा क्रमुकफलपर्णचूर्णसंयोगजन्यस्तथा रागद्वेषपरिणामोऽपि जीवकर्मोभयसंयोगजन्य इति प्रतिपत्तव्यम्, तेन जपातापिच्छगते एव रक्तत्वश्यामत्वे स्फटिकादावारोप्येते तत्सन्निधेरेव नत्र दोषत्वात्, न पुनरतिरिक्ततदारम्भो युक्त इत्युक्तावपि न क्षतिः।

न चैवं निश्चयतस्तदभावोक्तिरयुक्ता स्यात्, त्रिकालाऽनुगतग्राहिणा तद्ग्रहपराङ्मुखेन तेन तदुक्तेर्युक्तत्वात्। अत एव शुद्धपरिणामस्य न तेन प्रतिक्षेपः, निरुपाधिकाऽऽत्मपरिणामरूपस्य तस्य ज्ञानदर्शनवत्सार्वदिकत्वात्। न चैवं सिद्धानामपि चारित्रप्रसंगो, निश्चयतोऽभिमतत्वात्। यथाहि ज्ञानदर्शनावरणदर्शनमोहक्षयात्तेषां शुद्धज्ञानदर्शनसम्यग्दर्शनानि प्रादुर्बभूवुस्तथा चारित्रमोहक्षयाच्चारित्रमप्युत्पद्यमानं कस्य पाणिना पिधेयम्। तदिदमभिप्रेत्य कण्ठत एवोक्तं गुणस्थानक्रमारोहे–"अनन्ते शुद्धसम्यक्त्वचारित्रे मोहनिग्रहादि"ति। नैश्चयिकचारित्रमपि शैलेशीचरमसमय एवोत्पदिष्णु चौरससर्गिसमयोगादीनां तदानीमेवाऽपगमात्। तदुक्तं– धर्म्मसंग्रहण्यां–"सो उभयखयहेऊ सेलेसीचरमसमयभावी जो। सेसो पुण णिच्छयओ तस्सेव पसाहगो भणिओ" ॥२६॥ इति।

न च धर्माऽधर्मोभयक्षयकारी सिद्धिधारणालम्भूष्णुस्तदानीं कश्चिदन्य एव धर्म इति वक्तुं युक्तं, ज्ञान–दर्शन–चारित्राणामेव मोक्षमार्गत्वोक्तेः। अथ पञ्चस्वनन्तर्भावात्कतरत्तेषां चारित्रमस्त्विति चेत्? न, एतदनुयोगस्य 'दशस्वऽनन्तर्भावाद्धर्मोऽपि तेषां कतरः? इति पर्यनुयोगतुल्ययोगक्षेमत्वात्। 'सिद्धे णो चरित्ती णो अचरित्ती'त्यभिधानं कथं संगतिमङ्गतीति चेत्? चारित्रित्वाऽचारित्रित्वव्यवहारप्रयोजकव्यवहारिकचारित्राऽचारित्रोभयाऽभावान्नैश्चयिकसंज्ञाशालिनि नोसंज्ञि–नोअसंज्ञित्वाऽभिधानवद्व्यवहारनयाऽभिप्रायेण चेदम्। निश्चयतस्तु परमचारित्रवत्पदाभिधेयः सिद्धस्तत्रैव सर्वगुणपारम्यविश्रान्तेरित्यधिकमस्मत्कृताऽध्यात्ममतपरीक्षायामध्यवसेयम्।

तथा च स्वभावभेदेनैव तादृशधर्माधर्मयोर्जननादेकान्तनित्यतापक्षो मूलक्षत एव। अत एव बन्धमोक्षयोरपि कर्माऽऽदानसकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणयोर्मिथ्याज्ञानवासनादुःखध्वंसरूपयोर्वा तत्पक्षेऽसम्भवः। एवमुत्तरार्द्धे दोषोद्भावनमपि विभावनीयं, क्षणिकस्य क्रमिकक्रियाकारित्वविरोधादिति ॥३॥

[एकान्तनित्यवादे अर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तिः]

क्रमाक्रमाभ्यामिति– अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं हि क्रमेण युगपद्वार्थक्रियाकारित्वं न घटामटाट्यते। तथाहि 'अर्थस्य'=घटादेः स्वस्य वा, 'क्रिया' = ज्ञानादिरूपा, तत्कारित्वं'=तज्जनकत्वं, सर्वथा नित्यानामात्मादीनां देशक्रमेण कालक्रमेण वा न सम्भवति, यत्किञ्चिद्देशकालावच्छेदेनैव सकलकार्यकरणसामर्थ्यात्। अन्यथा देशकालभेदेन स्वभावभेदादनित्यताप्रसंगात्।

अथाऽऽत्मादीनामर्थक्रियाकारित्वेऽपि यत्र कुत्रचिद्यदाकदाचित्सर्वार्थक्रियाकारित्वे आपादकाऽभाव इति चेत्? न, देशकालादीनामप्यात्मादेरिव तिरस्कृतविशेषतया कार्यभेदाय स्वभावभेदस्याऽवश्याऽऽश्रयणीयत्वे एकान्तनित्यतापक्षस्य विलूनशीर्णत्वात्, अन्यथा पुनरुक्तापत्तेर्दुर्निवारत्वात्।

अथ स्वस्य भावः स्वभावः, स चाऽऽत्मत्वादिरूपः कार्यभेदाय न भिद्यते किंत्वनुगत एव जन्यज्ञानत्वाद्यवच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदको, घटज्ञानादिरूपविशेषकार्यं तु घटे इन्द्रियसन्निकर्षादिविशेषकारणसंपातादुपजायते। अत एवोभयसामग्रीसमावेशाद् घटपटोभयसमूहालम्बनमप्युदेतीति चेत्? न, स्वस्याऽऽत्मनो भावः=कार्यजननपरिणतिः, सा च घटोपयोगादिरूपा घटज्ञानादिभेदाय भिद्यत एव, सुषुप्तिकाले ज्ञानाऽनुत्पत्तिनिर्वाहायोपयोगरूपव्यापारसाचिव्येनैव जीवस्य ज्ञानजनकत्वस्वीकारात्[1] ॥



१ – इत पर मूलादर्शस्य पञ्चविंशतितमपत्रं पञ्चमपंक्तेरारभ्य रिक्तमेव ॥

☛ शुद्धिमार्गदर्शन ☚

पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
3/19	यशे	थशे
२/८	पष्ठि	पष्ठी
११/१३	ईश्वा	ईश्वरा
१५/५	विपत्ति	विप्रतिपत्ति
३५/१८	करणोत	करणोद्भूत
३९/१६	पीढ	पीठ
४३/६	तत्प्र	तत्तप्र
४८/१०	नवा	नत्वा
५८/१	उपलब्धि	उपयोग
६७/२	तेजस होता	न च चक्षुस्तेजस द्रव्यत्वे सति रूपादिषु मध्ये रूपस्येवाभिव्यञ्जकत्वादित्यनुमानाच्चक्षुपस्तैजसत्वसिद्धि , न चाञ्जनेन व्यभिचार ,
६८/१	शङ्का	शङ्का
७०/३	एवच योग्र	एवञ्च योगग्र
७७/१	चक्षु	वेदितव्यम्, तदानी चक्षु
८१/२०	भवेति	भवति
१०६/१८	तेप	तोप
११०/१७	मयाऽपि । तादृशव्युत्वत्ते	। मयापि तादृशव्युत्पत्ते
१२०/४	र्भास्य	र्भावस्य
१२८/३४	श्चा	श्च ।
१३३/४	कपालद्वयादिविषयक	कपालद्वयादिप्रतियोगिक
१३३/४	जन्यत्वसमानाधिकरण	जन्यत्वविशिष्ट
१४८/१८	गातु	गन्तु
१४९/८	शेपवि	शेषणवि
१५२/१३	दृश्ययस्य	दृश्यस्य
१५६/२	मेतत्व	मवेतत्व
१५७/१	समायि	समवायि
१६८/४	कारे पोन	कारे रूढमिति पुन 'गुखदु रसो'रित्युपादाने पान
१७०/१	जिधातो प्रकृष्ट	प्रकृष्ट
१८१/९	ताच्छे	तावच्छे
१९३/१०	र्मुह-	र्मुहू-
१९५/५	यद् अ	यद
१९६/१०	महिस्ना	महिम्ना
२११/४	घटवादि	घटवदि
२१७/३५	अकृति विनया	आकृति विजया
२१७/३६	कारणे	कारेण